परमश्रुत-प्रभावक
श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला
प्रवचनसारः

PARAMA-ŚRUTA-PRABHĀVAKA
ŚRĪMAD
RĀJACHANDRA JAINA S'ĀSTRAMĀLĀ
PRAVACANASĀRA

Śrīmad
Rājachandra Jaina Śāstramālā

SRĪ KUNDAKUNDĀCĀRYA'S

PRAVACANASĀRA

(PAVAYAṆASĀRA)

A Pro-Canonical Text of the Jainas

The Prakrit Text critically edited with the Sanskrit Commentaries of Amrtacandra and Jayasena and a Hindī Commentary of Pānde Hemaraja, with an English Translation of the Text, a topical Index and the Text with various readings, and with an exhaustive essay on the Life, Date and Works of Kundakunda and on the Linguistic and Philosophical aspects of Pravacanasāra

BY

A. N. UPADHYE, M A., D Litt.
Retd Professor of Ardhamāgadhī
Rajaram College, Kolhapur

PUBLISHED BY

SHRI RAOJIBHAI CHHAGANBHAI DESAI
For the Parama-Śruta-Prabhāvaka Śrīmad Rājachandra Jaina Śāstramālā

Shrimad Rajachandra Ashrama,
Station AGAS *Post Boria, Via Anand, W Rly*

1964

Price Rupees 15/- only

"अज्झयणमेव झाणं पंचेदियणिग्गहं कसायं पि ।
तो पंचमयाले पवयणसारब्भासमेव कुज्जाहो ।।"

—रयणसारे, ९५

"Study of Scriptures, indeed, bears the fruit of Meditation and that of subjugation of Senses and Passions; so in the Fifth Era Pravacanasāra (the essence of the Doctrine) *should* be studied."

Rayaṇasāra, 95

श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यविरचितः

प्रवचनसारः

(पवयणसार)

++++++++++

तत्त्वदीपिका-तात्पर्यवृत्ति-हिन्दीबालबोधिनीभाषा-चेतिटीकात्रयोपेतः ।

'कोल्हापुर' नगरान्तर्गत 'राजाराम कॉलेज' नाम्नि महाविद्यालये
निवृत्त-अर्धमागधीभाषाध्यापकेन

उपाध्यायोपाह्व-नेमिनाथतनय-आदिनाथेन

श्रीमत्कुन्दकुन्दचार्यतत्प्रणीतग्रन्थविस्तृतविमर्शकारिण्या प्रस्तावनया
सटिप्पणीकाङ्ग्लानुवादेन विषयसूच्या पाठान्तरादि-
भिश्चालंकृतः संशोधितश्च ।

तृतीयावृत्तिः] [प्रतयः १०००

स च

अगासस्थ

श्रीपरमश्रुतप्रभावक श्रीमद्-राजचन्द्र-जैनशास्त्रमाला
श्रीमद्-राजचन्द्र-आश्रम-अगास-स्वत्वाधिकारिभिः
श्रीमद् रावजीभाई देसाई, इत्येतैः प्राकाश्यं नीतः ।

श्रीवीरनिर्वाण संवत् २४९१ | मूल्यं रू. १५. | श्रीविक्रम संवत् २०२१

प्रकाशक—
रावजीभाई छगनभाई देसाई
ऑ० व्यवस्थापक,
परमश्रुतप्रभावक श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला
श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, स्टेशन अगास, पोस्ट-बोरीआ.
व्हाया आनंद (गुजरात)

[प्रथमावृत्ति—वीरनि० सं० २४३८; वि० सं० १९६८]
[सुधारित द्वितीय आवृत्ति, सने १९३५]
[सुधारित तृतीय आवृत्ति—वीर नि० सं २४९१, सने १९६४]

— सर्व हक्क प्रकाशकके स्वाधीन —

मुद्रक—
१) जयन्ती दलाल, वसन्त प्रिंटिंग प्रेस
घी कांटा रोड, अहमदाबाद
२) अंग्रेजी अंश
शारदा प्रेस, कार स्ट्रीट, मंगलूर.

CONTENTS

इस युगके महान् तत्त्ववेत्ता

श्रीमद् राजचन्द्र

इस युगके महान् पुरुषोंमें श्रीमद् राजचन्द्रजीका नाम बड़े गौरवके साथ लिया जाता है । वे विश्वकी महान् विभूति थे । अद्भुत प्रभावशाली अपनी नामवरीसे दूर रहनेवाले गुप्त महात्मा थे । भारतभूमि ऐसे ही नररत्नोंसे वसुन्धरा मानी जाती है ।

जिस समय मनुष्य समाज आत्मधर्मको भूल कर अन्य वस्तुओंमें धर्मकी कल्पना या मान्यता करने लगता है, उस समय उसे किसी सत्यमार्ग दर्शककी आवश्यकता पड़ती है । प्रकृति ऐसे पुरुषोंको उत्पन्न कर अपनेको धन्य मानती है । श्रीमद्जी भी उनमेंसे एक थे । इनका पवित्र नाम तो प्रायः बहुतोंने सुन रक्खा है, और उसका कारण भी यह है कि राष्ट्रपिता महात्मा गांधीजीने अपने साहित्यमें इनका जहाँ तहाँ सन्मान पूर्वक उल्लेख किया है । वे स्वयं इनको धर्मके सम्बन्धसे अपना मार्गदर्शक मानते थे ।

महात्माजी लिखते हैं कि "मेरे ऊपर तीन पुरुषोंने गहरी छाप डाली है, टाल्सटॉय, रस्किन और राजचन्द्रभाई । टाल्सटॉयने अपनी पुस्तकों द्वारा और उनके साथ थोड़े पत्रव्यवहार से; रस्किनने अपनी पुस्तक 'अन्टु दि लास्ट' से, जिसका गुजराती नाम मैंने 'सर्वोदय' रक्खा है, और राजचन्द्रभाईने अपने गाढ़ परिचयसे । जब मुझे हिन्दु धर्ममें शंका उत्पन्न हुई उस समय उसके निवारण करनेमें राजचन्द्रभाईने मुझे बड़ी सहायता पहुँचाई थी । ई. सन् १८९३ में दक्षिण आफ्रिकामें मै कुछ क्रिश्चियन सज्जनोंके विशेष परिचयमें आया था । अन्यधर्मियोंको क्रिश्चियन बनाना ही उनका प्रधान व्यवसाय था । उस समय मुझे हिन्दु धर्ममें कुछ अश्रद्धा होगई थी, फिर भी मैं मध्यस्थ रहा था । हिंदुस्तानमें जिनके ऊपर मुझे कुछ भी श्रद्धा थी उनसे पत्रव्यवहार किया । उनमें राजचंद्रभाई मुख्य थे । उनके साथ मेरा अच्छा सम्बन्ध हो चुका था । उनके प्रति मुझे मान भी था, इस लिए उनसे जो कुछ मुझे मिल सके उसके प्राप्त करने का विचार था । मेरी उनसे भेंट हुई । उनसे मिलकर मुझे अत्यंत शान्ति मिली । अपने धर्ममें दृढ़ श्रद्धा हुई । मेरी इस स्थितिके जवाबदार राजचंद्रभाई हैं । इससे मेरा उनके प्रति कितना अधिक मान होना चाहिए, इसका पाठक स्वयं अनुमान कर सकते हैं ।" महात्माजी आगे और भी लिखते हैं कि-राजचंद्रभाईके साथ मेरी भेंट जौलाई स. १८९१ में उस दिन हुई थी जब मैं विलायतसे बम्बई आया था । उस समय मैं रंगूनके प्रख्यात जोंहरी प्राणजीवनदास मेहताके घर उतरा था । राजचंद्रभाई उनके बड़े भाईके जमाई होते थे । प्राणजीवनदासने राजचंद्रभाईका परिचय कराया । वे राजचंद्रभाईको कविराज कहकर पुकारा करते थे । विशेष परिचय देते हुए उन्होंने कहा-ये एक अच्छे कवि हैं और हमारे साथ रह कर व्यापार करते हैं । इनमें बड़ा ज्ञान है, शतावधानी हैं ।

श्रीमद्जी का जन्म वि. सं० १९२४ कार्तिक शुक्ला पूर्णिमाको सौराष्ट्र मोरबी राज्यान्तर्गत ववाणिया गांवमें वैश्य जातिके दशा श्रीमाली कुलमें हुआ था । इनके पिताका नाम रवजीभाई पंचाणभाई मेहता और माताका नाम देवाबाई था । इनके एक छोटा भाई और चार बहनें थी । घरमें इनके जन्म से बड़ा भारी उत्सव मनाया गया ।

श्रीमद्‌जीने अपने सम्बन्धमें जो बातें लिखीं हैं वे बड़ी रोचक और समझने योग्य हे । दूसरोंको भी मार्गदर्शनमें कारण हैं । वे लिखते है कि—"छुटपनकी छोटी समझमें कौन जाने कहाँ से ये बड़ी बड़ी कल्पनाएँ आया करतीं थीं । सुखकी अभिलाषा कुछ कम न थी; और सुखमें भी महल, बाग, बगीचे स्त्री आदिके मनोरथ किए थे । किन्तु मनमें आया करता था कि यह सब क्या हं? इस प्रकार के विचारोंका यह फल निकला कि न पुनर्जन्म है, न पाप हं और न पुण्य है; सुखसे रहना और संसारका सेवन करना । बस, इसीमें कृतकृत्यता हे । इससे दूसरी झंझटोंमें न पड़कर धर्म की वासना भी निकाल डाली । किसी भी धर्मके लिए थोडा बहुत भी मान अथवा श्रद्धाभाव न रहा, किन्तु थोडा समय बीतनेके बाद इसमेंसे कुछ और ही हो गया । आत्मामें अचानक बड़ा भारी परिवर्तन हुआ, कुछ दूसरा ही अनुभव हुआ; और वह अनुभव ऐसा था, जो प्रायः शब्दोंमें व्यक्त नहीं किया जा सकता और न जड़वादियोंकी कल्पनामें भी आ सकता हं । वह अनुभव क्रमसे बढ़ा और बढ़ कर अब एक 'तू ही तू ही' का जप करता है ।"

एक दूसरे पत्रमें अपने जीवनको विस्तार पूर्वक लिखते हैं—"बाईस वर्षकी अल्पवयमें मेंने आत्मा सम्बन्धी, मन सम्बन्धी, वचन सम्बन्धी तन सम्बन्धी और धन संबन्धी अनेक रंग देखे हैं । नाना प्रकारकी सृष्टि रचना, नाना प्रकारकी संसारिक लहरें और अनन्त दुःखके मूल कारणोंका अनेक प्रकारसे मुझे अनुभव हुआ हैं । समर्थ तत्त्वज्ञानियोंने और समर्थ नास्तिकोंने जैसे जैसे विचार किए है, उसी तरहके अनेक मेंने इसी अल्पवयमें किए हे । महान् चक्रवर्ती द्वारा किए गए तृष्णापूर्ण विचार और एक निःस्पृही आत्मा द्वारा किये गए निःस्पृहापूर्ण विचार भी मेंने किए हं । अमरत्वकी सिद्धि और क्षणिकत्वकी सिद्धि पर मेंने खूब मनन किया है । अल्पवयमें ही मेंने महान् विचारकर डाले हैं; और महान् विचित्रताकी प्राप्ति हुई है । यहाँ मं अपनी समुच्चयचर्या लिखता हूँ । जन्मसे सात वर्षकी बाल वय नितान्त खेल कूदमें ही व्यतीत हुई थी । उस समय मेरी आत्मामें अनेक प्रकारकी विचित्र कल्पनाएँ उत्पन्न हुआ करती थीं । खेल कूदमें भी विजयी होने और राजराजेश्वर जैसी ऊँची पदवी प्राप्त करनेकी मेरी परम अभिलाषा रहा करती थी ।

स्मृति इतनी अधिक प्रबल थी कि वैसी स्मृति इस कालमें, इस क्षेत्रमें बहुत ही थोड़े मनुष्यों को होगी । मं पढ़नेमें प्रमादी था, बात बनानेमें होशियार, खिलाड़ी और बहुत ही आनन्दी जीव था । जिस समय शिक्षक पाठ पढ़ाता था उसी समय पढ़कर मं उसका भावार्थ सुना दिया करता था; बस, इतनेसे मुझे छुट्टी मिल जाती थी । मुझमें प्रीति और वात्सल्य बहुत अधिक था; मैं सबसे मित्रता चाहता था, सबमें भ्रातृभाव हो तो सुख है, यह विश्वास मेरे मनमें स्वाभाविक रूपसे रहता था । मनुष्यों में किसी भी प्रकारका जुदाईका अंकुर देखते ही मेरा अन्तःकरण रो पड़ता था । आठवें वर्षमें मेंने कविता लिखी थी, जो पीछे से जाँच करनेपर छन्दशास्त्र के नियमानुकूल थी । उस समय मेंने कई ग्रन्थ लिखे थे, तथा अनेक प्रकारके और भी बहुतसे ग्रन्थ देख डाले थे । मं मनुष्य जातिका अधिक विश्वासु था ।

मेरे पितामह कृष्णकी भक्ति किया करते थे । उस वयमें मेंने कृष्णकीर्तन तथा भिन्न भिन्न अवतार सम्बन्धी चमत्कार सुने थे । जिससे मुझे उन अवतारोंमें भक्तिके साथ प्रीति भी उत्पन्न हो गई थी, और रामदासजी नामके साधुसे मेंने बाल-लीलामें कंठी भी बंधवाई थी । मं नित्य ही कृष्णके दर्शन करने जाया करता था, अनेक कथाएँ सुनता था, और उन्हे परमात्मा मानता था । × × गुजराती भाषाकी पाठशाला की पुस्तकोंमें कितनी जगह जगत्कर्ताके सम्बन्धमें उपदेश है, वह मुझे दृढ हो

गया था । इस कारण मुझे जैन लोगोंसे घृणा रहा करती थी । कोई पदार्थ बिना बनाए नहीं बन सकता, इस लिए जैन मूर्ख हैं; उन्हें कुछ भी खबर नहीं उस समय प्रतिमा पूजनके अश्रद्धालु लोगोंकी किया भी मुझे पसन्द नहीं थी । मेरी जन्म-भूमिमें जितने वणिक् लोग रहते थे, उन सबकी कुलश्रद्धा यद्यपि भिन्न भिन्न थी फिर भी थोड़ी बहुत प्रतिमा पूजनके अश्रद्धालुओंके समान थी । लोग मुझे प्रथमसे ही शक्तिशाली और गांवका नामांकित विद्यार्थी मानते थे, इससे मैं कभी कभी जन-मंडलमें बैठकर अपनी चपल शक्ति बतानेका प्रयत्न किया करता था ।

वे लोग कंठी बांधने के कारण बार बार मेरी हास्यपूर्वक टीका करते, तो भी मैं उनसे वाद विवाद करता और उन्हें समझाने का प्रयत्न करता था ।

धीरे धीरे मुझे जैनोंका प्रतिक्रमण सूत्र इत्यादि ग्रन्थ पढ़ने को मिले । उनमें बहुत विनय पूर्वक जगत्के समस्त जीवोंसे मैत्री भाव प्रकट किया है । इससे मेरी उस ओर प्रीति हुई और प्रथममें भी रही । परिचय बढ़ता गया । स्वच्छ रहनेके और दूसरे आचार विचार मुझे वैष्णवोंके ही प्रिय थे, जगत्कर्ताकी भी श्रद्धा थी । इतनेमें कंठी टूट गई और इसे दुबारा मैंने नहीं बाँधी । उस समय बाँधने न बाँधनेका कोई कारण मैंने नहीं ढूंढ़ा था । यह मेरी तेरह वर्षकी वय-चर्या है । इसके बाद मैं अपने पिताकी दुकानपर बैठने लगा था, अपने अक्षरोंकी छटाके कारण कच्छ दरबारके महलमें लिखनेके लिये जब जब बुलाया जाता था तब तब वहाँ जाता था । दुकानपर रहते हुए मैंने अनेक प्रकारका आनन्द किया है, अनेक पुस्तकें पढ़ीं हैं, राम आदि के चरित्रोंपर कविताएँ लिखीं हैं, सांसारिक तृष्णाएँ की है, तो भी मैंने किसीको कम, अधिक भाव नहीं कहा, अथवा किसीको कम ज्यादा तौलकर नहीं दिया, यह मुझे बराबर याद है ।"

इस परसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि वे एक अति संस्कारी आत्मा थे । बड़े बड़े विद्वान् भी जिस आत्मा की ओर ध्यान नहीं देते उसी आत्माकी ओर श्रीमद्जीका बाल्य कालसे अद्भुत तीव्र लक्ष्य था ।

आत्माके अमरत्व तथा क्षणिकत्वके विचार भी कुछ कम न किए थे । कुल श्रद्धासे जैन धर्मको अंगीकार नहीं किया था, लेकिन अपने अनुभवके बलपर उसे सत्य सिद्ध करके अपनाया था । सत्य धर्मके अबाधित सत्य सिद्धान्तोंको श्रीमद्जीने अपने जीवनमें उतारा था, और मुमुक्षुओंको भी तदनुरूप बननेका उपदेश देते थे । वर्तमान युगमें ऐसे महात्माका आविर्भाव समाजके लिये सौभाग्यकी बात है । ये मतमतान्तरोंमें मध्यस्थ थे ।

इनको जातिस्मरण ज्ञान था । अर्थात् पूर्वभवोंको जानते थे । इस सम्बन्धमें मुमुक्षु भाई पदमशी भाईने एकबार उनसे पूछा था, और उसका स्पष्टीकरण स्वयं उन्होंने अपने मुखसे किया था । पाठकोंकी जानकारीके लिये उसे यहां दे देना योग्य समझता हूँ । पदमशी भाई ने पूछा—"आपको जातिस्मरण कब और कैसे हुआ ?" श्रीमद्जीने उत्तर दिया— "जब मेरी उम्र सात वर्षकी थी, उस समय ववाणियामें अमीचन्द्र नामके एक सद्-गृहस्थ रहते थे । वे पूरे लम्बे चौडे, सुन्दर और गुणवान् थे । उनका मेरे ऊपर खूब प्रेम था । एक दिन सर्पके काट खानेसे उनका तुरन्त देहान्त हो गया । आस-पासके मनुष्योंके मुखसे इस बातको सुनकर मैं अपने दादाके पास दौड़ा आया । मरण क्या चीज है, इस बातको मैं नहीं जानता था । इस लिए मैंने दादासे कहा, दादा, अमीचन्द्र मर गए क्या ? मेरे दादाने उस समय विचारा कि यह बालक है, मरण की बात करनेसे डर जायगा, इस लिए उन्होंने, जा भोजन कर ले, यों कहकर मेरी बातको टालनेका प्रयत्न किया । 'मरण शब्द' उस छोटे

जीवनमें मैंने प्रथम बार ही सुना था । मरण क्या वस्तु है, यह जाननेकी मुझे तीव्र आकांक्षा थी । बारम्बार मैं पूर्वोक्त प्रश्न करता ही रहा । अन्तमें वे बोले-तेरा कहना सत्य है—अर्थात् अमीचन्द्र मर गए हैं । मैंने आश्चर्य पूर्वक पूछा—"मरण क्या चीज है ?" । बाबाने कहा—"शरीरमेंसे जीव निकल गया है और अब वह हलन चलन आदि कुछ भी क्रिया नहीं कर सकता; खाना पीना भी नहीं कर सकता । इसलिए अब इसको तालाबके समीपके श्मसानमें जला आयेंगे । मैं थोड़ी देर इधर-उधर छिपा रहा । बाद में तालाब पर पहुँचा । तट पर दो शाखा वाला एक बबूलका पेड़ था, उस पर चढ़कर मैं सामने का सब दृश्य देखने लगा । चिता जोरों से जल रही थी, बहुत आदमी उसको घेर कर बैठे हुए थे । यह सब देखकर मुझे विचार आया, मनुष्यको जलाने में कितनी क्रूरता । यह सब क्यों ? इत्यादि विचारोंसे आत्मपर्दा दूर हो गया ।"

एक विद्वान्ने श्रीमद्जीको पूर्वजन्मके सम्बन्धमें अपने विचार प्रगट करनेको लिखा था, उसके उत्तरमें उन्होंने जो कुछ लिखा था, वह निम्न प्रकार है—"कितने ही निर्णयोंसे मैं यह मानता हूँ कि इस कालमें भी कोई कोई महात्मा पहले भवको जाति स्मरण ज्ञानसे जान सकते हैं; और यह जानना कल्पित नहीं, परन्तु सम्यक् (यथार्थ) होता है । उत्कृष्ट संवेग, ज्ञान, योग और सत्संगसे यह ज्ञान प्राप्त होता है । अर्थात् पूर्वभव प्रत्यक्ष अनुभव में आ जाता है । जब तक पूर्वभव अनुभव गम्य न हो तब तक आत्मा भविष्य कालके लिये शंकित भावसे धर्म प्रयत्न किया करती है; और ऐसा सशंकित प्रयत्न योग्य सिद्धि नहीं देता ।"

पुनर्जन्मकी सिद्धिके लिये श्रीमद्जीने एक विस्तृत पत्र लिखा है, जो 'श्रीमद् राजचंद्र' ग्रन्थ में प्रकाशित है । पुनर्जन्मसम्बन्धी इनके विचार बड़े गंभीर और विशेष प्रकारसे मनन करने योग्य है ।

१९ वर्ष की अवस्थामें श्रीमद्जीने बम्बईकी एक बड़ी भारी सभामें सौ अवधान किए थे, जिसे देखकर उपस्थित जनता दाँतों तले उँगली दबाने लगी थी । अंग्रेजी के प्रसिद्ध पत्र 'टाइम्स् ऑफ् इण्डिया' ने अपने ता. २४ जनवरी १८८७ के अंक में श्रीमद्जी के सम्बन्ध में एक लेख लिखा था, जिसका शीर्षक था 'स्मरण शक्ति तथा मानसिक शक्तिके अद्भुत प्रयोग ।'

राजचन्द्र रवजीभाई नामके एक १९ वर्षके युवा हिन्दुकी स्मरण शक्ति तथा मानसिक शक्तिके प्रयोग देखनेके लिये गत शनिवारको संध्या समय फरामजी कावसजी इन्स्टीट्यूट में देशी सज्जनोंका एक भव्य सम्मेलन हुआ था । इस सम्मेलनके सभापति डाक्टर पिटर्सन नियुक्त हुए थे । भिन्न भिन्न जातियोंके दर्शकोंमें से दस सज्जनोंकी एक समिति संगठित की गई । इन सज्जनोंने दस भाषाओंके छ छ शब्दोंके दस वाक्य बनाकर रख लिए और अक्रमसे बारी बारीसे सुना दिए । थोड़ेही समय बाद इस हिन्दु युवकने दर्शकोंके देखते देखते स्मृतिके बलसे उन सब वाक्योंको क्रम पूर्वक सुना दिया । युवककी इस शक्तिको देखकर उपस्थित मंडली बहुत ही प्रसन्न हुई ।

इस युवाकी स्पर्शन इन्द्रिय और मन इन्द्रिय अलौकिक थी । इस परीक्षाके लिये अन्य अन्य प्रकारकी कोई बारह जिल्दें इसे बतलाई गई और उन सबके नाम सुना दिये गए । इसके बाद इसकी आँखोंपर पट्टी बांध कर इसके हाथोंपर जो जो पुस्तकें रक्खीं गई, उन्हें हाथोंसे टटोलकर इस युवकने सब पुस्तकोंके नाम बता दिए । डॉ. पिटर्सनने इस युवककी इस प्रकार आश्चर्यपूर्ण स्मरण शक्ति और मानसिक शक्ति का विकास देखकर बहुत बहुत धन्यवाद दिया, और समाजकी ओरसे सुवर्ण-पदक और 'साक्षात् सरस्वती' की पदवी प्रदान की गई ।

उस समय चार्ल्स सारजंट बम्बई हाईकोर्टके चीफ जस्टिस थे । वे श्रीमद्जी की इस शक्ति से बहुत ही प्रभावित हुए । सुना जाता है कि सारजंट महोदयने श्रीमद्जी से इंग्लेंड चलनेका आग्रह किया था, किन्तु वे कीर्तिसे दूर रहनेके कारण चार्ल्स महाशयकी इच्छाके अनुकूल न हुए अर्थात् इंग्लेंड न गए ।"

इसके अतिरिक्त बम्बई समाचार आदि अखबारोंमें भी इनके शतावधानके समाचार प्रकाशित हुए थे । बादमें, शतावधानके प्रयोगोंको आत्मचिन्तनमें अन्तरायरूप मान कर उनका करना बन्द कर दिया था । इससे सहजमें ही अनुमान किया जा सकता है कि वे कीर्ति आदिसे कितने निरपेक्ष थे । उनके जीवनमें पद पद पर सच्ची धार्मिकता प्रत्यक्ष दिखाई देती थी ।

वे २१ वर्षकी उम्रमें व्यापारार्थ ववाणियासे बम्बई आए । वहाँ सेठ रेवाशंकर जगजीवनदासकी दुकान में भागीदार रहकर जवाहरातका धन्धा करते रहे । व्यापारमें अत्यन्त कुशल थे । ज्ञानयोग तथा कर्मयोगका इनमें यथार्थ समन्वय देखा जाता था । व्यापार करते हुए भी श्रीमद्जीका लक्ष्य आत्माकी ही ओर विशेष था । इनके ही कारण उस समय मोतियों के बाजारमें श्रीयुत रेवाशंकर जगजीवनदासकी पेढ़ी नामी पेढ़ीयोंमें एक गिनी जाती थी । स्वयं श्रीमद्जीके भागीदार श्रीयुत माणिकलाल घेलाभाईको इनकी व्यवहार कुशलताके लिए अपूर्व सन्मान था । उन्होंने अपने एक वक्तव्य में कहा था कि—"श्रीमद् राजचन्द्रके साथ मेरा लगभग १५ वर्ष तक परिचय रहा, और उसमें सात आठ वर्ष तो मेरा उनके साथ अत्यन्त परिचय रहा था । लोगोंमें अति परिचयसे परस्परका महत्त्व कम हो जाता है, परन्तु मैं कहता हूँ कि उनकी दशा ऐसी आत्ममय थी कि उनके प्रति मेरा श्रद्धा भाव दिन प्रतिदिन बढ़ता ही गया । व्यापारमें अनेक कठिनाइयाँ आतीं थीं, उनके सामने श्रीमद्जी एक अडोल पर्वतके समान टिके रहते थे । मैंने उन्हें जड वस्तुओंकी चिन्तासे चिन्तातुर नहीं देखा । वे हमेशा शान्त और गम्भीर रहते थे । किसी विषय में मतभेद होने पर भी हृदयमें वैमनस्य नहीं था । सदैव पूर्व सा व्यवहार करते थे ।"

श्रीमद् जी व्यापारमें जैसे निष्णात थे उससे अत्यन्त अधिक आत्मतत्त्वमें निष्णात थे । उनकी अन्तरात्मा में भौतिक पदार्थोंको महत्ता नहीं थी; वे जानते थे, धन पार्थिव शरीर का साधन है, परलोक अनुयायी तथा आत्माको शाश्वत शान्तिप्रदान करने वाला नहीं है । व्यापार करते हुए भी उनकी अन्तरात्मामें वैराग्य-गंगा का अखण्ड प्रवाह निरन्तर बहता रहता था । मनुष्य भवके एक एक समयको वे अमूल्य समझते थे । व्यापार से अवकाश मिलते ही वे कोई अपूर्व आत्मविचारणामें लीन हो जाते थे । निवृत्तिकी पूर्ण भावना होने पर भी पूर्वोदय कुछ ऐसा विचित्र था जिससे उनको बाह्य उपाधिमें रहना पड़ा ।

श्रीमद् जी जवाहरातके साथ साथ मोतियोंका भी व्यापार करते थे । व्यापारी समाजमें ये अत्यन्त विश्वास पात्र समझे जाते थे । उस समय एक अरब अपने भाईके साथ रहकर बम्बईमें मोतियों की आढ़त का धंधा करता था । छोटे भाई के मनमें आया कि आज मै भी बड़े भाईके समान कुछ व्यापार करूँ । परदेश से आया हुआ माल साथ में लेकर अरब बेचने निकल पड़ा । दलालने श्रीमद्जीका परिचय कराया । श्रीमद्जी ने उससे कहा—भाई, सोच समझकर भाव कहना । अरब बोला-जो मैं कह रहा हूँ, वही बाजार भाव है, आप माल खरीद करें । श्रीमद्जी ने माल ले लिया तथा उसको एक तरफ रख दिया । वे मनमें जानते थे कि इसमें इसको नुकसान है, और हमें फ़ायदा । परन्तु वे किसीकी भूल का लाभ नहीं लेना चाहते थे ।

अरब घर पहुँचा, बड़े भाईसे सौदेकी बात की । वह घबराकर बोला तूने यह क्या किया । इसमें तो अपने को बहुत नुकसान है । अब क्या था । अरब श्रीमद्‌जीके पास आया और सौदा रद करनेको कहा । व्यापारी नियमानुसार सौदा पक्का हो चुका था, अरब वापिस लेनेका अधिकारी नहीं था, फिर भी श्रीमद्‌जीने सौदा रद करके उसके मोती उसे वापस दे दिये । श्रीमद्‌जीको इस सौदेसे हजारोंका फायदा था, तो भी उन्होंने उसकी अन्तरात्माको दुखित करना अनुचित समझा और मोती लौटा दिए । कितनी निःस्पृहता, लोभवृत्तिका अभाव । आजके व्यापारियोंमें जो सत्यता आ जाय तो सरकार को नित्य नये नये नियम बनानेकी जरूरत ही न रहे और मनुष्य समाज सुखपूर्वक जीवन यापन कर सके ।

श्रीमद्‌जी की दृष्टि विशाल थी । आज भिन्न भिन्न संप्रदायवाले उनके वचनोंका रुचि सहित आदर पूर्वक अभ्यास करते हुए देखे जाते हे । उन्हें वाडाबन्दी पसन्द नहीं थे । वे कहा करते थे कुगुरुओंने मनुष्योंकी मनुष्यता लूट ली है, विपरीत मार्गमें रुचि उत्पन्न करा दी है, सत्य समझानेकी अपेक्षा वे अपनी मान्यताको ही समझानेका विशेष प्रयत्न करते हैं । सद्‌भाग्यसे ही जीवको सद्‌गुरुका योग मिलता है, पहचानना कठिन है और उसकी आज्ञानुसार प्रवर्तन तो अत्यन्त कठिन है ।

उन्होंने धर्मको स्वभावकी सिद्धि करने वाला कहा है, धर्मोंमें जो भिन्नता देखी जाती है, उसका कारण दृष्टिकी भिन्नता बतलाया है । इसी बात को वे स्वयं दोहोंमें प्रगट करते हैं ।

भिन्न भिन्न मत देखिए, भेद दृष्टि नो यह । एक तत्त्वनां मूलमां, व्याप्या मानों तेह ॥

तेह तत्त्वरूप वृक्षनो, आत्मधर्म छे मूल । स्वभावनी सिद्धि करे, धर्म तेज अनुकूल ॥

श्रीमद्‌जीने इस युगको एक अलौकिकदृष्टि प्रदान की है वे रूढि या अन्धश्रद्धाके कट्टर विरोधी थे, उन्होंने आडम्बरों में धर्म नहीं माना था । मुमुक्षुओं को भी मतमतान्तर, कदाग्रह और राग द्वेष आदिसे दूर रहनेका उपदेश करते थे । वीतरागताकी ओर ही उनका ध्यान था ।

पेढीसे अवकाश लेकर वे अमुक समय खंभात, काविठा, उत्तरसंडा, नडियाद, वसो और ईडरके पर्वतमें एकान्त वास किया करते थे । मुमुक्षुओंको आत्म-कल्याणका सच्चा मार्ग बताते थे ।

इनके एक एक पत्रमें कोई अपूर्व रहस्य भरा हुआ है । उन पत्रोंका मर्म समझनेके लिए सन्तसमागम की विशेष आवश्यकता अपेक्षित है । ज्यों ज्यों इनके लेखोंका शान्त और एकाग्र चित्तसे मनन किया जाता है, त्यों त्यों आत्मा क्षण भरके लिए एक अपूर्व आनन्दका अनुभव करता है । 'श्रीमद् राजचन्द्र' ग्रन्थके पत्रोंमें ही इनका आन्तरिक जीवन अंकित है ।

श्रीमद्‌जीको भारतमें अच्छी प्रसिद्धि हुई । मुमुक्षुओंने उन्हें अपना आदर्श माना । बम्बई रहकर भी वे पत्रोंद्वारा उनकी शंकाओं का समाधान करते रहते थे ।

प्रातःस्मरणीय श्रीलघुराज स्वामी इनके शिष्योंमें मुख्य थे । श्रीमद्‌जीद्वारा उपदिष्ट तत्त्वज्ञानका संसारमें प्रचार हो, तथा अनादिकालसे परिभ्रमण करनेवाले जीवोंको पक्षपात रहित मोक्षमार्गकी प्राप्ति हो, इस उद्देशको लक्ष्यमें रखकर, स्वामीजीके उपदेशसे श्रीमद्‌जीके उपासकोंने गुजरातमें अगास स्टेशनके पास 'श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम' की स्थापना की, जो आज भी उन्हींकी आज्ञानुसार चल रहा है । इसके सिवाय खंभात, नरोडा, धामण, आहोर, भादरण, बवाणिया, काविठा, नार, सीमरडा आदि स्थलोंमें इनके नामसे आश्रम तथा मन्दिर स्थापित हुए हैं । श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, आगास, के अनुसार ही उनमें प्रवृत्ति है । अर्थात् श्रीमद्‌जीकी भक्ति और तत्त्वज्ञानकी प्रधानता है ।

श्रीमद्‌जी एक उच्चकोटिके असाधारण लेखक और वक्ता थे । उन्होंने १६ वर्ष और ५ मास की

अवस्थामें ३ दिनमें सर्वोपयोगी १०८ पाठवाली 'मोक्षमाला' बनाई थी । आज तो इतनी आयुमें शुद्ध लिखना भी नहीं आता, जब की श्रीमद्जीने एक अपूर्व पुस्तक लिख डाली । पूर्वभवका अभ्यास ही इसमें कारण था । श्रीमद्जी 'मोक्षमाला'के संबन्ध में लिखते हैं—"इस (मोक्षमाला) में मैंने धर्म समझाने का प्रयत्न किया है; जिनोक्त मार्गसे कुछ भी न्यूनाधिक नहीं लिखा है । वीतरागमार्ग में आबालवृद्धकी रुचि हो, उसके स्वरूपको समझें तथा उसका बीज हृदयमें स्थिर हो, इस कारण इसकी बालावबोधरूप रचना की है ।

इनकी दूसरी कृति आत्मसिद्धि शास्त्र है, जिसको इन्होंने नडियादमें १॥ घंटेमें बनाया था । १४२ दोहोंमें सम्यग्दर्शनके कारण भूत छः पदोंका बहुत ही सुन्दर पक्षपात रहित वर्णन किया है । यह नित्य स्वाध्यायकी वस्तु है ।

श्रीकुन्दकुन्दाचार्य के पंचास्तिकाय की मूलगाथाओंका भी इन्होंने अक्षरशः गुजरातीमें अनुवाद किया है । पाठक इस अनुवादको 'श्रीमद् राजचन्द्र' में देख सकते है ।

श्रीमद्जीने श्रीआनन्दघन चौबीसी का अर्थ लिखना प्रारम्भ किया था और उसमें प्रथमादि दो स्तवनोंका अर्थ भी विवेचन सहित किया था । पर न जाने, क्यों अपूर्ण रह गया है । संस्कृत तथा प्राकृत पर भी आपका पूरा अधिकार था । सूत्रों का अर्थ समझानेमें आप बड़े निपुण थे ।

आत्मानुभव प्रिय होनेसे श्रीमद्जीने अपने शरीरकी ओर विशेष ध्यान न रखा । इससे पौद्गलिक शरीर अस्वस्थ हुआ । दिन प्रतिदिन उसमें कृशता आने लगी, ऐसे अवसर पर आपसे किसीने पूछा "आपका शरीर कृश क्यों होता जाता है?" श्रीमद्जी ने उत्तर दिया—'हमारे दो बगीचे हैं, शरीर और आत्मा । हमारा सारा पानी आत्मारूपी बगीचेमें जाता है, इससे शरीररूपी बगीचा सूख रहा है । वढवाण, धर्मपुर आदिस्थलों में रहकर देहके अनेक अनेक प्रकारके उपचार किए किन्तु वे सब ही निष्फल हुए । कालको महापुरुषका जीवन रुचिकर न हुआ । अनित्यवस्तुका संबन्ध भी कहाँ तक रह सकता है । जहाँ सम्बन्ध, वहाँ वियोग भी अवश्य है ।

देहत्यागके पहले दिन शामको श्रीमद्जीने श्रीरेवाशंकर आदि मुमुक्षुओंसे कहा—"तुम लोग निश्चिन्त रहना । यह आत्मा शाश्वत है । अवश्य विशेष उत्तम गतिको प्राप्त होगी । तुम शान्त और समाधि पूर्वक रहना । मैं कुछ कहना चाहता था, परन्तु अब समय नहीं है । तुम पुरुषार्थ करते रहना ।"

रातको अढाई बजे अत्यन्त सर्दी हुई, उस समय श्रीमद्जीने अपने लघु भ्राता मनसुख भाईसे कहा—"भाई का समाधि मरण है । मैं अपने आत्मस्वरूपमें लीन होता हूँ ।" फिर वे न बोले । देह त्याग पूर्व मुमुक्षुओंने पूछा था कि अब हमें क्या आधार है? श्रीमद्जीने कहा था—मुनि लल्लुजी (लघुराजस्वामी) का समागम करते रहना ।

इस प्रकार श्रीमद्जीने वि. सं. १९५७ मिती चैत्र वदी ५ (गुजराती) मंगलवारको दो प्रहरके २ बजे राजकोटमें इस नश्वर शरीरका त्याग किया ।

इनके देहान्तके समाचारसे मुमुक्षुओंमें अत्यन्त शोकके बादल छा गए । अनेक समाचार पत्रोंने भी इनके लिए शोक प्रदर्शित किया था ।

श्रीमद्जीका पार्थिव शरीर आज हमारी आँखोंके सामने नहीं है । किन्तु उनका सदुपदेश जबतक लोकमें चन्द्र, सूर्य है, तबतक स्थिर रहेगा तथा मुमुक्षुओंको आत्म-ज्ञानमें एक महान् सहायक रूप होगा ।

श्रीमद्‌जीने १९५६ में परमश्रुतके प्रचारार्थ एक सुन्दर योजना तैयार की थी, जिससे मनुष्य समाजमें परमार्थ प्रकाशित हो। इनकी विद्यमानतामें वह योजना सफल हुई। और तदनुसार 'परमश्रुत प्रभावक मंडल' की स्थापना हुई। इस मंडलकी ओरसे दोनो जैन सम्प्रदायोंके अनेक सद्‌ग्रन्थोंका प्रकाशन हुआ है। इन ग्रन्थोंके मनन, अध्ययनसे समाजमें अच्छी जागृति आई है। गुजरात, सौराष्ट्र और कच्छमें आज घर घर सद्‌ग्रन्थोंका जो अभ्यास चालू है, वह इसी संस्था का प्रताप है। 'रायचन्द्र जैन ग्रन्थमाला' मंडलकी आधीनतामें काम करती थी। राष्ट्रपिता महात्मा गांधीजी इस संस्थाके ट्रस्टी और भाई रेवाशंकर जगजीवनदास मुख्य कार्यकर्ता थे। भाई रेवाशंकरजीके देहोत्सर्गके बाद कुछ शिथिलता आगई। परन्तु अब उस संस्थाका काम श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, के ट्रस्टियोंने संभाल लिया है। और सुचारुरूप से सभी कार्य चल रहा है।

श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम
अगास, व्हाया आणन्द
(पश्चिम रेल्वे)

गुणभद्र जैन

॥ ओं नमः ॥

प्रस्तावना

(प्रथम आवृत्ति)

प्रिय विज्ञपाठको ! मैं श्रीजिनेन्द्रदेवकी कृपासे आज आपके सन्मुख श्रीप्रवचनसार भी तीन टीकाओंसहित उपस्थित करता हूं। यह उसी नाटकत्रयीमेंका सिद्धान्त ग्रन्थ है। जो कि द्वितीयश्रुतस्कन्धके नामसे प्रसिद्ध है इसीसे जैन-संप्रदायमें परम मान्‍नीय है।

इसकी उत्पत्ति इसतरह है कि श्रीवर्धमानस्वामीके निर्वाण होनेके पश्चात् ६८३ वर्षपर्यंत अंगज्ञानकी प्रवृत्ति रही। इसके बाद अंगपाठी कोईभी नहीं हुए किन्तु एक भद्रबाहुस्वामी अष्टांगनिमित्त-ज्ञानके (ज्योतिषके) धारक हुए। इनके समयमें १२ वर्षका दुर्भिक्ष पड़नेसे इनके संघमेंसे अनेक मुनि शिथिलाचारी हो गये और स्वच्छन्दप्रवृत्ति होनेसे जैनमार्ग भ्रष्ट होने लगा, तब भद्रबाहुस्वामीके शिष्योंमेंसे एक धरसेन नामके मुनि हुए जिनको आग्रायणीनामक दूसरे पूर्वमें पंचम वस्तु महाधिकारके महाप्रकृतिनाम चौथे प्राभृत (अधिकार) का ज्ञान था।

उक्त धरसेनाचार्यके समयमें ही एक गुणधर नामा मुनि हुए, उनको ज्ञानप्रवाह पूर्वके दशमवस्तुमेंसे तृतीय प्राभृतका ज्ञान था। उनसे नागहस्तनामा मनिने उस प्राभृतको पढा और इन दोनों मुनियोंसे फिर यतिनायकनामा मुनिने १२००० श्लोकोंमें एक विस्तृत टीका रची, सो उस ग्रन्थको श्रीकुंदकुंदस्वामी अपने गुरु जिनचन्द्राचार्यसे पढकर पूर्ण रहस्यके ज्ञाता हुए और उसी ग्रंथके अनुसार पंचास्तिकाय-समयसार नाटक-प्रवचनसाररूप नाटकत्रयी आदि ग्रन्थ रचे। ये सब ग्रन्थ द्वितीयश्रुतस्कंधके नामसे कहे जाते हे। इन सबमें ज्ञानको प्रधान करके शुद्ध द्रव्यार्थिकनयका कथन किया गया है अर्थात् अध्यात्मरीतीसे आत्माका ही अधिकार है। इन्हीं ग्रन्थोंसे परद्रव्य तथा परनिमित्तजन्यविकारभाव इनसे भिन्न अपनेको जानकर अपने शुद्धस्वरूपका अनुभवकर शुध्धोपयोगमें लीन हुआ कर्मोंका अभावकर यह जीव मोक्षपदको पाता है।

इस महान ग्रन्थके कर्ता 'श्रीकुंदकुंदाचार्य' पट्टावलियोंके अनुसार वि. सं. ४९ में हुए हे इनके बनाये हुए समस्त ग्रन्थोंको दिगंबर और श्वेताम्बर दोनोंही पक्षके विद्वद्गण प्रमाणभूत मानकर परम आदरकी दृष्टिसे इनका स्वाध्याय तथा अवलोकन करते रहते हैं अर्थात् सर्वजैनोंमें मान्य हे।

इस ग्रन्थकी इस समय दो संस्कृत टीकायें प्रकाशित की गई हैं उनमेंसे एक 'तत्त्वदीपिका' नामकी टीका जो कि श्रीअमृतचन्द्रसूरिने बनाई है जो कि विक्रमसंवत् ९६२ में नंदि संघके पट्टपर हो गये हैं। इन्होंने अन्य ग्रन्थ भी बनाये हें जो पुरुषार्थसिद्धयुपायादि नामोंसे प्रसिद्ध है। दूसरी 'तात्पर्यवृत्ति' नामकी टीका जो की श्रीजयसेनाचार्यने रची है इसमें विद्यार्थियोंके लिय बड़ी सुगमता की गई है। और तीसरी बालबोधिनी हिन्दी भाषाटीका पांडे हेमराजजीकृत भी शामिल कर दी गई है।

---

१ इन्होंने ८२ प्राहुड (प्राभृत) भी रचे हे जिनमेंसे अष्ट पाहुड तो इस समय मिलते हे।

यद्यपि पांडे (पंडित) हेमराजजीकृत यह बालबोधिनी वचनिका व्रजभाषापद्धतिके अनुसार बहुतही उत्तम और बालबोध है परंतु आजकलके नवीन हिन्दी भाषाके संस्कारक महाशयोंकी दृष्टिमें यह भाषा सर्वदेशीय नहीं समझी जाती । इस कारण मैंने पंडित हेमराजकृत भाषानुवादके अनुसारही नयी सरल हिन्दी भाषामें अविकल अनुवाद किया है अर्थात् संस्कृतके हरएक पदके पीछे 'कहिये' शब्दको उठाने और बदलेमें संस्कृतपदोंको कोष्ठकमें रखने तथा भावार्थको एक जगह करनेके सिवाय अपनी ओरसे अर्थमें कुछ भी न्यूनाधिक नहीं किया है । किन्तु जहां २ मूल पाठ और अन्वयअर्थमें लेखकोंकी भूलसे कुछ छुट गया है उसको मैंने संस्कृत टीकाके अनुसार शुद्ध कर दिया है ।

इस ग्रन्थका जो उद्धार स्वर्गीय तत्त्वज्ञानी श्रीमान रायचन्द्रजीद्वारा स्थापित श्रीपरमश्रुत प्रभावक मंडलकी तरफसे हुआ है इसलिये उक्त मंडलके उत्साही प्रबन्ध कर्ताओंको "जिन्होंने अत्यंत उत्साहित होकर ग्रन्थ प्रकाशित कराके भव्यजीवोंको महान् उपकार पहुंचाया है" कोटिशः धन्यवाद देता हूं । और श्रीजीसे प्रार्थना करता हूं कि वीतरागदेवप्रणीत उच्च श्रेणीके तत्त्वज्ञानका इच्छित प्रसार करनेमें उक्त मंडल कृतकार्य होवे । द्वितीय धन्यवाद न्यायशीला गवर्नमेंटको दिया जाता है कि जिसने इस ग्रंथको अपने यूनिवर्सिटीके कोर्समें दाखिलकर इसका महत्व प्रगट किया है । अब मेरी अन्तमें यह प्रार्थना है कि जो प्रमादसे, दृष्टिदोषसे तथा ज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमकी न्यूनतासे कहींपर अशुद्धियां रहगई हो तो पाठक मेरे ऊपर क्षमा करके शुद्ध करते हुए पढ़ें क्योंकि 'को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे' इस प्रसिद्ध वाक्यसे इस अध्यात्मिक ग्रंथमें अशुद्धियोंका रह जाना संभव है । इस तरह धन्यवादपूर्वक प्रार्थना करता हुआ इस प्रस्तावनाको समाप्त करता हूं । अलं विशेषु ।

लार्डगंज जैन पाठशाला
जबलपूर ।
माघकृष्णा १३ सं० २४३८

जैनसमाजका सेवक
मनोहरलाल
पाढम (मैनपुरी) निवासी ।

प्रकाशकका निवेदन

(द्वितीय आवृत्ति)

अबसे लगभग २३ वर्ष पहले इस ग्रन्थका पहला संस्करण प्रकाशित हुआ था, जिसका सम्पादन संशोधन स्वर्गीय पंडित मनोहरलालजी शास्त्रीने किया था । इतने समयके बाद अब यह दूसरा संस्करण प्रकाशित हो रहा है । पाठक देखेंगे कि इसमें पहले संस्करणकी अपेक्षा अनेक विशेषताएँ है, और वे बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं । इसका सम्पादन राजाराम कॉलेज कोल्हापुरके प्राकृत या अर्धमागधीके प्रोफेसर पं० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्याय, एम्. ए., ने किया है, जो अत्यन्त अध्ययनशील तथा परिश्रमी विद्वान् हैं । उनकी लिखी हुई १२५ पृष्ठोंकी अंग्रेजी भूमिका (Introduction) उनके असाधारण पांडित्य और दीर्घकालव्यापी अध्ययनकी साक्षी देनेके लिये यथेष्ट है । जहांतक हम जानते हैं, अबतक किसी भी जैनग्रन्थके सम्पादन, संशोधन और तुलनात्मक अध्ययनमें इतना परिश्रम नहीं किया गया है, और यही कारण है कि, बम्बई विश्वविद्यालयने ढाई सौ रुपयोंकी सहायता देकर इस ग्रन्थके सम्पादक तथा प्रकाशकका सम्मान बढ़ानेकी उदारता दिखलाई है ।

बम्बई विश्वविद्यालयमें यह ग्रन्थ बहुत समयतक 'कोर्स'में रह चुका है । परन्तु इधर अप्राप्य हो जानेके कारण यह पठन क्रममें नहीं रहा था । आशा है कि, अब फिर कोर्समें रक्खा जायगा, और कॉलेजके विद्यार्थियोंको इससे असाधारण लाभ होगा ।

अमरावती कॉलेजके संस्कृत प्रोफेसर बाबू हीरालालजी जैन, एम्. ए एल्‌एल्. बी., ने ग्रन्थके सम्पूर्ण फार्मोंके हिन्दी प्रूफ देखनेका और पं० खूबचन्दजी शास्त्रीने ग्रन्थारंभके प्रूफ देखनेकी जो उदारता दिखलाई है, इसके लिए हम उक्त दोनों विद्वानोंके हृदयसे कृतज्ञ हैं ।

ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवनने ग्रन्थकी हस्तलिखित प्रतियाँ देकर संशोधन कार्यमें बहुत सहायता पहुँचाई है । इसलिये भवनके हम अत्यन्त आभारी हैं ।

प० प्र० मंडलकी तरफसे कई नये और पुराने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ सुसम्पादित होकर जल्दी छपेंगे ।

जौहरी बाजार, बम्बई.
श्रावण कृ० ३० सं. १९९१

निवेदक—
मणीलाल जौहरी

प्रकाशक का निवेदन

(तृतीय संस्करण)

'प्रवचनसार' का पहला संस्करण वीर संवत् २४३८ में प्रकाशित हुआ था। उसका संपादन स्वर्गीय पंडित मनोहरलालजीने किया था। लगभग २३ वर्ष के बाद इसका दूसरा संस्करण वीर संवत् २४६१ में प्रकाशित हुआ था। यह दूसरा नया संस्करण वैशिष्ट्यपूर्ण ही था। इसका संपादन प्रोफेसर आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्यायने किया। उन्होंने इसमें एक अँग्रेजी भूमिका और साथ साथ मूल-ग्रन्थका अँग्रेजी अनुवाद भी दिया। यह भूमिका उनके असाधारण पांडित्य और दीर्घकालव्यापी अध्ययन की साक्षी देनेकेलिए यथेष्ट है। ग्रंथ के प्रकाशन के बाद पाश्चात्य और पौर्वात्य विद्वानोंने इसकी बहुत प्रशंसा की। मुख्यतया इसी कुंदकुंदाचार्य संबंधी निबंध पर बम्बई विश्वविद्यालयने श्रीमान् पंडित उपाध्यायजी को 'डी. लिट्' की उपाधि प्रदान की। यह ग्रंथमाला की दृष्टिसे बडे गौरव की बात है। इसके सिवा मूल-ग्रंथ के साथ अँग्रेजी अनुवाद के भी दिये जानेसे कई विश्वविद्यालयोमें स्नातक और स्नातकोत्तर परीक्षाओं के लिए 'प्रवचनसार' एक पाठ्य पुस्तक रूपसे प्रचलित है। इतना ही नहीं किंतु कुंदकुंदाचार्य के किसी ग्रंथको संशोधनात्मक दृष्टिसे पढनेवाले, श्रीमान् उपाध्ये के इस महा-निबंध रूप प्रस्तावना के बिना अपने अध्ययनको अधूरा पायेंगे।

श्री गोपालदास जीवाभाई पटेलने 'श्री कुंदकुंदाचार्यना तृण रत्नो' (अहमदाबाद १९३७) नामक अपनी पुस्तकमें कुंदकुंदाचार्यके तीन मुख्य ग्रंथों का सार देने का प्रयत्न किया है। इस ग्रंथ का उपोद्घात पढनेसे स्पष्ट हो जाता है कि डा. उपाध्यायजी द्वारा लिखित प्रस्तावना का मुख्य रूपसे उपयोग किया गया है। उनके प्रयुक्त 'वेदांत' आदि शब्दोंसे कुछ भ्रम पैदा होने की संभावना है। परंतु यह परिभाषा उपाध्यायजी की नहीं है। अभी हालमें पंडित कैलासचन्द्रजीने 'कुंदकुंद प्राभृतसंग्रह' नामक (शोलापुर १९६० ई) एक महत्वपूर्ण ग्रंथ लिखा है। इस ग्रंथ की प्रस्तावनामें 'प्रवचनसार' की अंग्रेजी प्रस्तावना का पूरा उपयोग किया गया है। अन्य कई निबंधों में भी इस प्रस्तावना का उपयोग हुआ ही है। राजचंद्र ग्रंथमाला के प्रकाशकों के लिए उपाध्यायजी द्वारा संपादित प्रवचनसार की आवृत्ति एक पथप्रदर्शक बनगयी है और उपाध्यायजी की संपादनशैली कई लोगोंने अपनायी है।

गत पांच-छः सालसे 'प्रवचनसार' की प्रतियाँ समाप्त हो गयी हैं। हमें अत्यंत खुशी है कि डा. उपाध्यायजीने तृतीय आवृत्ति के संपादन की हमारी प्रार्थना के अनुसार जिम्मेदारी ली, और इस बार भी अच्छे रूपमें इस ग्रंथको प्रकाशित करनेमें बडी सहायता दी। हमारी इच्छा थी कि यह ग्रंथ इससे भी जल्दी प्रकाशित हो जाए, किंतु मुद्रण व्यवस्था की कठिनाई से कुछ विलंब हुआ। इसका हमें खेद है।

यह आवृत्ति तीस वर्षोंके बाद प्रकाशित हो रही है। इसमें कुछ वैशिष्ट्य भी है। विद्वानों में मूल प्राकृत ग्रंथ पढने की प्रवृत्ति बढ रही है। इसी उद्देश्यसे इस आवृत्ति में मूल और कुछ नये हस्तलिखितों का पाठांतर भी दिया गया है। हमें विश्वास है, देशके एक महान् आध्यात्मिक श्रीमद् राजचन्द्रजीके नामसे प्रचलित ग्रंथमाला में यह प्रवचनसार की आवृत्ति स्थायी रूपसे एक अमूल्य और सुगंधी सुमन बनकर रहेगी।

इस ग्रंथ को सुचारु रूपसे प्रकाशित करने में ग्रंथमाला के अधिकारियों के और हमारे सुयोग्य संपादक डा. ए. एन्. उपाध्येजी के हम अत्यंत आभारी हैं। हमारी यह तीव्र इच्छा है कि भारतीय साहित्य प्रकाशन क्षेत्र में हमारी ग्रंथमाला का सुयोग्य स्थान रहे, और इस कारणसे हम श्रीमान् और विद्वानों के सहयोग की भी अपेक्षा करते हैं।

श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, पोस्ट
बोरीआ, वाया आनंद (प. रेल्वे)
दिनांक ४—९—१९६४.

निवेदक
रावजीभाई देसाई

PREFACE

(SECOND EDITION)

A STUDENT of Jaina literature, in his pursuit of Oriental Studies, has to face peculiar difficulties in evaluating the cultural contribution of Jainism and Jaina literature to the Indian heritage. Jaina literature is both religious and secular; it is an extensive tract preserved in many languages, Aryan as well as Dravidian; so a thorough study of this is of prime importance for the history of Indian literature, language, thought and life. Many texts are printed in India, but they deserve no more value than that of a printed Manuscript. Some Orientalists, both European and Indian, have rendered signal service to the cause of Jainism and Jaina literature by their researches and critical editions; they have prophesied that here is a fruitful field that cannot be ignored by an Indologist; but what has been done till now is very little when compared with the tremendous leaps with which Vedic and Buddhistic, Sanskrit and Pali studies have advanced. Each field may present its own problems; but the comparative and critico-historical method of study, which has borne excellent results elsewhere, is sure to be fruitful when applied to Jaina literature as well. It is a stupendous task the beginnings of which have been happily made by various Orientalists, especially those three German scholars: WEBER, LEUMANN and JACOBI.

An exhaustive history of Jaina literature is an urgent desideratum. The section on Jaina Literature, in WINTERNITZ's *A History of Indian Literature*, Vol II in English, which has been recently published, shows how much more remains to be done. If the task of a future historian is to be facilitated, it is necessary that exhaustive monographs on different works should be written shedding light on their religious, philosophical, linguistic, literary and historical aspects, and discussing all about their author and period. Ample side-light is available from literary and epigraphic sources. The facts should be judiciously selected and critically marshalled without losing the historical and comparative perspective. With the modest aim of supplying a corner stone, carefully shaped and cautiously chiselled, to the prospective history of Jaina literature, no mean pillar in the edifice of Indian Literature, I have herewith presented an edition of *Pravacanasāra* with an introductory essay on Kundakunda, one of the greatest authors that the Jaina church has produced, and his works.

The Introduction is divided into Six sections. In the First section the various traditional pieces of information about Kundakunda, whether literary or epigraphic, are put together and critically evaluated. In the Second section the problem of Kundakunda's date is discussed by stating the views of earlier writers, by analysing the underlying facts, and by scrutinizing the same in the light of fresh material. The Third section is devoted to the study of Kundakunda's works; the contents of every work are analysed and critical remarks on each are added: thus attention is devoted both to the form as well as contents of each work. The Fourth section is occupied by the study of *Pravacanasāra:* a chronological sketch of *Pravacanasāra*-studies is given; two recensions of the text are subjected to critical study; the contents of the work are summarised in detail; great attention is devoted to the philosophical aspects of *Pravacanasāra* from which the various topics are constructively set forth and studied on historical and critical lines in comparison with other systems of Indian philosophy; and lastly the monastic aspect of the work is discussed in comparison with that of Buddhism. In the Fifth section short monographs on the six commentators of *Pravacanasāra* are added: all the available information about them and about their works is put together; in every case, attempt has been made to settle their dates; and the quotations etc. from the commentaries of some of them are also traced to their sources. The Sixth section is devoted to the study of the Prakrit dialect of *Pravacanasāra* a grammatical analysis of the dialect is given; an attempt is made to define its place in the scheme of Prakrit dialects, outlining a historical and geographical back-ground of this dialect; and lastly its name and its relation to pre-classical Prakrit postulated by Dr. JACOBI are discussed. Thus it will be seen that many new facts about Kundakunda and his works are brought to light, and his place in the scheme of Jaina literature is ascertained. Originally a portion of this Introduction was covered by a series of lectures delivered by me, as a Post-graduate Teacher in Ardha-māgadhī, University of Bombay, to the M.A. students.

The philosophical aspect of *Pravacanasāra*, as set forth in the Introduction here, is expected to be a modest outline to introduce the student to an exhaustive study of Jaina philosophy. The time has now come, I believe, when we should no more assess the Sāṃkhya Jaina, Buddhistic and Ājīvika tenets as mere perverted continua-

tions of stray thoughts selected at random from the Upaniṣadic bed of Aryan thought-current. The inherent similarities in these systems, as against the essential dissimilarities with Aryan (Vedic and Brahmanic) religion and the gaps that a dispassionate study might detect between the Vedic (including the Brāhmaṇas) and Upaniṣadic thought-currents, really point out to the existence of an indigenous stream of thought, call it for convenience the Magadhan Religion, which was essentially pessimistic in its worldly outlook, metaphysically dualistic if not pluralistic, animistic and ultra humane in its ethical tenets, temperamentally ascetic, undoubtedly accepting the dogma of transmigration and karma doctrine, owing no racial allegiance to Vedas and Vedic rites, subscribing to the belief of individual perfection, and refusing unhesitatingly to accept a creator.

The Prakrit text of *Pravacanasāra* is presented as preserved in the commentary of Jayasena who is the earliest known commentator to pay attention to textual accuracy. Only to throw some sidelight on the dialectal aspect of the gāthās two other MSS. have been collated, and their readings are given at the end. All possible care is taken to print accurately the text and the commentaries.

The English translation is as literal as possible, and it is attempted on strictly philological lines. *Pravacanasāra* is translated here for the first time, and so I am perfectly alive to the tentative character of my translation. Professor FADDEGON'S English translation of the text and Amṛtacandra's commentary (Ed. by Dr. F.W. THOMAS, Cambridge, 1935) reached my hands very late, when all the forms of my Translation and Introduction were printed off. I have always taken into consideration, when using English equivalents for Jaina technical terms, the proposals of earlier translators of Jaina texts like STEVENSON, JACOBI, HOERNLE, BARNETT, GHOSHAL, JAINI, CHAKRAVARTI and others; and at times, with due deference to them, I have adopted other words that appeared to me more significant and connotative. Along with the translation, only a few elucidatory notes have been added. In the Index a systematic analysis of the contents is given under alphabetically arranged technical terms. A general Index of the Introduction is added at the end to facilitate further studies.

At the outset I offer my thanks to the late lamented Pt. MANOHARALAL Shastri, the first editor of the two Sanskrit commen-

taries. I am highly obliged to the authorities of the Rāyachandra Jaina Śāstramālā, especially to Shetha MANILAL REVASHANKAR JHAVERI, without whose munificent encouragement my studies about Kundakunda would never have seen the light of day. To Prof. HIRALAL JAINA, King Edward College, Amraoti, my thanks are due for his valuable suggestions and corrections in proofs from time to time. I am thankful to my colleagues Prof. K. G. KUNDANGAR and Prof. S. S. SUKTHANKAR for their kind advice at the various stages of the work. Then I must say that the Nirṇayasāgara Press has done its work in a satisfactory manner befitting its long standing reputation.

The plan of this essay was formed and many references too collected under the inspiring roof of the Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, in 1930, when I had the happy opportunity of attending the learned lectures of those two great Sanskritists: Dr. S. K. BELVALKAR and Dr. V. S. SUKTHANKAR on *Atharva-veda*-and-*Upaniṣads* and Comparative Philology respectively; and what I owe to them by way of inspiration and instruction is beyond formal expression.

Lastly, I record my deep debt of sincere gratitude to my revered Ācārya Dr. P. L. VAIDYA, Poona, at whose worthy hands I had the proud privilege of being initiated in the field of Prakrit studies. He has always encouraged me to work and to work better and along better lines. The training that I have received from him has always stood me in good stead.

The editor acknowledges his indebtedness to the University of Bombay, for the substantial financial help it has granted towards the cost of the publication of this book.

With all its imperfections, of which, I might be allowed to say, I am better aware than any one else, I am placing this work of mine in the hands of Orientalists. I hope that this humble contribution of mine to the study of Kundakunda might be of help, howsoever little, to scholars working in the field of Jaina literature which is still an unexplored field awaiting expert and extensive spadework.

karmaṇyevādhikāras te:

Kolhapur:
August, 1935. A. N. UPADHYE

EDITOR'S PREFACE

The Second Edition of the *Pravacanasāra* (revised, enlarged and remodelled) was brought out by me in 1935. It could be published in a standard form through the patronage of the then authorities of the Rāyachandra Jaina Śāstramālā, Bombay. It was very well received not only in the circle of Jaina scholars but also by Oriental scholars both in India and outside. Its Reviews by the late Dr. A.B. KEITH and others were quite appreciative and encouraging to me. More or less on the same pattern I brought out a New Edition of the *Paramappapayāsu* (*Paramātmaprakāśa:* Bombay 1937; Third Edition, Agas 1960) in the same Śāstramālā.

My Introduction of the *Pravacanasāra,* along with my other editions and papers was submitted by me for the D. Litt. degree of the University of Bombay, my *alma mater;* and I was awarded it in 1939. This recognition further confirmed my faith in my research pursuits and in the methods of study which I was following on the advice of my Professor, Dr. P. L. VAIDYA, Poona. I continued my studies in Prākrits, Jainology and other allied branches of Indology in an out-of-the-way place like Kolhapur with limited library facilities. Whatever I have been able to achieve, within the limited leisure left to me after doing the College duties, till 1956 is duly recorded in my *Books and Papers* (Bombay 1956).

Lately, the management of the Rāyachandra Jaina śāstramālā has changed hands; and it is now being looked after by Shri RAOJIBHAI DESAI of the Shrimad Rajachandra Ashrama, Agas (via Anand W. Rly.). Shriman RAOJIBHAI is a sincere devotee of spiritualism (*adhyātma*). He is keenly interested in the progress of this Śāstramālā. It is very creditable of the Trustees of the Ashrama to have shouldered the responsibility of this Śāstramālā with great religious zeal and with a view to keeping it alive and seeing it progressing.

It was very kind of Shriman RAOJIBHAI DESAI and the Trustees of the Ashrama to have requested me to prepare this present edition of the *Pravacanasāra.* It will be seen that in this edition there are some additional features. The Prākrit text is also continuously printed along with the various readings in the foot-notes. Two more Mss. are collated for the text. Some additions have been made here and there. It is hoped that these features will be welcomed by the readers.

Throughout my studies, directly or indirectly, I have received much inspiration and guidance from the works of German Indologists. As a token of my respect for the tradition of German scholarship I have dedicated this work to Professor Dr. W. SCHUBRING and Professor Dr. L. ALSDORF who so worthily represent that great tradition in the field of Indology. I have had very close academic contacts (in the case of Dr. SCHUBRING only through correspondence) with them both during the last twentyfive years; and they have been a source of encouragement to me.

My sincere thanks are due to Shri RAOJIBHAI DESAI and to the Trustees of the Ashrama. I must confess that but for the kindly and courteous pressure of Shriman RAOJIBHAI, I would have hesitated to undertake this edition at a time when I had several earlier commitments on hand. Kundakunda's utterances have given me a great solace in my life all along; and naturally, I could not resist this privilege of editing the *Pravacanasāra* once more.

My thanks are also due to my friend, who is even closer to me than a brother, Dr. HIRALAL JAIN, now Professor in the Jabalpur University. I have been closely associated with him in a number of literary projects for over twenty-five years; and his advice and suggestions in my work have always stood me in good stead. Shri NEMICHANDRA JAIN, Vakil, Saharanpur, made me some suggestions on some of the readings in the Sanskrit commentaries; and Dr. V. P. JOHRAPURKAR, Jaora, placed at my disposal his collations of two Mss. of the *Pravacanasāra:* my thanks are due to both of them. I am benefited by some of the ideas of the late B. FADDEGON who has so carefully translated into English the *Pravacanasāra* along with the Sanskrit commentary of Amṛtacandra (Cambridge 1935).

Lastly, I would be failing in my duty, if I did not record my sincere gratitude to the University Grants Commission for having so graciously made me the Grant intended for Retired Teachers. It is this timely aid that has enabled me, even after retirement, to pursue my researches in my specialised branches of Indology with the peace of mind all such work needs.

karmaṇyevādhikāras te:

Dhavalā
VIII, Rajarampuri, Kolhapur-1
1st Oct. 1964

A. N. UPADHYE

Dedicated with Profound Respects

to

Professor Dr. W. Schubring

and

Professor Dr. L. Alsdorf

University of Hamburg

(West Germany)

INTRODUCTION

An Essay on Kundakunda, his
Date, his Pravacanasāra
and other works etc,

Important Abbreviations

AMg.:	Ardha-Māgadhī.
Apabh:	Apabhraṁśa.
BBRAS:	Bombay Branch Royal Asiatic Society.
B. O. R. I.:	Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona.
B. P.:	Bhāsa's Prakrit by Printz.
E. I.:	Epigraphia Indica.
E. C.:	Epigraphia Carnatica.
G. O. S.:	Gaikwad Oriental Series, Baroda.
I. A.:	Indian Antiquary.
JM.:	Jaina Māhārāṣṭrī
MDJG :	Māṇikachanda Digambara Jaina Granthamālā, Bombay.
P.:	Pañcāstikāya (used in the foot-notes of the Translation)
P. J. S.:	Purātana Jaina-vākya Sūcī, Sarsawa 1950.
RJS.:	Rāyachandra Jaina Śāstramālā, Bombay.
SBE.:	Sacred Books of the East.
SBJ.:	Sacred Books of the Jainas, Arrah-Lucknow
SJG.:	Sanātana Jaina Granthamālā, Bombay-Calcutta.
TS.:	Tattvārthasūtra (used in the foot-nootes of the Translation).

INTRODUCTION

1. S'RĪ KUNDAKUNDĀCĀRYA

A GENERAL APPRECIATION OF KUNDAKUNDA.—The position, which Kundakundācārya occupies among the Jaina authors, especially the Digambara hierarchy, is of a unique character. The mention of his name has an auspicious significance, and comes next only to that of Mahāvīra and his apostle Gautama.[1] To trace their spiritual lineage from Kundakunda has been looked upon as a proud privilege by Jaina monks of the Digambara section, and, as a clear proof of this, we have Kundakundānvaya for three of the four Jaina sanghas of the Digambara ascetic community in the South.[2] Many later authors are greatly indebted to him and some of his works have proved to be a milch-cow for later commentators for quotations; that at once indicates the authoritative character of his works. Three of his works, viz., *Pañcāstikāya*, *Pravacanasāra* and *Samayasāra*[3] are technically called Nāṭaka-traya or Prābhṛta-traya, perhaps on the analogy of Prasthāna-traya of the Vedāntins, this suggests that these three works are as much sacred and authoritative for the Jainas as the *Upaniṣads*, *Brahmasūtras* and *Bhagavadgītā* for the Vedāntins. Most of his utterances are above sectarianism: his *Samayasāra* is studied with devotion by Digambaras, Śvetāmbaras and Sthānakavāsis alike, and thousands of spiritually minded votaries, both monks and laymen, have drawn, to this day, religious inspiration and spiritual solace from this work of Kundakunda.

TRADITIONAL NAMES OF KUNDAKUNDA.—Turning to epigraphic records, his name is spelt as Kondakunda,[4] a form with decided Dravidian phonetic colour; Kundakunda is a smooth Sanskritisation of the same, and has completely superseded the original word. From certain inscriptions belonging to the twelfth century A.D. it is learnt that his original name was Padmanandi, but he came to be called Kŏndakunda, or as we spell it Kundakunda.[5] In an inscription, at Vijayanagara, of about 1386 A.D., belonging to Nandisangha, [p. 2·] we find it recorded that our author had five names Padmanandi, Kundakunda, Vakragrīva, Elācārya and

---

1 *mangalam bhagavān Vīro mangalam Gautamo gaṇī |*
mangalam Kundakundādyāḥ Jaina-dharmo' stu mangalam ||

2 According to a Kanarese MS., *Gaṇabheda*, Nandi– Simha– and Śrī Yāpanīya-sangha have Kundakundānvaya, while Mūla-saṅgha has Vṛṣabhasenānvaya. It is an interesting MS which gives the gaṇa, anvaya, gaccha, birudāvali, simhāsana-gādi, name-endings borne by different monks etc. of each saṅgha, traditional stories about the occasion etc. of the particular saṅgha are also given. These details, so far as the historical purpose is concerned, will have to be accepted with caution.

3 These works, though composed in Prakrit, are popularly known by their Sanskrit names.

4 See *Epigraphia Carnatica*, II, 64, 66, 117, 127, 140, 254 etc., also *Jaina Śilālekha-Sangraha*, Ed. by Prof. Hiralal, Bombay, 1928.

5 See *E. C.*, II, 64, 66 etc.

Gṛdhrapiccha (also spelt piñcha).[1] Then a paṭṭāvali of Nandi-saṅgha of uncertain date records the same five names for Kundakunda.[2] Hoernle also notes from a MS., in the course of his comparative study of Digambara paṭṭāvalis, that Kundakunda had these five names.[3] The actual dates of these pontifical lists may come as late as the fifteenth century; still one might presume with confidence that portions of their contents might be sufficiently old, though none can say how much. Then Śrutasāgara, who flourished about the close of the fifteenth century A.D.,[4] in the concluding colophons of the Sanskrit commentary on six-pāhuḍas of Kundakunda,[5] mentions these five names of our author exactly as enumerated above. Kundakunda himself is completely silent on his names to such an extent that he does not mention his name even in his works excepting at the end of *Bārasa-aṇuvekkhā*. His first commentator, Amṛtacandra, so far as I know, is silent on this point. Jayasena, however, in the opening remarks on *Pañcāstikāya*, remarks that Padmanandi was another name of Kundakunda; and possibly he means the same, when he glorifies Paümaṇaṃdi in the two concluding Prakrit[6] verses at the end of his commentary on *Samayasāra*. Thus, so far as the evidences are before us, it appears that Padmanandi was another name of Kundakunda; and it is only from the fourteenth century onwards that we find the tradition current that he had five names. One would have accepted the tradition of his having five names, had it not been for the fact that some of these names are claimed by other authors, that some of them appear to have been independent individuals, and that the earlier inscriptions which give only two names, do not, at all, uphold the tradition of five names; and hence it is necessary to scrutinise these names individually and to see how far the tradition can be accepted as genuine.

VAKRAGRĪVA AS A NAME OF KUNDAKUNDA DISCUSSED.—The name of Vakragrīva, so far as I know, occurs first in an inscription of 1125 A D., but the inscription does not give any information beyond the bare mention of Vakragrīvācārya in the line of teachers of Drāviḷa(da)-saṅgha and Arungalānvaya.[7] The next mention is found in Śravana Belgola inscription of 1129 A D., it is a pretty long inscription containing much historical information.[8] In the fifth verse we are told that Kōṇḍakunda deserves respect from all; that [p. 3:] his jasmine-like fame decorates various quarters, that he was a bee to the beautiful lotus-hands of the cāraṇas, *i e.*, a class of spiritually advanced monks who could move in the air; and that he firmly

1 E Hultzsch *South Indian Insci.*, Vol 1, No 152; *Asiatic Researches* XX, p 36, see also *Indian Antiquary* XXIII, p. 126, Guérinot takes Mahāmati also as a name, and thus Kundakunda appears to have six names according to him, see *Repertoire D' Epigraphie Jaina*, No 585

2 See *Jaina Siddhānta Bhāskara*, I iv

3 *I. A.*, Vol. XXI, p. 74, foot-note No 35

4 See *Annals* of the B O. R. I, vol XII. p. 157

5 The editions etc of the works of Kundakunda will be given later under the discussion about his works.

6 Throughout Prakrit stands for Prākrta and Sanskrit for Saṃskrta.

7 *E. C.*, V, Channarayapatna No 149

8 *E. C.*, II 67.

established the scripture or the sacred knowledge in Bharata. Then, in verses six to nine, are glorified Samantabhadra and Siṃhaṇandi. Further, in the tenth verse, some facts about Vakragrīva are given: he was a great sage; he was endowed with forceful eloquence that had routed bands of disputants, and the same could not adequately be praised even by Nāgendra of one thousand mouths, he received regard from Śāsana-devatās; before him the necks of disputant-devils were bent with shame, and he briefly expounded the meaning of the word *atha* for six months.[1] Thus this inscription paints the saint Vakragrīva as a learned and polemic logician endowed with winning delivery. The way in which he is mentioned and described in the inscription clearly shows that he is a different individual from Kundakunda and appears to have flourished possibly after Kundakunda. Besides, there are other inscriptions of 1137, 1158 and of 1168 A.D. in which Vakragrīvācārya is referred to;[2] but nowhere are we informed that he was identical with Kundakunda.[3] In all these inscriptions, wherever there is any mention of sangha, gaṇa and anvaya, we find Vakragrīva associated with Drāvida-sangha, Nandi-gaṇa and Aruṅgalānvaya. So, I think, Vakragrīva was an independent teacher quite distinct from Kundakunda.

ELĀCĀRYA AS A NAME OF KUNDAKUNDA DISCUSSED — Coming to the name Elācārya, I am aware of one dateless inscription, that of Chicka Hanasoge,[4] in which one Elācārya of Desi-gaṇa and Pustaka-gaccha is mentioned; but I do not get any clue as to his identity or otherwise with Kundakunda. From the *praśasti* of *Dhavalā* commentary we learn that there was one Elācārya, from whom Vīrasena, the author of that commentary, received instructions in the Siddhānta[5] and there are indications in the body of *Jayadhavalā* commentary that he had possibly an explanation of his on a section at least of the Siddhānta.[6] This Elācārya, being a teacher of Vīrasena, must have flourished at the close of the eighth century A.D. It is to this Elācārya that Indranandi refers, when he says, in his *Śrutāvatāra*,[7] that Elācārya, a resident of Citrakūtapura, was well-versed in the Siddhānta, and [p. 4:] it is from him that Vīrasena studied the Siddhānta, and returning to Vātagrāma from Citrakūta, composed the commentary that came to be called *Dhavalā*. This Elācārya cannot be the same as Kundakunda, because in some of the preceding verses namely 160-61, Indranandi refers to Padmanandi of Kundakundapura, who I think is the same as our Kundakunda, that he wrote an exhaustive commentary, Pari-

---

1 *atha-śabda-vācyam avadan māsān samāsena ṣaṭ.* Perhaps Lewis Rice read it as *Nava-ś'abda-vācyam* etc., and accordingly he took *Navas'abdavācya* as the name of a work, see his *Mysore and Coorg from Inscriptions*, p 197

2 *E. C.*, V, Belur No 17, Ididem Arsikere No 141, Ibid No 1.

3 See also *E C* IV, Nagamangala No 100, and *E C*, VI, Kadur No 69 where also the name of Vakragrīva occurs

4 *E. C.*, IV, Yedatore No 28

5 *mahum so Elāirio pasīyau vara-Vīrasenassa*, second line of the first verse

6 I find a passage like this in *Jayadhavalā-ṭīkā tado puvvuttam Elāvi(i)riva-Bhadāraeṇa uvaiṭṭha-vakkhānameva pahāṇa-bhāveṇa ettha ghettavvaṃ* /, p 199 of Sholapur MS. of *Jayadhavalā*.

7 *Śrutāvatāra*, published in Mānikachandra Digambara Jaina Grantha-mālā (MDJG) vol. XII, see verses 177-82

karma by name, on the first three sections of *Ṣaṭkhaṇḍāgama*. Besides we know of one more Helācārya, perhaps a provincial pronunciation of the name Elācārya, a master of māntric lore, of Drāviḍa-gaṇa, a resident of Hemagrāma in the South. He was mainly responsible for the contents of *Jvālinīmata*, a tāntric work, composed, mainly based on the old work of Helācārya, by Indranandi Yogīndra in S'aka 861 *i.e.* 939 A.D.[1] From the way in which Indranandi speaks of Helācārya it appears that Helācārya lived pretty long before, though there is no evidence to identify him with the teacher of Vīrasena referred to above. That Kundakunda had a name Elācārya must remain unproved till some other evidence or independent tradition is coming forth, because the wholesale genuineness of the tradition that Kunda kunda had five names has been suspected to be of doubtful authenticity as seen from the attribution of the name of Vakragrīva to Kundakunda.

GṚDHRAPICCHA AS A NAME OF KUNDAKUNDA DISCUSSED.—Now the last name Gṛdhrapiccha. It is learnt from Śravana Belgoḷa inscriptions, ranging from 1115 to 1398 A D, that Gṛdhrapiccha was another name of Umāsvāti, the author of *Tattvārthasūtra*;[2] and some of these inscriptions indicate that at times the name Gṛdhrapiccha was enough to mention Umāsvāti, of whom, therefore, Gṛdhrapiccha might have been a very popular name. In some of these records the name of Umāsvāti, with the other name Gṛdhrapiccha, comes immediately after the mention of Kundakunda's name. If Gṛdhrapiccha was a name also of Kundakunda, or if it was a name common to both Kundakunda and Umāsvāti, we expect that the inscriptions, in the ordinary course, should have referred to that. There was some speciality in Umāsvāti's being called Gṛdhrapiccha, and that has been referred to in a Śravana Belgoḷa inscription of 1433 A.D.: the great saint Umāsvāti belonged to the holy family of Kundakunda, and being expert in all the dogmas he compressed the range of Jaina doctrines in Sūtras; as a saint particular about the protection of living beings, he carried, as the report goes (*kila*), vulture-feathers; and since that day he came to be known among the wise people, as Gṛdhrapicchācārya.[3] The name should not be looked upon as queer at all, because there have been Jaina authors bearing the names Balākapiccha[4] and Mayūrapiccha,[5] the first especially was a direct disciple of Umāsvāti [p. 5] There are other epigraphic records in which sometimes the name Grdhrapiccha[6] alone and sometimes Umāsvāti[7] alone is mentioned Thus there appears to be no doubt that Grdhrapiccha was the name of Umāsvāti.[8] It is through lack of proper information or through mis-information that the tradition, *viz.*, Kundakunda had a name Gṛdhrapiccha, appears to have been current possibly from the last quarter of

1 See *Anekānta* vol I, p 427 etc ; *Catalogue of Sanskrit and Prakrit Mss. in* C P and Berar, Intro p XXIX

2 *E C*, II, 127, 117, 140, 64, 66 and 254

3 *E C*, VI, 258

4 *E. C.*, II, 64, 66 etc.

5 *E. C*, II, 258, also the introductory verses of Kanarese *Dharma-parīkṣā*, wherein all the three Grdhra- Balāka- and Mayūra-piccha are mentioned

6 *EC.*, IV, Nagamangala No 76.

7 *E C*, VII, Nagar No. 46

8 In *Dhavalā* commentary we get a line *Giddhapicchāiriya-payāsida-Taccattha-sutte* /

the fourteenth century. This tradition has been a source of further confusion that Kundakunda, on the supposition that he had a name Gṛdhrapiccha and from the fact that Gṛdhrapicchācārya was the author of *Tattvārthasūtra*,[1] came to be looked upon by Rājendramauli, a late commentator on *Tattvārthasūtra*, as the author of *Tattvārthasūtra*,[2] and it is a misrepresentation of facts, contradictory to earlier evidences available, in unmistakable terms.

CONCLUSION ABOUT HIS NAMES.—To conclude, it is clear, in the light of the evidences discussed above, that Padmanandi was the name of our author, and he came to be known as Koṇḍakundācārya, possibly a name derived from that of his native place, Kuṇḍakundapura, as Indranandi tells us in his *Śrutāvatāra* (verse 160 etc.); as to the other names attributed to Kundakunda, the name Elācārya is a matter still *sub judice*, and with regard to two other names early epigraphic records go against the tradition, I think, they might have been current through lack of authentic information about Kundakunda.

AUTOBIOGRAPHICAL RELICS OF KUNDAKUNDA.—At the end of *Bārasa-aṇuvekkhā* Kundakunda mentions his name; and at the end of *Bodha-prābhṛta*, we find that it is the composition of the *śiṣya* of Bhadrabāhu: this is all that we learn about Kundakunda from his works. The students of Prakrit literature and those of Jaina literature will always look upon it as an unfortunate phenomenon that Kundakunda has not left anything from his mouth about the details of his personality in any of his works, but that is not at all abnormal in the history of ancient Indian literature.

TRADITIONAL BIOGRAPHY OF KUNDAKUNDA.—There are available a couple of traditional stories about the life of Kundakunda, they are not at all contemporary records; and moreover, being written at a time far distant from the age of Kundakunda, they, by themselves, do not deserve much credit. Professor Chakravarti[3] narrates the life of Kundakunda on the authority of [p. 6:] *Puṇyāsrava-kathā*,[4] wherein, he says, it is cited as an illustration of *śāstradāna*. In short the story runs thus: In the town of Kurumarai, in the district of Pidatha nāḍū, in Dakṣiṇa-deśa of Bharata-khaṇḍa, there lived a wealthy merchant Karamuṇḍa with his wife Śrīmatī.

---

1 *E C.*, II, 254, *E C*, VIII, Nagar No 46, and the popular verse which is generally found and repeated at the close of *Tattvārtha-sūtra*—

Tattvārthasūtra-kartāram Gṛdhrapicchopalakṣitam |
vande gaṇīndra-samjātam-Umāsvāti-munīśvaram ||

2 See *Anekānta* Vol I, p 198, I have, in my possession, a fairly written MS of Rājendramauli's commentary

3 Introduction to *Pañcāstikāyasāra*, p vii etc, Vol. III of the Sacred Books of the Jainas (SBJ), whenever I refer to the opinions of Prof. Chakravarti, the reference is to this Introduction.

4 With a view to verify the details, I consulted the Marathi *ovī* version of *Puṇyāsrava* (composed in Śaka 1739), which is based on the Kanarese *Puṇyāsrava* of Nāgarāja, composed in 1331 A D, but I was not able to trace the story I do not know whether Prof Chakravarti has in view the Sanskrit *Puṇyāsrava*, which Nāgarāja says that he has rendered into Kanarese Possibly the spellings of some proper names would even indicate that he has before him some Tamil or such source. I learn from Prof. Hiralal that this story is not traceable in the Hindi translation of the Sanskrit *Puṇyāsravakathākośa* of Rāmacandra Mumukṣu. (Translated by Pt Premi, Bombay, 1907)

They had a cow-herd, Mathivaran by name, that tended their cattle. Once that boy, to his great surprise, happened to see a few trees in the centre with green foliage, when the whole forest was being consumed by conflagration The boy inspected the spot; he found there a residence of a monk and a box containing *āgamas*, to the presence of which he, as a credulous boy, attributed the exemption of that spot from fire. He carried those texts home and worshipped them daily putting them on a sacred spot. Once a religious monk visited the house; the merchant offered food, and this boy offered these texts; for these acts of piety the master and the boy received blessings from the Monk. The master had no issues, and it so happened that the faithful boy died and was born as a son to him As time passed on, this intelligent son became a great philosopher and religious teacher, Kundakunda by name. Further, Professor Chakravarti simply refers to other incidents such as the report, Kundakunda as the wisest man, in the Samavasaraṇa (*i e*, the religious assembly) of Śrīmandhara-svāmi, the visit of two cāraṇa saints to have it verified, his indifference to them, their consequent return with disgust, the misunderstanding cleared and lastly Kundakunda's visit to Śrīmandhara-svāmi in the Pūrva-videha country. The merit of the *śāstra-dāna* made him 'a great leader of thought and organiser of institutions. Finally he secured the throne of Ācārya and thus spent his life in usefulness and glory'.[1]

[p. 7:] ANOTHER TRADITIONAL STORY ABOUT KUNDAKUNDA —Pandit Premi[2] gives, on the authority of a book, *Jñāna-prabodha*, another story of Kundakunda: In Mālawa, in the town of Bārāpura, there lived a king Kumudacandra with his queen Kumudacandrikā. In his kingdom there lived a merchant Kundaśreṣthi with his wife Kundalatā; they had a son whom they named Kundakunda Once the boy, playing in the company of his friends, happened to see in the park a monk who was attended on by various householders. The boy carefully heard his sermons The words and the conduct of the monk influenced the boy so much that this boy of barely

1 In this context, I cannot stand the temptation of summarising here another story from *Ārādhanā Kathā-kośa* (Ed Bombay Vīra saṃvat 2442, part 3, Story No 111), of Brahma Nemidatta which also illustrates the fruit of śāstra-dāna, and which because of similarity in names, is likely to be misunderstood as the story of Kundakunda, with whom in fact it has hardly anything to do, the first part of Prof Chakravarti's version practically agrees with this In Bharata-kṣetra, in the village of Kurumarai, there was a cow-herd Govinda by name Once he saw, in a forest cave, a sacred Jaina text, he took it and offered the same with devotion to a great and respectable saint, Padmanandi by name The peculiarity of the text was that so many great teachers had handled and explained it, but ultimately had put in it that cave It appears that the saint Padmanandi also puts that Text again there The cow-herd, Govinda, worshipped that Text all the while; one day he was killed by a tiger (*vyāla*) After his death as the consequence of his remunerative hankering (*nidāna*), he was born as the son of a village headman He grew up quite happily into an attractive boy Once he was reminded of his former birth after meeting Padmanandi, he entered the ascetic order and practised severe penances After his death he was born as king Kundeśa Irrespective of the pleasures available, somehow he felt disgusted with the worldly pleasures and entered the order He worshipped Jina and waited on great teachers, and lastly he became a śruta-kevalin

2 See *Kundakunda Ācārya vāñce caritra*, by Pangal in Marathi, Sholapur, 1906: Premi *Jaina Hitaishi*, Vol. X, pp 369 etc, all references to Pt Premi have this source in view unless otherwise stated

eleven years was religiously awakened and soon became the pupil of that monk, Jinacandra, and lived with him. The parents were very sorry over this. Within a short time Kundakunda attained so much eminence amongst the pupils of Jinacandra that he became Ācārya at the age of 33 He advanced a good deal in those introspective and religious meditations. Once he had certain doubts on some fundamental doctrines of Jainism; not knowing what to do, he closely applied himself to religious practices. One day in the course of his meditation, he offered obeisance, with mental, verbal and physical purity, to Śrīmandharasvāmi, a contemporary Tīrthaṅkara in the Videha-kṣetra; the salutation was so sincere that it immediately evoked response from Śrīmandhara that he uttered in the Samavasaraṇa the words of blessing *sad-dharma-vṛddhir-astu.* The members of the audience could not understand the propriety of this blessing when none from the audience had offered salutation. Śrīmandharasvāmi explained that the blessings were meant for Kundakunda from Bharatakṣetra. Two cāraṇa saints, who were the friends of Kundakunda in the previous birth, came to Bārāpura and took Kundakunda to the Samavasaraṇa. On the way, when they were passing through the sky, the bunch of peacock-feathers fell down and could not be found, so Kundakunda had to take up a bunch of vulture-feathers in lieu and continue his religious practices Kundakunda stayed there for a week, and, after receiving much by way of religious enlightenment, he had his religious doubts cleared. On his way back he had taken with him a book containing diplomatic and Tāntric contents, but it fell on the way into the salt sea. Thus he came back saluting many holy places on the way. He began his religious preachings here; and seven hundred men and women got themselves initiated into the order at his hands. After some time he had a dispute with Śvetāmbaras on the mount Girnar, in which he made the local deity Brāhmī admit that the Nirgrantha creed of the Digambaras was true Lastly, he vacated his pontifical chair in favour of Umāsvāti and died one day in religious meditation after having practised severe penances.

SCRUTINY OF THE ABOVE TWO TRADITIONAL STORIES — Both these stories are practically in agreement only in the second half, but with the domicile and parentage there is no agreement, nay the points of difference [p. 8:] cannot be reconciled The names of the parents in the second story, along with those of the king and his queen, are mechanically artificial as in the bed-side stories told by the old lady to lull the child Some of the incidents, which are found in these traditional stories, require critical scrutiny rather to shed light on the genesis of these traditions than to prove or to disprove the truth contained therein.

The earliest reference to the tradition that Kundakunda visited the Videha country is found in *Darśanasāra* of Devasena,[1] compilled 990 years after the death of Vikrama, who says that the great saint Padmanandi was enlightened by the supernatural knowledge of Śrīmandhara-svāmi. Further, Jayasena, in the opening remarks of his commentary on *Pañcāstikāya*, says on the authority of the popular

1 See *Darśanasāra*, verse 43; *Jaina Hitaishi*, XIII, pp 25 etc wherein *Darśanasāra* with Hindi translation and notes is published; a critical Text of *Darśanasāra*, based on the MSS from the Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, is awaiting publication with the present writer.

tradition (*prasiddha-kathā-nyāyena*) that Kundakunda had personally gone to Pūrva-videha, paid his respects to Śrīmandhara-svāmi and received enlightenment. Turning to Inscriptions from Śravaṇa Beḷgoḷa, most of them belonging to the 12th century A.D. or so, we learn that Kundakunda, being possessed of exceellent religious conduct, was endowed with miraculous power to move in the air,[1] and that he moved in the air four fingers above the ground.[2] A poetical explanation of his miraculous ability is given that he was not touched in the least, internally and externally, by the dust (of passion), the earth being the abode of dust.[3] Thus the available epigraphical records mention only his miraculous ability, and they are silent about his visit to Videha land. The Śravaṇa Belgola Inscription of 1128 A.D. describes Kundakunda as a bee to the beautiful lotus-hands of cāraṇas; this indicates some association of Kundakunda with cāraṇas. The tradition attributes a visit to Videha land not only in the case of Kundakunda but to Umāsvāti and Pūjyapāda also. With reference to Umāsvāti as well it is said that once he went to Videha land through his miraculous power to walk in the air to have his doubts on Jaina Siddhānta cleared from Śrīmandhara Tīrthankara. On the way his peacock-feather-bunch fell down; then he took the feathers of a vulture flying in the sky and had his purpose served; therefore he came to be known as Gṛdhrapiccha.[4] Devacandra (1770-1841 A.D.), in his *Rājāvali-kathe*, gives a similar account with reference to Pūjyapāda with the difference that he could walk over to Videha land because of the power of a medicament pasted to his feet.[5] In some of the inscriptions Pūjyapāda is glorified as a great miraculous physician worshipped even by sylvan [p. 9] deities.[6] A Ś. Belgola inscription of 7th July 1432 A D. refers to the above tradition that the limbs of Pūjyapāda were purified by his obeisance to the Jina in Videha-kṣetra.[7] The authenticity of this tradition becomes of a doubtful value because of its indiscriminative attribution to Kundakunda, Umāsvāti and Pūjyapāda. It is seen above that Kundakunda and Umāsvāti are often confused, and here, with reference to this tradition, Pūjyapāda is added to their list The epigraphic evidence in this context is very meagre, and the Ś. Belgola inscription of 1432 A.D. has to say that it is Pūjyapāda who visited the Videha land. At any rate I am tempted to point out to the third gāthā of *Pravacanasāra* as the genesis or the fruitful source of the tradition that Kundakunda saluted from here Śrīmandhara in Videha land and that he consequently visited that country; there, in that gāthā, he pays obeisance to the contemporary Arahantas in the Mānusa region.

As to his dispute with Śvetāmbaras on the mount Girnar and the consequent admission of Brāhmī that the Nirgrantha creed of Digambaras was true,

1 *E.C.*, II, 127, 117, 140, 64, 66 etc

2 *E C.*, II, 351.

3 *E C.*, II, 354 of 1398 A D.

4 See p 3 of the Introduction to the Ed. of *Tattvārtha-ślokavārtikam*, Bombay, 1918.

5 See *Karṇāṭaka Kavicarite*, Vol I, p 7; further, the tradition tells that Pūjyapāda, on his way back, lost his eyesight due to the burning heat of sun-shine, but he could recover his eyesigh by composing *Śāntyaṣṭaka*, in honour of Śānteśvara, at Baṅkāpura.

6 *E.C.*, II, 64, 254 etc.

7 *E.C.*, II, 258.

nothing can be said definitely from this floating tradition; but, by the by, it may be noted that Śubhacandra (c. 1516-56 A.D.) also refers to this in his *Pāṇḍava-purāṇa*,[1] and the same is noted in a gurvāvalī too.[2]

SPIRITUAL PARENTAGE ETC. OF KUNDAKUNDA—Kundakunda is silent about his spiritual parentage in the sense in which the later authors have given their spiritual genealogy: at the end of *Bodha-pāhuḍa* he mentions that it is composed by the *śiṣya* of Bhadrabāhu, but more on this point later. Inscriptions, too, in this context, are not of much help. According to the gurvāvalī of Nandi-saṅgha, Kundakunda was the successor of Jinacandra, the successor of Māghanandi from whom the paṭṭāvalī of Nandi-saṅgha begins;[3] but too much reliance on this paṭṭāvalī to the extent of saying that Kundakunda was the pupil of Jinacandra is hardly warranted. Jayasena, in the opening remarks of his commentary on *Pañcāstikāya*, says that Kundakunda was the śiṣya of Kumāranandi Siddhāntadeva. Nothing is known about this Kumāranandi The Mathura inscription mentions one Kumāranandi of Uccanāgarī śākhā,[4] and another Kumāranandi is mentioned in Devarahalli inscription of 776 A.D.[5] Vidyānanda, in his *Patraparīkṣā*, quotes three verses from the work *Vādanyāya* of one Kumāranandi Bhaṭṭāraka.[6] But none of these, in the absence of any clue, can be identified with the guru of Kundakunda [p. 10:] Mere similarity in name can hardly be the ground for identification, because many Jaina saints and teachers have borne the same name at different times.[7] The history of Jaina saṅghas, gaṇas and gacchas is still an obscure tract which urgently needs some light,[8] and with regard to the gaṇa etc of Kundakunda there is no reliable information. The traditional lists of teachers belonging to Drāviḍa-sangha, Nandi-gana and Aruṅgalānvaya, and of Mūlasaṅgha, Deśī-gana, Kundakundānvaya and Pustaka-gaccha, Vakra-gaccha or Sarasvatī-gaccha include, at the beginning, the name of Kundakunda with reverence.[9] Kundakunda is looked upon as a preeminent leader of the Mūla-

1 *Kundakunda-ganī yenojjayanta-giri-mastake* /
so' vatād vādità Brāhmī pāṣāṇa-ghaṭitā kalau //

2 *Padmanandi-gurur jāto Balātkāra-gaṇāgraṇīḥ* /
pāṣāṇa-ghatitā yena vāditā śrī Sarasvatī //, quoted in *Jaina Hitaishi*, Vol X, p 382

3 *pade tadīye muni-mānya-vṛttau Jinādicandraḥ samabhūd atandraḥ* /
tato' bhavat pañca sunāma-dhāmā śrī-Padmanandī muni-cakravartī //, see p 3 of the Introduction to the Ed of *Samayasāra-prābhṛtam*, Benares, 1914

4 *E I*, I No xliii, No 13, pp 388-9

5 *E C.*, IV, Nagamangala No 85, also I A, II, pp 155-61

6 See *Patraparīkṣā*, p 3 (Ed. Benares 1913), also see his *Pramāṇaparīkṣā*, p 72 (Ed Benares 1914)

7 See the opening remarks of my paper on 'Śubhacandra and his Prakrit grammar' in the *Annals* of the B O R I., Vol. XIII, i

8 See my paper on 'Yāpanīya-saṅgha' in the *Journal of the University of Bombay*, Vol I, part vi.

9 I give here only a few important epigraphic references, chronologically arranged, in which Kundakunda's association with different gaṇas etc is seen: *E C*, VIII, 35, 36 ; *E C*, II, 127, 69, 117 140; *E. C.*, VIII, Nagar No. 37; *E.C.*, II, 64, 66; E Hultzsch: *South Indian Inscriptions Vol* I, No. 152.; *E.C*, II, 254, 258.; etc.

saṅgha,[1] a designation claimed by the Digambaras in view of the division of the Jaina church into Digambaras and Śvetāmbaras. The oft mention of Kundakundānvaya, which is repeatedly met with in various lines of teachers, clearly indicates that a spiritual lineage of Jaina teachers was started some time after Kundakunda.

2. KUNDAKUNDA'S DATE

OUR APPROACH TO THE PROBLEM.—The most important and baffling problem is that about the date of Kundakunda, which, though handled by some scholars, still requires judicious consideration after relative evaluation of various literary and epigraphic records. To start with, it is necessary to take a resumé of the various opinions with evidences advanced by different scholars.

THE TRADITIONAL DATE OF KUNDAKUNDA.—The traditional view, current among the Jainas, which is represented by some pontifical lists, says that Kundakunda succeeded to the pontifical chair in V. samvat 49, *i.e.*, about 8 B C., at the age of 33, remained a teacher for about 52 years and passed away at the age of about 85; the details about the years vary in different Mss. of paṭṭāvalīs. Ms. E of a paṭṭāvalī, noted by Hoernle, gives 149 V. samvat, *i.e.*, 92 A.D. as the year of his accession to the pontifical chair.[2] According to another tradition, incorporated in a verse of unknown authorship quoted in *Vidvaj-jana-bodhaka*, Kundakunda flourished (*jātaḥ*) in 770 after Vīra, *i.e*, 243 A. D, the verse expresses, rather in a vague manner, that Kundakunda was a contemporary of Umāsvāti.[3] It is the first tradition that is more popular and current.

{p. 11 :] DATE PROPOSED BY PT PREMI -- Pt. Premi's opinion is that Kundakunda might have flourished about the second quarter of the third century, or more definitely he cannot be dated before the middle of the second century A D[4] The details worked out by him, on the authority of *Śrutāvatāra* of Indranandi, are these with additional touches: After the nirvāṇa of Mahāvīra, 3 Kevalins lived for 62 years, 5 Śruta-Kevalins for 100 years, 11 Ten-Pūrvins for 183 years, 5 Eleven-Angins for 220 years, and 4 One-Angins for 118 years. Thus the Anga-knowledge continued for a period of 683 years[5] after the nirvāna of Mahāvīra in 527 B.C. Then there followed according to *Śrutāvatāra*, the four Ārātīya monks who had a partial knowledge of sections of Angas and Pūrvas, they were succeeded by Arhadbali, Māghanandi and

1 *E C*, II, 69 *śrīmato vardhamānasya Vardhamānasya śāsane |*
śrī-Koṇḍakunda-nāmābhūn Mūla-samghāgraṇī gaṇī ||

2 See *I A*, XXI, p 57 etc

3 See '*Svāmī Samantabhadra*' by Pt Jugalkishore, p 147, the verse runs thus.
varṣe sapta-śate caiva saptatvā ca visnirtau |
Umāsvāmi-munir jātaḥ Kundakundas tathaiva ca ||

4 *Jaina Hitaishī*, Vol X, p 378 etc.

5 Sometime the internal details do differ, though the total No of years is 683 as the period of the continuity of Aṅga-jñāna after Mahāvīra. See Bhandarakar *Report on search for Sanskrit* Mss, 1883-84, Collected Works Vol II, pp 284 etc, Hoernle Three further Paṭṭāvalīs of Digambaras, *I.A*, XXI, pp 58 etc. For select authoritative texts, see *Jayadhavalā Ṭīkā*, Sholapur MS. p. 10; 66th sarga of *Harivamśa-purāṇa* of Jinasena, Ed 32nd vol of MDJG, *Ādipurāṇa* of Jinasena, chapter I, verse 139 etc, also compare Pt Jugalkishore's searching discussion in *Svāmī Samantabhadra*, p 160 etc.

Dharasena; it was Dharasena who knew *Mahākarma-prābhṛta*, a portion of *Agrāyaṇīya-pūrva;* knowing that his death was nearing and that there was the fear of texts falling into oblivion, he invited from Veṇākataṭīpura two intelligent monks of comprehensive grasp, who later on came to be called Puṣpadanta and Bhūtabali, to whom he explained the text. Puṣpadanta and Bhūtabali compressed the *Karma-prābhṛta* and composed *Ṣaṭkhaṇḍāgama*, which was consequently committed to writing. Another thread of the story says that the saint Gunadhara explained the Mūlasūtras and Vivaraṇa-gāthās of *Kaṣāyaprābhṛta* to Nāgahasti and Āryamaṅkṣu. Yativṛṣabha studied the same from them and composed thereon Cūrṇī-sūtras extending over six thousand granthas. Uccāraṇācārya studied the same from Yativṛṣabha and wrote a doubly great vṛtti Thus the *Kaṣāya-prābhṛta* came to be constituted of the labours of Gunadhara, Yativṛṣabha and Uccāraṇa; and it was committed to writing. Now this Siddhānta, consisting of *Karma-prābhṛta* and *Kaṣāya-prābhṛta*, was inherited by Padmanandi of Kundakundapura, and he wrote a commentary of twelve thousand ślokas on the first three sections of *Ṣaṭkhaṇḍāgama*. From this it is clear that Kundakunda flourished later than 683 years after Vīra. Pt. Premi, assigning tentative short periods to Dharasena and others down to Uccāraṇācārya, comes to the conclusion that Kundakunda might have flourished in the last qurter of the third century of Vikrama era Another line of argument adopted by Premiji is based on the tradition that Kundakunda had a dispute with Śvetāmbaras on Ujjayanta-giri. We know from Kundakunda's works, especially *Sutta-pāhuda*, that the Jaina church was already divided into Digambaras and Śvetāmbaras by the time of Kundakunda This division, according to *Darśanasāra* of Devasena, took place 136 years after the death of king Vikrama Premi understood the date given by *Darśanasāra* as Śālivāhana śaka and placed the origin of Śvetāmbara schism in (136 + 135) 271 Vikrama [p 12·] samvat, he concluded that Kundakunda, therefore, must have flourished after that, *i e* in the last quarter of the 3rd century of V. saṃvat, which would be in agreement with the conclusion arrived at from the evidence of *Śrutāvatāra*. At any rate, according to his view, Kundakunda cannot be earlier than 683 after Vīra, *i e*, 156 A D.

DATE PROPOSED BY DR. PATHAK —The next opinion is that of Pathak.[1] He relies on two copper-plate inscriptions, one of Śaka 719 (*i e* 797 A.D.) and the other of Śaka 724 (*i e* 802 A.D), belonging to the reign of Govindarāja III of the Rāṣṭrakūṭa dynasty. The inscriptions have a reference to a contemporary teacher Prabhācandra, the pupil of Puṣpanandi, who was in turn the pupil of one Toraṇācārya of Kundakundānvaya (*Kundakundānvayodbhavaḥ*). K B. Pathak argued that if Prabhācandra lived about Śaka 719, his grand-teacher, Toranācārya, might have flourished about Śaka 600; and because Toraṇācārya is placed about Śaka 600, Kundakunda, to whose anvaya or lineage Toranācārya belonged might be placed about 150 years earlier, *i e* about Śaka 450 (*i.e* 528 A D.) He supports this argument by another. The Cālukya king Kīrtivarman Mahārāja, who was on the throne in Śaka 500, subjugated Bādāmi and reduced the Kadamba dynasty, and thus, therefore, it is settled that Śivamrgeśavarman of the Kadamba dynasty was ruling some 50 years before, *i.e.*, about Śaka 450. Bālacandra in his Kanarese commen-

1 See the Introduction to the Ed of *Samayaprābhṛtam* and that of *Ṣaṭ-prābhṛtādisaṃgrahe*, Vol. 17 of MDJG, *I. A*, XIV, p. 15 etc.

tary and Jayasena in his Sk. commentary on *Pañcāstikāya* say that Kundakunda composed that work to enlighten Śivakumāra Mahārāja who appears to be the same as Śivamṛgeśavarman of the Kadamba dynasty. Thus the date of Kundakunda, because of his having been a contemporary of Śivamṛgeśavarman, comes to Śaka 450 *i.e.*528 A.D.

DATE PROPOSED BY PROF. CHAKRAVARTI.—The third opinion is that of Professor Chakravarti.[1] He starts with 8 B.C. as the date of his accession to pontificate as worked out by Hoernle from Paṭṭāvalīs, and places the birth of Kundakunda in about 52 B.C. Further, in opposition to the date proposed by Pathak, he tries to find support for this date from the circumstantial evidences. Deducing from the traditional stories that Kundakunda belonged to Dakṣiṇa-deśa, he lays emphasis upon the fact that Kundakunda belonged to Drāviḍa-sangha. From an unpublished MS. of *Mantra-lakṣaṇa* he draws the information that in the South, in Malaya, in Hemagrāma, there was a great and wise monk Elācārya by name who was Drāviḷa-gaṇādhīśa.[2] Prof. Chakravarti finds that all these references can be traced in Drāviḍa country to which therefore, Kundakunda must have belonged, Elācārya being another well-known name of Kundakunda. Elācārya according to the Jaina tradition, is the author of the famous Tamil classic *Thirukkural;* he composed [p. 13.] it and gave to his disciple Tiruvalluvar who introduced it to Madura Saṅgha. Elālasingha, who is considered to be the literary patron of Tiruvalluvar, might be another name of Elācārya. The authorship of *Kural* by Jaina Elācārya fits in well with other facts such as the moral tone of *Kural,* the praise of agriculture as the noblest occupation practised by Valluvas, the landed aristocracy of the South, who formed the earliest adherents of the Jaina faith in Drāviḍa country. This identification of Elācārya or Kundakunda with the author of *Kural* (which is earlier than *Śilappadigāram* and *Maṇimēkhalai*), which is not at all inconsistent with the possible age of *Kural,* would lend greater probability to the traditional date of Paṭṭāvalīs that Kundakunda lived at the beginning of the first century A.D. Being a leader of the Drāviḍa-saṅgha, Kundakunda might have composed works in Tamil for the benefit of the Vellalas of the ancient Tamil literature who were the strict followers of Ahiṁsā-dharma In the light of the above discussion Prof. Chakravarti wants to settle the identification of Śivakumāra Mahārāja, the royal disciple of Kundakunda, for whom as all (?) the commentators of Prābhṛta-traya say, Kundakunda wrote his works Prof. Chakravarti accepts Pathak's position that the church was divided into Śvetāmbaras and Digambaras, and perhaps the ordinary masses followed the Vedāntic form of Viṣṇu-cult, but he opposes the identification of Śivakumāra Mahārāja with Śrī Vijaya Śiva Mṛgeśa Mahārāja of the Kadamba dynasty of about the 5th century A.D. on the grounds that Kadamba dynasty was too late in time to be present at the time of Kundakunda, and that there is no evidence to the effect that Kadambas were acquainted with Prakrit language in which Kundakunda wrote his works. Further he proposes that Śivakumāra Mahārāja might be the same as king Śivaskandha,

1 See his Introduction to the Ed of *Pañcāstikāya*, Vol. III, SBJ, Arrah, 1929

2 I have every reason to think that this Elācārya, referred to in *Mantralakṣaṇa* appears to be the same as Helācārya, previously referred to, on whose work the *Jvālinīmata* of Indranandi was based; see p iv. *ante.*

which is merely another form of Śivakumāra, of the Pallava dynasty. He also figures as Yuva Mahārāja, which is also curiously identical with Kumara Mahārāja. Other circumstantial evidences are also favourable. Conjeepuram was the capital of Pallavas who ruled over Thoṇḍamaṇḍalam or Thoṇḍaināḍu which was looked upon as the land of the learned; its metropolis did attract many Dravidian scholars such as the author of *Kural* etc.; the kings of Conjeepuram were patrons of learning: since the early centuries of the Christian era upto the 8th century, from Samantabhadra to Akalanka, we hear that Jainism was being propagated round about that place. It is not improbable, therefore, that the Pallava kings at Conjeepuram, during the first century of this era, were patrons of Jaina religion or were themselves Jainas by faith. Further the body of Mayidavōlu grant is in Prakrit dialect, and it is issued by Śivaskandhavarman of Conjeepuram. The use of Siddham in the beginning of the grant and its close similarities with Mathura inscriptions show the Jaina inclinations of the ruler. From various other epigraphical records also it is clear that these kings had Prakrit as their court language. Thus Prof. Chakravarti concludes that Kundakundācārya wrote his Prābhṛtatraya for one Śivakumāra Mahārāja, who was most probably the same as Śivaskandhavarman of the Pallava dynasty.

[p. 14:] PT. JUGALKISHORE'S VIEW ON THE DATE.—Pandit Jugalkishore, in his excellent monograph on Samantabhadra,[1] discusses the pros and cons of the various evidences utilised for settling the date of Kundakunda, and weighs the various probabilities with a view that the date of Kundakunda would help him to settle the date of Samantabhadra. The date of Kundakunda given by Paṭṭāvalīs he holds to be unsatisfactory, because paṭṭāvalīs differ among themselves and often from other pieces of information available from other sources. He, like Premiji, works out the antecedent chronological details of the statement of Indranandi, in his *Śrutāvatāra*, that Kundakunda wrote a commentary on the first three sections of *Ṣaṭkhaṇḍāgama*, and practically concludes that Kundakunda cannot be earlier than 683 after Vīra, *i.e* 156 A D. incidentally indicating the various descrepancies of paṭṭāvalīs. Making possible concessions for the alternative beginnings of Vikrama era, he would concede the earlier limit that Kundakunda should be later than 133 Vikrama saṃvat, *i e* 76 A D. Then he discusses the possibility of arriving at the date of Kundakunda on the tradition that Kundakunda wrote for Śivakumāra Mahārāja. He indicates that much reliance cannot be put on that tradition as Kundakunda has not said anything to that effect. If the tradition is to be accepted, he favours the identification proposed by Prof Chakravarti, showing that the date 528 A D., arrived at by the identification proposed by Pathak, upsets the relative chronology of many Jaina authors, and showing that the interpretation of ta *tadanvaya* in those inscriptions with the chronological deduction proposed by Pathak is wrong, because even Padmanandi, the teacher of Sakalakīrti, of the 15th century A.D., is designated as *tad* (Kundakunda)-*anvaya-dhurīna*. Pt Jugalkishore points to the fact that Kundakundānvays is already mentioned in Merkara copper-plates of Śaka 388.

1 See pp 158 etc of his Introduction to the Ed of *Ratna-karaṇḍaka Śrāvakācāra* of Samantabhadra, Vol. 24 of MDJG, Bombay, 1925; a part of the introduction, dealing about Samantabhadra, is also separately issued as '*Svāmī Samantabhadra*'

He is not ready to accept the position that Kundakunda had a name Elācārya. The date as given in the paṭṭāvalīs goes against the various aspects of the tradition recorded in *Śrutāvatāra*. Lastly he takes the fact that Kundakunda mentions himself as the śiṣya of Bhadrabāhu, whom he takes as the second Bhadrabāhu, who according to the paṭṭāvalīs might have flourished 589 to 612 after Vīra; this period consequently leads him to the conclusion that Kundakunda might have flourished from 608 to 692 after Vīra, *i.e.*, c. 81 to 165 A.D. This conclusion, he thinks, explains many obscure details.

A SUMMARY OF THE FACTS.—I have summarised the above views only to see the various traditions utilised in their different aspects by different scholars and the probable date at which they have arrived. The following are the main traditional facts.

i. Kundakunda flourished after the division of the original Jaina church into Śvetāmbaras and Digambaras.

ii. Kundakunda is the śiṣya of Bhadrabāhu.

iii. On the authority of *Śrutāvatāra*, Padmanandi of Kundakundapura [p. 15:] traditionally received the knowledge of the Siddhānta consisting of *Karma-* and *Kaṣāya-prābhṛta*, and he wrote a huge commentary on half of the *Ṣaṭkhaṇḍāgama*.

iv. Kundakunda, on the authority of Jayasena and Bālacandra, is said to have been a contemporary of one Śivakumāra Mahārāja

v. Kundakunda is the author of the Tamil classic *Kural*

We shall scrutinise these points serially and then see what other evidences are available for the date of Kundakunda.

KUNDAKUNDA'S POSTERIORITY TO ŚVETĀ. AND DIGA. DIVISION—As to the posteriority of Kundakunda to the division of the Jaina church into Digambaras and Śvetāmbaras, there cannot be two opinions, because he attacks here and there the doctrinal positions, which in later literature, are decidedly the opinions of the Śvetāmbara persuasion, such as the liberation for women, utility or futility of clothes for a monk to attain liberation etc.[1] The seeds of this division, so far as I have been able to comprehend the currents of the history of Jainism, go back as early as the days of Bhadrabāhu Śrutakevalin, if not earlier, who migrated to the South with a band of monks at the time of a severe famine in Magadha.[2] The famine and migration must have been facts, because both Śvetāmbaras and Digambaras are agreed on these points. Comparing the post-Mahāvīra hierarchical lists preserved by both the sects, the last teacher who is commonly acknowledged is Bhadrabāhu,[3]

1 *Sutta-pāhuḍa* 17-26, *Pravacanasāra* III, 8-9, 20 *3-5, 24 *6-14

2 L Rice *Mysore and Coorg from Inscriptions*, chapter 1, V Smith: *Early History of India* (Third Ed.), pp 146, 440, M S R Ayyangar *Studies in South Indian Jainism*, chapter 2 etc., Banarasidas *Ardhamāgadhī Reader*, p xlii; *Cambridge History of India*, I, p 165

3 For Digambara lists see *Harivaṁśa* etc noted above; for Śvetāmbara lists see *Kalpasūtra* (S B E. XXII), p. 286 etc and the opening verses of *Nandīsūtra* As a matter of appearance the traditional lists of teachers belonging to these two sects agree only upto Jambū, then there is difference, and again Bhadrabāhu is common to both I think, in early days, before the time of Kundakunda, these schismatic divisions might not have been very acute, since Ārya Maṅkṣu and Nāgahasti, who studied *Kaṣāya-prābhṛta* from Guṇadhara and also taught the same to Yativṛṣabha, as stated in *Śrutāvatāra* and confirmed too by the opening

that is a clear indication that the main stream might have branched into two streams from his time. Circumstantial evidences gleaned from the after-effects of the famine are also favourable for such a division in the Jaina church. So the definite seeds of this must have been sown in the days of Bhadrabāhu, a contemporary of Candragupta Maurya, say about in the 3rd century B.C. The later traditions that the Śvetāmbara sect, according to the statement of Digambaras, arose in 136 years after the death of Vikrama and that the Digambara sect, according to the statement of Śvetāmbaras, arose in 139 years after Vikrama,[1] merely show that the doctrinal differences, by [p. 16·] this time *i.e.* at about the close of the first century A.D., had become visibly acute so far as the popular appreciation of these differences is concerned. Thus the indication that Kundakunda refers to Śvetāmbara inclinations, as noted by Pathak and Premi, is not of great help to decide the date of Kundakunda; the other indication that Viṣṇu-worship was popular among the masses is not guaranteed by the correct interpretation, in the light of the proper context, of that gāthā No. 322 of *Samayasāra*.

KUNDAKUNDA AS THE ŚIṢYA OF BHADRABĀHU DISCUSSED.—It is an important fact that Kundakunda speaks of himself as the śiṣya of Bhadrabāhu, whom he glorifies, those gāthās (of *Bodha-pāhuḍa*) in question run thus:

> *sadda-viyāro hūo bhāsā-suttesu jaṃ jiṇe kahiyaṃ |*
> *so taha kahiyaṃ ṇāyaṃ sīseṇa ya Bhaddabāhussa ||61||*
> *bārasa-Aṃga viyāṇaṃ caüdasa-Puvvaṃga-viüla-vittharaṇaṃ |*
> *suya-ṇāṇi-Bhaddabāhū gamaya-gurū bhayavao jayaū ||62||*

From these gāthās two facts are clear that Kundakunda refers to himself as the śiṣya of Bhadrabāhu, and this Bhadrabāhu is qualified as suya-ṇāṇi, as a revered preceptor who knew the exact text and meaning and as one who knew the twelve Aṅgas and the wide extent of fourteen Pūrvāṅgas Śrutasāgara (c. close of 15th century A D.) admits both of these gāthās in his Sk. commentary, and, as long as it is not shown on sound MSS -evidence that these gāthās are of an interpolatory character, we are justified to take them as composed by Kundakunda and make a judicious use of them for chronological study. The Paṭṭāvalīs of Digambaras give two Bhadrabāhus, one Śrutakevali Bhadrabāhu and the other Minor or One-Aṅgin Bhadrabāhu; so it is necessary to see to whom Kundakunda refers. Pandit Jugalkishore quotes and concentrates his attention on the first gāthā only, and possibly he ignores the second gāthā; and his inference is that Bhadrabāhu mentioned by Kundakunda is Bhadrabāhu II (589-612 after Vīra *i.e.*), 62-85 A D. It is a very tempting identification, but one has to stand this temptation in view of the second gāthā, which gives substantial information about Bhadrabāhu. The adjectives in the second gāthā clearly show that this Bhadrabāhu is none else than Śrutakevali Bhadrabāhu, Bhadrabāhu II cannot be a proper recepient of the adjectives *bārasa-*

verses of *Jayadhavalā Ṭīkā*, figure also in the Śvetāmbara Sthavirāvali, as given in *Nandi-sūtra* verses No 28-30 (Āgamodayasamiti Edition), as Ārya Maṅgu and Ārya Nāgahasti almost contemporaries, 'Ārya Maṅkṣu' is an attempt at Sanskritisation of 'Ajja Maṃgu'.

1 *Darśanasāra* gāthā 11 etc and Pt. Premi's notes thereon in *Jaina Hitaishī* XIII, pp 252, 265 etc.

Aṃga viyāṇaṃ and *caüdasa-Puvvaṃga* etc. at least at the hands of a contemporary of his, if Kundakunda were to be taken, as proposed by Pt. Jugalkishore, as his disciple; and the adjective suya-ṇāṇi, in the light of the above adjectives, should be taken to mean, I think, as *suyakevali*. If Bhadrabāhu referred to is the same as Śrutakevalin, it follows quite naturally that either Kundakunda must have been his contemporary in the 3rd century B. C., being his śiṣya, or the word śiṣya must mean something else than a direct disciple. I am tempted to take the word śiṣya as a *paramparā-śiṣya*, and this is not without a parallel elsewhere. With Jaina authors *guru* and *śiṣya* do not necessarily mean direct and contemporary teachers and pupils, but might even mean *paramparā-guru* and *śiṣya;* sometimes the influence of some previous teacher is so overwhelming that later pupils like to mention him as their guru. For instance, Siddharṣi, the author [p. 17:] of *Upamitibhava-prapañcā-kathā* (906 A.D.) calls Haribhadra as his *dharmaprabodha-karo guruh;* but it is proved by reliable evidences that they were not even contemporaries, Haribhadra having lived before the last quarter of the 8th century.[1] To take another instance, Jayasena, the author of *Pratiṣṭhāpāṭha*, calls himself as Kundakundāgra-śiṣya,[2] but from the scarcity of old Mss., from the contents and language of that work, and also from the absence of any early tradition to that effect that he was a contemporary of Kundakunda, one is forced to take Jayasena as the *paramparā-śiṣya* of Kundakunda of venerable name. There are, however, circumstantial evidences why Kundakunda might have been tempted to call himself as the śiṣya of Bhadrabāhu. Bhadrabāhu was the great leader of a saṅgha, which he led to the South for its physical, moral and spiritual welfare, After the demise of Bhadrabāhu his pupils and grand-pupils might have always looked upon him as the greatest teacher, and especially in the South, the ascetic community, being isolated, might have inherited all the religious knowledge ultimately from the great teacher Bhadrabāhu. So it is no wonder, if Kundakunda, who was at the head of an isolated ascetic group in the distant South and who always remembered with reverence that whatever knowledge he had inherited was ultimately traceable to Bhadrabāhu, called himself as the śiṣya *i.e.* the traditional pupil of Bhadrabāhu in his works which are more of a compilatory character based on hereditary instruction than original compositions. But it may be asked why not take Kundakunda as the direct disciple of Bhadrabāhu Śrutakevalin and put him in the 3rd century B. C. There are various difficulties: Kundakunda, as, in that case, we might expect does not figure in the lists of Aṅgadhārins; the word śiṣya is not enough to lead us to that conclusion, because, as shown above, it could be used in the sencse of a paramparā-śiṣya; I am not aware of any piece of Jaina tradition, legendary or literary, which would give even the slightest support to put Kundakunda as the contemporary of Bhadrabāhu Śrutakevalin; and the traditions, as they are available, go against this date of 3rd century B. C.

---

1 *Jaina Sāhitya Saṃśodhaka*, Vol I, p. 21 etc.; Dr Jacobi's Introduction to *Samarāicca-kahā* in Bibl. Ind 1926

2 *Vasubindu Pratiṣṭhā-pāṭha* Ed Calcutta, 1925, the praśasti is also quoted in the introduction (p.9) of *Samayaprābhṛtam*, Benares, 1914; for other instances where *śiṣya* means *paramparā-śiṣya* see *Annals* of the B O. R. I ., Vol XV, pp. 84-85

KUNDAKUNDA'S AUTHORSHIP OF ṢAṬKHAṆḌĀGAMA-ṬĪKĀ DISCUSSED.—With regard to the tradition, that Padmanandi of Kundakundapura received the knowledge of twofold Siddhānta and wrote a commentary on the three sections of the *Ṣaṭkhaṇḍāgama*,[1] two legitimate questions can be raised: first, whether this Padmanandi of Kundakundapura is the same as our Kundakunda, and secondly, whether Padmanandi of Kundakundapura has really written a commentry on a part of the *Ṣaṭkhaṇḍāgama*. The validity of the conclusion, based on this tradition, that Kundakunda cannot be earlier than 683 years after Vīra, if not 770 years after Vīra after assigning some years for the [p. 18·] subsequent teachers after Lohācārya, depends only on the affirmative reply of both of the above questions. The conclusion can be easily thrown overboard, if one of the two questions is denied or shown to be of a dubious character because of some other tradition going against it. A tradition, under ordinary circumstances, can be hypothetically accepted, if its genuineness or bonafides is not vitiated by the presence of some other tradtion fundamentally incongruent in details and by the presence of improbabilites and uncommon details such as some special motive behind, divine intervention, miraculous occurrences etc that are above the comprehension of ordinary human understanding. The first part of the tradition that Indranandi is referring to our Kundakunda, I think, can be accepted, according to epigraphic records our author, as seen above, had really the name Padmanandi and he came to be called Kundakunda, and Indranandi explains the second name associating it with his native place. Second part of the tradition that Kundakunda wrote a commentary on a part of *Ṣaṭkhaṇḍāgama* cannot be accepted without suspicion for various reasons: no such commentary attributed to Kundakunda is available today, nor have I been able to find any traces of it in *Dhavalā* and *Jayadhavalā* commentaries; no references, in later literature, to this commentary have been brought to light; the tradition, not being recorded in many works and very often, does not appear to have been popular; and finally, this aspect of the tradition, as recorded by Indranandi, is not accepted by Vibudha Śrīdhara, who, in his *Śrutāvatāra*,[2] the fourth section of *Pañcādhikāra*, says thus: the twofold Siddhānta was being traditionally handed down, and Kundakīrti learnt the Siddhānta from the great saint Kundakundācārya and composed a śāstra, *Parikarma* by name, extending over twelve thousand verses, on the first three sections of *Ṣaṭkhaṇḍāgama* Thus the toss lies between Kundakunda and Kundakīrti and it cannot be easily settled with definiteness, because the tradition is not getting any substantial support from other sources. As to Kundakunda's claim, I am diffident because in the major portion of his exposition and style I find him more a narrative dogmatist than a zealous commentator; the polemic zeal of a commentator, so patent in the works of authors like Samantabhadra, Jinabhadra Kṣamāśramaṇa, Siddhasena, Pūjyapāda and a host of mediaeval commentators, is conspicuously absent in his works so far available. In both the traditions there is, however, one point of agreement that the composition of *Ṣaṭkhaṇḍāgama* precedes the time of Kundakunda; but even this point should not be pressed too far with regard to its

1 *Śrutāvatāra*, verses 160-61 etc.

2 *Siddhāntasārādisaṃgraha*, p. 318, Vol. 21 of MDJG, Bombay, saṃvat 1979.

chronological value, because a portion of the tradition has been proved to be doubtful; and as to the genuineness of the antecedent links of the tradition, as Indranandi frankly says, there is much obscurity,[1] and Vibudha Śrīdhara is somwhat vague when he simply says *iti paramparayā*. A scrutinising search [p. 19:] into the details of these traditions makes us all the more aware as to how we have to grope in darkness to settle the exact date of Kundakunda. So here I can say only this much that we cannot, on the authority of the traditions discussed above, insist too much that Kundakunda should be later than 683 years after Vīra.

KUNDAKUNDA AS A CONTEMPORARY OF ŚIVAKUMĀRA DISCUSSED —Now the fourth point about the possibility of Kundakunda's being a contemporary of a ruler Śivakumāra Mahārāja. I agree with Pt. Jugalkishore in noting that Kundakunda has not referred to any such person, nor is there any indication to that effect in his works, his first commentator Amṛtacandra, so far as we know, does not refer to any Śivakumāra Mahārāja. It is only Jayasena (c. middle of the 12th century A. D.), and following him the Kanarese commentator Bālacandra,[2] that refer to Śivakumāra Mahārāja, for whose enlightenment, Jayasena says, Kundakunda composed his *Pañcāstikāya*. Jayasena, in his commentaries on *Pañcāstikāya* and *Pravacanasāra*, mentions the name of Śivakumāra or -Mahārāja,[3] but at times Śivakumāra's personality plays a very dubious rōle as in the opening passage of *Pravacanasāra*, from which one is tempted to suspect whether Śivakumāra himself is the author of *Pravacanasāra*. It should be remembered that Jayasena's statement cannot deserve the credit of a contemporary evidence; and when we try to identify this Śivakumāra with some king of the South Indian royal dynasties of the early centuries of the Christian era, it is taken for granted that Jayasena's statement, in all probability, is based on some early tradition possibly genuine in character. Dr. Pathak was the first to attempt an identification, and he proposed that this Śivakumāra Mahārāja should be identified with Śivamṛgeśavarman of the Kadamba dynasty (about 528 A D according to Pathak).[4] The patronage extended to Jainism and Jainas by Kadambas is well known; but that is no reason at all to put Kundakunda so late as this This conclusion cannot be accepted for various reasons: first, that upsets some of the well recognised facts of Digambara chronology, secondly it is impossible that Kundakunda can be put in the 6th century, when Merkara copper plates of Śaka 388 mention Kundakundānvaya and give not less than six names of Ācāryas of that lineage;[5] and this indicates that Kundakunda will have to be put at least a century, if not more, earlier than the date of the copper-plates. Perhaps it is to support this

---

1 *Śrutāvatāra*, verse 151, which runs thus—

Guṇadhara-Dharasenānvaya-gurvoḥ pūrvāpara-kramo'smābhiḥ |
na jñāyate tad anvaya-kathakāgama-muni-janābhāvāt ||

2 Relative dates of Jayasena and Bāḷacandra will be discussed later.

3 *Pañcāstikāya*, Rāyachandra Jaina Śāstramālā (RJŚ), Bombay, Samvat 1972, pp. 1 and 6, *Pravacanasāra*, pp 1, 17, 244, and 247, I have not been able to trace any mention of Śivakumāra in his commentary on *Samayasāra*

4 Also about 475-490 A D, see G M Moraes *Kadamba Kula*, chapter vii and the genealogy facing p 15

5 *E.C.*, I *Coorg Inscriptions*, No 1

identification that he mis-interpreted the words *tad-anvaya* in those copper-plates of the Rāṣṭrakūṭa dynasty; the mistake in his interpretation is already noted above. More plausible is the view of Prof. Chakravarti, who identifies this Śivakumāra Mahārāja with [p. 20:] Śivaskandha or Yuva Mahārāja of the Pallava dynasty, as it has some favourable circumstantial evidences. The only difficulty, in the way of this identification, is the uncertainty of Pallava genealogy and chronology.[1] In their records the kings of the same name appear to figure at different periods: Śivaskandhavarman figures fifth in the Pallava line and before him there was one Skandhavarman, and there, in those records, the mention is made of reign-years and not of any standard era. The beginning of the Pallava genealogy, therefore, is chronologically uncertain. Prof. Chakravarti, though not explicit, appears to be aware of these difficulties when he says: 'It is quite possible, therefore, that this Śivaskandha of Conjeepuram or one of the predecessors of the same name was the contemporary and disciple of Śrī Kundakunda'. So, if any historical value can be attached to the statements of Jayasena, the identification of Śivakumāra with the Pallava king Śivaskandha is more probable than the one proposed by Pathak.

KUNDAKUNDA AS THE AUTHOR OF KURAL.—The attribution of the authorship of *Kural* to Kundakunda has, no doubt, some bearing on the date of Kundakunda, but the way in which Prof. Chakravarti tackles that problem, I am afraid, contains the famous flaw of *kuṇḍa-badara-nyāya* Despite various sectarian claims, an unbiased critic would certainly find in *Kural* many Jaina indications, which cannot easily and naturally be explained according to other faiths, such as the divinity walking on lotuses and possessing eight qualities etc. The commentator of *Nīlakesi*, a Jaina work, calls *Kural* 'as our own Bible'; this indicates, in addition to the internal evidences, that the author of *Kural* is claimed by the Jainas, since a pretty long time, as belonging to their community. As to the date of *Kural* there are divergent opinions. On very good grounds M. S. Ramasvami Ayangar puts *Kural* at the beginning of the Christian era [2] Further the Jaina tradition attributes the authorship of *Kural* to a Jaina saint Elācārya, who after composing gave it away to his disciple Tiruvalluvar, who introduced it to Madura Saṅgha Now Kundakunda's authorship of *Kural* depends on the identity of Elācārya with Kundakunda, but this identity is not a sure ground In our previous discussion, a part of the tradition that Kundakunda had five names has been shown to be dubious and not well founded; so, if Prof. Chakravarti relies on that very tradition, I must say, it is insufficient to prove the identity, though I am aware that I have not been able to disprove Kundakunda's having a name Elācārya, as I have been in the case of the name Vakragrīva etc. So some more evidence is necessary to show that Kundakunda had a name Elācārya; and if that is made more definite, it can be accepted that Kundakunda was the author of *Kural*, and consequently his age would be put in the first century A.D. I may indicate, however, that at the beginning of the Christian era the circumstances, as they might possibly have been then, appear to be quite tempting for an author of the stamp and dignity of Kundakunda, or any other Jaina teacher

1 H Heras: *The Pallava Genealogy*, Aiyangar: *Some contributions of South India to Indian culture*, chapter viii etc.

2 *Studies in South Indian Jainism* pp 40 etc.

[p. 21 :] of eminence, to compose an eclectic work like *Kural* without making it purely a code of Jaina dogmas. The Jainas were gaining ground round about Mysore soon after the 3rd century B.C., when Bhadrabāhu migrated to the South; and within the next two centuries the Jaina faith must have been spreading southwards. If it was to be preached to masses, it must be put in palatable terms and that too in the vernacular of the masses. It has been a policy of Jaina teachers, wherever they go, to adopt the local language for preaching their dogmas. So they might have cultivated Tamil to spread and preach the fundamental Jaina doctrines in Dravidian countries. The Jaina authorship consistently explains the strong back-ground of Aryan thought and culture in *Kural*, because only a couple of centuries before the Jainas had come down freshly from Magadha and surrounding parts in Northern India. The Jaina teachers, the earlier generations of them being well acquainted with Magadhan polity and forms of Government, introduced in their works political notions and theories as current in Magadha, and that is the reason why we find so many points of affinity between Kauṭilya's *Arthaśāstra* and *Kural*. At the beginning of the Christian era the Jaina teachers appear to have been not very confident about their prospective success in the Tamil land, and they might have been afraid that their words might not be well received among the wise of the land; this appears to be the reason why Elācārya or (if he is identical with Kundakunda) Kundakundācārya might have presented *Kural* to the Madura Sangha through his disciple, Tiruvalluvar, who, from his name, appears to be the son of the soil in Tamil land. In the next two centuries the Jaina faith became gradually established, and the Jainas were the pioneers of the so-called Augustan age of Tamil literature, and by the close of the 5th century A. D., as Devasena tells us in his *Darśanasāra* (24 etc) Drāviḍa-saṅgha, perhaps a designation indicating some geographical limitation to the Mūla-saṅgha, was established in Madura by Vajranandi.

LATER LIMIT FOR THE DATE SUGGESTED FROM LITERARY AND EPIGRAPHIC EVIDENCES.—Turning to the earliest Digambara commentators with a desire to see whether their works help us to settle the date of Kundakunda by quotations etc. from Kundakunda's works, we find that the earliest available commentaries, being incorporated in *Dhavalā* and *Jayadhavalā*, do no give any help, because it is wellnigh impossible to distinguish the various strata with their respective authors. Pūjyapāda, so far known the earliest Digambara commentator on *Tattvārthasūtra*, quotes, in his *Sarvārthasiddhi* (II,10),[1] five gāthās, which are found in the same order in *Bārasa-Aṇuvĕkkhā* (Nos. 25-29) of Kundakunda, though he does not say from what source he is quoting. The context in which they are quoted, the serial order of quotation and the absence of these quotations in *Rājavārtika* of Akalaṅka[2] etc. go to indicate the genuineness of these quotations in *Sarvārthasiddhi*.[3] *Bārasa-Aṇuvĕkkhā* [p.22.] has some gāthās common with the eighth chapter of *Mūlācāra*,[4] but these gāthās do not figure therein: and I am not aware of these gāthās in any of the ear-

1 *Sarvārthasiddhi*, pp 90 etc. Ed Kolhapur, Śaka 1839.

2 *Tattvārtha-Rājavārtikam*, Ed. Benares, 1915

3 Sometimes the copyists, not minding the chronological consequences, incorporate, in the course of copying, important quotations etc, from later commentaries in earlier ones.

4 *Mūlācāra*, Ed MDJG Vols 19 and 23.

lier Jaina works. Under these circumstances and in view of the maintenance of the original order of these quoted gāthās, it is clear that Pūjyapāda is quoting from *Bārasa-Aṇuvekkhā* of Kundakunda. That puts a good later limit to the age of Kundakunda. Pūjyapāda lived earlier than the last quarter of the 5th century A.D.,[1] so Kundakunda must be prior to him. Then the Merkara copper-plates of Śaka 388, i.e. 466 A.D., to which reference is already made, mention six Ācāryās with a clear statement that they belonged to Kundakundānvaya; that means Kundakundānvaya was in vogue, on the innocent hypothesis that these six teachers were successors in that lineage, at least a hundred years before the date of the copper-plates, and further back if we take that Kundakunda's lineage began one century, if not more, earlier, it is not too much, because the lineage of a saint does not begin immediately after his death. That brings us to the middle of the 3rd century A.D. as the later limit of Kundakunda's age.

THE TWO LIMITS AND THE POSSIBLE CONCLUSION.—In the light of this long discussion on the age of Kundakunda wherein we have merely tried to weigh the probabilities after approaching the problem from various angles and by thoroughly thrashing the available traditions, we find that the tradition puts his age in the second half of the first century B. C. and the first half of the first century A. D.; the possibility of *Ṣaṭkhaṇḍāgama* being completed before Kundakunda would put him later than the middle of the second century A.D.; and the Merkara copper-plates would show that the later limit of his age would be the middle of the third century A D. Further the possibilities, in the light of the limitations discussed, that Kundakunda might have been a contemporary of King Śivaskandha of the Pallava dynasty and that he, if proved to be the same as Elācārya on more definite grounds, might be the author of *Kural*, would imply that the age of Kundakunda should be limited, in the light of the circumastantial evidences noted above, to the first two centuries of the Christian era. I am inclined to believe, after this long survey of the available material, that Kundakunda's age lies *at the beginning of the Christian era*.[2]

1 On Pūjyapāda and his date etc. F Keilhorn: *I. A*, Vol. X, pp. 75-79, K. B. Pathak: *I A*, Vol XII pp 19-21; Dr. S K Belvalkar: *Systems of Sanskrit Grammar*, R.B.R. Narasimhacharya *Karṇāṭaka Kavicarite*, Vol. I, pp 5 etc., Pt. Premi *Jaina Hitaishi*, Vols XIV pp 345 etc and XV pp 49 etc ; Pt. Jugalkishore: *Svāmī Samantabhadra*, pp 141 etc

2 I should passingly refer here to a recent discussion on the date of Kundakunda The second line of the 17th gāthā of *Niyamasāra* runs thus· *edesim vitthāram loya-vibhāgesu ṇādavvam* /; on this Padmaprabha Maladhārideva comments thus· *eteṣām caturgati-jīva-bhedānāṃ vistārah Lokavibhāgābhidhāna-paramāgame draṣṭavyah* / (p. 16 of *Niyamasāra*, Bombay 1916) Pt Premi (*Jaina Jagat* VIII, iv) inferred from this that Kundakunda is referring to the Prakrit *Lokavibhāga* of Sarvanandi composed in Śaka 380, it is not available, but the Sanskrit version of it by Siṃhasūri is available; and that, therefore, Kundakunda is later than 458 A.D Pt. Premi's position is logically weak, nor is it guaranteed by the facts as already shown by Pt Jugalkishore (*Jaina Jagat* VIII ix) The use *loyavibhāgesu* in plural does not indicate that it is the name of any individual work, and much reliance, so far as historical and chronological purpose is concerned, cannot be placed on the interpretation of the commentator, who comes long after Kundakunda. The word might refer to a collection of works belonging to Lokānuyoga

[p. 23:] PRAKRIT DIALECT AS AN EVIDENCE FOR THE DATE PROPOSED.—Though not a sure evidence, the stage of Prakrit also is, at times, used to indicate the age of an author; this dialectal evidence, so far as I am aware of the peculiar inherent traits and geographical and circumstantial handicaps of Prakrits, cannot be of an absolute character, but merely a cumulative one. In the section on the Prakrit dialect of *Pravacanasāra* it is indicated, after a through analysis of the grammatical facts from the gāthās of *Pravacanasāra*, that the stage of Prakrit, as represented by these gāthās, is earlier than that of the Prakrit portions, as critically analysed by Dr. Jacobi, of *Nāṭyaśāstra* of Bharata. The date of *Nāṭyaśāstra* is a matter of uncertainty; possibly it is anterior to Bhāsa and Kālidāsa and usually, therefore, it is assigned to the beginning of the second century A. D. or so. This is quite in keeping with our conclusion that Kundakunda might have flourished at the beginning of the Christian era. The appearance of Apabhraṁśa forms is also considered to have some chronological utility. It is shown, in the discussion about the Prakrit dialect, that not a single Apabhraṁśa form is traced in *Pravacanasāra;* that possibly indicates a period when Prakrits had not developed as yet the Apabhraṁśa traces. Now *Paümacariya* of Vimalasūri, which should be placed at the beginning of the Christian era according to the statement of the author himself,[1] shows many forms which can be called Apabhraṁśa in the terminology of Hemacandra. So Kundakunda possibly belongs to an earlier period; making concession to geographical limitations that Kundakunda belonged to the extreme south etc., this also favours our relegation of Kundakunda to the beginning of the Christian era

DOMICILE ETC. IN THE LIGHT OF THE DATE PROPOSED —The domicile of Kundakunda will have to be sought in South India, especially in Draviḍa country, from the spelling of his name, Kŏṇḍakunda,[2] from the fact that he is called the preëminent leader of the Mūla-saṅgha, and from his being and associated with Drāviḍa-saṅgha. Considering the probability of his association with the Pallava dynasty, his activities might lie round about Conjeevaram, which was [p 24:] a cultural centre, in the South, in the early centuries of the Christian era The time, when Kundakunda flourished, appears to be sufficiently critical so far as the upkeep of the Jaina community in the South was concerned. After the arrival of Bhadrabāhu, a fresh impetus must have been given to Jainism in the South, and attempts must have been made to get royal patronage etc. to put Jainism on sound basis by

group of Jaina Literature The interpretation of the commentator should not be attributed to Kundakunda When the Merkara copper plates of Śaka 388 refer to Kundakundānvaya and mention half a dozen teachers belonging to that lineage, it is impossible that Kundakunda can be put after Śaka 380, and that he might be referring to the work of Sarvanandi

1 On internal evidences that Vimalasūri was acquainted with Greek astronomy etc Dr Jacobi doubts the date given by the author, and would put him in the third century A D., or even somewhat later

2 Quite recently it is reported in a Jaina Kannada Magazine, *Vivekābhyudaya*, I, 3-4, p 54, that there is a village, Kŏṇdakundi, some four or five miles away from Guntkal Railway station, associated with the life of Kundakunda; a couple of furlongs away from that village there is a cave, with some Jaina idols, where Kundakunda is said to have performed his penances

conversions as we see from the traditional stories associated with Samantabhadra and Akalaṅka. The task before Kundakunda must have been really a great one. The Digambaras had denounced the Jaina canon as formed at Pāṭaliputra by Śvetāmbaras after the famine in Magadha was over; and by about the beginning of the Christian era, so far as the Digambara Text-tradition was concerned, the important texts, as a whole, had fallen into oblivion. Kundakunda had to respond to the religious needs of the community; and to meet this situation he must have composed small tracts in Prakrit mainly based on whatever traditional Text-knowledge was inherited from early teachers. The traditional aspect of Kundakunda's works is clear from the fact that his works have some common verses with some texts of the Śvetāmbara canon, being a common property in early days they have been preserved by both the sections independently. On the one hand Kundakunda stands as the converging centre of early text-tradition and on the other his works themselves have given rise to commentaries and commentators thus diverging into a budding and exhuberent growth of Jaina dogmatic discussions of various kinds.

3. KUNDAKUNDA'S WORKS

KUNDAKUNDA AS THE AUTHOR OF 84 PĀHUḌAS.—Kundakunda has a great halo of literary activity, and the tradition attributes to him not less than eighty four treatises called Pāhuḍas or Prābhṛtas. The title pāhuḍa, a present, indicates, according to one interpretation, that these books are composed or compiled with a spiritual purpose, and they are merely devotional presents to the Higher Self; Jayasena explains the word thus: *yathā ko'pi Devadattaḥ rāja-darśanārthaṃ kimcit sārabhūtam vastu rājñe dadāti tat prābhṛtaṃ bhanyate / tathā paramātmārādhaka-puruṣasya nirdoṣi-paramātma-rāja-darśanārtham idamapi śāstraṃ prābhṛtam/.*[1] This is how commentators are skilful in giving certain meanings. The real traditional meaning appears to be different Pāhuḍa means an adhikāra,[2] *i.e.* a section in which a particular topic is treated or discussed. Some Śvetāmbara works, too, have this designation, for instance, *Joṇī-pāhuḍa*, *Siddha-pāhuḍa*[3] etc. That Kundakunda wrote 84 Pāhuḍas is merely a floating tradition, and I am not aware of any statement to that effect from his commentators etc The number is not at all incredible [p. 25:] in view of the fact that some of his Pāhuḍas are very small tracts *Sutta-pāhuḍa*, for instance, contains only 27 gāthās. The circumstances also were favourable for Kundakunda to compose numerous small tracts or prakaraṇas. The Jaina community in the South, in the days of Kundakunda, was much isolated from the main stock in Magadha and other parts. The community, as a whole, had its religious needs. Digambaras did not attempt a fresh compilation of the canon after the famine was over, and the canon, as shaped at Pāṭaliputra by some of their brethren in the North who came to be known as Śvetāmbaras, was denounced by the Digambaras

1 See his commentary on *Samayasāra*, p. 555-6 (RJS edition), elsewhere, on p 5, he interprets Samaya-pāhuḍa thus. *prābhṛtam sāram sārah śuddhāvasthā samayasyātmanaḥ prābhṛatam samayaprābhṛtaṃ athavā samaya eva prābhṛatam /*

2 See *Gõmmaṭasāra* Jīvakānda, gāthā 341 (SBJ V); *ahiyāro pāhuḍayaṃ eyattho* i e adhikāra and pāhuḍa are synonyms

3 *Jaina Granthāvalī*, pp. 62 & 66.

as simply a patch-work and not genuine. The result was that the Digambaras lost almost all texts as a whole. The only alternative before leaders like Kundakunda was to rely on their memories and put together whatever they had traditionally received from their teachers and grand-teachers, not as Aṅga-works, but merely as sections or pieces from Aṅgas. In this manner Kundakunda might have compiled and composed many small texts. One should not insist too much on the number 84, because we get the names of only a few of them;[1] and the number of available works, attributed to Kundakunda, is comparatively small. It must be plainly stated that in majority of the following works, the original texts scarcely mention the name of Kundakunda; at times traditionally they are attributed to Kundakunda, and sometimes the commentators say that Kundakunda is the author; in every case I have taken care to see whether any other author has claimed a particular work as his, and whether there is any conflict in the tradition. In India philosophers and authors always stood for systems; they were never particular in mentioning their names at the end of their works, because they were conscious that whatever they were compiling or composing belonged, so far as the contents were concerned, to earlier teachers. Being simply responsible for the form, they did not like to pose as authors in the modern sense. So in India we have philosophies and not philosophers as in Greece; the authors never hesitated to merge their individualities in a particular stream of philosophical thought; and the individual philosopher, as Max Muller puts it, is but the mouth-piece of tradition.

[p. 26:] Now we will study the various works attributed to Kundakunda. All his works, so far available, are in Prakrit.

ṢAṬ-KHAṆḌĀGAMA-ṬĪKĀ: It is already seen above that Indranandi, in his *Śrutāvatāra,* tells us that Padmanandi of Kundakundapura, possibly the same as our Kundakunda, wrote a commentary, *Parikarma* by name, on the three sections of *Ṣaṭkhaṇḍāgama.* The commentary is not available today. This tradition, moreover, is conflicted by the statement of Vibudha Śrīdhara, according to whom the author is Kundakīrti, the pupil of Kundakunda. So the existence and the authorship of this work belong to the domain of uncertainty of tradition [2]

---

1 Besides the works studied in this section, the following are the names of works attributed to Kundakunda; some of the names are partly in Sanskrit and partly in Prakrit, and, at times, differently spelt. There are still many Jaina libraries that have not been thoroughly inspected, and so it is not at all impossible that we might chance upon some of these works; for the sake of easy reference, I give here the names of works attributed to Kundakunda arranged according to English alphabets:— 1 *Ācārapāhuda,* 2 *Ālāpapāhuḍa,* 3 *Aṃga (sāra)-pāhuda,* 4 *Ārādhanā (sāra)-pāhuda,* 5 *Bamdha (sāra)-pāhuda,* 6 *Buddhi or Bodhipāhuḍa,* 7 *Caraṇapāhuḍa,* 8 *Cūlīpāhuḍa,* 9 *Cūrṇīpāhuḍa,* 10 *Divvapāhuda,* 11 *Dravya(sāra)-pāhuḍa,* 12 *Dṛṣṭipāhuḍa,* 13 *Eyamtapāhuḍa,* 14 *Jīvapāhuda,* 15 *Joṇī (sāra)-pāhuda,* 16 *Karmavipākapāhuda,* 17 *Kramapāhuda,* 18 *Kriyāsārapāhuda,* 19 *Kṣapaṇa (sāra)-pāhuḍa,* 20 *Labdhi (sāra)-pāhuda,* 21 *Loyapāhuḍa,* 22 *Nayapāhuḍa,* 23 *Nitāyapāhuda(?),* 24 *Nokammapāhuda,* 25 *Pañcavargapāhuḍa* 26 *Payaddhapāhuda,* 27 *Payāpāhuḍa,* 28 *Prakṛtipāhuḍa,* 29 *Pramāṇapāhuda,* 30 *Salamīpāhuḍa(?),* 31 *Saṃṭhāṇapāhuḍa,* 32 *Samavāyapāhuḍa,* 33 *Saṭdarśanapāhuḍa,* 34 *Siddhāntapāhuḍa,* 35 *Sikkhāpāhuḍa,* 36 *Sthānapāhuḍa,* 37 *Tattva (sāra)-pāhuda,* 38 *Toyapāhuḍa,* 39 *Oghātapāhuda,* 40 *Utpādapāhuḍa,* 41 *Vidyāpāhuḍa,* 42 *Vastupāhuḍa,* 43 *Vihiya* or *Vihayapāhuda*

2 See the discussion above p. 17.

MŪLĀCĀRA:[1] It is an authoritative work on the conduct of Jaina monks, especially Digambaras. Its Prakrit dialect, contents, Text etc. are very important, and need careful study especially in comparison with *Nijjuttis* of the Śvetāmbara canon. Vasunandi,[2] the Sk. commentator, attributes its authorship to Vaṭṭakera. I have come across certain South Indian MSS, quite genuine in their appearance, wherein the name of the author is given as Kundakunda; these MSS. contain some additional gāthās. As I am busy in collating and studying *Mūlācāra*-text, I do not want to be dogmatic on this point; let it be an open question at this stage.

TEN-BHAKTIS.[3]—Prabhācandra, the author of *Kriyākalāpa* commentary, says in his commentary on *Siddha-bhatti* that all the Sanskrit Bhaktis are composed by Pūjyapāda and the Prakrit ones by Kundakundācārya.[4] We are concerned here only with Prakrit Bhaktis. The text of Ten-Bhaktis, as published, is not reliable for critical purposes; MSS. are at variance as to the number of verses in particular Bhaktis. As they are very little known outside Jaina circles, I intend to introduce them to the readers, particularly the Prakrit Bhaktis. These Bhaktis, as they are available in MSS., open with five-fold salutation (*paṃca-ṇamoyāra*), *maṃgala-sutta, loguttamā-sutta, saraṇa-sutta, sāmāiya-sutta* in Prakrit prose.

TITTHAYARA-BHATTI: It has eight gāthās in which salutations are offered to 24 Tīrthaṅkaras with the specific mention of their names. Excepting the first verse it is common with Śvetāmbaras who generally incorporate it in their *Pañca-pratikramaṇa*.[5] It is followed by Prakrit prose passages of [p 27:] *pratikramaṇa* and *ālocanā* (*i.e.* confession and report of sins etc. committed).

SIDDHA-BHATTI. There is a good deal of uncertainty about the number of verses. Here we get a discourse on Siddhas (*i e.* the liberated souls), the classes of Siddhas, the way in which liberation is attained, the happiness and the abode of Siddhas It is concluded with an ālocanā prose passage in Prakrit.

SUDA-BHATTI. It contains 11 gāthās and the concluding prose passage. It opens with a salutation to Siddhas. Then are offered salutations to twelve Aṅgas by name, the 12th Anga, *Diṭṭhivāda*, has five divisions. Then follow the names of 14 Puvvas or Pūrvas, which, according to the commentator, are to be included in the fourth division of Dṛṣṭivāda. The remaining verses give further division. This Bhakti is important for the traditional division of early Jaina literature.

CĀRITTA-BHATTI It contains some 10 verses of Anuṣṭubh metre. It opens with a salutation to Vardhamāna Mahāvīra. The Tīrthakara, for the benefit

1 *Mūlācāra* with Vasunandi's Sk Commentary is published in MDJG vols. 19 & 23; published with a Hindi translation and an alphabetical index of gāthās in Anantakīrti D. Jaina granthamālā, Bombay 1919

2 He belonged to circa 12th century A D

3 An edition of Ten-bhaktis with the Sk. commentary of Prabhācandra and the Marathi translation of Pt. Jinadāsa has appeared from Sholapur, 1921; in my remarks on these Bhaktis I have used this edition, and, at times, I have consulted a Kannada MS., called *Kriyākalāpa*, from my collection

4 *Samskṛtāḥ sarvāḥ bhaktayaḥ Pādapūjyasvāmi-kṛtāḥ prākṛtāstu Kundakundācārya-kṛtāḥ* | p 61, Sholapur ed.

5 Compare p. 3 of *Pañcapratikramaṇasūtrāṇi*, Bombay 1925.

of living beings, has preached five-fold cāritra or conduct: sāmāiya, chedovaṭṭhāvaṇa, parihāra-visuddhi, suhuma-saṃjama and jahākhāda-cāritta.[1] Then are enumerated 28 mūla-guṇas and the uttara-guṇas for the monks. The monk determines to avoid the breach of these vows. There is the usual prose passage at the end.

AṆAGĀRA-BHATTI: It contains 23 gāthās and there is a prose passage at the end. Here prayers are offered to all great saints endowed with merits. These saints, giving up the perverted view, have adopted the right one. Then their detailed virtues, in the light of Jaina enumerative technicalities, are given into groups from two onwards upto fourteen. These groups indicate a thorough cultivation of dogmatic details in the monastic community the members of which could easily grasp the details, when simply the groups are enumerated. These group-enumerations are on a short scale when compared with those found in *Ṭhāṇaṃga* and *Samavāyaṃga* of the Śvetāmbara canon. This feature is seen even in Buddhist texts like *Aṅguttaranikāya.* Then various penancial practices and achievements of monks are described. The author entertains a pious desire that these prayers might bring him the destruction of miseries. This Bhakti gives a good idea of the ideal conduct expected from a Jaina monk.

ĀYARIYA-BHATTI: It contains some 10 gāthās. Here we get a description of an ideal preceptor, who initiates others on the path of liberation. The great monks are described to be patient like the earth, pleasing like water, clean like the sky and undisturbed like the ocean. Then follows the prose passage in which the aspirant salutes the five dignitaries with their characteristics, and concludingly expresses his aspirations.

NIVVĀṆA-BHATTI. It contains some 27 gāthās Here we have an enumeration of Tīrthaṅkaras and holy personages with the places where they attained Nirvāṇa; to them and to those places salutations are offered. This [p. 28:] Bhakti is important from the points of Jaina traditional mythology and geography In the prose passage we are informed that Mahāvīra Vardhamāna attained Nirvāṇa, at Pāvā, early in the morning, on Svāti-nakṣatra, at the end of the night of the 14th day of the black half of the month of Kārtika, when there were still four years minus eight and half months (?) remaining of the fourth era.[2] This passage is so similar in style that it can be put without any violation in the Śvetāmbara Jaina canon in a particular context

PAMCAPARAMEṬṬHI-BHATTI: It contains 7 verses, the first six are in Sṛagviṇī metre treated as a Mātrā-vṛtta, and the last is a gāthā. There is a prose passage at the end. Here we get the eminent characteristics of five dignitaries, and the aspirant hopes for eternal happiness.

CRITICAL REMARKS ON TEN-BHAKTIS.—Thus we have eight Prakrit Bhaktis. In the case of *Nandīśvara-Bhakti* and *Śānti-Bhakti*, we have only the concluding

---

1 Compare *Tattvārthasūtra* IX. 18

2 The passage runs thus: *imammi avasappiṇīe cautthasamayassa pacchime bhāe āuṭṭha (addhaṭṭha?) māsahīṇe vāsacaukkammi sesakālammi Pāvāe ṇayarīe Kattiyamāsassa kiṇhacaüdasīe rattīe Sādīe ṇakkhatte paccūse bhayavado Mahadi Mahāvīro Vaddhamāṇo siddhim gado* /: that means the fifth era began 3 years and 3 months and a half after the nirvāṇa of Mahāvīra. Or *āuṭṭha* might be taken as three and half as in Marāṭhī.

Prakrit passages without the Prakrit metrical Bhaktis; and there might be, I think, metrical *Naṃdīsara-* and *Saṃti-bhattis:* that gives us the required number of ten. The general outline of contents indicates that these Bhaktis are something like devotional prayers with a strong dogmatic and religious back-ground. Unfortunately there is no critical edition, nay even a correct and readable edition, of the Bhaktis. They are of utmost importance for the study of Jaina tradition; the Prakrit dialect and the contents also cannot be neglected. A critical student will immediately detect two strata in Prakrit Bhaktis: the first stratum consisting of concluding prose passages and the next of metrical Bhaktis. Both the strata cannot be from the same author and of the same age. What is substantially found in prose portions is amplified in details in metrical Bhaktis. The prose portions, when carefully read, remind us of closely similar passages in Śvetāmbara canonical texts, in their *Pratikramana* and *Āvaśyaka Sūtras* and texts like *Paṃcasutta.*[1] So here is a tract of literature which antedates the division of Jaina church, and it has been inherited, with modifications here and there, independently by Digambaras as well as Śvetāmbaras. It is no use discussing the authorship of these prose passages; they form the traditional heritage of Jaina monks; and their age is as old as Jainism itself. As to metrical Bhaktis, *Titthayara-bhatti* is common to both the sects, and that also must have been traditionally inherited. The remaining Bhaktis, too, might have been composed mainly based on traditional knowledge, and as a matter of fact, they have an appearance of antiquity. It is just imaginable that Kundakunda might have composed, or rather compiled, the metrical Bhaktis to explain and amplify the prose Bhaktis, which, too, as traditional relics, he retained at the end. In the [p. 29:] course of amplification Kundakunda might have put together many suitable verses from early tradition as inherited by him. Just to supplement the Prakrit Bhaktis and to keep pace with the growing popularity of classical Sanskrit among the Jaina monks, Pūjyapāda appears to have composed the Sanskrit Bhaktis; some of them are dignified in style, and especially *Siddha-Bhakti* is a masterpiece of logical acumen.

DAṂSAṆA-PĀHUDA[2] It contains 36 gāthās. The main topic is the glorification of and discussion about Right faith or Samyagdarśana. Ordinarily it consists in believing in the principles and catergories preached by Jinas, and really speaking it is the (realization of) self itself (19-20).[3] It is the foundation of religion and the sure step to liberation (2, 21). In its absence knowledge, conduct and austerities are not counted at their real worth (3,4, 15 etc.). The bondage of karmic sand is washed away by the water-current of Right faith (7). Right faith forms the roots of the tree of virtue (10-11). Men of Right faith deserve respect in this world and attain glories in the next (2 etc.). It is the false believer who feels no

---

1 Ed with English Introduction, Critical Notes containing extracts from Haribhadra's Commentary and English Translation by A. N. Upadhye, Kollhapur, 1934.

2 The Eight-pāhudas, *Damsaṇa* to *Sīla-pāhuḍa*, *Rayaṇasāra*, and *Bārasa-Aṇuvekkhā* are published in MDJG vol 17, the first six pāhuḍas with the Sk commentary of Śrutasāgara and the rest with only Sk chāyā.

3 In giving the analysis of Pāhuḍas etc I have given, whenever convenient, the Nos. of gāthās in brackets; this summary incorporates a free rendering, and not a literal translation, of some of the gāthās

regard for and envies the natural condition of the monks (24). Virtues are no virtues, if they are not well founded on Right faith (27). In short Right faith means an attitude of pure manifestation of consciousness (28); and, when human birth is obtained, one should not lose the opportunity of achieving Right faith by devotion to Jinas (34 etc.).

CĀRITTA-PĀHUḌA: It has 44 gāthās. The main discussion is about the cultivation of Right conduct which is quite essential for the attainment of liberation (9); it is twofold: with reference to Right faith and Self-control (5). The first should be endowed with eight virtues *nissaṃkiya* etc. (7 ff.). A man of faith is on the path of knowledge and avoids sinful acts (14). He sees the reality, realises it in its twofold aspects and avoids the breach of conduct, and thus he becomes free from karmas (17-18). The second, namely self-control, is of two kinds: one for house-holders who have stilll some paraphernalia (*parigraha*), and the other for houseless monks who have no *parigraha* at all (20). The conduct of a layman is divided into eleven stages *daṃsaṇa-vaya* etc., and consists in the practice of five *anu-vratas*, partial vows, three *guṇa-vratas*, virtual vows, and four *śikṣā-vratas*, disciplinary vows, which the author defines in detail (21-25). The conduct of a monk consists in curbing five senses, in observing five full vows, in cultivating 25 *kiriyās* (the same as *bhāvanās*, five attendant clauses of each vow) and in observing five *samitis* (*i.e.* the items of carefulness or regulation) and three *guptis* (*i.e.* the control of mind, speech and body) (27-36). He is a man of Right knowledge, discriminates Jīva from Ajīva, and he is on the path of liberation, if he rises above attachment and aversion (38).

[p. 30:] *SUTTA-PĀHUḌA:* It has 27 gāthās The contents of the sūtras are given by Arahantas, while for their proper textual form the Gaṇadharas are responsible; thus the contents are handed down from teacher to pupil (1-2). A needle with sūtra (*i. e.* thread) is not lost, so a man with (the knowledge of) sūtra (*i e.* the sacred text) is not lost in samsāra (3-4). The purport of the sacred texts, as preached by the Jina, comprises various topics such as Jīva and Ajīva; of these the man of Right faith should discriminate which is acceptable (*upādeya*) and which is rejectable (*heya*); by studying this in its ordinary and realistic aspects, one attains happiness after destroying karmic dirt (6) Being devoid of scriptural knowledge, if one leads a life without control (*sacchaṃdam*), sin is the only consequence (9) The unique path, leading to liberation, consists in giving up clothes and eating in the cavity of palms (10). The greatest regard (*vandanā*) is deserved by such monks who are self-controlled, free from sin, enduring 22 disturbances (*parīsaha*) and capable of destroying karmas, while other monks, endowed with Faith and Knowledge but still using clothes, deserve only formal greeting (*icchākāra*) (11-13). Even a hair-point of paraphernalia is harmful to a monk, he eats only once the food offered in the cavity of his palms; he is in the state in which he is born (*jaha-jāya-rūva-sariso*); and he never takes anything, not even the sesamum-husk, by his hands (17 ff.). The *nirgrantha* type is the best, then comes that of a house-holder who is spiritually advanced (20-21). The ascetic emblem prescribed for women is that she takes meals once and has a garment which she retains even when she takes meals. Women are forbidden from accepting severe types of asceticism such as nakedness, because

they are constitutionally unfit: there is a growth of subtle living beings in their organ of generation, between their breasts, in their navel and armpits; their mind is fickle and devoid of purity; they have monthly courses; and they cannot concentrate undisturbed. If they have faith, they go along the track possessed of the ascetic emblem noted above (22-25). When a man has to accept something, it should be in a little quantity. even though there is plenty of water in the ocean, only a small quantity is taken for washing purposes; those who are free from desires are free from miseries (27).

BODHA-PĀHUḌA· This pāhuḍa has 62 gāthās distributed over eleven topics which are enumerated (3-4) after the benedictory verses (1-2). 1. *āyadaṇa* (Sk. *āyatana*), spiritual or religious support or resort. The great saint, who is self-controlled in every way, who has curbed the passions etc., who is endowed with five great vows, and who, possessed of knowledge and pure meditation, has realised his self, is a religious resort or support (5-7). 2. *cediharaṃ* (Sk. *caitya-gṛham*), holy edifice: The soul, constituted of knowledge and pure with five full vows, is itself the holy edifice; according to the Jaina creed it is beneficial to six kinds of embodied beings; it serves as a means for bondage and liberation, for happiness and misery according to individuals devoted thereto (8-9). 3. *paḍimā* (Sk. *pratimā*), image or idol. The image to be worshipped represents a bondless and passionless condition; when movable, it is that of a great saint, otherwise that of a Siddha who is [p. 31:] endowed with infinite quaternity (*ananta-catuṣṭaya*), who is bodiless and free from eight karmas and above disturbances (10-13). 4. *damsaṇa* (Sk. *darśana*): Darśana is a comprehensive term comprising faith, knowledge and conduct, and shows the path of liberation. As a flower is constituted of scent, milk of ghee, so darśana is materially or corporeally constituted of Right knowledge (14-15). 5. *Jiṇabiṃba* (Sk *Jinabimba*), the idol of Jina or Arhat: It represents an embodiment of knowledge, control and passionlessness; it bestows initiation (into the order) and instruction, and serves as a cause for destroying the Karman; it deserves worship and respect (16-18). 6. *Jinamuddā* (Sk. *Jinamudrā*), the image or appearance of Jina· It is such that therein the activities of senses and passions are sealed with knowledge and unwavering self-control (19). 7 *ṇāṇa* (Sk. *jñāna*), knowledge or enlightenment: An ignorant person, like an archer without the bow, cannot hit the target of liberation He, who has the bow of firm mind, with a string of scriptural knowledge, has the arrows of triple jewel and has his attention set on the highest object, will never miss the course of liberation (20-23). 8. *deva*, the divinity: The great divinity who is free from delusion bestows on liberable souls (*bhavya*) the Dharma which is pure with compassion and asceticism which is free from all attachments (24-5). 9. *tittha* (Sk. *tīrtha*,) the holy resort· The pure Dharma, faith, control, austerities and knowledge—these are the holy resorts, and therein the great monks should take bath in the form of *dīkṣā*, initiation into the order, and *śikṣā*, instruction (26-7). 10. *Arahanta* (Sk. *Arhat*), Jina, the worshipful one· The nature of Arahanta can be meditated upon from various points of view. He is above birth and death and their antecedents, and his description should be viewed from the points of *guṇa-sthāna*, *mārgaṇa-sthāna*, *paryāpti*, *prāṇa*, *jīva-sthāna* etc. (28-36). His physical existence, in that stage, is above bodily defects and diseases (37), his flesh and

blood are white: in short he is endowed with various abnormal excellences (38-41). 11. *pavvajjā* (Sk. *pravrajyā*), asceticism. Here the author describes the nature of pravrajyā, and thereby we get a glimpse of an ideal monk. The monk should wander about being endowed with five full vows, controlling his senses and devoted to study and meditation without any desires. He should be free from attachment, conquer 22 parīsahas, be without passion and abstain from sinful activities. Friends or foes, praise or abuse, gain or otherwise, grass or gold: all these he looks upon with equanimity. He is free from disturbing factors, internal or external. He is above delusion and has come to possess virtues like faith, austerities, vows and self-control (44-7, 50, 53, 56, 58 etc.). He is naked in the form in which he is born; he wanders calmly with his arms hanging and with no weapons; and he pays no attention towards his body (51-2). He keeps with him neither internal nor external paraphernalia even to the extent of sesamum-husk (55); he does not keep company of beasts, women, eunuchs and bad characters; he never enters into unhealthy gossip, but always applies himself to study and meditation (57). He lives in deserted houses, under the trees, in parks, on the burial ground, on the top of mountain, in a mountain cave, in a dreadful forest [p. 32:] or in a dwelling place which is not specially built for him (42, 51 etc.; 43 is very obscure); stones, wood, bare ground· all these he uses for seat and bed (56). He receives food everywhere with no consideration of good or mediocre, poor or rich houses (48). The last two gāthās can be freely translated thus. That which was preached by Jinas came to be converted into words in the sacred texts in (a particular) language; the same, as (it was traditionally) understood, has been similarly preached by the disciple of Bhadrabāhu. Success to lord Bhadrabāhu, who is *suya-ṇāṇi*, a teacher knowing the text and meaning, and who knows the twelve Aṅgas and the wide extense of fourteen Pūrvāṅgas.

BHĀVA-PĀHUḌA The total strength of this pāhuḍa is 163 gāthās, and there are some additional gāthās also. The main current occupies a good deal of glorificaton of and some discussion about *bhāva*, which, here, means the purity of psychic state (*pariṇāma-suddhi* as in 5). This bhāva is primarily of three kinds: pure, auspicious and inauspicious (75 *1-3) It is *bhāvaliṅga* that is of utmost importance, and not *dravyaliṅga*, in the case of an ascetic; it is the purity of mind that makes one virtuous or vicious (2). A bhāva-liṅgī sādhu is free from attachment for body etc. and completely immune from vanity and passions, and he concentrates himself on his self (56, the way in which he concentrates is shown by those popular gāthās 57-60). A monk should become naked from inside by giving up false faith and other flaws, and then he becomes automatically a naked monk according to the commandment of Jina (73, 54). Nakedness without the purity of mind is of no value at all (55).

It is due to the absence of bhāva that the soul has wandered and is wandering in infinite saṃsāra constituted of four grades of existence (*gati*), experiencing myriads of miseries and passing through various vicissitudes of utmost agony, accidental, mental, natural and physical; therein the soul is acting under *kāndarpī* and other motives and is busy with four kinds of unhealthy gossip (7-17). The number of births undergone is so great that the milk drunk from mothers' breasts might fill an ocean, and so the tears of mothers (19-21). Many bodies were accepted

and given up, and the duration of life came to an end due to poison etc. (24-25). All things in this world were tasted and much water drunk, but still there is no satisfaction (22-23). Because of the absence of bhāva, the soul has wandered everywhere, dying various wretched births, dwelling in the dirt of maternal wombs and eating dirty fluid in childhood (31-41 etc.). Bhāva is the potent means to effect the destruction of saṃsāra.

The glories of bhāva are untold. Various virtues, religious practices, austerities, scriptural study and knowledge: all these are simply a farce in the absence of bhāva (20, 4, 5, etc. 70 etc. 87 etc. 97 etc. 105 etc. 125 etc.). This possession of bhāva brings manifold glories to the soul (126 etc.). As long as there is some ability, one should try to cultivate the purity of mind and heart by undertaking various religious practices (130 etc.). There are 363 [p. 33:] heretical creeds (*kriyāvadin* etc.) which should be given up, and one should be firm in Jainism (135, 140).

When there is no bhāva, passions actually ruin the spiritual destiny of the soul. Bāhubali's spiritual progress was hindered by his vanity, even though he had no attachment for his body. On account of *nidāna*,[1] the saint Madhupiṅga could not be a monk, and the saint Vaśiṣtha suffered misery (44-46). Bāhu, though a Jaina monk, burnt the town of Daṇḍaka due to internal hatred and fell into the Raurava-hell; so also Dīpāyana, though a monk in appearance but devoid of real merits, wandered in infinite saṃsāra (49-50). Śivakumāra, though encircled by young ladies, could put an end to saṃsāra because of his heroic and pure mind. Bhavyasena could not be a bhāvaśramaṇa (*i.e.* an ascetic with bhāva), even though he had learnt 12 Aṅgas and 14 Pūrvas, nay the whole of the scriptural knowledge; while Śivabhūti, whose bhāva was pure, attained omniscience by simply uttering *tusa-māsa* (51-3).[2] Even the fish Śālisiktha, due to impurity of mind, fell into a great hell (86). A good man, when endowed with purity of mind, is not contaminated by passions and pleasures like a lotus-leaf by water (152).[3]

1 Nidāna is a sort of remunerative hankering, it consists in hankering after future pleasures and enjoyments as a remuneration of the penances etc practised in this life. One, who wants to achieve an equanimous and peaceful voluntary submission to death (*sallekhanā*), must keep his mind free from the attitude of nidāna (*Sarvārthasiddhi* VIII, 37), which is also a kind of monomania or painful concentration (*ārtadhyāna*) (Ibidem IX, 33).

2 The words *tusa-māsa* symbolically stand for the concept that the body is absolutely distinct from the soul, like the husk from the bean, Śrutasāgara gives a story on this gāthā and explains that phrase thus· *tuṣān maṣo bhinna iti yathā tathā śarīrād ātmā bhinnah |*

3 I have put together, in this paragraph, the legendary references from *Bhāvapāhuḍa* It is necessary that all such legendary anecdotes, incidentally referred to in early Śvetāmbara and Digambara texts, should be put together to have a glimpse of the initial capital of Jaina myths Such references are found in Jaina texts like *Paiṇṇas*, *Bhagavatī Ārādhanā* of Śivakoṭi, *Mūlācāra* etc A partial attempt in this direction, mainly confined to the *Paiṇṇas* of the Śvetāmbara canon, is already made by Kurt von Kamptz in his monograph '*Uber die vom Sterbfasten handelnden altern Paiṇṇa des Jaina-Kanon*', Hamburg 1929 I have listed alphabetically all the legends from *Bhagavatī Ārādhanā* of Śivakoṭi and I find that some legends are common with *Maraṇa-samādhī Paiṇṇa* of the Śvetāmbara canon. Thus, many of these legends antedate the division of the church, and they are independently preserved by Digambaras and Śvetāmbaras.

In order to get rid of the karmas one should reflect on the nature of the self which is an embodiment of knowledge and consciousness: it should be known to be without the qualities of taste, colour, smell, touch and sound; it is sentiency itself; it is beyond inferential mark; and it has no definable shape (61 etc., 64). But from times immemorial the soul is bound by karmas of eight kinds, to the stock of which additions are made by various causes of karmic bondage such as *mithyātva* etc. (146 etc., 115); this karman can be destroyed by religious practices accompanied by purity of mind. Karman is the cause of saṃsāra. There cannot be a sprout, when the seed is burnt; similarly when the seed of karman is burnt, there can never be the [p. 34:] sprout of transmigration for those monks who have purity of mind (124). Dharma, as preached by Jinas, consists in self-concentration of a pure type free from all the flaws like attachment etc. (83, 119 etc.); and it is thereby that the saṃsāra is crossed (83). As long as the self is not realised, liberation cannot be attained, even though myriads of meritorious deeds are done (84).

This very soul becomes the higher self, when it is completely free from karmas, and comes to be designated as Jñānin, Śiva, Parameṣṭhin, Sarvajña, Viṣṇu, Caturmukha and Buddha (149). The preëminent path leading to this state of unending bliss and knowledge consists in the cultivation of triple jewel: Right faith, Right knowledge and Right conduct (30-31). The cultivation of these jewels includes, at various stages, various detailed virtues; to wit: reflection on five kinds of knowledge (65); giving up passions, pleasures and *no-kaṣāyas* (76 etc. 89); thinking over *sodaṣa-kāraṇas* which incur Tīrthaṅkara-nāma-karman (77), practising twelvefold penance and reflecting over 13 kriyās (78); practising faultless asceticism and observing twofold control; sleeping on the ground, abandoning five kinds of clothes without minding the *parīsahas* (79, 92 etc.); constant study of scriptures whose contents are preached by Tīrthankaras and which, in their textual form, are composed by Gaṇadharas (90); reflection on 12 *anuprekṣās*, 25 *bhāvanās*, seven principles, nine categories and the groups of Jīvas at various stages of Guṇasthāna (94-95); practice of nine kinds of celibacy; giving up ten kinds of coition (96), accepting only the prescribed food (101); observing five kinds of discipline (*vinaya*) and 10 kinds of *vaiyāvratya* (102-3); accepting four external liṅgas only after there is internal purity (109); not to desire for fame and glory, but simply to practise primary and advanced virtues (*mūla-* and *uttara-guṇa*) (110-11), etc. etc.[1]

In short, says the author in conclusion, Artha, Dharma, Kāma and Mokṣa proceed from purity of mind (162).

MOKKHA-PĀHUḌA. It contains 106 gāthās. The aim of the author is to discuss about the Higher self, realizing which souls attain liberation (1-3). The self is of three kinds: the external represented by sense-organs, the internal represented by psychic states, and the Higher represented by that divinity free from karmic stains etc. (4-6). The aspirant, who has a liking for and who has grasped the words of Jina and has consequently avoided unhealthy activities, should give up all

1 I have almost heaped these technical details in this paragraph only to indicate what an amount of technicalities the author handles; sometimes he explains them, but in majority of cases he takes it for granted that his hearers or readers are already acquainted with them.

that is external and be introspective, so that the Higher self might be realized (33, 38, 7 etc.). It is through sheer ignorance that this body is looked upon as self (10 etc.). *Para-dravya*, or the object external, is that which is (absolutely) different from the nature of the self: it may be living, non-living or an admixture of both. *Sva-dravya* is the self itself which is pure, free from eight Karmas, and an embodiment of knowledge (17-18). Those, who discriminate between them and give up the external, attain liberation following the path of Jinas (19).

[p. 35:] The difference between the self and the Higher self is similar to that between ore and gold (24). When external objects are avoided and the Higher self is meditated upon, the self reaches the stage of Higher self (7 etc.). Being free from pleasures and passions one should adopt jina-mudrā, *i.e.*, the appearance of a true Jaina saint (46-47) and begin meditating on the Higher self (48). To achieve a successful meditation a thorough cultivation of three jewels is quite necessary (34, 36, 37, 90 etc.). A crystal looks distorted in colour, when it is put near some foreign substance; so is the case with the soul. Unwavering and unruffled equanimity must be established in the spiritual states; then the self is itself, just on the point of evolving the Higher self (49-51, 83 etc.). Meditation is a potent means to self-realization (26 etc.). When an aspirant is steeped in meditation, unmindful of his daily routine, he becomes free from Karmas; being firm in mind, faith and conduct he attains the highest state (48 etc. 63 etc.). Even a particle of attachment is a great adversary of self-realization, and hence all out-going inclinations must be completely stopped (69, 66 etc.). One should meditate, firm like the mount Meru, on the real nature of the soul, which is an embodiment of knowledge etc. (84,86 etc.). It is only the weak and undisciplined that complain that the present time is not proper for meditation. Dharma-dhyāna is possible for monks today, and thereby better births, which anticipate liberation, can be acquired(73-78).

Right knowledge consists in discriminating Jīva from Ajīva (41); and the right knower is he who knows things as they are (58). There is tremendous difference between a man of knowledge and an ignoramous. An ignorant person might spend many births practising severe penances to destroy the karman which can be destroyed, whithin a short time, by a man of knowledge who is controlled in three ways (53 etc.). This right knowledge, coupled with austerities, leads one to liberation; one without the other is fruitless (59). A monk should abstain from all external activities, and concentrate on the real nature of the self ever maintaining his primary virtues etc. (91 etc.). The self alone is the resort or shelter, because therein are seated the five dignitaries (104).

The doctrine of Jina about bondage and liberation is, in short, that one who is attached to objects external is bound, while one who abstains from them gets rid of manifold karmas (13).

LIṂGA-PĀHUḌA: It contains 22 gāthās. In the case of monk, it is the *bhāva-liṅga* that is important; mere external appearance (*dravya-linga*) will not make one a true monk (2). A monk, if he is sinful even after accepting the emblem of a Jaina monk, ridicules the standard of asceticism and ruins his co-monks (3). If he sings and dances, is anxious and disturbed, is attached for meals, harms the earth-bodied beings and plants, and loves ladies and hates others, he is no more

a monk but a beast full of deceit and treachery and devoid of discipline and conduct (4-5, 12, 15-18). If a monk is unchaste, full of vanity, taking part in worldly activities and sins, and violates the religious virtues, he is destined to go to hell (6,9,10 etc.). [p. 36:] In a monk's appearance if one is unchaste, given to sinful thought, runs after and quarrels for food, one wanders long in saṃsāra (7-9). He is not a monk, though an ascetic in appearance, but a thief, who takes things unoffered and blames others (14). An ascetic, who eats at a harlot's and praises that food, acts like a fool, and is not a true monk (21).

SĪLA-PĀHUḌA: It is a discourse, in 40 gāthās, on Śīla, meaning conduct, character, especially chastity. Knowledge and chaste life are not incongruent; if chaste conduct is wanting, objects of senses ruin that knowledge (2). Knowledge unaccompanied by chaste conduct, asceticism without right faith and austerities without self-control are all worthless (5). Even men of knowledge wander long in saṃsāra, because they are given to pleasures; but those who are chaste can easily put an end to saṃsāra after mastering the knowledge and practising austerities. If a man of knowledge, who is given to pleasures, can go to liberation, why is it that Surattaputta, though knowing Ten-pūrvas, went to hell? Knowledge, faith, austerities and conduct bring nirvāṇa for them who lead a chaste life (7,9,11 etc. 30). It is not enough if grammatical, metrical, Vaiśeṣika, Vyavahāra (perhaps the same as Dharmaśāstra) and Nyāya Śāstras are studied (16);[1] to make human birth fruitful, a chaste life must be led; and thereby one is loved by gods (15-17).

Chaste life, or śīla, is an important factor of spiritual life: it has its attendant virtues like compassion to living beings, control, truthfulness, non-theft, celibacy, satisfaction, right-faith and knowledge (19). A dose of poison may entail death only once, but the dose of sense-pleasures involves repeated deaths and births in saṃsāra (22). Śīla, with its attendant virtues, like fire assisted by wind, burns the deposit of old Karmas (34), and then the soul becomes Siddha endowed with all the virtues (35).

CRITICAL REMARKS ON EIGHT-PĀHUḌAS—It has been ususal, possibly from the fact that Śrutasāgara wrote a commentary *en masse* on six pāhuḍas, to take the six pāhuḍas in a group, and Chappāhuda came to be looked upon,[2] through mistake, as the name of a work of Kundakunda. The last two pāhuḍas have not been, somehow or the other, commented upon by Śrutasāgara. Taking into consideration the six pāhuḍas, or even eight pāhudas, it is clear from the contents that each pāhuḍa

1 As the texts of these Pāhuḍas are not critically edited, and hence not definite, I have not taken into consideration the bearing of these gāthās on the date of Kundakunda, and, moreover, the date of our author, whose works are of a compilatory character, will have to be settled on other broader evidences than stray references like these, for, as Dr. Jacobi, in a slightly different context, puts it, 'Nothing is more common than that such details should be added as a gloss, or be incorporated even in the text, by those who transmitted it either in writing or in instructing their pupils' (SBE, 22, Introduction pp. 39-40)

2 See W Denecke's essay in *Festgabe Jacobi*, p 163 etc, perhaps Dr Winternitz follows W Denecke in his *A History of Indian Literature*, (in English) vol II p. 577, which has just reached my hands. I am not aware of any commentary on six Pāhuḍas by Amṛtacandra, though Dr. Winternitz notes his name along with that of Śrutasāgara

is meant to be an independent treatise. Each pāhuḍa has a significant title which substantially indicates the main current of the subject matter, though, as usual in traditional texts, there is [p. 37:] always scope for side-topics. In some of them like *Cāritta-* and *Bodha-pāhuḍa* the exposition of the subject matter is very systematic, while in others like *Sutta-* and *Bhāva-pāhuḍa* the contents appear to be merely compiled; that is why perhaps the ascetic emblem prescribed for women is included in *Sutta-pāhuḍa*. The same topic, in these pāhuḍas, appears in places more than one: the discussion about linga is found in *Bhāva-pāhuḍa* and in *Liṃga-pāhuḍa*. *Bhāva-pāhuḍa* is extensively varied in its contents, and it is important from various points of view: so many Jaina technicalities are simply referred to, and the author takes it for granted that his hearers are already acquainted with them; the dogmatic property of Jainism must have been quite systematically arranged in numerical groups before the days of Kundakunda, otherwise his off-hand introduction of technical terms would be meaningless; the legendary references found in *Bhāva-pāhuḍa* indicate to the presence of many Jaina mythological stories already current at the beginning of the Christian era. The manner of exposition, in all these pāhudas, is narrative and dogmatic, and the author never feels the necessity of logical defence of the principles he is enunciating; sometimes he takes resort to similes to make his appeal effective.

I am perfectly aware that it is only on the ground of current tradition that Kundakunda is accepted as the author of these pāhudas, and no evidence is coming forth, nor there is anything in these texts, taken as a whole, which should preclude us from taking Kundakunda as the author of these works. The texts of these pāhuḍas as utilised by me, could not be claimed to be critical, so there is every probability of omissions and commissions of gāthās especially in such traditional texts. W. Denecke doubts Kundakunda's authorship, but he gives no definite reasons. Dialectally he finds that six pāhuḍas are younger than *Samayasāra* etc.; but this cannot be a safe guide, unless we are guided by critical editions. The reason for the presence of Apabhraṃśa forms in these pāhuḍas, as compared with *Pravacansāra*, I have explained in my discussion on the dialect of *Pravacansāra*. It is imaginable that traditionally compiled texts might be attributed to Kundakunda because of his literary reputation; but to prove this we must have some strong evidence potent enough to cancel the current tradition. In conclusion I would say that these pāhuḍas contain many ideas, phrases and sentences which are quite in tune with the spirit and phrasiology of *Pravacansāra*.

These pāhuḍas have left great impression, a fact not unknown even to Śrutasāgara, on some of the later writers Pūjyapāda has composed his *Samādhiśataka*[1] in a systematic manner and with a stronger metaphysical tone mainly based on *Mŏkkhapāhuḍa*. Joindu also shows, in his compositions, his close acquaintance with these pāhuḍas. Many verses of Āmṛtacandra remind us of the gāthās from these pāhudas from which he quotes also. Guṇabhadra, in his *Ātmānuśāsana*,[2] follows closely many gāthās from *Bhāva-pāhuḍa* etc.

---

1 Published in Sanātana Jaina Granthamālā (SJG), Vol. I, Bombay 1905.

2 Ibid, pp. 52 etc.

RAYAṆASĀRA: It contains 162 verses, of which one is a dohā and the rest are gāthās. The author intends to give a discourse on the religious [p. 38:] duties of laymen and monks. A man of right faith always preaches what is traditionally received from the Tīrthaṅkaras through Gaṇadharas (2). Right faith is the root of the tree of liberation, and it is twofold (4); in its absence no virtues can stand (47 etc.); and it is a patent remedy against Karman (52). A man of faith is endowed with 70 virtues, and is devoid of 44 flaws (8,7). The duties of a house-holder consist in giving gifts and in performing pūjā, and those of a monk in meditation and study (11 etc.). Jinas should be worshipped, and the gifts should be given to recepients (*pātra*) who are of three kinds (15 etc., 123 etc.). Pleasurable and happy equipments, here and in the next world, are all the fruits of supātra-dāna, like seeds giving good crops when sown in fertile fields (17-30 etc.). That man, who appropriates for himself the wealth meant for *jīrṇoddhāra*, *pratiṣṭhā*, *Jinapūjā* etc., is sure to go to hell etc. (32 etc.).

Men without right faith have no discriminative faculty (40), are not devoted to religious duties, and do not meditate on the nature of the self (49 ff.). As opposed to a man of right faith, who spends his time thinking over *vairāgya* and *jñāna*, the man of perverted faith spends his time in greed, wicked thoughts, laziness and quarrels. Men of right faith are rare today, but still, as said by Jina, Dharmadhyāna is possible in the present age (57 ff.).

Inauspicious mental attitude (*aśubha-bhāva*) is inclined towards wicked and irreligious channels of activities, while the auspicious one towards meritorious and religious ones; accordingly hell or heaven is the consequence (61, 65 etc.). Auspicious attitude is attended with the suppression of passions etc., and consequently results into real self-control. A jñānin immediatly destroys his karman, and his achievements are varied (72-79).

Everywhere Bhakti or devotion is quite necessary; all the religious activities are fruitful, if one has regard or devotion towards his teachers.(83 ff.). Ascetic garb is a painful burden, if one is not directed towards self-realisation (88ff.). In order to realise *ātma-tattva* and *para-tattva*, in this age, study is a sure remedy; so one should devote oneself to the study of sacred texts which is as good as meditation (95). When one's mind is set on the Higher-self with mental, verbal and physical purity, karman is immediately destroyed (96). This is the province of a great monk who abstains from all unhealthy and irreligious activities, and absorbs himself in the self. Those who are attached to paraphernalia, like a fly stuck in phlegm, have no hope of self-realization (106,93ff.). Those monks who are self-willed, who do not live with a guru, and who, being of bad conduct, oppose the *saṅgha*, are a bane to Jainism (108). It is a great sin to dabble in worldly professions and to be attached to various items of worldly paraphernalia like *gaṇa* and *gaccha* (109 etc.). The monk should not eat anything according to his sweet will, but recieve only the proper food, which is put in the cavity of his palms (116, 120 ff.). The penancial practices should be intelligent, and there should be no hankering after popularity, respect and gain (131 etc.). Attachment is bondage and non-attachment is liberation: knowing this one should not be attached to *bahir-ātman* (134). There are so many things and relations which [p. 39·] constitute *bahir-ātman*

and must be distinguished from the real nature of the self (137-40). Realisation of the self is liberation; to achieve this end jñānābhyāsa is a great means; for the house-holder, however, 53 duties are prescribed (156-57ff). The three jewels stand for *gaṇa* and *gaccha*, the various virtues mean *saṅgha*, and *samaya* is the pure soul; the great monk should not be attached to *gaṇa* etc., but he should cultivate three jewels with its attendant virtues, so that he will soon attain liberation. (161 etc.).

CRITICAL REMARKS ON RAYAṆASĀRA.—The text of *Rayaṇasāra*, as a whole, is very badly handed down; from the footnotes which contain the results of the comparison of two MSS., it is clear that the number and the sequence of gāthās are not definite; and they might further vary, if more MSS. are collated. There are repetitions of ideas, and the arrangement is not quite satisfactory; and this might be due to the disturbance of the text by additional gāthās. It is conspicuous and not usual in the works of Kundakunda that in the middle we have a dohā and about half a dozen verses in Apabhraṃśa dialect. So far as the present shape of *Rayaṇasāra* stands, it cannot be, as whole, attributed to Kundakunda. It is just possible that the ground-work may be his; even then some evidences to that effect must be produced. There are certain points which are not quite favourable for the authorship of Kundakunda: his name is not mentioned in the colophon; some verses are in Apabhraṃśa which is abnormal in his works, no doubt there are many common ideas, but there are certain social touches which are not met with in his other works; gaṇa, gaccha, saṅgha etc. are referred to and a cryptic explanation is attempted; similes are found in his works, but the number of similes is very great here. That Kundakunda is the author of *Rayaṇasāra* should remain, I think, a point *sub judice*, until some more evidences, one way or the other, are coming forth.

BĀRASA-ANUVEKKHĀ: It contains 91 gāthās. This work deals with 12 reflections[1] which should necessarily be cultivated for the stoppage [p. 40:] of karmic influx. The following are the topics on which the monk is to reflect constantly. 1 Various paraphernalia, relatives, physical strength and beauty etc., are all tran-

1 The twelve Anuprekṣās, for various reasons the foremost being that the reflection thereon is a cause of stopping the karmic influx and that a discussion about them includes many topics of Jainism, have proved a fascinating subject with Jaina authors that much space is devoted to them in many works, and besides even independent works have been written. To note only a few. *Mūlācāra* of Vaṭṭakera has its 8th chapter devoted to this; then Kundakunda composed or compiled his *Bārasa-Aṇuvĕkkhā* which has much, even some gāthās, common with the above chapter; about 150 gāthās are devoted to this topic in *Bhagavatī Ārādhanā* of Śivakoṭi (the text mentions his name as Śivārya); in the Śvetāmbara canon, for instance, some 70 verses cover these topics in *Maraṇasamādhi Païṇṇa*, *Bārasa Aṇuvĕkkhā* of Kumāra or Kārttikeya (circa 8th century A.D) contains 489 gāthās and is solely devoted to 12 anuprekṣās; Śubhacandra in his Sanskrit *Jñānārṇava*, devotes about 195 verses to Anuprekṣās Digambara authors like Amitagati, Somadeva and Padmanandi have discussed these anuprekṣās in their works; among the Śvetāmbaras, too, works like *Dvādaśabhāvanā*, (*Jaina Granthāvalī* p 180), *Bhavanāsaṃdhi-prakarana* (*Annals* of the B. O. R I vol. XI i) are current Dhavala, in his *Harivaṃśapurāṇa* (Apabhraṃśa) refers to some work on Anuprekṣā by one Siṃhanandi which is not discovered, so far as I know, anywhere. In Kanarese, Hindi and other vernaculars, too, works devoted to Anuprekṣā are composed both by early and modern authors.

sitory; the soul alone is eternal and above all these (1-7). 2. No external things like gems, medicines, armies and weapons can rescue the soul from death; the only shelter is the self itself which is the seat of five dignitaries and an abode of Right faith, knowledge, conduct and austerities (8-13). 3. The soul is alone, alone responsible for the fruits of the acts done (14-20). 4. Relatives, friends and this body: all these constitute the object external, and are absolutely separate from the soul which is an embodiment of faith and knowledge (21-3). 5. The soul is wandering in samsāra suffering many miseries with false motives and pretended attachments; the soul, when it is free from karmas, gets out of saṃsāra (24-38). 6. This universe is threefold with hells below and heavens above that are the consequences of inauspicious and auspicious manifestations of conciousness, when there is pure manifestation, liberation is attained (39-42). 7. Everything in this world is impure, and the soul alone, when free from karman, is pure and an abode of eternal happiness (43-46). 8. Mithyātva, vowlessness, passions and various activities are the causes of karmic influx which is the cause of saṃsāra; so these causes should be removed (47-60). 9. Such religious activities, which counteract the karmic influx, should be reflected upon (61-65). 10. Further the twofold way of shedding the karmic matter should be considered (66-67). 11. Then 11 *pratimās* of a house-holder and 10 *dharmas* of a monk should be considered; the internal and external attachment should be given up, and one should meditate on the pure nature of the self (68-82). 12. Enlightenment is rare, so one should reflect on the means of attaining it (83-86). Reflection on these 12 topics is spiritually fruitful, and leads one to liberation. The subject has been thus treated, from ordinary and real points of view, by the preceptor Kundakunda (87-91).

CRITICAL REMARKS ON BĀRASA-AṆUVEKKHĀ.—The text of *Bārasa-Aṇuvĕkkhā* is not definite, as I have seen from comparison the number of gāthās varies from MS. to MS.; even the last gāthā, in which Kundakunda's name is mentioned is not found in some MSS. Whether the last gāthā is composed by Kundakunda or not cannot be said at this stage, but this much is certain that the tradition is uniform in attributing this work to Kundakunda. There is an appearance of antiquity about the text: some of the gāthās are common with the 8th chapter of *Mūlācāra* which possibly indicates that these verses are traditionally inherited; five gāthās from this work are quoted, in the same order, in *Sarvārthasiddhi* by Pūjyapāda; and the method of exposition is quite traditional and dogmatic. Many ideas and even sentences from this book are taken and elaborated in later texts on anuprekṣā.

NIYAMASĀRA[1]. It contains 187 gāthās according to the text preserved [p.41.] in the Sk. commentary of Padmaprabha Maladhārideva. The author has compo-

1 Published by Jaina Grantharatnākara Kāryālaya, Bombay 1916, this edition is accompanied by the Sk. commentary of Padmaprabha Maladhārideva and a Hindi translation of the same by Br Shitalprasadaji. Ed with English Translation etc by Uggarsain, S B.J. vol. IX, Lucknow 1931. As to the date of Padmaprabha, I would indicate here only the tentative limits of his age. In the introductory verses he mentions Siddhasena, Pūjyapāda, Bhaṭṭākalaṅka and Vīranandi-vratīndra. It is necessary to see who is this Vīranandi. We know two Vīranandis, one the author of *Candraprabhacarita* who flourished earlier than 1025 A.D., as Vādīrāja refers to him in his *Pārśvanāthacarita* composed in that year; the second Vīranandi, the author of *Ācārasāra*, comes much later

sed, following the words of Jina, this work as an excuse for self-meditation. His aim is to give some essential discussion on Three jewels which necessarily (*niyamena*) form the path of liberation (2-4). Right faith consists in believing in *āpta, āgama* and *tattvas;* after the description of the first two (5-8) follows the detailed discussion about the tattvas or principles of Jainism. Jīva is described with regard to its two *upayogas* and its natural and abnormal modifications (10-19); then further are discussed non-sentient principles, namely, matter, dharma, adharma, ākāśa and kāla; with Jīva they are called six substances, and the same are known as *astikāya*, when time or kāla is excepted (20-37). It is the duty of the soul to relinquish the objects external and pursue its own nature, since every soul, from the point of view of initial purity, is a Siddha itself (38-51). This Right faith is devoid of perverted motives.

Right knowledge is free from doubt, perversity or delusion and vacillation; and it consists in the correct understanding as to what is acceptable and what is rejectable (51-52).

Right conduct, from the *vyavahāra* or ordinary point of view, consists in observing five Mahāvratas, five Samitis and three Guptis, all of which are precisely defined (56-68); this topic is concluded with some remarks from the *niścaya* point of view (69-70) and with the description of five dignitaries, *viz.*, Arhat, Siddha, Ācārya, Upādhyāya and Sādhu (71-75). Then, in order to confirm the aspirant in his *bhedābhyāsa* or *bheda-vijñāna* (77-82), a discussion about Right conduct from niścaya-naya is set forth mainly describing the *āvaśyakas* (with their attendant reflections) such as Pratikramana (83-94), Pratyākhyāna (95-106), Ālocanā of four kinds (107-12), Kāyotsarga (119-23) (these two being the forms of *prāyaścitta* 113-118), Sāmāyika (124-33) and Parama-bhakti which is two-fold: Nirvṛti and Yoga-bhakti (134-40). An exposition on āvaśyaka, which is defined as *avasassa kamma āvassayaṃ*, is given from the realistic point of view. These rites like pratikramaṇa etc. lead a monk to *vītarāga cāritra*, passionless conduct, these are verbal rites, and one should exert one's utmost to convert them into meditational ones; the practice of āvaśyakas leads to self-realization (141-58) attended with omniscience wherein *darśana* and *jñāna* are simultaneous, just as light and heat are simultaneous in the Sun[1]. Omniscience is not merely self-illuminating. but it [p. 42:] illuminates, at the same time, other objects as well, in fact it is the essential nature of the soul The various activities of an omniscient do not involve any further karmic bondage, at the termination of his age, with all the karmas tracelessly destroyed, the liberated soul shoots up to the top of the world (*loka*), where he halts eternally because of the absence of any cause for movement, and enjoys unparallelled eternal happiness (159-83).

---

and belongs possibly to the first half of the 12th century A.D. Further in the light of Nidugall inscription (*EC*, XII, Pavugada Nos 51-52) of about 1232 A. D , I would say that Padmaprabha was a pupil of this second Vīranandi, so he might have flourished about the middle of the 12th century A D It remains to be seen, however, as to what data would be supplied by various works referred to and by different quotations in his commentary

1 Simultaneity of jñāna and darśana in an omniscient is upheld here. Siddhasena, too, in his *Sammatitarka* II, 3 ff, accepts this very position, while Jinabhadra-kṣamāśramana (*Viśeṣāvaśyakabhāṣya* 3132 ff) and a host of other Śvetāmbara authors, following their Canon, especially *Nandī, Prajñāpanā* and other texts, say that jñāna and darśana in a Kevalin are *krameṇa*, step by step, and not *yugapat* or simultaneously.

CRITICAL REMARKS ON NIYAMASĀRA.—That Kundakunda is the author of *Niyamasāra* is accepted on the authority of Padmaprabha, the only known commentator of that work. The discussion of subject matter is quite worthy of Kundakunda, and the whole atmosphere is quite in tune with other works of his. The exposition of the subject matter is very systematic, leaving aside some traditional verses here and there, as it would be clear from my analysis. For the division of the text into 12 śrutaskandhas, Padmaprabhadeva, the commentator, is responsible; with all due deference to his high-flowing spiritual muse I must say that this division has no sanction from the original text, nor does it facilitate the understanding of the text in any way; the author, it appears, never intended to have any divisions in his work. The composite character of the text, when read in the original, immediately impresses a reader; and in this respect it stands in contrast to *Bhāvapāhuda*. This work contains some traditional gāthās which are found in his other works, and also in *Mūlācāra*. So far as I understand the discussion, Kundakunda's enumeration of Āvaśyakas is thus: Pratikramana, Pratyākhyāna, Ālocanā, Kāyotsarga, Sāmāyika and Paramabhakti; it is slightly different from the traditional enumeration[1], wherein Ālocanā is absent, being possibly included in Pratikramaṇa which it precedes in actual performance,[2] and in place of Paramabhakti we have Stuti and Vandanā. Kundakunda divides Paramabhakti into two types: nirvṛti and yoga-bhakti, wherein can be the traces of Stuti and Vandanā. Either Kundakunda did not want to stick to the traditional enumeration because he was discussing the subject from niścaya-naya, or he did not find any material difference between the two enumerations, or he incorporates, in this context, some early tradition. The phrase *loya-vibhāgesu* in gāthā 17 does not refer, as I understand it, to any individual text but to a class of literatute of Lokānuyoga group; while in gāthā 94 the author decidedly refers to a text *Pratikramaṇa-sūtra* by name[3].

PAṂCATTHIYA-SAMGAHA or *PAÑCĀSTIKĀYASĀRA*[4]: It is the devotion towards the doctrine that has goaded the author to produce this [p. 43:] book for the further propagation and glorification of the creed. He proposes to deliver a discourse on *samaya;* the contents are originally given out by Śramana (Mahāvīra), and they lead the follower to liberation (2); *samaya* is defined as the *samavāya* or collocation of five astikāyas, *i.e.*, those entities that manifest, through numerous qualities and modes, their existence with extensive spatial points, *viz.*, soul (jīva), matter (pudgala), principles of motion and rest (Dharma & Adharma) and space (Ākāśa),

1 *Mūlācāra* I, 22.
2 *Mūlācāra* VII, 121 ff.
3 *Padikamaṇa-ṇāmadheye sutte jahā vaṇṇidam padikamaṇam* / etc
4 P. E. Pavolini: Il compendio dei cinque elementi—*Pamcatthiyasamgahasuttam* in *Geornale della Societa asiatica italiana*, vol. 14, pp. 1-40. Florence, 1901, with some remarks on the language, metre and MSS.: we get here the text edited with a summary of contents of each verse following Amṛtacandra's commentary; Ed. with Amṛtacandra's Sk. and Paṇḍe Hemarājajī's Hindi commentary in RJS, 1904; Ed. a second time with the addition of the Sk commentary of Jayasena, RJS, 1914; Edited with an English translation, an original commentary in English and with philosophical and historical Introduction by Prof. A. Chakravarti in SBJ, Vol. III, Arrah, 1920; Edited with a Hindi rendering of Jayasena's Sk. commentary by Br. Shitalaprasadaji from Surat.

of which the three worlds are an outcome (3-5). The same including time (Kāla) are designated as Dravyas which mutually interpenetrate and accommodate each other ever retaining their individuality, and which are so called because of their passing through various modes ever maintaining their existential character (6-9). Dravya or substance has substantiality or existence, is endowed with the triad of origination, distruction and permanence, and forms the substratum of qualities and modifications (10). Then follows a discussion on the mutual relation etc. between substance, quality and modification, and the same is illustrated in the case of Jīva, in view of the doctrine of seven-fold predication (Saptabhaṅgī) (11-22). This introductory section (*Pīthikā*) is concluded with a discussion on Time, which is Dravya but not an Astikāya, from the real and ordinary points of view (23-26).

Then the author enumerates the special characteristics of jīva and discusses them in detail both in the transmigratory and liberated conditions. The soul lives (30 ff); it is of the same size of the body it comes to occupy (33 ff.); it has consciousness (38-9) which manifests into *jñāna* and *darśana* (40-52); it is the performer of actions (53-56) and is liable for the results thereof (57-67); and lastly the soul is potent. When discussing about the *upayogas*, namely jñāna and darśana, the author deals with the relation between substance and quality stated from the Jaina point of view. This discussion about Jīva is winded up with two cryptic gāthās on the nature of Jiva in its one to tenfold aspects (71-72) In the discussion about Ajīva the author gives various types of matter down to the primary atom, the nature of which is defined in detail (73-82) Then the two Astikāyas, Dharma and Adharma, the principles of motion and rest, are taken and their characteristic functions given with illustrations (83-9). After the discussion about Ākāśa we get some gāthās on the corporeal and non-corporeal aspects of these substances (97-99). Then Kāla is discussed, and the section is concluded with two benedictory gāthās (103-4).

After having discussed about substances (Dravya) and magnitudes (Astikāya), the author proposes to discuss the same as Padārthas or categories, thus shedding light on the path of liberation which consists in the cultivation of Right faith, Right knowledge and Right conduct, which are defined in short [p. 44:] (104-7). The author enumerates the nine categories (108) and discusses them serially: Jīva, its nature and types are biologically viewed (109-23); Ajīva is defined, contrasted and its relation with Jīva discussed (124-30). Puṇya and Pāpa are defined as *śubha-* and *aśubha-pariṇāma* which must be suppressed (131-34); auspicious attachment etc. lead to meritorious, and careless conduct etc. lead to demeritorious influx of karman (135-40), for the stoppage of karmic influx one has to rise above attachment and aversion (141-3); he, who has stopped the karmic influx, if he practises penances etc., effects the destruction of karmas (144-6); it is the passionate and tainted *bhāvas* that lead to bondage (146-50), when the karmic influx is stopped and the deposit too is consumed the immediate result is liberation, wherein the soul has its innate and potential qualities completely developed (151-3).

In conclusion the author gives a beautiful appendix in which a discourse, in short, on liberation and the path of liberation is given from *vyavahāra* and *niś-caya naya* (161 etc.).

CRITICAL REMARKS ON PAÑCĀSTIKĀYA.—The text of *Pañcāstikāya,* as it is available today, is preserved in two recensions; one preserved in the Sk. commentary of Amṛtacandra and the other commented upon by Jayasena; the former contains 173 gāthās and the latter 181, the majority of additional gāthās being found in the context of upayoga-discussion. The division of the work into two Śruta-skandhas, with a *pīṭhikā* in the beginning and a *cūlikā* at the end, as proposed by Amṛtacandra, is quite proper; and helps the understanding of the text. The concluding verses of the first Śruta-skandha (103-4) and the opening formula of the next might tempt one to say that these are two independent works put together by some other hand than that of Kundakunda; no doubt that the two Śruta-skandhas are meant to be independent sections, each throwing light on the other; but Kundakunda himself has brought them together in one work as indicated by the pronoun *tesiṃ*, in the opening gāthā of 2nd Śruta., which refers to Astikāyas etc. discussed in the first; so the arrangement is by Kundakunda himself.

The word *saṃgraha* in the title indicates that it is mainly a compilation by and not a composition of Kundakunda, and there are indications in the body of the text that the author might have put together traditional verses when trying to discuss a topic in a connected manner: the characteristics of the soul are not discussed in the order in which they are enumerated in gāthā 27 etc. as it is clear from the analysis, possibly due to the fact that the author might have collected together the traditional verses, in many places the topical discussion is disturbed by the same idea repeated; some gāthās (64 etc.) are called Siddhānta-sūtrāṇi by Amṛtacandra; sometimes groups of gāthās, which are a compact body in themselves but have little connection with the context, are met with here and there (71-2); and the so called Mokṣa-cūlikā is as good as an independent section. So Kundakunda might have compiled this work out of the great range of traditional verses that he might have inherited from his teachers.

[p. 45:] *SAMAYASĀRA.*[1] The author opens his discourse with the definition of *sva-samaya* and *para-samaya*, which respectively stand for the realisation of the self as identical with Right faith etc. and with material karmas (2). When *ekatva, i e*, the oneness of the self, is realized there is no bondage at all (3); and the aim of the author is to point out this *ekatva*, the same as *bhedavijñāna,* to the best of his ability (*sva-vibhavena*) (5). The ultimate aim of every aspirant is to realise the pure soul as a knower from the Niścaya-naya. Just as we cannot make a barbarian (*mleñcha*) understand us unless talked to in his speech, so Vyavahāra point of view is quite necessary for the understanding of pure Niścaya view-point (7 etc.); Vyavahāra-naya helps the weak speech of ours, which is incapable of fully expressing the reality

---

1 Published with the Sk. commentaries of Amṛtacandra and Jayasena in Sanātana Jaina Granthamālā, Benares, 1914; published with these two Sk. commentaries and a Hindi commentary of Jayacandra in RJS, Bombay 1919, the text edited with Sk. shade, English translation and commentary by J L. Jaini in SBJ, vol. 8, Lucknow, 1930; besides, Jayacandra's Hindi commentary, which closely follows Amṛtacandra, has been published from Kollhapur, Bombay etc, Br Shitalprasada, following Jayasena's commentary, has written a Hindi commentary on this, and it is published from Surat.

(11 etc.). The pure Niścaya view-point consists in realising the self as unbound and untouched by karmas, as one, steadfast and inseparable from its attributes and not united with anything etc. The three jewels stand for that self, just as we know, believe in and follow a king, so also it should be with the self. The soul must exert to sever all attitudes of attachment as I and mine, because the absolutely pure self cannot be anything other than itself. It is not the body but the merits of the soul embodied therein that are to be praised. So infatuation with the objects external must be conquered, exhausted and completely relinquished; the Jñānin then is liberated. (14 etc.).

Ignoramuses identify the soul with various other things not being aware that they are all forms of matter from which, really speaking, the nature of the soul is absolutely different; they babble in conventional modes of speech which cannot stand for the Truth. Jīva has no material attributes, nor has it really to do anything with Jīva-sthānas and Guṇa-sthānas which are all occasioned by karman; it is only for practical purposes that they are predicated of the Jīva in its transmigratory condition. If all these material states and entities are to be identical with Jīva, the differentiating line between spirit and matter will vanish out. The adjuncts and classifications of Jīvas are the outcome of Nāma-karman (39-68).

One must realise the difference between the soul and the karmic influx, and leave off the states of anger etc., remaining in which the soul is bound by karman. When the danger of impurity is known, the soul refrains from the causes of *āsrava*. Concentrating on the nature of the soul one should consider everything as extraneous The psychic states of the spirit and the karmic transformations are naturally related, really speaking the soul is the agent of its spiritual states wherein the material stuff is transformed into [p 46:] karman; it is only from the ordinary point of view that the agency of karman is attributed to the soul. When the soul realizes itself as an embodiment of knowledge, there is no more bondage occasioned by Mithyātva etc. If it is to be said that the soul is not bound etc., we are led to absurd positions: either there is no samsāra or there is the illogical position of the Sāmkhya doctrine (117 and 122). A Jñānin experiences psychic states of knowledge and the Ajñānin the opposite of the same. One rises above various shades of view-points and statements, when he comes to realise the pure self (69-144).

Demeritorious and meritorious karmas can be compared with iron and gold fetters respectively, to get liberation one must be free from both. It is necessary that attachment should be given up, and one should absorb himself in his pure self; otherwise all penances and religious practices are fruitless. To believe in Jīva etc. is faith, to grasp them is knowledge, and to avoid attachment etc. is conduct, which together constitute the path of liberation, as they counteract Mithyātva, ignorance and passions(145-163).

Mithyātva etc., which are the psychic states of souls in transmigration, are the causes of karmic influx When the psychic state is free from passional tinge, there is no cause for bondage. A ripe fruit fallen to the ground cannot stick back to the stalk, so the karman, when once completely destroyed, cannot involve the soul in samsāra. A man of right faith, because of his discriminative ability, is above bondage (164-180).

Gold, though heated, does not lose its yellow colour; so, though operated on by karman, the Jñānin does not leave his *jñānitva;* his aim is to discriminate the pure soul from passional states. Being free from all attachments, when one concentrates oneself on his self, there is no more contact with karman and No-karman (181-192).

The pleasures etc. of a man of right faith, because of the complete absence of attachment etc. in his case, only exhaust his karmic deposit. He has fully realised that his soul is only *jñāyaka* not to be identified with anything else. Attachment etc., even to the extent of a primary atom, cause a great danger to self-realisation, even though one has mastered all the sacred texts. One should absorb oneself in his self, which is an embodiment of knowledge, and thus be satisfied: that is excellent happiness. A Jñānin, being free from attachment etc., is not rusted by karman, like a piece of gold thrown in mud; while the ignorant person is to be compared with a piece of iron. A man of faith is endowed with *niśśaṅkā* and other virtues, and is free from fear etc. (193-236).

If a man, with his body besmeared with oil, stands in a dusty place and takes exercise of various kinds, he is coated with dust; similarly a man of false faith, passing through various states of attachment etc. and acting in various ways, is bound by karmic dust. On the other hand, when the oil is removed, the dust would not stick to his body inspite of his various exercises; so a man of faith, who is not at all attached to anything, though he acts in various ways, is not bound by karman. One should be always indifferent to the effects of karman. Really speaking bondage results from [p. 47:] impure thought-activity, whether a sinful act is committed or not. Though the thought-activity proceeds from some object or the other, it is not the object but the thought-activity that is responsible for bondage (237-287)

A person, bounded in shackles, cannot get himself released, if he simply thinks of shackles without thinking of breaking them, so a man in samsāra must break the bonds of karman that he might be completely free. The chisel of self-discrimination will help him to cut off these karmic shackles, and then the pure self is realised (288-307).

In the case of an Ajñānin the fruition of karman leads to further bondage, while the Jñānin feels spiritually light, when the karman gives its fruit. It is wrong to accept absolute denial of agency in the case of Jīva as done by the Sāṃkhyas (340), because thereby the relation of cause and effect and of doer and enjoyer cannot be established. The psychic states of attachment and aversion are seen in the soul and not in material objects It is the alert sense of absolute non-attachment that raises the soul to great heights of spiritual magnanimity. Knowledge and self are perfectly identical, neither less nor more, nor knowledge can be found elsewhere, nor be identified with anyting else. Leaving all external emblems one should apply oneself to the pursuit of liberation and be ever absorbed in oneself, so that eternal bliss might be achieved.

CRITICAL REMARKS ON SAMAYASĀRA:—*Samayasāra* is considered by the Jainas to be the best work of Kundakunda, and its contents, according to the orthodox opinion, are too sacred to be read by house-holders. The reasons are quite plain: the work deals mainly with spiritual topics such as *bheda-vijñāna;* the discussion is

from Śuddha niścaya point of view, and the Vyavahāra point is explained only to avoid possible misunderstandings; and lastly the spiritual statements from Niścaya-naya may prove socially and ethically harmful to the house-holders who are almost absolutely lacking in spiritual discipline. The majority of the statements are in a reflective and meditational tone sometimes even in the first person. The aim of the author is to impress on the readers that ignorance resulting from karmic association has barred many a soul from self-realisation; so every aspirant must rise above all attachment and realise the soul as absolutely pure, sentient, omniscient and completely distinct from lifeless stuff (ajīva): this is the highest pitch of Jaina spiritual teaching. The author takes it for granted that his readers are already acquainted with Jaina terminology, and he goes on brooding over the real nature of the soul, sometimes distinguishing it from matter, sometimes discussing the nature of karman, its influx, bondage etc, and sometimes showing the way of stopping and exhausting the karman. There is a simplicity and directness in his utterances which appear like the attempts of the author to express the incommunicable which he himself has experienced. He is very fluent, jubilant and exhilarated, when he goes on reflecting on the pure nature of the self. It is no wonder, therefore, if he has not cared for what is called systematic exposition seen for instance in his works like *Cāritta-pāhuḍa*. He would repeat ideas and sentences just to make the topic [p. 48] more impressive. Here and there, when the text is read without using the commentaries one feels that groups of traditional verses are intruding on the context indicating perhaps that many traditional verses were included, when this text came to be so shaped by Kundakunda.

The author's reference to Do-kiriyāvāda in 85-6 is interesting, though it is not discussed in detail. The tenet that the soul can be the agent of its psychic states and also of karmic modifications, is not accepted by Jaina philosophers. In the Śvetāmbara canon, too, the Do-kiriyāvāda, in its various aspects, has been criticised; according to the Śvetāmbara tradition the promulgator of this creed was Ārya Ganga who flourished 228 years after Mahāvīra[1].

The next interesting reference is to the Sāṃkhya doctrine in gāthās 117, 122 and 340, by name. The position of Purusa and his relation with Prakrti are some of the weak stones in the structure of Sāṃkhya ontology. Puruṣa being ever free can never be bound; it is the Prakrti that is bound and liberated. The question can be raised, if there is no bondage why talk of liberation; and if there is no real connection between Purusa and Prakrti, how the false conception of such connection can rise? It is these points, such as Prakṛti does everything and Puruṣa is neutral without doing anything, that are attacked. The Jaina position is that the soul or spirit is the agent of various *bhāvas* or psychic states whereby there is the influx of karman leading to further bondage: when the karmas are destroyed, with their causes rooted out and the existing stock evaporated, the soul attains its natural purity constituted of eternal bliss and omniscience.

The text of *Samayasāra* has 415 verses according to Amṛtacandra's recension and 439 verses according to that of Jayasena; it is not only the question of additional

1 See *Bhagavatī-sūtra* I, ix, sūtra 75; I, x, sūtra 18; II, v, sūtra 100 etc.; also *Viśeṣāvaśyaka-bhāṣya* 2424 ff.

gāthās, but sometimes Jayasena preserves important and independent variants.; the majority are gāthās there being only 4 anuṣṭubh verses in the 9th section. Amṛtacandra divides the whole text into 9 Aṅkas with a *pūrva-raṅga* at the beginning and a *pariśiṣṭa* at the end; this devision, though not sanctioned by the author, is helpful to grasp the contents of this, the biggest work of Kundakunda.

THE DESIGNATION NĀṬAKA DISCUSSED:—Though it has been usual to call *Pañcāstikāya*, *Pravacanasāra* and *Samayasāra* as Nāṭaka-trayī, it is, in fact, *Samayasāra* alone, whose contents refer to the drama of saṃsāra in which Jīve and Ajīva are the dramatis personae playing the rôle of *āsrava* etc., that is fit to be called a nāṭaka. It is from this that all the three works which constituted the Prābhṛta-trayī came to be called nāṭakas. Amṛtacandra appears to be the first to give this designation to *Samayasāra*,[1] and he wanted to make it more appropriate by various indications scattered all over his commentary: the introductory section is called Pūrva-raṅga; the work is [p. 49] divided into Aṅkas or acts, dramatic terms like *niṣkrāntaḥ*, *praviśati* etc. are used at the end and beginning of different chapters from the end of the 2nd chapter; and he uses, here and there, other terms quite usual in Sanskrit dramas. Jayasena, too, adopts these terms, but he calls the chapters as Adhikāras.

4. PRAVACANASĀRA OF KUNDAKUNDA

a) Study of Pravacanasāra

PRAVACANASĀRA IN ORIENTAL STUDIES:—*Pavayaṇasāra* or *Pravacanasāra* of Kundakunda is a pretty popular work in Jaina circles, and copies of it would be found almost in every Digambara collection[2], but it is very lately, especially because the Digambaras were too reluctant to open their stores of books for others, that the MSS. of it fell into the hands of orientalists. Buhler knew its name as a sacred work belonging to the dravyānuyoga group of the Digambara literature[3] K. B. Pathak too referred to it as a work of Kundakunda[4]. It was the late Dr. R G Bhandarkar, that all-round brilliant and stationary Dhruva star in the firmament of oriental learning, who, in his monumental report for 1883-4, gave some excerpts from *Pravacanasāra*, and gave also the analysis of it incorporating a translation too of a few gāthās; in conclusion he compared some of the Jaina tenets with those of Sāṃkhya, Vedānta and Buddhism, and attempted a chronological

---

1 It is interesting to note that Amṛtacandra, with *Samayasāra* against his name, finds a place, as a play-wright, in M, Schuyler's *Bibliography of the Sanskrit Drama*, p 24

2 I am very thankful to Prof. H. D Velankar, Wilson College, Bombay, from whom I learn that there are 8 MSS of *Pravacanasāra* at the Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, 1 at Arrah, 2 at Mūdabidri, 3 at Sarasvati Bhavana Bombay (2 of which are used for the present edition), 1 at Bhuleśvara Jaina Mandira, Bombay, and 6 at Terāpanthi Baḍā Mandira, Jaipura. Besides, MSS of this work are available in Karanja collections (See *Catalogue of Sk. and Pk. MSS. in C P. and Berar* 1926) and also in local Maṭhas of Kolhapur and Beḷgoḷa.

3 *I. A*, Vol VII, pp. 28-9.

4 *I. A.*, Vol. XIV, pp. 14-26, there is no work named *Prābhṛtasāra* though Pathak mentions it along with *Pravacanasāra*.

evaluation of Jainism as a system. Some of his conclusions were so striking that they received almost immediate attention of and were searchingly scrutinised and criticised by Dr. Jacobi[1]; and so far as I know, his criticism never appears to have been replied to by Bhandarkar; perhaps, he had no immediate occasion for that. Further *Pravacanasāra* finds place in Strassburg collection of Digambara MSS., and is consequently noticed by Leumann.[2] Pischel, in his comparative grammar of Prakrit dialects,[3] took a grammatical notice of the gāthās quoted by Bhandarkar and came to the conclusion that the dialect should be designated as Jaina Śaurasenī. Later on, since its publication,[4] [p. 50:] *Pravacanasāra* invariably finds place in the list of important works of Jainism[5].

b) The Text of Pravacanasāra

TEXT INFLUENCED BY THE COMMENTARY.—Manuscripts of *Pravacanasāra* generally contain one or the other commentary along with the text for various reasons: among the Digambaras the practice of studying Prakrit gāthās unaided by a Sk. gloss has fallen out of use since long; the text as a whole is too difficult to be understood without a commentary, and lastly, there is already the bias that an authoritative work like *Pravacanasāra* should be studied with the help of a commentary, if a direct teacher is not available. Even if some MSS. without a commentary are available, they are so late in age that there is every possibility of their being copied from some MS. with a commentary.

TWO RECENSIONS OF THE TEXT.—The text of *Pravacanasāra* is preserved in two recensions, one along with the commentary of Amrtacandra and the other adopted by Jayasena and other commentators. According to Amṛtancandra it contains 275 gāthās divided into three Śrutaskandhas,[6] each dealing with Jñāna-tattva, Jñeya-tattva and Carana-tattva and containing 92, 108, and 75 gāthās respectively. Jayasena, however, adopts the three divisions, calling them adhikāras, following Amrtacandra whose commentay was already before him when he wrote his; but according to him the number of gāthās is larger and comes to 311, each adhikāra containing 101, 113 and 97 gāthās respectively. Thus it is clear that the recension of Amrtacandra is shorter in each section, and of this Jayasena is quite aware.[7]

---

1 SBE. XLV, Introduction p 35 etc

2 *Wiener Zeitschrift für die Kunde des Morgenlandes*, Vol. XI, pp. 297-312

3 *Grammatik der Prākrit-Sprachen* in the Grundriss etc. Strassburg, 1900

4 Edited in RJS, saṃvat 1969; published with Br. Shitalprasāda's Hindi translation of Jayasena's commentary in three vols. Vīra saṃvat 2450-52, Surat; an English translation of *Pravacanasāra* was promised by the Jaina Literature Society, London, but is not published as yet. [Since published].

5 Dr. Winternitz (*Indian Literature*, II, p 576) describes *Pravacanasāra* as a 'much prized book on Jinistic dogmatics, psychology and ethics'. Prof. A. B. Dhruva (his Introduction to *Syādvādamañjarī* in Bombay, Sk. and Pk series, p 80) describes it as 'a comprehensive survey of Jainism.'

6 This Śrutaskandha division reminds us of similar divisions in *Acārāṅga* and *Sūtrakṛtāṅga* etc. of the Śvetāmbara canon.

7 See below the discussion about Jayasena's commentary.

Jayasena has a definite[1] text before him; and he has adopted it, though the earlier commentator Amṛtacandra, whom Jayasena follows in all the philosophical discussions, adopted a shorter recension. Bālacandra, the Kannaḍa commentator, follows Jayasena. As to Prabhācandra, the copy of his commentary examined by me is defective, but it appears that his version of the text is nearer that of Jayasena than that of Amṛtacandra. Thus Amṛtacandra's recension is shorter and stands by itself.

CRITERIA OF TEXTUAL CRITICISM AND THE NATURE OF ADDITIONAL GĀTHĀS.— It is very difficult to apply objective standards and settle whether particular gāthā might have been originally included in the text by the author himself or added later on: the compilatory character of Kundakunda's works nullifies the criterion whether a gāthā fits in a particular context or not, the available MSS. are accompanied by one or the other commentary, so [p. 51:] they are already under the bias of a particular commentary; and lastly whether a gāthā can be admitted in a particular context is sure to be a subjective criterion in works like *Pravacanasāra*. It will be a reliable evidence that would make a particular gāthā of dubious authenticity, if the same gāthā appears in some other works in more fitting context; but that even is not conclusive, because so many traditional verses are likely to be independently inherited. Under these circumstances the safer way would be to indicate the contents and the general nature of these gāthās in the longer recension and see what position they occupy in the text.

BOOK I

19 *1 It is something like a gloss on the previous gāthā and does not disturb the context very much.

52 *2 It is salutationary and comes at the end of a sub-section, it is not unusual in Kundakunda's works to find a salutationary gāthā even in the middle, see for instance I, 82.

68 *3-4 These two come at the end of a sub-section, Arhat and Siddha are defined, and salutations to Siddha are offered.

79 *5-6 The topic is continued by defining Deva; the second gāthā is salutationary.

82 *7 Continuation of the salutation in the previous gāthā.

92 *8-9 Concluding and partly benedictory gāthās

BOOK II

*1 The opening maṅgala which is almost indispensable.

43 *2 When the author has said in the previous gāthā *natthi padesa tti kālassa*, one feels the necessity of further explanation, and it is fulfilled by this gāthā.

53 *3 This gāthā gives the further divisions of four life-essentials mentioned in the previous gāthā; the absence of this gāthā would not disturb the text.

1 At times Jayasena gives alternative readings of the same gāthās and interprets them twice, see, for instance, II, 46-7.

95 *4 This gāthā has some distant connection with the previous one; to a certain extent it disturbs the context; it is not included in Prabhācandra's commentary; and lastly it occurs in *Gōmmaṭasāra*, Karmakāṇḍa 163.

108 *5 Concluding salutation to Siddha etc.

BOOK III

17 *1-2 The point in the previous gāthā is amplified with an illsustration; one feels that they are quite suited to the context.

20 *3-5 Explaining the significance of abstention from *parigraha,* arguments against the use of clothing, gourd-bowl are put forth in these gāthās.

24 *6-16 Discussing about non-attention towards the body, arguments against women attaining liberation are set forth, and the ascetic emblem of a nun is described. [p. 52:]

26 *17 This gāthā tells us how a monk becomes negligent; I think it disturbs the context to a certain extent

29 *18-20 Discussing about the nature of faultless food of a monk, the faults of flesh are set forth.

39 *21 It elucidates further the same idea that is being discussed in that context.

68 *22 A bit of additional explanation; the context is not disturbed even if it is dropped; it occurs in *Pañcāstikāya* 137, where it is more fitting.

CLASSIFICATION AND SCRUTINY OF ADDITIONAL GĀTHĀS.—From the above analysis it would be clear that these gāthās can be grouped under three convenient heads first, gāthās containing salutation and benediction, *viz.*, I, *2, *4, *6, *7, *8-9; II, *1, *5, secondly, those containing explanation and amplification, *viz.*, I, *1, *3, *5, II, *2, *3, III, *1-2, *18-20, *21, *22; and lastly, those containing additional information, *viz.*, II, *4, III *3-5, *6-16, *17. In the first two groups there are some gāthās of a neutral character, *i.e.*, even if they are dropped their absence would not be felt, and even if they are present they do not materially add to the contents of *Pravacanasāra* as a whole. So it is the last group which needs strict scrutiny. The main criterion to be applied to the third group is whether the additional information given by these gāthās is or is not consistent with the contents of other works of Kundakunda, if there is any inconsistency, the gāthās will have to be looked upon as of doubtful authenticity; and if the same contents are found in other works of Kundakunda, they can be treated as acceptable, because the repetition of an idea is not abnormal in works of traditional character. The position of II, *4, especially in that particular context, is doubtful. The remonstration against the use of clothes, in III, *3-5, is only an amplification of one of the 28 primary virtues (III, 4, 8-9, etc.), and this subject is discussed in details in *Cārittapāhuḍa* (20 ff.), *Suttapāhuḍa* (17 ff.), *Bodhapāhuda* (51 ff.) and other works of his; so this topic is quite in tune with Kundakunda's discussions That women cannot attain liberation, as set forth in III, *6-16, is a topic which represents the Digambara view against that held by the Śvetāmbaras. It is not only here, but also in *Suttapāhuda* (22 ff.), that Kundakunda states his views almost in the same tone. Further, even if it is taken that he is attacking Śvetāmbaras without mentioning their name, there is no anachronism at all, because Kundakunda flourished as already seen, after this division in the

Jaina church. The contents of III, *17 have nothing special, though the gāthā disturbs the context. So, in conclusion, I do not find that there is any strong case against Kundakunda's authorship, as a composer or compiler, of these additional gāthās, excepting one or two gāthās whose position I have detected to be dubious in that context.

CRITICAL LIGHT ON THE RECENSION OF AMṚTACANDRA.—Now the immediate question that confronts us is as to why Amṛtacandra does not include these gāthās in his commentary. Textual fidality and literal translation are not the aims of his commentary; his commentary is like a *bhāṣya* where he wants simply to expound with additional touches and in a systematical manner the contents of *Pravacanasāra*. If this is his aim, naturally he would not care [p. 53:] to admit those neutral gāthās which do not substantially contribute to the contents of *Pravacanasāra*. This explains, to a certain extent, his omission of gāthās included under the first two groups; but still one desires that he should have retained gāthās like II, *1, 43 *2; III, 17 *1-2, 29 *18-20 etc.

Many early Prakrit gāthās have been followed by Amrtacandra in his works. Some of the gāthās, though not included by him in his recension of *Pravacanasāra*, are already known to him, as it is clear from the following comparison with the Sk. verses in his other works:

1. *Pravacanasāra* II, 43 *2:
   edāṇi paṃca-davvāṇi ujjhiya kālaṃ tu atthikāya tti /
   bhaṇṇaṃte kāyā puṇa bahu-ppadesāṇa pacayattam //
   Cp., *Tattvārthasāra*[1] III, 4:
   vinā kalena śeṣāni dravyāṇi Jina-puṅgavaiḥ /
   pañcāstikāyāḥ kathitāḥ pradeśānāṃ bahutvataḥ //
2. *Pravacanasāra* III, 17 *1-2:
   mucchā pariggaho cciya ajjhappa-pamāṇado diṭṭho /
   Cp., Puruṣārthasiddhyupāya[2] III, 12:
   yā mūrcchā nāmeyam vijñātavyah parigraho eṣah /
3. *Pravacanasāra* III, 29 *18-9:
   pakkesu a āmesu a vipaccamāṇāsu maṃsa-pesīsu /[3]
   saṃtattiyam uvavādo taj jādīṇam nigodāṇaṃ //
   jo pakkam apakkaṃ vā pesīṃ maṃsassa khādi phāsadi vā /
   so kila ṇihanadi piṃḍaṃ jīvānam aṇega-koḍīnaṃ //
   Cp., *Pururṣārthasiddhyupāya* 67-8:
   āmāsvapi pakvāsvapi vipacyamānāsu māṃsa-peśīṣu /
   sātatyenotpādas taj jātīnām nigotānām //
   āmāṃ vā pakvāṃ vā khādati yah spṛśati vā piśita-peśīm /
   sa nihanti satata-nicitam piṇḍam bahu-jīva-koṭīnām //

Further some of the gāthās not admitted by Amṛtacandra are very old ones, for instance: III, 17 *1-2.

---

1 Ed. SJG, Vol I.

2 Ed. in SJG, Vol I; with Hindi translation in RJS, Vīra Saṃvat 2431

3 I understand that these gāthās are found in *Saṃbodhasaptati* of Ratnaśekharasūri who flourished in the 14th century A D.

uccāliyamhi pāe iriyā-samidassa niggamaṭṭhāe /
ābādhĕjja kuliṃgaṃ marĕjja taṃ jogam āsĕjja // 1 //
ṇa hi tassa taṇṇimitto baṃdho suhumo ya desido samaye /
mucchā pariggaho cciya ajjhappa-pamāṇado diṭṭho // 2 //

Pūjyapāda quotes them in his *Sarvārthasiddhi* (VII, 13) along with the previous gāthā, namely, III, 17 of *Pravacanasāra*, Akalaṅka too quotes them in his *Rāja-vārtika*[1]; and they are quoted in *Dhavalā* commentary[2] in the midst of some two dozen gāthās only a few of which are traced in *Pravacanasāra*. Haribhadra also quotes them in his commentary on [p. 54:] *Daśaveyāliyasutta*[3] with the difference that his quotations have a Māhārāṣṭrī look, and that the last line is different. These verses have a traditional appearance, and they might be traced to a tract of literature which was once the common property of Digambaras and Śvetāmbaras.[4] There is no reason why Amṛtacandra should have left these verses some of which he has translated in his own compositions and some of which are pretty old and authoritative to both the sects; and it is not right to attribute motives to him, when the evidences are so meagre with us.

Then there remain some of the gāthās of the third group, namely III, 20 *3-5, 24 *6-16. The contents of these gāthās go against the Śvetāmbaras who sanction a begging-bowl etc. for a monk and who accept that a woman can attain liberation in the same birth. My tentative conjecture is that Amṛtacandra was too spiritualistic to enter into sectarian polemics;[5] and possibly he wanted to make

1 *Tattvārtha-Rājavārtikam*, Benares, p 275

2 Sholapur MS p 18ff.

3 See Devachanda Lalabhai Series vol 47, p. 25; the last line is read thus by Haribhadra: *jamhā so apamatto sā ya pamāa tti niddiṭṭhā /*. Śīlāṅka, who quotes these two gāthās in his commentary on *Sūtrakṛtāṅga* (Āgamodayasamiti Ed p 39), has a few different readings in the first lines, and he quotes the last line in an altogether different form: *aṇavajjo u payogeṇa savvabhāveṇa so jamhā /*.

4 I am driven to this bold surmise especially from the manner in which they are quoted in *Dhavalā-ṭīkā* That there are such verses which have been commonly inherited by Śvetāmbaras and Digambaras is quite clear from my remarks on Ten-Bhaktis etc. These two gāthās as found in Digambara texts are in the same form so far as their dialectal appearance is concerned, while as quoted by Haribhadra they show an inclination towards Māhārāṣṭrī There is no doubt that the present Śvetāmbara canon has leaned towards Māhārāṣṭrī from Ardhamāgadhī because of the constant handling of Ardhamāgadhī texts in a country where Māhārāṣṭrī was popular A comparison of such common verses between the early Śvetāmbara canon and early Digambara texts would help us to have a glimpse of original Ardhamāgadhī I am sure the counterparts of these two gāthās might be traced in the Śvetāmbara canon, especially *Paiṇṇas* and *Nijjuttis*, it is pity that most of them are not within my reach.

5 The suggestion that he might have been a Śvetāmbara does not hold water for various reasons; he accepts the 28 Mūlaguṇas which include nudity (III, 8); he does not protest against the phrase *jaha-jāda-rūva* (i e nudity, see *Uttarā.*, 22, 34) of a monk (III, 4, 6, 25); and lastly he puts those, i e, the Śvetāmbaras, who hold that an omniscient can be Nirgrantha even with clothes and can take food in morsels, under Viparīta-mithyātva (*Tattvārthasāra* V, 6); the verse in question runs thus

sagranthopi ca nirgrantho grāsāhārī ca kevalī /
rucir evaṃvidhā yatra viparītaṃ hi tat smṛtam //

his commentary, along with it the sublime utterances of Kundakunda, acceptable to all the sects by eliminating the glaring and acute sectarian attacks.

c) Summary of Pravacanasāra [1]

BOOK I

The author offers salutation to Vardhamāna, to the remaining Tīrthakaras, to the liberated souls and the great saints collectively as well as individually, [p. 55:] and lastly to the contemporary Tīrthaṅkaras in the Mānuṣa region; then he declares his intention to adopt equanimity after entering the order of ascetics whereby is attained liberation the path to which consists in Right faith, knowledge and conduct (1-6).

For the time being a substance is said to be constituted of that by which it is transformed or modified; and, therefore, the soul, when it develops Dharma, is called Dharma (8), which is a synonym for Śama or the unperturbed state of the self (7). The thing or the existing entity is always made up of substance, quality and modification: with reference to substance and modification one without the other is not possible (10); so the soul is auspicious or inauspicious when it develops those modifications, and it is pure when free from both (9). Śuddhopayoga [2] leads to liberation of self-born, eternal and supersensuous happiness, Śubhopayoga to heaven and the Aśubha to wretched human, sub-human and hellish births continuously (11-13). A saint with Śuddhopayoga has properly realised everything, is free from attachment and endowed with control and penance, and to him pleasure and pain are alike (14).

With this Śuddhopayoga the soul, free from four Ghātiya karmas, becomes omniscient and itself, and comes therefore to be called Svayambhū (15-16) An existing entity suffers origination and destruction by some or the other modification; in the state of Svayambhū too there is the collocation of origination, destruction and permanence; but there the origination is without destruction and vice versa (17-18). In this stage the soul being free from karmas, infinitely potent and supersensuous, develops, as a result of Śuddhopayoga, Knowledge (omniscience) and Happiness (19).

i). The omniscient is above bodily pleasure and pain (20): he enjoys direct vision of all objects without sensational stages in his perception (21-22). The omnipresence of omniscient knowledge is thus established. the soul, i e., the knower, and knowledge are coextensive; any infringement of coextension leads to the conclusion that either knowledge is a nonsentient function or the soul can know without knowledge (23-5); knowledge is coextensive with objects known, and the objects

---

The use of words like Nava-tattva and a mention of *Vyavahāra sūtra* (*Samayasāra* pp. 31, 33, 195, 404) *santha, aṭṭhama* fasts (*Tattvārthasāra* VII, 10) suggest, at the most, that he was closely acquainted with Śvetāmbara literature.

1 I have completely rewritten my summary which was once published in *Jaina Gazette* Vol XXV, p. 156 etc.

2 Śuddhopayoga is only svabhāva-pariṇāma, that is, the natural state of the soul free from auspicious and inauspicious manifestations of consciousness. that is how I understand it.

known comprise the whole universe. Knowledge is the function of the soul alone, and the omniscient soul can know the whole objectivity, as it were reflected in itself, though there is no mutual contact (26-29). As a sapphire enlightens the milk in which it is put, knowledge enlightens all objects, all of which, because of the omnipresence of the former, are reflected in it; in this process of direct knowing the omniscient does neither lose nor gain anything (30-32).

The knower and the knowledge are one, and knowledge is not at all an extraneous instrument; when the soul, as a knower, has its knowledge perfectly developed, all the things—of the past, present and future, and the subject, object and their modifications—are reflected presently therein (35-37). [p. 56:] The transcendental aspect of omniscience lies in its ability to know the absent and non-concrete as well, which are not perceived by indirect or mediate knowledge received through senses (38-41). This act of knowing is the natural and essential outcome of the destruction of counter-acting karmas; and therefore this as well as other activities do not make the omniscient liable, as the beings in the round-of-rebirths are, to attachment and aversion which lead to further bondage (42-6, 52).

Omniscient knowledge visualises completely and simultaneously the whole range of variegated and unequal objectivity of the present and otherwise. A single substance has infinite modes, and infinite are the classes of substances; to know them serially is an impossibility; so in order to know even a single substance with its modifications, it is necessary that one should know simultaneously the objects of three tenses and three worlds, being still immune from consequent attachment or aversion (49-52). This omniscience, which is supersensitive (*i.e.* it does not require the help of senses) in its functions, can visualise non-concrete entities, and as such it is the highest, the soul when it functions through organs of senses, with which it is endowed in its embodied state, perceives only the perceptible, and sometimes it does not; the sense organs cannot percieve simultaneously; they constitute a foreign stuff not essentially and naturally belonging to the self, and as such what is perceived by them cannot be direct to the soul; so it is only in omniscience, when the soul directly visualises the objects without the mediation of senses, there is direct (*pratyakṣa*) knowledge (53-58)

ii). That self-born, perfect and pure knowledge, which enlightens infinite things and which is free from the stages of perception, is called real happiness; omniscience is a state of happiness where there is no trace of misery because of the absence of hindering karmas; everything desirable is achieved therein, and it is appreciated by all the liberable souls; various beings in the round-of-rebirths are harassed by senses, and they try to satisfy them by yielding to them, but this pleasure of senses is misery itself, the soul is the substratum of happiness, and the bodily happiness is no happiness at all; when the soul is itself happiness, it is no use pursuing the pleasures of senses, and it is the liberated soul that has both knowledge and happiness (which are not contingent on external accessories), just as the sun has both light and warmth (59-68).

As a result of Śubhopayoga which consists in devotion to divinity, preceptor etc. and in the cultivation of philanthropy and fasts, the soul is destined to subhuman, human or divine births wherein are available various pleasures of senses.

The happiness of gods even is not self-established; simply to satisfy their physical itch they enjoy various pleasures; the enjoyment of these pleasures simply leads to further prolongation of embodied condition; their desire for sensory pleasures goes on increasing, and they are ever unsatisfied. The happiness derived through senses is dependent, amenable to disturbances, terminable and a cause of bondage and dangerous; so it should be completely eschewed. This should be thoroughly realized; attachment and aversion [p. 57:] towards various objects should be given up; the Śuddhopayoga must be cultivated, so that miseries incidental to body would disappear (69-78). Delusion is a great hindrance to self-realization; he who knows Arahanta fully and in all the aspects, knows himself, and his delusion is evaporated. All the Arahantas have destroyed Karmas and attained liberation by being free from delusion, attachment and aversion, and by realising the pure self; and they have preached also to that effect (79-82).

Delusion consists in being infatuated with various objects; one is baffled therein developing attachment and aversion which give rise to various kinds of bondage which should be destroyed; the characteristics of delusion are: perverted apprehension, cruelty unto beings and indulging with the objects of senses. This delusion can be exhausted by understanding from the scriptures the objectivity constituted of substances, qualities and modifications; and then liberation is attained. The soul is constituted of knowledge, and other things are related with it only as substances: thus the self and non-self should be understood, if the self were to realise a delusionless state of itself; he is a true saint who understands thus; and he is called Dharma, as he is free from delusion, expert in scriptures and established in conduct free from attachment (83-92).

Book II

The object of knowledge is made up of substances, which by their very nature are existential entities, which are characterised by and endowed with various qualities and modifications, and which are all the while coupled with origination, destruction and permanence without leaving their existential nature (1. 3-5), though established as an existential entity, the substance undergoes conditions of permanence, origination and destruction which are simultaneous (7-8); they take place in modifications which are possible in a substance; and hence substance is a base for all of them that are collocated therein (9-10). One modification rises and the other vanishes, but the substance is the same; the substance develops some other quality leaving the one: so both modes and qualities constitute the substance, which is ever self-existent (11-3). The relation between substance, quality and modification, is that of non-identity (*anyatva*); they are not separate, because they have no separate space-points (*pravibhakta-pradeśa*); so they cannot be present elsewhere than in a substance (14-8).

The substance which forever retains its position can be affirmed and denied, with respect to its existence, according as it is viewed from the view-point of substance or that of modification. So far as the substance is concerned there is always non-difference, but there is difference in view of the modification which pervades the substance for the time being (19, 22). According to some modification or other it is

stated that a substance exists, does not exist, is indescribable, is both or otherwise (23). The various activities lead to karmas which give their fruits; the Nāmakarman, which overpowers the [p. 58:] soul, shapes the figuration of the body etc. in a particular existence like that of man, god etc., and the soul-substance is the same individual behind these modifications that are developed by karmas. There is nothing like absolute production or destruction in this world wherein, at every moment, some modification originates and some other passes away; so this mundane existence is a flux of active change through which the soul-substance is moving (20-1, 24-8). The modificatory development in the case of the soul, which is soiled by karman from times immemorial, is of the nature of the soul, *i.e.*, sentiency; it is of three kinds: knowledge (*jñāna*), the comprehension of the objectivity; whatever is done (*karman*) by the soul; and the fruit (*phala*) which is either happiness or misery. The soul then is not the direct agent of these results, yet ordinarily they are attributed to the soul. The soul, which is itself the agent, means, action and fruit, realizes itself as pure, when passions etc. are not developed.

Substance comprises Jīva and Ajīva. Jīva is constituted of sentiency and manifestation of consciousness. Ajīve or the insentient class comprises five substances: Pudgala or matter, from the fine molecule to gross earth, possesses sense-qualities; Dharma, the principle of motion, serves as the fulcrum of motion; Adharma, the principle of rest, serves as the fulcrum of rest; Ākāśa or space gives accommodation, Kāla or time marks continuity. Of these matter alone is concrete and the rest are non-concrete, *i. e*, devoid of sense-qualities and hence not amenable to sense-perception All these substances exist in Loka or physical space in which take place transformations consisting of origination, permanence and destruction collectively or individually, while in Alokākāśa there is space alone (35-42). Time is devoid of space-points, while other substances have innumerable space-points, and hence they are called Astikāyas. A primary atom has no space-points, but it is itself the unit of measuring space-point; and the time required for a primary atom to traverse one space-point of space is called Samaya A space-point of space is capable of giving room to the atoms of all substances. All these ultimate units are not exempt from the trio of origination, permanence and destruction (43, 45-52).

The physical world or Loka is stable, eternal and full with entities endowed with space-points; this is the object of knowledge, and the knower is the soul endowed with the life-essentials, *viz.*, senses, channels of activities, duration of life and respiration, which are fashioned by material substances. The soul in its embodied condition, being bound by infatuatory and other karmas and enjoying the fruits of karmas, incurs fresh karman. Being tainted with karman it develops attachment and aversion, and incurs fresh bondage. It takes births in different grades of existence with different figuration of the body due to Nāma-karman. Real knowledge of things will rescue one from attachment and aversion (53-62).

The soul is constituted of the manifestation of consciousness which is towards perception and knowledge, and which is auspicious or inauspicious; the auspicious one is characterised by devotion to religious duties and compassion to living beings, and leads to merit, the inauspicious one is characterised [p. 59:] by sensual pleasures and passions and cruelty to beings, and leads to sin; and in the absence

of both there is the pure one which is not amenable to karmic bondage. Being free from auspicious and inauspicious manifestations one should meditate on the soul as an embodiment of knowledge and absolutely different from everything else (63-70).

The atomic interlinking is a process by itself. Atomic modifications, cohesive or arid, whether having even or odd points, get mutually interlinked when ordinarily there is the difference of two points, the minimum point being excepted; the soul is not responsible for this process (73). But the physical world is fully packed with material bodies, subtle and gross and capable of becoming karmas which, coming into contact with the passional condition of the soul, inflow into the soul (77). The four kinds of bodies are material in nature; the soul, however, is without the sense-qualities, it is all sentiency. it is beyond inferential mark, and it has no definable shape (79-80). The soul though not concrete perceives and knows concrete objects, so is the case with bondage (82). It is by the attitude of attachment and aversion that the soul is tinged, and thereby the karman binds(84). The soul has space-points wherein penetrate the karmic particles; they remain there and pass away according to the period of bondage; when the soul develops attachment there is bondage, otherwise not (86-7). The soul is absolutely different from all the embodied conditions (90 ff.). The soul is the direct agent of the developments of its consciousness and not of all those conditions constituted of material substances; thus it is not the agent of material karmas, but only of its own bhāvas which being tinged with passions receive karmas this is really speaking the doctrine of bondage, ordinarily it may be stated differently (88-97).

The real meditation on the self is possible only when all notions of attachment and mineness are completely severed. The various objects, living and non-living, are not the permanent associates of the soul which is essentially constituted of sentiency. The great saint who is completely immune from passional hindrances, being all-round rich in knowledge and happiness of all the senses together and having no functions of senses, meditates on the highest happiness (98-108).

BOOK III

The Jaina ascetic emblem is of two kinds: internal and external; the internal one which aims at liberation consists in being free from infatuation and preliminary sins, in being endowed with pure manifestation of consciousness and activities, and in having no desires at all, the external one consists in possessing a form in which one is born, in pulling out hair and moustache, in being pure, in being free from harm unto beings, and in not attending to the body. The external ascetic emblem prescribed for women, because of their natural and inherent disabilities, is of slightly different character consisting of clothing etc., and they are called nuns or Samaṇīs (5-7, 24 * 6-16).

Perfect non-attachment is a prerequisite for adopting these emblems by entering the order of monks. If one wants to escape from misery, he should [p 60:] adopt asceticism after saluting the divinity and saints, after taking leave of the family of relatives, being let off by the elders, wife and children, and being intent on the cultivation of knowledge, faith, conduct, austerities and strength. He should

approach a great and worthy teacher and request him for admission to the order, being ideally non-attached He should receive his course of duties consisting of 28 mūlaguṇas or primary virtues; he is a defaulter in case he is negligent about them; if the primary virtues are violated, in spite of his carefulness, he should report and confess before a worthy teacher and practise the prescribed lustral course, he should always see that the primary virtues are not violated. Negligent and careless activities are always harmful to living beings; it is not so much the question of objective and actual sin; and a monk of careless conduct is called a murderer of living beings, whether they are actually killed or not (1-4, 10, 8-9, 11-12, 30, 16-8).

Absolute non-attachment should be his aim He is not to be attached either to food or to fast, either to residence or to touring, or to paraphernalia, or to co-monks, or to unhealthy gossip. Attachment means bondage, and even a particle of attachment hinders the attainment of liberation; desirable or undesirable relations and objects are all equal to him; complete immunity from attachment and aversion means the destruction of karmas (13-5, 19, 39, 41-4).

He is allowed to keep only a little quantity of paraphernalia which does not involve sin and which is essential for the practice of his primary virtues. The only acceptable ascetic paraphernalia is said to consist of the bodily form with which one is born, the words of the teacher, (disciplinary) modesty and the study of sacred texts. Other articles of use, on account of his non-attachment, are sure to disturb him and his course of conduct. He should not have any attachment even for the body which he simply sustains, and yokes to austerities without concealing his ability (21-3, 20 * 3-5, 24-5, 28) A monk should be constantly applied to the study of scriptures whereby he acquires certainty of knowledge and meditational concentration. The scripture is his eye, and enlightens him on the nature of objectivity constituted of both self and non-self This scriptural study prepares him for self-discipline and self-control; and the value of the same will be heightened when he is completely non-attached (32-6, 39). The diet and tourings of the monk are proper, he takes one meal a day which is not stomachful, which is in the form in which it is obtained, which is obtained by begging and by day, and wherein there is no consideration of juices. He completely abstains from flesh and wine which involve the destruction of living beings. When the monks accept that little quantity of faultless food, it is as good as they are without food (26, 29, 29 * 18-20, 27)

If liberation is to be obtained, faith and self-control are the necessary accompaniments of scriptural knowledge. The monk should observe fivefold carefulness, control his three channels of activities, curb his senses, subdue his passion and cultivate faith, knowledge and discipline. He should stand up etc. when a great teacher arrives, and honour him according to his merits. A meritorious coascetic always deserves regard. A monk degrades himself, if he does not recognise the meritorious and if he expects reverence from those who [p. 61:] are more worthy than himself. He should keep himself aloof from monks of inferior merits and from the company of commoners; and try to stay with equals or superiors (37, 40, 47, 61-7, 70).

The monks are endowed with either auspicious or pure manifestation of consciousness; it is the pure one that is free from karmic influx. Śubhopayoga

consists in devotion to Arahantas etc., in showing affection to all the followers of the doctrine, in preaching about the doctrine, in receiving and feeding the pupils, in rendering assistance to the fourfold ascetic community, in conferring benefits on all without expecting anything in return, and in helping a co-monk if he is suffering from disease etc. He may have a talk with common people when he has to help a diseased monk. Disciplinary formalities in behaviour are not forbidden in Śubhopayoga (45, 47-56). Monks of Śuddhopayoga have grasped all things properly, have renounced attachment for external and internal paraphernalia and are not steeped in pleasures of senses (73). A monk is not to dabble in worldly professions. He should observe his course of conduct thoroughly understanding the nature of food, touring, place, time, physical labour, his forbearance and bodily condition. Devotion to ignoble persons has no beneficial results. A monk who has abstained from improper conduct, who has ascertained the reality, and who is peaceful and perfect in asceticism, will soon attain liberation, then he is pure, Siddha (31, 57-60, 72).

CRITICAL REMARKS ON PRAVACANASĀRA.—The division of *Pravacanasāra* into three Books is to be attributed to Kundakunda himself, because we have, at the beginning of each book, significant benedictory verses and because each book has its contents systematically shaped in a self-sufficient manner but still not altogether disconnected with the remaining two books.

Taking a detached view of the broad outlines of the contents, it is found that Kundakunda gives some important lessons to a novice who is just on the threshold of asceticism and wants to enter the order of coenobites It is required of him to maintain an undisturbed spiritual mood, completely abandoning Aśubhopayoga and not attaching much importance to Śubhopayoga but always intent on Śuddhopayoga, that immediately raises the individual spirit to the level of the Universal one that is completely free from karmas, infinitely potent, full of knowledge and happiness. It is a climax of spiritual evolution where the subject-object relation is not to be seen, where the individual retains its individuality, and where the spirit being endowed with omniscience is able to know and see all the objects with their modifications without any spatial and temporal limitations. In that stage transcendental knowledge and happiness are experienced eternally. This is the spiritual aim of the novice, to understand and realize it fully it is necessary that the novice must have a clear perspective of the objects of knowledge and their modificational and attributal fluctuations, of the measure of responsibility on the spirit in fashioning his own karmas, of the agency and causes of karmas, and of the nature of meditational ecstasy which would rescue the spirit from the cocoon of karmas When the aspirant is properly equipped, he enters the order, observes the primary virtues, is absolutely nonattached and passionless, is devoted to [p. 62] scriptures, maintains strict ascetic discipline, cultivates Śuddhopayoga, tries to stop the influx and to destroy the stock of karmas, and thus gradually attains that stage of self-evolved Siddha.

There are some other topics included in this work only to elucidate the above contents. The exposition is methodical, and the reader is gradually taken from one

topic to the other; repetition[1] is met with in some two or three places which might be possibly due to the inclusion of some traditional gāthās. The author is not merely a dogmatist here; at times he plays the rôle of a logician: he expects certain objections, himself raises certain questions, and tries to answer them.[2] Thus *Pravacanasāra* combines in itself an academic treatise as well as a practical manual for a novice ready to enter the ascetic order Though sometimes the ideas are repeated, there is no verbosity of style; considering the passages like the statement of Syādvāda, the definition of Jīva etc.,[3] one feels that many of his utterances are really sūtras short in form but pregnant with significance There is an ease about his discussions. Throughout the work there is the flavour of the masterly grasp of a mature mind. Such simplicity of style and directness of appeal are possible only from him who has himself tasted the ambrosia of direct spiritual experience.

d) Philosophical Aspect of Pravacanasāra

1. DOGMATICAL BACK-GROUND OR THE JAINA ONTOLOGY —The object of knowledge (artha) is made up of substances that are characterised by qualities, and with which moreover are associated the modifications (II, 1). Origination and destruction simultaneously take place in qualities and modes, when their substratum, namely the substance, permanently retains its existential character (II, 5, 7, 37 etc.) There are two classes of substances: sentient comprising Jīvas alone, and insentient (Ajīva) comprising matter (Pudgala), the fulcrum of motion (Dharma), the fulcrum of rest (Adharma), space (Ākāśa) and time (Kāla) To give their characteristics Jīva, or the soul or spirit, is constituted of sentiency and manifestation of consciousness Pudgala or matter is insentient and endowed with colour, taste, smell and touch to its last subtle condition; Dharma is the condition of movement, Adharma, the condition of rest, Ākāśa or space gives room, and Kāla or time marks the continuity Excepting Pudgala all are non-concrete or formless (amūrta), *i e*, devoid of sense qualities and not amenable to sense-perception (II, 41-2) Excepting time all the substances have got extension in space, while time occupies only one space-point, so time is not an Astikāya (II, 43) Jīvas are many· liberated or non-liberated, if non-liberated, they are found in four grades of existence and different embodiments according to their karmas Matter is found in the form of aggregates or primary atoms, and is of various kinds The ultimate indivisible unit of matter is the primary atom (paramāṇu); it is an unit of [p. 63:] space-measurement (pradeś'a). The whole world is fully packed with material bodies, subtle or gross, capable of being received as karmas or not by the soul. Dharma and Adharma are one-all-pervasive substances which are coextensive with the physical space. Ākāśa or space is of two kinds. Lokākāśa or the physical space wherein are accommodated all these substances for all the time, and Alokākāśa, nonphysical or super-physical space (which is beyond Lokākāśa) where there is nothing but mere space that extends infinitely, the ultimate unit of space is a space-point or

1 For instance the various statements of Śubhopayoga in all the three Books, see the Index.
2 Compare for instance I, 24-5, II, 81; etc
3 See II, 23, 80 etc

pradeśa which is capable of giving room to the atoms (in some cases pradeśas) of all substances. Time which marks continuity is without extension in space; the ultimate unit of time is samaya, that much period of time required for a primary atom to traverse one space-point. That which has no space-points, not even one space-point, is to be known as void, which is something other than existence (II, 35-52, 60, 76-77).

CRITICAL REMARKS ON JAINA AND SĀṂKHYA ONTOLOGY.—Jainism does not accept creation in the Nyāya-Vaiśeṣika sense or emanation, whether actual or apparent, in the Vedāntic sense. With it the world is existential and real. Since it is not created by any one on the analogy of a carpenter or a smith, the cosmic constituents enumerated by Jainism are such that they are capable of explaining the diverse phenomena by their mutual interaction. The ontological start is that of realistic dualism or even pluralism. The world of existence is constituted of two stubstances, life and non-life, which are not philosophical postulates but reals as spirit and matter which are pluralistic, constitutionally eternal, and not liable to lose or to interchange their nature. The substances like earth, water, fire, mind etc. enumerated by Nyāya-Vaiśeṣika are only forms of matter according to Jainism. The position is exactly the same in Jainism and Sāmkhya so far as the initial start is concerned, one accepting the thesis and antethesis of Jīva and Ajīva and the other of Puruṣa and Prakṛti; thus both are dualistic or even pluralistic in view of the plurality of spirits that essentially retain their individuality, but the immediate development of these two schools is interesting. Sāṃkhya dualism is undiluted, it is what Dr. Belvalkar aptly calls touch-me-not dualism; with a spirit of idealism this dualism has been maintained by the Sāṃkhya almost to a logical fallacy, while Jainism started with the same dualism but with a plain dogma that the soul is associated with matter from times immemorial. With this dogma it was easy for Jainism to explain samsāra as a remedy against which Religion was needed. That explains very well how Jainism became an institutional religion with all the necessary accessories like mythology etc. and with a philosophical background, while Sāṃkhya remained till the end only a system of intellectual pursuit. The strong realistic tone of Jainism is the result of common-sense and analytical approach to objectivity Dharma and Adharma respond to the definition of substance, becuase they exist as the neutral and conditional causes of motion and rest.[1] The two words are never used in this sense any- [p. 64:] where else, and there still remains a question why and how Jainism might have taken the liberty of using these words with this meaning. The Sāṃkhya idea that Dharma leads upwards and Adharma downwards[2] is merely the ethico-religious idea quite usual in *Gītā* and other works. In Jainism they are non-corporeal and

---

1 The conceptions of Dharma and Adharma require a thorough study. In early stages of oriental studies they were uniformly misunderstood For some important exposition of these two see Jaini. *Outlines of Jainism*, pp 22 etc , Ghoshal *Davvasamgaha* (SBJ I), pp 52 etc and appendix p. lviii; Chakravarti· *Pañcāstikāyasāra* (SBJ III), pp. 90-8, 101 etc ; Bhattacharya· *Jaina Gazette*, Vol. XXII, pp 242 etc and XXIII, pp. 285 etc.; Becharadasa· *Jaina Sāhitya Samśodhaka* III, pp. 35-42, and Jagadishachandra: *Indian Historical Quarterly* IX, 3, p 792

2 *Sāmkhyakārikā* 44

homogeneous-whole substances: Dr. Jacobi holds this as mark of antiquity of Jainism.[1] To give space is the characteristic of Ākāśa; it may be relative when it accommodates other substances; empty space also is possible according to Jainism,[2] and it is called Alokākāśa which extends infinitely beyond our physical world. Jainism and Nyāya-Vaiśeṣika agree in holding Ākāśa as all-pervading and eternal, but Jainas do not accept that sound is a quality of Ākāśa. As with the Vaiśeṣikas, time is not one and all-pervading in Jainism according to which time has a sort of atomic constitution.[3] The coordination of the ultimate units of matter, space and time is really interesting. aṇu and samaya are known to Nyāya-Vaiśeṣika systems, but pradeśa, as an unit of space, I am not aware of anywhere. That a substance is endowed with the trio of origination, destruction and permanence is peculiarly a common-sense view deduced from such patent and visible illustrations that a ring comes into existene after a bangle is melted and reshaped, still gold is there as a permanent substance. This common-sense view will have to be studied in the light of extreme philosophical idealism of Vedānta and Buddhism; according to the former the clay alone is real the individual names and forms being mere illusion, and according to the latter there is nothing as eternal behind the changing qualities which alone are perceived by us. The common-sense view appears to have been promulgated in same eastern part of India where Yājñavalkya enlightened Janaka on the doctrine of Ātman etc The realistic start never allowed any Jaina philosopher to adopt philosophical extremes.

2. SUBSTANCE, QUALITY AND MODIFICATION —Substances (dravya), qualities (guṇa) and modification (paryāya) are called the object of knowledge (I, 87). The substances which form the objectivity comprise the ego, the non-ego and the combinatory resultants of the two (I, 36). The substance forms the substratum of qualities and modifications, and it is constantly endowed with origination, destruction and permanence without leaving its existential character (I, 87; II, 3, 6, 13) It is the very nature of the substance to be amenable to these three states (II, 7); origination and destruction are simultaneous and interdependent, and are not possible in the absence of the substance (II, 8). This trio refers to modifications and qualities, and the [p. 65:] substance, as it forms the essential basis of the three, comes to be predicated of them at that moment (II, 9). The object of knowledge has always one or the other modification (I. 18). One modification originates and the other passes away, while the substance is permanent (II, 11). There is nothing as absolute production or destruction in this world what is the production of one is the destruction of the other (II, 27). That condition or state (pariṇāma), which in fact forms the nature of the substance is quality, which is a distinguishing mark too (II, 37-8). The transformation of one (form of the) object into the other is the modification with its varieties of figuration (II, 60). The substance, quality and modification are existential (II, 13); as to the relation between the three they are non-separate (aprthaktva) and non-identical (anyatva): they cannot be

1 *Outlines of Jainism* p. xxxiii.

2 See pp. 16-7 of the Translation at the end, footnote 5

3 Ibid. p 18, foot-note 1.

separate because they are the coöccupants of the same spatial extense, and they are non-identical because one is not the other (II, 14-8). To illustrate: Soul is a substance; manifestation of consciousness is its quality; and its modifications are hellish, sub-human, human and divine embodiments which are caused by Nāmakarman, or even the state of a Siddha,[1] behind all these modifications the soul is essentially the same and permanent (II, 20, 21, 25-7). The substance is one in view of its substantiality, but it comes to be manifold because of the modifications pervading it for the time being (II, 23).

EXPLANATORY REMARKS ON THE THREE:—The substances, according to Jainism, are the irreducible constituents which, being themselves existential, give an existential character to the universe. The substance can be material as well as spiritual. So primarily, in view of their livingness or otherwise, they are two, and finally the same can be six. These substances, whether viewed in their twofold types or six classes, cannot be reduced back to anything as one substance as Vedāntins do with Brahman in view. The substances are arrived at by analysing the subjective and objective existence. The substances are not immutable but subjected to constant changes in their qualities and modifications with which they are endowed. A substance divested of qualities and modifications is merely an abstraction, simply a void, and as such not accepted in Jainism. The Nyāya school, however, accepts that the substances, just at the moment of their creation, are devoid of qualities which come to be intimately related with them only later[2] Substance is the substratum of qualities and modifications; and the intelligibility of a substance depends on its qualities and modifications, because they are its determinants. The relation between these three is that of non-separateness because they subsist in the [p. 66:] same spatial extense, and of non-identity because one is not the other. Qualities and modifications can be roughly compared with inseparable and separable accidents. Quality is mainly a differentia of a substance, while the modification stands for the apparent condition or state of appearance which serves as a badge for individual discrimination. Guṇas and modifications have substance as their substratum: these three constitute a thing A thing is subjected to origination, destruction and permanence. Origination and destruction refer to modifications and qualities on the permanent bed-rock of substance. It is only the permanent that changes; without permanence there is no meaning whatsoever in change Any amount of changes in qualities and modifications can never convert the soul into non-soul and so forth.

---

1 The illustrations might be extended with reference to the remaining five substances as well. Pudgala is a substance; colour, taste, smell and touch are its qualities, and the manifold material objects like pots, pins, pens etc. are the modifications. Dharma and Adharma are substances, to serve as fulcrums of motion and rest respectively is there quality; and the actual motion and rest, as associated with various moving and stationary bodies, are their modifications Ākāśa is a substance; to give room or space is its guna; and the space individually occupied by various objects like pot, pitcher etc are its modifications Lastly Kāla is a substance, vartanā or continuity is its guna, and seconds, minutes, hours, etc , are the modifications of time

2 *ādya-kṣaṇe nirguṇam dravyaṃ tiṣṭhati* as in *Tarkabhāṣā* etc.

DISTINCTION BETWEEN GUṆA AND PARYĀYA:—This tenet of qualities and modifications as mutually distinct needs further scrutiny. Guṇas are a quite usual feature of Vaiśeṣika system; the notion of paryāya is peculiarly Jaina, though seen in its popular sense in later Nyāya works.[1] In early Jaina works, like those of Kundakunda, the notion of guṇas is very simple; gunas stand, to generalise from the illustrations, for the essential differentia of a thing, but in many later works the doctrine has been much more elaborated possibly after the manner of the Vaiśeṣika system.[2] The presence of an illustration in the Indian syllogism has been as much beneficial as harmful to the process of thinking, if it has forced thought to keep pace with and correspond to practical life, it has equally hindered abstract thinking which is beyond illustrations from practical life; and the consequence has been that a principle is evolved with a few illustrations in view, and the details go on increasing as fresh illustrations are met with If this method is kept in view, we can exactly understand the distinction drawn by Kundakunda between guṇa and paryāya Sentiency or the manifestation of consciousness is the guna of Jīva-substance, while its modifications are god-hood, man-hood etc. Corporeality (rūpitva) is the guna of pudgala or matter, and its paryāyas are manifold like wood etc. When these primary paryāyas have in turn sub-paryāyas, the position of guṇa comes to be slightly different, and we are led to the distinction something like that of the general and particular gunas. When we have further paryāyas of wood like benches, tables etc., we are not satisfied with the guna of pudgala but we try to formulate a guna or gunas of wood, or give the differentia of wood which will help us to distinguish wood from other inanimate entities This process thus goes on and on. Farther we proceed from matter, more the number of qualities constituting the differentia of a particular object. So there is sufficient justification for Kundakunda to distinguish guna and paryāya.

SIDDHASENA'S OBJECTIONS STATED —This view of Kundakunda is wholly accepted by Umāsvāti in his *Tattvārthasūtra* (V, 29, 30, 38, 41 etc.); and his work being practically a common property of Digambaras and Śvetāmbaras, this view is the most popular one. But Siddhasena, who has been a champion [p. 67] of reason and who would state whatever he finds logically valid whether the scriptures support him or not, takes a different position.[3] He attacks the position of those who accept that colour, taste, smell and touch are independent cognisable qualities that have substance as their substratum (davvānugayā). He says guṇa and paryāya are synonyms signifying the same concept. because lord Mahāvīra has described only two Nayas, Dravyārthika and Paryāyārthika, and there is no third Naya as Gunārthika which might have been necessary in case guna was different from paryāya, because the lord has preached to Gautama and others as *vannapajjavehiṃ* etc , and because the definitions of guṇa and paryāya that are given are of the same meaning, etc.

---

1 See *Nyāyakośa*, 3rd Ed , p 491 under paryāya.

2 *Ālāpapaddhati* (SJG I) pp 155 etc , Amṛtacandra's commentary on *Pravacanasāra*, p. 124.

3 See gāthās 8-14 etc of the 3rd kāṇḍa of *Sanmati-tarkaprakaraṇa*, with Abhayadeva's commentary, Ed. by Becharadas and Sukhalal, in five parts, Ahmedabad, 1930.

etc. This attack, apparently directed against the Nyāya-Vaiśeṣika, includes, by the further reference to two Nayas, even the Jaina authors like Kundakunda and Umāsvāti, because they accept only two Nayas and still maintain guṇas as distinct from paryāyas.

KUNDAKUNDA'S POSITION STATED AND SIDDHASENA'S OBJECTIONS EXPLAINED AWAY.—I am perfectly aware that the line of demarcation is a slippery ground especially because of the confusion between the Jaina and Vaiśesika positions, but so far as the position taken by Kundakunda and Umāsvāti is taken into consideration they have enough justification as shown above. Siddhasena, I think, has confused the Nyāya-Vaiśeṣika and Kundakunda's positions. The term guṇa is a blank cheque in the Sanskrit language,[1] and one has to be cautious in scrutinizing the different shades of meaning even though the same word might have been used for all practical appearance. The Sāṃkhya guṇas, for instance, are not mere qualities but something substantial.[2] According to Kundakunda guṇa is an essential differentia of a substance, and a substance without guṇa has no existence; the relation between guṇa and dravya is that of difference-in-congruency. According to Nyāya school, however, the substance in the first moment of its creation is without qualities, and only in the next moment it comes to be intimately united with them. Secondly, many of the Nyāya-Vaiśeṣika gunas like śabda etc. are no more guṇas according to Jainism but merely forms of matter.[3] Lastly, the qualitative difference in atoms corresponding to air, fire, water and earth as accepted by the Vaiśesikas is not possible according to Jainism. Thus therefore the Jaina and Nyāya-Vaiśeṣika ideas about guṇa should not be confused It is already shown how Kundakunda has clearly stated that guṇa is different from paryāya; that guṇas and paryāyas are different can be shown by an illustration as well· taking a golden pot and an earthen one, the paryāya is the same but the guṇas of gold and earth are not the same, and secondly taking a golden ring and a golden bangle, the qualities with the substratum gold are the same but the paryāyas are different. So, if paryāyas and (p. 68:) guṇas are distinct, then why not have a Guṇārthikanaya besides Dravyārthika and Paryāyārthika?. It is really an interesting and legitimate question raised by Siddhasena and needs explanation. The paryāya is an external imposition, it may be of manifold kinds; the same paryāya may be possible on different substance-grounds; the same substance may be subjected to different paryāyas at different times: and the paryāya is not essentially inherent in the very nature of the substance. The only relation between substance and paryāya is that a substance cannot be imagined without one or the other paryāya. Paryāya stands for the fluctuating aspect of substance and qualities, and requires to be stated when anything about a substance is to be said, and hence the necessity of a Paryāyārthikanaya. As distinguished from this, we have Dravyārthikanaya in which the attention is directed not towards the fluctuating

1 See *Nyāyakośa* under guṇa p. 261

2 Max Müller *Six systems of Indian Philosophy*, 1st Ed, p. 468.

3 *Pravacanasāra* II, 40 *Pañcāstikāya* (SBJ III) p. 84 etc ; and *Davvasaṃgaha* 16 (SBJ I, p. 47)

aspect of the thing but to the permanent aspect of it, namely the substance with qualities. Guṇa cannot be perceived anywhere else than in a substance; and a substance cannot be conceived without a guṇa: so one without the other is an impossibility. The guṇas being embedded in and coeval with the substance, there is no necessity of a third view-point as Guṇārthika. It would have been necessary, if the Jainas like Naiyāyikas admitted the possibility of substance without gunas at least for a while. Further the canonical references *vaṇṇa-pajjavehiṃ* and *gaṃdha-pajjavehiṃ*[1] can be thus explained. No doubt colour, taste, smell and touch are the qualities of matter or pudgala, and being inherent and essential characteristics of matter they continue to remain even upto the stage of primary atoms. As seen above the qualities too have their paryāyas or modes: the colour as a quality has five modifications such as black, blue, yellow, white and red,[2] so the phrase *vaṇṇa-pajjavehiṃ* means 'by the modifications of colour'; and there is no implication at all that the colour is a paryāya If it is to be taken as Karmadhāraya compound, the plural loses its force, vaṇṇa as a quality being only one. And moreover we do find passages in the Śvetāmbara canon[3] itself where guṇa and paryāya are distinguished [4]

(p. 69.) 3. NATURE OF SPIRIT AND MATTER, OR JĪVA AND PUDGALA.—The Jīva is essentially constituted of sentiency (cetanā) and manifestation of consciousness (upayoga) (II, 35), but from beginningless time it is already tainted with karman (II, 29). The development of its sentiency is threefold: with regard to knowledge which consists in the comprehension of the objectivity, with regard to Karma which consists in whatever is done (samāraddham) by the soul, and with regard to the fruit of Karma which is either happiness or misery, and these three are predicated of the soul (II, 31, 32, etc). Likewise the manifestation of consciousness (upayoga) is towards jñāna and darśana (II, 63) and flows in three channels, inauspicious,

1 *Bhagavatīsūtra* IVX, 4, sūtra 513.

2 I am aware that some later authors, who have confused the Jaina and Vaiśeṣika ideas, sometime call yellowness as a guṇa and sometimes as a paryāya For instance *pītatādi-paryāyena* /, *pītatādayo guṇāh* /, etc in Amṛtacandra's commentary on *Pravacanasāra* pp. 22, 99 etc The original Jaina idea was that colour is a guṇa and different colours like yellow etc are paryāyas of that guṇa, but according to Vaiśeṣikas the various colours are guṇas, so naturally the later authors confused these ideas

3 *Uttarādhyayanasūtra* 28, 6

4 The views on dravya, guṇa and paryāya of different authors like Kundakunda, Umāsvāti, Pūjyapāda, Akalanka, Haribhadra, Siddhasenasūri, Amṛtacandra, Vidyānanda, Vādidevasūri, Rājamalla and Yaśovijaya etc have been quoted extensively in a footnote on pp 631-33 of *Sanmati-prakaraṇa* (Ed Ahmedabad) Akalanka who shows a close acquaintance with the various works of Siddhasena, has in view the objections of Siddhasena The necessity of a third naya, in case guṇa was distinct from paryāya, is smoothly set aside by Akalanka by appealing to the authority of Arhatpravacana, namely, *Tattvārthasūtras* Further the substance has twofold nature general (sāmānya) and particular (viśeṣa) corresponding to which we have two nayas Lastly he would not mind, so far as his interpretation of the sūtra *guṇa-paryāyavad dravyam* is concerned even if it is taken as *guṇā eva paryāyāh* (*Rājavārtikam* p 243) Thus Akalanka, in view of his Anekānta-stand, partly accepts Siddhasena's view Haribhadra and Yaśovijaya too partly follow Siddhasena

auspicious and pure (I, 9), which respectively indicate impiety, piety and purity (I, 11 etc.). Auspicious and inauspicious channels are indicative of transmigratory condition; when the soul is free, it has the pure manifestation (I, 46). The soul in its pure condition is without sense-qualities, is all the quality of sentiency, is beyond inferential mark and has no definable shape (II, 80); but, here, being in the association of karmic matter, it has received a concrete embodiment (I, 55; II, 25). The various grades of existence to which the soul is subjected in this round-of-rebirths are due to karmas (II, 25-6). When passional conditions are developed, the soul though non-concrete is bound by karmas which are concrete, just as the soul though devoid of colour etc. is able to see colour etc. (II, 81, 82). The soul really speaking is not the direct agent of karmas but only of its states of consciousness which being already tinged with passions etc. receive the karmas (II, 91, 92, 98).

Matter is concrete possessed of sensory qualities to its last unit (II, 40) The world is full of material bodies (II, 76), and the aggregatory process is going on because of their inherent qualities of cohesion and aridness (II,71 etc). The matter-molecules capable of becoming karmas, coming into contact with passional developments of the soul, are transformed into karmas (II, 77), further they inflow into the soul and remain there binding it (II, 86). Thus the passional states give rise to bondage (II, 87-8).

Really speaking the soul is pure in view of its liberated condition, but in this saṃsāra, being already associated with karman which results into further karmas the soul in its embodied condition, comes to have many material adjuncts: the body, mind, speech are all material (II, 69-70). Matter-bodies which are transformed into karmas go to form the bodies that serve as the transmigratory equipments of the spirit, there are five such bodies. the physical, transformatory, electric, translocational and karmic (II, 78-9). The four life-essentials, namely, sense-organs, channels of activity, duration of life and respiration which characterise an embodied soul are all material being caused by the karmas (II, 55-6 etc) Thus the sense-organs too are made of matter, and the soul in saṃsāra comes to have them, whether it is born in movable (trasa) or immovable (sthāvara) bodies (I, 57, II, 90)

(p. 70·) COMPARATIVE AND CRITICAL REMARKS ON THE NATURE OF SPIRIT — Upaniṣadic texts like *Maitrāyanīya* start the creative process with Prajāpati who enters the various creatures in the form of the breath of life etc and apparently becomes the agent of everything like good and bad acts but in fact unaffected by them. But further we are told that the actual agent is another Ātman called Bhūtātman who under the influence of Prakṛti becomes manifold[1]. The first position is a thorough theistic one The second position is perhaps the modification of the first possibly under Sāmkhya influence. The second position comes nearer the Jaina idea, though the Jainas do not accept any such One Ātman which is capable of becoming manifold. Jainas and Mīmāṃsakas agree in holding that Ātman is constituted of caitanya, and that there is a multitude of separate souls. Pleasure and pain come to be experienced because of karmic association according to Jainism, while Mīmāṃsakas simply say that they are changes in the soul-stuff

1 Belvalkar & Ranade *History of Indian Philosophy* Creative period p. 337

In the condition of liberation the soul, according to Mīmāṃsā, exists without cognition, but Jainism holds that the liberated soul is an embodiment of cognition and knowledge and of all bliss: that may be one of the reasons why Mīmāṃsā and Jainism differ on the possibility of omniscience for a liberated soul. Puruṣa of the Sāṃkhya can be compared with Jaina Ātman, with the difference that Ātman in Jainism is not merely a spectator, unbound etc, but he is already bound by karmas and will one day be liberated. Sāṃkhya has a tinge of idealism.[1] Jainism is realistic, and Ātman is a substance endowed with sentiency as distinguished from pudgala or matter which is devoid of sentiency; these two constitute the objective existence with time etc The Jaina Ātman is a permanent individuality and will have to be distinguished from Buddhistic Vijñānas which rise and disappear, one set giving rise to a corresponding set. In *Brahmajālasutta* various tenets, as distinguished from Buddhistic views, have been described. the classification is subjectwise and not systemwise Jaina conceptions of spirit and matter agree to a great extent with the Sassatavāda[2] which, it is interesting to note, is attributed to Śramanas and Brāhmaṇas, and which is not correct in the eye of Ksanikavāda of Buddhism. Jainism is pluralistic and the Ātmans are many, nay infinite, and they retain their individualities even in liberation as distinguished from Advaita Vedānta wherein ultimately Ātman is one and eternal, and all other forms of existence are not real but merely the shades of the same. In the temperate monism of (p. 71·) Rāmānuja, however, the souls as individuals possess reality. Unlike in the Nyāya system the soul in Jainism is not physically all-pervasive but of the same size as that of the body which it comes to occupy Jainism does not accept any idea like the individual souls being drawn back into some Higher soul, Brahman or Īśvara, periodically

COMPARATIVE AND CRITICAL REMARKS ON THE NATURE OF MATTER.—Matter according to Jainism is an objective antethesis of spirit, it is inanimate and perceptible as against spirit which cannot be perceived by senses. That matter is concrete, gross and perceptual is a thorough realistic position, and can be vey happily contrasted with modern ideal conceptions that matter is merely the way in which a fundametally mental universe appears to our finite intelligences Both spirit and matter are reals, or to put in other words both the experiencing subject and the experienced object are real and genuine The soul in saṃsāra is already associated with matter called karman since beginningless time. This association re-

1 Dr Belvalkar· 'Sāmkhya, Realism or Idealism', *Dayānanda Commemoration volume*, Ajmer 1934 pp 19-24

2 Discussing about the nature of Siddha, Kundakunda accepts a very modest and relative position clearly stating that extremes are not acceptable In this context (see *Pañcāstikāya* 37) quite incidentally a statement is made

> *sassadam adha ucchedam bhavvam abhavvam ca suṇṇam idaram ca|*
> *viṇṇāṇam aviṇṇāṇam ṇa vi jujjadi asadi sabbhāve ||37||*

This gāthā, so far as I understand it independent of the commentators, has in view Śāśvatavāda, Ucchedavāda, Śūnyavāda and Vijñānavāda which are very often referred to in Buddhist texts (see E J. Thomas· *The History of Buddhist thought*, pp 124 etc) Ucchedavāda is said to have been the view of Ajita Kesakamabali.

minds us of the formal connection between Puruṣa and Prakṛti of the Sāṃkhya. Matter in Jainism is gross, common-place and realistic; while Sāṃkhya Prakṛti, though it evolves much that is gross as well as subtle, stands for what is ordinarily termed as undeveloped primordial matter, and it is an idealistic concept. Prakṛti is a bed of evolution, while Jaina matter is a common-place stuff amenable to multifarious modifications. Each soul is responsible for its karmic encrustation. It is said that the Maulika Sāṃkhyas accepted as many Prakṛtis as there are Puruṣas; this early Sāṃkhya position makes that system much more realistic and would bring it nearer the Jaina ideas. The Jaina term for matter is pudgala,[1] which in Buddhism means the individual, character, being and Ātman. From the shifting of its meaning[2] the word appears to be a later import in Buddhism along with Jaina terms like āsrava.[3] Some Buddhist heretics known as Vātsīputrīyas too, as Śāntarakṣita says, take pudgala equal to Ātman.[4] That body, mind and speech are all material corresponds to the Sāṃkhya view according to which they are all evolved from Prakṛti. The four kinds of Ahaṃkāras:[5] Vaikārika, Taijasa, Bhūtādi and Karmātman remind us of the four bodies in Jainism: Āhāraka, Vaikriyika, Taijasika and Kārmaṇa; the two lists are in such a close agreement that it (p. 72:) cannot be a mere accident. In explaining the phenomenon of saṃsāra, the karmic matter plays the same part in Jainism as Māyā or Avidyā in the Vedānta system. Karma is a subtle matter which inflows into the soul when the soul has been a receptacle for it under the influence of attachment and aversion. The karma doctrine, as an aspect of Jaina notion of matter, is a complex and elaborate subject by itself; still I would say here passingly that no substantial similarities of this Karma doctrine are known to me in any of the Indian systems.[6]

4. THE DOCTRINE OF THREE UPAYOGAS.—The soul is constituted of the manifestation of consciousness which is in the form of knowledge or cognition and which flows in one of the three channels: inauspicious, auspicious or pure (I, 9, 11, 63).

---

1 The Jaina commentators give its etymology thus *pūraṇa-galanānvartha-saṃjñatvāt pudgalāḥ* etc (*Rājavārtikam*, p 190) The Buddhist etymology runs thus *punti vuccati, tasmim galantīti puggalā* (PTS Pali English Dict under Puggala) The definition *pūraṇād galanād etc pudgalāḥ paramāṇavah* as given in *Viṣṇupurāṇa* agrees almost with the Jaina idea (*Nyāyakośa*, p.502).

2 Mrs C A F Rhys Davids says, "we do not know when this oddly ugly word *pudgala, puggala* came to be substituted for the older *purisa* or *pulisa*, or *puruṣa*"— etc See *Festschrift Morritz Winternitz*, Leipzig 1933, p 158

3 The Pali *pārājika* is also traced back to *pāramciya* 'which was probably a technical term with the Jainas and perhaps other Schools before it was adopted by Buddhists and applied to their own regulations'—E J Thomas· *Festschrift M Winternitz*. p 163.

4 See *Tattvasamgraha*, verses 336-349, Intro p cix

5 *Sāmkhyakārikā* 25 etc , *Sāmkhyapravacanasūtra* (Allahabad 1915) p 250 etc , Max Muller· *Six systems etc* p. 320.

6 Windisch reviewing Glasenapp's *Die Lehre vom Karman* in der philosphie der Jains nach den Karmagranthas dargestellt, Leipzig 1915, remarks " 'The doctrine of Karma is a central dogma of the Indian religions' says H. V. Glasenapp at the beginning of his foreword, but in no Brahmanic or Buddhistic work is it so extensively used as in the Jaina philosophy. Therein was the peculiar worth of the Karmagranthas. And it is clear that the technical terminology of the doctrine is taken from the old Siddhānta " (*Geschichte der Sanskrit philologie.*, in the Grundriss.)

A being of inauspicious manifestation of consciousness is steeped in sensual pleasures and passions, is given to false scriptures, evil intentions and wicked works, is cruel, and goes astray (II, 66). The inauspicious one is a cause of sinful karmic influx (II, 64; III, 45). Under the influence of this upayoga the soul wanders for long as a low graded human being, a sub-human being and a hellish one subjected to thousands of miseries (I, 12).

The auspicious manifestation of consciousness is characterised by devotion to God, ascetic or preceptor and by the practice of philanthropy, virtues, fasts etc. (I, 69) and by compassion towards all the living beings (II, 65). It incurs only the meritorious influx of karmas for the soul (II, 65; III, 45). It leads the soul to heavenly pleasures; and even if one is born as a sub-human, human or divine being there are plenty of pleasures of senses (I, 11, 70). A monk with Śubhopayoga shows a respectful behaviour towards elderly monks, offers instructions on faith and knowledge, maintains students, and helps co-monks without causing harm to any living beings (III, 47-8).

Immunity from the contagion of the above two upayogas is the characteristic of pure manifestation of consciousness which is not open to karmic influx (II, 64; III, 45) and leads to the annihilation of all the miseries (II, 89). The soul with this upayoga develops religious experience (dharma), which is a spiritual state of transcendental, self-born, super-sensuous, unparallelled, indestructible and infinite happiness and omniscience (I, 13-4). In Śuddhopayoga the physical pains are no more, and one knowing the nature of reality is above attachment and aversion, in fine he is equanimous (I, 7, 78).

COMPARISON WITH SĀMKHYA GUNAS ETC.—The condition of Śuddhopayoga is not to be sought in the round-of-rebirths, as it belongs to liberated souls who are completely immune from auspicious and inauspicious states of consciousness which characterise the pious and impious beings in this world. [p. 73:] The socio-ethical aspect of this doctrine is so apparent that one is tempted to compare it with the doctrine of three gunas of the Sāṃkhya system, which in their both classical and popular aspects have been used for explaining the socio-ethical inequalities;[1] perhaps Bhandarkar referred to this very similarity[2]. The similarity is very striking, but the dissimilar details should not be ignored. The three gunas are the constituents of Prakṛti and not of Puruṣa, the spirit, who has come to look upon himself by mistake as their agent; sometimes they are looked upon as limitations through which the absolute becomes the individual soul.[3] This fascinating Sāṃkhya terminology has influenced later Vedānta represented by works like *Pañcadaśī* where Prakṛti plays the rôle of Brahman's reflection possessed of three guṇas, elements of good, indifferent and bad, corresponding to three kinds of actions.[4] There is similarity between upayogas and guṇas so far as their moral effects are concerned. As distinguished from the Sāṃkhya view of gunas, the upayogas belong to the spirit or the Jīva according to Jainism; Śuddhopayoga

1 *Sāṃkhyakārikās* 53-4; *Anugītā* xiv 36 etc., Keith *Sāṃkhya system* p 34.

2 Collected works Vol II, p 242.

3 *Śvetāśvataropaniṣad* I, 3 and Keith *Sāṃkhya System* p 34

4 Max Müller; *Six systems* etc p. 334.

though comparable with sattva is not a positive spiritual something, but only immunity from the remaining two upayogas, in the Sāṃkhya system, guṇas are the ingredients of Prakṛti, which in turn represents an equipoise of guṇas; but in Jainism upayogas are manifested by the soul because of its being associated with karmic matter.

5. THE THEORY OF OMNISCIENCE.—Really speaking the soul (ātman) is the knower and essentially an embodiment of knowledge (II, 35, I, 28 etc.). Knowledge is the self, and knowledge cannot subsist anywhere else than in the self; self and knowledge are coëxtensive, neither less nor more (I, 23); if the self is smaller, then knowledge being insentient cannot function; if larger, it cannot know in the absence of knowledge (I, 24-5). In a sense however the self can be taken as wider than the self (I, 29), because it has other characteristics like sukha, vīrya etc. In view of its being an embodiment of knowledge, the soul is capable of knowing itself, other objects than itself and the combinatory products of the two (I, 36). But this essential knowing ability of the soul is crippled because of its long association with karmic matter (in the form of knowledge-obscuring etc), and it has come to possess the sense-organs (I, 55, II, 53). The senses are material in nature (paudgalika) and hence foreign to the real nature of the soul. Whatever is apprehended through the senses is indirect (paroksa), because the soul is not directly apprehending the object of knowledge; that would be direct apprehension (paccakkham viṇṇāṇam) when the soul apprehends all by itself without the aid of senses (I, 56-58). The sense-perception is graded and mediate (ajugavam and parokkhaṃ), because it has four stages. outlinear grasp (avagraha), discrimination (īhā), judgment (avāya) and retention (dhāraṇā) (I, 40)

[p. 74.] After manifesting pure consciousness when the soul becomes free from knowledge-obscuring, conation-obscuring, obstructive and deluding karmas, it comes to be self-constituted and possessed of omniscience (I, 15-6). This omniscience is supersensuous, therein the apprehension of the objectivity takes place directly by the soul without the aid of sense-organs; there are no sensational stages, but the apprehension is sudden and simultaneous, it is endowed with the potencies of all the senses together as it were, and there is nothing that is not visualised in omniscience. (I, 20-2). The omniscient knows and sees the whole world, the variegated and unequal objectivity of the present or otherwise, neither entering into nor entered into by the objects of knowledge, just as the eye sees the objects of sight (I, 27, 47). Omniscience operates on the objects, just as a sapphire thrown in milk pervades the whole of it with its lustre; omniscience is ubiquitous in its functions, and therefore the omniscient is called omnipresent, and all the objects are within his knowledge (I, 28-31, 35). The external objectivity does not affect him, though he sees and knows everything completely (I, 32). It is the supernatural characteristic of omniscience that therein are visualised all present and absent modifications of all those types of substances as if in the present (I, 37-39). Omniscience being an extra-sensory form of knowledge (atīndriya-jñāna) knows any substance with or without space-points, with or without form and those modifications which have not come into existence and those that are destroyed (I, 41). It is also called ksāyika-jñāna, because this knowledge is the result of the destruction

of karmas and does not involve fresh karmas (I, 42, 52). Omniscience is the only knowledge worth the name, because its apprehension is simultaneous and sudden; a single substance has infinite modes, and infinite are the classes of substances: so to know one is to know all and to know all is to know one; it is impossible to exhaust them if they were to be known one after another; thus omniscience is the only knowledge that can really grasp the objectivity (I, 48-51).

The development of omniscience is necessarily accompanied by that of perfect or absolute happiness (I, 59, 19), there is no trace of misery, since the destructive karmas are all exhausted (I, 60). As the sun has light and warmth, so the Siddha, the liberated soul, has absolute knowledge and happiness (I, 68). This happiness is independent of everything, and hence eternal, it is not physical but spiritual (I, 65). It should be completely distinguished from the pleasures of senses after which all the worldly beings are so much enamoured; the pleasures of senses are miseries in disguise, because they are dependent on something else, amenable to destruction, terminable, a cause of bondage and dangerous (I, 63-4, 76).

SOME SIDE-LIGHT ON OMNISCIENCE —This doctrine of omniscience will have to be approached and evaluated from metaphysical, psychological and religio-mystical veiw-points; and it has to be understood in the light of other corelated tenets of Jaina philosophy. The soul or spirit is essentially a knower and an eternal embodiment of knowledge as distinguished from the Nyāya school where knowledge, though belonging to the eternal [p. 75:] self, is not in itself eternal but disappears like any other act;[1] in the transmigratory condition this ability is crippled by karmas; so in the pure condition the soul must be a knower par excellence; and this knowledge will have to function irrespective of temporal and spatial limitations so patent in the process of human perception. Further the objectivity is a huge complexity with manifold modifications some present and some absent Such a complex object of knowledge cannot be justly comprehended in its entirety by a mediatory process of knowledge So, if this complex objectivity is to be thoroughly and immediately grasped, the soul must directly visualise it; that is possible only in omniscience, when the soul is completely free from all hindrances. Sense-organs are, after all, material adjuncts of the soul incurred by it as a consequence of karmas; so according to Jainism the knowledge received through senses, unlike in the Vaiśeṣika system where it is called pratyakṣa and explained as the contact between the senses and the objects of knowledge, is indirect or mediate, because the objects are not known directly and straightway by the soul or self. Thus the senses are the means of empirical knowledge which is conditioned by the limitations of time and space, which is liable to environmental and perceptual errors, and which has stages in its process of knowing. Reliable knowledge worth accepting as authoritative is possible only when the self directly knows the objectivity without the mediation of senses; and that is the condition of omniscience. The possibility of omniscience can be inductively proved: Men of different degrees of intelligence and knowledge are found in this world; what is beyond the grasp of one might very easily be understood by the other;

1 Max Muller: *Six Systems* etc., p 559

some men have some of their senses more alert and sharp than usually possible; all this means that there is the possibility of the presence of different degrees of knowledge according to proportionate subsidence and destruction of knowledge-obscuring karman. Then that condition of the liberated soul, where all the karmas are tracelessly annihilated, will have to be accepted as a state of unlimited knowledge which is the very nature of the self. In the religio-mystical experience the self when freed from karmic fetters is itself the Higher self; it is a condition of absolute knowledge which is the same as absolute happiness for which there is no parallel in this world. Knowledge and happiness are the two sides of the same shield of liberation, nay they are identical. What Vedānta puts negatively Jainism puts positively: the former links nescience with misery and the latter omniscience with eternal bliss; the Vedānta annihilates nescience by submerging the individual into the Universal, while Jainism says that the individual itself becomes universal, still each retaining its separate individuality, with this omniscient bliss, when stripped of its karmas. The omniscience is possessed by Jaina prophets like Mahāvīra and by all the liberated souls.

OMNISCIENCE OF VARUṆA.—Leaving aside the peculiar back-ground of this doctrine in Jaina philosophy, the conception of all-knowledge is a legitimate claim of human mind Some tinge of omniscience is associated [p. 76:] with the Vedic god Varuṇa. The all-encompassing blue vault above is the natural basis of Varuṇa; the sun, the eminent luminary of the sky, is his eye, his golden winged messenger; the sky can be seen from everywhere, especially so with nomadic Aryans who spent much of their time on open grounds, and so Varuṇa sits looking on all; and he easily detects the violations of his laws by men The sky is ever reflected in the great ocean, so Varuṇa is said to go in the ocean.[1] This ubiquitous character of Varuṇa brings him some tinge of omniscience, so he is said to be a witness to the flights of birds in the sky and to the path of ships in the ocean. This is physical omnipresence with a moral purpose and does not indicate any metaphysical or psychological implication; that is why perhaps this idea is not seen to be continued in later literature.

UPANIṢADS ON OMNISCIENCE.—The conception of omniscience in Upaniṣadic philosophy has to be sought under the idea of Brahman Through the course of Indo-Aryan literature, from *Ṛgveda* to the last stratum of *Upaniṣads*, the word Brahman, both neuter and masculine, has passed through various vicissitudes of meaning; once the word signified prayer, and later on the potential power in prayers and other holy acts; and further Brahman as the limitless power at the basis of all existence was an easy step; but synthetically taking into consideration the culminating point, the Brahman has both anthropomorphic and noumenal characteristics.[2] In the beginning he is identified with various elements, and later he is conceived as bliss and light and ultimately the Real of the real. Brahman is the cosmic base, or the world-ground as Hume puts it, of all phenomena which are merely his various aspects. Brahman is everything, it is permeation, it is identity; besides him there

1 Macdonell. *Vedic Mythology* pp. 22 etc.

2 Belvalkar and Ranade: *History of Indian Philosophy*, Creative Period, pp. 351 etc.

is nothing real 'The phenomenal is a part of the Real, but only a fragment of the totality of the real'.[1] This searching insight of the Upanisadic philosophers has brought them to a peculiar stand of awareness: whatever is around the subject, the phenomenal world including the subject, is illusory; and what is noumenal, the Brahman, is unknowable, and it is truly beyond expression When the limited individual, realizing himself as one with the cosmic spirit *viz.*, Brahman, knows this, he knows everything in fact. The omniscience or all-knowledge, according to *Upaniṣads*, would come to mean the complete negation of nescience, the cosmic illusion, by fully grasping the underlying reality, the Unity. This omniscience is Brahman-knowledge for which senses, thought and instruction are no means at all; it is a state of the supreme bliss of Turīyāvasthā. The Vedāntic Brahman has no appreciable individuality in a finite sense; he is an all-embracing and all-pervading individuality; or better the cosmic principle standing for all that exists, is intelligent and is bliss, with the monist it is unique with no second; and with Śaṁkara whatever else that appears to be besides him is simply a figment of nescience In this Vedāntic conception which is thoroughly idealistic, the [p. 77·] objectivity is not outside the knower, while for Jaina omniscience, there is a complex external objectivity infinitely extended over both time and space which the omniscient has to visualise as easily as the eye does the object of sight. In Jainism, because of its notion of pluralism of spirits, the self retains its individuality even in the stage of omniscience and eternal bliss, while in Vedānta Brahman is all with no scope for individual spirits. In Vedānta Brahman, who is one without a second, is alone omniscient, while in Jainism many spirits might function as omniscients mutually interpenetrating without any conflict. In all this the realistic tone of Jainism is quite apparent.

OMNISCIENCE ACCORDING TO BUDDHISM —Buddhism has claimed omniscience for Buddha, and Śāntarakṣita holds that Buddha's omniscience is justified because of the correctness and validity of the doctrines propounded by him, because Buddha was free from the veil of suffering, and because he had destroyed the veil covering the transcendental truth. The unbounded compassion of Buddha even to a śūdra is a characteristic of his omniscience. Men ordinarily know only the general, while Buddha knows all the particular details. When Buddha sees them he is not stained by dirty contacts, he sees them keeping his mind untainted. His mind is endowed with super-normal excellence, so he sees everything clearly. So far as the personalistic note is concerned Jainism and Buddhism agree in the interpretation of omniscience, and their respective teachers are claimed to be omniscient. The Jaina claim of omniscience, however, for Mahāvīra that he was 'omniscient, all-seeing and possessed of complete knowledge and sight; that whether walking or standing, asleep or awake, knowledge and insight were continually present' has been ridiculed by Buddhists Buddha's claim of omniscience is of a slightly different character: he remembers past lives as far back as he wishes, he can see the death and birth of beings according to their karmas; and as a result of the destruction of āsava he has attained, in this life,

1 Hume *Thirteen Principal Upaniṣads*, Intr p 37

a free mind and knowledge.[1] All the Jaina implications of omniscience cannot be read in Mahāyāna Buddhism, especially Śūnyavāda and Vijñānavāda, because both of them are idealistic as opposed to Jainism which is realistic. The soul in Jainism being the sole knower can claim omniscience as its legitimate essence, while the momentary stream of consciousness in Buddhism can never be a substantial substitute for the Jaina soul. The omniscient Tīrthakara has round about him the complex object of knowledge (including his self) with manifold modifications extending over three times and infinite space: but according to Vijñānavāda there is nothing in this world besides the chain of consciousness. Thus the Vijñānavāda, if I would say like that, comes round to Upaniṣadic monism; and omniscience simply amounts to self-knowledge, because nothing exists beyond vijñāna. And Buddha is claimed as omniscient, because that would give infallibility to his utterances[2].

KUMĀRILA'S ATTACK ON OMNISCIENCE.—Kumārila has adversely [p. 78:] criticised the doctrine of omniscience; so the Pūrvamīmāṃsā view is worthy of note; and it will have to be studied in the context of some of the special tenets of that school. With the Pūrvamīmāṃsā Vedic injunctions are of the highest authority; the performance of the sacrifice is the highest duty which when performed gives rise to some unprecedented cosmic potency (apūrva), 'a potential after state of acts', which brings about all the fruits for the performer of the sacrifice. These tenets cannot allow any one to claim omniscience for the simple reason that if any one were to be omniscient outside the Vedic fold, his words would be looked upon as infallible and the Vedic authority would be questioned. Kumārila says that the human being might see only the general aspect of things, and hence it is not possible to believe that a man can see all things in all places and of all times. The omniscient will have to be a dirty being, because, being necessitated by the function of seeing, he will have to come into contact with so many dirty things. There is a limit to visionary or knowing ability, and it cannot be stretched beyond that; so none can be able to see things which are supersensuous. None of the five proofs can justify any one's omniscience. The so called omniscients do not agree among themselves; their words are against Vedas whose authority is unquestionable; and no omniscient is ever come across by anybody: so omniscience is an impossibility [3] The all-knowledge attributed to Brahman means only self-knowledge. This attack of Kumārila has twofold handicaps: first, his hands are tied down by the above tenets of his school, and secondly, he has not distinguished sense-perception from omniscience; he attacks omniscience as if it is sense-perception intensified and magnified. Kundakunda has plainly told us that senses have no part to play in omniscience; it is the spirit, being a knower by nature and essentially constituted of knowledge, that comes face to face with the complex reality, and comprehends it immediately and simultaneously in its entirety with no effort on his part and with no effect on his spiritual constitution.

---

1 See E. J Thomas: *The History of Buddhist Thought*, p. 148

2 *Tattvasamgraha*, G O S xxx, pp 815-936, Intro pp 45-50, 153-6 and 62-4

3 *Ślokavārtika* verses 111 etc

OMNISCIENCE ELSEWHERE AND OMNISCIENT BLISS.—The creating Īśvara of the Nyāya school is omniscient, because the doer or kartā must know his actions with their causes, and the universe being an object of knowledge must be known by somebody. Partial counterparts of and similarities with this notion might be detected in the Alaukika-pratyakṣa of the Nyāya school and in the Samādhi-aprajñāta meditation and some meditational achievements of the Yoga school. There is another aspect of omniscience emphasized by Kundakunda that it is a spiritual state of eternal bliss. It is essentially the spiritual happiness; the senses have no scope there, for their happiness or pleasure is not independent as it is contingent on the conjunction of two entities. If it is once realised there is no end to that. It is attainable only after the destruction of various hindering karmas. In this state knowledge and bliss are identical, because both of them are identical with the self This condition is possible for a Tīrthakara and a Siddha It is to be aspired after by religious aspirants. This state can be happily compared with, so far as its reference to [p. 79.] an individual is concerned, the Jīvan-muktāvasthā of Sāmkhya and Vedānta,[1] in which Ātman has been Brahman but is waiting till the journey of the mortal body is over and the upādhis are mitigated; in this condition there are no pains, no actions good or bad.[2] So far as its blissful aspect is concerned, it is similar to Upaniṣadic Turīyāvasthā where self-conscious bliss is attained.[3] This state of Brahmānanda is set forth in *Taittirīyopaniṣad* with an attempt to measure the bliss with empirical standards; we get there the perfect identity of Brahman and Ātman, and in the end there is a classical passage recording the ecstatic echo of the aspirant who is one with Brahman This aspect of omniscience, in fact, partly encroaches on the realm of religious mysticism.

OMNISCIENCE COMPARED WITH RADHAKRISHNAN'S RELIGIOUS EXPERIENCE.—This spiritual life of omniscience and omnibliss is almost exactly the same as what Radhakrishnan calls Religious experience.[4] It is a positive spiritual state of self-transcendence, there the individual acts by his whole being, by the totality of his faculties and energies, it is not the result of unconscious perversion but of spiritual superconsciousness,there is the response of the whole to the whole; and therein 'thought and reality coalesce and a creative merging of subject and object results'. This religious experience is full of joy and peace. But there is a point of difference: this religious experience, according to Radhakrishnan, is a temporary state and not exercised continuously at the level of everyday experience, while omniscience when once attained cannot be parted with, because it is the essential manifestation of the entire spirit. 'The soul of man' as Joad puts it 'is like a chrysalis maturing in the cocoon of matter from which one day it will burst forth and spread its wings in the sun of

---

1 *Sāmkhyakārikā* 67

2 Belvalkar *Basu Mallika Lectures* pp 66-8

3 Ranade *Constructive Survey of Upa. Phil* pp. 335 etc

4 *An Idealistic view of Life* pp 84 etc, also *Counter Attack from the East* by C E M Joad pp. 79 etc

pure reality'.[1] This direct spiritual experience is a self-guaranteed vision and hence accepted as the foundation of religion, that is exactly the reason why Jaina and Buddhist prophets are claimed to be Sarvajñas.

NECESSITY AND PROOF OF OMNISCIENCE.—This doctrine of Sarvajñatā has been a bone of contention between different schoolmen; the problem is twofold: first, whether omniscience is humanly possible, and secondly, whether so and so is omniscient. The Indian philosophical systems that accept Veda as a self-guaranteed authority have totally denied the first part and partially the second. Jainism and Buddhism, with whom Veda has never been an authority perhaps for racial and geographical reasons, accept the first part but differ among themselves on the second point: that is but natural. They have struggled hard to prove and to establish the omniscience of their [p. 80] respective prophets, for on that depended the very life and death of their systems, it was the omniscience that could give infallibility to their prophets and therefore automatically to their scriptures that constituted the utterances of these prophets. A good deal of literature has grown round this topic. With Kundakunda sarvajñatā is a dogma, a religious heritage and an essential part of the doctrine he represents; he has not tried to prove it logically, perhaps it was not needed in his days. The *Nijjuttis* show the traces of the logical approach to the subject, but the definite period of polemic logic in Jaina literature, so far as the existing Jaina works are concerned, begins with Samantabhadra (circa 2nd century A.D.), this period almost corresponds with the adoption of Sanskrit by the Jainas which was more convenient for polemical style. Umāsvāti is the first Jaina author to adopt Sanskrit, in his *Tattvārthasūtra* he describes omniscience (I, 10, 11, 29) on the same lines of Kundakunda, but he does not attempt to prove it. The relative chronology of Jaina authors requires that Umāsvāti might have flourished somewhere between Kundakunda and Samantabhadra. Samantabhadra tries to prove the possibility of sarvajñatā, perhaps he has in view some attack either by Cārvāka or Mimāmsā on the Sūtras of Umāsvāti. Samantabhadra's verses about Sarvajñatā have been looked upon as profound, full of meaning, and all the following authors, right upto the end of middle ages, have tried to prove the possibility of Sarvajñatā almost on the very capital of Samantabhadra's arguments. The subject has been discussed with great zeal for centuries together by some of the greatest logicians that the Sanskrit language has ever come to be handled by.[2]

---

1 This statement of Joad reads like a gāthā of Kundakunda rewritten. It only means that in the interpretation of Reality the denominational religions, with which our relations are determined by the accidents of time and place, disappear into one Religion of transcendental experience of the Real.

2 It would not be out of place, if I give here references to various important discussions about Sarvajñatā, in Indian Literature, arranged according to relative chronology. Really the logical discussion about Sarvajñatā begins with Samantabhadra (c. 2nd century A. D.) who tries to establish Sarvajñatā in his *Āptamīmāṁsā*, verses 5-6. Siddhasena, who is undoubtedly later than Kundakunda, who flourished possibly after Samantabhadra, and who is generally assigned to the end of the 6th century A. D. (or even a century or two, I think, he might be earlier), in his *Sanmati-prakaraṇa* (Ed. Ahmedabad 1930), 2nd kānda, discusses about Kevalajñāna, the same as Sarvajñāna or Sarvajñatā, particularly with the background of the Śvetāmbara canon in view. From some verses quoted by Anantakīrti

6. [p. 81:] THE ATOMIC THEORY.— Matter (pudgala) is a permanent substance belonging to non-sentient class of substances (II, 35). It is of various kinds, concrete and amenable to sense-perception, colour, taste, smell and touch are found in matter from the finer molecule to the gross earth (II, 39 etc). The matter is either in the form of primary atoms (paramāṇu) or aggregates (skandha); these aggregates are the lumps of primary atoms. The primary atom has no space-points, *i.e.*, it has no spatial extension, it is the unit of the space-measure, and it cannot be perceived by senses. Primary atoms being arid (rūkṣa) or cohesive (snigdha) come to form aggregates. Points of aridness or cohesiveness of an atom because of transformation, increasing by one from one onwards, attain infinity. Atoms form aggregates because of their points of aridness and cohesiveness, so atoms whether arid or cohesive, whether having odd or even points, form aggregates when there is the difference of two points, the minimum point being excepted. To explain and illustrate an atom of one point of cohesiveness or aridness cannot be a party in the aggregatory process, an atom of two points of cohesiveness binds with an atom of four points of cohesiveness or aridness, and that of three points with that of five points. Thus the various aggregatory formations are possible (II, 71-5).

KUNDAKUNDA'S VIEW STATED — Kundakunda does not prove his primary atoms but simply describes them, the reason is quite apparent that he is merely

in his *Bṛhat-sarvajñasiddhi* it appears that Dharmakīrti might have attacked the word *dūrārtha* etc used by Samantabhadra. Pātrakesarī, who flourished possibly earlier than Akalaṅka, in his *Pañcanamaskārastotra*, clearly defines Kevalajñāna in select words of which *akramam* (equal to *yugapat*) reminds us of the attack raised by Siddhasena against the Śvetāmbara canon, he also attempts the proof of omniscience (see verses 4, 18-20 MDJG vol 13) The colophon that it is composed by Vidyānanda is put possibly by the editor being misled by the identification of Pātrakesarī and Vidyānanda proposed by Dr Pathak, but it is now proved to be erroneous. Akalaṅka (circa middle of the 7th century A D) in his *Aṣṭaśatī*, a commentary on *Āptamīmāṁsā* of Samantabhadra, explains clearly the position of Samantabhadra particularly with Buddhist attack in view. Kumārila (middle of the 7th century) in his *Ślokavārtika* (p 80 etc Ed Benares) attacks Buddhist Sarvajñatā and Jaina Kevalajñāna (verse 141), so far as the attack against the Jainas is concerned he has in view the statements of Samantabhadra and possibly he is acquainted with the view of Akalaṅka. Kumārila's views have been fully and thoroughly criticised by Śāntarakṣita (705-762 A D) in his *Tattvasaṁgraha* and by Kamalaśīla (713-763 A D.) in his commentary on the same. We find some discussion in *Prameyakamalamārtaṇḍa* of Prabhācandra. Vidyānanda, in his *Aṣṭasahasrī*, which is a commentary on Samantabhadra's *Āptamīmāṁsā* and completely incorporates *Aṣṭaśatī* of Akalaṅka, elaborately quotes from *Ślokavārtika* and possibly some other works of Kumārila and *Tattvasaṁgraha* of Śāntarakṣita and attacks their views in detail. We find these discussions in his *Tattvārtha-Ślokavārtika* which appears to have been given this name after that of Kumārila's work. Abhayadevasūri in his elaborate commentary on Siddhasena's *Sanmati Prakaraṇa* discusses this topic at a great length. Later some manuals, too, have been written to prove the Sarvajñatā, for instance *Bṛhat-Sarvajñasiddhi* and *Laghu-Sarvajñasiddhi* of Anantakīrti (Ed MDJG, vol 1,) the attacks of which are mainly directed against Kumārila and they are much indebted to various authors from Samantabhadra down to Vidyānanda. Besides these sources it is likely that there might be discussion in the works of Sumati, Anantavīrya, Vādirāja etc some of which are lost and some still in MSS. Sarvajñatā came to be accepted and discussed only as a religious necessity, but in course of time its psychological aspects also have been developed incidentally

uttering the doctrines enunciated by the omniscient; and they are, as tradition would require, above any proof. Matter exists either in gross aggregates or fine primary atoms; an aggregate is a perceivable fact, while a primary atom, which represents a stage beyond which there is no possibility of further bisection, is beyond the ken of ordinary perception; only the super-normal perception can visualise it. A primary atom, as we gather from other works of Kundakunda, is the ultimate, indivisible unit of matter. It is eternal, unsounding, occupying one space-point and endowed with touch, taste, smell and colour; it is the cause of four elements (dhātu), and it is characterised by change (pariṇāma-guṇo).[1] Every primary atom has only one taste, one [p. 82:] colour, one smell and two touches or contacts.[2] With this description of paramāṇu, it is possible to attempt a proof of atomic existence as partly done by Umāsvāti and others. It is clear from this description that the primary atom is not an ideal postulate like the geometrical point; it is essentially matter possessing the characteristics of matter or pudgala There is this fundamental difference between Jaina primary atoms and the Vaiśeṣika atoms. the former are of one kind, but the latter are of four kinds corresponding to four elements. earth, water, fire and wind. Attempts to conceive a visible entity like a mote in the sun-beam compared with the tertiary atom are seen in Nyāya-Vaiśeṣika texts, but they are conspicuously absent in Jaina works. The Jainas and Vaiśeṣikas agree in holding that an atom is beyond sense-perception

KUNDAKUNDA ON ATOMIC INTERLINKING.—About atomic combination into aggregates Kundakunda gives the Jaina theory which is unique by itself The primary atoms, we have seen, have taste, smell, colour and touch. It is this touch or contact whether cohesive or arid (snigdha or rūkṣa) that brings about the atomic combination. There are points or degrees (amśa) of cohesiveness or aridness which decide the compatibility or otherwise of two combining parties [3] A primary atom whether cohesive or arid forms an aggregate with another whether arid or cohesive on certain conditions: between the two combining parties there must be a difference of two degrees in the odd or even series of degrees of aridness or cohesiveness; but a paramāṇu possessing only one degree of aridness or cohesiveness, cannot

1 See *Pañcāstikāya* 84 etc and Prof Chakravarti's notes thereon (SBJ III pp 82 etc), the gāthā 85 has something like the Vaiśeṣika doctrine in view, but the use of the word *dhātu*, for elements, is more a Buddhistic technical term than the Vaiśeṣika one, See also *Niyamasāra*, 25.

2 There are five kinds of tastes· bitter, sour, pungent, sweet and astringent, of which a paramāṇu has only one There are five colours black, blue, yellow, white and red, of which a primary atom has only one. Smell is of two kinds. agreeable and disagreeable, a paramāṇu can be one or the other There are eight kinds of contacts soft and hard (*mṛdu* and *kaṭhiṇa*), heavy and light (*guru* and *laghu*), cold and hot (*śīta* and *uṣṇa*) and cohesive and arid (*snigdha* and *rūkṣa*, also rendered as smooth and rough) The first two pairs are not possible in the case of a paramāṇu, of the remaining it will have two contacts, and the pairs might be arranged accordingly; a paramāṇu can be cold and arid, cold and cohesive, hot and arid, and hot and cohesive (See *Tattvārthasūtra* V, 23, with *Bhāṣya* and *Sarvārthasiddhi*, and also *Pañcāstikāya* 84-8)

3 The possibility of change by increase or decrease in the degrees of aridness or cohesiveness in an atom owing to internal and external causes (?) is also accepted (See *Gommaṭasāra*, Jīvakāṇḍa gāthā 618).

be a party to the formation of an aggregate. In the aggregate the one of higher degree absorbs the one of a lower degree. Thus the atomic aggregation is an automatic function resulting from the essential nature of paramāṇus. 'A crude theory', Dr. B N. Seal remarks on this atomic interlinking,[1] 'this, of chemical combination, very crude but immensively suggestive, and possibly based on the observed electrification of smooth and rough surfaces as the result of rubbing'. The Nyāya-Vaiśeṣika position is different, according to which it is the will of God, the creating agency, that produces motion in the atoms; and so they [p. 83:] combine into dvyaṇukas or binary atoms, three of which go to form a tryaṇuka or tertiary one and so forth, till masses of earth, water, fire and air are produced. It is this theistic position that gives altogether a different turn to the Nyāya-Vaiśeṣika atomic theory. The later Nyāya-Vaiśeṣika ideas and hair-splitting discussions about dvyaṇukas and tryaṇukas have no place in Jaina exposition.

ATOMISM ELSEWHERE.—In the Vedāntic cosmology there is no place for real atoms, because their acceptance would not be consistent with the uniqueness of Brahman. The word aṇu is known to *Upaniṣads*, but it stands for what is infinitesimally small and has nothing to do with the indivisible ultimate unit of matter. It is only some Buddhists that accept eternal atoms corresponding to four elements like the Vaiśeṣikas; Vijñānavādins, however, when they deny the reality of substance, cannot accept real atoms. The Jaina paramāṇu is similar to the atoms recognised by Leucippus and Democritus in its basic conception that it is an eternal and indivisible minute particle of matter, that it is beyond sense-perception, that it is made of the same substance, and that there are no four classes of atoms corresponding to elements, but the varying size and form of atoms with corresponding sourness etc. accepted by them is not possible in Jaina conception. The combinatory urge in atoms is due to their degrees of cohesiveness and aridness according to Jainism, but according to Democritus as explained by Epicurus, a primordial motion of atoms was assumed, which function in the Nyāya-Vaiśeṣika is fulfilled by the will of God. These similarities and dissimilarities do not by themselves lead to any chronological results, as they involve other wider issues, however, taking a constructive view of the Jaina atomic theory and comparing it with the Nyāya-Vaiśeṣika one, the Jaina view is much more primitive, and as Jacobi remarks the Jainas 'seem to have worked out their system from the most primitive notions about matter.'[2]

7. SYĀDVĀDA, OR THE THEORY OF CONDITIONAL PREDICATION.—A single substance is endowed with infinite modifications, and there are infinite classes of substances: to know one substance fully is to know the whole range of the object of knowledge; and this is possible only in omniscience. The sense-perception is graded and partial (I, 40, 48-51). A substance is endowed with qualities (or attributes) and modifications; though the substance is the same, it comes to be different because of its passing through different modifications; so when something is to be stated about a substance, viewed through a flux of modifications, there

---

1 *The Positive Science of the Ancient Hindus* p. 97.

2 *Encyclopedia of Religion and Ethics* Vol II, p 199

would be seven modes of predication: according to some modification or the other it is stated that a substance is, is not, is indescribable, is and is not, is and is indescribable, is not and is indescribable, and is, is not and is indescribable (II, 22-3).

SIDE-LIGHT ON THE BACK-GROUND OF SYĀDVĀDA.—This is the famous Saptabhaṅgī or Syādvāda of Jainism. From the way in which Kundakunda has described this Syādvāda one thing is clear that the doctrinal elements, which have led the Jaina philosophers to enunciate such a seemingly [p 84·] self-contradictory theory of conditional predications, are already present in Jainism. The object of knowledge is a huge complexity constituted of substances, qualities and modifications, extended over three times and infinite space, and simultaneously subjected to origination, destruction and permanence. Such an object of knowledge can be comprehended only in omniscience The senses are the indirect means of knowledge, and whatever they apprehend is partial like the perception of an elephant by those seven blind persons. The ordinary human being cannot rise above the limitations of his senses; so his apprehension of reality is partial, and it is valid only from a particular view-point: this leads to the Nayavāda of the Jainas. When ordinary human knowledge is partial, a new method of stating our approach to the complex reality had to be devised, and that is Syādvāda, the doctrine of conditional predications. Thus the doctrine is a direct result of the strong awareness of the complexity of the object of knowledge and of the limitations of human apprehension and expression. The substance is subjected to a constant flux of modifications, and we always look at it through one modification or the other, present or absent. When we are looking at its present modification, we should not absolutely deny the past or future ones this peculiar position, leads us to conditional affirmation, conditional negation and conditional indescribability, which by their combination give rise to seven possible statements.[1] Kundakunda makes it clear that Syādvāda is postulated because of this eternal flux of modifications.[2]

SYĀDVĀDA IN HIGHER AND LOWER KNOWLEDGE —Students, very much imbued with the spirit of Vedānta, have always looked upon this approach to reality as a process of uncertainty and indefiniteness of knowledge, and a question is very often raised whether Syādvāda refers to Higher knowledge or to lower knowledge or to both. If it refers to Higher knowledge, then Jainism is a quagmire of uncertain statements which lead to nowhere, if it refers to lower knowledge, then Jainism has not reached the plain of Higher knowledge, and if it refers to both, then Jainism, with such a logic of indefiniteness, will more mislead than lead its followers to its religious or spiritual destiny. These alternatives, that might be put forth by the Vedānta, whether accepted or rejected in parts or in toto, appear to be very dangerous. It is necessary, therefore, that the Jaina position should be clearly explained. It must be remembered that the terms Higher knowledge and lower knowledge are imported from Vedānta. According to Vedānta Higher knowledge consists in

---

1 For a detailed discussion about Syādvāda see my article in *Jaina Gazette* Vol 26, pp 188-97.

2 In *Pañcāstikāya* it is said that the seven Bhaṅgas are possible *ādeśavaseṇa*, while in *Pravacanasāra*, *pajjāyeṇa du keṇavi*. practically it means the same, because paryāya or the modification is the essential subject of ādeśa, the statement of information.

realising the transcendental truth of the identity of the self, after being immune from upādhis, with Brahman for eternity, while lower knowledge consists in the knowledge of the worship of Brahman in his phenomenal state [p 85:] as a personal deity or so forth.[1] As a matter of fact, there is nothing exactly corresponding to this in Jainism, but if at all we try to find counterparts of parallel shade, Higher knowledge might stand for the knowledge of the liberated condition and lower for that of the phenomenal world. Then, in that case, Syādvāda is confined to lower knowledge, where the individual knower approaches the reality by means of his senses and through the flux of modifications with which the object of knowledge is invested. But the Higher knowledge is not closed to Jainism. there is the omniscient Tīrthankara who directly visualises the reality and conveys to us the nature of Higher knowledge. Thus Jainism gets out of those alternatives. What Vedas are to Vedānta, the Āgamas, which are the words of the omniscient, are to Jainism: the validity of their respective scriptures as accepted by them is a dogma with all the schools, and it should not detain us any long to understand the approach of Syādvāda and to appreciate its ontological back-ground and epistemological necessity

SYĀDVĀDA AND NAYAVĀDA.—A thing, or the object of knowledge, is anekāntātmaka, *i. e.*, of infinite characters that can be analysed and grasped individually, and this is the function of Nayavāda. Nayas thus reveal only a part of the totality, and they should not be mistaken for the whole Because of this infinitefold constitution of a thing, there shall be infinite Nayas, and the same can be classified under broad heads as seven, two and so forth [2] As Akalanka defines, Naya is a particular approach of the knower (*nayo jñātur abhiprāyo*) A synthesis of these different view-points is a practical necessity; therein every view-point must be able to retain its relative importance, and this is fulfilled by Syādvāda which 'consists in seven vocal statements, limited by the clause *may be* (syāt) affirming, or denying, or both affirming and denying (whether simultaneously or seriatim) this or that quality or characteristic of a substance, with reference to its own, or foreign, or both own and foreign quaternion (dravya, kṣetra, kāla and bhāva) without contradicting other proofs'. Leaving aside the historical consideration, the relation between Syādvāda and Nayavāda I have stated elsewhere. 'Syādvāda is a corollary of Nayavāda the latter is analytical and primarily conceptual and the former is synthetical and mainly verbal. Syādvāda will certainly look lame in the absence of Naya doctrine. Naya doctrine without Syādvāda has no practical value Syādvāda, in course of the process of assertion, curbs down and harmonises the absolute views of individual Nayas'.[3]

1 Max Muller· *Six systems* etc p 215

2 *Tattvārthasūtra* I, 33, A B Dhruva *Syādvādamañjarī* (Bombay Sk and Pk. series) notes on verse 28 etc , pp 276 etc

3 *Jaina Gazette* Vol 26, pp 191-2, it is not that the Jaina authors have never tried to give other interpretations of seven Bhangas on the grammatical view of Syādvāda, I find, for instance, in *Jayadhavalā* commentary (Sholapur MS p 37) an interesting verse like this·

kathamcit kenacit kaścit kutaścit kasyacit kvacit ||
kadācic ceti paryāvāt syādvādah sapta-bhanga-bhrt ||

[p. 86:] NAYAVĀDA AND SYĀDVĀDA TRACED BACK IN JAINA LITERATURE.— It is already shown that Nayavāda and Syādvāda are thoroughly consistent with Jaina ontology and theory of knowledge, but this is only a synthetic view. So it is necessary to trace the antecedents and side-links of them in the early Jaina as well as cognate tracts of Indian literature and to try to shed light on the historical back-ground of these tenets. For this line of study it should be remembered that there are certain handicaps inherent in the very preservation of Indian literature; and Jaina literature is no exception. The canon of the Śvetāmbaras, though portions of it can be as old as the 3rd century B. C. or so, has been finally shaped in the middle of the 5th century A. D.; the fragments of the pro-canon of the Digambaras can be dated a few years earlier than the beginning of the Christian era; both the canon and pro-canon always leave scope for additions and omissions, besides huge portions falling into oblivion, being always preserved in the memories of monks, till a definite shape was given to them by commentators who came much later. Taking these conditions for what they are, the seeds of both Nayavāda and Syādvāda are to be sought in early literature The word Naya in the sense of a view-point occurs in the Ardhamāgadhī canon of the Śvetāmbaras;[1] *Prajñapti* mentions Niścayanaya and Vyāvahārika naya.[2] Turning to the pro-canonical literature of the Digambaras, Kundakunda refers to Vyavahāra and Niścaya-naya in his *Samayasāra*, *Pravacanasāra*, *Pañcāstikāya* and *Bārasa-Aṇuvekkhā* more than once,[3] at times he refers to Paramārtha-naya, Śuddha-naya which appear to me, in the light of the context and other passages, to be equal to Niścayanaya;[4] perhaps he admits the possibility of a view which is above these two (pakṣātikrānta),[5] and lastly he has in view the possibility of Nayas more than two.[6] Umāsvāti mentions five or seven Nayas [7] After Umāsvāti, Samantabhadra very often refers to Nayas, his discussions being always of a synthetic and non-enumerative character, he does not enumerate seven Nayas The later authors like Siddhasena, Pūjyapāda, Akalanka and a host of them discuss these Nayas as given in *Tattvārthasūtra* at times differing among themselves on subtle details.[8] Next turning to Syādvāda, the word Syādvāda, or Saptabhangī

1 See *Ardhamāgadhī Dictionary*, Indore, s.v.

2 Dhruva· *Syādvādamañjarī* noes, p 303; I have consulted Ardhamāgadhi Dictionary and I find that the Nayas like Naigama, Samabhirūdha etc are traceable to *Thāṇaṁga* and *Bhagavatī*, but, as some of these texts are not within my reach I have not been able verify the references of the Dictionary

3 *Samayasāra* gāthās 7, 12, *5, 27, 46, 47, 48, 56, 59, 60, 67, 84, 98, 360 etc , and 16, *5, 27, 29, 33, 56, 60, 83, 272, 324 etc , *Pravacanasāra* I, 89 for dravyārthika and paryāyārthika I, 19, 22, *Pañcāstikāya* 161 mentions niścaya; *B-Aṇuvekkhā* 82, 85, 86, 91

4 *Samayasāra* 8, 43, 11, 12, 14, 141, 272 etc

5 *Samayasāra* 142

6 Ibid, 144; it remains a question why we do not find any of the tedhnical names of nayas, excepting perhaps Vyavahāra, in the works of Kundakunda There is a work called *Nayapāhuda* attributed to Kundakunda, but it is not discovered as yet

7 *Tattvārthasūtra* I, 33, especially the various commentaries thereon.

8 Chakravarti: *Pañcāstikāya* Intro. p 52 etc and Dhruva's notes referred to above.

is not [p.87:] traced, so far as I am guided by the Ardhamāgadhī Dictionary, in the Śvetāmbara canon; but however the seeds of that tenet are there. ***Bhagavatīsūtra*** mentions the three primary predications.[1] Prof A. B. Dhruva says that there is a reference to Syādvāda in *Sūtrakṛtānga-niryukti*, but I have not been able to trace it there: I think he is perhaps misled by the definition of kriyāvāda etc. in verse No. 118.[2] Kundakunda mentions full-fledged Syādvāda in *Pañcāstikāya* and *Pravacanasāra*, and the former gives the name Saptabhanga [3] There is no explicit reference to Syādvāda in *Tattvārthasūtras*; it is said to be implied by the sūtra: *arpitānarpita-siddheh* (V, 32). Later authors like Samantabhadra, Siddhasena, Akalaṅka, Haribhadra, Vidyānanda have fully discussed it in their works. Philosophical evolution needs that Nayavāda should come first and Syādvāda next; but the references collected here do not warrant any conclusion like that; and even the Jaina authors say that they are the two wings of Anekānta.

COUNTERPARTS OF SYĀDVADA ELSEWHERE DISCUSSED —Attempts have been made to detect the counterparts of the doctrine of manifold predication in other systems of thought. According to *Sāmaññaphalasutta* a statement clearly indicating his extreme agnostic attitude is put in the mouth of Sañjaya Belaṭṭhiputta that he used to say: *'atthi' ti pi no*, *'natthi' ti pi me no*, *'atthi ca natthi ca' ti pi me no*, *'nevatthi na natthi' ti pi me no*. This is considered by some as the forerunner of Syādvāda which is the positive form of it as shaped by Mahāvīra.[4] Prof. Dhruva mentions another view of equivocators who would neither declare anything to be good, nor to be bad, but on a question being put to them on this or that they resort to eel-wriggling by equivocation and say 'I do not take it thus. I do not take it the other way. But I advance no different opinion. And I do not deny your position. And I do not say it is neither the one or the other' Because it is attributed to 'some recluses and Brāhmaṇas', Prof. Dhruva has concluded that Syādvāda, whose erroneous form is given above, had non-Jaina beginnings. I admit the first part that it is a perverted parallel of Syādvāda, but the second part that it had non-Jaina beginnings is not guaranteed by the evidences. It is clear that Prof Dhruva is led to this surmise by the word Brāhmana, but the other word 'recluse' should not be ignored. He gives the translated form 'recluse', and in all probability the original word must have been 'sramaṇa'. I may have here a digression on the word Śramana. It occurs very often in Buddhistic texts.[5] It means a non-Brahmanic ascetic, Buddha is often addressed by non-Buddhists as Śramana, it designates those who are opposed to Brāhmaṇas, who are casteless, and who do not recognise the Vedas but attack [p. 88] their superiority.[6] Turn-

1 *Jaina Sāhitya Saṁśodhaka* I, 4, *Sanmatiprakaraṇa* p 441, especially the foot-notes on that page and the next Dhruva's Intro. of *Syādvādamañjarī* p 77

2 *Sūyagaḍam* Ed by Dr P L Vaidya, Poona

3 *Pañcāstikāya* 14 and 72

4 Jacobi: SBE 45 Intro p 46, Belvalkar: *Brahmasūtra-bhāṣya* II, ii, notes, p. 114, and Dhruva. Ibidem Intro p 76

5 See PTS Pali Dictionary under *samaṇo*.

6 Dutt: *Early Buddhist Monachism* pp 64 and 69.

ing to Jaina literature, Mahāvīra is uniformly mentioned as *Samaṇe bhagavaṃ Mahāvīre* by the Jaina texts; *Pravacanasāra* throughout uses the word Śramaṇa for a monk, and this sense is quite usual in the Śvetāmbara canon; and in South Indian vernaculars like Kannaḍa Śramana or Śravaṇa necessarily means a Jaina.[1] The presence of the word 'recluse' in the context therefore, does not allow the conclusion of the non-Jaina origin. The Buddhist passage indicates that it is a perverted view of the Jaina doctrine; something similar to it might have been upheld by Brāhmaṇa ascetics as well. *Brahmajālasutta* mentions a view called Antānantikā, which at least in its name appears to be very near Anekānta, and against that the Buddhists propounded the fourfold process or method of exposition (catuskoṭikaḥ: *hoti, na hoti, ca na hoti ca, n'eva hoti na na hoti*)[2] Even in Jaina texts we do find this fourfold method of exposition in different contexts, for instance, a statement can be true, false, both true and false, or neither true nor false[3] All these parallels merely point out to a method of exposition which must have been current in Magadha perhaps even before Mahāvīra and Buddha Some scholars hold that Syādvāda comes out as a compromise between certain contradictory utterances of *Upaniṣads* that Being alone was true, that non-being alone was all true, neither being nor non-being is the truth, reality must be characterised by neither or both. This opinion perhaps takes it for granted that all the *Upaniṣads* are a uniform stratum of literature which is never influenced by the philosophical speculations of the land in which they came to be shaped It is just possible that various views held by different philosophers, not necessarily Vedic, must have influenced the Upaniṣadic thought as well.

VEDĀNTIC BEGINNING FOR SYĀDVĀDA NOT TENABLE—Prof A B Dhruva suggests that the Anirvacanīyatā-vāda of Vedānta has led to the Syādvāda of the Jainas as the next positive step This deduction is based on the supposition that Syādvāda had non-Jaina beginnings as proposed by himself on account of its being attributed to 'recluses and Brāhmanas'. The deduction is fallacious, because, as shown above, the term recluse, a śramana, preeminently means a Jaina. Anirvacanīyatā means that Māyā is such a principle that it can neither be called a being nor a non-being, nor both, and hence it is anirvacanīya[4] Māyā cannot be predicated in terms of being or non-being; in short it is a negative description, if at all I can call it so, of Māyā It should be distinguished from the conditional statements of Syādvāda. It is true that there is some similarity between avaktavya proposition of Syādvāda and anirvacanīyatā of Vedānta, but the underlying idea is different; in the former [p. 89·] there is an attempt to coordinate affirmation and negation, while the latter wants to escape from both Anirvacanīyatā-vāda cannot logically develop into Syādvāda, and perhaps even Prof. Dhruva is aware of it

1 A traditional definition, perhaps of sufficient antiquity is preserved in Abhayadeva's commentary on *Praśnavyākaraṇāṅga*, and it runs thus *niggaṃtha-sakka-tāvasa-geruya-ājīva paṃcahā samaṇā* / Possibly it means a Magadhan recluse in general

2 *Indian H Quarterly* VIII, p. 721

3 *Dasaveyāliyasutta* chap. 7; also *Ācārāṅga* and other texts.

4 *Sāṃkhyapravacanasūtra* V, 54, especially the bhāṣya of Vijñānabhikṣu, see Dasgupta *History of Indian Philosophy* Vol. I, pp. 461, 487

when he calls Syādvāda 'as the next positive step'. The logical development of anirvacanīyatā-vāda, if it is to be conceived irrespective of the dogmatical moorings of one system or the other, would be pure agnosticism; or by making some concession to the dogmas, it will come to something nearer the Śūnyavāda or Vijñānavāda of Buddhism, of which, as Dr. Dasgupta says, partial traces can be seen in Vedānta.

SYĀDVĀDA AND RELATIVITY —Half a century before, Darwin's evolution was a conjuring word with us, and today it is Einstein's relativity. The postulates of physicist and philosopher are all upset today by the theory of relativity. It is mainly the theory of physicist; but here we are concerned only with its philosophical bearing. As compared with relativity Syādvāda is much simpler and less elaborate, and the reasons are quite apparent, the bounds of human knowledge have become much more wide and the achievements of science more fruitful than what they were some centuries before. The contribution of Syādvāda and Relativity to the ultimate outlook on life and its problems, taking into consideration the conditions under which and the age in which they are propounded, is almost the same. To the Syādvādin the existence is a huge complexity, human mind cannot adequately apprehend it, nor can the human speech properly express the same. As such absolute and categorical statements are out of court; and all statements are true so far our particular point of view is concerned. This inadequacy of human understanding has led the Syādvādin to the doctrine of omniscience. To the relativist all our terms of expression like right and left, fore and aft, east and west, up and down, high and low, dear and cheap, and many others are relative; they are not the same for all the observers and under all the conditions, so they are not absolute, but merely relative to something. Some idealistic relativists have actually said that we all live in a queer world of ignorance, and there is no mode of testing. Time, velocity, even matter in view of the electrical theory—everything is relative. The other results of relativism are equally startling. As Eddington says, 'the theory of relativity has unified the great laws which by their position hold a proud place in knowledge, and yet this by itself is only an empty shell. The reality is in our own consciousness' Syādvādin is not such a subjectivist, according to him complete knowledge belongs to the omniscient being who cannot have any place in experimental sciences; for him reality exists outside the perceiver as well, but the percipient is too weak to perceive everything irrespective of spatial and temporal limitations, and hence his statements are true relatively, only in particular context. The position of Syādvādin, as distinguished from that of a full-blown relativist, can be thus expressed in the very words of Sir Oliver Lodge "Objective reality exists, but it is we who interpret it. The universe is incapable of being comprehended by any finite being, it must be interpreted, and the way we interpret it depends on ourselves and on our faculties". [p 90·] The religious dogma of a Syādvādin goes a step further and accepts an omniscient being, but Sir Oliver Lodge says, 'How God perceives it, or what it is in ultimate reality, we do not know'.[1]

SYĀDVĀDA AND MODERN PHILOSOPHY.—The aim of Syādvāda happily corresponds with the scope of philosophy in modern thought. Syādvāda aims to unify,

1 Sir Oliver Lodge *Relativity* p 39 etc

coördinate, harmonise and synthesise the individual view-points into a practicable whole; or 'in the Syādvāda' as Prof. Dhruva puts it 'discordant notes are blended so as to make a perfect harmony'. With the advance of specialisation of different branches of knowledge like psychology, metaphysics, theology, epistemology etc. the considerable size and importance of what philosophy once meant are being gradually reduced with a very happy result that philosophy, too, with the time, is taking a new grab; it aims now to unify constructively the conclusions of various branches of knowledge like special sciences with a view to explain the riddle of the universe. Experimental sciences start with certain assumptions like the causal principle etc., but philosophy examines these hypotheses in an abstract manner. Special sciences deal "with some specially selected aspect of the general world, and its conclusions apply to that special aspect alone. Any characteristics which a thing may possess in any other relations or for other purposes are irrelevent. To the psychologist people are their actions; to the physiologist they are more or less efficient organisms; to the chemist they are various collections of elements, to the physicist they are forces in motion. These same people may also be good husbands or good squash racket players, but these aspects of their whole personality are at the moment irrelevent. They may become relevent when the statistician enquires into these sides of their natures" [1] Philosophy harmonises all these by examining their assumptions, and in its ideal aspect it aims to find 'one concrete categorical fact expressible in conceptual form' As to the aim of philosophy, with which I have just compared Syādvāda, Joad says, "Philosophy[2] consists, in fact, of continual pooling and sifting of the conceptions of philosophers. The more diverse the conceptions, the richer the material to be sifted None is to be rejected, because, while none is true, none is wholly false". This attitude will surely cultivate tolerance in the earnest struggle for the search of Truth. This sense of relativity of truth is also visible in the methods of scientific research. Aspects or Nayas are after all aspects, however exhaustively they are enumerated True knowledge, which philosophy aims at, is the knowledge of a whole, a culminating synthesis after every avenue of analysis is exhausted The function of Nayavāda in Jainism is almost the same, so far as the underlying idea is concerned, as that of various special sciences; just as Syādvāda harmonises various Nayas, so modern philosophy aims to harmonise the conclusions of different experimental [p. 91] sciences. Nayas simply analyse and take to bits only a particular aspect, so a process of synthetic expression like Syādvāda is necessary to convey the nature of reality.[3]

EVALUATION OF SYĀDVĀDA.—As Prof Chakravarti puts it, Syādvāda has steered clear of the shallow realism of Cārvākas and the ludicrous idealism of

1 J F. Wolfenden *The Approach to Philosophy*, p 27 etc , also Joad's *Counter Attack from the East* pp. 95 etc

2 For philosophy, substitute Syādvāda and for conceptions of philosophers various Nayas: and the comparative position is the same

3 The exact chronological relation between Nayavāda and Syādvāda, the grouping of seven or six Nayas under Dravyārthika and Paryāyārthika, the coördination or identification of these two Nayas with Niścaya and Vyavahāra, these are points which need further study on strictly historical and philological lines

Nayavādins.[1] 'Syādvāda' says Prof. Dhruva 'is not a doctrine of mere speculative interest, one intended to solve a mere ontological problem, but has a bearing upon man's psychological and spiritual life'.[2] It has supplied the philosopher with cosmopolitanism of thought convincing him that Truth is not anybody's monopoly with tariff walls of denominational religions and the religious aspirant with 'intellectual toleration' which is quite on par with Ahiṃsā for which Jainism has eminently stood for the last two thousand years and more.[3]

8. JAINA CONCEPTION OF DIVINITY.--The soul being tainted with karman develops states of consciousness which being auspicious or inauspicious receive karmic influx; and it is this karman that binds the soul and revolves it in saṃsāra. Essential characteristics of the soul are all crippled by the karmic encrustation of eight kinds (II, 95). The soul in this round-of-rebirths is subject to attachment, aversion and other psychic states tinged with passions which occasion further karmas (III, 43). The way out of this samsāra consists in Right faith, Right knowledge and Right conduct (I, 6). The first consists in believing in the nature of things or realities as they are, for instance the soul is essentially pure etc.; the second consists in comprehending the whole range of objectivity as preached by Arahantas or from the [p. 92] Āgamas[4] (I, 81-2; III, 33 etc.); and the last consists in adopting perfect equanimity after practising the essential duties and penances in an ascetic life that go to stop the influx and exhaust the deposit of karmas.

When the soul is free from the four destructive or malignant types of karmas, namely Jñānāvaranīya, Darśanāvaranīya, Mohanīya and Antarāya, it

---

1 *Pañcāstikāya* Intro p 85

2 *Syādvādamañjarī* notes p 272.

3 Syādvāda or Saptabhangi attracted the attention of Orientalists mainly because *Brahma-sūtra* of Bādarāyana contains a sūtra *na ekasminnasambhavāt* II, ii, 33, which really contains an attack against Anekāntavāda of the Jainas, and the spirit of the sūtra has been consistently immortalized by a host of commentators like Śankara, Rāmānuja, Vallabha and others It is not possible to say exactly the Jaina definition which Bādarāyana had in view, but in all probability the Jaina definition contained a word *ekasmin*, and it was perhaps a forerunner of such definitions now met with in Jaina commentaries: *praśna-vaśād ekasmin vastuni avirodhena vidhi-pratisedha-vikalpanā saptabhangī* (*Rājavārtika* p 24), or the anonymous verse whose source I have not been able to trace but which is quoted by Jayasena in his ṭīkā on *Pañcāstikāya*

ekasminnavirodhena pramāṇa-naya-vākyatah |
sadādi-kalpanā yā ca saptabhangīti sā matā ||

Almost all manuals on Jainisum contain some discussion about Syādvāda, so an exhaustive bibliography is beyond the scope of this foot-note. Before one actually begins the study of Jaina technical works on Syādvāda the following books can be read with advantage Jacobi's paper 'The Metaphysics and Ethics of the Jainas', Chakravarti *Pañcāstikāya*, Philosophical Introduction (SBJ III), Dasgupta. *A History of Indian Philosophy* Vol I, Chapter on Jainism, Radhakrishnan· *Indian Philosophy* Vol I, Chapter on Jainism, Dhruva· *Syādvādamañjarī* Intro & Notes. Important texts etc. have been noted by Prof Dhruva in his Introduction and notes.

4 Importance attached by the Jainas to their Āgamas can be seen from the third book of *Pravacanasāra*.

manifests pure consciousness and becomes self-sufficient (I, 15); the pure self is realised, and all the developments of consciousness like agency, means, action and fruit are identical with the self (II, 35) In this state of self-realisation are developed omniscience and eternal happiness, therein the soul is called Svayambhū. There the spirit develops excellent infinite strength, excessive lustre and super-sensuousness (I, 19). There is no trace of any misery and no place for any desires. The self is itself and nothing more, nor in need of anything more (II, 68). The whole range of objectivity is immediately and simultaneously visualised and known by him with no temporal and spatial limitations (I, 21-2, 37). He is himself, all knowledge, having nothing to do with karmas; his function of a knower, being his essential nature and spontaneous output, brings no karmas to him (I, 43-4), The highest happiness which was the object of his meditation has been reached (II, 106). Then he becomes Siddha after the remaining four aghāti-karmas are destroyed; as the sun is all lustre and warmth, He is all knowledge and happiness and a Divinity (I, 68).

TRANSMIGRATION A FACT AND A DOGMA.—According to Jainism the round-of-rebirths is a fact and transmigration a dogma; nay, we cannot think of Jainism without transmigration. The ball of rebirths is already set in motion since beginningless time, and it stops only when the soul attains liberation. The cause of rebirth is karma which is a subtle form of matter that is, since eternity, associated with the soul. Like Vedāntic Māyā, karman explains samsāra. As to the means of getting liberation it is a part of religious details which should not detain us long, but one thing I want to note that the Jaina philosophers have devoted a great attention to the study of living organisms and the different spiritual stages which result from the suppression and destruction of different karmic forces

THE IDEA OF DIVINITY EXPLAINED.—The Jaina conception of divinity stands almost by itself: here, as in other tenets, Jainism inclines towards realistic pluralism. Every soul, when it is completely free from karmas, becomes itself (Svayambhū),[1] and it is the divinity. Divinity as a type, a level of spiritual evolution and a culmination of spiritual attainments, [p. 93.] is one; but every soul, even when it attains divinity, retains its individuality It is the free soul, the higher self, as distinguished from souls in mundane existence. The Jaina God as a type is an ideal to all the aspirants on the religious path. The conception of god holds a great vista of optimistic vision before the religious devotee. It is often said that the aim of religion is the realisation of the potentially divine in man; this means that the self not only knows itself but becomes itself (svayambhūta), now immune from all matter; by becoming itself it becomes the God which nature was already inherent in the spirit, but, upto this time, crippled by karmas; and this then is the state of perfection

1 In the *Upanisads* the word Svayambhū is used, and it signifies the self-existent Brahman (*Īśa* 8; *Kaṭha* 4, 1, etc) The Jains too call their divinity as Svayambhū By using this word they mean that the individual self has become (svayam bhūta) the Universal one, the Vedāntic sense is that of self-created and self-existent This designation is used by various Jaina authors Kundakunda in *Pravacanasāra* I, 16; Samantabhadra in his *Svayambhū-stotra*, Siddhasena, at the opening of his stutis, Pūjyapāda in *Siddhabhakti* 4, and many other later authors.

VEDIC GODS AND THE JAINA CONCEPTION OF GOD.—The conception of divinity in the Vedic age has its roots in the awe of nature and in the unsophisticated mind of a nomadic tribe which was under the sway of a simple conviction that the natural events and phenomena, so regular in their occurrence and so terrific at times, must have some superhuman agency behind, thus the Vedic gods owe their existence and attributes to some natural phenomenon Varuṇa is there, because the blue sky is there, even in waters reflected; so Varuṇa comes to be a ubiquitous deity who is a patent witness to all the sins of man, because all of them are committed under the sky Multiplicity of natural phenomena leads to plurality of gods that are divided into three classes according to their terrestrial locations. Like our human families the nature gods too have their families with Aditi as their mother; but the worshipper has his difficulty as to how he might be able to concentrate on a single god in this chaotically grown gallery of Vedic gods, and hence the tendency of Henotheism which, when philosophically diluted and divested of individual names of different gods, remarkably grew into theistic monism, possibly through the doctrine of Ṛta, the all-governing principle, that there was someone behind all these gods, and consequently behind cosmic existence, who later on played the part of a lord of all the beings (Prajāpati), and who is the causal agency of this cosmic existence and the cause of everything that baffled human reason here From this the step of personal Ātman or of impersonal Brahman of the *Upaniṣads*, or the toning down of these principles for practical purposes like creation etc, in later phases of Aryo-Vedic religions is not a long one. Nowhere in this scheme the Jaina conception of god properly fits in monistic tendency is too strong in Aryan faiths, and hence the antecedents of Jainism with this conception of divinity, which is pluralistic in its beginning and the infinite souls in which retain their individualities even in summum bonum, demand all the more attention, and they will have to be sought in eastern India especially in Magadha and the surrounding parts reaching far back in time before the advent of the Aryans

JAINISM AND NĀSTIKATĀ.—By the orthodox systems Jainism is called Nāstika; and whether it is so depends on the significance of the word nāstika which has changed its meaning very often and which has been a favourite term of contempt with which anyone can label his opponent. Nāstika, according to grammarians, is one who does not believe the other worlds: then the Jainas [p. 94:] are not Nāstikas But according to Smṛtis Nāstika means one who denies creation by an intelligent agency and one who denies the authority of Vedas; in both these senses Jainism is Nāstika, because it never accepts the theory of creation, and with it Vedas have never been an authority. Jainism does accept a god, and hence the term atheist, in its etymological sense, cannot be levelled against Jainism. If atheism means non-acceptance of a popular god who creates, protects and destroys the world as assumed in many Indian systems, then Jainism is atheistic In applying these conventional labels one has to be very cautious.

JAINA LIBERATION.—Emancipation according to Jainism consists in the freedom from the karmas when the inherent powers of the spirit are fully blossomed, it is the end of the world-process, when the process has come to an

end so far as a particular soul is concerned; in emancipation the individual spirit or soul is at its best. In that state the individual fully develops all-knowledge, all-vision, all-bliss and all-power. It is not the obliteration of the individual, nor of the inherent individual traits, nor is it the submergence of the individuality into some universality.

9. JAINISM IN INDIAN RELIGIOUS THOUGHT.—This brief survey of some of the important tenets of Jainism compared and contrasted here and there with those of other Indian systems tempts me to try to state tentatively the position of Jainism in the evolution of Indian religio-philosophical thought. Its non-acceptance of Vedic authority, wholly common with Buddhism and partly with Sāṃkhya, perhaps indicates that these three belong to one current of thought. They have in common the theory of transmigration with the attendant pessimistic outlook of life and Karma doctrine as an automatic law of retribution which appear definitely for the first time in *Upaniṣads* so far as the Vedic literature is concerned.[1] The humane and ethical outlook and the downright denunciation of Hiṃsā, whether for personal ends or for sacrificial purposes, are common to all the three. That Buddhism and Sāṃkhya have much in common is not a new thing to orientalists. Ontological dualism, the plurality of spirits, the misleading of the spirit by matter, the early Sāmkhya belief that there are as many Prakṛtis as there ere Puruṣas and many other technical details are common to Jainism and Sāṃkhya. In all the three systems there is no place for a creator or a super-human distributor of prizes and punishments. These common points are at times not at all consistent with the natural evolution of the Vedic religion till almost the middle of the Upaniṣadic period. Especially the Sāṃkhya, which is accepted as orthodox possibly because of its fascinating terminology, inspite of its glaring inconsistencies with the accepted orthodoxy, has influenced some of the *Upaniṣads*; and later on being coupled with theistic Yoga it became unquestionably orthodox. In view of these common points between Jainism, Sāmkhya and Buddhism and their common differences with the Aryo-Vedic religious [p. 95:] forms, and in view of some of the peculiar tenets of Jainism in common with Ājīvika, Pūrana Kassapa's order etc, I am inclined to postulate a great Magadhan religion, indigenous in its essential traits, that must have flourished on the banks of Ganges in eastern India long before the advent of the Aryans into central India, and possibly at the end of the Brāhmaṇa period these two streams of Aryan and indigenous religious thoughts met each other, and the mutual interaction resulted on the one hand into the *Upaniṣads* in which Yājñavalkya and others are, for the first time, preaching Ātmavidyā and on the other, in contrast to the Vedic ritualistic form of religion practised by the masses, into Jainism and Buddhism that came prominently to the fore as the strong representatives of the great heritage of Magadhan Religion.[2]

1 Keith *Sāṃkhya System* pp 15-6; Ideas like transmigration are accepted as a definite fact only in the Group three (and partly also Group four) of the Upaniṣadic tract of literature, see Belvalkar & Ranade *History of Indian Phil*, Vol II. p. 375.

2 I had first set forth this theory in my paper 'Mahāvīra and Buddha on Nirvāṇa' read before the Sanskrit Association, Rajaram College, Kolhapur in 1932; it was published in the College Magazine and subsequently the major portion of it appeared in *Jaina Gazette*

e) Monastic aspect of Pravacanasāra

AN IDEAL JAINA MONK.—The third book of *Pravacanasāra* gives a good picture of an ideal Jaina monk who has adopted asceticism to get rid of the misery of saṃsāra. His twofold emblems impose on him internal and external purity. Absolute non-attachment is the motto of a monk, and the details of his duties are all deduced from this virtue. The Jaina monk is indifferent towards the world, though he bears no hatred towards it, the worldly ends of power, fame and wealth for which men strive in sweating competition are of no importance to him. The twentyeight Mūlaguṇas comprise his course of conduct: he observes five vows; he is careful in his fivefold activities; he fully controls his five senses, he observes six essential duties, he pulls out his hair periodically, he remains naked, he does not take bath, he sleeps on the ground; he does not cleanse his teeth, he takes his meals in a standing posture; and he takes only one pure meal a day. He takes all possible precaution not to violate these Mūlaguṇas, and in case he violates them, he duly approaches his teacher, reports and confesses the sin, and adopts the lustral course. Negligence is his greatest enemy, so he keeps himself constantly alert. Not only he has no attachment at all, but he is absolutely indifferent to the world and its allurements He keeps almost no paraphernalia He spends his time in studying the scripture and in the practice of penancial courses and primary virtues. He eats little, only once, and that too when it is duly offered to him, and there is no consideration for juices. Any food which involves harm unto living beings is absolutely forbidden. His eye is set on liberation, so he constantly struggles to maintain a pure attitude of mind, and cultivates faith, knowledge and discipline. He keeps company with superior monks or [p. 96] with monks of equal merits,[1] and observes all respectful formalities towards an elderly monk. His preachings and all other activities are in the very interest of his spiritual advancement. Being a Nirgrantha he practises no profession. The rigorous type of Nirgrantha asceticism is not prescribed for women because of their natural disabilities. Women are not excluded from entering the order, but the ascetic emblem of nuns is more moderate and less rigorous than the one prescribed for monks.

CRITICAL REMARKS ON SOME JAINA ASCETIC PRACTICES.—It must be noted that we do not see any reference to four stages of life, there are only two stages here the first, that of a house-holder, and the second, that of a monk, and it is with the latter's duties that *Pravacanasāra* is concerned. The outline of duties of a Jaina monk here is very sketchy, but all the fundamentals are given, and the details, which are found in special texts like *Mūlācāra* etc., are simply implied. Most of these details are natural deductions from certain fundamental rules of conduct

---

Vol. 30, 6. Asking some queries on certain issues about the Jaina and Buddhistic conceptions of soul, Ananda Kausalyayana, Berlin, writes in *Jaina Gazette* Vol 30, 11 "Mr Upadhya's survey of Vedic, Brahmanic, Upanisadic and Buddha-Jaina thought-currents would do credit to any writer on this subject, and his stress on the suggestion that the Aryan thought-current received some impetus from the indigenous non-Vedic thought-current is of great importance". I have dicussed this very subject in more details in my essay on the Jaina Karma Doctrine which is awaiting publication.

1 Compare *Dasaveyāliya*, XII, 9-10.

which require that the ascetic life should be very rigid and that the life of a monk should be as much independent and self-sufficient as it is humanly possible. The subtle details and the method and manner of treatment differ here and there; but the monastic atmosphere as found in *Ācārāṅga*, *Dasaveyāliya*, *Mūlācāra* and *Pravacanasāra* is practically of the same character, whether the texts belong to Śvetāmbaras or Digambaras. Nudity is prescribed in Śvetāmbara texts as well,[1] but the commentators say that it is meant for Jinakalpi monks. Nudity, as a part of ascetic discipline, appears to have been in great vogue in eastern India even before the time of Mahāvīra and Buddha; it is found prescribed in Ājivika and other schools, it is an ideal extension of the vow of non-attachment, and hence its practicable modifications too are found in the same systems in which nudity is prescribed. Not to cleanse the teeth, not to take bath and a host of other details are common to both Digambaras and Śvetāmbaras. The report and confession of sins[2] can be compared with the Prātimokṣa ceremony of the Buddhist order according to which the eating of food only once at a sitting too was prescribed. The technical term pravrajyā-dāyaka is common to Jainism and Buddhism. The Jaina rules with regard to food and clothing are more rigorous than those prescribed for Buddhist monks in Vinaya texts. It has been usual to trace many of the Jaina and and Buddhistic practices to Brahmanic monastic life of Dharmasūtras, but I think, without denying, however, mutual exchanges and modificatory influences, many of the underlying [p. 97] principles of Jaina and Buddhistic monachism stand by themselves, and they will have to be traced back to a body of ascetic practices in Eastern India even before Mahāvīra and Buddha. The Śramanism is peculiarly Indian, and its antecedent seeds are to be sought on the Indian soil

REMARKS ON THE SAṂGHA OF MONKS.—There are indications throughout *Pravacanasāra* that the Jaina monks used to live in groups the head of the band was called Gaṇin· the text gives different formalities to be observed before the preceptor; the Śramaṇa-saṃgha which has four classes is referred to in III, 49, in the case of certain monks admission and upkeep of students are allowed, the monks (sādhu) are expected to give assistance to Śramaṇas on certain occasions (III, 52), and a monk is asked not to mix with those of inferior merits. Our text mentions two office-bearers in the ascetic community Pravrajyā-dāyaka, one who initiates the novices into the order of monks, and the other Niryāpaka (the Sk. rendering, I think, should be niryāmaka, a pilot) who brings them to the right track when they have committed faults.

BACK-GROUND OF THE JAINA INSTITUTION ON MENDICANCY.— The institution of mendicancy is not recognised in earlier Upaniṣads, but only in later works like

1 *Ācārāṅga* I, 9, 1 etc and many other passages from the second part; *Dasaveyāliya* VI 65, *Uttarādhyayana* 21, 49; K P Jaina The Jaina References in Buddhist literature, in Studie materiali di storie delle Religioni, III for 1927, and other papers of his in the *Jaina Hostel Magazine*, Allahabad, Winternitz *Indian Literature* II, p 434

2 See my Introduction to *Pamcasutta* pp 11 ff , *uposatha* gatherings, an off-shoot of Pātimokkha, are traced back to non-Buddhistic sources, and they were accepted by Buddha according to the request of Bimbisāra from 'some of the religious orders of his time, it should be noted that Bimbisāra was an adherent of Jaina faith for some time at least-see Dutt· *Early History of Buddhism and the Buddhist schools* p 115.

Dharmaśāstras that it is described. It is not at all improbable that the ascetic institution was purely Magadhan, rather current in Eastern India, since long time as the forerunner of Jaina and Buddhistic monachism. Dutta remarks "It seems reasonable that the condition of religious mendicancy developed on the Indian soil, and was not introduced into the country by the early Aryan settlers whose life and society are reflected to us from the Vedic mantras".[1] In *Pravacanasāra* the monk is repeatedly designated as a Śramaṇa, the meaning of which is already discussed above.[2] Though originally it designated a Magadhan recluse, by the time of Kundakunda it appears to have been an exclusive appellation of Jaina monks, as it is clear from the South Indian usage of that word. It is possible that Megasthenes, in referring to Sarmanes, had in view the Jaina monks; the orientalists have detected that his designation of Gymnosophists was meant for Jaina ascetics; and the word Gymnetai used by Kleitarchos[3] appears to be a corruption of Jaina-yati.

5. COMMENTATORS OF PRAVACANASĀRA

1. Amṛtacandra and his Tattvadīpikā

AMṚTACANDRA AND HIS WORKS - We know nothing about the personal life of Amṛtacandra[4] He gives no information about himself in his works. The *praśasti* printed at the end has nothing to do with [p. 98·] Amṛtacandra, but it belongs possibly to a scribe of a Ms Āśādhara[5] quotes a verse (No. 26) from *P.-siddhyupāya* with the phrase *'etad anusārinaiva Thakkuro' pīdam apāṭhīt'*, indicating thereby that Amṛtacandra had perhaps another name Ṭhakkura, or it might have been his surname in his family life as Ṭhākūra or so. The source of Āśādhara's information, however, is not known to us. Only five works of Amṛtacandra are available today 1 *Puruṣārthasiddhyupāya*,[6] also known as *Jina-pravacana-rahasya-kośa*, exhaustively deals with the duties of a house-holder in a highly philosophical tone His explanations of Ahiṃsā and the relation between the two Nayas are important contributions to the understanding of the subject. There is a freshness about his treatment, and some of his illustrations are original and striking, it is throughout written in Āryā metre The text does not mention his name. 2. The second work is *Tattvārthasāra* which is a running metrical exposition of *Tattvārthasūtra*. Excepting the concluding verse, it is in Anuṣṭubh metre. The name of the author is not mentioned; but at the end of these two works the author happily expresses his modesty that the letters have formed the words, the words

---

1 *Early Buddhist Monachism*, p 60

2 See p 83 above, also Dutta *Early B Monachism* pp 41 etc.

3 Dutta, *Early B Monachism* pp 120 ff

4 For some notes on Amṛtacandra see Peterson *Reports* IV, p ix; *Jaina Hitaishī* Vol ivx p 255, some additional notes have been written by Pts Premi and Jagadishacandra in *Jaina Jagat*, the actual reference to which I have mislaid.

5 His commentary on (*Anagāra*) *Dharmāmṛta*, p 160, MDJG No 14

6 This and *Tattvārthasāra* are published in SJG vol 1, the former is published in RJG with Premi's Hindi translation.

the sentences, which in turn have made the book; so he is no more the author 3-5. Besides these two works, we have his commentaries on *Pañcāstikāya* (called *Tattvapradīpikā-vṛttiḥ*), *Pravacanasāra* (called *Tattvadīpikā*) and *Samayasāra* (called *Ātmakhyātiḥ*), at the end of which he uniformly mentions his name. *Samayasāra-kalaśa* is often treated as an independent work of Amṛtacandra and even a Sk. commentary is written on that alone by Śubhacandra,[1] but in fact it is a separate compilation of the verses included in his commentary on *Samayasāra*. All these works are in Sanskrit. It may be asked whether he wrote in Prakrit; possibly he did, for the following reasons: his commentaries indicate that he was a close student of Prakrit; at the close of some MSS. of his commentary on *Samayasāra* one Prakrit gāthā is found possibly composed by himself;[2] and lastly Meghavijayagani attributes some Prakrit gāthās to Amṛtacandra from a *Śrāvakācāra* of his composed in Prakrit. One gāthā attributed to Amrtacandra is traced in *Ḍhāḍasī-gāthā*,[3] about the author of which nothing is known except that he is said to have belonged to Kāṣṭhāsaṅgha. If Meghavijayaji's attribution is authentic, Amrtacandra might be the author of *Ḍhāḍasī*, and in that case he possibly belonged to Kāṣṭhāsaṅgha If he belonged to Kāṣṭhāsaṅgha, this might conveniently explain the use of certain words and phrases of Amrtacandra and the omission of some crucial gāthās from Kundakunda's texts,[4] but all this belongs to the domain of conditional conjecture.

[p 99.] HIS SCHOLARSHIP, STYLE ETC.—As a commentator Amṛtacandra's position is really great, because, so far as we know, he is the first commentator on the authoritative works of Kundakunda. He does not aim at verbal explanation, but he wants simply to propound the philosophical contents of the gāthās. Sometimes, however, it is possible to conjecture a particular Prakrit reading from his close paraphrase.[5] His zeal for Anekānta logic is very great, that is quite clear from his commentaries and other works. He shows close acquaintance with Digambara as well as Śvetāmbara works. He quotes from *Mokkhapāhuḍa* of Kundakunda.[6] He quotes a *Vyavahārasūtra*[7] which appears to be possibly some Śvetāmbara work; Jayasena not being aware of any such work translates the same by Cirantana-prāyaścitta-sūtra. He quotes a gāthā from *Sanmati* of Siddhasena.[8] His mastery over Sanskrit idiom is remarkable; his handling of Jaina technical terms is so natural and easy that he does not hesitate even to translate them like ordinary common nouns. He knows the value of pithy remarks and concise exposition; sometimes repetition is seen here and there, and this habit he appears to have contracted from Kundakunda's *Samayasāra*. Sometimes his prose is artificial, though the current of his expression is very forceful. Amṛtacandra is more a poet

1 Published under the title *Paramādhyātma-taraṅgiṇī* in SJG. No 15, Calcutta; on Śubhacandra see my paper in *Annals* of the B O.R I vol XII, ii, p 132 ff

2 Prof Velankar *Catalogue of Sk & Pk. MSS in the library of* BBRAS, Vols III-IV, p. 430

3 Ed MDJG Vol 13, pp. 161 etc., it is the 20th gāthā that is quoted by Meghavijaya

4 See p 50 above and foot-note No 5 on p 51

5 See for instance I, 19 (*adimdio*), 51 (*visamam*) etc.

6 *Pañcāstikāya* on gāthā 146, p 212.

7 *Samayasāra* p. 404.

8 *Pañcāstikāya* on gāthā 172, p. 251.

than a prose writer; to this even a few verses in his commentary on *Pravacanasāra* bear witness. As a spiritual poet (adhyātma-kavi) his position is simply unique and unequalled by any Jaina author before or after him. His *Samayasāra-kalaśa* is a veritable mine of finely phrased and carefully polished melodious verses containing the essence of Ātmavidyā, it has left lasting influence on some of the later authors like Padmaprabhadeva, and the subject matter is discussed with such a dignity in suitable metres that this compilation is enough to commemorate the poetic talents of Amṛtacandra.

QUOTATIONS IN HIS TATTVADĪPIKĀ.—There are only five quotations in his *Pravacanasāra*-commentary. The verse *ānandāmṛta* etc. is introduced with the phrase *'bhavati cātra ślokaḥ'*; this use of the singular, though there are two more verses coming after that, shows that it is perhaps a quotation; but I have not been able to trace it anywhere. Taking together two more quotations, *jāvadiyā vayaṇa-vahā* and *para-samayānam*, which are quoted one after the other, they are found in the same order in *Gommatasāra* (Karma-kāṇḍa 894-5), and there is practical agreement between the readings Their consecutive position and verbal agreement tempt one to suggest that Amṛtacandra might have taken them from *Gommatasāra*, but one cannot be dogmatic on this point, because *Gommaṭasāra* is a work of compilatory character, and there is every possibility of these gāthās being found in *Dhavalā* and *Jayadhavalā* commentaries. The first gāthā is found in *Sanmati-prakaraṇa* of Siddhasena (III, 47), but Amṛtacandra, though acquainted with the works of Siddhasena, does not appear to have quoted it from that source for the following reasons: [p 100] first, the gāthā as given by Siddhasena has Māhārāṣṭrī features, but here it is decidedly in Śaurasenī, secondly, Amṛtacandra quotes these two verses together, while Siddhasena has only one [1] Then the remaining two quotations, *niddhā niddhena* and *niddhassa niddheṇa*, are found in *Gommaṭasāra* (611-14), though not consecutively as quoted here, in the same order with the intervention of two gāthās in the middle. The dialectal appearance also agrees, but we should not be dogmatic *niddhassa niddhena* is a very old gāthā, it is quoted in *Sarvārtha-siddhi* (V, 37, there *dh* is retained for *h*)[2] of Pūjyapāda, following him Akalanka quotes it in *Rājavārtika* (where *dh* is changed to *h*), with slight variants it is quoted in *Bhāṣya-vṛtti* (V, 35) of Siddhasenagaṇi; and further from an editorial note[3] thereon I find that the gāthā is traceable to *Paṇṇavaṇā-sutta* of the Śvetāmbara canon. This again brings us to the same conclusion that it is a traditional verse independently preserved by both the sections

DATE OF AMṚTACANDRA.— There is very scanty material for settling the date of Amṛtacandra. I have not been able to trace his name in any of the Jaina

1 *jāvaiyā* etc. alone is quoted in *Jayadhavalā* (p. 28 of Sholapur MS) Judging from the context and the dialectal appearance, it appears to be quoted there from *Sanmatiprakaraṇa*. *Jayadhavalā* is the name of the last form of the commentary which incorporates older portions, so this gāthā might belong to the last stratum There is every possibility of tracing this gāthā in still earlier tracts of literature

2 Much importance should not be attached to these variants, because none of these editions is critical.

3 Āgamodaya Samiti Ed Vol. I, p 425

inscriptions known to me. It is seen above that he quotes *caraṇa* etc., without mentioning the source, from *Sanmati-prakaraṇa* of Siddhasena, it is possible that it might, along with another gāthā *ṇicchaya* etc. on the next page, turn out to be a traditional gāthā current long before Siddhasena even like the gāthās *jāvadiyā* etc., *ṇiddhassa ṇiddheṇa* etc. In case he quotes from Siddhasena, he cannot be earlier than 7th century A.D., which is the latest period assigned to Siddhasena,[1] though it is possible that Siddhasena might have flourished at least a couple of centuries earlier.[2] So this does not help us to put a definite earlier limit. In the opening remark on gāthā 27 of *Pañcāstikāya* Amṛtacandra says: *Bhatta-matānusāri-śiṣyam prati Sarvajña-*[p. 101:] *siddhiḥ*/. It is quite plain that he is referring to the view of Bhaṭṭa Kumārila on omniscience to which reference is already made. The date of Kumārila was once uncertain, but Śāntarakṣita's attack on Kumārila would put Kumārila in the last quarter of the 7th century A.D.[3] So this forms the earlier limit for the period of Amṛtacandra, and he is thus later than 7th century A. D.[4] As to the later limit he is quoted by Āśādhara (first half of the 13th century A.D.), by Jayasena (c. middle of the 12th century A.D.) and by Padmaprabha (middle of the 12th century). Thus this much can be definitely said that Amṛtacandra flourished between the 7th and the 12th century A. D There are other probabilities to narrow down this period. he appears to have quoted from *Gommatasāra* compiled by Nemicandra (circa 10th century A. D.), he might be the author of *Dhādasī-gāthā* in which reference is made to Nilpiccha-sangha (the same as Māthura-sangha) which was founded in 896 A.D. according to *Darśanasāra* of Devasena, and lastly he appears to be acquainted with *Ālāpapaddhati* of Devasena.[5] These probabilities taken together might indicate that Amṛtacandra flourished somewhere about the close of the 10th century A.D.· that is only a tentative suggestion. The traditional Paṭṭāvalis put Amṛtacandra at the beginning of the 10th century A D.

1 On the date of Siddhasena various scholars have written I can give only some select references within my reach· Vidyabhushana puts him about 480-550 A D (*Indian Logic* p 173); Jinavijaya puts him earlier than 5th century A D (*Jaina Sāhitya Saṁśodhaka* I ii, p 82 foot-note, also his Introduction to his ed of *Jītakalpa*, Ahmedabad 1926, on Siddhasena see his article *Jaina Hitaishī*, Vol 12, pp 22 etc Vol 14, pp 52, 131,153), Dr Jacobi puts Siddhasena in the last quarter of the 7th centry A D (*Samarāiccakahā*, Intr p iii). See Pt Jugalkishore's discussion in *Svāmī Samantabhadra* pp 128 etc ; Dr Vaidya puts him about 700 A D (*Nyāyāvatāra* Intro p 21, Bombay 1928), Pt. Sukhalal places him in the 5th century of the Vikrama era (See his Gujarati Intro to *Sanmatiprakaraṇa* pp 35 etc), Winternitz *Indian Literature* Vol II, p 477 foot-note 2, see also Hiralal *Catalogue of Sk and pk MSS. in C P & Berar*, p xii

2 In saying thus I have in view Pūjyapāda's reference to Siddhasena in his Sk grammar, and that he quotes partly a verse from the Stuti of Siddhasena (see *Sarvārthasiddhi* VII, 13), I am aware, however, that there have been many authors bearing the name Siddhasena.

3 See Dr. Bhattacharyya's Intro to *Tattvasamgraha*, G O S. p 82

4 I have shown elsewhere that Akalaṅka cannot be later than the last quarter of the 7th century A D. (*Annals* of the B O R I XIII, ii, p 164 foot-note) Amṛtacandra is decidedly later than Akalanka who flourished earlier than Kumārila

5 Compare p 112 of *Pravacanasāra*.

2. Jayasena and his Tātparya-vṛtti

JAYASENA AND HIS COMMENTARIES.—Sufficient information about Jayasena, the commentator of Kundakunda's works, is not available. There are eight verses found at the end of his commentary on *Pravacanasāra*;[1] but the authorship of these verses, because of certain syntactical difficulties, is a matter of uncertainty. They might have been composed even by a pupil of Jayasena. These verses indicate that Kumāranandi was the teacher of Jayasena who belonged to Mūlasaṅgha, of which two previous saints mentioned are Vīrasena and Somasena. I hesitate to attach much importance to these details by themselves. Besides his commentaries on the three works of Kundakunda,[2] no other work of Jayasena is discovered as yet. Of his three commentaries, the one on *Pañcāstikāya* is written first as it is referred to by himself in his two other commentaries.[3] As to the relative chronology of the [p. 102·] remaining two commentaries, there is no definite evidence; from the scarcity or frequency of quotations, from the shortening of details and from the presence of a few Prakrit verses, at the close of *Samayasāra-ṭīkā*, glorifying Padmanamdi, I think that the commentary on *Samayasāra* comes last.

THIS JAYASENA DISTINGUISHED FROM OTHERS OF THE SAME NAME.—This Jayasena will have to be distinguished from other Jayasenas known from epigraphic and literary references. One Jayasena, the teacher of Dharmaghoṣa, is mentioned in Mathurā inscription of the first century A.D.,[4] which is too early a date for our author. Secondly, Jinasena, the author of *Mahāpurāṇa* (c. 838 A D.) mentions one Jayasena as his guru,[5] but our commentator is different from him as he quotes from *Dravyasaṃgraha* to which he refers by name, as he quotes from *Ācārasāra* of Vīranandi and as he quotes from and mentions the name of *Cāritrasāra* of Cāmundarāja, and all these works are later than Jinasena. Thirdly, the author of a *Pratiṣṭhā-pāṭha* is Jayasena alias Vasubindu who calls himself as the agra-śiṣya of Kundakunda, he cannot be identical with our commentator, because he never says that he is the chief disciple of Kundakunda, he does not give his another name Vasubindu, and because the language of *Pratiṣṭhāpāṭha* in general is inferior to that of our commentaries. Fourthly, Jayasena from whose *Dharmaratnākara* excerpts are given by Peterson[6] is also different from this commentator.

---

1 In some MSS they are put at the end of the commentary of *Pañcāstikāya*, see the foot-notes on Malliṣeṇa's commentary.

2 There appears to be much confusion about the so called commentaries of Jayasena. The MS. from Belgaum described later on is the same as that of Jayasena's commentary, his name is not at all mentioned, but there is the name of (Ma)lliṣena at the end of *Pravacanasāra-ṭīkā*. According to Peterson's extracts (*Reports* IV, p 153) there is a commentary of Brahmadevajī on *Pañcāstikāya*, but comparing the extracts given by Peterson, I find that it verbally agrees with that of Jayasena which is printed in RJS. This confusion can be cleared only after getting more MSS of Jayasena's Ṭīkā, I regret, I detected this point too late to shed any further light.

3 See *Pravacanasāra* pp 121, 162 & 187, *Samayasāra* p 116

4 *E.I.*, II, p. 199

5 See the Introductory verses of *Mahāpurāṇa* No 58.

6 Peterson *Reports* IV, p. 152

JAYASENA AS A COMMENTATOR, COMPARED WITH AMṚTACANDRA.—Jayasena as a commentator has his own method by which he has influenced later commentators like Brahmadeva. At the beginning of a section or a sub-section, he always gives the analysis of that section by grouping gāthās according to topics. Every gāthā is introduced by a remark which generally agrees with the one of Amṛtacandra. Then he explains the gāthā word by word. Further with such phrases like *tathā hi* he winds up the discussion of a particular gāthā incorporating the suggestions of Amṛtacandra and sometimes adding fresh discussions with such words. *atrāha śiṣyaḥ, parihāram āha* etc. His style is simple, and with a purpose he writes in simple Sanskrit ignoring, as he himself says, the grammatical strictness for which he solicits the indulgence of sensible readers [1] His commentaries are studded with quotations here and there, it is rarely that their sources are mentioned; and very often they are off-hand quotations indicating the wide learning of Jayasena. The number of quotations is abnormally great in *Pañcāstikāya*,[2] and [p 103] in proportion to the length of the text the number is comparatively smaller in *Samayasāra*. He often draws the attention of readers to Prakrit peculiarities,[3] but no sūtras of any Prakrit grammar are quoted by him. The text preserved in his commentary is valuable in various ways, and his fidelity to the longer recension is really creditable, though the shorter recension of Amṛtacandra was already before him Excepting in the matter of text-preservation, influence of Amṛtacandra's commentary is very great on him He knows fully well and remarks that Amṛtacandra has not included certain gāthās [4] At times he quotes those very verses quoted by Amṛtacandra, and even verses from *Samayasāra-ṭīkā* are included by him in his commentary; and he follows Amṛtacandra very closely [5] The scholarship of Amṛtacandra is terrific, and it might even bewilder students, but Jayasena is easy and sympathetic, and with students who want to understand Kundakunda he will certainly be a favourite. He always follows the philosophical lead of

1 *Samayasāra* p 568

2 In his commentary on *Pañcāstikāya* Jayasena mentions the names of the following works *Dravyasaṃgraha* (pp 6-7), *Cāritrasāra* (p 219), *Sarvārthasiddhi-ṭippaṇaka* (p 219), *Tattvānuśāsana* (pp 212, 253), *Upāsakādhyayana*, *Ācāra* (-*sāra*?), *Ārādhanā* (p 254), *Triṣaṣṭiśalākāpuruṣapurāṇa* (p 254) He quotes many verses anonymously, and so far as I have been able to trace their sources some of these quotations are found in works like *Samavaśaraṇa-stotra* (quotations on pp 4, 8), *Daśabhaktis* (on pp 6, 126), *Ācārasāra* (on p 8), *Iṣṭopadeśa* (on p 44), *Yogasāra* (on p 61), *Ālāpapaddhati* (on p 105) *Gommaṭasāra* (on pp 126, 182), *Amarakośa* (on p 135) *Mokkhapāhuḍa* (on p 211), *Bhāva-pāhuḍa* (on pp 212, 254) The only author mentioned by name is Pūjyapāda In his commentary on *Samayasāra* he mentions Samantabhadra (p 459) and Yogīndradeva (p 424), and anonymously he quotes from works like *Gommaṭasāra*, *Samādhiśataka*, *Paramātmaprakāśa* He mentions a work Siddhānta (pp 250, 424, also in *Pañcāstikāya* p 254 along with Prābhṛta and Tattvārtha) by which perhaps he means the commentaries *Dhavalā* and *Jayadhavalā* I must say that this note of mine is not exhaustive

3 See *Pravacanasāra* p 240, *Samayasāra* pp 11, 52, 178, 236, 243, 249 and 303.

4 See *Pravacanasāra* p 270; sometimes he mentions the name of Amṛtacandra, sometimes simply refers to his Ṭīkā, sometimes calling it as Vārtika-vyākhyāna, see *Pañcāstikāya* pp 9, 166, *Pravacanasāra* pp 16, 148

5 Compare *Samayasāra* pp. 204-5, 394, 545

Amrtacandra, but textual fidelity and explanation in simple terms are his special provinces.

QUOTATIONS IN HIS TĀTPARYAVṚTTI.—In an appendix I have listed all the quotations from Jayasena's commentary on *Pravacanasāra*. So far as I have been able to trace their sources, the works from which Jayasena quotes are these: *Mūlācāra*, *Siddhabhakti*, *Pañcāstikāya*, *Bārasa-Aṇuvekkhā*, *Tattvārtha-sūtra*, *Svayambhū-stotra*, *Dohāpāhuḍa*, *Gommaṭasāra* and *Ālāpa-paddhati*. Among the untraced quotations, the verse *eko bhāvaḥ* etc is important A verse somewhat similar to this is quoted in many Śvetāmbara commentaries like *Syādvāda-mañjarī*, *Sanmati-ṭīkā*, Maṇibhadra's vṛtti on *Ṣaḍ-darśanasamuccaya*[1] The form of this verse agrees, excepting for the word *buddha* in place of *dṛṣṭa*, with the one found at the end of *Nayacakra* as noted by Pt Sukhalālaji.[2] It is also quoted in the 34th chapter of *Jñānārṇava* of Śubhacandra. The gāthā *nokamma* etc., is quoted in *Prameya-kamalamārtaṇḍa* The verse *deśa-pratyakṣa* etc. is traced to *Cāritrasāra* of Cāmuṇḍarāja[3] *śuddhasphaṭika* etc. and *samasukha* etc are quoted by Āśādhara in his commentaries on *Dharmāmṛta*[4] and *Iṣṭopadeśa*.[5]

[p. 104.] DATE OF JAYASENA —The various quotations and references to different works in his commentaries will help us to settle the earlier limit of Jayasena's period He quotes from *Gommaṭasāra* and mentions *Dravyasaṃgraha* by name; in his commentary on *Pravacanasāra* he quotes from *Cāritrasāra* of Cāmuṇḍarāja and these are the works of the last quarter of the 10th century. Jayasena, in his commentary on *Pañcāstikāya* (p 8) quotes two verses from *Ācārasāra* (IV, 95-96) of Vīranandi, and possibly he refers to this *Ācārasāra* in his remark *Upāsakādhyayan-Ācār-Ārādhanādigranthaiḥ* Vīranandi wrote a Kannada commentary on his own *Ācārasāra* which he completed in 1153 A.D.[6] and this period can be confirmed by various inscriptions at Śravaṇa Belgola[7] The Sk. *Ācārasāra* might have been written a few years earlier even before the author was tempted to write a Kannada commentary to make it more useful in the Kannada country So Jayasena must be later than c 1150 A D Then from the comparison of Jayasena's commentaries with those of Bālacandra, it is quite clear that Bālacandra has based his commentaries mainly on those of Jayasena as shown below, and Bālacandra has written his commentaries, to take the earliest period, in the first quarter of the 13th century A D So with a slight adjustment of a few years for which there is scope but no definite proof, we can say that Jayasena might have written his commentaries in the second half of the 12th century A D[8]

1 For references see Prof Dhruva's notes on *Syādvādamañjarī* p 14
2 *Sanmati-prakaraṇa* p 63, foot-note 7, thanks to Pt Jugalkishore who drew my attention to this reference and to the next of *nokamma* etc
3 *Cāritrasāra* p 22, Ed MDJG vol 9
4 Page 638, Ed MDJG vol 14
5 Page 51, Ed MDJG vol 13
6 See *Karnāṭaka Kavicarite* vol. I p 168, *Ācārasāra*, Introduction MDJG vol 11
7 *E C* II, 127, 140 etc
8 In the light of fresh facts I have slightly modified my earlier remarks, see *Annals* of the B O R I XII, ii, p 158

3. Bāḷacandradeva and his Kannaḍa Tātparya-vṛtti.

INFORMATION ABOUT BĀLACANDRA.—Bāḷacandra has written Kannaḍa commentaries on all the three works of Kundakunda. Putting together the pieces of information contained in the colophons of his commentaries,[1] we learn that he styled himself as Adhyātmi Bāḷacandra;[2] that he was the śiṣya [p. 105:] of Nayakīrti Rāddhānta (Siddhānta) cakri; and that he came to realize ātma-svabhāva through the service of Sāgaranandi[3] who was the *nandana* of Nayakīrti.

HIS TEACHER, COLLEAGUES, DISCIPLES, DOMICILE ETC.—Bāḷacandra had the unique honour of being the śiṣya of Nayakīrti who was a great religious force and authority in Belgoḷa and the surrounding country.[4] The heirarchical line was that of Mūlasaṅgha, Deśīgaṇa, Pustakagaccha and Kundakundānvaya.[5] Nayakīrti

---

1 The prose colophon runs thus· '*idu samasta-Saiddhāntikacakravarti-śrī-Nayakīrti-deva-nandana-vina (e ?) ya-janānandana-nijaruci-Sāgaranandi-paramātma-deva-sevā-sāditātma-svabhāva-nityānanda-Bāḷacandradeva-viracita-Samayasāraprābhṛta-sūtrānugata-Tātparya-vṛtti* From my translation of this passage given above, it is clear that I do not agree with Dr. Venkatasubbaiyya's interpretation(see his *Kelavu Kannaḍa Kavigaḷa Jīvana-Kāla-vicāra* p. 190) which has its own handicaps· if the words were to be separated, as he proposes, then they stand without necessary terminations; if all the words so separated necessarily go with Bāḷacandra, then the adjective Saiddhantikacakravarti goes with Bāḷacandra and it would be against the very statement of Bālacandra in the concluding verses, and lastly there is no objection to Bālacandra's having another spiritual teacher in Sāgaranandi, as Nayakīrti died in 1176 A D. and Bāḷacandra lived upto at least 1232 A D It appears that the name Sāgaranandi has somehow escaped the notice of Narasimhacarya, though he suggests that Bāḷacandra appears to have studied with a pupil of Nayakīrti'.

2 There have been many Bāḷacandras Though much has been written on different Bālacandras, still it is necessary to clear the whole position once more in the light of different inscriptional references. I have confined myself here only to Adhyātmi Bāḷacandra, the commentator of Kundakunda's work, and only the relevent epigraphic references have been utilised For different discussions about Bāḷacandras see R Narasimhacharya *Karnāṭaka Kavicarite* vol. 1, pp 99 etc, 253ff., 321ff vol. III Intro pp 45ff Venkatasubbaiyya *Kelavu Kannaḍa Kavigaḷa Jīvana Kāla-vicāra*, pp 33ff pp.190ff; and Pai's article in *Abhinava Pampa*, Dharwar 1934 pp. 1-41 For Bālacandra the commentator of *Upadeśa-kandalī* of Āsaḍa see Peterson's *Reports* III, p 39

3 I know two Sāgaranandis from inscriptions. the first who is mentioned in an inscription of 1145 A D (see *E C.* IV, Nagamangala No. 76); and the second, Sāgaranandi Siddhāntadeva is mentioned in a Ś-Belgoḷa inscription (*E C* II, 380) and to him Śāntinātha temple, which is just in the vicinity of Beḷgoḷa, was made over by Rēcimayya Another inscription of 1220 A D (*E.C* V Arsikere No 77) mentions Sāgaranandi and further informs that Rēcimayya was the minister of Kalacūryas first and later on he placed himself under the protection of the Hoysaḷa King Ballāḷa II (*E C.* II, Introduction p 33). So this second Sāgaranandi was living in 1220 A. D. and his place of residence too was near about Ś-Belagoḷa, thus it is possible that Bāḷacandra received lessons in spiritual culture from this Sāgaranandi after the death of Nayakīrti. We have no positive evidence to say that Sāgaranandi was also the pupil (*nandana*) of Nayakīrti but he could be called so by Bālacandra, when Nayakīrti was a great teacher, a Mahāmandalācārya. The presence of a contemporary Sāgaranandi confirms my interpretation of the prose colophon.

4 *E.C.*II, 345, 335 of 1195 A D

5 *E.C.* II 327, IV Nagamangal No. 70

died on April 24. 1176 A.D., and he left behind him a great number of pupils of whom Meghacandra appears to be his pontifical successor, his other pupils being Maladhārideva, Śrīdhara, Dāmanandi, Bhānukīrti, Bāḷacandra, Māghanandi, Prabhācandra, Padmanandi and Nemicandra.[1] In all the lists of Nayakīrti's disciples Bāḷacandra comes after Dāmanandi and Bhānukīrti;[2] sometimes Prabhācandra and Nemicandra are mentioned above Bālacandra.[3] Bāḷacandra, though not the eldest disciple of Nayakīrti, appears to have soon come into prominence; as a benevolent monk of severe ascetic discipline he is glorified in various inscriptions; many of his lay-disciples, male and female, constructed idols and built temples.[4] Ācaladevi, the wife of the minister Candramauli, was his lay-disciple; she built a temple at Ś. Belgola; and Bālacandra's name is reverentially mentioned in an inscription of 1182 A.D. which is a grant of a village Bammeyana-halli by the Hoysaḷa king Vīra Ballāladeva at the request of Candramauli.[5] Nāgadeva builds a *nisidi*[6] in 1195 A.D. as an act of reverence in the memory of [p. 106·] departed Nayakīrti, and in that inscription Bāḷacandradeva is mentioned.[7] In 1231 A.D. Gommaṭasetti, a servant of Hoysala Śrī Vīra Narasiṃhadeva and a disciple of Adhyātmi Bālacandra (the pupil of Nayakīrti), made a grant of land for the worship of Gommaṭadeva.[8] Boppana Pandita, known as Sujanottaṃsa, wrote a beautiful Kannada prayer of Gommaṭadeva; it is incorporated in an inscription at Belgola; and it was inscribed by direction of Bālacandra.[9] These facts indicate that the place of Bālacandra's activity was round about Belgola.

DATE OF BĀLACANDRA.—That Bāḷacandra served Sāgaranandi (possibly one of the pupils of Nayakīrti) for spiritual realization, that he is mentioned after Dāmanandi and Bhānukīrti and that he lived upto at least 1231 A.D. go to show that Bālacandra must have been comparatively young when Nayakīrti died. So roughly the life of Bāḷacandra can be circumscribed by the dates, 1176 and 1231 A.D As he refers to his cultivation of self-realization, I am tempted to say that he might have written his commentaries at the close of his life. So the date of his commentaries might lie at the beginning of the 13th century A.D. to take the earliest period Besides his commentaries on Kundakunda's works, he has written Kannada commentaries on *Paramātma-prakāśa* and *T.-sūtra*, and has also composed some hymns of prayer.[10]

COMMENTARIES OF JAYASENA AND BĀLACANDRA COMPARED—Comparison of Bālacandra's commentaries with those of Jayasena is a question by itself, and it cannot be dealt with in a limited space at my disposal; so I shall confine myself only to their commentaries on *Pravacanasāra* This comparison will reveal so

1 *E.C.* II, 66.
2 *E C* II, 36, 327, 33 and 335
3 *E.C* II, 326, 327
4 *E C* II, 185, 193, 195, 198, 331 etc
5 *E C* II, 327; V Channarayapattan No. 50
6 For the significance of *nisidi* see my note in the *Annals* of the B.O.R.I. Vol. XIV, iii-iv, p. 264.
7-8 *E.C.* II, 335, 186.
9 Ibidem 234.
10 *Kavicarite* I, p. 253.

many points of similarity: *Tātparyavṛtti* is the name of both the commentaries; it is the longer recension that is accepted; the introductory remarks of many gāthās and the verbal explanations are often the same word for word; and lastly there is a close agreement even in longer passages as seen from the opening passage given below from the Kannaḍa ṭīkā:

*sva samvitti-samutpanna-paramānaṃdaika-lakṣaṇa-sukhāmṛta-viparīta-caturgati-saṃsāra-duḥkha-bhaya-bhīta*num *samutpanna-parama-bheda-vijñāna-prakāśātiśaya*num *nirākṛta-samasta-durnayaikānta-durāgraha*num *āsanna-bhavya*num appa *Śivakumāra*-mahārājam *parityakta-śatru-mitrādi-pakṣapātādinātyanta-madhyastha*nāgi sakala-puruṣārtha-*sārabhūte*yum *atyantātma-hite*yam *avinaśvare*yum bhagavat *paṃca-parameṣṭhi-prasādotpanne*yumappa *mukti-śriyanupādeyam* māḍi gauna-mukhya-rūpa-bahistattvāntas tattva-prarūpana-Pravacanasāradādiyolu śatendra-vandya-*śrī Vardhamāna-svāmi-tīrthakara-parama-deva-pramukha-paṃca-parameṣṭhi*-gaḷaṃ *dravya-bhāva-namaskāra*dim bandisi *parama-cāritramanā*śraysuvenemdu pūṇkeyaṃ māḍidapaṃ // sūtrāvatāram // paṃca-kulakam // eṣa surāsura etc [1] Many similar passages [p. 107] can be selected from Bāḷacandra's commentary, and the above passage is almost the same as that of Jayasena with a few Kannaḍa terminations etc. added here and there which are not italicised

Bāḷacandra's commentary is shorter than that of Jayasena The topical analysis and grouping of gāthās, the high-flowing concluding remarks at the close of literal interpretation of certain important gāthās,[2] the supplementary discussions containing many original suggestions and quotations, the critical insight of textual explanation with the help of grammatical rules, beautiful quotations here and there, references to his commentary on *Pañcāstikāya*, alternative interpretations of certain gāthās:[3] these and many others are the peculiar features of Jayasena's commentary, but all these points, which are so essential in a genuine commentary, are conspicuously absent in the Kannaḍa commentary of Bālacandra Bālacandra merely explains the gāthās word for word in Kannaḍa, and sometimes he adds a few remarks by way of analysis and explanation and some quotations, which in that very context, are found in more details in the commentary of Jayasena

PRIORITY OF JAYASENA'S COMMENTARY —Taking into consideration these close similarities between the commentaries of Jayasena and Bālacandra one has to say something on the relative priority of one or the other. The points of agreement are such that these commentaries are not independent of each other. Pt Jugalkishore holds that Jayasena is later than Bāḷacandra [4] From the comparison of the two commentaries drawn above, it would be clear to any one that Bālacandra has written his commentary placing before him that of Jayasena alone. Bālacandra's commentary is a mechanical performance, and, so far as I have compared both, I have no hesitation to say that there is no discussion of Bāḷacandra which is not found in Jayasena's commentary The individual traits of Jayasena's commentary,

1 The common words between Jayasena and Bālacandra are put in italics, while the Kannaḍa terminations and words, which are the only items of difference, are not italicised

2 See for instance I, 15

3 See for instance II, 46-7

4 *Svāmī Samantabhadra* p 167, foot-note

his comprehensive grasp of the whole text and his plain remarks on his additional gāthās are not found in Bālacandra's commentary Comparing their styles, Bāḷacandra's Kannada is Sanskrit-ridden and artificial; and its only explanation is that he is rendering into Kannada some Sanskrit commentary. Jayasena closely follows Amrtacandra, and he plainly refers to him more than once, if the commentary of Bālacandra was utilised by Jayasena, he would have certainly referred to it. Bālacandra has not, so far as I have peeped through the MS. of his commentaries, referred to Amrtacandra; possibly he is not aware of any other commentary than that of Jayasena. So Jayasena flourished earlier than Bāḷacandra; and even Bālacandra, I think, hints the same, when he names his commentary as *Tātparya-vrtti* and when he says

> *dhrta-ratnatritayam Prā-*
> *bhrta-sūtrānugata-vrttiyam*[1] *palaigam Prā- |*
> *krta-Karnātaka-vākyā-*
> [p 108:] *rtha-tattva-niścittiyāge nirvartisidem.*[2] *||*[3]

4. Prabhācandra and his Sarojabhāskara

REMARKS ON PRABHĀCANDRA'S COMMENTARY – A MS of *Pravacanasāra* containing the Sk commentary of Prabhācandra is used for this edition, and the various readings are given at the end,[4] it is possible that Prabhācandra might have written commentaries on the remaining two works also of Kundakunda. The name of his commentary is *Saroja-bhāskara*. As compared with that of Amrtacandra, there is no special profundity in Prabhācandra's commentary His aim appears to be very modest: he gives a word-for-word explanation of the Prakrit text, and the extent of his exposition is shorter than that of Jayasena with whom he agrees here and there The Prakrit text which Prabhācandra has before him appears to be somewhat different, but this point can be more definitely settled after consulting some more MSS , as the one used by me is defective Of the gāthās which are additional in Jayasena's commentary, Prabhācandra does not include at all III, 17*1-2, and it is just possible that they were not present in the text before him With regard to gāthā II, 95*4 Prabhācandra remarks '*paināmam ti āgame pratipāditam, subha-payadīnctyādi-gāthā-dvayam ādeyam na bhavati, prakṣepakatvād iti upekṣyate*/, it is not clear to what two gāthās he refers, for in Jayasena's com-

1 v l vrttiyim
2 v l nirvartisidam
3 I am thankful to Pt Bahubali Sharma, Sangli, who kindly lent to me his MS of Bālacandra's commentaries It is in old Kannada characters written on modern water-mark paper, it is copied by Bhujabali Anantappa Shastri of Halingali in Śaka 1824 (+ 78 = 1902 A D)
4 For the description of this MS see page 42 at the end, Prabhācandra's commentary opens thus

> *Vīram pravacanasāram nikhilārtham nirmalam janānandam |*
> *vakṣye sukhāvabodham nirvāṇa-padam praṇamyāham ||*

The concluding colophon runs thus· *iti śrī Prabhācandradeva-viracite Pravacanasāra-sarojabhāskare etc*

mentary we have only one gāthā. It appears that Prabhācandra has somewhat different order of gāthās here and there, especially in the III Book; but this might be due even to the defective character of MS. P; this change in the order does not materially affect the contents.

INFORMATION ABOUT PRABHĀCANDRA AND HIS DATE. —Prabhācandra gives no information about himself in his commentary on *Pravacanasāra;* so it is necessary to see whether we get any information about him from other sources.[1] Śrutamuni, the author of Prakrit *Bhāva-tribhangī*, says in the praśasti of that work that Bālacandra was his *aṇuvrata-guru*, Abhayacandra Siddhānti his *mahāvrata-guru* and Abhayasūri and Prabhācandra were his *śāstra-gurus*.[2] In the course of an eulogy of these different teachers he speaks about Prabhācandra that he was a saint skilled in Sāratraya (*viz.*, *Pañcāstikāya-*, *Pravacana-*, and *Samaya-sāra*), devoted to his pure self, free from attitudes [p. 109:] of attachment for external objects and devoted to the enlightenment of liberable people[3] From this mention of Sāratraya it appears that Śrutamuni is referring to Prabhācandra, the commentator. If so, the date of Prabhācandra can be settled Śrutamuni with his teacher Abhayacandra is mentioned in Ś. Belgola Inscr. No. 254 of 1398. A. D. which is written some generations after Śrutamuni. Then taking into consideration the Hulluhalli inscription of 1371 A.D.,[4] we find that it refers to the death of Abhinava Śrutamuni who was the grand-disciple (praśiṣya) of Śrutamuni.[5] So Śrutamuni might have flourished in the middle of the 14th century A D. Bālacandra who is the guru of Śrutamuni is different from our commentator Bālacandra This Bālacandra, to whom Śrutamuni refers appears to be the same as one referred to in Halebīḍa Inscr. of 1275 A.D. which is the year of his death[6] I am aware that there was one other Bālacandra of Iṅgaḷeśvarabali, who was living in 1282 A. D[7] At any rate these dates of Śrutamuni and Bālacandra indicate that Prabhācandra flourished in the first quarter of the 14th century A D. or so: thus his commentary comes later than that of Balacandra

5. Malliṣeṇa and his Ṭīkā

THE MS. OF SO CALLED MALLIṢEṆA'S ṬĪKĀ.—It is reported that one Malliṣeṇa has written Sanskrit commentaries on *Pañcāstikāya* and *Pravacanasāra*;[8] but unfortunately the Karanja MSS could not be available to me. In the absence of definite information about him, it is of no avail to try to identify him with one or the

---

1 About various Prabhācandras and about this Prabhācandra see Pt Jugalkishore's notes p 63 of the Intro to *Śrāvakācāra*, MDJG Vol 24

2 Introduction to MDJG Vol 20, p 4 etc

3 The verse runs thus with my emendations in brackets,

vara-Sārattaya-ṇiuṇo suddam parao (suddhappu-rao) virahiya-parabhāo(vo) /
bhaviyāṇam paḍibohaṇakaro Pahācanda nāma muṇī //

4 E. C III Nanjanagud No 64

5 E. C. II 254

6 E. C. V. Belur Nos 13, 132; *Karnāṭaka Kavicarite* Vol 1, p 391

7 E C. II 334

8 *Catalogue of Sk and Pk MSS in C P & Berar* pp 663, 671

other Malliṣeṇa. When I was in a helpless mood, being unable to get the Karanja MS., Rao Bahaddur A.P. Chaugule, B.A., LL. B., Pleader, Belgaum, kindly handed over to me a MS.[1] containing the Sk. commentaries on the three works of Kundakunda. With [p. 110:] all curiosity I turned over its pages, and at the end of the commentary on *Pravacanasāra*, I found a colophon. *Śrī lliṣeṇācārya*[2]*-kṛtā ṭīkā bhadram bhūyāt* I thought I got the commentary of Malliṣena; but a careful study frustrated all my expectations. The commentaries from this MS. are the same as those of Jayasena in the printed editions. The agreement is perfect. Quite carefully these MSS. omit the mention of the name of Jayasena in various places. The so-called Praśasti of Jayasena, as printed at the end of *Pravacanasāra*, is found in this MS. at the end of *Pañcāstikāya;* and the date '*Vikramasaṃvat 1369 varṣairaśvina suddhi / Bhaumadine*' as preserved in the printed edition is found in this MS too.[3] So some definite light can be shed on all these points only after the MSS from Karanja are made available

6. Pāṇḍe Hemarāja and his Hindi Bālāvabodha

REMARKS ON HEMARĀJA'S STYLE ETC --Pāṇḍe Hemarāja's Hindī commentary, the dialectal form being made to conform to modern Hindī, is printed in this edition For beginners the commentary is of great value. generally the literal

---

1 It is a paper MS, 10 by 6 inches in size It contains 394 folios written on both sides in neat Devanāgarī hand and some words and sentences here and there are written in red ink Each page contains 14 lines and each line about 34 letters. 109 folios are devoted to *Pañcāstikāya-ṭīkā*, 110 243 to *Pravacanasāra-ṭīkā* and 244-394 to *Samayasāra-ṭīkā* Though the MS is well preserved, some portion between 393 and 94 appears to be missing On p 108 we have the praśast '*ajñāna-tamasā lipto* etc ' as printed at the end of this edition of Jayasena's ṭīkā, strangely the sentence '*nṛpa-Vikrama-saṃvat // 1369 // varṣairāśvina-suddhi // 1 // Bhomadine*' intervenes between the first verse and the remaining portion of the praśasti *Pravacanasāra-ṭīkā* ends with the colophon '*Śrī lliṣeṇācārya kṛtā ṭīkā bhadram bhūyāt*' in which *Ma* appears to be missing after Śrī At the end of *Samayasāra-ṭīkā*, on folio 394, we have scribes' colophons the first in Devanāgarī and the second in Kannada script *Śaka* 1692 *Vikṛta-nāma-saṃvatsare Saṃvat* 1827 *Āṣāḍha-māse śukla-pakṣe daśami-tithau Svā(ti ?)ti-nakṣatre Somavāsara-siddhayoga-yukte Śrī-Bedakīhāla-grāmila-Sāntappa-satputra-Bhujabalinā sva-jñānāvaraṇīya-karma-kṣayārtham sva-hastena Prābhṛtasāra-nāma-pustakam likhitam // Śrī Nāndanī-grāme Ādiśvaracaityālaye //, maṅgalam bhūyāt // Śrī Sumati ** śiṣya-Bhujabali-nāmadheyena śrī-samyaktva-prāptyar-tham //* Then follows the colophon in Kannada characters *Śaka-varṣa* 1713 *neya Virodhikṛta-saṃvatsarada Mārgaśira-bahula navamīvallu ŚrīmalLakṣmīsena-bhaṭṭāra-kasvāmiyavarige Jinamati-akkagalajiyanu tanage kevalajñāna-nimityavāgi barasi-koṭṭamtha Prābhṛta-granthakke ācandra-tārakam maṃgalamastu // śrī 3 //*

It appears that the present MS is written in Śaka 1713 (+ 78 1791) from a MS. written in 1770 A D which in turn is copied from a MS of 1312 A D It may be even taken that the present MS. is written in 1770 A D, and is presented by Jinamati to Lakṣmīsena, after writing the Kannada colophon, in 1791 A D The villages Beḍakihāla and Nāndanī are near each other, the first in the Belgaum Dt of Bombay Presidency and the second in the Kolhapur Territory

2 That appears to be a scribal error for Malliṣeṇa

3 Prof. Hiralal writes to me "It is not unlikely that this Malliṣeṇa is identical with the one commemorated in one of the Śravaṇa Belgola Inscriptions [(*E. C* II 67 of 1128 A D)] of whom it is said *vasmād-āgama-nirṇavo vama-bhṛtām* (verse 69) in that praśasti".

explanation of each gāthā is given and then follows a bhāvārtha of the gāthā. As Hemarāja himself tells us, his commentary is mainly based on that of Amṛtacandra; the bhāvārtha generally summarises the stiff but important remarks of Amṛtacandra. There is a clarity and smoothness about his explanation It is a clear proof of his intelligent insight that he could compose such a lucid commentary out of the bewilderingly stiff material from Amrtacandra's commentary.

RELATIONS AND WORKS OF HEMARĀJA.—Pāṇḍe Hemarāja was a respectable resident of Āgrā, and he belonged to Garga gotra. He had a noble daughter Jainī by name who was married to Nandalāla. Lālā Bulākīdāsa was the son of this learned lady, and it was to commemorate the name of his revered mother that he rendered into Hindī, at her request, the *Pāṇḍavapurāṇa* of Śubhacandra. Hemarāja was the pupil of Pandit Rūpacandra. Besides his Hindī commentaries on *Pañcāstikāya* and *Pravacanasāra*, he has metrically rendered *Bhaktāmara* into Hindī and has explained in prose *Gōmmaṭasāra* and *Nayacakra*.[1]

[p. 111.] THE OCCASION OF COMPOSITION.—Hemarāja wrote his commentary on *Pravacanasāra*, as he says in his praśasti, at the instance of Kumārapāla, a pious house-holder from Āgrā. Kumārapāla represented to him that, as *Samayasāra* was already explained in sweet language by Rājamalla, it was necessary that *Pravacanasāra* should also be explained without delay whereby the religion of Jina might flourish in all its branches; and requested him to write a Hindī commentary on it and receive the fruit of having glorified Jainism In the praśasti on *Pravacanasāra-ṭīkā* he pays respects to Shah Jahan. This commentary was completed on Sunday the 5th of the bright half of Māgha in the year 1709 which corresponds 1653 A D. when Shah Jahan was on the throne of Delhi.[2] His *Nayacakravacanikā* was completed in Saṃvat 1724 (1668 A.D)[3]

6. THE PRAKRIT DIALECT OF PRAVACANASĀRA[4]

INTRODUCTORY REMARKS.—It is rather premature to attempt an exhaustive grammar of the gāthās of Kundakunda from his various works, because the various editions of Kundakunda's works, that we have today, simply represent readable individual MSS., and can hardly be called critical, as we understand that term to-day. Even the present text of *Pravacanasāra* is not strictly critical, it represents, to a great extent, the Prakrit text as preserved by Jayasena in his Sanskrit commentary; but it has, however, an advantage that it is accompanied by a table of various readings drawn from some independent MSS., one accompanied by

1 This information is mainly based on Pt Premi's essay on Jaina Hindī Literature in *Jaina Hitaishī*, Vol XIII, pp 10, 17

2 Bhandarkar: Collected works Vol II p. 224.

3 There is a Hindi metrical version of *Pravacanasāra* by Vṛndāvana He was born in saṃvat 1848 He was an Agravāla of Goyal gotra. His father's name was Dharmacandra He lived in Benares He has written some works on Jaina ritual; and Pt Premi says that his *Chandośataka* is a model text-book (Premi Ibidem, pp 22-3)

4 This section is reprinted here with a few modifications and additions from the *Journal of the University of Bombay*, Vol. II, part vi. I am thankful to the Publication Board that granted so kindly my request for permission to reprint this article in the Introduction of *Pravacanasāra*.

the commentary of Amṛtacandra and the other by that of Prabhācandra. So, under the present condition of the text of *Pravacanasāra*, I think it better to give some of the typical and salient features of the dialect used herein than an exhaustive grammatical survey of all the works of Kundakunda or even of *Pravacanasāra*. It may be that some of my statements will have to be modified, when a critical text of this work is prepared after a faithful and unbiased study of MSS. hailing from different parts of India.

TREATMENT OF VOWELS—The Sk. vowels, excepting *ṛ ṝ ḷ ai* and *au*, are generally intact; a long vowel before a conjunct is shortened, the quantity remaining the same. There are, however, a few notable changes, which I give here. Of *a mamatti* = *mamatva* (II, 108), *nisĕjja* = *niṣadyā* (I, 44); of *ā: mĕtta* = *mātra* (II, 46, 71; III, 17, 38), Bhāsa has the form *matta*;[1] of *ī. vihūna* = *vihīna* (III, 13; see also the *v. l.* I, 7, 17, II, 8) of *u.* [p 112·] *purisa* = *puruṣa* (III, 57), Pali also has *purisa*[2] but Bhāsa has *purusa*[3]; of *ṛ gharattha* = *gṛhastha* (III, 54), *pagadam* = *prakṛtam* (III, 61), *vasaho* = *vṛṣabhaḥ* (I, 26), *vasabha* in Pali,[4] *vitthaḍa* = *vistṛta* (I, 59): *iḍḍhī* = *ṛddhiḥ* (I, 38* 3), *isino* = *ṛṣayaḥ* (I, 33), *viddhi* = *vṛddhi* (I, 73) Pali has *vuddhi*[5] in the sense of growth, *paiḍī* = *prakṛtiḥ* (III, 24 *8),[6] *puḍhavī* = *pṛthivī* (II, 40), cp. Pali *puthuvī*,[7] *pudhatta* = *pṛthaktva* (II, 14), *vuddho* = *vṛddhaḥ* (III, 30). of *ṝ. kattīṇam* = *kartṝṇām* (II, 68). of *e dosa* = dveṣa (I, 78), cp Pali *dosa*,[8] even in Sk Aśvaghoṣa once has the form *pradoṣam*, which is metrically required but the meaning is that of *pradveṣam*;[9] of *ai īsariyam* = *aiśvaryam*, *issariya* is a *v. l.* (I, 68 *3) the Pali form available is *issariya*,[10] *neva* = *naiva* (I, 32), *veuvvio* = *vaikurvikaḥ* (II, 79); of *au· orālio* = *audārikaḥ* (II, 79), *dhovva* = *dhauvva* (II, 8 note *v. l. dhauvva* in P.). In this context may be noted the forms of contraction *uggaha* = *avagraha* (I, 21), *ohi* = *avadhi* (III, 34), cp. Pali *odhi*,[11] also note *avagāha* (II, 85)

SAMDHIS ILLUSTRATED—A few facts of vowel *saṃdhi* besides normal *savarṇa-dīrgha* and *guṇa saṃdhi* may be collected here: *jiṇavariṃda* = *jinavara* + *indra* (III, 24), *maṇusiṃda* (I, 1), and *samaṇiṃda* (III, 24 *6); *teniha* = *tena* + *iha* (III, 22), *dhammuvadeso* = *dharma* + *upadeśaḥ* (I, 44)· *bījāniva* = *bījāni* + *iva* (III, 55); *tāeva* = *tāe* (*tayā*) + *eva* (III, 54). These illustrations would go to indicate that, especially in a *saṃdhi* of two dissimilar vowels, there is a tendency to do away with the first vowel [12] There are some cases of what Pischel calls sandhi-consonant [13] *aṇṇamaṇṇa* (II, 81), *rāgamādīhim* = *rāgādibhiḥ* (II, 85)

---

1 Printz *Bhāsa's Prākrit* (*B P*), p 5
2 Geiger *Pali Literatur und Sprache* p 52
3 Printz *B P*, 5
4 Geiger *Pali L. Spr* p 45
5 Ibidem p 45
6 Nos. with asterisks indicate the additional gāthās in the Sk. commentary of Jayasena
7 Geiger *Pali L Spr*, p 45
8 Ibidem p. 50
9 Keith *Sanskrit Drama*, p 86
10 Geiger *Pali L Spr*, p 46
11 Ibidem p 50
12 Hemacandra's Prakrit Grammar VIII, i, 10, and also Dr Jacobi's remarks in *Samarāiccakahā*, Intro. pp 28-29
13 Pischel *Grammatik der Prākrit-Sprachen*, p. 239.

TREATMENT OF INTERVOCALIC CONSONANTS.—The tendency of the Prakrit dialect, preserved in *Pravacanasāra*, is more towards the preservation of intervocalic (or as Hemacandra calls them non-initial and non-conjunct) consonants sometimes in their original and sometimes in their softened form, than towards total elision leaving behind only the constituent vowel.

Intervocalic *k*. is generally softened into *g*: *adhiga* = *adhika* (III, 66), *khāiga* = *kṣāyika* (I, 50), *guṇappagāṇi*—*guṇātmakāni* (II, 1), *pattega* = *pratyeka* (I, 3), *loga* = *loka* (I, 16), *logiga* = *laukika* (III, 53), *samagaṃ* = *samakam* (I, 3), at times it is elided making place for *ya-śruti* if possible by the nature of its position or leaving behind simply the constituent vowel: *ajjhāvaya* = *adhyāpaka* (I, 4), *ahiyaṃ* = *adhikam* (III, 70), *khāiyaṃ* = *kṣāyikam* (I, 47), [p. 113:] *titthayara* = *tīrthakara* (I, 2), *loyāloya* = *lokāloka* (I, 23), *sayala* = *sakala* (I, 54), *sāvaya* = *śrāvaka* (III, 50); and scarcely it is retained: *adhika* (I, 19). Its presence in words like *aṃjali-karaṇaṃ* (III, 62), *baṃdha-kāraṇaṃ* (I, 76) is due to its positional advantage that it is initial of the second member of the compound. The *svārthe k* is not found in plenty as in Apabhraṃśa, and its treatment is likewise: *appagaṃ* = *ātma(-kam)* (I, 79), *maṃsugaṃ* = *śmaśru(-kam)* (III, 5), *saga-pariṇāma* = *sva(-ka)-pariṇāma* (II, 75).

Intervocalic *g* is retained: *āgama* (III, 35 etc.), *bhogehiṃ* = *bhogaiḥ* (I, 73), *roga* (III, 52), *vigada-rāgo* = *vigata-rāgah* (I, 14).

The general tendency appears to be towards retaining intervocalic *c*: *ayadācāra* = *ayatācāra* (III, 17), *ālocittā* = *ālocya* (III, 12), *manavacikāya* = *manovākkāya* (II, 54 *3), *locāvassaya* = *locāvaśyaka* (III, 8), *vimocido* = *vimocitaḥ* (III, 2); sometimes it is dropped: *āloyaṇa* = *ālocana* (III, 12), *pavayaṇa* = *pravacana*, cp. Pali *pāvacana*,[1] while in AMg. both *pavayaṇa* and *pāvayaṇa*.

Intervocalic *j* is very often preserved: *kammarajehiṃ* = *karmarajobhiḥ* (II, 96), *tejo* = *tejas* (I, 19), *pūjāsu* (I, 69), *bijāṇīva* = *bījānīva* (III, 55), *sahajehim* = *sahajaiḥ* (I, 63); at times it is dropped: *kammarayaṃ* = *karmarajas* (II, 95), *bhoyana* = *bhojana* (III, 8), *manuya* = *manuja* (I, 6); the form *manuva* = *manuja* (I, 85; III, 55) appears to be contaminated with the form *mānava*, or it may be even a case of *va-śruti* as in Pali *su'a* = *śuka*.[2]

Intervocalic *ṭ* is changed to *ḍ*: *uppāḍida* = *utpāṭita* (III, 5), *koḍīṇaṃ* = *koṭīnām* (III, 29 *19, also III, 38).

Normally and pretty often intervocalic *t* is changed to *d*: *idi* = *iti* (III, 25), *ghādi* = *ghāti* (I, 19), *cāduvvaṇṇassa* = *cāturvarṇasya* (III, 49), *jadīṇaṃ* = *yatīnām* (II, 97), *jadhajāda-rūvajādaṃ* = *yathājāta-rūpajātam* (III, 5), *devadā* = *devatā* (I, 68), *padi* = *pati* (I, 16), *mohādiehiṃ* = *mohādikaiḥ* (II, 56), even *du* = *tu* (II, 36); at times it is dropped: *aisaya* = *atiśaya* (I, 13), *eyam* = *etat* (III, 75), *ghāi* = *ghāti* (I, 1), *pariṇai* = *pariṇati* (II, 77). With regard to the retention, change or elision of *t*, MSS. are not in agreement, as it can be very easily seen from the list of *v.l.* given at the end. This uncertain value of *t* upsets the p. p. forms to a great extent which are seen sometimes with *d* and sometimes with *y*. From the various readings the general impression would be that Jayasena's text is perhaps under Māhārāṣṭrī

1 Geiger: *Pali L. Spr.*, p. 53.

2 Ibid p. 55.

influence, as at times it drops *t*, when other MSS. soften it. The present 3rd p. sg. termination, *ti*, is almost always changed to *di*, but more on this point later. Generally *t*, in the proximity of cerebral *ṛ* or *r*, perhaps through the stage of *ṭ*, is changed to *ḍ* as it were to compensate for the loss of that cerebral element in the course of transformation: *paḍivaṇṇo = pratipannaḥ* (II, 98), *paḍivatti = pratipattiḥ* (III, 47), *vitthaḍa = vistṛta* (I, 61), *saṃvuḍo = saṃvṛtaḥ* (III, 40). The root *tiṣṭh* is represented by *ciṭṭh* (II, 86); MSS. AP,[1] however, would [p. 114:] read *ṭiṭṭhaṃti* for *ciṭṭhaṃti*.

Intervocalic *d* is almost always preserved: *appadeso = apradeśaḥ* (II, 46), *ādicco = ādityaḥ* (I, 68), *uppādo = utpādaḥ* (I, 18), *uvadesa = upadeśa* (I, 71), *jadi = yadi* (III, 23), *Jiṇovadiṭṭhaṃ = Jinopadiṣṭam* (I, 34), *visāradā = viśāradāḥ* (III, 63), *sadā* (I, 12); it is very scarcely that it is elided; *uvaeso = upadeśaḥ* (II. 84). The change of *d* to *ḍ* in *pāḍubbhavadi* (II, 11), is due to cerebral proximity as remarked above in the case of *t*; the other MSS., however, do not preserve this reading. In this context may be noted *orālio = audārikaḥ* (II, 79).

There is only cerebral nasal in the dialect of *Pravacanasāra*; thus *n* initial, medial or conjunct is changed to *ṇ* without exception: *jiṇakkhāde = jinākhyātān* (III, 64), *ṇivvāṇa = nirvāṇa* (I, 6), *ṇevaṇṇoṇṇesu = naivānyonyeṣu* (I, 28), *maṇuvo = manujaḥ* (II, 21).

Intervocalic *p* is changed to *v*: *aṇovama = anupama* (I, 13), *ṇiravekkho = nirapekṣaḥ* (III, 26); sometimes it is retained even: *ghoramapāraṃ* (I, 77).

Intervocalic *kh* is changed to *h*: *suha = sukha* (I, 13, 14), *suhidā = sukhitāḥ* (I, 73), it is initial by its position in *kāya-khedaṃ* (III, 50). Intervocalic *th* is at times softened into *dh* and at times changed to *h*: *kadhaṃ = katham* (II, 14), *jadhā = yathā* (II, 82, III, 30), *pudhattaṃ = pṛthaktvam* (II, 14); *jahā = yathā* (I, 30), *maṇorahā = manorathāḥ* (I, 92 *9), *th* is changed to *dh* in *puḍhavī* (II, 40), which is due to cerebral proximity. The normal tendency is towards preserving intervocalic *dh*: *aṇegavidhaṃ = anekavidham* (II, 32), *adhiga = adhika* (I, 68 *4), *cakkadhara = cakradhara* (I, 73), *padhāṇa = pradhāna* (III, 49, 61), *madhumaṃsaṃ = madhumāṃsam* (III, 29), *vidhāṇa = vidhāna* (I, 82); at times it is changed to *h*: *ahiyam = adhikam* (III, 70, MSS. AP differ), *pahāṇa = pradhāna* (I, 6, 19 *1, here also MSS. vary), *vivihāṇi = vividhāni* (I, 74), *sāhū = sādhuḥ* (III, 52, MSS. vary). From the various readings, it would be clear that Jayasena's text, at times, has an inclination towards *h*. Intervocalic *bh* is generally changed to *h*: *lahadi = labhate* (II, 29), *vasaho = vṛṣabhaḥ* (I, 26; III, 1), *vihava = vibhava* (I, 6), *sahāva = svabhāva* (II, 24, 91), *suheṇa = śubhena* (I, 9; III, 46); at times it is retained: *aṇubhāgo = anubhāgaḥ* (II, 95*4) *abhibhūya* (I, 30), *ṇabho = nabhas* (II, 44), *sabhāva = svabhāva* (II, 92).

Generally initial (of a word even in a compound) *y* is changed to *j*: *jadā = yadā* (I, 9), *jadi = yadi* (I, 11), *judo = yutaḥ* (II, 95); *abhijutta = abhiyukta* (III, 46); *uvajutta = upayukta* (III, 26*17); at times non-initial *y* is retained: *adiṃdiyattaṃ = atīndriyatvam* (I, 20), *samavāyo = samavāyaḥ* (I, 17), *saṃpayogajudo = saṃprayogayutaḥ* (I, 11); at times it is dropped: *suddhovaoga = śuddhopayoga* (I, 13).

---

1 A = a MS. with the Sanskrit commentary of Amṛtacandra and P = a MS with Prabhācandra's commentary: see their description at the end.

Generally *r* is retained: *agārī* (III, 50), *aṇaṃtavaravīrio* = *anantavaravīryaḥ* (I, 19), *devāsura* (I, 6), *pariṇāmo* = *pariṇāmaḥ* (II, 88); it is very scarcely that *r*, initial as well as non-initial, is changed to *l*: *lukkha* = *rūkṣa* (II, 73-4) cp. Pali *lukha*,[1] AMg. *lukkha* also *lūha*, *orālio* = *audārikaḥ* [p. 115:] (II, 79) Cp. Pali *uḷāra* = *udāra*,[2] our form is perhaps a further metathesis. Because *r* has a strong cerebral element in its pronunciation and because *i*, on account of cerebral proximity, is changed to *ḍ*, we find that *paḍi* is indiscriminately equated with *pari* as well as *prati*, and hence *paḍipuṇṇa-sāmaṇṇo* = *paripūrṇa-śrāmaṇyaḥ* (III, 14).

Intervocalic *v* is preserved: *viviho* = *vividhaḥ* (I, 84), *sahāva* *svabhāva* (II, 24), *sāvaya* = *śrāvaka* (III, 50). Note *jīyadu* *jīvatu* (III, 17. MSS. AP read *jīvadu*).

Of the sibilants only the dental, *s*, is allowed *kusalo* = *kuśalaḥ* (I, 92), *daṃsaṇa* = *darśana* (I, 82* 7), *padesa* = *pradeśa* (II, 46), *pesīsu* = *peśīṣu* (III, 29* 18), *visaya* = *viṣaya* (II, 66), *sayana* = *śayana* (III, 16).

CRITICAL REMARKS ON YA-ŚRUTI.—It is necessary to note, at this stage, the position of *ya-śruti*[3] in this dialect of *Pravacanasāra* *ya-śruti* is recognised under certain circumstances. If a consonant is dropped leaving behind a vowel, *ya-śruti* occupies that vowel provided that vowel is *a* or *ā*: *āloyaṇa* = *ālocana* (III, 11), *odayiyā* = *audayikāḥ* (I, 45), *kammarayaṃ* *karmarajas* (II, 95), *loyāloya* = *lokāloka* (I, 23); *sāvaya* = *śrāvaka* (III, 50); this *ya-śruti* does not develop in case the remaining vowel to be occupied is not *a* or *ā*: *aisaya* = *atiśaya* (I, 13), *davvaṭṭhieṇa* *dravyārthikena* (II, 22), *davvādiesu* = *dravyādikeṣu* (I, 83); but *i*, to be distinguished from *y*, can be coupled, under such circumstances, with any vowel, if the consonant to be dropped in the Sk word is *y* itself: *iṃdiyehi* = *indriyaiḥ* (I, 63), *niyadayo* *niyatayaḥ* (I, 44), *visaye* = *viṣayān* (II, 83), *visayesu* = *viṣayeṣu* (III, 73). In this context I may be allowed to have a digression *Ya-śruti* appears to be originally a peculiarity of Jaina Prakrit dialects.[4] Hemacandra, whose rule is clearer than that of Caṇḍa, makes its scope very limited. For the development of *ya-śruti*, he says (1) the constituent vowel should be *a* or *ā*, and (2) the preceding vowel also should be *a* or *ā*, i.e., in other words, *ya-śruti* can develop between *a-varṇas* (*avarṇa* meaning *a* and *ā*); he admits, however, by the illustration *piyai* = *pibati*, that the second condition is at times violated A scrutiny of pre-Hemacandra literature, whether in Ardha-Māgadhī, Jaina Śaurasenī or Jaina Māhārāṣṭrī, will show that his second condition is more violated than observed, and to fulfil the phonetic needs the first condition is quite sufficient. The position of *ya-śruti* in *Pravacanasāra* as enunciated above, though not in complete agreement with Hemacandra's rule, almost wholly agrees with the usage of the Ardha-Māgadhī canon, it is only some modern editors that try to follow Hemacandra literally. Even in Pāli, *y* at times develops in the place of a consonant dropped: *khāyita* *khādita*, *niya* = *nija*,[5] etc.

1 Geiger *Pali L Spr.*, p 59
2 Geiger *Pali L Spr*, p. 59
3 Pischel: *Gr Pr Spr.*, p. 137; M Ghosh Prakrit verses in *Bhārata-Nāṭyaśāstra*, see p 8 of *Indian Historical Quarterly*, Vol. VIII, 4; Dr P L Vaidya *A Manual of AMg Grammar*, Poona 1933, pp, 19-20
4 Caṇḍa's *Prākrta Lakṣaṇa*, III, 39, Hemacandra: VIII i, 180.
5 Geiger: *Pali L. Spr*, p 55

[p 116.] TREATMENT OF CONJUNCT CONSONANTS.— Just to have a glimpse of the treatment of conjunct consonants, initial as well as medial, some typical cases from *Pravacanasāra* are put together here: *itthī* - *strī* (I, 44), *gilāṇa* - *glāna* (III, 30) *gilāna* in Pali, *cāga* - *tyāga* (III, 20), *chudhā* - *kṣudhā* (III, 52) *khudhā* in Pali,[1] *ṇāṇam* - *jñānam* (I, 19), *niddha snigdha* (II, 71) Bhāsa has *siṇiddha*,[2] *thāvara* - *sthāvara* (II, 90) *phāso* (*v.l.*, *paraso*) - *sparśaḥ* (I, 56) Bhāsa has *parisa*,[3] *maṃsuga* - *śmaśru* (-*ka*) (III, 5). Then some cases of assimilated, non-initial conjuncts may be noted. *ajjhattha* - *adhyātma* (?) (III, 73), *attha* and *attha* - *artha* (I, 10, 18, 26, etc.), *appā* - *ātmā* (I, 7; II, 33), *ādā ātmā* (I, 8, II, 33), *ussāsa* - *ucchvāsa* (III, 38) This form—*ussāsa*[4] is in the mouth of Vidūṣaka in the fragments of Aśvaghoṣa's dramas, and Dr. Luders calls it a form of Old Śaurasenī. *chaḍḍiyā* - *charditā* (III, 19), the form *vicchaḍḍam*[5] occurs in the fragments of Aśvaghoṣa's dramas, and it is regarded as a Śaurasenī feature, *taccam* - *tattvam* (II, 16), *taccaṇhū* - *tattvajñaḥ* (II, 105), *daṃsaṇa* - *darśana* (II, 100), *dhövva* (*v. l.*, *dhuvva*) - *dhrauvya* (II, 8), *pakkhīṇa prakṣīṇa* (I, 19), *pajjaya* and *pajjāya* - *paryāya* (I, 10; II, 1), *pŏggala* or *puggala* - *pudgala* (I, 34, II, 40, II, 76), *puvva* - *pūrva* (II, 47) Pali *pubba*. Bhāsa has *puruva*,[6] and Hema. requires *purava* in Śaurasenī, *māhappam* - *māhātmyam* (I, 51), *vacchaladā* - *vatsalatā* (III, 46), *Vaḍḍhamāna* - *Vardhamāna* (I, 1), *savvaṇhū* - *sarvajñaḥ* (I, 16), *saṃṭhāṇa* - *saṃsthāna* (II, 60). The simplification of a conjunct is, at times, achieved, by anaptyxis: *arahaṃta arhan* (I, 3), *ariho* - *arhan* (I, 68*3), *kiriyā* - *kriyā* (I, 21, II, 24), *chadumattha* - *chadmastha* (III, 56), *daviya* - *dravya* (II, 62), *pariyaṃta* - *paryanta* (II, 40), *rayaṇa* - *ratna* (I, 30) another reading is *radaṇa*: Bhāsa has both these forms;[7] *vīriya* - *vīrya* (I, 2), *suhuma* - *sūkṣma* (II, 75, III, 17*2, 24*12; once *suhama* III, 24*11).

DECLENSION.—To have some idea of the morphological scheme of the dialect of *Pravacanasāra*, some typical forms are noted here; Masculine nouns, Singular: Nom. *dhammo* (I, 7); Acc. *uvadesaṃ* (I, 88), Inst. *kālena* (III, 75), *guruṇā* (III, 7); Dat *ṇiggamatthāe*(?) (III, 17*1); Abl. *carittādo* (I, 6, see II, 37 for similar forms); Gen. *bhāvassa*, (II, 92), Loc. *loge* (I, 68), *dāṇammi* (I, 69), *cariyamhi* (I, 79). In Pali we have *dhamme*, *dhammasmiṃ* and *dhammamhi*,[8] and the Girnar edict of Aśoka has Loc. sg in -*amhi*[9] Plural: Nom. *samaṇā* (III, 10), *isino* (I, 33); Acc *titthayare* (I, 2), *mohādī* (I, 79), Inst. *vihavehim* (I, 6), *ŏggahādihim* (I, 59), and sometimes without *anusvāra*, Gen *surāṇaṃ* (I, 71), *sāhūnam* (I, 4); Loc *suhesu* (I, 62). Neuter nouns, Singular: *davvam* (I, 8); Acc *jagam* (I, 29), Loc. *jagadi* (I, 26); Plural: [p. 117:] *rūvāni* (I, 28), *liṃgāni* (I, 85). Some typical forms of feminine nouns may be noted: Nom sg *devadā* (I, 68), *sampattī* (I, 5), Acc. sg. *taṇhaṃ* (I, 74);

---

1 Geiger: *Pali L. Spr*, p 67
2 Printz *B P*, p 12.
3 Ibidem p. 12
4 Lüders *Bruchstücke Buddhistischer Dramen*, p. 45.
5 Ibidem p 47.
6 Printz. *B. P.*, pp 5 and 13.
7 Ibid p 12.
8 Geiger. *Pali L Spr.* p. 79.
9 Woolner. *Asoka Text and Glossary*, part I, p xxi.

Inst. *aṇukampayā* (III, 51), *chudhāe* (III, 52), *ṇiyadıṇā* (I, 43), *bhāsāe* (I, 30), *saṇṇayā* (I, 87); Inst. pl. *taṇhāhiṃ* (I, 75); Abl. sg. *uvadhīdo* (III, 19); Gen. sg *itthissa* (III, 24*13); Gen. pl. *itthīṇaṃ* (I, 44); Loc. sg. *uvadhimhi* (III, 15), *cĕṭṭhamhi* (III, 19), *vikadhammi* (III, 15). Some typical forms of consonantal stems may be noted: Nom. sg. *ādā* (I, 66), *ṇāṇī* (I, 28), *bhagavaṃ* (I, 32); Acc. sg. *appāṇaṃ* (I, 33), *kevaliṃ* (I, 33), *ādaṃ* (I, 90); *jammaṇā* (III, 24*7), Gen. sg., *appaṇo* (I, 81), *dehissa* (I, 66) Of the pronominal forms a few typical ones may be noted: Nom. sg. *esa* (I, 1) *jo* (I, 7), *so* (I, 7); Acc. pl. *ede* (I, 91), *te*, *savve* (I, 3); Abl. sg. *jamhā* (I, 20); *tamhā* (I, 84), *jatto* (I, 5), *tatto* (II, 29), Abl. pl. *tehiṃdo* (II, 90); Gen. pl *tesiṃ*, *savvesiṃ* (I, 4, 5,), fem. *tāsiṃ* (III, 24*10).

CONJUGATION.—Coming to the conjugational forms, we have: Present 1st p. sg. *paṇamāmi* (I, 1) *vaṃdāmi* (I, 3), *maṇṇe* (II, 100): 3rd p. sg. *havadi* (I, 65), *hodı* (I, 18), *pajahadı* (II, 20), *passadı* (I, 29), *pĕcchadı* (I, 32), *pāvadi* (I, 88), *pappodı* (III, 75): the forms *pappotı* occurs in AMg. as well, see *Uttarādhyayana* 14, 14 (with a *v. l. pappotti* 3rd p. sg. of the present). cp. Palı *pāpuṇātı*; *jāyadi* (II, 27), *gĕṇhadı* (I, 32), *atthı* (I, 53); *karedi* (I, 52*2), *kīradi* (II, 91), *kuṇadi* (I, 89; II, 57, III, 50), *dharedi* (II, 58), *bibhedi* (III, 20*5); *jādi* (I, 15), *jhādı* (II, 59), *ṇādi* (I, 25); 3rd p. pl. *khīyaṃti* (I, 19*1), *parūvĕṃtı* (I, 39), *vaṭṭaṃtı* (III, 67), *vaṭṭaṃte* (I, 37), *hŏṃtı* (I, 38). The 3rd p. sg. termınatıon, as seen from the above ıllustrations, ıs necessarily *di*, ıt is only in three or four places that Jayasena's text reads *i*, but, being backed by other MSS, I have corrected it to *dı* In gāthā No. III, 20*5, Jayasena has *i* four times; I have not changed it, as I had not the advantage of collating other MSS of Jayasena's text; but it is seen from the varıants, that P has *di* throughout Future 3rd p. sg. *bhavissadı* (II, 20). Imperatıve: 2nd p sg. *jāṇa* (II, 80, 87), *jāṇīhı* (II, 82), *viyāṇa* (I, 64); 3rd p. sg *abhigacchadu* (I, 90), *padıvajjadu* (III, 1), *maradu* (III, 17) The potentıal or the optatıve 3rd p. sg. of the root *as* ıs preserved as *se* - *syāt* (III, 49, 50), which ıs pecuhar to our text, ın AMg. ıt ıs *siyā*, but a prototype of *se* can be suspected in forms like *haṇe* etc.[1] ın *Ācārāṅga* of the Śvetāmbara canon; cp. Palı *labhe*[2] for optative 3rd p. sg.

VERBAL DERIVATIVES.—Some typical present partıciples are: *ahojjamāṇo* - *abhavan* (II, 21), *uvadisadā* - *upadiśatā* (II, 5), *pariṇamado* - *parıṇamamānasya* (I, 21), *pariṇamamāṇa* - *pariṇamamāna* (II, 26) *bhavaṃ* - *bhavan* (II, 14, 20), *vaṭṭaṃte* *vartamānān* (I, 3), *hŏjjaṃ bhavan* (II, 103) Generally, the past passıve partıciple forms are the corruptions of the Sk. forms, the uncertainty about the retentıon or otherwise of intervocalıc *d* upsets these forms to a great extent; some typıcal forms are noted here: *apariccatta* - *aparityakta* (II, 3), *udiṇṇa* - *udīrṇa* (I, 75), *gada* and *gaya* - *gata* (I, 50, 31) *jutta* - *yukta* (I, 70), *ṇivvāda* - *nirvṛta* (I, 82), *dhoda* - *dhauta* (I, 1), *bhaṇıda* and [p. 118·] *bhaṇiya* (II, 32, I, 34), *samāraddha* - *samārabdha* (II, 32), *saṃchaṇṇa* - *saṃchanna* (I, 77), *siliṭṭha* - *śliṣṭa* (II, 96). Some of the typical gerund forms are: *kiccā* - *kṛtvā* (I, 4,82), *paḍucca* - *pratītya* (I, 50), *khıttā* - *kṣiptvā* (III, 20*5), *cattā* - *tyaktvā* (I, 79; II, 98), *dattā* - *dattvā* (III, 29*20), *diṭṭhā* - *dṛṣṭvā* (III, 52, 61; I, 92*8) compare *puṭṭhā*[3] ın *Ācārāṅga* for *pṛṣṭvā*; *āpıccha* - *āpıcchya*

1 Schubrıng: *Ācārāṅga-sūtra* p 12etc

2 Geiger: *Pali L. Spr*, *p.* 110.

3 *Ācārāṅga-sūtra*, ed. Schubrıng, p 34

(III, 2), *āsĕjja* = *āsādya* (I, 5; II, 91, also read *āsijja* III, 2); *abhibhūya* (I, 30; II, 25), *uvalabbha* = *upalabhya* (I, 88), *paṇamiya* = *praṇamya* (III, 2), *pappā* = *prāpya* (I, 65 etc. II, 77-8) the form *pappā* is used by Haribhadra in his *Viṃśatikā*, 16, 16: and It is used in the AMg. canon also, see *Uttarā.*, 36, 9; *jāṇittā* = *jñātvā* (II, 102), *ṇamaṃsittā* = *namaskṛtya* (III, 7), *niruṃbhittā* (possibly a confusion between *ruṃdha* and *rubbha*[1]) = *nirudhya* (II, 104); *suṇidūṇa* = *śrutvā* (I, 62) *bhaviya* = *bhūtvā* (I 12; II, 20) *khavīya* = *kṣapayitvā* (II, 103). Some typical forms of the Infinitive of purpose are: *dedum* = *dātum* (II, 48), *ṇādum* = *jñātum* (I, 40, 48) *bhŏttuṃ* = *bhoktum* (III, 29*20). From the following forms, when studied in their context, it appears that the past passive participles are made to serve the purpose of the past active participles: *uddiṭṭhā* = *uddiṣṭavantaḥ* (III, 24), *kammamevuttā* = *karmaivoktavantaḥ* (I, 42), *samakkhādā* = *samākhyātavantaḥ* (II, 6). The typical forms of the potential passive participle or necessitative are: *abbhuṭṭheya* = *abhyuttheya* (III, 63), *kāyavva* = *kartavya* (I, 67; III, 12), *ṇeya* = *jñeya* (I, 20), *paṇivadanīya* = *praṇipatanīya* (III, 63), *muṇedavvo* = *jñātavyaḥ* (I, 8, II, 2.39), *samadhidavva* = *samadhyetavya* (I, 86), *saṃkhavaïdavva* = *saṃkṣapayitavya* (I, 84)

PARTICLES ETC.—Particles: *a* (I, 85), *ya* (I, 3); *jahā* (I, 30) *jadhā* (II, 82, III, 30), *jadha* (II, 45); *taha* (I, 4), *tahā* (I, 53), *tadha* (II, 6; III,21); *puṇa* (I, 2), *puno* (I, 17), *khalu* (I, 7), *khu* (II, 10); *iti* (II, 5, 6), *idi* (II, 99; III, 4), *ti* (after an *anusvāra*) (I, 36), *tti* (I, 8); with regard to the use of *tti*, following illustration may be noted in which *tti* appears to do away with the preceding termination: *tammaya tti* (I, 8), *parŏkkha tti* (I, 58), *davva tti* (I, 87), *samga tti* (III, 24); *du* (I, 18; II, 30), *vi* (I, 22), *pi* (after an *anusvāra*) (III 3); *hi* (II, 24); *va* (I, 27), *vā* (I, 20); *kahaṃ* (I, 25), *kadhaṃ* (I, 57; II, 21; III, 21), *kiha* (II, 59; III, 58), *kidha* (I, 49; III, 21); *va* (III, 18), *vva* (I, 44), *tāvadi* (I, 70), *ceiya* (III, 74), *jadi* (III, 68); *kila* (III, 29*19 *v. l. kira*).

NUMERALS AND TYPICAL WORDS—Some of the numerals are: *ega* (I, 48), *ekka* (II, 10, 49); *duga* (II, 49); *cadu* (II, 55); *paṃca* (II, 54*3). A few typical words, which have not been illustrated heretofore, can be noted here: *jāṇaṇā* = *jñaptiḥ* (I, 34), *jidiṃdo* = *jitendriyaḥ* (III, 4), *jugavaṃ* = *yugapat* (I, 47), *joṇhaṃ* = *jainam* (I, 51, 88, III, 6, once the reading is *jĕṇhaṃ*), *dugumchā* = *jugupsā* (III, 24*9) cp. Pali. *jigucchā*.

THE PLACE OF THIS DIALECT AMONG THE PRAKRITS —With this grammatical survey it is possible to define the position of the dialect of *Pravacanasāra* in the scheme of Prakrit dialects. This dialect, in fact, has [p. 119.] many features common to Prakrits, as a whole, such as the loss of vowels *ṛ* and *ḷṛ* and of the dipthongs *ai* and *au;* general tendency towards changing the intervocalic consonants, reduction of the three sibilants to one; the reduction of the nasals, and the tendency to assimilate the conjunct when it is not simplified by anaptyxis. Words like *mĕtta*, *vihūṇa*, *vuḍḍha* etc. may be found in almost all dialects. With respect to vowel changes and the consequent forms of words like *iḍḍhī*, *isī*, *orāliya*, *ohi*, *dosa*, *nisĕjjā*, *pagaḍa*, *vasaho* (°*bho* in Ardha-Māgadhī), *veuvvio*, *saṃvudo* etc., they are a common property with AMg. of the Śvetāmbara canon, some of them are found in Jaina Māhārāṣṭrī of the Śvetāmbara

1 See Hema Prakrit Grammar, iv, 218, 245

post-canonical literature, only because JM. inherits many features of AMg. Forms like *pagada, pudhatta* etc. smack of Śaurasenī.

The treatment accorded to intervocalic consonants, especially stops, is of a very uncertain character, the general tendency is towards softening or retention, a phenomenon quite usual in the early text of the AMg. canon and in Śaurasenī; in Bhāsa's Śaurasenī retention or softening of intervocalic consonants is still facultative, while in that of Kālidāsa the tendency is towards omission. It must be remembered that the Śvetāmbara canon has been, in later days, subjected to a strong Māhārāṣṭrī influence, because, since the days of Valabhī redaction, 980 years after Mahāvīra, the canon came to be shaped, nourished, nurtured, copied and studied, in Western India, especially in Gujarāt and Kathiawar. Still words like *anega, udahī, logāloge, vibhāga* etc. can be seen on any page of the canonical texts, and they indicate the basic non-Māhārāṣṭrī element of AMg. The softening of *k* to *g* is merely an extension of Śaurasenī phenomenon, generalised by grammarians, of softening *t* and *th* to *d* and *dh*. The retention of *g* is quite normal in AMg. of the canon. The retention of *c* and *j* exhibit a strong contrast with normal Māhārāṣṭrī. The softening of *t*, which is almost universally taken recourse to in *Pravacanasāra* is peculiarly Śaurasenī and extended by grammarians to Māgadhī and other dialects; as a result of this the Present 3rd p. sg. termination is necessarily *di*, which, according to critical editors is *i* in AMg texts, though some editors of the orthodox school would preserve *ti*. The treatment accorded to dental nasal in *Pravacanasāra* is worthy of note: it is universally cerebralised whether initial, medial or conjunct, and this is in agreement with Śaurasenī. Turning to Prakrit grammarians on this point, Vararuci wants unexceptional cerebralisation, while Hemacandra says that dental may be retained if initial. Coming to the practice in AMg., the MSS are never in agreement, but critical scholars, from Weber to Vaidya,[1] have created a substantial convention of retaining a dental at the beginning of a word and of changing it to cerebral elsewhere. Exception is, however, made in the case of *nam*.[2] With regard to conjunct *nn* or *ṇṇ*, Dr Jacobi's rule[3] is that *ṇṇ* should be preferred, if there is *ṇ* in the Sk. original, otherwise *nn*, but one must say that [p. 120:] Dr. Jacobi has over-extended his convention, when he prints *savvannū*, which, as a matter of phonetic necessity, should be *savvaṇṇū*.[4] Our MSS. of *Pravacanasāra* are almost in agreement in preferring *ṇ* everywhere, and that has been uniformly followed. The treatment of aspirated consonants *th, dh, bh* at times agrees with AMg. and at times with Śaurasenī. The phenomenon of *ya-śruti* is practically the same as in AMg. canon, though in JM., as seen in modern editions, there is a tendency to observe strictly the rules of Hemacandra. In AMg. there are many cases where *r* is changed to *l*; but in our text the tendency is towards retaining *r*, though we have a few cases of *r* changing to *l*; this is more in agreement with Śaurasenī.

---

1 Weber Uber ein Fragment der *Bhagavatī*, Berlin, 1866-7; Dr Vaidya his editions of *Nirayāvaliyāo, Antagadadasāo* etc, *Vivāgasuya* and *Paesikahāṇaya* etc Poona

2 Leumann retains forms like *ṇūṇaṃ*, *ṇo* etc, see his *Das Aupapātika-sūtra*, sections 132-3, 137, Dr.Vaidya: *A Manual of Amg Grammar*, pp 21-2

3 Dr. Jacobi: *Āyāraṃga sutta*, PTS London 1882, p. xv

4 Hema Grammar, VIII, i, 56, ii, 83

Coming to the treatment of conjunct consonants, typical words like *ādā* (*āyā* in AMg.) *gilāṇa*, *ṇiddho*, *thāvara*, *suhuma*, etc, are quite usual in AMg. canon. In *Pravacanasāra* we get *puvva*, which, according to Hemacandra, is optionally *purava* in Śaurasenī

In morphology the Nom. sg. termination of *a*-stems is *o*, which agrees with Śaurasenī and partially with AMg The Loc sg. has *e*, *-ammi* or *-aṃmi* and *-amhi* or *-aṃhi* *e* and *-ammi* are normal in AMg. It is a point *sub judice*, whether *-ammi* is possible in Śaurasenī, it is not forbidden by Hemacandra: it is only later grammarians like Mārkaṇḍeya that have not allowed it in Śaurasenī. With no discredit to the worth of Prakrit grammarians, I might say that it is an innocent anachronism that Mārkaṇḍeya should be a judge on the Prakrit of a writer like Rājaśekhara, though eminent Prakritists like Konow have adopted this view If usage (evidenced by good MSS.) and phonetic possibility are taken into consideration, *-ammi* is not impossible in Śaurasenī. Our text has *amhi* in addition, it is also spelt as *-aṃhi* · it is found in the Girnar edict of Aśoka as already noted above. The Loc sg. of *jagat* as *jagadi* only betrays strong Sk. influence. The instrumental sg termination for fem. nouns ending in *ā* is *e*, which is quite normal, but at times the Sk form is retained as in *anukampayā*. The Loc sg. forms are worthy of note, as some fem. nouns with *ā* stems are treated as masculine nouns in *a*-stems· *vikadhammi* from *vikathā*, *ceṭṭhammi* from *ceṣṭā* etc , the Gen sg of *strī* is *itthissa*· these forms of feminine nouns are, so far as I know, the peculiarities of our text alone Coming to the pronominal forms the Abl. pl of *tad* is *tehiṃdo* which is Śaurasenī with vengeance.

The present 3rd p sg. termination is decidedly Śaurasenī. The future 3rd p sg form *bhavissadi* is not Śaurasenī according to Hemacandra's standard The forms of the gerund and infinitive of purpose agree either with AMg. or Śaurasenī; if not, they are the corruptions of Sk. forms, directly or through false analogy, according to recognised rules of phonetic corruption

Besides this vacillation between AMg and Śaurasenī, there is another strong influence working on the Pk dialect of *Pravacanasāra* and that is of Sanskrit. We come across forms like *jāṇannavi*, *tanna*, *tavvivarīdo* etc , which indicate that the author has in his mind the Sk. idiom quite predominantly This explains also the tendency to retain intervocalic *c* at times and even *p* in [p 121:] phrases like *ghoramapāram* Even the ready-made Sk. forms are subjected to phonetic corruption and imported, for instance *jagadi*, *divā* (*diyā* in AMg), *nādā* (I, 42) *sannayā*, which are very scarce elsewhere. The past p participles and the gerund forms show that they are corruped from Sk Some roots necessarily retain their Ātmanepada colour The verbal forms like *jaṇayaṃti*, *pappodi* and *bibhedi* substantiate the same conclusion.

Thus this dialect of *Pravacanasāra*, in short, inherits many features of AMg dialect of the Śvetāmbara canon, it is nourished in the back-ground of Śaurasenī, and thereon a strong influence of Sanskirt is working

VIEWS ON THE NAME OF THIS DIALECT – Then what significant name can be given to this dialect of *Pravacanasāra*? Pischel,[1] with the analysis of a few gāthās from *Pravacanasāra* and *Kattigeyāṇuppekkhā* as quoted by Bhandarkar,[2] came to

1 Pischel *Gr. Pr Spr* , p. 20

2 *Report on Search for Sanskrit* MSS , 1883-84

the conclusion, with a remarkable grasp and suggestiveness, that this dialect should be called Jaina Śaurasenī. This christening was quite in agreement with the precedent that the dialect of the post-canonical literature of the Śvetāmbaras, which represented an admixture of Ardha-Māgadhī and Māhārāṣṭrī, was called Jaina Māhārāṣṭrī by Dr. Jacobi. But some German scholars have questioned the accuracy of the designation, Jaina Śaurasenī. In his lecture,[1] delivered at Delhi, in 1928, Dr. Walther Schubring passingly refers to the fact that the Digambara works like *Mūlācāra* etc. are interesting for the grammatical exposition as shown by one of his pupils, who was connected with an investigation in *Mūlācāra* and other important Digambara treatises; and in conclusion he remarks: 'The future will teach us whether the signification Pischel proposed, *viz.*, Jaina Śaurasenī, will appear adequate.' It appears that Dr. Schubring is sceptic on that point. Dr. Schubring here refers, as he informs me in one of his letters, to an unpublished thesis 'Digambara texts', written in 1922 by his pupil Dr. Walter Denecke. Though the complete text of the thesis was not printed and published, the writer himself has given an abstract of it in the Jubilee volume[2] for Professor Jacobi. In his observations on the Digambara texts Dr. Denecke discusses various points about some Digambara Pk. works, such as *Mūlācāra* of Vaṭṭakera, *Kattigeyāṇuppekkhā* of Kumāra, and *Chappāhuḍa*, *Samayasāra* and *Pañcāstikāya* of Kundakunda; it is only on the language of these works that W. Denecke concentrates his attention; and most of his illustrative forms have been drawn from *Chappāhuḍa*. On the whole, the dialectal facts arrived at by Denecke are practically the same as those noted by me above in connection with *Pravacanasāra* except in one respect. He remarks that the language of these works is influenced 'by Ardhamāgadhī, Jaina Māhārāṣṭrī which approaches it and Śaurasenī'; from some of the illustrations given by himself, he would not hesitate to accept the influence of Sk. The only one aspect, where our facts are not in agreement, is that he finds some Apabhraṁśa forms in *Chappāhuḍa* [p. 122:] and *Kattigeyāṇuppekkhā*; and as he has not given any Apabh. forms from *Pravacanasāra*, my conclusions remain unaffected. The majority of Apabh. forms, which Denecke notes, are from *Chappāhuḍa*; and the reasons why in *Chappāhuḍa* alone so many Apabh. forms are found are these: the Pāhuḍas are easy and hence very often studied, in early days even the commentaries were not needed, the only commentary that appears to have been written and is available is that of Śrutasāgara, who lived about the beginning of the 16th century A.D.[3], so the texts of Pāhuḍas have suffered dialectal changes here and there in the course of oral transmission and study; and the Apabh forms are there, because the Digambaras were cultivating Apabhraṁśa side by side with other languages, either traditionally inherited or adopted from different places, wherever they went.

DENECKE'S VIEW CRITICISED, AND JAINA ŚAURASENĪ AS THE SIGNIFICANT NAME.—In the light of the dialectal facts considered by him, Denecke says that it was unlucky that Pischel called this dialect as Jaina Śaurasenī; that Pischel's treatment

1 Published in *Vīra*, a Hindi Monthly, vol. V, pp. 11-12

2 *Festgabe* Hermann Jacobi zum, 75, Bonn 1926.

3 *Annals* of the B. O. R. I., XII, ii, p. 157.

and conclusion are not free from mistakes; and that according to his opinion, the name 'Digambari language' is a better designation. I do not understand, when there is practical agreement between Pischel and himself, and between his results and those of mine (excepting Apabh. elements in *Chappāhuḍa*), why Denecke objects to the designation, Jaina Śaurasenī. Any name can be given, just as Dr. Jacobi once intended to call Jaina Māhārāṣṭrī as Jaina Saurāṣṭrī;[1] but one must prove first that the name previously suggested is connotatively defective, and that the name proposed is more significant. As remarked above, Pischel's designation has been not without a precedent; and the name, Jaina Śaurasenī, is capable of signifying the main traits of this dialect. The word Jaina shows that it is primarily handled by Jaina authors and that it contains some dialectal features of Ardha-Māgadhī, the traditional name of the canonical language of the Jainas, the word Śaurasenī shows that it has some parellels with Śaurasenī of the grammarians and even of the dramas: and further the term Śaurasenī is wide enough to imply the Sanskritic influence, as the Śaurasenī of Sk. dramas is moulded after the fashion of the Sk. idiom So Pischel's designation is sufficiently significant, and no new christening is needed The new name proposed by Denecke is not significant and comprehensive. The name, Digambari language, on the very face of it, does not indicate a Pk. dialect; it ignores the deep Śaurasenī back-ground of the dialect, and it is misleading, in view of the fact that the Digambara authors have adopted, at different periods as well as side by side, different languages and dialects as the one we are discussing, Sanskrit, Tamila, Kannaḍa, and so forth. Thus Denecke's proposed designation is not significant, as it includes matter not needed and excludes important traits of the dialect. I am aware that this Jaina Śaurasenī, the dialect of the gāthās of *Pravacanasāra*, has come, in later days, under the influence of Māhārāṣṭrī and Apabhramśa, but that is outside the scope of the present discussion To conclude, [p. 123:] Pischel's designation *viz.*, Jaina Śaurasenī, is sufficiently significant, and it need not be changed, simply for the sake of changing it.

HISTORICAL BACK-GROUND OF JAINA ŚAURASENĪ.—Is it possible to outline the historical back-ground and the circumstances, that might have been responsible for the shaping of the Jaina Śaurasenī dialect? A couple of centuries after the *nirvāṇa* of Mahāvīra, as a result of the severe famine that is said to have taken place in Magadha, a portion of the Jaina community, under the leadership of Bhadrabāhu, migrated to the South;[2] and this has been the historical starting point of Jainism in South India. The Jainas, that migrated to the South, could conveniently stick up to their ascetic practices; but those, that remained behind, became slack, to a great extent, due to difficult days of famine. At the end of the famine, the members of the ascetic community in the North convened a *saṁgha* for the restoration of the sacred canon, as so many monks, who were the repositories of the sacred lore, had been the victims of famine. It was at Pāṭaliputra that the canon was shaped, as it was then available from the various monks that had survived the famine. This canon, naturally, being shaped wholly by those that were remaining in the North and who had

1 His Intro. to *Kalpasūtra* p. 18, Leipzig 1879.

2 *South Indian Jainism* chap. II; *Ardhamāgadhī Reader* ixl etc.

apparently slackened their ascetic practices, was not acceptable to those that had migrated to the South. Here is the visible seed of the division of the Jaina church under the denominations of Śvetāmbara and Digambara, as they came to be known later on. It was a practical step, on the part of the Śvetāmbaras, that they tried to restore the sacred texts as much as it was possible under the then prevailing circumstances; and it is this canon, after passing through various vicissitudes, that was committed to writing, almost as it is to-day, under Devarddhigaṇi, at Valabhi, in the year 983 after the *nirvāṇa*, of Mahāvīra. The Digambaras, in their zeal for the genuine canon, did neither restore it themselves, nor could they accept the canon as shaped by the Pāṭaliputra *saṃgha*, with the result that the community, as a whole, came to lose the sacred canon. But, when we take into consideration the ancient method of study, that the teachers and pupils relied more on their memories than on the material accessories of knowledge like MSS. etc., it is imaginable that the leading teachers among the Digambaras, in the South, might have utilised, on such an occasion, the knowledge of what they had studied from their teachers, and, to satisfy the religious needs of the community in the south, they might have composed small treatises, not as the sacred canon, which, as they understood that term, was lost beyond recovery, but as mere memory-notes of what they had received traditionally from their teachers, and it is to this class of literature that the works of authors like Puṣpadanta, Bhūtabali, Vaṭṭakera, Kundakunda and Śivārya belong Their works are written in a language, which inherited many dialectal characteristics of AMg., in which the traditional canon was originally preserved, why, between the works of these authors and the works of the Śvetāmbara canon, we have many common ideas, nay common verses.[1] these common verses do not imply [p 124] mutual borrowing, but prove a common heritage of both These things clearly explain the AMg elements in Jaina Śaurasenī The strong Śaurasenī colour must have been due to central Indian influence,[2] and, as the Digambaras continued their literary activities in the extreme South, their dialect could remain immune at least for a long time, from the onslaughts of Māhārāṣṭrī That the Digambaras were partial to Śaurasenī is also clear from the manner in which they enriched the Kannada vocabulary under Prakritic influence: and when we see forms like *sakkada* *saṃskṛta* in Kannada, we are tempted to say that it was Śaurasenī grammar that helped them to transform Sk. words and then to import them into Kannada.[3] Further, the Sk influence on Jaina Śaurasenī can be easily explained by the fact that the Jainas, in the South, were soon driven by circumstances around to adopt Sanskrit, and we find that Jaina authors like Samantabhadra, Pūjyapāda, Anantavīrya, Akalaṅka and others cultivated chaste Sanskrit This strong inclination towards Sk and the absence of the reservoir of the AMg canon brought Jaina Śaurasenī under Sk. influence The Śvetāmbaras in the North could not show much influence of Sk on their

1 The problem raised by the common verses between *Mūlācāra* and *Āvaśyaka-niryukti* and between *Prakīrṇakas* and *Bhagavatī Ārādhanā* will be taken up in a separate paper.

2 See Chatterjee. *Origin and Development of Bengali Language*, pp 60-1

3 The apabhraṁśa-prakarana, chapter VIII, of the Kannada Grammar, *Śabdamaṇi-darpaṇa* of Keśirāja, gives rules of corrupting Sk. words; these rules remind us of similar ones in Prakrit grammars, some of which are special to Śaurasenī

Prakrit, because they constantly studied their canonical works and post-canonical ones like *Nijjuttis* and *Cūrṇīs*, all in Prakrit, which were sufficiently large in bulk; and moreover they took up Sk. rather late. Just as the Jaina Śaurasenī is influenced by Sk., so the Sanskrit used by Śvetāmbara writers, because of their partiality towards and constant study of their texts in Prakrits, is greatly influenced by Pk. idiom; and that is why we find non-Sanskritic elements in many of the Śvetāmbara Sk works The conspicuous absence of Deśī words in *Pravacanasāra*, possibly indicates that the Jaina Śaurasenī was nourished, or rather preserved, in the extreme South, isolated from the growing varnaculars of the Aryan tongue in the North; and further, the South Indian vernaculars like Tamila, Kannada etc , perhaps phonetically, or due to small stock of vocabulary in early days, were inadequate to give loan words etc while the AMg. canon in the North was being nourished on parallel lines with the growing vernaculars and hence the possibility of more Deśī words etc. therein. I would call these early Jaina Śaurasenī works as the Pro-canonical texts of the Jainas

JAINA ŚAURASENĪ AND JACOBI'S PRE-CLASSICAL PRAKRIT —Now remains one point as to the relation of Jaina Śaurasenī with the pre-classical Prakrit postulated by Dr. Jacobi.[1] Māhārāṣṭrī, as its name possibly indicates, had its cradle in Mahārāṣṭra, though it is difficult to define its boundaries at the beginning of the Christian era It was from the region of its birth that it must have spread into Northern India. It does not appear in the dramas of Bhāsa, but, by the time of Śūdraka and Kālidāsa, its place appears to be recognised for verses This comparatively late appearance of Māhārāṣṭrī in literature does give rise to a question as to what possibly might have occupied [p 125.] the place of this dialect in early days. Dr. Jacobi postulates that there must have been some Prakrit, which he calls pre-classical Prakrit; and further he shows that he finds the traces of this Prakrit dialect in the *Nāṭyaśāstra* of Bharata. This pre-classical Prakrit was marked by the optional retention, change or loss of intervocalic consonants, by the softening of *t* to *d* and the gerund in *iya*, and by some kinship with the dramatic Śaurasenī· and also, according to Dr. Jacobi, it shows some traces of Māhārāṣṭrī in the Loc. sg in *-ammi* and gerund in *ūna*. But, in view of the fact that the Śaurasenī of the fragments of Buddhistic dramas does not yet show the softening of *t* to *d*, Dr. Jacobi suspects that originally it must have been foreign to dramatic Śaurasenī, but later on adopted therein from the pre-classical Prakrit, partial glimpses of which are traceable in *Nāṭyaśāstra* This postulation of pre-classical Prakrit is really ingenious and explains many otherwise conflicting facts, but the question remains whether Dr. Jacobi would have come to these very conclusions, if he had compared the so-called Pali phonology with his postulated pre-classical Prakrit This he has not done. The so-called old Śaurasenī elements in the fragments of Buddhistic dramas can well be possible in Pali, such as the retention of intervocalic consonants, the change of *ny* to *ññ* and so forth; in almost all the three dialects called Old AMg., Old Śaurasenī and Old Māgadhī by Dr. Lüders,[2] we find that there is no tendency towards cerebralisation of *n*, and this might be a Pali influence on the various dialects, as a whole, as handled by Aśvaghoṣa. What then is

1 Dr Jacobi: *Bhavisatta Kahā* von Dhanapāla pp. 81*-89*.

2 Dr. Lüders: *Brüchstücke Buddhistischer Dramen* pp 33-34

the relation of this postulated pre-classical Prakrit with the Jaina Śaurasenī? The so-called specialities of this pre-classical Pk. are practically found in Jaina Śaurasenī, as we have analysed it from the gāthās of *Pravacanasāra*. The postulate of Jacobi has one disadvantage that the dialectal facts from *Nāṭyaśāstra* will have to be accepted with caution; of this he himself is aware, and makes sufficient concession for Sanskritisms and scribal errors.[1] The so-called antiquity of the orthography, *hṇ* rather than *ṇh*, might be merely the scribe's habit of writing Sk. Comparing the dialectal stage represented by *Nāṭyaśāstra* with that of *Pravacanasāra*, one is struck with close similarities; if Sanskritisms like *viśuṣka*, *bhramarāvalī*, *sahasra*, *yuvati* etc. are taken to be, and they are, chronologically late features imposed on the pre-classical Prakrit, then the Jaina Śaurasenī, which exhibits comparatively less Sanskrit influence, might represent chronologically an earlier stage than that of *Nāṭyaśāstra*. And I think that the dialectal characteristic of this pre-classical Pk. will have to be decided by a comparison of common verses between the Śvetāmbara canon in AMg. and the Pro-canonical literature of the Digambaras, without ignoring, of course, the Pali parallels, and the results are sure to be reliable, because these two tracts of literature have been preserved independently and with a remarkable mutual isolation

[p. 126:] The cumulative effect of the dialectal stage of Jaina Saurasenī on the probable period of Kundakunda, the author of *Pravacanasāra*, is already touched upon above

1 The Prakrit verses have been critically edited recently, see *Indian Historical Quarterly* vol VIII, iv

Post Script:

ADDITIONS ETC. TO THE INTRODUCTION

Page 1, paragraph 1: Pt. Jugalkishore Mukthar has written an exhaustive and learned Review of my edition of the *Pravacanasāra* in the *Jaina Siddhānta Bhāskara*, IV, i, pp. 53–69, Arrah 1937. Some of the facts brought to light by him merit attention. See also his note on Kundakunda and his works in his Introduction, pp. 12 f, to the *Purātana Jainavākya Sūcī* (P J S), Sarsawa 1950.

Pt Kailash Chandra Shastri has written an exhaustive Introduction in Hindi to his *Prābhrta-Saṁgraha* (Jīvarāja Jaina Granthamālā, No. 9, Sholapur 1960) Though he has substantially used this Introduction, now and then he has made his own suggestions and additions which deserve notice Some of the important ones a' noted by me here and there below

Paragraph 2: The figures in square brackets refer to the pages of the earlier edition brought out by me in 1935.

Page 8, last word of the first paragraph, namely, 'the Mānusa region': Pt. Jugalkishore is not ready to accept this conjecture, see his Review noted above. Pt Kailash Chandra's observations may also be seen Vide his Introduction noted above

Page 9, paragraph 2, on th word *Vādanyāya*: There is a work *Vādanyāya* by Dharmakīrti as well. The first section of it is edited by Rahula Sankrityayan in the *Journal* of the Bihar and Orissa Research Society, XXI, 4, December 1935

Page 16, on the word 'Suyakevali,' in line 5: Pt Jugalkishore's observations in his Review and Pt. Kailash Chandra's remarks in his Introduction, noted above, may be taken into account.

Page 17, on the words '*Jayadhavalā* commentaries,' in line 26 Pt Jugalkishore has shown in his Review, noted above, that the *Dhavalā* contains reference to *Parikarma* Dr H L Jain has given references to the contexts in the *Dhavalā* where *Pariyamma* is mentioned He shows that it was a commentary on the *Ṣaṭkhaṇḍāgama* and quite authoritative. Though the name of the author is not noted, it is probable (from some common expressions in the *Niyamasāra*) that its author might have been Kundakunda (*Dhavalā*, vol. I, Intro. pp. 46 f., Amraoti 1939. For reference to *Parikarma* in the *Jayadhavalā*, see Kasāyapāhuḍa, Vol. I, Intro p. 34, Benares 1944) For some observations in this context see also *Tiloyapannatti*, part II (Sholapur 1951), Intro. p. 6. Pt Kailash Chandra also (in the manner of Dr H. L Jain) has collected (see his Intro. noted above) a number passages from the *Dhavalā* which refer to

Parikarma. In his opinion its contents primarily covered Saiddhāntika-gaṇita. It is mentioned as *Parikarma-sūtra*; it is closely connected with the *Ṣaṭkhaṇḍāgama* on which possibly it was a Vyākhyā, now and then expressing different views. Vīrasena does not mention the name of the author, but Pt. Kailash Chandra is inclined to accept Kundakunda as its author, because Indranandi says so and because some of its expressions have their counterparts in the *Niyamasāra* as already noted by Dr. H. L. Jain.

Page 21, para 2, on the words 'Christian era': Muni Śrī Kalyanavijayaji has advanced some arguments against an early date for Kundakunda (*Śramaṇa Bhagavān Mahāvīra*, Jalor 1941). But his observations are not objectively presented; nor do they stand strict critical scrutiny. Some of his arguments are already met by my discussion to which he makes no reference. On his other details, I may just passingly note the following points: i) The Hindu deities Viṣṇu, Brahman etc. are mentioned in the *Sūtrakṛtāṅga* (I 6 21; I. 1 5, etc.), one of the earliest works in the Ardhamāgadahī canon; and it is not correct to presume that these are just deities of the Purānic age. ii) Reference to Caityagrha has nothing to do with Caityavāsa iii) It is still to be proved that the *Rayaṇasāra* is the work of Kundakunda, the author of the *Pravacanasāra*. iv) Some of his presumptions are obviously incorrect. In chronological discussions evidence is more valuable than anybody's opinion, however ingenious it might be.

Pt Sukhalalaji has expressed his assertive voice against such an early date for Kundakunda (*Sanmati Prakarana* (Hindi), Ahmedabad 1963) But he has not presented any evidence which could be weighed by a historian of literature. It is not the conclusion but the evidence which is presented that matters more in objective studies The philosophical concepts and the attendant terms have flown in India in various currents and cross currents, and there is very little individualistic about them. So any attempt to come to chronological conclusions on the basis of similarities of ideas and so on will always remain problematic F W Thomas (vide his Intro. to the *Pravacanasāra* pp. 16 ff, Cambridge 1935.) has already made an objective attempt in this direction by putting together various terms etc (as a sign of antiquity) used by Kundakunda whom he puts earlier than Umāsvāti and would not at any rate put him after Siddhasena as perhaps Pt. Sukhalalaji has in his mind. The studies about Kundakunda are still in their infancy, and there is scope for further investigation. It is well-known that scholars are not agreed even on the age of Kālidāsa for the simple reason that some of them try to usher in arguments which have hardly any relevance and definiteness while determining questions of chronology. This is a good lesson for us who are working on chronological problems.

Page 22, foot-note 2: It is suggested that Koṇḍakunde-Konkondla (Anantapur Dt.) is the place to which Kundakunda belonged and possibly derived his

name from that place. It is an interesting suggestion and can be accepted as a workable hypothesis for the present (P. B. Desai: *Jainism in South India*, Sholapur 1957, pp 152 ff.)

Page 25, paragraph 1, on the word 'Mūlācāra'. See Pt. Jugalkishore's observations on this work in his Intro. pp. 18f. of his P.J.S. Pt. Paramanand has written an article (*Anekānta*, II, 3, pp. 221 f.) that Kundakunda should be looked upon as the author of the *Mūlācāra*, but the evidence presented is not conclusive. He shows further (Ibidem pp 319f.) how it has a number of gāthās common with other works See also Pt. Hiralal's article on this work (Ibidem XII, 11, p. 330ff.). He has further noted (Ibidem pp. 362f.) how the *Mūlācāra* shares some gāthās with the works of Kundakunda. The Samayasārādhikāra of the *Mūlācāra* (X. 89–90) has a few gāthās common with the *Sanmati* of Siddhasena (II 40–53), see the *Sanmati Tarka*, English, Intro. p 71, Bombay 1939 Even the name of the author or compilor is still obscure It is necessary, however, to treat the present chapters of the *Mūlācāra* as independent Prakaraṇas put together under one title In this context see the foot-note No 3 on p. 31 below.

Page 27, paragraph 2, on the word 'Daṃsaṇapāhuda'. Dr. W. Schubring has written a learned paper 'Kundakunda echt und unecht' in ZDMG, Band 107–Heft 3 (December 1957), pp 557f. It throws a searching light on the language and contents of some of the Pāhudas, and whether the author of the *Pravacanasāra* etc is the same as the author of some of the Pāhudas is an open question. It is an urgent desideratum that these Pāhudas should be critically edited

Page 28, second paragraph, on 'Cāritta-pāhuda' There is a thorough and excellent study of the entire range of the Śrāvakācāra presented by Dr. R. Williams in his *Jaina Yoga*, London Oriental Series, Vol. 14, London 1963.

Page 38, foot-note No 1, add after 'Lucknow 1931'· Lately there is another edition of the *Niyamasāra* with Padmaprabha's comm and Gujarati Anuvāda by H. J. Shaha, Śrī Jaina Svādhyāya Mandira Trust, Sonagadh 1951.

Page 39, foot-note from the earlier page, add at the end of it after the word 'commentary': My paper on this subject submitted to the Eighth Session of the All-India Oriental Conference, Mysore, is published, in its revised form, in the *Journal* of the University of Bombay, XI, ii, for 1942, pp. 100f.: Padmaprabha and his commentary on the Niyamasāra'. All the quotations are listed and an attempt was made to put broad limits to his age which was assigned to 'the last quarter of the 12th century and the first quarter of the 13th century A D ' With more specific evidence, namely, the epigraph from Pataśīvaram (Dt. Anantapur) which gives so many details about Padmaprabha, it is shown now (P.B. Desai· *Jainism in South India* and Some Jaina Epigraphs, Sholapur 1957, pp 159–60) that he passed away on Monday, February 24, A.D. 1185.

Page 47, foot-note 4, add at the end of it: This promised English translation of the *Pravacanasāra* and its Sanskrit commentary by Amṛtacandra by

B. Faddegon is edited with an Introduction by F.W. Thomas and published as Vol. I, Jaina Literature Society Series, Cambridge 1935. The learned Editor has discussed some important points in the Intro. which deserve special attention, such as the relative ages of Kundakunda and Umāsvāti, ancient character of the works of Kundakunda in the light of his terminology and references, some techinical usages of Kundakunda etc. An edition of the *Pravacanasāra*, Text, Amrtacandra's comm. and Gujarati Translation is brought by H.J. Shaha, Songadh 1948, and there is a Hindi counterpart of this edition by Pt Parameshthidas, Maroth 1950. A metrical version of the *Pravacanasāra* in Hindi by Vṛndāvana (see p 106, foot-note 3, below) was already published by the Jaina Hitaishī Kāryālaya, Bombay 1908. Lately, a Gujarati Padyānuvāda has appeared, Songadh 1950. A Marathi Padyānuvāda by Shri M H Gandhi is published in the *Āryā Kundakunda*, Osmanabad 1952. By the bye, in 1915, an edition of the *Pravacanasāra* by the late T.K. Laddu was announced in the S B J. (see the list of proposed publications in the *Paramātma-prakāśa*, Arrah 1915); possibly due to the sad demise of the editor no such edition could be brought forth

Page 47, at the close of the first paragraph, on the word 'Jainism': Pt Sukhalalaji (*Sanmati-prakarana*, Hindi, pp. 40ff. Ahmedabad 1963) has instituted a comparison between the works of Kundakunda and the *Sanmati-prakarana* of Siddhasena He has detected between them common expressions, similarity of style, parallel contents and some improvements-deviations here and there. It is necessary that this study has to be extended to the Stutis as well. If one treats the entire early Jaina literature as one unit of study and is guided only by the available evidence, the irresistable conclusion is that Siddhasena took the clue of the Yugapad-vāda (see the foot-notes 1 and 2 on pp. 39 and 76-7 below) from Kundakunda and consequently the make-up of his *Sanmatiprakarana* is much influenced by that of the *Pravacanasāra* of Kundakunda Possibly to sidetrack this conclusion, Pt Sukhalalaji, if I understand him right, is postulating the currency of the Yugapad-vāda to some extent even in early Śvetāmbara literature (Ibidem pp. 54 ff)

Page 48, paragraph No 2. In the Review, noted above, Pt Jugalkishore raises the question of the gāthās found common between the *Pravacanasāra* and the *Tiloyapannatti* of Yativṛṣabha See his article on this topic in the *Anekānta*, Vol. II, No 1, pp 3 f, Delhi 1939, also his further discussion in his Intro. to the P.J.S., pp. 27f. This subject is discussed in the Intro., in English and Hindi, to the *Tiloyapannatti*, part II, Sholapur 1951.

Page 51, first paragraph, line 10, on the word 'Haribhadra': Both these verses, as quoted by Haribhadra, are found in the *Sāvayapannatti* attributed to Umāsvāti (Bombay 1905) but possibly composed by Haribhadra himself, see verse Nos. 223-4, p. 122.

Page 52, first foot-note continued from the earlier page: On this conjecture see Pt. Jugalkishore's views in his Review noted above.

Page 68, foot-note 5. When I wrote this I was not aware of a foot-note of H. Jacobi (SBE, 45, Jaina Sūtras part ii, pp. 406-7, foot-note 3) where he describes the five bodies which an individual possesses according to Jainism, and at the close of his note, he remarks 'Compare also the Sāmkhya terms *vaikṛta* and *taijasa*, Garbe, *Die Sāmkhya Philosophie* pp. 236, 249' It appears that the remaining terms had not then attracted his attention. At any rate the similarity, very close one indeed, is a fact.

Page 73, line 7, on the word Brahman. Brahman as an omniscient Being, see the *Vedānta-siddhānta-sūkti-mañjarī*, Calcutta Sk. Series, No. IV, Intro p. 39, note also the text, pp 57–60.

Page 84, foot-note 1: Haribhadra also has quoted this line in his commentary on the *Dasaveyāliya*, I, 3 So possibly it is a pretty old definition traditionally handed down

Poge 92, line 7 · The *Sūyagaḍam* possibly accepts a naked monk as an ideal one (I, 7, 22), and *nāganiya* means a nude monk

Page 94, paragraph 2, on the word style etc In this context, the observations of Dr F. W. Thomas deserve special attention· 'His [i. e., Amṛtacandra's] commentary on the *Pravacanasāra* is elaborate and of a severe, almost painful, precision which leaves nothing to be supplied and by no means shrinks from reiteration He is an excellent master of Jaina Sanskrit. he employs a fullness of phrase which not unfrequently gives an impression of an enjoyment of sonorous circumlocution and complicated sentences rather than of a simple striving for exactitude, and which renders the work of interpretation and translation extremely difficult, but no special charity is required for recognising in the remorselessness of style the outcome of an inflexible religious faith Like other Jaina writings, the commentary is entirely void of personal display, but there are some few passages where it adopts a strain of enthusiasm and even indulges in verse (p 24, Intro. to the ed., noted above, on p 47)

Page 96, at the end of the paragraph, on the words '10th century A D' See Pt. Paramananda's note on Amṛtacandra in the *Anekānta*, VIII, pp 173-4 Jayasena, the author of the *Dharmaratnākara*, composed at Sakalīkarahāṭaka in Samvat 1055 (–57- 998 A D.) quotes many verses from the *Puruṣārtha-siddhyupāya* of Amṛtacandra. So Amṛtacandra must have flourished earlier than 998 A D See also *Jaina Samdeśa, śodhānka* V, pp. 177 f., Mathura 1959, *The Voice of Ahimsā*, Vol. XI, No. 6, June 1961.

Page 96, on the foot-note No 2 This reference is elaborated by Pt. Sukhalalaji in an article on the age of Siddhasena (*Bhāratīya Vidyā*, Hindi, III, I, pp 132-3, July 1945) assigning him to the 5th century of the Vikrama era. His note is also included in the *Sanmati-prakarana*, Hindi, p 10f, Ahmedabad 1963. Pt Sukhalalaji accepts that the *Jainendra-vyākarana* refers to Siddhasena, but, in his opinion, it could not have referred to Samantabhadra as an author. He holds the view that 'Samantabhadra' possibly stands for the 'Samantabhadra-vyākaraṇa' of the Buddhist author

Candrakīrti. The suggestion is ingenious, but it remains just a speculation till the relevant context is traced in Candrakīrti's work about which, one wished, the necessary bibliographic references were supplied for further study and verification (Ibidem p. 47).

Page 97, end of the second paragraph, on the '*Dharmaratnākara*': About Jayasena, the author of the *Dharmaratnākara* (samvat 1055) see *Anekānta*, VIII, pp. 200-5.

Page 98, foot-note 2. As he knows the *Paramātma-prakāśa*, it is not unlikely that he mentions the name of its author as Yogīndradeva: really the name should have been Yogīndu. A. Master misunderstood the title (Yogīndra) of Jinadattasūri as the name of the author of the *Paramātma-prakāśa* (See his paper Mysterious Paiśācī, JRAS, April 1943, p. 45) as shown by me in a note in the *Annals* of the B. O R. I., Vol. 34, pp. 166-7.

Page 104, second paragaaph, on the word Śrutamuni in line 21: My friend Prof. D. L. Narasimhachar, Mysore, writes to me thus: At the end of a Ms called *Tattvaratna-pradīpikā*, a Kannada commentary on the Sūtras of Umāsvāti, written by Adhyātmi Bālacandra, the following Prākrit verse occurs: *siddhamti Abhayacamdo tassa sisso ya hoi Sudamuṇiṇo/ savvaguṇe paripunno tassam sisso ya Nāgacaṃdo ya//*

Page 106, at the end of the third paragraph· There is also a Tamil commentary on the three works of Kundakunda, see my note in the *Annals* of the B. O. R I., XIX, 1, pp. 1-2, Poona 1938.

प्रवचनसारकी विषयानुक्रमणिका

३. चारित्राधिकार:

Page	Line	Read
५४	१८	केवलज्ञान
१२५	८	भूतमुद्दयोतमान
१७२	,,	पोग्गलकाया
१८४	४	ध्रौव्यवत्वं
३०३	२	जिदकसाओ

श्रीमत्
कुन्दकुन्दाचार्य - विरचितः

प्रवचनसारः

–श्रीवीतरागाय नमः–

श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यविरचितः

प्रवचनसारः

(टीकात्रयोपेतः)

श्रीमदमृतचन्द्रसूरिकृततत्त्वप्रदीपिकावृत्तिः

मङ्गलाचरणम्

सर्वव्याप्येकचिद्रूपस्वरूपाय परात्मने ।
स्वोपलब्धिप्रसिद्धाय ज्ञानानन्दात्मने नमः ॥ १ ॥
हेलोल्लुप्तमहामोहतमस्तोमं जयत्यदः ।
प्रकाशयज्जगत्तत्त्वमनेकान्तमयं महः ॥ २ ॥

श्रीजयसेनाचार्यकृततात्पर्यवृत्तिः

नमः परमचैतन्यस्वात्मोत्थसुखसंपदे ।
परमागमसाराय सिद्धाय परमेष्ठिने ॥ १ ॥

अथ कश्चिदासन्नभव्यः शिवकुमारनामा स्वसंवित्तिसमुत्पन्नपरमानन्दैकलक्षणसुखामृतविपरीतचतुर्गति-संसारदुःखभयभीतः, समुत्पन्नपरमभेदविज्ञानप्रकाशातिशयः, समस्तदुर्नयैकान्तनिराकृतदुराग्रहः, परित्यक्त-समस्तशत्रुमित्रादिपक्षपातेनात्यन्तमध्यस्थो भूत्वा धर्मार्थकामेभ्यः सारभूतामत्यन्तात्महितामविनश्वरां पञ्चपर-

श्रीपांडे हेमराजजीकृत बालावबोधभाषाटीका

मंगलाचरण

छप्पयछंद—स्वयंसिद्ध करतार, करै निजकरम सरमनिधि ।
आप हि करणसरूप, होइ साधनसाधै विधि ॥
संप्रदानता धरै, आपकौं आप समप्पै ।
अपादानतैं आप, आपकौं करि थिर थप्पै ॥
अधिकरन होइ आधार निज, वरतै पूरन ब्रह्मपर ।
षट्‌विधि कारकमय रहित, विविधि एकविधि अज अमर ॥ १ ॥

परमानन्दसुधारसपिपासितानां हिताय भव्यानाम् ।
क्रियते प्रकटिततत्त्वा प्रवचनसारस्य वृत्तिरियम् ॥ ३ ॥

अथ खलु कश्चिदासन्नसंसारपारावारपारः समुन्मीलितसातिशयविवेकज्योतिरस्तमितसमस्तैकान्तवादविद्याभिनिवेशः पारमेश्वरीमनेकान्तविद्यामुपगम्य मुक्तसमस्तपक्षपरिग्रहतयात्यन्तमध्यस्थो भूत्वा सकलपुरुषार्थसारतया नितान्तमात्मनो हिततमां भगवत्पञ्चपरमेष्ठिप्रसादोपजन्यां परमार्थसत्यां मोक्षलक्ष्मीमक्षयामुपादेयत्वेन निश्चिन्वन् प्रवर्तमानतीर्थनायकपुरःसरान् भगवतः पञ्चपरमेष्ठिनः प्रणमनवन्दनोपजनितनमस्करणेन संभाव्य सर्वारम्भेण मोक्षमार्गं संप्रतिपद्यमानः प्रतिजानीते । [अथ सूत्रावतारः–]

एस सुरासुरमणुसिंदवंदिदं धोदघाइकम्ममलं ।
पणमामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं ॥ १ ॥
सेसे पुण तित्थयरे ससव्वसिद्धे विसुद्धसब्भावे ।
समणे य णाणदंसणचरित्ततववीरियायारे ॥ २ ॥

मेष्ठिप्रसादोत्पन्नां मुक्तिश्रियमुपादेयत्वेन स्वीकुर्वाणः, श्रीवर्धमानस्वामितीर्थकरपरमदेवप्रमुखान् भगवतः पञ्चपरमेष्ठिनो द्रव्यभावनमस्काराभ्यां प्रणम्य परमचारित्रमाश्रयामीति प्रतिज्ञां करोति—

पणमामीत्यादिपदखण्डनरूपेण व्याख्यानं क्रियते—**पणमामि** प्रणमामि । स कः । कर्ता **एस** एषोऽहं ग्रन्थकरणोद्यतमनाः स्वसंवेदनप्रत्यक्षः । कम् । **वड्ढमाणं** अवसमन्तादृद्धं वृद्धं मानं प्रमाणं ज्ञानं यस्य स भवति वर्धमानः, 'अवाप्योरलोपः' इति लक्षणेन भवत्यकारलोपोऽवशब्दस्यात्र, तं रत्नत्रयात्मक-

दोहा—महातत्त्व महनीय मह, महाधाम गुणधाम ।
चिदानंद परमातमा, वंदौं रमताराम ॥ २ ॥
कुनय-दमनि सुवचन-अवनि, रमनि स्यातपद सुद्ध ।
जिनवानी मानी मुनिप, घटमें करहु सुबुद्धि ॥ ३ ॥

चौपाई—पंच इष्टपदके पद वंदौं । सत्यरूप गुरु गुण अभिनंदौं ।
प्रवचनसारग्रंथकी टीका । बालबोध भाषामय नीका ॥ ४ ॥
रचौं आप परकौं हितकारी । भव्यजीव–आनंद विथारी ।
प्रवचन-जलधि अरथ-जल लैहै । मतिभाजन समान जन पैहै ॥ ५ ॥

दोहा—अमृतचंद्रकृत संसकृत, टीका अगम अपार ।
तिस अनुसार कहौं कछू, सुगम अलप विस्तार ॥ ६ ॥

श्रीकुंदकुंदाचार्य प्रथम ही ग्रन्थके आरंभमें मंगलाचरणके लिये नमस्कार करते हैं—

[एष अहं वर्धमानं प्रणमामि] यह जो मैं "अपने अनुभवके गोचर ज्ञानदर्शनस्वरूप" कुंदकुंदाचार्य हूँ, सो वर्धमान जो देवाधिदेव परमेश्वर परमपूज्य अंतिमतीर्थंकर उनको नमस्कार करता हूँ। कैसे हैं?

ते ते सव्वे समगं समगं पत्तेगमेव पत्तेगं ।
वंदामि य वट्टंते अरहंते माणुसे खेत्ते ॥ ३ ॥
किच्चा अरहंताणं सिद्धाणं तह णमो गणहराणं ।
अज्झावयवग्गाणं साहूणं चेव सव्वेसिं ॥ ४ ॥
तेसिं विसुद्धदंसणणाणपहाणासमं समासेज्ज ।
उवसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाणसंपत्ती ॥ ५ ॥ [पणगं]
एष सुरासुरमनुष्येन्द्रवन्दितं धौतघातिकर्ममलम् ।
प्रणमामि वर्धमानं तीर्थं धर्मस्य कर्तारम् ॥ १ ॥
शेषान् पुनस्तीर्थकरान् ससर्वसिद्धान् विशुद्धसद्भावान् ।
श्रमणांश्च ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारान् ॥ २ ॥
तांस्तान् सर्वान् समकं समकं प्रत्येकमेव प्रत्येकम् ।
वन्दे च वर्तमानानर्हतो मानुषे क्षेत्रे ॥ ३ ॥

प्रवर्तमानधर्मतत्त्वोपदेशकं श्रीवर्धमानतीर्थकरपरमदेवम् । क प्रणमामि । प्रथमत एव । किं विशिष्टम् **सुरासुरमणुसिंदवंदिदं** त्रिभुवनाराध्यानन्तज्ञानादिगुणाधारपदाधिष्ठितत्वात्तत्पदाभिलाषिभिस्त्रिभुवनाधीशै सम्यगाराध्यपादारविन्दत्वाच्च सुरासुरमनुष्येन्द्रवन्दितम् । पुनरपि किं विशिष्टम् । **धोदघाइकम्ममलं** परमसमाधिसमुत्पन्नरागादिमलरहितपारमार्थिकसुखामृतरूपनिर्मलनीरप्रक्षालितघातिकर्ममलत्वादन्येषां पापमल प्रक्षालनहेतुत्वाच्च धौतघातिकर्ममलम् । पुनश्च किं लक्षणम् । **तित्थं** दृष्टश्रुतानुभूतविषयसुखाभिलाषरूपनीरप्रवे शरहितेन परमसमाधिपोतेनोत्तीर्णसंसारसमुद्रत्वात्, अन्येषां तरणोपायभूतत्वाच्च तीर्थम् । पुनश्च किंरूपम् **धम्मस्स कत्तारं** निरुपरागात्मतत्त्वपरिणतिरूपनिश्चयधर्मस्योपादानकारणत्वात् अन्येषामुत्तमक्षमादिबहुविध- धर्मोपदेशकत्वाच्च धर्मस्य कर्तारम् । इति क्रियाकारकसंबन्धः । एवमन्तिमतीर्थकरनमस्कारमुख्यत्वेन गाथा गता ॥ १ ॥ तदनन्तरं प्रणमामि । कान् । **सेसे पुण तित्थयरे ससव्वसिद्धे** शेषतीर्थकरान्, पुनः ससर्व- सिद्धान् वृषभादिपार्श्वपर्यन्तान् शुद्धात्मोपलब्धिलक्षणसर्वसिद्धसहितानेतान् सर्वानपि । कथंभूतान् । **विसुद्ध-**

श्रीवर्धमानतीर्थंकर **[सुरासुरमनुष्येन्द्रवन्दितं]** विमानवासी देवोंके, पातालमें रहनेवाले देवोंके और मनुष्योंके स्वामियोंकर नमस्कार किये गये हैं, इस कारण तीन लोककर पूज्य हैं । फिर कैसे हैं ? **[धौतघातिकर्ममलं]** धोये हैं चार घातियाकर्मरूप मैल जिन्होंने इसलिये अनंतचतुष्टय [अनंतज्ञान १, अनंतदर्शन २, अनंतवीर्य ३, अनंतसुख ४] सहित हैं । फिर कैसे हैं ? **[तीर्थं]** तारनेमें समर्थ हैं, अर्थात् भव्यजीवोंको संसार-समुद्रसे पार करनेवाले हैं । फिर कैसे हैं ? **[धर्मस्य कर्तारं]** शुद्ध आत्मीक जो धर्म उसके कर्ता अर्थात् उपदेश देनेवाले हैं ॥ १ ॥ **[पुनः अहं]** फिर मैं कुंदकुंदाचार्य **[शेषान् तीर्थकरान् ससर्वसिद्धान् प्रणमामि]** शेष जो बचे, तेईस तीर्थंकर समस्त अतीत- कालके सिद्धों सहित हैं, उनको नमस्कार करता हूँ । कैसे हैं ? तीर्थंकर और सिद्ध **[विशुद्धसद्भा-**

कृत्वार्हद्भ्यः सिद्धेभ्यस्तथा नमो गणधरेभ्यः ।
अध्यापकवर्गेभ्यः साधुभ्यश्चेति सर्वेभ्यः ॥ ४ ॥
तेषां विशुद्धदर्शनज्ञानप्रधानाश्रमं समासाद्य ।
उपसंपद्ये साम्यं यतो निर्वाणसंप्राप्तिः ॥ ५ ॥ [पञ्चकम्]

एष स्वसंवेदनप्रत्यक्षो दर्शनज्ञानसामान्यात्माहं सुरासुरमनुष्येन्द्रवन्दितत्वात्त्रिलोकैकगुरुं, धौतघातिकर्ममलत्वाज्जगदनुग्रहसमर्थानन्तशक्तिपारमैश्वर्यं, योगिनां तीर्थत्वात्तारणसमर्थं, धर्मकर्तृत्वाच्छुद्धस्वरूपवृत्तिविधातारं, प्रवर्तमानतीर्थनायकत्वेन प्रथमत एव परमभट्टारकमहादेवाधिदेवपरमेश्वरपरमपूज्यसुगृहीतनामश्रीवर्धमानदेवं प्रणमामि ॥ १ ॥ तदनु विशुद्धसद्भावत्वादुपात्तपाकोत्तीर्णजात्यकार्तस्वरस्थानीयशुद्धदर्शनज्ञानस्वभावान् शेषानतीततीर्थनायकान्, सर्वान् सिद्धांश्च, ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारयुक्तत्वात्संभावितपरमशुद्धोपयोगभूमिकानाचार्योपाध्यायसाधुत्वविशिष्टान् श्रमणांश्च प्रणमामि ॥ २ ॥ तदन्वेतानेव पञ्चपरमेष्ठिनस्तद्व्यक्तिव्यापिनः सर्वानेव सांप्रतमेतत्क्षेत्रसंभवतीर्थकरासंभवान्महाविदेहभूमिसंभवत्वे सति मनुष्यक्षेत्रप्रवर्तिभिस्तीर्थनायकैः

सब्भावे निर्मलात्मोपलब्धिबलेन विश्लेषिताखिलावरणत्वात्केवलज्ञानदर्शनस्वभावत्वाच्च विशुद्धसद्भावान् । **समणे य** श्रमणशब्दवाच्यानाचार्योपाध्यायसाधूंश्च । किंलक्षणान् । **णाणदंसणचरित्ततववीरियायारे** सर्वविशुद्धद्रव्यगुणपर्यायात्मके चिद्वस्तुनि यासौ रागादिविकल्परहितनिश्चलचित्तवृत्तिस्तदन्तर्भूतेन व्यवहारपञ्चाचारसहकारिकारणोत्पन्नेन निश्चयपञ्चाचारेण परिणतत्वात् सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारोपेतानिति । एवं शेषत्रयोविंशतितीर्थकरनमस्कारमुख्यत्वेन गाथा गता ॥ २ ॥ अथ **ते ते सव्वे** तांस्तान्पूर्वोक्तानेव पञ्चपरमेष्ठिनः सर्वान् **वंदामि य** वन्दे, अहं कर्ता । कथम् । **समगं समगं** समुदायवन्दनापेक्षया युगपद्युगपत् । पुनरपि कथम् । **पत्तेगमेव पत्तेगं** प्रत्येकवन्दनापेक्षया प्रत्येकं प्रत्येकम् । न केवलमेतान् वन्दे **अरहंते** अर्हतः । किंविशिष्टान् । **वट्टंते माणुसे खेत्ते** वर्तमानान् । क्व । मानुषे क्षेत्रे । तथाहि—सांप्रतमत्र भरतक्षेत्रे तीर्थकराभावात् पञ्चमहाविदेहस्थितश्रीमन्दरस्वामितीर्थकरपरमदेवप्रभृतितीर्थकरैः सह तानेव पञ्चपरमेष्ठिनो

वान्] निर्मल हैं, ज्ञानदर्शनरूप स्वभाव जिनके । जैसे अन्तिम अग्निकर तपाया हुआ सोना अत्यन्त शुद्ध होजाता है, उसी तरह निर्मल स्वभाव सहित है । [**च श्रमणान्**] फिर आचार्य, उपाध्याय और साधुओंको नमस्कार करता हूँ । कैसे हैं ? [**ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारान्**] ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, और वीर्य ये हैं आचरण जिनके, अर्थात् ज्ञानादिमें सदैव लीन रहते हैं, इस कारण उत्कृष्ट शुद्धोपयोगकी भूमिको प्राप्त हुए हैं । इस गाथामें पंचपरमेष्ठीको नमस्कार किया है ॥ २ ॥ [**च पुनः अहं**] फिर मैं कुंदकुंदाचार्य [**मानुषे क्षेत्रे वर्तमानान्**] मनुष्योंके रहनेका क्षेत्र जो ढाई द्वीप, (जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड, और आधा पुष्करद्वीप) उसमें रहनेवाले जो जो अरहंत हैं, [**तान् तान् सर्वानर्हतः**] उन उन सब अरहंतोंको [**समकं समकं प्रत्येकमेव प्रत्येकं**] सबको एकही समय अथवा हरएकको कालके क्रमसे [**वन्दे**] नमस्कार करता हूँ । **भावार्थ**—इस भरतक्षेत्रमें

सह वर्तमानकालं गोचरीकृत्य युगपद्युगपत्प्रत्येकं प्रत्येकं च मोक्षलक्ष्मीस्वयंवरायमाणपरमनैर्ग्रन्थ्यदीक्षाक्षणोचितमङ्गलाचारभूतकृतिकर्मशास्त्रोपदिष्टवन्दनाभिधानेन संभावयामि ॥ ३ ॥ अथैवमर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधूनां प्रणतिवन्दनाभिधानप्रवृत्तद्वैतद्वारेण भाव्यभावकभावविजृम्भितातिनिर्भरेतरेतरसंवलनबलविलीननिखिलस्वपरविभागतया प्रवृत्ताद्वैतं नमस्कारं कृत्वा ॥४॥ तेषामेवार्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधूनां विशुद्धज्ञानदर्शनप्रधानत्वेन सहजशुद्धदर्शनज्ञानस्वभावात्मतत्त्वश्रद्धानावबोधलक्षणसम्यग्दर्शनज्ञानसंपादकमाश्रमं समासाद्य सम्यग्दर्शनज्ञानसंपन्नो भूत्वा,

---

नमस्करोमि । कया । करणभूतया मोक्षलक्ष्मीस्वयंवरमण्डपभूते जिनदीक्षाक्षणे मङ्गलाचारभूतया अनन्तज्ञानादिसिद्धगुणभावनारूपया सिद्धभक्त्या,तथैव निर्मलसमाधिपरिणतपरमयोगिगुणभावनालक्षणया योगिभक्त्या चेति । एवं पूर्वविदेहतीर्थकरनमस्कारमुख्यत्वेन गाथा गतेत्यभिप्रायः ॥ ३ ॥ अथ **किच्चा** कृत्वा । कम् । **णमो** नमस्कारम् । केभ्यः । **अरहंताणं सिद्धाणं तह णमो गणहराणं अज्झावयवग्गाणं साहूणं चेव** अर्हत्सिद्धगणधरोपाध्यायसाधुभ्यश्चैव । कतिसंख्योपेतेभ्यः । **सव्वेसिं** सर्वेभ्यः । इति पूर्वगाथात्रयेण कृतपञ्चपरमेष्ठिनमस्कारोपसंहारोऽयम् ॥ ४ ॥ एवं पञ्चपरमेष्ठिनमस्कारं कृत्वा किं करोमि । **उवसंपयामि** उपसपद्ये समाश्रयामि । किम् । **सम्मं** साम्यं चारित्रम् । यस्मात् किं भवति । **जत्तो णिव्वाणसंपत्ती** यस्मान्निर्वाणसंप्राप्तिः । किं कृत्वा । पूर्वं **समासिज्ज** समासाद्य प्राप्य । कम् । **विसुद्धणाणदंसणपहाणासमं** विशुद्धज्ञानदर्शनलक्षणप्रधानाश्रमम् । केषां संबन्धित्वेन । **तेसिं** तेषां पूर्वोक्तपरमेष्ठिनामिति । तथाहि—अहमाराधकः, एते चार्हदादय आराध्या इत्याराध्याराधकविकल्परूपो द्वैतनमस्कारो भण्यते । रागाद्युपाधिविकल्परहितपरमसमाधिबलेनात्मन्येवाराध्याराधकभावः पुनरद्वैतनमस्कारो भण्यते । इत्येवंलक्षणं पूर्वोक्तगाथा-

---

इस समय तीर्थंकर मौजूद नहीं हैं, इस कारण जो महाविदेहमें तीर्थंकर वर्तमान हैं, उनको मन वचन कायसे शास्त्रके अनुसार नमस्कार करता हूँ। वह नमस्कार दो तरहका है, द्वैत तथा अद्वैत, जो शरीरको नमाकर मस्तकको भूमिमें लगाकर, अनेक स्तुतियोंसे पंचपरमेष्ठीको अष्टाङ्ग नमस्कार करना हैं, वह द्वैत नमस्कार है, और जिस जगह भाव्यभावकभावोंकी विशेषता (उत्कटता) से अत्यंत लीन होकर 'ये पञ्चपरमेष्ठी' 'यह मैं' ऐसा अपना और परका भेद मिट जावे, उस जगह अद्वैत नमस्कार कहा [illegible]। अभ्यन्तरके परिणामोंको भाव्य, तथा वचनोंके बोलनेरूप बाह्य भावोंको भावक कहते हैं ॥ [illegible] **[साम्यं उपसंपद्ये]** मैं ग्रन्थकर्ता शान्त भाव जो वीतरागचारित्र उसको स्वीकार करता हूँ। क्या करके **[अर्हद्भ्य नमस्कृत्य]** अरहंत जो अनन्तचतुष्टयसहित जीवन्मुक्त जिनवर हैं, उनको पहिले कहा हुआ दो तरहका नमस्कार करके, **[तथा सिद्धेभ्यः]** और उसी प्रकार सिद्धोंको, **[गणधरेभ्यः]** आचार्योंको, **[अध्यापकवर्गेभ्यः]** उपाध्यायोंके समूहको **[च इति सर्वेभ्यः साधुभ्यः]** और इसी प्रकार सब साधुओंको नमस्कार करके ॥ ४ ॥ फिर क्या करके समपरिणामोंको स्वीकार करता हूँ? **[तेषां विशुद्धदर्शनज्ञानप्रधानाश्रमं]** उन पञ्चपरमेष्ठियोंके निर्मल दर्शनज्ञानस्वरूप मुख्य स्थानको **[समासाद्य]** पाकरके। **[यतो निर्वाणसंप्राप्तिः]** क्योंकि इन

जीवस्य कषायकणतया पुण्यबन्धसंप्राप्तिहेतुभूतं सरागचारित्रं क्रमापतितमपि दूरमुत्क्रम्य सकलकषायकलिकलङ्कविविक्ततया निर्वाणसंप्राप्तिहेतुभूतं वीतरागचारित्राख्यं साम्यमुपसंपद्ये। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैक्यात्मकैकाग्र्यं गतोऽस्मीति प्रतिज्ञार्थः। एवं तावदयं साक्षान्मोक्षमार्गं संप्रतिपन्नः ॥ ५ ॥

अथायमेव वीतरागसरागचारित्रयोरिष्टानिष्टफलत्वेनोपादेयहेयत्वं विवेचयति—

संपज्जदि णिव्वाणं देवासुरमणुयरायविहवेहिं।
जीवस्स चरित्तादो दंसणणाणप्पहाणादो ॥ ६ ॥
संपद्यते निर्वाणं देवासुरमनुजराजविभवैः।
जीवस्य चरित्राद्दर्शनज्ञानप्रधानात् ॥ ६ ॥

त्रयकथितप्रकारेण पञ्चपरमेष्ठिसंबन्धिनं द्वैताद्वैतनमस्कारं कृत्वा। ततः किं करोमि। रागादिभ्यो भिन्नोऽयं स्वात्मोत्थसुखस्वभावः परमात्मेति भेदज्ञानं, तथा स एव सर्वप्रकारोपादेय इति रुचिरूपं सम्यक्त्वमित्युक्तलक्षण-ज्ञानदर्शनस्वभावं, मठचैत्यालयादिलक्षणव्यवहाराश्रमाद्विलक्षणं, भावाश्रमरूपं प्रधानाश्रमं प्राप्य। तत्पूर्वक्रमायातमपि सरागचारित्रं पुण्यबन्धकारणमिति ज्ञात्वा परिहृत्य निश्चलशुद्धात्मानुभूतिस्वरूपं वीतरागचारित्रमहमाश्रयामीति भावार्थः। एवं प्रथमस्थले नमस्कारमुख्यत्वेन गाथापञ्चकं गतम् ॥ ५ ॥ अथोपादेयभूतस्यातीन्द्रियसुखस्य कारणत्वाद्वीतरागचारित्रमुपादेयम्। अतीन्द्रियसुखापेक्षया हेयस्येन्द्रियसुखस्य कारणत्वात्सरागचारित्रं हेयमित्युपदिशति—**संपज्जदि** संपद्यते। किम्। **णिव्वाणं** निर्वाणम्। कथम्। सह कैः। **देवासुरमणुयरायविहवेहिं** देवासुरमनुष्यराजविभवैः। कस्य। **जीवस्स** जीवस्य। कस्मात्। **चरित्तादो** चरित्रात्। कथंभूतात्। **दंसणणाणप्पहाणादो** सम्यग्दर्शनज्ञानप्रधानादिति। तद्यथा—आत्माधीनज्ञानसुख-

---

शान्तपरिणामोंसे ही मोक्षकी प्राप्ति होती है। **भावार्थ**—सब उपाधियोंसे जुदा आत्माको जानना, और वैसा ही श्रद्धान करना, ये ही निर्मल दर्शन, ज्ञान पंचपरमेष्ठीके स्थान हैं। इनमें ही पंचपरमेष्ठी प्राप्त होते हैं। इस तरह स्थानोंको मैं पाकर वीतरागचारित्रको धारण करता हूँ। यद्यपि गुणस्थानोंके चढ़नेके क्रम...गचारित्र जबर्दस्ती अर्थात् चारित्रमोहके मन्द उदय होनेसे अपने आप आजाता है, तो भी [illegible]] निर्मल ही से छोड़ता हूँ, क्योंकि वह कषायके अंशोंसे मिला हुआ है, और पुण्यबन्धका कारण है। इस कारण समस्त कषाय–कलंकरहित तथा साक्षात् मोक्षका कारण वीतरागचारित्रको अंगीकार करता हूँ ॥ ५ ॥

आगे श्रीकुंदकुंदाचार्य वीतराग-सरागचारित्रके उपादेय-हेयफलका खुलासा गाथासूत्रमें कहते हैं—

[जीवस्य चरित्रात् निर्वाणं संपद्यते] जीवको चारित्रगुणके आचरणसे मोक्ष प्राप्त होती है। कैसे चारित्रसे? **[दर्शनज्ञानप्रधानात्]** सम्यग्दर्शन-ज्ञान हैं मुख्य जिसमें। किन विभूतियों सहित मोक्ष पाता है? **[देवासुरमनुजराजविभवैः सह]** स्वर्गवासी देव, पातालवासी देव तथा मनुष्योंके स्वामियोंकी संपदा सहित। **भावार्थ**—चारित्र दो प्रकारका है, वीतराग तथा सराग।

संपद्यते हि दर्शनज्ञानप्रधानाच्चारित्राद्वीतरागान्मोक्षः । तत एव च सरागाद्देवासुरमनुजराजविभवक्लेशरूपो बन्धः । अतो मुमुक्षुणेष्टफलत्वाद्वीतरागचारित्रमुपादेयमनिष्टफलत्वात्सरागचारित्रं हेयम् ॥ ६ ॥

अथ चारित्रस्वरूपं विभावयति—

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥ ७ ॥

चारित्रं खलु धर्मो धर्मो यः स शम इति निर्दिष्टः ।
मोहक्षोभविहीनः परिणाम आत्मनो हि शमः ॥ ७ ॥

स्वरूपे चरणं चारित्रं स्वसमयप्रवृत्तिरित्यर्थः । तदेव वस्तुस्वभावत्वाद्धर्मः । शुद्धचैतन्य-

---

स्वभावे शुद्धात्मद्रव्ये यन्निश्चलनिर्विकारानुभूतिरूपमवस्थानं तल्लक्षणनिश्चयचारित्राज्जीवस्य समुत्पद्यते । किम् । पराधीनेन्द्रियजनितज्ञानसुखविलक्षणं, स्वाधीनातीन्द्रियरूपपरमज्ञानसुखलक्षणं निर्वाणम् । सरागचारित्रात्पुनर्देवासुरमनुष्यराजविभूतिजनको मुख्यवृत्त्या विशिष्टपुण्यबन्धो भवति, परम्परया निर्वाणं चेति । असुरेषु मध्ये सम्यग्दृष्टिः कथमुत्पद्यते इति चेत्—निदानबन्धेन सम्यक्त्वविराधनां कृत्वा तत्रोत्पद्यत इति ज्ञातव्यम् । अत्र निश्चयेन वीतरागचारित्रमुपादेयं सरागं हेयमिति भावार्थः ॥ ६ ॥ अथ निश्चयचारित्रस्य पर्यायनामानि कथयामीत्यभिप्रायं मनसि संप्रधार्य सूत्रमिदं निरूपयति, एवमग्रेऽपि विवक्षितसूत्रार्थं मनसि धृत्वाथवास्य सूत्रस्याग्रे सूत्रमिदमुचितं भवत्येवं निश्चित्य सूत्रमिदं प्रतिपादयतीति पातनिकालक्षणं यथासंभवं सर्वत्र ज्ञातव्यम्—**चारित्तं** चारित्रं कर्तृ **खलु** खलु स्फुटं **धम्मो** धर्मो भवति । **धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो** धर्मो यः स तु शम इति निर्दिष्टः । **समो** यस्तु शमः सः **मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु** मोहक्षोभविहीनः परिणामः । कस्य । आत्मनः । **हु** स्फुटमिति । तथाहि—शुद्धचित्स्वरूपे चरणं चारित्रं, तदेव चारित्रं मिथ्यात्वरागादिसंसरणरूपेण भावसंसारे पतन्तं प्राणिनमुद्धृत्य निर्विकारशुद्धचैतन्ये धरतीति धर्मः ।

वीतरागचारित्रसे मोक्ष होती है, इस कारण वीतराचारित्र आप मोक्षरूप है, और सरागचारित्रसे इंद्र, धरणेंद्र, चक्रवर्तीकी विभूतिस्वरूप बंध होता है, क्योंकि सरागचारित्र कषायोंके अंशोंके मेलसे आत्माके गुणोंका घात करनेवाला है । इस कारण आप बंधरूप है । इसीलिये ज्ञानी पुरुषोंको सरागचारित्र त्यागने योग्य कहा है, और वीतरागचारित्र ग्रहण करने योग्य कहा गया है ॥ ६ ॥

आगे निश्चयचारित्रका स्वरूप कहते हैं—

[खलु चारित्रं धर्मः] निश्चयकर अपनेमें अपने स्वरूपका आचरणरूप जो चारि[illegible] ...के साथ तन्मय होना अर्थात् वस्तुका स्वभाव है, जो स्वभाव है, वह धर्म है । इस कारण अपने स्वर[illegible] ...गत होता है, तब उन चारित्रका नाम धर्म कहा गया है । **[यः धर्मः तत्साम्यमिति निर्दिष्टम्** ...। मिलनेपर काला ही हो समभाव है, ऐसा श्रीवीतरागदेवने कहा है । वह साम्यभाव क्या है ? [...र जीवका भी समझना । **आत्मनः परिणामः]** उद्वेगपने (चंचलता) से रहित आत्माका परिणा[illegible]

प्रकाशकमित्यर्थः । तदेव च यथावस्थितात्मगुणत्वात्साम्यम् । साम्यं तु दर्शनचारित्रमोहनीयोदयापादितसमस्तमोहक्षोभाभावादत्यन्तनिर्विकारो जीवस्य परिणामः ॥ ७ ॥

अथात्मनश्चारित्रत्वं निश्चिनोति—

परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मय त्ति पण्णत्तं ।
तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेदव्वो ॥ ८ ॥
परिणमति येन द्रव्यं तत्कालं तन्मयमिति प्रज्ञप्तम् ।
तस्माद्धर्मपरिणत आत्मा धर्मो मन्तव्यः ॥ ८ ॥

यत्खलु द्रव्यं यस्मिन्काले येन भावेन परिणमति तत् तस्मिन् काले किलौष्ण्यपरिणतायः-

---

स एव धर्मः स्वात्मभावनोत्थसुखामृतशीतजलेन कामक्रोधादिरूपाग्निजनितस्य संसारदुःखदाहस्योपशमकत्वात् शम इति । ततश्च शुद्धात्मश्रद्धानरूपसम्यक्त्वस्य विनाशको दर्शनमोहाभिधानो मोह इत्युच्यते । निर्विकारनिश्चलचित्तवृत्तिरूपचारित्रस्य विनाशकश्चारित्रमोहाभिधानः क्षोभ इत्युच्यते । तयोर्विध्वंसकत्वात्स एव शमो मोहक्षोभविहीनः शुद्धात्मपरिणामो भण्यत इत्यभिप्रायः ॥ ७ ॥ अथाभेदनयेन धर्मपरिणत आत्मैव धर्मो भवतीत्यावेदयति—**परिणमदि जेण दव्वं तक्काले तम्मय त्ति पण्णत्तं** परिणमति येन पर्यायेण द्रव्यं कर्तृ तत्काले तन्मयं भवतीति प्रज्ञप्तम् । यतः कारणात्, **तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेदव्वो** ततः कारणात् धर्मेण परिणत आत्मैव धर्मो मन्तव्य इति । तद्यथा—निजशुद्धात्मपरिणतिरूपो निश्चयधर्मो भवति । पञ्चपरमेष्ठ्यादिभक्तिपरिणामरूपो व्यवहारधर्मस्तावदुच्यते । यतस्तेन विवक्षिताविवक्षितपर्यायेण परिणतं द्रव्यं तन्मयं भवति, ततः पूर्वोक्तधर्मद्वयेन परिणतस्तप्तायःपिण्डवदभेदनयेनात्मैव धर्मो भवतीति ज्ञातव्यम् । तदपि कस्मात्, उपादानकारणसदृशं हि कार्यमिति वचनात् । तच्च पुनरुपादानकारणं

अभिप्राय यह है. कि वीतरागचारित्र वस्तुका स्वभाव है । वीतरागचारित्र, निश्चयचारित्र, धर्म, समपरिणाम ये सब एकार्थवाचक हैं, और मोहकर्मसे जुदा निर्विकार जो आत्माका परिणाम स्थिररूप सुखमय वही चारित्रका स्वरूप है ॥ ७ ॥

आगे चारित्र और आत्माकी एकता दिखाते हैं—

[येन द्रव्यं परिणमति] जिस समय जिस स्वभावसे द्रव्य परणमन करता हैं, **[तत्कालं तन्मयं]** उस समय उसी स्वभावमय द्रव्य हो जाता है, **[इति प्रज्ञप्तं]** ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है । जैसे लोहेका गोला जब आगमें डाला जाता है, तब उष्णरूप होकर परिणमता है, अर्थात् उष्णपनेसे [illegible] चारित्रसे जाता है, इसी तरह यह आत्मा जब शुभ, अशुभ, शुद्ध भावोंमेंसे जिस भावरूप परिणमता
…त मोक्ष पाता है? [देव [illegible] उसी स्वरूप होता है । **[तस्माद्धर्मपरिणतः आत्मा]** इस कारण वीतराग-
योंके स्वामियोंकी संपदा सो [illegible] रूप धर्मसे परिणमता यह आत्मा **[धर्मो मन्तव्यः]** धर्म जानना । **भावार्थ—**
[illegible] से यह आत्मा परिणमन करता है, तब उन्हीं स्वरूप ही है, इस न्यायसे वीतराग-
[illegible] न करता हुआ वीतरागचारित्र धर्म ही हो जाता है । इसलिये आत्मा और

कैदाच.

तिष्ठचारित्रमयं भवति । ततोऽयमात्मा धर्मेण परिणतो धर्म एव भवतीति सिद्धमात्मनश्चारित्रत्वम् ॥ ८ ॥

अथ जीवस्य शुभाशुभशुद्धत्वं निश्चिनोति—

जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो ।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणामसब्भावो ॥ ९ ॥

जीवः परिणमति यदा शुभेनाशुभेन वा शुभोऽशुभः ।
शुद्धेन तदा शुद्धो भवति हि परिणामस्वभावः ॥ ९ ॥

यदाऽयमात्मा शुभेनाशुभेन वा रागभावेन परिणमति तदा जपातापिच्छरागपरिणतस्फटिकवत् परिणामस्वभावः सन् शुभोऽशुभश्च भवति । यदा पुनः शुद्धेनारागभावेन परिणमति

शुद्धाशुद्धभेदेन द्विधा । रागादिविकल्परहितस्वसंवेदनज्ञानमागमभाषया शुक्लध्यानं वा केवलज्ञानोत्पत्तौ शुद्धोपादानकारणं भवति । अशुद्धात्मा तु रागादिना अशुद्धनिश्चयेनाशुद्धोपादानकारणं भवतीति सूत्रार्थः ॥ ८ ॥ एवं चारित्रस्य संक्षेपसूचनरूपेण द्वितीयस्थले गाथात्रयं गतम् । अथ शुभाशुभशुद्धोपयोगत्रयेण परिणतो जीवः शुभाशुभशुद्धोपयोगस्वरूपो भवतीत्युपदिशति— **जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा** जीवः कर्ता यदा परिणमति शुभेनाशुभेन वा परिणामेन **सुहो असुहो हवदि** तदा शुभेन शुभो भवति, अशुभेन वाऽशुभो भवति । **सुद्धेण तदा सुद्धो हि** शुद्धेन यदा परिणमति तदा शुद्धो भवति । **हि** स्फुटम् । कथंभूतः सन् । **परिणामसब्भावो** परिणामसद्भावः सन्निति । तद्यथा—यथा स्फटिकमणिविशेषो निर्मलोऽपि जपापुष्पादिरक्तकृष्णश्वेतोपाधिवशेन रक्तकृष्णश्वेतवर्णो भवति, तथाऽयं जीवः स्वभावेन शुद्धबुद्धैकस्वरूपोऽपि व्यवहारेण गृहस्थापेक्षया यथासंभवं सरागसम्यक्त्वपूर्वकदानपूजादिशुभानुष्ठानेन, तपोधनापेक्षया तु मूलोत्तरगुणादिशुभानुष्ठानेन परिणतः शुभो ज्ञातव्य इति । मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगपञ्चप्रत्ययरूपाशुभोपयोगेनाशुभो विज्ञेयः । निश्चयरत्नत्रयात्मकशुद्धोपयोगेन परिणतः शुद्धो ज्ञातव्य इति । किंच जीवस्यासंख्येयलोकमात्रपरिणामाः सिद्धान्ते मध्यमप्रतिपत्त्या मिथ्यादृष्ट्यादिचतुर्दशगुणस्थानरूपेण कथिताः । अत्र प्राभृतशास्त्रे तान्येव गुणस्थानानि संक्षेपेण शुभाशुभशुद्धोपयोगरूपेण कथितानि । कथमिति चेत्—मिथ्यात्व-

---

चारित्रके एकपना है । आत्माको चारित्र भी कहते हैं ॥ ८ ॥

आगे आत्माके शुभ, अशुभ तथा शुद्ध भावोंका निर्णय करते हैं—

[यदा जीवः] जब यह जीव **[शुभेन अशुभेन वा परिणमति]** शुभ अथवा अशुभ परिणामोंकर परिणमता है, **[तदा शुभ अशुभो भवति]** तब यह शुभ वा अशुभ होता है । अर्थात् जब यह दान, पूजा, व्रतादिरूप शुभपरिणामोंसे परिणमता है, तब उन भावोंके साथ तन्मय होता हुआ शुभ होता है, और जब विषय, कषाय, अव्रतादिरूप अशुभभावोंकर परिणत होता है, तब उन भावोंके साथ उन्हीं स्वरूप हो जाता है । जैसे स्फटिकमणि काले फूलका संयोग मिलनेपर काला ही हो जाता है । क्योंकि स्फटिकका ऐसा ही परिणमन–स्वभाव है । उसी प्रकार जीवका भी समझना ।

तदा शुद्धारागपरिणतस्फटिकवत्परिणामस्वभावः सन् शुद्धो भवतीति सिद्धं जीवस्य शुभाशुभशुद्धत्वम् ॥ ९ ॥

अथ परिणामं वस्तुस्वभावत्वेन निश्चिनोति—

णत्थि विणा परिणामं अत्थो अत्थं विणेह परिणामो ।
दव्वगुणपज्जयत्थो अत्थो अत्थित्तणिव्वत्तो ॥ १० ॥

नास्ति विना परिणाममर्थोऽर्थं विनेह परिणामः ।
द्रव्यगुणपर्ययस्थोऽर्थोऽस्तित्वनिर्वृत्तः ॥ १० ॥

न खलु परिणाममन्तरेण वस्तु सत्तामालम्बते । वस्तुनो द्रव्यादिभिः परिणामात् पृथगुपलम्भाभावान्निःपरिणामस्य खरशृङ्गकल्पत्वाद् दृश्यमानगोरसादिपरिणामविरोधाच्च । अन्तरेण

सासादनमिश्रगुणस्थानत्रये तारतम्येनाशुभोपयोगः, तदनन्तरमसंयतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्तसंयतगुणस्थानत्रये तारतम्येन शुभोपयोगः, तदनन्तरमप्रमत्तादिक्षीणकषायान्तगुणस्थानषट्के तारतम्येन शुद्धोपयोगः, तदनन्तरं सयोग्ययोगिजिनगुणस्थानद्वये शुद्धोपयोगफलमिति भावार्थः ॥ ९ ॥ अथ नित्यैकान्तक्षणिकैकान्तनिषेधार्थं परिणामपरिणामिनोः परस्परं कथंचिदभेदं दर्शयति—**णत्थि विणा परिणामं अत्थो** मुक्तजीवे तावत्कथ्यते—सिद्धपर्यायरूपशुद्धपरिणामं विना शुद्धजीवपदार्थो नास्ति। कस्मात् । संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेऽपि प्रदेशभेदाभावात् । **अत्थं विणेह परिणामो** मुक्तात्मपदार्थं विना इह जगति शुद्धात्मोपलम्भ-

---

[शुद्धेन तदा शुद्धो भवति] जब यह जीव आत्मीक वीतराग शुद्धभावस्वरूप परिणमता है, तब शुद्ध होता है। जैसे स्फटिकमणि जब पुष्पके संबंधसे रहित होता है, तब अपने शुद्ध (निर्मल) भावरूप परिणमन करता है। ठीक उसी प्रकार आत्मा भी विकार रहित हुआ शुद्ध होता है। इस प्रकार आत्मा के तीन भाव जानना ॥ ९ ॥

आगे वस्तुका स्वभावपरिणाम वस्तुसे अभिन्न (एकरूप) है, यह कहते हैं—

[परिणामं विना अर्थः नास्ति] पर्यायके विना द्रव्य नहीं होता है। क्यों कि द्रव्य किसी समय भी परिणमन किये विना नहीं रहता, ऐसा नियम है। जो रहे, तो गधेके सींगके समान असंभव समझना चाहिये। जैसे गोरसके परिणाम दूध, दही, घी, तक्र (छांछ) इत्यादि अनेक हैं, इन निज परिणामोंके विना गोरस जुदा नहीं पाया जाता। जिस जगह ये परिणाम नहीं होते, उस जगह गोरसकी भी सत्ता (मौजूदगी) नहीं होती। उसी तरह परिणामके विना द्रव्यकी सत्ता (मौजूदगी) नहीं होती है। कोई ऐसा समझे कि, द्रव्यके विना परिणाम होता होगा, सो भी नहीं होता, **[अर्थं विना परिणामो न]** द्रव्यके विना परिणाम भी नहीं होता। क्योंकि परिणामका आधार द्रव्य है। जो द्रव्य ही न होवे, तो परिणाम किसके आश्रय रहे। यदि गोरस ही न होवे, तो दूध, दही, घी, तक्र इत्यादि पर्यायें कहाँसे होवें, इसी प्रकार द्रव्यके विना परिणाम अपनी मौजूदगीको नहीं पासकता है। तो कैसा पदार्थ अपने अस्तित्वको पासकता है, **[द्रव्यगुणपर्ययस्थः अर्थः]** जो द्रव्य गुण पर्यायोंमें रहता

वस्तु परिणामोऽपि न सत्तामालम्बते । स्वाश्रयभूतस्य वस्तुनोऽभावे निराश्रयस्य परिणामस्य शून्यत्वप्रसंगात् । वस्तु पुनरूर्ध्वतासामान्यलक्षणे द्रव्ये सहभाविविशेषलक्षणेषु गुणेषु, क्रमभाविविशेषलक्षणेषु पर्यायेषु व्यवस्थितमुत्पादव्ययध्रौव्यमयास्तित्वेन निर्वर्तितं निर्वृत्तिमच्च । अतः परिणामस्वभावमेव ॥ १० ॥

अथ चारित्रपरिणामसंपर्कसंभववतोः शुद्धशुभपरिणामयोरुपादानहानाय फलमालोचयति—

धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो ।
पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो व सग्गसुहं ॥ ११ ॥
धर्मेण परिणतात्मा आत्मा यदि शुद्धसंप्रयोगयुतः ।
प्राप्नोति निर्वाणसुखं शुभोपयुक्तो वा स्वर्गसुखम् ॥ ११ ॥

यदायमात्मा धर्मपरिणतस्वभावः शुद्धोपयोगपरिणतिमुद्वहति तदा निःप्रत्यनीकशक्तितया

लक्षणः सिद्धपर्यायरूपः शुद्धपरिणामो नास्ति । कस्मात् । संज्ञादिभेदेऽपि प्रदेशभेदाभावात् । **दव्वगुणपज्जयत्थो** आत्मस्वरूपं द्रव्यं तत्रैव केवलज्ञानादयो गुणाः सिद्धरूपः पर्यायश्च, इत्युक्तलक्षणेषु द्रव्यगुणपर्यायेषु तिष्ठतीति द्रव्यगुणपर्यायस्थो भवति । स कः कर्ता । **अत्थो** परमात्मपदार्थः, सुवर्णद्रव्यपीतत्वादिगुणकुण्डलादिपर्यायस्थसुवर्णपदार्थवत् । पुनश्च किंरूपः । **अत्थित्तणिव्वत्तो** शुद्धद्रव्यगुणपर्यायाधारभूतं यच्छुद्धास्तित्वं तेन निर्वृत्तोऽस्तित्वनिर्वृत्तः, सुवर्णद्रव्यगुणपर्यायास्तित्वनिर्वृत्तसुवर्णपदार्थवदेवेति । अयमत्र तात्पर्यार्थः । यथा — मुक्तजीवे द्रव्यगुणपर्यायत्रयं परस्पराविनाभूतं दर्शितं तथा संसारिजीवेऽपि मतिज्ञानादिविभावगुणेषु नरनारकादिविभावपर्यायेषु नयविभागेन यथासंभवं विज्ञेयम्, तथैव पुद्गलादिष्वपि । एवं शुभाशुभशुद्धपरिणामव्याख्यानमुख्यत्वेन तृतीयस्थले गाथाद्वयं गतम् ॥ १० ॥ अथ वीतरागसरागचारित्रसंज्ञयोः शुद्धशुभोपयोगपरिणामयोः

है, वह पदार्थ [**अस्तित्वनिर्वृत्तः**] अस्तिपने (मौजूदगी) से सिद्ध होता है । **भावार्थ**—जिस जगह द्रव्य गुण पर्यायोंकी एकता हो, वहांपर ही द्रव्यका अस्तित्व है । जो इन तीनोंमेंसे एक भी कम होवे, तो पदार्थ ही न कहलावे । जैसे सुवर्ण द्रव्य है, और उसमें पीतादिगुण हैं, तथा कुण्डलादि पर्याय हैं जो इनमेंसे एककी भी कमी होती है, तो सोनेका अभाव ही होजाता है, ठीक इसी प्रकार दूसरे पदार्थों में भी ऐसा ही स्वरूप समझना । इससे यह बात सिद्ध हुई कि, परिणाम द्रव्यका पर्याय है । इसके विना द्रव्यका अभाव होजाता है । यहाँपर इतनी विशेषता और भी समझना कि, जहाँ जैसा द्रव्य होता है, वहाँपर वैसे ही गुण पर्याय होते हैं, इस न्यायसे शुद्ध आत्माके शुद्ध गुण पर्याय और अशुद्ध आत्माके अशुद्ध गुण पर्याय होते हैं । जहाँ यह आत्मा शुभ अशुभ परिणामरूप परिणमता है, वहाँ इन अपने परिणामोंसे व्याप्य व्यापकरूप होता हुआ उसी स्वरूप हो जाता है । जब शुद्धपरिणामोंरूप परिणमन करता है, तब उन्हीं स्वरूप होजाता है । क्योंकि परिणाम द्रव्यका स्वभाव है ॥ १० ॥

आगे शुभपरिणाम और शुद्धपरिणाम ये दोनों चारित्र हैं, इनके फलको कहते हैं—

[**यदि आत्मा शुद्धसंप्रयोगयुतः तदा निर्वाणसुखं प्राप्नोति**] जब आत्मा शुद्ध

स्वकार्यकरणसमर्थचारित्रः साक्षान्मोक्षमवाप्नोति । यदा तु धर्मपरिणतस्वभावोऽपि शुभोपयोगपरिणत्या संगच्छते तदा सप्रत्यनीकशक्तितया स्वकार्यकरणासमर्थः कथंचिद्विरुद्धकार्यकारिचारित्रः शिखितप्तघृतोपसिक्तपुरुषो दाहदुःखमिव स्वर्गसुखबन्धमवाप्नोति । अतः शुद्धोपयोग उपादेयः शुभोपयोगो हेयः ॥ ११ ॥

संक्षेपेण फलं दर्शयति—**धम्मेण परिणदप्पा अप्पा** धर्मेण परिणतात्मा परिणतस्वरूपः सन्नयमात्मा **जदि सुद्धसंपयोगजुदो** यदि चेच्छुद्धोपयोगाभिधानशुद्धसंप्रयोगपरिणामयुतः परिणतो भवति **पावदि णिव्वाणसुहं** तदा निर्वाणसुखं प्राप्नोति । **सुहोवजुत्तो व सग्गसुहं** शुभोपयोगयुतः परिणतः सन् स्वर्गसुखं प्राप्नोति । इतो विस्तरम्—इह धर्मशब्देनाहिंसालक्षणः सागारानगाररूपस्तथोत्तमक्षमादिलक्षणो रत्नत्रयात्मको वा, तथा मोहक्षोभरहित आत्मपरिणामः शुद्धवस्तुस्वभावश्चेति गृह्यते । स एव धर्मः पर्यायान्तरेण चारित्रं भण्यते । 'चारित्तं खलु धम्मो' इति वचनात् । तच्च चारित्रमपहृतसंयमोपेक्षासंयमभेदेन सरागवीतरागभेदेन वा शुभोपयोगशुद्धोपयोगभेदेन च द्विधा भवति । तत्र यच्छुद्धसंप्रयोगशब्दवाच्यं शुद्धोपयोगस्वरूपं वीतरागचारित्रं तेन निर्वाणं लभते । निर्विकल्पसमाधिरूपशुद्धोपयोगशक्त्यभावे सति यदा शुभोपयोगरूपसरागचारित्रेण परिणमति तदा पूर्वमनाकुलत्वलक्षणपारमार्थिकसुखविपरीतमाकुलत्वोत्पादकं स्वर्गसुखं लभते । पश्चात् परमसमाधिसामग्रीसद्भावे मोक्षं च लभते इति सूत्रार्थः ॥ ११ ॥ अथ चारित्रपरिणामासंभवादत्यन्तहेयस्या-

---

उपयोग सहित होता है, तब मोक्षसुखको पाता है । [**वा शुभोपयुक्तः**] और जब शुभोपयोगरूप भावोंमें परिणमता है, तब [**स्वर्गसुखं**] स्वर्गोंके सुख पाता है । कैसा है, यह आत्मा [**धर्मपरिणतात्मा**] धर्मसे परिणमा है, स्वरूप जिसका । **भावार्थ**—वीतराग सराग भावोंकर धर्म दो प्रकारका है । जब यह आत्मा वीतराग आत्मीक धर्मरूप परिणमता हुआ शुद्धोपयोगभावोंमें परिणमन करता है, तब कर्मोंसे इसकी शक्ति रोकी नहीं जासकती । अपने कार्य करनेको समर्थ हो जाता है, इस कारण अनन्त अखण्ड निजसुख जो मोक्षसुख उसको स्वभाव ही से पाता है, और जब यह आत्मा, दान, पूजा, व्रत, संयमादिरूप सरागभावोंकर परिणमता हुआ शुभोपयोग परिणतिको धारण करता है, तब इसकी शक्ति कर्मोंसे रोकी जाती है । इसलिये मोक्षरूपी कार्य करनेको असमर्थ हो जाता है । फिर उस शुभोपयोग परिणमनसे कर्मबन्धरूप स्वर्गोंके सुखोंको ही पाता है । यद्यपि शुभोपयोग चारित्रका अंग है, तो भी अपने सुखसे उलटा परके आधीन संसारसंबन्धी इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाले सुखका कारण है । क्योंकि यह राग-कषायसे मिला हुआ है, और जो इन्द्रियजन्य सुख है, वह वास्तवमें दुःख ही है । जैसे कोई पुरुष गरम घी अपनी देहपर डालता है, तो उससे वह दाहके दुःखको पाता है । ऐसे घीके भी लगनेसे कुछ शांतपना नहीं होता । जिस तरह केवल आगके जलनेसे दुःख होता है, वैसा ही दुःख इस गरम घीसे भी होता है । इसलिये इन्द्रियजनित सुखको गरम घीके समान जानना चाहिये । अर्थात् यह शुभोपयोग भी संसारके फलको देता है, इस कारण अशुभोपयोगके समान त्यागने योग्य है, और शुद्धोपयोग, आत्मीक-सुखको 'कि जिसमें किसी तरहकी भी आकुलता नहीं है' देता है । इसलिये उपादेय है ॥ ११ ॥ आगे

अथ चारित्रपरिणामसंपर्कासंभवादत्यन्तहेयस्याशुभपरिणामस्य फलमालोचयति—

असुहोदयेण आदा कुणरो तिरियो भवीय णेरइयो।
दुक्खसहस्सेहिं सदा अभिंधुदो भमदि अच्चंतं ॥ १२॥

अशुभोदयेनात्मा कुनरस्तिर्यग्भूत्वा नैरयिकः।
दुःखसहस्रैः सदा अभिधृतो भ्रमत्यत्यन्तम् ॥ १२ ॥

यदायमात्मा मनागपि धर्मपरिणतिमनासादयन्नशुभोपयोगपरिणतिमालम्बते तदा कुमनुष्यतिर्यङ्नारकभ्रमणरूपं दुःखसहस्रबन्धमनुभवति । ततश्चारित्रलवस्याप्यभावादत्यन्तहेय एवायमशुभोपयोग इति । एवमयमपास्तसमस्तशुभाशुभोपयोगवृत्तिः शुद्धोपयोगवृत्तिमात्मसात्कुर्वाणः शुद्धोपयोगाधिकारमारभते ॥ १२ ॥

तत्र शुद्धोपयोगफलमात्मनः प्रोत्साहनार्थमभिष्टौति—

अइसयमादसमुत्थं विसयातीदं अणोवममणंतं।
अव्वुच्छिण्णं च सुहं सुद्धुवओगप्पसिद्धाणं ॥ १३ ॥

शुभोपयोगस्य फलं दर्शयति — **असुहोदयेण** अशुभोदयेन **आदा** आत्मा **कुणरो तिरियो भवीय णेरइयो** कुनरस्तिर्यङ्नारको भूत्वा । किं करोति । **दुक्खसहस्सेहिं सदा अभिंधुदो भमदि अच्चंतं** दुःखसहस्रैः सदा सर्वकालमभिभूतः कदर्थितः पीडितः सन् संसारे अत्यन्तं भ्रमतीति । तथाहि—निर्विकारशुद्धात्मतत्त्वरुचिरूपनिश्चयसम्यक्त्वस्य तत्रैव शुद्धात्मन्यविक्षिप्तचित्तवृत्तिरूपनिश्चयचारित्रस्य च विलक्षणेन विपरीताभिनिवेशजनकेन दृष्टश्रुतानुभूतपञ्चेन्द्रियविषयाभिलाषतीव्रसंक्लेशरूपेण चाशुभोपयोगेन यदुपार्जितं पापकर्म तदुदयेनायमात्मा सहजशुद्धात्मानन्दैकलक्षणपारमार्थिकसुखविपरीतेन दुःखेन दुःखितः सन् स्वस्वभावभावनाच्युतो भूत्वा संसारेऽत्यन्तं भ्रमतीति तात्पर्यार्थः ॥ एवमुपयोगत्रयफलकथनरूपेण चतुर्थस्थले गाथाद्वयं गतम् ॥ १२ ॥ अथ शुभाशुभोपयोगद्वयं निश्चयनयेन हेयं ज्ञात्वा शुद्धोपयोगाधिकारं प्रारम्भमाणः, शुद्धात्म-

---

बिलकुल त्यागने योग्य और चारित्रका घात करनेवाला जो अशुभोपयोग है, उसके फलको दिखाते हैं— **[अशुभोदयेन आत्मा अत्यन्तं भ्रमति]** अव्रत, विषय, कषायरूप अशुभोपयोगोंसे परिणमता यह आत्मा अर्थात् धर्मसे बहिर्मुख संसारी जीव है, वह बहुत कालतक संसारमें भटकता है। कैसा होता हुआ ? **[कुनरः तिर्यग्नैरयिकः भूत्वा सदा अभिद्रुतः]** खोटा (दुःखी—दरिद्री) मनुष्य, तिर्यंच तथा नारकी होकर हजारों दुःखोंसे हमेशा दुःखी होता हुआ, संसारमें भ्रमण करता है। **भावार्थ—**शुभोपयोग किसी एक व्यवहारनयके अंगसे धर्मका अंग है, परंतु यह अशुभोपयोग तो धर्मका अंग किसी तरह भी नहीं है । इसलिये यह अत्यंत ही हेय है, और जो इसमें लगे रहते हैं, वे खोटे मनुष्य, तिर्यंच, नारकी इन तीन गतियोंमें अनेक दुःखोंसे क्लेशरूप होते हुए सदाकाल भटकते हैं॥ १२॥ आगे अत्यंत उपादेय शुद्ध उपयोग फल दिखाते हैं — **[शुद्धोपयोगप्रसिद्धानां एतादृशं सुखं]** वीतराग-परमसामायिकचारित्रसे उत्पन्न हुए जो अरहंत और सिद्ध हैं, उनके ही ऐसा सुख विद्यमान

अतिशयमात्मसमुत्थं विषयातीतमनौपम्यमनन्तम् ।
अव्युच्छिन्नं च सुखं शुद्धोपयोगप्रसिद्धानाम् ॥ १३ ॥

आसंसारापूर्वपरमाद्भुताह्लादरूपत्वादात्मानमेवाश्रित्य प्रवृत्तत्वात्पराश्रयनिरपेक्षत्वादत्यन्तविलक्षणत्वात्समस्तायतिनिरपायित्वान्नैरन्तर्यप्रवर्तमानत्वाच्चातिशयवदात्मसमुत्थं विषयातीतमनौपम्यमनन्तमव्युच्छिन्नं शुद्धोपयोगनिःपन्नानां सुखामृतं तत्सर्वथा प्रार्थनीयम् ॥ १३ ॥

अथ शुद्धोपयोगपरिणतात्मस्वरूपं निरूपयति—

सुविदिदपयत्थसुत्तो संजमतवसंजुदो विगदरागो ।
समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगो त्ति ॥ १४ ॥

भावनामात्मसात्कुर्वाणः सन्, स्वस्वभावजीवस्य प्रोत्साहनार्थं शुद्धोपयोगफलं प्रकाशयति । अथवा द्वितीयपातनिका—यद्यपि शुद्धोपयोगफलमग्रे ज्ञानं सुखं च संक्षेपेण विस्तरेण च कथयति तथाप्यत्रापि पीठिकायां सूचनां करोति । अथवा तृतीयपातनिका—पूर्वं शुद्धोपयोगफलं निर्वाणं भणितमिदानीं पुनर्निर्वाणस्य फलमनन्तसुखं कथयतीति पातनिकात्रयस्यार्थं मनसि धृत्वा सूत्रमिदं प्रतिपादयति—**अइसयं** आसंसाराद्देवेन्द्रादिसुखेभ्योऽप्यपूर्वाद्भुतपरमाह्लादरूपत्वादतिशयस्वरूपं, **आदसमुत्थं** रागादिविकल्परहितस्वशुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्नत्वादात्मसमुत्थं, **विसयातीदं** निर्विषयपरमात्मतत्त्वप्रतिपक्षभूतपञ्चेन्द्रियविषयातीतत्वाद्विषयातीतं, **अणोवमं** निरुपमपरमानन्दैकलक्षणत्वेनोपमारहितत्वादनुपमं, **अणंतं** अनन्तागामिकाले विनाशाभावादप्रमितत्वाद्वाऽनन्तं, **अव्वुच्छिण्णं च** असातोदयाभावान्निरन्तरत्वादविच्छिन्नं च **सुहं** एवमुक्तविशेषणविशिष्टं सुखं भवति । केषाम् । **सुद्धुवओगप्पसिद्धाणं** वीतरागपरमसामायिकशब्दवाच्यशुद्धोपयोगेन प्रसिद्धा उत्पन्ना येऽर्हत्सिद्धास्तेषामिति । अत्रेदमेव सुखमुपादेयत्वेन निरन्तरं भावनीयमिति भावार्थः ॥ १३ ॥ अथ येन शुद्धोपयोगेन पूर्वोक्तसुखं भवति तत्परिणतपुरुषलक्षणं प्रकाशयति—**सुविदिदपयत्थसुत्तो** सुष्ठु संशयादिरहित-

---

है । कैसा है सुख? [**अतिशयं**] सबसे अधिक है । क्योंकि अनादिकालसे लेकर ऐसा सुख कभी इन्द्र वगैरहकी पदवियोंमें भी अपूर्व आश्चर्य करनेवाला परम आनंदरूप नहीं हुआ । फिर कैसा है? [**आत्मसमुत्थं**] अपने आत्मासे ही उत्पन्न हुआ है, पराधीन नहीं है । फिर कैसा है? [**विषयातीतं**] पाँच इंद्रियोंके स्पर्श, रस, गंध, रूप, शब्दस्वरूप जो विषय-पदार्थ उनसे रहित है, संकल्प-विकल्परहित अतींद्रियसुख है । फिर कैसा है? [**अनौपम्यं**] उपमासे रहित है, अर्थात् तीन लोकमें जिस सुखके बराबर दूसरा सुख नहीं है । इस सुखकी अपेक्षा दूसरे सब सुख दुःख ही स्वरूप हैं । फिर कैसा है? [**अनन्तं**] जिसका नाश नहीं होता, सदा ही नित्य है । फिर कैसा है? [**अव्युच्छिन्नं**] बाधारहित—हमेशा एकसा रहता है । ऐसा सुख शुद्धोपयोगका ही फल है । इससे यह अभिप्राय निकला कि, शुद्धोपयोग सर्वप्रकारसे उपादेय है, और शुभ अशुभोपयोग हेय है । इन दोनोंमें व्यवहारनयसे किसी तरह शुभोपयोग तो उपादेय है, परन्तु अशुभोपयोग तो सर्वथा ही हेय है ॥ १३ ॥ आगे शुद्धोपयोग सहित जीवका स्वरूप कहते हैं—[**एतादृशः श्रमणः शुद्धोपयोगः इति भणितः**] ऐसा

सुविदितपदार्थसूत्रः संयमतपःसंयुतो विगतरागः ।
श्रमणः समसुखदुःखो भणितः शुद्धोपयोग इति ॥ १४ ॥

सूत्रार्थज्ञानबलेन स्वपरद्रव्यविभागपरिज्ञानश्रद्धानविधानसमर्थत्वात्सुविदितपदार्थसूत्रः । सकलषड्जीवनिकायनिशुम्भनविकल्पात्पञ्चेन्द्रियाभिलाषविकल्पाच्च व्यावर्त्यात्मनः शुद्धस्वरूपे संयमनात्, स्वरूपविश्रान्तनिस्तरङ्गचैतन्यप्रतपनाच्च संयमतपःसंयुतः । सकलमोहनीयविपाकविवेकभावनासौष्ठवस्फुटीकृतनिर्विकारात्मस्वरूपत्वाद्विगतरागः । परमकलावलोकनाननुभूयमानसातासातवेदनीयविपाकनिर्वर्तितसुखदुःखजनितपरिणामवैषम्यात्समसुखदुःखः श्रमणः शुद्धोपयोग इत्यभिधीयते ॥ १४ ॥

अथ शुद्धोपयोगलाभानन्तरभाविविशुद्धात्मस्वभावलाभमभिनन्दति—

त्वेन विदिता ज्ञाता रोचिताश्च निजशुद्धात्मादिपदार्थास्तत्प्रतिपादकसूत्राणि च येन स सुविदितपदार्थसूत्रो भण्यते । **संजमतवसंजुदो** बाह्ये द्रव्येन्द्रियव्यावर्तनेन षड्जीवरक्षणेन चाभ्यन्तरे निजशुद्धात्मसंवित्तिबलेन स्वरूपे संयमनात् संयमयुक्तः, बाह्याभ्यन्तरतपोबलेन कामक्रोधादिशत्रुभिरखण्डितप्रतापस्य स्वशुद्धात्मनि प्रतपनाद्विजयनात्तपःसंयुक्तः । **विगदरागो** वीतरागशुद्धात्मभावनाबलेन समस्तरागादिदोषरहितत्वाद्वीतरागः । **समसुहदुक्खो** निर्विकारनिर्विकल्पसमाधेरुद्गता समुत्पन्ना तथैव परमानन्तसुखरसे लीना तल्लया निर्विकारस्वसंवित्तिरूपा या तु परमकला तदवष्टम्भेनेष्टानिष्टेन्द्रियविषयेषु हर्षविषादरहितत्वात्समसुखदुःखः **समणो** एवं गुणविशिष्टः श्रमणः परममुनिः **भणिदो सुद्धोवओगो त्ति** शुद्धोपयोगो भणित इत्यभिप्रायः ॥ १४ ॥ एवं शुद्धोपयोगफलभूतानन्तसुखस्य शुद्धोपयोगपरिणतपुरुषस्य च कथनरूपेण पञ्चमस्थले गाथाद्वयं गतम् ॥

(अथास्यान्तराधिकारस्योपोद्घातः)—अथ प्रवचनसारव्याख्यायां मध्यमरुचिशिष्यप्रतिबोधनार्थायां

परम मुनि शुद्धोपयोग भावस्वरूप परिणमता है । इस प्रकार वीतरागदेवने कहा है । कैसा है, वह श्रमण अर्थात् मुनि । **[सुविदितपदार्थसूत्रः]** अच्छी रीतिसे जान लिये हैं, जीवादि नव पदार्थ तथा इन पदार्थोंका कहनेवाला सिद्धांत जिसने, अर्थात् जिसने अपना और परका भेद भले प्रकार जान लिया है, श्रद्धान किया है, तथा निजस्वरूपमें ही आचरण किया है, ऐसा मुनीश्वर ही शुद्धोपयोगवाला है । फिर कैसा है ? **[संयमतपःसंयुतः]** पाँच इन्द्रिय तथा मनकी अभिलाषा और छह कायके जीवोंकी हिंसा इनसे आत्माको रोककर अपने स्वरूपका आचरण रूप जो संयम, और बाह्य तथा अंतरंग बारह प्रकार के तपके बलकर स्वरूपकी स्थिरताके प्रकाशसे ज्ञानका तपन (दैदीप्यमान होना) स्वरूप तप, इन दोनों कर सहित है । फिर कैसा है ? **[विगतरागः]** दूर हुआ हैं, परद्रव्यसे रमण करना रूप परिणाम जिसका । फिर कैसा है ? **[समसुखदुःखः]** समान हैं, सुख और दुःख जिसके अर्थात् उत्कृष्टज्ञान की कलाकी सहायताकर इष्ट वा अनिष्टरूप इन्द्रियोंके विषयोंमें हर्ष तथा खेद नहीं करता है, ऐसा जो श्रमण है, वही शुद्धोपयोगी कहा जाता है ॥ १४ ॥ आगे शुद्धोपयोगके लाभके बाद ही शुद्ध आत्मस्व-

उवओगविसुद्धो जो विगदावरणंतरायमोहरओ।
भूदो सयमेवादा जादि परं णेयभूदाणं ॥ १५ ॥
उपयोगविशुद्धो यो विगतावरणान्तरायमोहरजाः।
भूतः स्वयमेवात्मा याति परं ज्ञेयभूतानाम् ॥ १५ ॥

यो हि नाम चैतन्यपरिणामलक्षणेनोपयोगेन यथाशक्ति विशुद्धो भूत्वा वर्तते स खलु प्रतिपदमुद्भिद्यमानविशिष्टविशुद्धिशक्तिरुद्ग्रन्थितासंसारबद्धदृढतरमोहग्रन्थितयात्यन्तनिर्विकारचैतन्यो निरस्तसमस्तज्ञानदर्शनावरणान्तरायतया निःप्रतिघविजृम्भितात्मशक्तिश्च स्वयमेव भूतो

मुख्यगौणरूपेणान्तस्तत्त्वबहिस्तत्त्वप्ररूपणसमर्थायां च प्रथमत एकोत्तरशतगाथाभिर्ज्ञानाधिकारः, तदनन्तरं त्रयोदशाधिकशतगाथाभिर्दर्शनाधिकारः, ततश्च सप्तनवतिगाथाभिश्चारित्राधिकारश्चेति समुदायेनैकादशाधिकत्रिशतप्रमितसूत्रैः सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्ररूपेण महाधिकारत्रयं भवति। अथवा टीकाभिप्रायेण तु सम्यग्ज्ञानज्ञेयचारित्राधिकारचूलिकारूपेणाधिकारत्रयम्। तत्राधिकारत्रये प्रथमतस्तावज्ज्ञानाभिधानमहाधिकारमध्ये द्वासप्ततिगाथापर्यन्तं शुद्धोपयोगाधिकारः कथ्यते। तासु द्वासप्ततिगाथासु मध्ये 'एस सुरासुर' इमां गाथामादिं कृत्वा पाठक्रमेण चतुर्दशगाथापर्यन्तं पीठिका। तदनन्तरं सप्तगाथापर्यन्तं सामान्येन सर्वज्ञसिद्धिः, तदनन्तरं त्रयस्त्रिंशद्गाथापर्यन्तं ज्ञानप्रपञ्चः। ततश्चाष्टादशगाथापर्यन्तं सुखप्रपञ्चश्चेत्यन्तराधिकारचतुष्टयेन शुद्धोपयोगाधिकारो भवति। अथ पञ्चविंशतिगाथापर्यन्तं ज्ञानकण्ठिकाचतुष्टयप्रतिपादकनामा द्वितीयोऽधिकारश्चेत्यधिकारद्वयेन, तदनन्तरं स्वतन्त्रगाथाचतुष्टयेन चैकोत्तरशतगाथाभिः प्रथममहाधिकारे समुदायपातनिका ज्ञातव्या॥

इदानीं प्रथमपातनिकाभिप्रायेण प्रथमत पञ्चगाथापर्यन्तं पञ्चपरमेष्ठिनमस्कारादिप्ररूपणप्रपञ्चः, तदनन्तरं सप्तगाथापर्यन्तं ज्ञानकण्ठिकाचतुष्टयपीठिकाव्याख्यानं क्रियते, तत्र पञ्च स्थलानि भवन्ति तेष्वादौ नमस्कारमुख्यत्वेन गाथापञ्चकं, तदनन्तरं चारित्रसूचनमुख्यत्वेन 'संपज्जइ णिव्वाणं' इति प्रभृति गाथात्रयमथ शुभाशुभशुद्धोपयोगत्रयसूचनमुख्यत्वेन 'जीवो परिणमदि' इत्यादिगाथासूत्रद्वयमथ तत्फलकथनमुख्यतया 'धम्मेण परिणदप्पा' इति प्रभृति सूत्रद्वयम्। अथ शुद्धोपयोगध्यातुः पुरुषस्य प्रोत्साहनार्थं शुद्धोपयोगफलदर्शनार्थं च प्रथमगाथा, शुद्धोपयोगिपुरुषलक्षणकथनेन द्वितीया चेति 'अइसयमादसमुत्थं' इत्यादि गाथाद्वयम्। एवं पीठिकाभिधानप्रथमान्तराधिकारे स्थलपञ्चकेन चतुर्दशगाथाभिः समुदायपातनिका प्रोक्ता॥

इति चतुर्दशगाथाभिः स्थलपञ्चकेन **पीठिकाभिधानः** प्रथमोऽन्तराधिकारः समाप्तः॥

तदनन्तरं सामान्येन सर्वज्ञसिद्धिर्ज्ञानविचारः संक्षेपेण शुद्धोपयोगफलं चेति कथनरूपेण गाथासप्तकम्। तत्र स्थलचतुष्टयं भवति, तस्मिन् प्रथमस्थले सर्वज्ञस्वरूपकथनार्थं प्रथमगाथा, स्वयंभूकथनार्थं द्वितीया चेति 'उवओगविसुद्धो' इत्यादि गाथाद्वयम्। अथ तस्यैव भगवत उत्पादव्ययध्रौव्यस्थापनार्थं प्रथमगाथा,

---

भावकी प्राप्ति होती है, ऐसा कहते हैं—**[यः उपयोगशुद्धः आत्मा ज्ञेयभूतानां पारं याति]** जो आत्मा शुद्धोपयोगसे निर्मल हो गया है, वही आत्मा सब पदार्थोंके अंतको पाता है, अर्थात् जो

ज्ञेयत्वमापन्नानामन्तमवाप्नोति । इह किलात्मा ज्ञानस्वभावो ज्ञानं तु ज्ञेयमात्रं ततः समस्तज्ञेयान्तर्वर्तिज्ञानस्वभावमात्मानमात्मा शुद्धोपयोगप्रसादादेवासादयति ॥ १५ ॥

अथ शुद्धोपयोगजन्यस्य शुद्धात्मस्वभावलाभस्य कारकान्तरनिरपेक्षितयाऽत्यन्तमात्मायत्तत्वं द्योतयति—

पुनरपि तस्यैव दृढीकरणार्थं द्वितीया चेति 'भंगविहीणो' इत्यादि गाथाद्वयम् । अथ सर्वज्ञश्रद्धानेनानन्तसुखं भवतीति दर्शनार्थं 'तं सव्वत्थवरिट्ठं' इत्यादि सूत्रमेकम् । अथातीन्द्रियज्ञानसौख्यपरिणमनकथनमुख्यत्वेन प्रथमगाथा, केवलिभुक्तिनिराकरणमुख्यत्वेन द्वितीया चेति 'पक्खीणघाइकम्मो' इति प्रभृति गाथाद्वयम् । एवं द्वितीयान्तराधिकारे स्थलचतुष्टयेन समुदायपातनिका ॥ तद्यथा—अथ शुद्धोपयोगलाभानन्तरं केवलज्ञानं भवतीति कथयति । अथवा द्वितीयपातनिका—**कुन्दकुन्दाचार्यदेवाः** संबोधनं कुर्वन्ति, हे **शिवकुमारमहाराज,** कोऽप्यासन्नभव्यः संक्षेपरुचिः पीठिकाव्याख्यानमेव श्रुत्वात्मकार्यं करोति, अन्यः कोऽपि पुनर्विस्तररुचिः शुद्धोपयोगेन संजातसर्वज्ञस्य ज्ञानसुखादिकं विचार्य पश्चादात्मकार्यं करोतीति व्याख्याति— **उवओगविसुद्धो जो** उपयोगेन शुद्धोपयोगेन परिणामेन विशुद्धो भूत्वा वर्तते यः **विगदावरणंतरायमोहरओ भूदो** विगतावरणान्तरायमोहरजोभूतः सन् । कथम् । **सयमेव** निश्चयेन स्वयमेव **आदा** स पूर्वोक्त आत्मा **जादि** याति गच्छति । किं **परं** पारमवसानम् । केषाम् । **णेयभूदाणं** ज्ञेयभूतपदार्थानाम् । सर्वं जानातीत्यर्थः । अतो विस्तरः—यो निर्मोहशुद्धात्मसंवित्तिलक्षणेन शुद्धोपयोगसंज्ञेनागमभाषया पृथक्त्ववितर्कवीचारप्रथमशुक्लध्यानेन पूर्वं निरवशेषमोहक्षपणं कृत्वा तदनन्तरं रागादिविकल्पोपाधिरहितस्वसंवित्तिलक्षणेनैकत्ववितर्कवीचारसंज्ञद्वितीयशुक्लध्यानेन क्षीणकषायगुणस्थानेऽन्तर्मुहूर्तकालं स्थित्वा तस्यैवान्त्यसमये ज्ञानदर्शनावरणवीर्यान्तरायाभिधानघातिकर्मत्रयं युगपद्विनाशयति । स जगत्त्रयकालत्रयवर्तिसमस्तवस्तुगतानन्तधर्माणां युगपत्प्रकाशकं केवलज्ञानं प्राप्नोति । ततः स्थितं शुद्धोपयोगात्सर्वज्ञो भवतीति ॥ १५ ॥ अथ शुद्धोपयोगजन्यस्य शुद्धात्मस्वभावलाभस्य भिन्नकारकनिरपेक्षत्वेनात्माधीनत्वं प्रकाशयति— **तह सो लद्धसहावो** यथा निश्चयरत्नत्रयलक्षणशुद्धोपयोगप्रसादात्सर्वं जानाति तथैव सः पूर्वोक्तलब्धशुद्धात्मस्वभावः सन्

शुद्धोपयोगी जीव है, वही तीनकालवर्त्ती समस्त पदार्थोंके जाननेवाले केवलज्ञानको प्राप्त होता है, कैसा होता हुआ कि **[विगतावरणान्तरायमोहरजाः स्वयमेव भूतः सन्]** दूर हुई ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय, तथा मोहनीयकर्मरूप धूलि (मल) जिससे ऐसा आप ही होता हुआ । **भावार्थ—** जो शुद्धोपयोगी जीव है, वह गुणस्थान गुणस्थान प्रति शुद्ध होता हुआ बारहवें गुणस्थानके अन्तमें संपूर्ण चार घातिया कर्मोंका नाशकर केवलज्ञानको पाता है, और आत्माका स्वभाव ज्ञान है, ज्ञान ज्ञेयके प्रमाण है, ज्ञेय तीनों कालोंमें रहनेवाले सब पदार्थ हैं, इसलिये शुद्धोपयोग के प्रसादसे ही यह आत्मा सब ज्ञेयोंको जाननेवाले केवलज्ञानको प्राप्त होता है ॥ १५ ॥ आगे शुद्धोपयोगका फल जो केवलज्ञानमय शुद्धात्मका लाभ वह जिस समय इस आत्माको होता है, तब कर्ता–कर्मादि छह कारकरूप आप ही होता हुआ स्वाधीन होता है, और किसी दूसरे कारकको नहीं चाहता है, यह कहते हैं—**[तथा**

तह सो लद्धसहावो सव्वण्हू सव्वलोगपदिमहिदो।
भूदो सयमेवादा हवदि सयंभु त्ति णिद्दिट्ठो॥ १६॥
तथा स लब्धस्वभावः सर्वज्ञः सर्वलोकपतिमहितः।
भूतः स्वयमेवात्मा भवति स्वयंभूरिति निर्दिष्टः॥ १६॥

अयं खल्वात्मा शुद्धोपयोगभावनानुभावप्रत्यस्तमितसमस्तघातिकर्मतया समुपलब्धशुद्धानन्तशक्तिचित्स्वभावः, शुद्धानन्तशक्तिज्ञायकस्वभावेन स्वतन्त्रत्वाद्गृहीतकर्तृत्वाधिकारः, शुद्धान-

---

आदा अयमात्मा **हवदि सयंभु त्ति णिद्दिट्ठो** स्वयंभूर्भवतीति निर्दिष्टः कथितः। किंविशिष्टो भूतः। **सव्वण्हू सव्वलोगपदिमहिदो भूदो** सर्वज्ञः सर्वलोकपतिमहितश्च भूतः संजातः। कथम्। **सयमेव** निश्चयेन स्वयमेवेति। तथाहि–अभिन्नकारकचिदानन्दैकचैतन्यस्वस्वभावेन स्वतन्त्रत्वात् कर्ता भवति।

स आत्मा स्वयंभूः भवति इति निर्दिष्टः] जैसे शुद्धोपयोगके प्रभावसे केवलज्ञानादि गुणोंको प्राप्त हुआ था, उसी प्रकार वही आत्मा 'स्वयंभू' नामवाला भी होता है, ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा हैं। तात्पर्य यह है, कि जो आत्मा केवलज्ञानादि स्वाभाविक गुणोंको प्राप्त हुआ हो, उसीका नाम स्वयंभू है। क्योंकि व्याकरणकी व्युत्पत्तिसे भी जो 'स्वयं' अर्थात् आप ही से अर्थात् दूसरे द्रव्यकी सहायता विना ही 'भवति' अर्थात् अपने स्वरूप होवे, इस कारण इसका नाम स्वयंभू कहा गया है, यह आत्मा अपने स्वरूपकी प्राप्तिके समय दूसरे कारककी इच्छा नहीं करता है। आप ही छह कारकरूप होकर अपनी सिद्धि करता है, क्योंकि आत्मामें अनंत शक्ति है, कैसा है वह **[लब्धस्वभावः]** प्राप्त किया है, घातिया कर्मोंके नाशसे अनंतज्ञानादि शक्तिरूप अपना स्वभाव जिसने। फिर कैसा है? **[सर्वज्ञः]** तीन कालमें रहनेवाले सब पदार्थोंको जाननेवाला है। फिर कैसा है? स्वयंभू आत्मा। **[सर्वलोकपतिमहितः]** तीनों भुवनोंके स्वामी इन्द्र धरणेन्द्र चक्रवर्ती इनकर पूजित है। फिर कैसा है? **[स्वयमेव भूतः]** अपने आप ही परकी सहायताके विना अपने शुद्धोपयोगके बलसे अनादि अविद्यासे उत्पन्न हुए अनेक प्रकारके बन्धोंको तोड़कर निश्चयसे इस पदवीको प्राप्त हुआ है, अर्थात् सकल सुर, असुर, मनुष्योंके स्वामियोंसे पूज्य सर्वज्ञ वीतराग तीन लोकका स्वामी शुद्ध अपने स्वयंभूपदको प्राप्त हुआ है।

अब षट्कारक दिखाते हैं–कर्ता १ कर्म २ करण ३ संप्रदान ४ अपादान ५ अधिकरण ६ ये छह कारकोंके नाम हैं, और ये सब दो दो तरहके हैं, एक व्यवहार दूसरा निश्चय। उनमें जिस जगह परके निमित्तसे कार्यकी सिद्धि कीजाय, वहाँ व्यवहार षट्कारक होता है, और जिस जगह अपनेमें ही अपनेको उपादान कारण कर अपने कार्यकी सिद्धि कीजावे, वहाँ निश्चय षट्कारक है। व्यवहार छह कारक उपचार असद्भूतनयकर सिद्धि किये जाते हैं, इस कारण असत्य हैं, निश्चय छह कारक, अपनेमें ही जोड़े जाते हैं, इसलिये सत्य हैं। क्योंकि वास्तवमें कोई द्रव्य किसी द्रव्यका कर्ता व हर्ता नहीं है, इसलिये व्यवहारकारक असत्य है, अपनेको आप ही करता है, इस कारण निश्चयकारक सत्य है। जो

न्तशक्तिज्ञानविपरिणमनस्वभावेन माप्यत्वात् कर्मत्वं कलयन्, शुद्धानन्तशक्तिज्ञानविपरिणमनस्वभावेन साधकतमत्वात् करणत्वमनुबिभ्राणः, शुद्धानन्तशक्तिज्ञानविपरिणमनस्वभावेन कर्मणा समाश्रियमाणत्वात् संप्रदानत्वं दधानः, शुद्धानन्तशक्तिज्ञानविपरिणमनसमये पूर्वप्रवृत्तविकलज्ञान स्वभावापगमेऽपि सहजज्ञानस्वभावेन ध्रुवत्वावलम्बनादपादानत्वमुपाददानः, शुद्धानन्तशक्तिज्ञानविपरिणमनस्वभावस्याधारभूतत्वादधिकरणत्वमात्मसात्कुर्वाणः, स्वयमेव षट्कारकीरूपेणो-

नित्यानन्दैकस्वभावेन स्वयं प्राप्यत्वात् कर्मकारकं भवति। शुद्धचैतन्यस्वभावेन साधकतमत्वात्करणकारकं भवति। निर्विकारपरमानन्दैकपरिणतिलक्षणेन शुद्धात्मभावरूपकर्मणा समाश्रियमाणत्वात्संप्रदानं भवति। तथैव पूर्वमत्यादिज्ञानविकल्पविनाशेऽप्यखण्डितैकचैतन्यप्रकाशेनाविनश्वरत्वादपादानं भवति। निश्चयशुद्ध-

स्वाधीन होकर करे, वह **कर्ता**, जो कार्य किया जावे, वह **कर्म**, जिसकर किया जावे, वह **करण**, जो कर्मकर दिया जावे वह **संप्रदान**, जो एक अवस्थाको छोड़ दूसरी अवस्थारूप होवे, वह **अपादान**, जिसके आधार कर्म होवे, वह **अधिकरण** कहा जाता है। अब दोनों कारकोंका दृष्टांत दिखलाते हैं। उनमें प्रथम व्यवहारकर इस तरह है—जैसे कुंभकार (कुम्हार) कर्ता है, घड़ारूप कार्यको करता है, इससे घट कर्म है, दंड चक्र चीवर (डोरा) आदिकर यह घट कर्म सिद्ध होता है, इसलिये दंड आदिक करण कारक हैं, जल वगैरःके भरनेके लिये घट दिया जाता है, इसलिये सप्रदानकारक है, मिट्टीकी पिंडरूपादि अवस्थाको छोड़ घट अवस्थाको प्राप्त होना अपादानकारक है, भूमिके आधार से घटकर्म किया जाता है, बनाया जाता है, इसलिये भूमि अधिकरणकारक समझना, इस प्रकार ये व्यवहार कारक हैं। क्योंकि इनमें कर्ता दूसरा है, कर्म अन्य है, करण अन्य ही द्रव्य है, दूसरे ही को देना दूसरेसे करना। आधार जुदा ही है। निश्चय छह कारक अपने आप ही में होते हैं, जैसे—मृत्तिका-द्रव्य (मट्टी) करता है, अपने घट परिणाम कर्मको करता है, इसलिये आप ही कर्म है, आप ही अपने घट परिणामको सिद्ध करता है, इसलिये स्वयं ही करण है, अपने घट परिणामको करके अपनेको ही सौंप देता है, इस कारण आप ही संप्रदान है। अपनी मृत्पिंड अवस्थाको छोड़ अपनी घट अवस्थाको करता है, इसलिये आप ही अपादान है। अपनेमें ही अपने घटपरिणामको करता है, इसलिये आप ही अधिकरण है। इस तरह ये निश्चय षट्कारक हैं, क्योंकि किसी भी दूसरे द्रव्यकी सहायता नहीं है, इस कारण अपने आपमें ही ये निश्चयकारक साधे जाते हैं। इसी प्रकार यह आत्मा संसार अवस्थामें जब शुद्धोपयोगभावरूप परिणमन करता है, उस समय किसी दूसरेकी सहायता (मदद) न लेकर अपनी ही अनंत शुद्धचैतन्यशक्तिकर आप ही छह कारकरूप होके केवलज्ञानको पाता है, इसी अवस्थामें 'स्वयंभू' कहा जाता है। शुद्ध अनंतशक्ति तथा ज्ञायकस्वभाव होनेसे अपने आधीन होता हुआ यह आत्मा अपने शुद्ध ज्ञायकस्वभावको करता है, इसलिये आप ही कर्ता है, और जिस शुद्धज्ञायकस्वभावको करता है, वह आत्माका कर्म है, सो वह कर्म आप ही है, क्योंकि शुद्ध—अनंतशक्ति, ज्ञायक स्वभावकर अपने आपको ही प्राप्त होती है, वहाँ यह आत्मा ही 'कर्म' है, यह आत्मा अपने शुद्ध आत्मीक परिणामकर

पजायमानः, उत्पत्तिव्यपेक्षया द्रव्यभावभेदभिन्नघातिकर्माण्यपास्य स्वयमेवाविर्भूतत्वाद्वा स्वयंभूरिति निर्दिश्यते। अतो न निश्चयतः परेण सहात्मनः कारकत्वसंबन्धोऽस्ति, यतः शुद्धात्मस्वभावलाभाय सामग्रीमार्गणव्यग्रतया परतन्त्रैर्भूयते ॥ १६ ॥

अथ स्वायंभुवस्यास्य शुद्धात्मस्वभावलाभस्यात्यन्तमनपायित्वं कथंचिदुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तत्वं चालोचयति—

भंगविहीणो य भवो संभवपरिवज्जिदो विणासो हि।
विज्जदि तस्सेव पुणो ठिदिसंभवणाससमवायो ॥ १७॥
भङ्गविहीनश्च भवः संभवपरिवर्जितो विनाशो हि।
विद्यते तस्यैव पुनः स्थितिसंभवनाशसमवायः ॥ १७॥

चैतन्यादिगुणस्वभावात्मनः स्वयमेवाधारत्वादधिकरणं भवतीत्यभेदषट्कारकीरूपेण स्वत एव परिणममाणः सन्नयमात्मा परमात्मस्वभावकेवलज्ञानोत्पत्तिप्रस्तावे यतो भिन्नकारकं नापेक्षते ततः स्वयंभूर्भवतीति भावार्थः ॥ १६ ॥ एवं सर्वज्ञमुख्यत्वेन प्रथमगाथा। स्वयंभूमुख्यत्वेन द्वितीया चेति प्रथमस्थले गाथाद्वयं गतम्। अथास्य भगवतो द्रव्यार्थिकनयेन नित्यत्वेऽपि पर्यायार्थिकनयेनानित्यत्वमुपदिशति—**भंगविहीणो य भवो**

स्वरूपको साधन करता है, वहाँ पर अपने अनंतज्ञानकर 'करणकारक' होता है, यह आत्मा अपने शुद्ध परिणामोंको करता हुआ अपनेको ही देता है, उस अवस्थामें शुद्ध अनंतशक्ति ज्ञायकस्वभाव कर्मकर आपको ही स्वीकार करता हुआ 'संप्रदानकारक' होता है, यह आत्मा जब शुद्ध स्वरूपको प्राप्त होता है, उस समय इस आत्माके सांसारीक अशुद्ध-क्षायोपशमिक मति आदि ज्ञानका नाश होता है, उसी अवस्थामें अपने स्वाभाविक ज्ञानस्वभावकर स्थिरपनेको धारण करता है, तब 'अपादानकारक' होता है। यह आत्मा जब अपने शुद्धअनंतशक्ति ज्ञायकस्वभावका आधार है, उस दशामें 'अधिकरणकारक'को स्वीकार करता है। इस प्रकार यह आत्मा आप ही षट्कारकरूप होकर अपने शुद्धस्वरूपको उत्पन्न (प्रगट) करता है, तभी स्वयंभू पदवीको पाता है। अथवा अनादिकालसे बहुत मजबूत बँधे हुए घातिया-कर्मोंको (ज्ञानावरण १ दर्शनावरण २ मोहनीय ३ अन्तराय ४) नाश करके आप ही प्रगट हुआ है, दूसरेकी सहायता कुछ भी नहीं ली, इस कारण स्वयंभू कहा जाता है, यहाँ पर कोई प्रश्न करे, कि परकी सहायतासे स्वरूपकी प्राप्ति क्यों नहीं होती? उसका समाधान—कि जो यह आत्मा पराधीन होवे, तो आकुलता सहित होजाय, और जिस जगह आकुलता है, वहाँ स्वरूपकी प्राप्ति नहीं, इस कारण परकी सहायता विना ही आत्मा निराकुल होता है, इसी दशामें अपनी सहायतासे आपको पाता है। इसलिये निश्चय करके आप ही षट्कारक है। जो अपनी अनंतशक्तिरूप संपदासे परिपूर्ण है, तो वह दूसरेकी इच्छा क्यों रक्खे? अर्थात् कभी नहीं ॥ १६ ॥ आगे इस स्वयंभू प्रभूके शुद्धस्वभावको नित्य दिखलाते हैं, और किसीप्रकारसे उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य अवस्था भी दिखलाते हैं—**[तस्य आत्मनः भंगविहीनः भवः विद्यते]** जो आत्मा शुद्धोपयोगके प्रसादसे स्वरूपको प्राप्त हुआ है, उस आत्माके नाशरहित

अस्य खल्वात्मनः शुद्धोपयोगप्रसादात् शुद्धात्मस्वभावेन यो भवः स पुनस्तेन रूपेण प्रलयाभावाद्भङ्गविहीनः । यस्त्वशुद्धात्मस्वभावेन विनाशः स पुनरुत्पादाभावात्संभवपरिवर्जितः अतोऽस्य सिद्धत्वेनानपायित्वम् । एवमपि स्थितिसंभवनाशसमवायोऽस्य न विप्रतिषिध्यते, भङ्गरहितोत्पादेन संभववर्जितविनाशेन तद्द्वयाधारभूतद्रव्येण[ध्रौव्येण ?] च समवेतत्वात् ॥१७॥

अथोत्पादादित्रयं सर्वद्रव्यसाधारणत्वेन शुद्धात्मनोऽप्यवश्यं भवतीति विभावयति—

उप्पादो य विणासो विज्जदि सव्वस्स अट्ठजादस्स ।
पज्जाएण दु केणवि अट्ठो खलु होदि सब्भूदो ॥ १८ ॥
उत्पादश्च विनाशो विद्यते सर्वस्यार्थजातस्य ।
पर्यायेण तु केनाप्यर्थः खलु भवति सद्भूतः ॥ १८ ॥

भङ्गविहिनश्च भवः जीवितमरणादिसमताभावलक्षणपरमोपेक्षासंयमरूपशुद्धोपयोगेनोत्पन्नो योऽसौ भवः केवलज्ञानोत्पादः । स किंविशिष्टः । भङ्गविहीनो विनाशरहितः । **संभवपरिवज्जिदो विणासो हि** योऽसौ मिथ्यात्वरागादिससरणरूपसंसारपर्यायस्य विनाशः । स किंविशिष्टः । सभवहीनः निर्विकारात्मतत्त्वविलक्षणरागादिपरिणामाभावादुत्पत्तिरहितः । तस्माज्ज्ञायते तस्यैव भगवतः सिद्धस्वरूपतो द्रव्यार्थिकनयेन विनाशो नास्ति । **विज्जदि तस्सेव पुणो ठिदिसंभवणाससमवायो** विद्यते तस्यैव पुन. स्थितिसंभवनाशसमवायः, तस्यैव भगवत पर्यायार्थिकनयेन शुद्धव्यञ्जनपर्यायापेक्षया सिद्धपर्यायेणोत्पादः, संसारपर्यायेण विनाशः, केवलज्ञानादिगुणाधारद्रव्यत्वेन ध्रौव्यमिति । ततः स्थितं द्रव्यार्थिकनयेन नित्यत्वेऽपि पर्यायार्थिकनयेनोत्पादव्ययध्रौव्यत्रयं संभवतीति ॥ १७ ॥ अथोत्पादादित्रयं यथा सुवर्णादिमूर्तपदार्थेषु दृश्यते तथैवामूर्तेऽपि सिद्धस्वरूपे विज्ञेयं पदार्थत्वादिति निरूपयति—**उप्पादो य विणासो विज्जदि सव्वस्स अट्ठजादस्स**

उत्पाद है । अर्थात् जो इस आत्माके शुद्धस्वभावकी उत्पत्ति हुई, फिर उसका नाश कभी नहीं होता **[च संभवपरिवर्जितः विनाशः]** और विनाश है, वह उत्पत्तिकर रहित है, अर्थात् अनादिकालकी अविद्या (अज्ञान) से पैदा हुआ जो विभाव (अशुद्ध) परिणाम उसका एकबार नाश हुआ, फिर वह नहीं उत्पन्न होता है, इससे तात्पर्य यह निकला, कि जो इस भगवान् (ज्ञानवान्) आत्माके उत्पाद है, वह विनाश रहित है, और विनाश उत्पत्ति रहित है, तथा अपने सिद्धिस्वरूपकर ध्रुव (नित्य) है, अर्थात् जो यह आत्मा पहले अशुद्ध हालतमें था, वही आत्मा अब शुद्धदशामें मौजूद है, इस कारण ध्रुव है । **[तस्यैव पुनः स्थितिसंभवनाशसमवायः]** फिर उसी आत्मा के ध्रौव्य उत्पत्ति नाश इन तीनोंका मिलाप एक ही समयमें मौजूद है, क्योंकि यह भगवान् एक ही वक्त तीनों स्वरूप परिणमता है, अर्थात् जिस समय शुद्ध पर्यायकी उत्पत्ति है, उसी वक्त अशुद्ध प्रर्यायका नाश है, और उसी कालमें द्रव्यपनेसे ध्रुव है, दूसरे समयकी जरूरत ही नहीं है, यह कहनेसे यह अभिप्राय हुआ, कि द्रव्यार्थिकनयसे आत्मा नित्य होनेपर भी पर्यायार्थिकनयसे उत्पत्ति, विनाश, ध्रौव्य, इन तीनों सहित ही है ॥१७॥ आगे उत्पाद आदिक द्रव्यका स्वरूप है, इस कारण सब द्रव्योंमें है, तो फिर आत्मामें भी अवश्य हैं,

यथाहि जात्यजाम्बूनदस्याङ्गदपर्यायेणोत्पत्तिर्दृष्टा। पूर्वव्यवस्थिताङ्गुलीयकादिपर्यायेण च विनाशः। पीततादिपर्यायेण तूभयत्राप्युत्पत्तिविनाशावनासादयतः ध्रुवत्वम्। एवमखिलद्रव्याणां केनचित्पर्यायेणोत्पादः केनचिद्विनाशः केनचिद्ध्रौव्यमित्यवबोद्धव्यम्। अतः शुद्धात्मनोऽप्यु-

---

उत्पादश्च विनाशश्च विद्यते तावत्सर्वस्यार्थजातस्य पदार्थसमूहस्य । केन कृत्वा । **पज्जाएण दु केणवि** पर्यायेण तु केनापि विवक्षितेनार्थव्यञ्जनरूपेण स्वभावविभावरूपेण वा । स चार्थः किंविशिष्टः । **अट्ठो खलु होदि सब्भूदो** अर्थः खलु स्फुटं सत्ताभूतः सत्ताया अभिन्नो भवतीऽति । तथाहि—सुवर्णगोरसमृत्तिकापुरुषादिमूर्तपदार्थेषु यथोत्पादादित्रयं लोके प्रसिद्धं तथैवामूर्तेऽपि मुक्तजीवे । यद्यपि शुद्धात्मरुचिपरिच्छित्तिनिश्चलानुभूतिलक्षणस्य संसारावसानोत्पन्नकारणसमयसारपर्यायस्य विनाशो भवति तथैव केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारपर्यायस्योत्पादश्च भवति, तथाप्युभयपर्यायपरिणतात्मद्रव्यत्वेन ध्रौव्यत्वं पदार्थत्वादिति । अथवा ज्ञेयपदार्थाः प्रतिक्षणं भङ्गत्रयेण परिणमन्ति तथा ज्ञानमपि परिच्छित्त्यपेक्षया

यह कहते हैं ।

[केनापि] किसी एक **[पर्यायेण]** पर्यायसे **[सर्वस्य अर्थजातस्य]** सब पदार्थोंकी **[उत्पादः]** उत्पत्ति **[च विनाशः]** तथा नाश **[विद्यते]** मौजूद है, **[तु]** लेकिन **[खलु]** निश्चयसे **[अर्थः]** पदार्थ **[सद्भूतः]** सत्तास्वरूप **[भवति]** है। **भावार्थ**—पदार्थका अस्तित्व (होना) सत्तागुणसे है, और सत्ता, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यस्वरूप है, **सो** किसी पर्यायसे उत्पाद तथा किसी पर्यायसे विनाश और किसी पर्यायसे ध्रुवपना सब पदार्थोंमें हैं। जब सब पदार्थोंमें तीनों अवस्था हैं, तब आत्मामें भी अवश्य होना सम्भव है। जैसे सोना कुंडल पर्यायसे उत्पन्न होता है, पहली कंकण (कड़ा) पर्यायसे विनाशको पाता है, और पीत, गुरु, तथा स्निग्ध (चिकने) आदिक गुणोंसे ध्रुव है, इसी प्रकार यह जीव भी संसारअवस्थामें देव आदि पर्यायकर उत्पन्न होता है, मनुष्य आदिक पर्यायसे विनाश पाता है, और जीवपनेसे स्थिर है। मोक्ष अवस्थामें भी शुद्धपनेसे उत्पन्न होता है, अशुद्ध पर्यायसे विनाशको प्राप्त होता है, और द्रव्यपनेसे ध्रुव है। अथवा आत्मा सब पदार्थोंको जानता है, ज्ञान है, वह ज्ञेय (पदार्थ) के आकार होता है, इसलिये सब पदार्थ जैसे जैसे उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप होते है, वैसे वैसे ज्ञान भी होता है, इस ज्ञानकी अपेक्षा भी आत्मा के उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य जान लेना, तथा षट्गुणी हानि वृद्धिकी अपेक्षा भी उत्पाद आदिक तीन आत्मामें हैं। इसी प्रकार और बाकी द्रव्योंमें उत्पाद आदि सिद्ध कर लेना। यहाँ पर किसीने प्रश्न किया, कि द्रव्यका अस्तित्व (मौजूद होना) उत्पाद वगैरः तीनसे क्यों कहा है? एक ध्रुव ही से कहना चाहिये, क्योंकि जो ध्रुव (स्थिर) होगा, वह सदा मौजूद रह सकता है? इसका समाधान इस तरह है—जो पदार्थ ध्रुव ही होता, तब मट्टी सोना दूध आदि सब पदार्थ अपने सादा आकारसे ही रहते, घड़ा, कुंड़ल, दही वगैरः भेद कभी नहीं होते, परंतु ऐसा देखनेमें नहीं आता। भेद तो अवश्य देखनेमें आता है, इस कारण पदार्थ अवस्थाकर उपजता भी है, और नाश भी पाता है, इसी लिये द्रव्यका स्वरूप उत्पाद, व्यय भी है। अगर ऐसा न माना जावे,

त्पादादित्रयरूपं द्रव्यलक्षणभूतमस्तित्वमवश्यं भावि ॥ १८ ॥

अथास्यात्मनः शुद्धोपयोगानुभावात्स्वयंभुवो भूतस्य कथमिन्द्रियैर्विना ज्ञानानन्दाविति संदेहमुदस्यति—

पक्खीणघादिकम्मो अणंतवरवीरिओ अधिकतेजो ।
जादो अणिंदिओ सो णाणं सोक्खं च परिणमदि ॥ १९ ॥
प्रक्षीणघातिकर्मा अनन्तवरवीर्योऽधिकतेजाः ।
जातोऽनिन्द्रियः स ज्ञानं सौख्यं च परिणमति ॥ १९ ॥

अयं खल्वात्मा शुद्धोपयोगसामर्थ्यात् प्रक्षीणघातिकर्मा, क्षायोपशमिकज्ञानदर्शनासंपृक्त-

---

भङ्गत्रयेण परिणमति । षट्स्थानगतागुरुलघुकगुणवृद्धिहान्यपेक्षया वा भङ्गत्रयमवबोद्धव्यमिति सूत्रतात्पर्यम् ॥ १८ ॥ एवं सिद्धजीवे द्रव्यार्थिकनयेन नित्यत्वेऽपि विवक्षितपर्यायेणोत्पादव्ययध्रौव्यस्थापनरूपेण द्वितीयस्थले गाथाद्वयं गतम् । अथ तं पूर्वोक्तसर्वज्ञं ये मन्यन्ते ते सम्यग्दृष्टयो भवन्ति, परम्परया मोक्षं च लभन्त इति प्रतिपादयति—

[1]तं सव्वट्ठवरिट्ठं इट्ठं अमरासुरप्पहाणेहिं ।
ये सद्दहंति जीवा तेसिं दुक्खाणि खीयंति ॥ १८*१ ॥

तं सव्वट्ठवरिट्ठं तं सर्वार्थवरिष्टं **इट्ठं** इष्टमभिमतम् । कैः । **अमरासुरप्पहाणेहिं** अमरासुरप्रधानैः । **ये सद्दहंति** ये श्रद्दधति रोचन्ते **जीवा** भव्यजीवाः । **तेसिं** तेषाम् । **दुक्खाणि** दुःखानि । **खीयंति** विनाशं गच्छन्ति, इति सूत्रार्थः ॥ १ ॥ एवं निर्दोषिपरमात्मश्रद्धानान्मोक्षो भवतीति कथनरूपेण तृतीयस्थले गाथा गता ॥ अथास्यात्मनो निर्विकारस्वसंवेदनलक्षणशुद्धोपयोगप्रभावात्सर्वज्ञत्वे सतीन्द्रियैर्विना कथं ज्ञानानन्दाविति पृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति—**पक्खीणघादिकम्मो** ज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयस्वरूपपरमात्मद्रव्यभावनालक्षणशुद्धोपयोगबलेन प्रक्षीणघातिकर्मा सन् । **अणंतवरवीरिओ** अनन्तवरवीर्यः । पुनरपि किंविष्टः । **अहियतेजो**

तो संसारका ही लोप होजावे, इसलिये यह बात सिद्ध हुई, कि पर्यायसे उत्पाद तथा व्यय सिद्ध होते हैं, और द्रव्यपनेसे ध्रुव सिद्ध होता है, इन तीनोंसे ही द्रव्यका अस्तित्व (मौजूदगी) है ॥ १८ ॥

आगे कहते है, कि यह आत्मा शुद्धोपयोगके प्रभावसे स्वयंभू तो हुआ, परंतु इंद्रियोंके विना ज्ञान और आनंद इस आत्माके किस तरह होता है, ऐसी शंकाको दूर करते हैं, अर्थात् ये अज्ञानी जीव इन्द्रिय विषयोंके भोगनेमें ही ज्ञान, आनंद मान बैठे हैं, उनके चेतावनेके लिये स्वभावसे उत्पन्न हुए ज्ञान तथा सुखको दिखाते हैं—**[सः]** वह स्वयंभू भगवान् आत्मा **[अतीन्द्रियः जातः 'सन्']** इन्द्रिय ज्ञानसे रहित होता हुआ **[ज्ञानं सौख्यं च]** अपने और परके प्रकाशने (जानने)वाला ज्ञान तथा आकुलता रहित अपना सुख, इन दोनों स्वभावरूप **[परिणमति]** परिणमता है । कैसा है भगवान् । **[प्रक्षीणघातिकर्मा]** सर्वथा नाश किये हैं, चार घातिया कर्म जिसने अर्थात् जबतक घातियाकर्म

---

१ इस गाथाकी श्रीमत् अमृतचन्द्राचार्यने टीका नहीं की। तात्पर्यवृत्तिमें ही इसका व्याख्यान है ।

त्वादतीन्द्रियो भूतः सन्निखिलान्तरायक्षयादनन्तवरवीर्यः, कृत्स्नज्ञानदर्शनावरणप्रलयादधिककेवलज्ञानदर्शनाभिधानतेजाः, समस्तमोहनीयाभावादत्यन्तनिर्विकारशुद्धचैतन्यस्वभावमात्मानमासादयन् स्वयमेव स्वपरप्रकाशकत्वलक्षणं ज्ञानमनाकुलत्वलक्षणं सौख्यं च भूत्वा परिणमते। एवमात्मनो ज्ञानानन्दौ स्वभाव एव। स्वभावस्य तु परानपेक्षत्वादिन्द्रियैर्विनाप्यात्मनो ज्ञानानन्दौ संभवतः॥ १९॥

अथातीन्द्रियत्वादेव शुद्धात्मनः शारीरं सुखदुःखं नास्तीति विभावयति—

अधिकतेजाः। अत्र तेजःशब्देन केवलज्ञानदर्शनद्वयं ग्राह्यम्। **जादो सो** स पूर्वोक्तलक्षण आत्मा जातः संजातः। कथंभूतः। **अणिंदियो** अनिन्द्रिय इन्द्रियविषयव्यापाररहितः। अनिन्द्रियः सन् किं करोति। **णाणं सोक्खं च परिणमदि** केवलज्ञानमनन्तसौख्यं च परिणमतीति। तथाहि—अनेन व्याख्यानेन किमुक्तं भवति, आत्मा तावन्निश्चयेनानन्तज्ञानसुखस्वभावोऽपि व्यवहारेण संसारावस्थायां कर्मप्रच्छादितज्ञानसुखः सन् पश्चादिन्द्रियाधारेण किमप्यल्पज्ञानं सुखं च परिणमति। यदा पुनर्निर्विकल्पस्वसंवित्तिबलेन कर्माभावो भवति तदा क्षयोपशमाभावादिन्द्रियाणि न सन्ति स्वकीयातीन्द्रियज्ञानसुखं चानुभवति। तदपि कस्मात्। स्वभावस्य परापेक्षा नास्तीत्यभिप्रायः॥ १९॥ अथातीन्द्रियत्वादेव केवलिनः शरीराधारोद्भूतं भोजनादिसुखं क्षुधादिदुःखं च नास्तीति विचारयति—**सोक्खं वा पुण दुक्खं केवलणाणिस्स णत्थि** सुखं वा पुनर्दुःखं वा केवलज्ञानिनो नास्ति। कथंभूतम्। **देहगदं** देहगतं देहाधारजिह्वेन्द्रियादिसमुत्पन्नकवलाहारादिसुखम्, असातोदयजनितं क्षुधादिदुःखं च। कस्मान्नास्ति। **जम्हा अदिंदियत्तं जादं** यस्मान्मोहादिघातिकर्माभावे पञ्चेन्द्रियविषयसुखाय व्यापाररहितत्वं जातम्। **तम्हा दु तं णेयं** तस्मादतीन्द्रियत्वाद्धेतोरतीन्द्रियमेव तज्ज्ञानं सुखं च ज्ञेयमिति। तद्यथा—लोहपिण्डसंसर्गाभावादग्निर्यथा घनघातपिट्टनं न लभते तथायमात्मापि लोहपिण्डस्थानीयेन्द्रियग्रामाभावात् सांसारिकसुखदुःखं नानुभवतीत्यर्थः। कश्चिदाह—केवलिनां

सहित था, तबतक क्षायोपशमिक मत्यादिज्ञान तथा चक्षुरादिदर्शन सहित था। घातियाकर्मोंके नाश होते ही अतीन्द्रिय हुआ। फिर कैसा है? **[अनन्तवरवीर्यः]** मर्यादा रहित है, उत्कृष्ट बल जिसके अर्थात् अंतरायके दूर होनेसे अनन्तबल सहित है। फिर कैसा है? **[अधिकतेजाः]** अनंत है, ज्ञानदर्शनरूप प्रकाश जिसके अर्थात् ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्मके जानेसे अनतज्ञान, अनंतदर्शनमयी है, और समस्त मोहनीयकर्मके नाशसे स्थिर अपने स्वभावको प्राप्त हो गया है। **भावार्थ**—इस आत्माका स्वभाव ज्ञान-आनंद है, परके अधीन नहीं है, इसलिये निरावरण अवस्थामें ही इन्द्रियविना ज्ञान, सुख स्वभावसे ही परिणमते हैं। जैसे सूर्यका स्वभाव प्रकाश है, वह मेघपटलोंकर ढँक जानेसे हीन प्रकाश होजाता है, लेकिन मेघ समूहके दूर होजाने पर स्वाभाविक प्रकाश होजाता है, इसी प्रकार इस आत्माके भी इन्द्रिय-आवरण करनेवाले कर्मोंके दूर होजानेसे स्वाभाविक (किसीके निमित्त विना) ज्ञान तथा सुख प्रगट होजाता है॥ १९॥

आगे जबतक आत्मा इंद्रियोंके आधीन है, तबतक शरीरसंबंधी सुख, दुःखका अनुभव करता है।

सोक्खं वा पुण दुक्खं केवलणाणिस्स णत्थि देहगदं ।
जम्हा अदिंदियत्तं जादं तम्हा दु तं णेयं ॥ २० ॥
सौख्यं वा पुनर्दुःखं केवलज्ञानिनो नास्ति देहगतम् ।
यस्मादतीन्द्रियत्वं जातं तस्मात्तु तज्ज्ञेयम् ॥ २० ॥

भुक्तिरस्ति, औदारिकशरीरसद्भावात् । असद्वेद्यकर्मोदयसद्भावाद्वा । अस्मदादिवत् । परिहारमाह—तद्भगवतः शरीरमौदारिकं न भवति किंतु परमौदारिकम्—"शुद्धस्फटिकसंकाशं तेजोमूर्तिमयं वपुः । जायते क्षीणदोषस्य सप्तधातुविवर्जितम् ॥" यच्चोक्तमसद्वेद्योदयसद्भावात्तत्र परिहारमाह—यथा व्रीह्यादिबीजं जलसहकारिकारण-सहितमङ्कुरादिकार्यं जनयति तथैवासद्वेद्यकर्म मोहनीयसहकारिकारणसहितं क्षुधादिकार्यमुत्पादयति । कस्मात् । "मोहस्स बलेण घाददे जीवं" इति वचनात् । यदि पुनर्मोहाभावेऽपि क्षुधादिपरीषहं जनयति तर्हि वधरोगादिपरीषहमपि जनयतु न च तथा । तदपि कस्मात् । "भुक्त्युपसर्गाभावात्" इति वचनात् । अन्यदपि दूषणमस्ति । यदि क्षुधाबाधास्ति तर्हि क्षुधाक्षीणशक्तेरनन्तवीर्यं नास्ति । तथैव क्षुधादुःखितस्या-नन्तसुखमपि नास्ति । जिह्वेन्द्रियपरिच्छित्तिरूपमतिज्ञानपरिणतस्य केवलज्ञानमपि न संभवति । अथवा अन्य-दपि कारणमस्ति । असद्वेद्योदयापेक्षया सद्वेद्योदयोऽनन्तगुणोऽस्ति । ततः कारणात् शर्कराराशिमध्ये निम्बकणिकावदसद्वेद्योदयो विद्यमानोऽपि न ज्ञायते । तथैवान्यदपि बाधकमस्ति—यथा प्रमत्तसंयतादि-तपोधनानां वेदोदये विद्यमानेऽपि मन्दमोहोदयत्वादखण्डब्रह्मचारिणां स्त्रीपरीषहबाधा नास्ति, यथैव च नव-ग्रैवेयकाद्यहमिन्द्रदेवानां वेदोदये विद्यमानेऽपि मन्दमोहोदयेन स्त्रीविषयबाधा नास्ति, तथा भगवत्यसद्वेद्योदये विद्यमानेऽपि निरवशेषमोहाभावात् क्षुधाबाधा नास्ति । यदि पुनरुच्यते भवद्भिः—मिथ्यादृष्ट्यादिसयोग-केवलिपर्यन्तास्त्रयोदशगुणस्थानवर्तिनो जीवा आहारका भवन्तीत्याहारकमार्गणायामागमे भणितमास्ते, ततः कारणात् केवलिनामाहारोऽस्तीति । तदप्ययुक्तम् । परिहारः—"णोकम्म-कम्महारो कवलाहारो य लेप्प-माहारो । ओजमणो वि य कमसो आहारो छव्विहो णेयो" ॥ इति गाथाकथितक्रमेण यद्यपि षट्प्रकार आहारो भवति तथापि नोकर्माहारापेक्षया केवलिनामाहारकत्वमवबोद्धव्यम् । न च कवलाहारापेक्षया । तथाहि—सूक्ष्माः सुरसाः सुगन्धा अन्यमनुजानामसंभविनः कवलाहारं विनापि किंचिदूनपूर्वकोटिपर्यन्तं शरीर-स्थितिहेतवः सप्तधातुरहितपरमौदारिकशरीरनोकर्माहारयोग्या लाभान्तरायकर्मनिरवशेषक्षयात् प्रतिक्षणं पुद्गला आस्रवन्तीति नवकेवललब्धिव्याख्यानकाले भणितं तिष्ठति । ततो ज्ञायते नोकर्माहारापेक्षया केवलिनामा-हारकत्वम् । अथ मतम्—भवदीयकल्पनया आहारानाहारकत्वं नोकर्माहारापेक्षया, न च कवलाहारापेक्षया चेति कथं ज्ञायते । नैवम् । "एकं द्वौ त्रीन् वानाहारकः" इति तत्त्वार्थे कथितमास्ते । अस्य सूत्रस्यार्थः कथ्यते—भवान्तरगमनकाले विग्रहगतौ शरीराभावे सति नूतनशरीरधारणार्थं त्रयाणां शरीराणां षण्णां

यह केवलज्ञानी भगवान् अतीन्द्रिय हैं, इस कारण इसके शरीरसंबंधी सुख, दुःख नहीं है, ऐसा कहते हैं—**[केवलज्ञानिनः]** केवलज्ञानीके **[देहगतं]** शरीरसे उत्पन्न हुआ **[सौख्यं]** भोजनादिक सुख **[वा पुनः दुःखं]** अथवा भूख वगैरःका दुःख **[नास्ति]** नहीं है **[यस्मात्]** इसी कारणसे

यत एव शुद्धात्मनो जातवेदस इव कालायसगोलोत्कूलितपुद्गलाशेषविलासकल्पो नास्तीन्द्रियग्रामस्तत एव घोरघनघाताभिघातपरंपरास्थानीयं शरीरगतं सुखदुःखं न स्यात् ॥ २० ॥

अथ ज्ञानस्वरूपप्रपञ्चं सौख्यस्वरूपप्रपञ्चं च क्रमप्रवृत्तप्रबन्धद्वैधेनाभिदधाति, तत्र केवलिनोऽतीन्द्रियज्ञानपरिणतत्वात्सर्वप्रत्यक्षं भवतीति विभावयति—

पर्याप्तीनां योग्यपुद्गलपिण्डग्रहणं नोकर्माहार उच्यते । स च विग्रहगतौ कर्माहारे विद्यमानेऽप्येकद्वित्रिसमयपर्यन्तं नास्ति । ततो नोकर्माहारापेक्षयाऽऽहारानाहारकत्वमागमे ज्ञायते । यदि पुनः कवलाहारापेक्षया तर्हि भोजनकाले विहाय सर्वदैवानाहारक एव, समयत्रयनियमो न घटते । अथ मतम्—केवलिनां कवलाहारोऽस्ति मनुष्यत्वात् वर्तमानमनुष्यवत् । तदप्ययुक्तम् । तर्हि पूर्वकालपुरुषाणां सर्वज्ञत्वं नास्ति, रामरावणादिपुरुषाणां च विशेषसामर्थ्यं नास्ति वर्तमानमनुष्यवत् । न च तथा । किंच छद्मस्थतपोधना अपि सप्तधातुरहितपरमौदारिकशरीराभावे 'छट्ठो त्ति पढमसण्णा' इति वचनात् प्रमत्तसंयतषष्ठगुणस्थानवर्तिनो यद्यप्याहारं गृह्णन्ति तथापि ज्ञानसंयमध्यानसिद्ध्यर्थं, न च देहममत्वार्थम् । उक्तं च—"कायस्थित्यर्थमाहारः कायो ज्ञानार्थमिष्यते । ज्ञानं कर्मविनाशाय तन्नाशे परमं सुखम् ॥ ण बलाउसाहणट्ठं ण सरीरस्स य चयट्ठ तेजट्ठं । णाणट्ठ सजमट्ठं झाणट्ठं चेव भुंजंति ॥" तस्य भगवतो ज्ञानसंयमध्यानादिगुणाः स्वभावेनैव तिष्ठन्ति न चाहारबलेन । यदि पुनर्देहममत्वेनाहारं गृह्णाति तर्हि छद्मस्थेभ्योऽप्यसौ हीनः प्राप्नोति । अथोच्यते—तस्यातिशयविशेषात्प्रकटा भुक्तिर्नास्ति प्रच्छन्ना विद्यते । तर्हि परमौदारिकशरीरत्वाद्भुक्तिरेव नास्त्ययमेवातिशयः किं न भवति । तत्र तु प्रच्छन्नभुक्तौ मायास्थानं दैन्यवृत्तिः, अन्येऽपि पिण्डशुद्धिकथिता दोषा बहवो भवन्ति । ते चान्यत्र तर्कशास्त्रे ज्ञातव्याः । अत्र चाध्यात्मग्रन्थत्वान्नोच्यन्त इति । अयमत्र भावार्थः—इदं वस्तुस्वरूपमेव ज्ञातव्यमत्राग्रहो न कर्तव्यः । कस्मात् । दुराग्रहे सति रागद्वेषोत्पत्तिर्भवति ततश्च निर्विकारचिदानन्दैकस्वभावपरमात्मभावनाविघातो भवति ॥ २० ॥ एवमनन्तज्ञानसुखस्थापने प्रथमगाथा केवलिभुक्तिनिराकरणे द्वितीया चेति गाथाद्वयं गतम् ।

इति सप्तगाथाभिः स्थलचतुष्टयेन सामान्येन **सर्वज्ञसिद्धि** नामा द्वितीयोऽन्तराधिकारः समाप्तः ॥ २ ॥

अथ ज्ञानप्रपञ्चाभिधानान्तराधिकारे त्रयस्त्रिंशद्गाथा भवन्ति । तत्राष्टौ स्थलानि । तेष्वादौ केवलज्ञानस्य सर्वं प्रत्यक्षं भवतीति कथनमुख्यत्वेन 'परिणमदो खलु' इत्यादिगाथाद्वयम्, अथात्मज्ञानयोर्निश्चयेनासंख्यात-

---

इस केवली-भगवानके **[अतीन्द्रियत्वं जातं]** इन्द्रियरहित भाव प्रगट हुआ **[तस्मात्तु]** इसीलिये **[तत् ज्ञेयं]** तत् अर्थात् अतीन्द्रिय ही ज्ञान और सुख जानने चाहिये । **भावार्थ**—जैसे आग लोहेके गोलेकी संगति छूट जानेपर घनकी चोटको नहीं प्राप्त होती, इसी प्रकार यह आत्मा भी लोहके पिण्डसमान जो इन्द्रियज्ञान उसके अभावसे संसारसंबंधी सुख दुःखका अनुभव नहीं करता है । इस गाथामें केवलीके कवलाहारका निषेध किया है ॥ २० ॥

आगे केवलीको अतीन्द्रियज्ञानसे ही सब वस्तुका प्रत्यक्ष होता है, यह कहते हैं—**[ज्ञानं परिणममानस्य]** केवलज्ञानको परिणमता हुआ जो केवली भगवान् है, उसको **[खलु]** निश्चयसे

परिणमदो खलु णाणं पच्चक्खा सव्वदव्वपज्जाया ।
सो णेव ते विजाणदि उग्गहपुव्वाहिं किरियाहिं ॥ २१ ॥
परिणममानस्य खलु ज्ञानं प्रत्यक्षाः सर्वद्रव्यपर्यायाः ।
स नैव तान् विजानात्यवग्रहपूर्वाभिः क्रियाभिः ॥ २१ ॥

यतो न खल्विन्द्रियाण्यालम्ब्यावग्रहेहावायपूर्वकमक्रमेण केवली विजानाति । स्वयमेव समस्तावरणक्षयक्षण एवानाद्यनन्ताहेतुकासाधारणभूतज्ञानस्वभावमेव कारणत्वेनोपादाय तदुपरि प्रविकसत्केवलज्ञानोपयोगीभूय विपरिणमते । ततोऽस्याक्रमसमाक्रान्तसमस्तद्रव्यक्षेत्रकालभाव-

---

प्रदेशत्वेऽपि व्यवहारेण सर्वगतत्वं भवतीत्यादिकथनमुख्यत्वेन 'आदा णाणपमाणं' इत्यादिगाथापञ्चकम्, ततः परं ज्ञानज्ञेययोः परस्परगमननिराकरणमुख्यतया 'णाणी णाणसहावो' इत्यादिगाथापञ्चकम्, अथ निश्चयव्यवहारकेवलिप्रतिपादनादिमुख्यत्वेन 'जो हि सुदेण' इत्यादिसूत्रचतुष्टयम्, अथ वर्तमानज्ञाने काल-त्रयपर्यायपरिच्छित्तिकथनादिरूपेण 'तक्कालिगेव सव्वे' इत्यादिसूत्रपञ्चकम्, अथ केवलज्ञानं बन्धकारणं न भवति रागादिविकल्परहितं छद्मस्थज्ञानमपि । किंतु रागादयो बन्धकारणमित्यादिनिरूपणमुख्यतया 'परिणमदि णेयं' इत्यादिसूत्रपञ्चकम्, अथ केवलज्ञानं सर्वज्ञानं सर्वज्ञत्वेन प्रतिपादयतीत्यादिव्याख्यान-मुख्यत्वेन 'जं तक्कालियमिदरं' इत्यादिगाथापञ्चकम्, अथ ज्ञानप्रपञ्चोपसंहारमुख्यत्वेन प्रथमगाथा, नम-स्कारकथनेन द्वितीया चेति 'णवि परिणमदि' इत्यादि गाथाद्वयम् । एवं ज्ञानप्रपञ्चाभिधानतृतीयान्तरा-धिकारे त्रयस्त्रिंशद्गाथाभिः स्थलाष्टकेन समुदायपातनिका । तद्यथा--अथातीन्द्रियज्ञानपरिणतत्वात्केवलिनः सर्वप्रत्यक्षं भवतीति प्रतिपादयति—**पच्चक्खा सव्वदव्वपज्जाया** सर्वद्रव्यपर्यायाः प्रत्यक्षा भवन्ति । कस्य । केवलिनः । किं कुर्वतः । **परिणमदो** परिणममानस्य । **खलु** स्फुटम् । किम् । **णाणं** अनन्तपदार्थ-परिच्छित्तिसमर्थं केवलज्ञानम् । तर्हि किं क्रमेण जानाति । **सो णेव ते विजाणदि उग्गहपुव्वाहिं किरियाहिं** स च भगवान्नैव तान् जानात्यवग्रहपूर्वाभिः क्रियाभिः, किंतु युगपदित्यर्थः । इतो विस्तरः— अनाद्यनन्तमहेतुकं चिदानन्दैकस्वभावं निजशुद्धात्मानमुपादेयं कृत्वा केवलज्ञानोत्पत्तेर्बीजभूतेनागमभाषया शुक्लध्यानसंज्ञेन रागादिविकल्पजालरहितस्वसंवेदनज्ञानेन यदायमात्मा परिणमति, तदा स्वसंवेदनज्ञानफल-भूतकेवलज्ञानपरिच्छित्त्याकारपरिणतस्य तस्मिन्नेव क्षणे क्रमप्रवृत्तक्षायोपशमिकज्ञानाभावादक्रमसमाक्रान्त-

---

[सर्वद्रव्यपर्यायाः] सब द्रव्य तथा उनकी तीनोंकालकी पर्यायें **[प्रत्यक्षाः]** प्रत्यक्ष अर्थात् प्रगट हैं । जैसे स्फटिकमणिके अंदर तथा बाहिरमें प्रगट पदार्थ दीखते हैं । उसी तरह भगवानको सब प्रत्यक्ष हैं । **[सः]** वह केवली भगवान् **[तान्]** उन द्रव्यपर्यायोंको **[अवग्रहपूर्वाभिः क्रियाभिः]** अवग्रह आदि अर्थात् अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणारूप जो क्रिया हैं, उनसे **[नैव विजानाति]** नहीं जानता है । सारांश यह है कि—जैसे कर्मोंके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुए ज्ञानवाले, अवग्रह आदि जो मतिज्ञानकी भेदरूप क्रिया हैं, उनसे जानते हैं, वैसे केवली नहीं जानते । क्योंकि उन केवलीभगवानके सब तरफसे कर्मोंके पड़दे दूर होजानेके कारण अखंड अनन्त शक्तिसे पूर्ण, आदि अन्त रहित, असाधा-

तया समस्तसंवेदनालम्बनभूताः सर्वद्रव्यपर्यायाः प्रत्यक्षा भवन्ति ॥ २१ ॥

अथास्य भगवतोऽतीन्द्रियज्ञानपरिणतत्वादेव न किंचित्परोक्षं भवतीत्यभिप्रैति—

णत्थि परोक्खं किंचि वि समंत सव्वक्खगुणसमिद्धस्स ।
अक्खातीदस्स सदा सयमेव हि णाणजादस्स ॥ २२ ॥
नास्ति परोक्षं किंचिदपि समन्ततः सर्वाक्षगुणसमृद्धस्य ।
अक्षातीतस्य सदा स्वयमेव हि ज्ञानजातस्य ॥ २२ ॥

अस्य खलु भगवतः समस्तावरणक्षयक्षण एव सांसारिकपरिच्छित्तिनिष्पत्तिबलाधानहेतुभूतानि प्रतिनियतविषयग्राहीण्यक्षीणि तैरतीतस्य, स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दपरिच्छेदरूपैः समरसतया समन्ततः सर्वैरेवेन्द्रियगुणैः समृद्धस्य, स्वयमेव सामस्त्येन स्वपरप्रकाशनस्य, स्वैरं लोकोत्तरज्ञान-

---

समस्तद्रव्यक्षेत्रकालभावतया सर्वद्रव्यगुणपर्याया अस्यात्मनः प्रत्यक्षा भवन्तीत्यभिप्रायः ॥ २१ ॥ अथ सर्वं प्रत्यक्षं भवतीत्यन्वयरूपेण पूर्वसूत्रे भणितमिदानीं तु परोक्षं किमपि नास्तीति तमेवार्थं व्यतिरेकेण दृढयति— **णत्थि परोक्खं किंचि वि** अस्य भगवतः परोक्षं किमपि नास्ति । किंविशिष्टस्य । **समंत सव्वक्खगुणसमिद्धस्स** समन्ततः सर्वात्मप्रदेशैः सामस्त्येन वा स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दपरिच्छित्तिरूपसर्वेन्द्रियगुणसमृद्धस्य, तर्हि किमक्षसहितस्य । नैवम् । **अक्खातीदस्स** अक्षातीतस्येन्द्रियव्यापाररहितस्य, अथवा द्वितीयव्याख्यानम्—अक्ष्णोति ज्ञानेन व्याप्नोतीत्यक्ष आत्मा तद्गुणसमृद्धस्य । **सदा** सर्वदा सर्वकालम् । पुनरपि किंरूपस्य । **सयमेव हि णाणजादस्स** स्वयमेव हि स्फुटं केवलज्ञानरूपेण जातस्य परिणतस्येति । तद्यथा—अतीन्द्रियस्वभावपरमात्मनो विपरीतानि क्रमप्रवृत्तिहेतुभूतानीन्द्रियाण्यतिक्रान्तस्य जगत्त्रयकालत्रय-

---

रण, अपने आप ही प्रगट हुआ केवलज्ञान है, इस कारण एक ही समयमें सब द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव ज्ञानरूपी भूमिमें प्रत्यक्ष झलकते हैं ॥ २१ ॥

आगे इस भगवानके अतीन्द्रियज्ञानरूप परिणमन करनेसे कोई भी वस्तु परोक्ष नहीं है, यह कहते हैं—**[अस्य भगवतः]** इस केवलीभगवानके **[किंचिदपि]** कुछ भी पदार्थ **[परोक्षं नास्ति]** परोक्ष नहीं है । एक ही समय सब द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावको प्रत्यक्ष जानता है, इसलिये परोक्ष नहीं । कैसे हैं ? वे भगवान् **[अक्षातीतस्य]** इन्द्रियोंसे रहित ज्ञानवाले हैं, अर्थात् इन्द्रियें संसारसंबंधी ज्ञानका कारण हैं । और परोक्षरूप मर्यादा लिये पदार्थोंको जानती हैं, इस प्रकारकी भावइंद्रियें भगवानके अब नहीं, इसलिये सत् प्रत्यक्ष स्वरूप जानते हैं । फिर कैसे हैं ? **[समन्ततः]** सब आत्माके प्रदेशों(अंगों)में **[सर्वाक्षगुणसमृद्धस्य]** सब इंद्रियोंके गुण जो स्पर्श वगैरःको ज्ञान उस कर पूर्ण है, अर्थात् जो एक एक इन्द्रिय एक एक गुणको ही जानती हैं, जैसे आँख रूपको, इस तरहके क्षयोपशमजन्यज्ञानके अभाव होनेपर प्रगट हुए केवलज्ञानसे वे केवलीभगवान्, सब अंगों द्वारा सब स्पर्शादि विषयोंको जानते हैं । फिर कैसे हैं ? **[स्वयमेव]** अपने आप ही **[हि]** निश्चय कर **[ज्ञानजातस्य]** केवलज्ञानको प्राप्त हुए हैं । **भावार्थ**—अपने और परवस्तुके प्रकाशनेवाला नाशरहित

जातस्य, अक्रमसमाक्रान्तसमस्तद्रव्यक्षेत्रकालभावतया न किंचनापि परोक्षमेव स्यात् ॥ २२ ॥

अथात्मनो ज्ञानप्रमाणत्वं ज्ञानस्य सर्वगतत्वं चोद्योतयति—

आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं ।
णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु सव्वगयं ॥ २३ ॥
आत्मा ज्ञानप्रमाणं ज्ञानं ज्ञेयप्रमाणमुद्दिष्टम् ।
ज्ञेयं लोकालोकं तस्माज्ज्ञानं तु सर्वगतम् ॥ २३ ॥

आत्मा हि 'समगुणपर्यायं द्रव्यम्' इति वचनात् ज्ञानेन सह हीनाधिकत्वरहितत्वेन परिणतत्वात्तत्परिमाणं, ज्ञानं तु ज्ञेयनिष्ठत्वाद्दाह्यनिष्ठदहनवत्तत्परिमाणं, ज्ञेयं तु लोकालोकविभागविभक्तानन्तपर्यायमालिकालीढस्वरूपसूचिता विच्छेदोत्पाद[त्रिच्छेदोपदर्शित]ध्रौव्या षड्द्रव्यी

वर्तिसमस्तपदार्थयुगपत्प्रत्यक्षप्रतीतिसमर्थमविनश्वरमखण्डैकभासमयं केवलज्ञानं परिणतस्यास्य भगवतः परोक्षं किमपि नास्तीति भावार्थः ॥ २२ ॥ एवं केवलिनां समस्तं प्रत्यक्षं भवतीति कथनरूपेण प्रथमस्थले गाथाद्वयं गतम् । अथात्मा ज्ञानप्रमाणो भवतीति ज्ञानं च व्यवहारेण सर्वगतमित्युपदिशति—**आदा णाणपमाणं** ज्ञानेन सह हीनाधिकत्वाभावादात्मा ज्ञानप्रमाणो भवति । तथाहि—'समगुणपर्यायं द्रव्यं भवति' इति वचनाद्वर्तमानमनुष्यभवे वर्तमानमनुष्यपर्यायप्रमाणः, तदेव मनुष्यपर्यायप्रदेशवर्तिज्ञानगुणप्रमाणश्च प्रत्यक्षेण दृश्यते यथायमात्मा, तथा निश्चयतः सर्वदैवाव्याबाधाक्षयसुखाद्यनन्तगुणाधारभूतो योऽसौ केवलज्ञानगुणस्तत्प्रमाणोऽयमात्मा । **णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं** दाह्यनिष्ठदहनवत् ज्ञानं ज्ञेयप्रमाणमुद्दिष्टं कथितम् । **णेयं लोयालोयं** ज्ञेयं लोकालोकं भवति । शुद्धबुद्धैकस्वभावसर्वप्रकारोपादेयभूतपरमात्मद्रव्यादिषड्द्रव्यात्मको लोकः, लोकाद्बहिर्भागे शुद्धाकाशमलोकः, तच्च लोकालोकद्वयं स्वकीयस्वकीयानन्तपर्यायपरिणतिरूपेणानित्यमपि द्रव्यार्थिकनयेन नित्यम् । **तम्हा णाणं तु सव्वगयं** यस्मान्निश्चयरत्नत्रयात्मक-

लौकिकज्ञानसे जुदा ऐसा अतीन्द्रियज्ञान (केवलज्ञान) जब प्रगट हुआ, तब परोक्षपना किस तरह हो सकता है? (नहीं होता) ॥ २२ ॥

आगे आत्माको ज्ञानप्रमाण कहते हैं, और ज्ञानको सर्वव्यापक दिखलाते हैं—**[आत्मा]** जीवद्रव्य **[ज्ञानप्रमाणं]** ज्ञानके बराबर है, क्योंकि द्रव्य अपने अपने गुणपर्यायोंके समान होता है, इसी न्यायसे जीव भी अपने ज्ञानगुणके बराबर हुआ । आत्मा ज्ञानसे न तो अधिक न कम परिणमन करता है, जैसे सोना अपनी कड़े कुंडल आदि पर्यायोंसे तथा पीलेवर्ण आदिक गुणोंसे कम अधिक नहीं परिणमता, उसी प्रकार आत्मा भी समझना । **[ज्ञानं ज्ञेयप्रमाणं]** और ज्ञान ज्ञेयके (पदार्थोंके) प्रमाण है, ऐसा **[उद्दिष्टं]** जिनेन्द्रदेवने कहा है, जैसे—ईंधनमें स्थित आग ईंधनके बराबर है, उसी तरह सब पदार्थोंको जानता हुआ ज्ञान ज्ञेयके प्रमाण है, **[ज्ञेयं लोकालोकं]** ज्ञेय है, वह लोक तथा अलोक है, जो भूत भविष्यत् वर्तमानकालकी अनंत पर्यायों सहित छह द्रव्य हैं, उसको लोक और इस लोकसे बाहर अकेला आकाश उसको अलोक जानना, इन्हीं दोनोंको ज्ञेय कहते हैं । **[तस्मात्]**

सर्वमिति यावत् । ततो निःशेषावरणक्षयक्षण एव लोकालोकविभागविभक्तसमस्तवस्त्वाकारपारमुपगम्य तथैवाप्रच्युतत्वेन व्यवस्थितत्वात् ज्ञानं सर्वगतम् ॥ २३ ॥

अथात्मनो ज्ञानप्रमाणत्वानभ्युपगमे द्वौ पक्षावुपन्यस्य दूषयति—

णाणप्पमाणमादा ण हवदि जस्सेह तस्स सो आदा ।
हीणो वा अहिओ वा णाणादो हवदि धुवमेव ॥ २४ ॥
हीणो जदि सो आदा तण्णाणमचेदणं ण जाणादि ।
अहिओ वा णाणादो णाणेण विणा कहं णादि ॥ २५ ॥ जुगलं ।

ज्ञानप्रमाणमात्मा न भवति यस्येह तस्य स आत्मा ।
हीनो वा अधिको वा ज्ञानाद्भवति ध्रुवमेव ॥ २४ ॥
हीनो यदि स आत्मा तत् ज्ञानमचेतनं न जानाति ।
अधिको वा ज्ञानात् ज्ञानेन विना कथं जानाति ॥ २५ ॥ युगलम् ।

यदि खल्वयमात्मा हीनो ज्ञानादित्यभ्युपगम्यते, तदात्मनोऽतिरिच्यमानं ज्ञानं स्वाश्रय-

---

शुद्धोपयोगभावनाबलेनोत्पन्नं यत्केवलज्ञानं तट्टङ्कोत्कीर्णाकारन्यायेन निरन्तरं पूर्वोक्तज्ञेयं जानाति, तस्माद्व्यवहारेण तु ज्ञानं सर्वगतं भण्यते । ततः स्थितमेतदात्मा ज्ञानप्रमाणं ज्ञानं सर्वगतमिति ॥ २३ ॥ अथात्मानं ज्ञानप्रमाणं ये न मन्यन्ते तत्र हीनाधिकत्वे दूषणं ददाति—**णाणप्पमाणमादा य हवदि जस्सेह** ज्ञानप्रमाणमात्मा न भवति यस्य वादिनो मतेऽत्र जगति **तस्स सो आदा** तस्य मते स आत्मा **हीणो वा अहिओ वा णाणादो हवदि धुवमेव** हीनो वा अधिको वा ज्ञानात्सकाशाद् भवति निश्चितमेवेति ॥ २४ ॥ **हीणो जदि सो आदा तं णाणमचेदणं ण जाणादि** हीनो यदि स आत्मा तदाग्नेरभावे सति

इसलिये **[ज्ञानं तु]** केवलज्ञान तो **[सर्वगतं]** सब पदार्थोंमें प्रवेश करनेवाला सर्वव्यापक है, अर्थात् सबको जानता है, इससे ज्ञान ज्ञेयके बराबर है ॥ २३ ॥

आगे जो मूढ़दृष्टि आत्माको ज्ञानके प्रमाण नहीं मानकर अधिक तथा हीन मानते हैं, उनके पक्षको युक्तिसे दूषित करते हैं—**[इह]** इस लोकमें **[यस्य]** जिस मूढ़बुद्धिके 'मतमें **[आत्मा]** आत्मद्रव्य **[ज्ञानप्रमाणं]** ज्ञानके बराबर **[न भवति]** नहीं होता है, अर्थात् जो विपरीत बुद्धिवाले आत्माको ज्ञानके बराबर नहीं मानते, **[तस्य]** उस कुमतीके मतमें **[स आत्मा]** वह जीवद्रव्य **[ज्ञानात्]** अपने ज्ञानगुणसे **[हीनो वा अधिको वा]** हीन (कम) अथवा अधिक (बड़ा) **[ध्रुवमेव]** निश्चयसे **[भवति]** होता है, अर्थात् उन्हें या तो आत्माको ज्ञानसे कम मानना पड़ेगा, या अधिक मानना पड़ेगा । **[यदि]** जो **[स आत्मा]** वह जीवद्रव्य **[हीनः]** ज्ञानसे न्यून होगा **[तदा]** तो **[तद् ज्ञानं]** वह ज्ञान **[अचेतनं]** अचेतन होनेसे **[न जानाति]** कुछ भी नहीं जान सकेगा **[वा]** अथवा **[ज्ञानात्]** ज्ञानसे **[अधिकः]** अधिक होगा, तो **[ज्ञानेन विना]** ज्ञानके बिना **[कथं जानाति]** कैसे जानेगा ? । **भावार्थ**—जो आत्माको ज्ञानसे हीन माने, तो ज्ञानगुण स्पर्श रस गंध

भूतचेतनद्रव्यसमवायाभावादचेतनं भवद्रूपादिगुणकल्पतामापन्नं न जानाति। यदि पुनर्ज्ञानादधिक इति पक्षः कक्षीक्रियते तदावश्यं ज्ञानादतिरिक्तत्वात् पृथग्भूतो भवन् घटपटादिस्थानीयतामापन्नो ज्ञानमन्तरेण न जानाति, ततो ज्ञानप्रमाण एवायमात्माभ्युपगन्तव्यः॥ २४-५॥

अथात्मनोऽपि ज्ञानवत् सर्वगतत्वं न्यायायातमभिनन्दति—

सव्वगदो जिणवसहो सव्वे वि य तग्गया जगदि अट्ठा।
णाणमयादो य जिणो विसयादो तस्स ते भणिया॥ २६॥
सर्वगतो जिनवृषभः सर्वेऽपि च तद्गता जगत्यर्थाः।
ज्ञानमयत्वाच्च जिनो विषयत्वात्तस्य ते भणिताः॥ २६॥

ज्ञानं हि त्रिसमयावच्छिन्नसर्वद्रव्यपर्यायरूपव्यवस्थितविश्वज्ञेयाकारानाक्रामत् सर्वगतमुक्तं तथाभूतज्ञानमयीभूय व्यवस्थितत्वाद्भगवानपि सर्वगत एव। एवं सर्वगतज्ञानविषयत्वात्सर्वेऽर्थो

उष्णगुणो यथा शीतलो भवति तथा स्वाश्रयभूतचेतनात्मकद्रव्यसमवायाभावात्तस्यात्मनो ज्ञानमचेतनं भवत्सत् किमपि न जानाति। **अहिओ वा णाणादो णाणेण विणा कहं णादि** अधिको वा ज्ञानात्सकाशात्तर्हि यथोष्णगुणाभावेऽग्निः शीतलो भवन्सन् दहनक्रियां प्रत्यसमर्थो भवति तथा ज्ञानगुणाभावे सत्यात्माप्यचेतनो भवन्सन् कथं जानाति न कथमपि। अयमत्र भावार्थः—ये केचनात्मानमङ्गुष्ठपर्वमात्रं, श्यामाकतण्डुलमात्रं, वटककणिकादिमात्रं वा मन्यन्ते ते निषिद्धाः। येऽपि समुद्घातसप्तकं विहाय देह-

---

वर्णकी तरह अचेतन हो जावेगा, और अचेतन (जड़) होनेसे कुछ भी नहीं जान सकेगा, जैसे अग्निसे उष्णगुण अधिक माना जावे, तो अधिक उष्णगुण अग्निके विना शीतल होनेसे जला नहीं सकता, और जो ज्ञानसे आत्मा अधिक होगा, अर्थात् आत्मासे ज्ञान हीन होगा, तो घट वस्त्रादि पदार्थोंकी तरह आत्मा ज्ञान विना अचेतन हुआ कुछ भी नहीं जान सकेगा, जैसे अग्नि उष्णगुणसे जितनी अधिक होगी, उतनी ही शीतल होनेके कारण ईंधनको नहीं जला सकती। इस कारण यह सिद्ध हुआ, कि आत्मा ज्ञानके ही प्रमाण है, कमती बढ़ती नहीं है॥ २४–२५॥ आगे जिस तरह ज्ञान सर्वगत है, उसी तरह आत्मा भी सर्वगत है, ऐसा कहते हैं—[**ज्ञानमयत्वात्**] ज्ञानमयी होनेसे [**जिनवृषभः**] जिन अर्थात् गणधरादिदेव उनमें वृषभ (प्रधान) [**जिनः**] सर्वज्ञ भगवान् [**सर्वगतः**] सब लोक अलोकमें प्राप्त हैं, [**च**] और [**तस्य विषयत्वात्**] उन भगवानके जानने योग्य होनेसे [**जगति**] संसारमें [**सर्वेपि च ते अर्थाः**] वे सब ही पदार्थ [**तद्गताः**] उन भगवानमें प्राप्त हैं, ऐसा [**भणिताः**] सर्वज्ञने कहा है॥ **भावार्थ**—अतीत अनागत वर्तमान काल सहित सब पदार्थोंके आकारोंको (पर्यायोंको) जानता हुआ, ज्ञान सर्वगत कहा है, और भगवान् ज्ञानमयी हैं, इस कारण भगवान भी सर्वगत ही हैं, और जिस तरह आरसीमें घटपटादि पदार्थ झलकते हैं, वैसे ज्ञानसे अभिन्न भगवानमें भी सब पदार्थ प्राप्त हुए हैं, क्योंकि वे पदार्थ भगवानके जानने योग्य हैं। निश्चयकर ज्ञान आत्माप्रमाण है, क्योंकि निर्विकार निराकुल अनन्तसुखको आत्मामें आप वेदता है, अर्थात् अनुभव

अपि सर्वगतज्ञानाव्यतिरिक्तस्य भगवतस्तस्य ते विषया इति भणितत्वात्तद्गता एव भवन्ति। तत्र निश्चयनयेनानाकुलत्वलक्षणसौख्यसंवेदनत्वाधिष्ठानत्वावच्छिन्नात्मप्रमाणज्ञानस्वतत्त्वापरित्यागेन विश्वज्ञेयाकाराननुपगम्यावबुध्यमानोऽपि व्यवहारनयेन भगवान् सर्वगत इति व्यपदिश्यते। तथा नैमित्तिकभूतज्ञेयाकारानात्मस्थानवलोक्य सर्वेऽर्थास्तद्गता इत्युपचर्यन्ते, न च तेषां परमार्थतोऽन्योन्यगमनमस्ति, सर्वद्रव्याणां स्वरूपनिष्ठत्वात्। अयं क्रमो ज्ञानेऽपि निश्चेयः ॥ २६ ॥

अथात्मज्ञानयोरेकत्वान्यत्वं चिन्तयति—

णाणं अप्प त्ति मदं वट्टदि णाणं विणा ण अप्पाणं।
तम्हा णाणं अप्पा अप्पा णाणं व अण्णं वा ॥ २७ ॥

दधिकं मन्यन्ते तेऽपि निराकृता इति ॥ २५ ॥ अथ यथा ज्ञानं पूर्वं सर्वगतमुक्तं तथैव सर्वगतज्ञानापेक्षया भगवानपि सर्वगतो भवतीत्यावेदयति—**सव्वगदो** सर्वगतो भवति। स कः कर्ता। **जिणवसहो** जिनवृषभः सर्वज्ञः। कस्मात् सर्वगतो भवति। **जिणो** जिनः **णाणमयादो य** ज्ञानमयत्वाद्धेतोः **सव्वे वि य तग्गया जगदि अट्ठा** सर्वेऽपि च ये जगत्यर्थास्ते दर्पणे बिम्बवद् व्यवहारेण तत्र भगवति गता भवन्ति। कस्मात्। **ते भणिया** तेऽर्थास्तत्र गता भणिताः **विसयादो** विषयत्वात्परिच्छेद्यत्वात् ज्ञेयत्वात्। कस्य। **तस्स** तस्य भगवत इति। तथाहि—यदनन्तज्ञानमनाकुलत्वलक्षणानन्तसुखं च तदाधारभूतस्तावदात्मा इत्थंभूतात्मप्रमाणं ज्ञानमात्मनः स्वस्वरूपं भवति। इत्थंभूतं स्वस्वरूपं देहगतमपरित्यजन्नेव लोकालोकं परिच्छिनत्ति। ततः कारणाद्व्यवहारेण सर्वगतो भण्यते भगवान्। येन च कारणेन नीलपीतादिबहिःपदार्था आदर्शे बिम्बवत् परिच्छित्त्याकारेण ज्ञाने प्रतिफलन्ति ततः कारणादुपचारेणार्थकार्यभूता अर्थाकारा अप्यर्था भण्यन्ते। ते च ज्ञाने तिष्ठन्तीत्युच्यमाने दोषो नास्तीत्यभिप्रायः ॥ २६ ॥ अथ ज्ञानमात्मा भवति, आत्मा तु ज्ञानं सुखादिकं वा भवतीति प्रतिपादयति—**णाणं अप्प त्ति मदं** ज्ञानमात्मा भवतीति मतं

करता है। ज्ञान आत्माका स्वभावरूप लक्षण है, इस कारण वह अपने ज्ञानस्वरूप स्वभावको कभी नहीं छोड़ता। समस्त ज्ञेया-(पदार्थ)कारोंमें प्राप्त नहीं होता, अपनेमें ही स्थिर रहता है। यह आत्मा सब पदार्थोंका जाननेवाला है, इसलिये व्यवहारनयसे सर्वगत (सर्वव्यापक) कहा है, निश्चयसे नहीं। इसी प्रकार निश्चयनयसे वे पदार्थ भी इस आत्मामें प्राप्त नहीं होते, क्योंकि कोई पदार्थ अपने स्वरूपको छोड़कर दूसरेके आकार नहीं होता, सब अपने अपने स्वरूपमें रहते हैं। निमित्तभूत ज्ञेयके आकारोंको आत्मामें ज्ञेयज्ञायक संबंधसे प्रतिबिंबित होनेसे व्यवहारसे कहते हैं, कि सब पदार्थ आत्मामें प्राप्त हो जाते हैं। जैसे आरसीमें घटादि पदार्थ प्रतिबिम्ब निमित्तसे प्रवेश करते हैं, ऐसा व्यवहारमें कहा जाता है, निश्चयसे वे अपने स्वरूपमें ही रहते हैं। इस कथनसे सारांश यह निकला, कि निश्चयसे पदार्थ आत्मामें नहीं आत्मा पदार्थोंमें नहीं। व्यवहारसे ज्ञानरूप आत्मा पदार्थोंमें है। पदार्थ आत्मामें हैं, क्योंकि इन दोनोंका ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध दुर्निवार हैं ॥२६॥ आगे ज्ञान और आत्मा एक है, तथा आत्मा ज्ञान भी है, और सुखादिस्वरूप भी है, ऐसा कहते हैं—**[ज्ञानं]** ज्ञानगुण **[आत्मा]** जीव ही है **[इति**

ज्ञानमात्मेति मतं वर्तते ज्ञानं विना नात्मानम् ।
तस्मात् ज्ञानमात्मा आत्मा ज्ञानं वा अन्यद्वा ॥ २७ ॥

यतः शेषसमस्ताचेतनवस्तुसमवायसंबन्धनिरुत्सुकतयाऽनाद्यनन्तस्वभावसिद्धसमवायसंबन्धमेकमात्मानमाभिमुख्येनावलम्ब्य प्रवृत्तत्वात् तं विना आत्मानं ज्ञानं न धारयति, ततो ज्ञानमात्मैव स्यात् । आत्मा त्वनन्तधर्माधिष्ठानत्वात् ज्ञानधर्मद्वारेण ज्ञानमन्यधर्मद्वारेणान्यदपि स्यात् । किं चानेकान्तोऽत्र बलवान् । एकान्तेन ज्ञानमात्मेति ज्ञानस्याभावोऽचेतनत्वमात्मनो विशेषगुणाभावादभावो वा स्यात् । सर्वथात्मा ज्ञानमिति निराश्रयत्वात् ज्ञानस्याभाव आत्मनः शेषपर्यायाभावस्तदविनाभाविनस्तस्याप्यभावः स्यात् ॥ २७ ॥

संमतम् । कस्मात् । **वट्टदि णाणं विणा ण अप्पाणं** ज्ञानं कर्तृ विनात्मानं जीवमन्यत्र घटपटादौ न वर्तते । **तम्हा णाणं अप्पा** तस्मात् ज्ञायते कथंचिज्ज्ञानमात्मैवस्यात् । इति गाथापादत्रयेण ज्ञानस्य कथंचिदात्मत्वं स्थापितम् । **अप्पा णाणं च अण्णं वा** आत्मा तु ज्ञानधर्मद्वारेण ज्ञानं भवति, सुखवीर्यादिधर्मद्वारेणान्यद्वा नियमो नास्तीति । तद्यथा–यदि पुनरेकान्तेन ज्ञानमात्मेति भण्यते तदा ज्ञानगुणमात्र एवात्मा प्राप्तः सुखादिधर्माणामवकाशो नास्ति । तथा सुखवीर्यादिधर्मसमूहाभावादात्माऽभावः, आत्मन आधारभूतस्याभावादाधेयभूतस्य ज्ञानगुणस्याप्यभावः, इत्येकान्ते सति द्वयोरप्यभावः । तस्मात्कथंचिज्ज्ञानमात्मा न सर्वथेति । अयमत्राभिप्रायः—आत्मा व्यापको ज्ञानं व्याप्यं ततो ज्ञानमात्मा स्यात्, आत्मा तु ज्ञानमन्यद्वा भवतीति । तथा चोक्तम्–'व्यापकं तदतन्निष्ठं व्याप्यं तन्निष्ठमेव च' ॥ २७ ॥ इत्यात्म-

मतं] ऐसा कहा है । [**आत्मानं विना**] आत्माके विना [**ज्ञानं**] चेतनागुण [**न वर्तते**] और किसी जगह नहीं रहता [**तस्मात्**] इस कारण [**ज्ञानं**] ज्ञानगुण [**आत्मा**] जीव है [**च**] और [**आत्मा**] जीवद्रव्य [**ज्ञानं**] चैतन्य गुणरूप है, [**वा अन्यत्**] अथवा अन्य गुणरूप भी है ।

भावार्थ—ज्ञान और आत्मामें भेद नहीं है, दोनों एक हैं। क्योंकि अन्य सब अचेतन वस्तुओंके साथ संबंध न करके केवल आत्माके ही साथ ज्ञानका अनादिनिधन स्वाभाविक गाढ़ संबंध है, इस कारण आत्माको छोड़ ज्ञान दूसरी जगह नहीं रह सकता । परंतु आत्मा अनन्तधर्मवाला होनेसे ज्ञान गुणरूप भी है और अन्य सुखादि गुणरूप भी है, अथात् जैसे ज्ञानगुण रहता है, वैसे अन्य गुण भी रहते हैं । दूसरी बात यह है, कि भगवन्तका अनेकान्त सिद्धान्त बलवान् है। जो एकान्तसे ज्ञानको आत्मा कहेंगे, तो ज्ञानगुण आत्मद्रव्य हो जावेगा, और जब गुण ही द्रव्य हो जावेगा, तो गुणके अभावसे आत्मद्रव्यके अभावका प्रसङ्ग आवेगा, क्योंकि गुणवाला द्रव्यका लक्षण है, वह नहीं रहा, और जो सर्वथा आत्माको ज्ञान ही मानेंगे, तो आत्मद्रव्य एक ज्ञानगुणमात्र ही रह जावेगा, सुखवीर्यादि गुणोंका अभाव होगा । गुणके अभावसे आत्मद्रव्यका अभाव सिद्ध होगा, तब निराश्रय अर्थात् आधार न होनेसे ज्ञानका भी अभाव हो जायगा । इस कारण सिद्धान्त यह निकला, कि ज्ञानगुण तो आत्मा अवश्य है, क्योंकि ज्ञान अन्य जगह नहीं रहता । परंतु, आत्मा ज्ञानगुणकी अपेक्षा ज्ञान है, अन्य

अथ ज्ञानज्ञेययोः परस्परगमनं प्रतिहन्ति—

णाणी णाणसहावो अट्ठा णेयप्पगा हि णाणिस्स ।
रूवाणि व चक्खूणं णेवण्णोण्णेसु वट्टंति ॥ २८ ॥

ज्ञानी ज्ञानस्वभावोऽर्था ज्ञेयात्मका हि ज्ञानिनः ।
रूपाणीव चक्षुषोः नैवान्योन्येषु वर्तन्ते ॥ २८ ॥

ज्ञानी चार्थाश्च स्वलक्षणभूतपृथक्त्वतो न मिथो वृत्तिमासादयन्ति किंतु तेषां ज्ञानज्ञेयस्वभावसंबन्धसाधितमन्योन्यवृत्तिमात्रमस्ति । यथा हि चक्षूंषि तद्विषयभूतरूपिद्रव्याणि च परस्परप्रवेशमन्तरेणापि ज्ञेयाकारग्रहणसमर्पणप्रवणान्येवमात्माऽर्थाश्चान्योन्यवृत्तिमन्तरेणापि विश्वज्ञेयाकारग्रहणसमर्पणप्रवणाः ॥ २८ ॥

ज्ञानयोरेकत्वं, ज्ञानस्य व्यवहारेण सर्वगतत्वमित्यादिकथनरूपेण द्वितीयस्थले गाथापञ्चकं गतम् । अथ ज्ञानं ज्ञेयसमीपे न गच्छतीति निश्चिनोति—**णाणी णाणसहावो** ज्ञानी सर्वज्ञः केवलज्ञानस्वभाव एव । **अट्ठा णेयप्पगा हि णाणिस्स** जगत्त्रयकालत्रयवर्तिपदार्था ज्ञेयात्मका एव भवन्ति न च ज्ञानात्मकाः । कस्य ज्ञानिनः । **रूवाणि च चक्खूणं णेवण्णोण्णेसु वट्टंति** ज्ञानी पदार्थाश्चान्योन्यं परस्परमेकत्वेन वर्तन्ते । कानीव केषां संबन्धित्वेन, रूपाणीव चक्षुषामिति । तथाहि--यथा रूपिद्रव्याणि चक्षुषा सह परस्परं सबन्धाभावेऽपि स्वाकारसमर्पणे समर्थानि, चक्षूंषि च तथाकारग्रहणे समर्थानि भवन्ति । तथा त्रैलोक्योदरविवरवर्तिपदार्थाः कालत्रयपर्यायपरिणता ज्ञानेन सह परस्परप्रदेशसंसर्गाभावेऽपि स्वकीयाकारसमर्पणे समर्था भवन्ति । अखण्डैकप्रतिभासमयं केवलज्ञानं तु तदाकारग्रहणे समर्थमिति भावार्थः ॥ २८ ॥ अथ ज्ञानी

गुणोंकी अपेक्षा अन्य है ॥ २७ ॥ आगे निश्चयसे ज्ञान न तो ज्ञेयमें जाता है, और न ज्ञेय ज्ञानमें जाता है, ऐसा कहते हैं---[**हि**] निश्चयकर [**ज्ञानी**] आत्मा [**ज्ञानस्वभावः**] ज्ञानस्वभाववाला है, तथा [**अर्थाः**] पदार्थ [**ज्ञेयात्मकाः**] ज्ञेयस्वरूप हैं । क्योंकि [**ज्ञानिनः**] ज्ञानीके [**ते अर्थाः**] वे पदार्थ [**चक्षुषां**] नेत्रोंके [**रूपाणि इव**] रूपी पदार्थोंके समान [**अन्योन्येषु**] आपसमें अर्थात् सब मिलके एक अवस्थामें [**नैव**] नहीं [**वर्तन्ते**] प्रवर्तते हैं । **भावार्थ**—यद्यपि आत्मा और पदार्थोंका स्वभावसे ही ज्ञेय ज्ञायक संबंध आपसमें है, तो भी ज्ञानी आत्मा ज्ञानस्वरूप है, ज्ञेयस्वरूप नहीं है, और पदार्थ ज्ञेय (जानने योग्य) स्वरूप हैं, ज्ञानस्वरूप नहीं, अर्थात् अपने स्वरूपको छोड़कर एकरूप नहीं होते । जैसे कि नेत्र रूपी पदार्थोंमें प्रवेश किये बिना ही उन पदार्थोंके स्वरूप ग्रहण करनेको समर्थ है, और वे रूपी पदार्थ भी नेत्रोंमें प्रवेश किये विना ही अपना स्वरूप नेत्रोंके जनानेको समर्थ हैं । इसी प्रकार आत्मा भी न तो उन पदार्थोंमें जाता है, और न वे (पदार्थ) आत्मामें आते हैं, अर्थात् ज्ञेय ज्ञायक संबंधसे सकल पदार्थोंमें प्रवेश किये विना ही आत्मा सबको जानता है, और वे पदार्थ भी आत्मामें प्रवेश नहीं करके अपने स्वरूपको जनाते हैं । इसी कारण आत्माको व्यवहारसे सर्वगत कहते हैं ॥ २८ ॥ आगे निश्चयनयसे यद्यपि पदार्थोंमें आत्मा प्रवेश नहीं करता है, तो भी

अथार्थेष्ववृत्तस्यापि ज्ञानिनस्तद्वृत्तिसाधकं शक्तिवैचित्र्यमुद्द्योतयति—

ण पविट्ठो णाविट्ठो णाणी णेयेसु रूवमिव चक्खू ।
जाणदि पस्सदि णियदं अक्खातीदो जगमसेसं ॥ २९ ॥

न प्रविष्टो नाविष्टो ज्ञानी ज्ञेयेषु रूपमिव चक्षुः ।
जानाति पश्यति नियतमक्षातीतो जगदशेषम् ॥ २९ ॥

यथाहि चक्षू रूपिद्रव्याणि स्वप्रदेशैरसंस्पृशदप्रविष्टं परिच्छेद्यमाकारमात्मसात्कुर्वन्न चाप्रविष्टं जानाति पश्यति च । एवमात्माप्यक्षातीतत्वात्प्राप्यकारिताविचारगोचरदूरतामवाप्तो ज्ञेयतामापन्नानि समस्तवस्तूनि स्वप्रदेशैरसंस्पृशन्न प्रविष्टः शक्तिवैचित्र्यवशतो वस्तुवर्तिनः समस्तज्ञेयाकारानुन्मूल्य इव कवलयन्न चाप्रविष्टो जानाति पश्यति च । एवमस्य विचित्रशक्तियोगिनो ज्ञानिनोऽर्थेष्वप्रवेश इव प्रवेशोऽपि सिद्धिमवतरति ॥ २९ ॥

ज्ञेयपदार्थेषु निश्चयनयेनाप्रविष्टोऽपि व्यवहारेण प्रविष्ट इव प्रतिभातीति शक्तिवैचित्र्यं दर्शयति—**ण पविट्ठो** निश्चयनयेन न प्रविष्टः, **णाविट्ठो** व्यवहारेण च नाप्रविष्टः, किंतु प्रविष्ट एव । स कः कर्ता । **णाणी** ज्ञानी । केषु मध्ये । **णेयेसु** ज्ञेयपदार्थेषु । किमिव । **रूवमिव चक्खू** रूपविषये चक्षुरिव । एवंभूतः सन् किं करोति । **जाणदि पस्सदि** जानाति पश्यति च **णियदं** निश्चितं संशयरहितं तम् किंविशिष्टः सन् । **अक्खातीदो** अक्षातीतः किं जानाति पश्यति । **जगमसेसं** जगदशेषमिति । तथाहि—यथा लोचनं कर्तृ रूपिद्रव्याणि यद्यपि निश्चयेन न स्पृशति तथापि व्यवहारेण स्पृशतीति प्रतिभाति लोके । तथायमात्मा मिथ्यात्वरागाद्यास्रवाणामात्मनश्च संबन्धि यत्केवलज्ञानात्पूर्वं विशिष्टभेदज्ञानं तेनोत्पन्नं यत्केवलज्ञानदर्शनद्वयं तेन जगत्त्रयकालत्रयवर्तिपदार्थान्निश्चयेनास्पृशन्नपि व्यवहारेण स्पृशति, तथा स्पृशन्निव ज्ञानेन जानाति दर्शनेन पश्यति च । कथंभूतः सन् । अतीन्द्रियसुखास्वादपरिणतः सन्नक्षातीत इति । ततो ज्ञायते निश्चयेना-

---

व्यवहारसे प्रविष्ट (प्रवेश किया) सरीखा है, ऐसी शक्तिकी विचित्रता दिखलाते हैं—[**अक्षातीतः**] इन्द्रियोंसे रहित अर्थात् अनंत अतीन्द्रियज्ञान सहित [**ज्ञानी**] आत्मा [**ज्ञेयेषु**] जानने योग्य अन्य पदार्थोंमें [**प्रविष्टः न**] पैठता नहीं है, और [**अविष्टः न**] नहीं पैठता ऐसा भी नहीं, अर्थात् व्यवहार कर पैठासा भी है । वह [**रूपं**] रूपी पदार्थोंको [**चक्षुरिव**] नेत्रोंकी तरह [**अशेषं जगत्**] सब संसारको [**नियतं**] निश्चित अर्थात् ज्योंका त्यों [**जानाति**] जानता है, और [**पश्यति**] देखता है । **भावार्थ—**अनन्त अतीन्द्रिय ज्ञानसहित आत्मा निश्चयनयसे ज्ञेयपदार्थोंमें प्रवेश नहीं करता है, परन्तु एकान्तसे सर्वथा ऐसा ही नहीं है, व्यवहारसे वह ज्ञेयपदार्थोंमें प्रवेश भी करता है, और जैसे—नेत्र अपने प्रदेशोंसे रूपीपदार्थोंका स्पर्श नहीं करता, तथा रूपी पदार्थोंका भी उस (नेत्र) में प्रवेश नहीं होता, केवल उन्हें जानता तथा देखता है । परंतु व्यवहारसे 'उन पदार्थोंमें दृष्टि है' ऐसा कहते हैं । इसी प्रकार आत्मा भी ज्ञेय पदार्थोंमें निश्चयनयसे यद्यपि प्रवेश नहीं करता है, तो भी ज्ञायकशक्ति उसमें कोई ऐसी विचित्र है । इस कारण व्यवहारनयसे उसका ज्ञेयपदार्थोंमें प्रवेश

अथैवं ज्ञानमर्थेषु वर्तत इति संभावयति—

रयणमिह इंदणीलं दुद्धज्झसियं जहा सभासाए ।
अभिभूय तं पि दुद्धं वट्टदि तह णाणमत्थेसु ॥ ३० ॥
रत्नमिहेन्द्रनीलं दुग्धाध्युषितं यथा स्वभासा ।
अभिभूय तदपि दुग्धं वर्तते तथा ज्ञानमर्थेषु ॥ ३० ॥

यथा किलेन्द्रनीलरत्नं दुग्धमधिवसत्स्वप्रभाभारेण तदभिभूय वर्तमानं दृष्टं, तथा संवेदनमप्यात्मनोऽभिन्नत्वात् कर्त्रंशेनात्मतामापन्नं करणांशेन ज्ञानतामापन्नेन कारणभूतानामर्थानां कार्यभूतान् समस्तज्ञेयाकारानभिव्याप्य वर्तमानं कार्यकारणत्वेनोपचर्य ज्ञानमर्थानभिभूय वर्तत इत्युच्यमानं न विप्रतिषिध्यते ॥ ३० ॥

प्रवेश इव व्यवहारेण ज्ञेयपदार्थेषु प्रवेशोऽपि घटत इति ॥ २९ ॥ अथ तमेवार्थं दृष्टान्तद्वारेण दृढयति— **रयणमिह** रत्नमिह जगति । किं नाम । **इंदणीलं** इन्द्रनीलसंज्ञम् । किंविशिष्टम् । **दुद्धज्झसियं** दुग्धे निक्षिप्तं **जहा** यथा **सभासाए** स्वकीयप्रभया **अभिभूय** तिरस्कृत्य । किम् । **तं पि दुद्धं** तत्पूर्वोक्तं दुग्धमपि **वट्टदि** वर्तते । इति दृष्टान्तो गतः । **तह णाणमट्ठेसु** तथा ज्ञानमर्थेषु वर्तत इति । तद्यथा—यथेन्द्रनीलरत्नं कर्तृ स्वकीयनीलप्रभया करणभूतया दुग्धं नीलं कृत्वा वर्तते, तथा निश्चयरत्नत्रयात्मकपरमसामायिकसयमेन यदुत्पन्नं केवलज्ञानं तत् स्वपरपरिच्छित्तिसामर्थ्येन समस्ताज्ञानान्धकारं तिरस्कृत्य युगपदेव सर्वपदार्थेषु परिच्छित्याकारेण वर्तते । अयमत्र भावार्थः—कारणभूतानां सर्वपदार्थानां कार्यभूतापरिच्छित्याकारा उपचारेणार्था भण्यन्ते, तेषु च ज्ञानं वर्तत इति भण्यमानेऽपि व्यवहारेण दोषो नास्तीति ॥ ३० ॥ अथ पूर्वसूत्रेण भणितं

भी कहा जाता है ॥ २९ ॥ आगे व्यवहारसे आत्मा ज्ञेयपदार्थोंमें प्रवेश करता है, यह बात दृष्टान्तसे फिर पुष्ट करते हैं—[**इह**] इस लोकमें [**यथा**] जैसे [**दुग्धाध्युषितं**] दूधमें डुबाया हुआ [**इंद्रनीलं रत्नं**] प्रधान नीलमणि [**स्वभासा**] अपनी दीप्तिसे [**तत् दुग्धं**] उस दूधको [**अपि**] भी [**अभिभूय**] दूर करके अर्थात् अपनासा नीलवर्ण करके [**वर्तते**] वर्तता है । [**तथा**] उसी प्रकार [**अर्थेषु**] ज्ञेयपदार्थोंमें [**ज्ञानं**] केवलज्ञान प्रवर्तता है । **भावार्थ**—यदि दूधसे भरे हुए किसी एक बर्तनमें प्रधान नीला रत्न डाल दें, तो उस बर्तनका सब दूध नीलवर्ण दिखलाई देगा । क्योंकि उस नीलमणिमें ऐसी एक शक्ति है, कि जिसकी प्रभासे वह सारे दूधको नीला कर देता है । इस क्रियामें यद्यपि निश्चयसे नीलमणि आपमें ही है, परन्तु प्रकाशकी विचित्रताके कारण व्यवहारनयसे उसको सब दूधमें व्याप्त कहते हैं । ठीक ऐसी ही ज्ञान और ज्ञेयों (पदार्थों) की दशा (हालत) है, अर्थात् निश्चयनयसे ज्ञान आत्मामें ही है, परन्तु व्यवहारनयसे ज्ञेयमें भी कहते हैं । जैसे दर्पणमें घटपटादि पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं, और दर्पण अपनी स्वच्छतारूप शक्तिसे उन पदार्थोंके आकार होजाता है, उसी प्रकार ज्ञानमें पदार्थ झलकते हैं, और अपनी स्वच्छतारूप ज्ञायकशक्तिसे वह ज्ञेयाकार होजाता है, अतएव व्यवहारसे ज्ञान पदार्थोंमें है, ऐसा कहते हैं ॥ ३० ॥ आगे जैसे ज्ञेयमें ज्ञान है,

अथैवमर्था ज्ञाने वर्तन्त इति संभावयति—

जदि ते ण संति अट्ठा णाणे णाणं ण होदि सव्वगयं।
सव्वगयं वा णाणं कहं ण णाणट्ठिया अट्ठा ॥ ३१ ॥

यदि खलु निखिलात्मीयज्ञेयाकारसमर्पणद्वारेणावतीर्णाः सर्वेऽर्था न प्रतिभान्ति ज्ञाने तदा तन्न सर्वगतमभ्युपगम्यते। अभ्युगम्येत वा सर्वगतम्। तर्हि साक्षात् संवेदनमुकुरुन्दभूमिकावतीर्णप्रतिबिम्ब[बिम्बि]स्थानीयस्वीयस्वीयसंवेद्याकारकारणानि, परंपरया प्रतिबिम्बस्थानीयसंवेद्याकारकारणानीति कथं न ज्ञानस्थायिनोऽर्था निश्चीयन्ते ॥ ३१ ॥

अथैवं ज्ञानिनोऽर्थैः सहान्योन्यवृत्तिमत्त्वेऽपि परग्रहणमोक्षणपरिणमनाभावेन सर्वं पश्यतोऽध्यवस्यतश्चात्यन्तविविक्तत्वं भावयति—

ज्ञानमर्थेषु वर्तते व्यवहारेणात्र पुनरर्था ज्ञानं वर्तन्त इत्युपदिशन्ति—**जइ** यदि चेत् **ते अट्ठा ण संति** ते पदार्थाः स्वकीयपरिच्छित्त्याकारसमर्पणद्वारेणादर्शे बिम्बवन्न सन्ति यदि चेत्। क। **णाणे** केवलज्ञाने **णाणं ण होदि सव्वगयं** तदा ज्ञानं सर्वगतं न भवति। **सव्वगयं वा णाणं** व्यवहारेण सर्वगतं ज्ञान संमतं चेद्भवतां **कहं ण णाणट्ठिया अट्ठा** तर्हि व्यवहारनयेन स्वकीयज्ञेयाकारपरिच्छित्तिसमर्पणद्वारेण ज्ञानस्थिता अर्थाः कथं न भवन्ति किंतु भवन्त्येव। अत्रायमभिप्रायः—यत एव व्यवहारेण ज्ञेयपरिच्छित्त्याकारग्रहणद्वारेण ज्ञानं सर्वगतं भण्यते, तस्मादेव ज्ञेयपरिच्छित्त्याकारसमर्पणद्वारेण पदार्था अपि व्यवहारेण ज्ञानगता भण्यन्त इति ॥३१॥ अथ ज्ञानिनः पदार्थैः सह यद्यपि व्यवहारेण ग्राह्यग्राहकसंबन्धोऽस्ति तथापि संश्लेषादिसंबन्धो नास्ति, तेन

वैसे ही व्यवहारसे ज्ञानमें ज्ञेय (पदार्थ) है, ऐसा कहते है—[**यदि**] जो [**ते अर्थाः**] वे ज्ञेयपदार्थ [**ज्ञाने**] केवलज्ञानमें [**न सन्ति**] नहीं होवें, [**तदा**] तो [**सर्वगतं ज्ञान**] सब पदार्थोंमें प्राप्त होनेवाला ज्ञान अर्थात् केवलज्ञान ही [**न भवति**] नहीं होवे, और [**वा**] जो [**सर्वगतं ज्ञानं**] केवलज्ञान है, ऐसा मानो, तो [**अर्थाः**] पदार्थ [**ज्ञानस्थिताः**] ज्ञानमें स्थित है, (मौजूद हैं) ऐसा [**कथं न**] क्यों न होवे? अवश्य ही होवे। **भावार्थ**—यदि ज्ञानमें सब ज्ञेयोंके आकार 'दर्पणमें प्रतिबिम्बकी तरह' नहीं प्रतिभासें, तो ज्ञान सर्वगत ही नहीं ठहरे, क्योंकि जब आरसीमें स्वच्छपना हैं, तब घटपटादि पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं, उसी समय आरसी भी सबके आकार होजाती है। इसी प्रकार ज्ञान ज्ञेयको तब जानता है, जब अपनी ज्ञायकशक्तिसे सब पदार्थोंके आकार होजाता है, और जब सब पदार्थोंके आकार हुआ, तो सब पदार्थ इस ज्ञानमें स्थित क्यों न कहे जायँगे? व्यवहारसे अवश्य ही कहे जायँगे। इससे यह सिद्ध हुआ, कि ज्ञान और पदार्थ दोनों ही एक दूसरेमें मौजूद है ॥ ३१ ॥

आगे आत्मा और पदार्थोंका उपचारसे यद्यपि आपसमें ज्ञेयज्ञायक संबंध है, तो निश्चयनयसे

गेण्हदि णेव ण मुंचदि ण परं परिणमदि केवली भगवं ।
पेच्छदि समंतदो सो जाणदि सव्वं णिरवसेसं ॥ ३२ ॥
गृह्णाति नैव न मुञ्चति न परं परिणमति केवली भगवान् ।
पश्यति समन्ततः स जानाति सर्वं निरवशेषम् ॥ ३२ ॥

अयं खल्वात्मा स्वभावत एव परद्रव्यग्रहणमोक्षणपरिणमनाभावात्स्वतत्त्वभूतकेवलज्ञानस्वरूपेण विपरिणम्य निष्कम्पोन्मज्जज्योतिर्जात्यमणिकल्पो भूत्वाऽवतिष्ठमानः समन्ततः स्फुरितदर्शनज्ञानशक्तिः, समस्तमेव निःशेषतयात्मानमात्मनात्मनि संचेतयते । अथवा युगपदेव सर्वार्थसार्थसाक्षात्करणेन ज्ञप्तिपरिवर्तनाभावात् संभावितग्रहणमोक्षलक्षणक्रियाविरामः प्रथममेव समस्तपरिच्छेद्याकारपरिणतत्वात् पुनः परमाकारान्तरमपरिणममानः समन्तोऽपि विश्वमशेषं पश्यति जानाति च विविक्तत्व एव ॥ ३२ ॥

कारणेन ज्ञेयपदार्थैः सह भिन्नत्वमेवेति प्रतिपादयति—**गेण्हदि णेव ण मुंचदि** गृह्णाति नैव मुञ्चति नैव **ण परं परिणमदि** परं परद्रव्यं ज्ञेयपदार्थं नैव परिणमति । स कः कर्ता । **केवली भगवं** केवली भगवान् सर्वज्ञः । ततो ज्ञायते परद्रव्येण सह भिन्नत्वमेव । तर्हि किं परद्रव्यं न जानाति । **पेच्छदि समंतदो सो जाणदि सव्वं णिरवसेसं** तथापि व्यवहारनयेन पश्यति समन्ततः सर्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्जानाति च सर्वं निरवशेषम् । अथवा द्वितीयव्याख्यानम्—अभ्यन्तरे कामक्रोधादि बहिर्विषये पञ्चेन्द्रियविषयादिकं बहिर्द्रव्यं न गृह्णाति, स्वकीयानन्तज्ञानादिचतुष्टयं च न मुञ्चति यतस्ततः कारणादयं जीवः केवलज्ञानोत्पत्तिक्षण एव युगपत्सर्वं जानन्सन् परं विकल्पान्तरं न परिणमति । तथाभूतः सन् किं करोति । स्वतत्त्वभूतकेवलज्ञानज्योतिषा जात्यमणिकल्पो निःकम्पचैतन्यप्रकाशो भूत्वा स्वात्मानं स्वात्मना स्वात्मनि जानात्यनुभवति । तेनापि कारणेन

परमपदार्थके ग्रहण तथा त्यागरूप परिणामके अभावसे सब पदार्थोंको देखने जाननेपर भी अत्यंत पृथक्पना है, ऐसा दिखाते हैं—[**केवली भगवान्**] केवलज्ञानी सर्वज्ञदेव [**परं**] ज्ञेयभूत परपदार्थोंको [**नैव**] निश्चयसे न तो [**गृह्णाति**] ग्रहण करते हैं, [**न मुञ्चति**] न छोड़ते है, और [**न परिणमति**] न परिणमन करते है, [**सः**] वे केवली भगवान् [**सर्वं**] सब [**निरवसेषं**] कुछ भी बाकी नहीं, ऐसे ज्ञेय पदार्थोंको [**समन्ततः**] सर्वांग ही [**पश्यति**] देखते है, और [**जानाति**] जानते हैं । **भावार्थ**—जब यह आत्मा केवलज्ञानस्वरूप परिणमन करता है, तब इसके निष्कंप ज्ञानरूपी ज्योति प्रगट होती है, जो कि उज्वल रत्नके अडोल प्रकाशके समान स्थिर रहती है । वह केवलज्ञानी पर ज्ञेय पदार्थोंको न ग्रहण करता है, न छोड़ता है, और न उनके रूप परिणमन करता है। अपने स्वरूपमें आप अपनेको ही वेदता है (अनुभव करता है), परद्रव्योंसे स्वभावसे ही उदासीन है। जैसे दर्पणकी इच्छाके विना ही दर्पणमें घट पट वगैरः पदार्थ प्रतिबिम्बित होते है, उसी प्रकार जाननेकी इच्छा विना ही केवलज्ञानीने ज्ञानीमें त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं । इस कारण व्यवहारसे ज्ञाता द्रष्टा है । इससे यह सिद्ध हुआ, कि यह ज्ञाता आत्मा परद्रव्योंसे अत्यन्त (बिलकुल) जुदा

अथ केवलज्ञानिश्रुतज्ञानिनोरविशेषदर्शनेन विशेषाकाङ्क्षाक्षोभं क्षपयति—

जो हि सुदेण विजाणदि अप्पाणं जाणगं सहावेण ।
तं सुयकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पदीवयरा ॥ ३३ ॥
यो हि श्रुतेन विजानात्यात्मानं ज्ञायकं स्वभावेन ।
तं श्रुतकेवलिनमृषयो भणन्ति लोकप्रदीपकराः ॥ ३३ ॥

यथा भगवान् युगपत्परिणतसमस्तचैतन्यविशेषशालिना केवलज्ञानेनानादिनिधननिष्कारणासाधारणस्वसंचेत्यमानचैतन्यसामान्यमहिम्नश्चेतकस्वभावेनैकत्वात् केवलस्यात्मन आत्मनात्मनि संचेतनात् केवली, तथायं जनोऽपि क्रमपरिणममाणकतिपयचैतन्यविशेषशालिना श्रुत-

परद्रव्यैः सह भिन्नत्वमेवेत्यभिप्रायः ॥ ३२ ॥ एवं ज्ञानं ज्ञेयरूपेण न परिणमतीत्यादिव्याख्यानरूपेण तृतीयस्थले गाथापञ्चकं गतम् । अथ यथा निरावरणसकलव्यक्तिलक्षणेन केवलज्ञानेनात्मपरिज्ञानं भवति तथा सावरणैकदेशव्यक्तिलक्षणेन केवलज्ञानोत्पत्तिबीजभूतेन स्वसंवेदनज्ञानरूपभावश्रुतेनाप्यात्मपरिज्ञानं भवतीति निश्चिनोति । अथवा द्वितीयपातनिका—यथा केवलज्ञानं प्रमाणं भवति तथा केवलज्ञानप्रणीतपदार्थप्रकाशकं श्रुतज्ञानमपि परोक्षप्रमाणं भवतीति पातनिकाद्वयं मनसि धृत्वा सूत्रमिदं प्रतिपादयति —**जो** यः कर्ता **हि** स्फुटं **सुदेण** निर्विकारस्वसंवित्तिरूपभावश्रुतपरिणामेन **विजाणदि** विजानाति विशेषेण जानाति विषयसुखानन्दविलक्षणनिजशुद्धात्मभावनोत्थपरमानन्दैकलक्षणसुखरसास्वादेनानुभवति । कम् । **अप्पाणं** निजात्मद्रव्यम् । कथंभूतम् । **जाणगं** ज्ञायकं केवलज्ञानस्वरूपम् । केन कृत्वा । **सहावेण** समस्तविभावरहितस्वस्वभावेन **तं सुयकेवलिं** तं महायोगीन्द्रं श्रुतकेवलिनं **भणंति** कथयन्ति । के कर्तारः । **इसिणो** ऋषयः । किंविशिष्टाः । **लोयप्पदीवयरा** लोकप्रदीपकरा लोकप्रकाशका इति । अतो विस्तरः—युगपत्परिणतसमस्तचैतन्यशालिना केवलज्ञानेन अनाद्यनन्तनिःकारणान्यद्रव्यासाधारणस्वसंवेद्यमानपरमचैतन्यसामान्यलक्षणस्य परद्रव्यरहितत्वेन केवलस्यात्मन आत्मनि स्वानुभवनाद्यथा भगवान् केवली भवति, तथायं गणधरदेवादिनिश्चय-

ही है, व्यवहारसे ज्ञेय ज्ञायक संबंध है ॥ ३२ ॥ आगे केवलज्ञानसे ही आत्मा जाना जाता है, अन्य ज्ञानसे क्या नहीं जाना जाता ? इसके उत्तरमें केवलज्ञानी और श्रुतकेवली इन दोनोंको बराबर दिखाते हैं—[**यः**] जो पुरुष [**हि**] निश्चयसे [**श्रुतेन**] भावश्रुतज्ञानसे [**स्वभावेन ज्ञायकं**] अपने ही सहज स्वभावसे सबको जाननेवाले [**आत्मानं**] आत्माको अर्थात् अपने निजस्वरूपको [**विजानाति**] विशेषतासे जानता है [**तं**] उस भावश्रुतज्ञानीको [**लोकप्रदीपकराः**] समस्तलोकके उद्योत करनेवाले [**ऋषयः**] श्रीवीतरागदेव [**श्रुतकेवलिनं**] श्रुतकेवली [**भणन्ति**] कहते हैं । **भावार्थ—**जिस प्रकार केवलज्ञानी एक ही कालमें अनन्त चैतन्यशक्तियुक्त केवलज्ञानसे अनादि अनंत, कारण रहित, असाधारण, स्वसंवेदन ज्ञानकी महिमाकर सहित, केवल आत्माको अपनेमें आप वेदता है, उसी प्रकार यह सम्यग्दृष्टि भी कितनी एक क्रमवर्ती चैतन्यशक्तियों सहित श्रुतज्ञानसे केवल आत्माको आपमें आपसे वेदता है, इस कारण इसे श्रुतकेवली कहते हैं । वस्तुके स्वरूप जाननेकी अपेक्षा केवलज्ञानी

ज्ञानेनानादिनिधननिष्कारणासाधारणस्वसंवेद्य[संवेत्य]मानचैतन्यसामान्यमहिम्नश्चेतकस्वभावेनैकत्वात् केवलस्यात्मन आत्मनात्मनि संचेतनात् श्रुतकेवली। अलं विशेषाकांक्षाक्षोभेण, स्वरूपनिश्चलैरेवावस्थीयते ॥ ३३ ॥

अथ ज्ञानस्य श्रुतोपाधिभेदमुदस्यति—

सुत्तं जिणोवदिट्ठं पोग्गलदव्वप्पगेहिं वयणेहिं ।
तं जाणणा हि णाणं सुत्तस्स य जाणणा भणिया ॥ ३४ ॥
सूत्रं जिनोपदिष्टं पुद्गलद्रव्यात्मकैर्वचनैः ।
तज्ज्ञप्तिर्हि ज्ञानं सूत्रस्य च ज्ञप्तिर्भणिता ॥ ३४ ॥

श्रुतं हि तावत्सूत्रम् । तच्च भगवदर्हत्सर्वज्ञोपज्ञं स्यात्कारकेतनं पौद्गलिकं शब्दब्रह्म । तज्ज्ञप्तिर्हि ज्ञानम् । श्रुतं तु तत्कारणत्वात् ज्ञानत्वेनोपचर्यत एव । एवं सति सूत्रस्य ज्ञप्तिः श्रुतज्ञान-

रत्नत्रयाराधकजनोऽपि पूर्वोक्तलक्षणस्यात्मनो भावश्रुतज्ञानेन स्वसंवेदनान्निश्चयश्रुतकेवली भवतीति । किंच— यथा कोऽपि देवदत्त आदित्योदयेन दिवसे पश्यति, रात्रौ किमपि प्रदीपेनेति । तथादित्योदयस्थानीयेन केवलज्ञानेन दिवसस्थानीयमोक्षपर्याये भगवानात्मानं पश्यति । संसारी विवेकीजनः पुनर्निशास्थानीयसंसारपर्याये प्रदीपस्थानीयेन रागादिविकल्परहितपरमसमाधिना निजात्मानं पश्यतीति । अयमत्राभिप्रायः—आत्मा परोक्षः, कथं ध्यानं क्रियते इति संदेहं कृत्वा परमात्मभावना न त्याज्येति ॥ ३३ ॥ अथ शब्दरूपं द्रव्यश्रुतं व्यवहारेण ज्ञानं निश्चयेनार्थपरिच्छित्तिरूपं भावश्रुतमेव ज्ञानमिति कथयति । अथवात्मभावनारतो निश्चयश्रुतकेवली भवतीति पूर्वसूत्रे भणितम् । अयं तु व्यवहारश्रुतकेवलीति कथ्यते—**सुत्तं** द्रव्यश्रुतम् । कथंभूतम् । **जिणोवदिट्ठं** जिनोपदिष्टम् । कैः कृत्वा । **पोग्गलदव्वप्पगेहिं वयणेहिं** पुद्गलद्रव्यात्मकैर्दिव्यध्वनिवचनैः । **तं जाणणा हि णाणं** तेन पूर्वोक्तशब्दश्रुताधारेण ज्ञप्तिरर्थपरिच्छित्तिर्ज्ञानं भण्यते । हि

और श्रुतकेवली दोनों समान हैं । भेद केवल इतना ही है, कि केवलज्ञानी संपूर्ण अनंत ज्ञानशक्तियोंसे वेदता है, श्रुतकेवली कितनीएक शक्तियोंसे वेदता है । ऐसा जानकर जो सम्यग्दृष्टि है, वे अपने स्वरूपको स्वसंवेदन ज्ञानसे वेदते हैं, तथा आपमें निश्चल होकर स्थिर होते हैं, और जैसे कोई पुरुष दिनमें सूर्यके प्रकाशसे देखता है, उसी प्रकार केवलज्ञानी अपने केवलज्ञानसे आपको देखते हैं । तथा जैसे कोई पुरुष रात्रिको दीपकके प्रकाशसे देखता है, उसी प्रकार संसारपर्यायरूप रात्रिमें ये सम्यग्दृष्टि विवेकी भावश्रुतज्ञानरूप दीपकसे अपनेको देखते हैं । इस तरह केवली और श्रुतकेवली समान हैं ॥ ३३ ॥ आगे ज्ञानके श्रुतरूप उपाधिभेदको दूर करते हैं—[**पुद्गलद्रव्यात्मकैः**] पुद्गलद्रव्यसरूप [**वचनैः**] वचनोंसे [**जिनोपदिष्टं**] जो जिनभगवान् का उपदेश किया हुआ है, [**सूत्रं**] वह द्रव्यश्रुत है, [**हि**] निश्चयकर [**तद्ज्ञप्तिः**] उस द्रव्यश्रुतका जानना वह [**ज्ञानं**] भावश्रुत ज्ञान है । [**च सूत्रस्य**] और द्रव्यश्रुतको भी [**ज्ञप्तिः**] ज्ञान [**भणिता**] 'व्यवहारसे' कहा है। **भावार्थ—**द्रव्यश्रुत पुद्गलमय है, क्योंकि वह वीतराग भगवानका अनेकान्तरूप वचन है । इस द्रव्यश्रुतको जो ज्ञान

मित्यायाति । अथ सूत्रमुपाधित्वान्नाद्रियते ज्ञप्तिरेवावशिष्यते । सा च केवलिनः श्रुतकेवलिनश्चात्मसंचेतने तुल्यैवेति नास्ति ज्ञानस्य श्रुतोपाधिभेदः ॥ ३४ ॥

अथात्मज्ञानयोः कर्तृकरणताकृतं भेदमपनुदति—

जो जाणदि सो णाणं ण हवदि णाणेण जाणगो आदा ।
णाणं परिणमदि सयं अट्ठा णाणट्ठिया सव्वे ॥ ३५ ॥
यो जानाति स ज्ञानं न भवति ज्ञानेन ज्ञायक आत्मा ।
ज्ञानं परिणमते स्वयमर्था ज्ञानस्थिताः सर्वे ॥ ३५ ॥

अपृथग्भूतकर्तृकरणत्वशक्तिपारमैश्वर्ययोगित्वादात्मनो य एव स्वयमेव जानाति स एव ज्ञानमन्तर्लीनसाधकतमोष्णत्वशक्तेः स्वतन्त्रस्य जातवेदसो दहनक्रियाप्रसिद्धेरुष्णव्यपदेशवत् । न तु यथा पृथग्वर्तिना दात्रेण लावको भवति देवदत्तस्तथा [ज्ञानेन] ज्ञायको भवत्यात्मा । तथा

स्फुटम् । **सुत्तस्स य जाणणा भणिया** पूर्वोक्तद्रव्यश्रुतस्यापि व्यवहारेण ज्ञानव्यपदेशो भवति न तु निश्चयेनेति । तथाहि—यथा निश्चयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावो जीवः पश्चाद्व्यवहारेण नरनारकादिरूपोऽपि जीवो भण्यते । तथा निश्चयेनाखण्डैकप्रतिभासरूपं समस्तवस्तुप्रकाशकं ज्ञानं भण्यते, पश्चाद्व्यवहारेण मेघपटलावृतादित्यस्यावस्थाविशेषवत्कर्मपटलावृताखण्डैकज्ञानरूपजीवस्य मतिज्ञानश्रुतज्ञानादिव्यपदेशो भवतीति भावार्थः ॥ ३४ ॥ अथ भिन्नज्ञानेनात्मा ज्ञानी न भवतीत्युपदिशति— **जो जाणदि सो णाणं** यः कर्ता जानाति स ज्ञानं भवतीति । तथाहि—यथा संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेऽपि सति पश्चादभेदनयेन दहनक्रियासमर्थोष्णगुणेन परिणतोऽग्निरप्युष्णो भण्यते, तथार्थक्रियापरिच्छित्तिसमर्थेन ज्ञानगुणेन परिणत आत्मापि ज्ञानं भण्यते । तथा चोक्तम्—'जानातीति ज्ञानमात्मा' **ण हवदि णाणेण जाणगो आदा** सर्वथैव भिन्नज्ञानेनात्मा ज्ञायको न भवतीति । अथ मतम्—यथा भिन्नदात्रेण लावको भवति देवदत्तस्तथा भिन्नज्ञानेन ज्ञायको भवतु को दोष इति । नैवम् । छेदनक्रियाविषये दात्रं बहिरङ्गोपकरणं तद्भिन्नं भवतु, अभ्यन्तरोप-

जानता है, उसे निश्चयसे ज्ञान कहते है । परन्तु जो द्रव्यश्रुतको ही ज्ञान कहते है, सो व्यवहारनयसे ज्ञानके उत्पन्न करनेमें कारणभूत होनेसे अन्नमें प्राणकी तरह कारणमें कार्यका व्यवहार कर कहते हैं, यथार्थमें द्रव्यश्रुतकी ज्ञानसज्ञा नहीं है, क्योंकि वचन जड़ पुद्गलमयी है, तथा वह ज्ञानको उपाधिरूप है, और ज्ञान जानने मात्र है, उसके कोई उपाधिका काम ही नहीं है । लेकिन 'श्रुतज्ञान' ऐसा कहनेका कारण यह है, कि कर्मके संयोगसे द्रव्यश्रुतका निमित्त पाकर ज्ञान उत्पन्न होता है । यदि वस्तुके स्वभावका विचार किया जाय, तो ज्ञान ज्ञानसे ही उत्पन्न होता है, इसी लिये ज्ञानके कोई श्रुत वगैरः उपाधि नहीं है ॥ ३४ ॥ आगे कितने ही एकान्तवादी ज्ञानसे आत्माको भिन्न मानते हैं, सो उनके पक्षको दूर करनेके लिये आत्मा कर्त्ता है, ज्ञान कारण है, ऐसा भिन्नपना दूर करके आत्मा और ज्ञानमें अभेद सिद्ध करते हैं—**[यः]** जो आत्मा **[जानाति]** जानता है, **[सः]** वह **[ज्ञानं]** ज्ञान है । **[ज्ञानेन]** ज्ञान गुणसे **[ज्ञायकः]** जाननेवाला **[आत्मा]** आत्मा अर्थात् चेतनद्रव्य **[न भवति]** नहीं होता ।

सत्युभयोरचेतनत्वमचेतनयोः संयोगेऽपि न परिच्छित्तिनिष्पत्तिः। पृथक्त्ववर्तिनोऽपि परिच्छेदाभ्युपगमे परपरिच्छेदेन परस्य परिच्छित्तिर्भूतिमभृतीनां च परिच्छित्तिप्रसूतिरनङ्कुशा स्यात्। किंच–स्वतोऽव्यतिरिक्तसमस्तपरिच्छेद्याकारपरिणतं ज्ञानं स्वयं परिणममानस्य कार्यभूतसमस्तज्ञेयाकारकारणीभूताः सर्वेऽर्था ज्ञानवर्तिन एव कथंचिद्भवन्ति, किं ज्ञातृज्ञानविभागक्लेशकल्पनया ॥ ३५ ॥

अथ किं ज्ञानं किं ज्ञेयमिति व्यनक्ति—

करणं तु देवदत्तस्य छेदनक्रियाविषये शक्तिविशेषस्तस्माभिन्नमेव भवति। उपाध्यायप्रकाशादिबहिरङ्गोपकरणं तद्भिन्नमपि भवतु दोषो नास्ति। यदि च भिन्नज्ञानेन ज्ञानी भवति तर्हि परकीयज्ञानेन सर्वेऽपि कुम्भस्तम्भादिजडपदार्था ज्ञानिनो भवन्तु न च तथा। **णाणं परिणमदि सयं** यत एव भिन्नज्ञानेन ज्ञानी न भवति तत एव घटोत्पत्तौ मृत्पिण्ड इव स्वयमेवोपादानरूपेणात्मा ज्ञानं परिणमति। **अट्ठा णाणट्ठिया सव्वे** व्यवहारेण ज्ञेयपदार्था आदर्शे बिम्बमिव परिच्छित्त्याकारेण ज्ञाने तिष्ठन्तीत्यभिप्रायः ॥ ३५ ॥ अथात्मा

[**ज्ञानं**] ज्ञान [**स्वयं**] आप ही [**परिणमते**] परिणमन करता है, [**सर्वे अर्थाः**] और सब ज्ञेय पदार्थ [**ज्ञानस्थिताः**] ज्ञानमें स्थित हैं। **भावार्थ**—यद्यपि व्यवहारमें संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजनादि भेदोंसे ज्ञान और आत्माको वस्तुके समझनेके लिये भिन्न कहते हैं, परन्तु निश्चयमें ज्ञान और आत्मामें भिन्नपना नहीं है, प्रदेशोंसे ज्ञान और आत्मा एक है। इसी कारण ज्ञानभावरूप परिणमता आत्मा ही ज्ञान है। जैसे अग्नि ज्वलनक्रिया करनेका कर्त्ता है, और उष्णगुण ज्वलन क्रियाका कारण है। अग्नि और उष्णपना व्यवहारसे भिन्न हैं, परन्तु यथार्थमें भिन्न नहीं है, जो अग्नि है, वही उष्णपना है, और इसलिये अग्निको उष्ण भी कहते हैं। इसी प्रकार यह आत्मा जाननेरूप क्रियाका कर्त्ता है, और ज्ञान जानन–क्रियाका साधन है, इसमें व्यवहारसे भिन्नपना (भेद) है, वस्तुतः आत्मा और ज्ञान एक ही है। और जैसे कोई पुरुष लोहेके दाँते (हँसिये) से घासका काटनेवाला कहलाता है, उस तरह आत्मा ज्ञानसे जाननेवाला नहीं कहा जाता, क्योंकि घासका काटनेवाला पुरुष और घास काटनेमें कारण लोहेका दाँता ये दोनों जैसे जुदा जुदा पदार्थ हैं, उसी प्रकार आत्मा और ज्ञानमें जुदापना नहीं है, क्योंकि आत्मा और ज्ञान, अग्नि और उष्णताकी तरह अभिन्न ही देखनेमें आते हैं, जुदे नहीं दीखते, और जो कोई अन्यवादी मिथ्यादृष्टि कहते हैं कि, आत्मासे ज्ञान भिन्न है, ज्ञानके संयोगसे आत्मा ज्ञायक है। सो उन्हें "आत्मा अचेतन है, ज्ञानके संयोगसे चेतन हो जाता है," ऐसा मानना पड़ेगा। जिससे धूलि, भस्म, घट, पटादि समस्त अचेतन पदार्थ चेतन हो जायँगे, क्योंकि जब ये पदार्थ जाने जाते हैं, तब इन धूलि वगैरः पदार्थोंसे भी ज्ञानका संयोग होता है। इस कारण इस दोषके मेंटनेके लिये आत्मा और ज्ञान एक ही मानना चाहिये। और जैसे आरसीमें घटपटादि पदार्थ प्रतिबिम्बरूपसे रहते हैं, उसी प्रकार ज्ञानमें सब ज्ञेयपदार्थ आ रहते हैं। इससे यह सारांश निकला, कि आत्मा और ज्ञान अभिन्न हैं, अन्यवादियोंकी तरह भिन्न नहीं हैं ॥ ३५ ॥ आगे "**ज्ञान क्या है, और ज्ञेय क्या है,**"

तम्हा णाणं जीवो णेयं दव्वं तिहा समक्खादं ।
दव्वं ति पुणो आदा परं च परिणामसंबद्धं ॥ ३६ ॥
तस्मात् ज्ञानं जीवो ज्ञेयं द्रव्यं त्रिधा समाख्यातम् ।
द्रव्यमिति पुनरात्मा परश्च परिणामसंबद्धः ॥ ३६ ॥

यतः परिच्छेदरूपेण स्वयं विपरिणम्य स्वतन्त्र एव परिच्छिनत्ति ततो जीव एव ज्ञानमन्यद्रव्याणां तथा परिणन्तुं परिच्छेत्तुं चाशक्तेः । ज्ञेयं तु वृत्तवर्तमानवर्तिष्यमाणविचित्रपर्यायपरंपराप्रकारेण त्रिधाकालकोटिस्पर्शित्वादनाद्यनन्तं द्रव्यं, तत्तु ज्ञेयतामापद्यमानं द्वेधात्मपरविकल्पात् । इष्यते हि स्वपरपरिच्छेदकत्वाद्बोधस्य बोध्यस्यैवंविधं द्वैविध्यम् । ननु स्वात्मनि क्रियाविरोधात् कथं नामात्मपरिच्छेदकत्वम् । का हि नाम क्रिया कीदृशश्च विरोधः । क्रिया

ज्ञानं भवति शेषं तु ज्ञेयमित्यावेदयति—**तम्हा णाणं जीवो** । यस्मादात्मैवोपादानरूपेण ज्ञानं परिणमति तथैव पदार्थान् परिच्छिनत्ति, इति भणितं पूर्वसूत्रे । तस्मादात्मैव ज्ञानं **णेयं दव्वं** तस्य ज्ञानरूपस्यात्मनो ज्ञेयं भवति । किम् । द्रव्यम् । **तिहा समक्खादं** तच्च द्रव्यं कालत्रयपर्यायपरिणतिरूपेण द्रव्यगुणपर्यायरूपेण वा तथैवोत्पादव्ययध्रौव्यरूपेण च त्रिधा समाख्यातम् । **दव्वं ति पुणो आदा परं च** तच्च ज्ञेयभूतं द्रव्यमात्मा भवति । परं च । कस्मात् । यतो ज्ञानं स्वं जानाति परं चेति प्रदीपवत् । तच्च स्वपरद्रव्यं कथं-

इन दोनोंका भेद कहते हैं—[**तस्मात्**] इसी कारणसे [**जीवः**] आत्मा [**ज्ञानं**] ज्ञानस्वरूप है, और [**त्रिधा समाख्यातं**] अतीत, अनागत, वर्तमान पर्यायके भेदसे अथवा उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य भेदसे अथवा द्रव्य, गुण, पर्यायसे तीन प्रकार कहलानेवाला [**द्रव्यं**] द्रव्य है, [**ज्ञेयं**] वह ज्ञेय है । [**पुनः**] फिर [**आत्मा**] जीव पदार्थ [**च**] और [**परं**] अन्य अचेतन पाँच पदार्थ [**परिणामसंबद्धं**] परिणमनसे बँधे हैं, इसलिये [**द्रव्यमिति**] द्रव्य ऐसे पदको धारण करते है । **भावार्थ**—पहलेकी गाथामें कहा है, कि यह आत्मा ज्ञानभावसे आप ही परिणमन करके परकी सहायता विना स्वाधीन जानता है, इसलिये आत्मा ही ज्ञान है । अन्य (दूसरा) द्रव्य ज्ञान भावपरिणमनके जाननेमें असमर्थ है । इसलिये अतीतादि भेदसे, उत्पादादिकसे, द्रव्यगुणपर्यायके भेदसे, तीन प्रकार हुआ द्रव्य ज्ञेय है, अर्थात् आत्माके जानने योग्य है । और आत्मा दीपककी तरह आप तथा पर दोनोंका प्रकाशक (ज्ञायक) होनेसे ज्ञेय भी है, ज्ञान भी है, अर्थात् दोनों स्वरूप है । इससे यह सारांश निकला, कि ज्ञेय पदार्थ स्वज्ञेय और परज्ञेय (दूसरेसे जानने योग्य) के भेदसे दो प्रकार है, उनमें परद्रव्य ज्ञेय ही हैं, इस कारण परज्ञेय हैं, और आत्मद्रव्य ज्ञेय-ज्ञान दोनों रूप है, इस कारण स्वज्ञेय है । यहाँपर कोई प्रश्न करे, कि आत्मा अपनेको जानता है, यह बात असंभव है । जैसे कि नटकलामें अत्यंत चतुर भी नट आप अपने ही कंधेपर नहीं चढ़ सकता, उसी प्रकार अन्य पदार्थोंके जाननेमें दक्ष आत्मा आपको नहीं जान सकता, तो इसका समाधान यह है—कि पहले कहे हुए दीपकके दृष्टांतसे आत्मामें भी स्वपरप्रकाशक शक्ति है, इस कारण आत्मा अपनेको तथा परको जाननेवाला अवश्य हो सकता है ।

स्तत्र विरोधिनी समुत्पत्तिरूपा वा ज्ञप्तिरूपा वा । उत्पत्तिरूपा हि तावन्नैकं स्वस्मात्प्रजायत इत्यागमाद्विरुद्धैव । ज्ञप्तिरूपायास्तु प्रकाशनक्रिययैव प्रत्यवस्थितत्वान्न तत्र विप्रतिषेधस्यावतारः । यथा हि प्रकाशकस्य प्रदीपस्य परं प्रकाश्यतामापन्नं प्रकाशयतः स्वस्मिन् प्रकाश्ये न प्रकाशान्तरं मृग्यं, स्वयमेव प्रकाशनक्रियायाः समुपलम्भात् । तथा परिच्छेदकस्यात्मनः परं परिच्छेद्यतामापन्नं परिच्छिन्दतः स्वस्मिन् परिच्छेद्ये न परिच्छेदकान्तरं मृग्यं, स्वयमेव परिच्छेदनक्रियायाः समुपलम्भात् । ननु कुत आत्मनो द्रव्यज्ञानरूपत्वं द्रव्याणां च आत्मज्ञेयरूपत्वं च । परिणामसंबन्धत्वात् । यतः खलु आत्मद्रव्याणि च परिणामैः सह संबध्यन्ते, तत आत्मनो द्रव्यालम्बनज्ञानेन द्रव्याणां तु ज्ञानमालम्ब्य ज्ञेयाकारेण परिणतिरबाधिता प्रपद्यते [प्रतपति] ॥ ३६ ॥

अथातिवाहितानागतानामपि द्रव्यपर्यायाणां तादात्विकवत् पृथक्त्वेन ज्ञाने वृत्तिमुद्द्योतयति—

तक्कालिगेव सव्वे सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं ।
वट्टंते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीणं ॥ ३७ ॥
तात्कालिका इव सर्वे सदसद्भूता हि पर्यायास्तासाम् ।
वर्तन्ते ते ज्ञाने विशेषतो द्रव्यजातीनाम् ॥ ३७ ॥

सर्वासामेव हि द्रव्यजातीनां त्रिसमयावच्छिन्नात्मलाभभूमिकत्वेन क्रमप्रतपत्स्वरूपसंपदः

भूतम् । **परिणामसंबद्धं** कथंचित्परिणामीत्यर्थः । नैयायिकमतानुसारी कश्चिदाह—ज्ञानं ज्ञानान्तरवेद्यं प्रमेयत्वात् घटादिवत् । परिहारमाह—प्रदीपेन व्यभिचारः, प्रदीपस्तावत्प्रमेयः परिच्छेद्यो ज्ञेयो भवति न च प्रदीपान्तरेण प्रकाश्यते, तथा ज्ञानमपि स्वयमेवात्मानं प्रकाशयति न च ज्ञानान्तरेण प्रकाश्यते । यदि पुनर्ज्ञानान्तरेण प्रकाश्यते तर्हि गगनावलम्बिनी महती दुर्निवारानवस्था प्राप्नोतीति सूत्रार्थः ॥ ३६ ॥ एवं निश्चयश्रुतकेवलिव्यवहारश्रुतकेवलिकथनमुख्यत्वेन भिन्नज्ञाननिराकरणेन ज्ञानज्ञेयस्वरूपकथनेन च चतुर्थस्थले गाथाचतुष्टयं गतम् । अथातीतानागतपर्याया वर्तमानज्ञाने सांप्रता इव दृश्यन्त इति निरूपयति—**सव्वे**

इससे असभव दोष कभी भी नहीं लग सकता । अब यहाँपर फिर कोई प्रश्न करे, कि आत्माको द्रव्योंका ज्ञान किससे है ? और द्रव्योंको किस रीतिसे प्राप्त होता है ? तो उससे कहना चाहिये, कि ज्ञान, ज्ञेयरूप पदार्थ, परिणामोंसे बँध रहे हैं । आत्माके ज्ञानपरिणति ज्ञेय पदार्थकी सहायतासे है । यदि ज्ञेय न होवे, तो भस्म, ो जाने ? और ज्ञेय पदार्थ ज्ञानका अवलम्बन करके ज्ञेय अवस्थाको धारण करते हैं । जो ज्ञान न होवे, लि इन्हें कौन जाने ? इसलिये पदार्थोंका ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध हमेशासे है, मिट नहीं सकता ॥ ३६ ॥ अ एक हते हैं, कि अतीत कालमें हुए द्रव्योंके पर्याय और अनागत (भविष्यत्) कालमें होनेवाले पर्याय, ज्ञें स वर्तमान सरीखे प्रतिभासते (मालूम पड़ते) है—**[तासां द्रव्यजातीनां]** उन प्रसिद्ध जीवादिक द्रव्योंकी जातियोंके **[ते सर्वे]** वे समस्त **[सदसद्भूताः]** विद्यमान तथा अविद्यमान **[पर्यायाः]** पय । **[हि]** निश्चयसे **[ज्ञाने]** ज्ञानमें **[विशेषतः]** भिन्न भिन्न भेद लिये

सद्भूतासद्भूततामायान्तो ये यावन्तः पर्यायास्ते तावन्तस्तात्कालिका इवात्यन्तसंकरेणाप्यवधारितविशेषलक्षणा एकक्षण एवावबोधसौधस्थितिमवतरन्ति। न खल्वेतदयुक्तम्, दृष्टाविरोधात्। दृश्यते हि छद्मस्थस्यापि वर्तमानमिव व्यतीतमनागतं वा वस्तु चिन्तयतः संविदालम्बितस्तदाकारः। किंच चित्रपटीस्थानीयत्वात् संविदः। यथा हि चित्रपट्यामतिवाहितानामनुपस्थितानां वर्तमानानां च वस्तूनामालेख्याकाराः साक्षादेकक्षण एवावभासन्ते, तथा संविद्भित्तावपि। किंच सर्वज्ञेयाकाराणां तादात्विकाविरोधात्। यथा हि प्रध्वस्तानामनुदितानामालेख्याकारा वर्तमाना एव, तथातीतानामनागतानां च पर्यायाणां ज्ञेयाकारा वर्तमाना एव भवन्ति॥ ३७॥

अथासद्भूतपर्यायाणां कथंचित्सद्भूतत्वं विदधाति—

सदसब्भूदा हि पज्जया सर्वे सद्भूता असद्भूता अपि पर्यायाः ये हि स्फुटं **वट्टंते** ते पूर्वोक्ताः पर्याया वर्तन्ते प्रतिभासन्ते प्रतिस्फुरन्ति। क। **णाणे** केवलज्ञाने। कथंभूता इव। **तक्कालिगेव** तात्कालिका इव वर्तमाना इव। कासां सबन्धिनः। **तासिं दव्वजादीणं** तासां प्रसिद्धानां शुद्धजीवद्रव्यजातीनामिति। व्यवहितसंबन्धः कस्मात्। **विसेसदो** स्वकीयस्वकीयप्रदेशकालाकारविशेषैः संकरव्यतिकरपरिहारेणेत्यर्थः। किंच—यथा छद्मस्थपुरुषस्यातीतानागतपर्याया मनसि चिन्तयतः प्रतिस्फुरन्ति, यथा च चित्रभित्तौ बाहुबलिभरतादिव्यतिक्रान्तरूपाणि श्रेणिकतीर्थकरादिभाविरूपाणि च वर्तमानानीव प्रत्यक्षेण दृश्यन्ते तथा चित्रभित्तिस्थानीयकेवलज्ञाने भूतभाविनश्च पर्याया युगपत्प्रत्यक्षेण दृश्यन्ते, नास्ति विरोधः। यथायं केवली भगवान् परद्रव्यपर्यायान् परिच्छित्तिमात्रेण जानाति न च तन्मयत्वेन, निश्चयेन तु केवलज्ञानादिगुणाधारभूतं स्वकीयसिद्धपर्यायमेव स्वसंवित्त्याकारेण तन्मयो भूत्वा परिच्छिनत्ति जानाति, तथासन्नभव्यजीवेनापि निजशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनिश्चयरत्नत्रयपर्याय एव सर्वतात्पर्येण ज्ञातव्य इति तात्पर्यम् ॥ ३७॥ अथातीतानागतपर्यायाणामसद्भूतसंज्ञा भवतीति प्रतिपादयति— **जे णेव हि संजाया जे**

[तात्कालिका इव] वर्तमानकाल संबंधी पर्यायोंकी तरह **[वर्तन्ते]** प्रवर्तते हैं। **भावार्थ—**जैसे किसी चित्रकारने (चितेरेने) चित्रपटमें बाहुबली-भरतादि अतीतपुरुषोंका चित्र बनाया, और भावीकाल सम्बन्धी श्रेणिकादि तीर्थंकरका चित्र बनाया, सो वे चित्र उस चित्रपटमें वर्तमानकालमें देखे जाते हैं। उसी प्रकार ज्ञान चित्रपटमें जो पर्याय होचुके, तथा जो आगे होनेवाले हैं, उनका वर्तमान प्रतिबिम्ब भासता है। यहाँपर कोई प्रश्न करे, कि "वर्तमानकालके ज्ञेयोंके आकार ज्ञानमें प्रतिबिम्बित हो सकते हैं, परंतु जो हो चुके हैं, तथा जो होनेवाले हैं, उनका प्रतिभास होना असंभव माॡम होता है।" उसका समाधान यह है—कि जब छद्मस्थ ज्ञानी (अल्पज्ञानी) तपस्वी भी योगबलसे वा तपस्याके प्रभावसे ज्ञानमें कुछ निर्मलता होनेसे अतीत अनागत वस्तुका विचार करलेते है, तब उनका ज्ञान अतीत अनागत वस्तुके आकार होजाता है, वहाँपर वस्तु वर्तमान नहीं है। तैसे निरावरणज्ञानमें (जिसमें किसी तरहका आच्छादन न हो, बिलकुल निर्मल हो ऐसे ज्ञानमें) अतीत अनागत वस्तु प्रतिभासे, तो असंभव नहीं है। ज्ञानका स्वभाव ही ऐसा है। स्वभावमें तर्क नहीं चल सकता॥ ३७॥ आगे जो पर्याय वर्तमान-पर्याय

जे णेव हि संजाया जे खलु णट्ठा भवीय पज्जाया।
ते होंति असब्भूदा पज्जाया णाणपच्चक्खा ॥ ३८ ॥
ये नैव हि संजाता ये खलु नष्टा भूत्वा पर्यायाः।
ते भवन्ति असद्भूताः पर्याया ज्ञानप्रत्यक्षाः ॥ ३८ ॥

ये खलु नाद्यापि संभूतिमनुभवन्ति, ये चात्मलाभमनुभूय विलयमुपगतास्ते किलासद्भूता अपि परिच्छेदं प्रति नियतत्वात् ज्ञानप्रत्यक्षतामनुभवन्तः शिलास्तम्भोत्कीर्णभूतभाविदेववदप्रकम्पार्पितस्वरूपाः सद्भूता एव भवन्ति ॥ ३८ ॥

अथैतदेवासद्भूतानां ज्ञानप्रत्यक्षत्वं दृढयति—

जदि पच्चक्खमजायं पज्जायं पलइयं च णाणस्स।
ण हवदि वा तं णाणं दिव्वं ति हि के परूवेंति ॥ ३९ ॥

खलु णट्ठा भवीय पज्जाया ये नैव संजाता नाद्यापि भवन्ति, भाविन इत्यर्थः। हि स्फुटं ये च खलु नष्टा विनष्टाः पर्यायाः। किं कृत्वा। भूत्वा **ते होंति असब्भूदा पज्जाया** ते पूर्वोक्ता भूता भाविनश्च पर्याया अविद्यमानत्वादसद्भूता भण्यन्ते। **णाणपच्चक्खा** ते चाविद्यमानत्वादसद्भूता अपि वर्तमानज्ञानविषयत्वाद्व्यवहारेण भूतार्था भण्यन्ते, तथैव ज्ञानप्रत्यक्षाश्चेति। यथायं भगवान्निश्चयेन परमानन्दैकलक्षणसुखस्वभावं मोक्षपर्यायमेव तन्मयत्वेन परिच्छिनत्ति, परद्रव्यपर्यायं तु व्यवहारेणेति। तथा भावितात्मना पुरुषेण रागादिविकल्पोपाधिरहितस्वसंवेदनपर्याय एव तात्पर्येण ज्ञातव्यः, बहिर्द्रव्यपर्यायाश्च गौणवृत्त्येति भावार्थः ॥ ३८ ॥ अथासद्भूतपर्यायाणां वर्तमानज्ञानप्रत्यक्षत्वं दृढयति—**जइ पच्चक्खमजायं पज्जायं पलइयं च णाणस्स ण हवदि वा** यदि प्रत्यक्षो न भवति। स कः। अजातपर्यायो भाविपर्यायः। न केवलं भावि-

---

नहीं हैं, उनको किसी एक प्रकार वर्तमान दिखलाते हैं—[**हि**] निश्चय करके [**ये पर्यायाः**] जो पर्याय [**नैव संजाताः**] उत्पन्न ही नहीं हुए है, तथा [**ये**] जो [**खलु**] निश्चयसे [**भूत्वा**] उत्पन्न होकर [**नष्टाः**] नष्ट होगये हैं, [**ते**] वे सब अतीत अनागत [**पर्यायाः**] पर्याय [**असद्भूताः**] वर्तमानकालके गोचर नहीं [**भवन्ति**] होते हैं, तो भी [**ज्ञानप्रत्यक्षाः**] केवलज्ञानमें प्रत्यक्ष हैं। **भावार्थ**—जो उत्पन्न नहीं हुए, ऐसे अनागत अर्थात् भविष्यत्कालके और जो उत्पन्न होकर नष्ट होगये, ऐसे अतीतकालके पर्यायोंको असद्भूत कहते हैं, क्योंकि वे वर्तमान नहीं हैं। परंतु ज्ञानकी अपेक्षा ये ही दोनों पर्याय सद्भूत भी हैं, क्योंकि केवलज्ञानमें प्रतिबिम्बित है। और जैसे भूत-भविष्यतकालके चौबीस तीर्थंकरोंके आकार पाषाण (पत्थर) के स्तंभ (खंभा) में चित्रित रहते हैं, उसी प्रकार ज्ञानमें अतीत अनागत ज्ञेयोंके आकार प्रतिबिम्बित होकर वर्तमान होते हैं ॥ ३८ ॥ आगे असद्भूतपर्यायें ज्ञानमें प्रत्यक्ष हैं, इसीको पुष्ट करते हैं—[**यदि वा**] और जो [**ज्ञानस्य**] केवलज्ञानके [**अजातः पर्यायः**] अनागत पर्याय [**च**] तथा [**प्रलयितः**] अतीत पर्याय [**प्रत्यक्षः**] अनुभवगोचर [**न भवति**] नहीं होते, [**तदा**] तो [**तत् ज्ञानं**] उस ज्ञानको [**दिव्यं**] सबसे उत्कृष्ट

यदि प्रत्यक्षोऽजातः पर्यायः प्रलयितश्च ज्ञानस्य ।
न भवति वा तत् ज्ञानं दिव्यमिति हि के प्ररूपयन्ति ॥ ३९ ॥

यदि खल्वसंभावितभावं संभावितभावं च पर्यायजातमप्रतिघविजृम्भिताखण्डितप्रतापप्रभुशक्तितया प्रसभेनैव नितान्तमाक्रम्याक्रमसमर्पितस्वरूपसर्वस्वमात्मानं प्रतिनियतं ज्ञानं न करोति, तदा तस्य कुतस्तनी दिव्यता स्यात् । अतः काष्ठाप्राप्तस्य परिच्छेदस्य सर्वमेतदुपपन्नम् ॥ ३९ ॥

अथेन्द्रियज्ञानस्यैवं प्रलीनमनुत्पन्नं च ज्ञातुमशक्यमिति वितर्कयति —

अत्थं अक्खणिवदिदं ईहापुव्वेहिं जे विजाणंति ।
तेसिं परोक्खभूदं णादुमसक्कं ति पण्णत्तं ॥ ४० ॥

अर्थमक्षनिपतितमीहापूर्वैः ये विजानन्ति ।
तेषां परोक्षभूतं ज्ञातुमशक्यमिति प्रज्ञप्तम् ॥ ४० ॥

ये खलु विषयविषयिसंनिपातलक्षणमिन्द्रियार्थसंनिकर्षमधिगम्य क्रमोपजायमानेनेहादिकप्रक्रमेण परिच्छिन्दन्ति, ते किलातिवाहितस्वास्तित्वमनुपस्थितस्वास्तित्वकालं वा यथोदित-

---

पर्यायः प्रलयितश्च वा। कस्य । ज्ञानस्य। **तं णाणं दिव्वं ति हि के परूवेंति** तत् ज्ञानं दिव्यमिति के प्ररूपयन्ति, न केऽपीति । तथाहि—यदि वर्तमानपर्यायवदतीतानागतपर्यायं ज्ञानं कर्तृ क्रमकरणव्यवधानरहितत्वेन साक्षात्प्रत्यक्षं न करोति, तर्हि तत् ज्ञानं दिव्यं न भवति । वस्तुतस्तु ज्ञानमेव न भवतीति । यथायं केवली परकीयद्रव्यपर्यायान् यद्यपि परिच्छित्तिमात्रेण जानाति तथापि निश्चयनयेन सहजानन्दैकस्वभावे स्वशुद्धात्मनि तन्मयत्वेन परिच्छित्तिं करोति, तथा निर्मलविवेकिजनोऽपि यद्यपि व्यवहारेण परकीयद्रव्यगुणपर्यायपरिज्ञानं करोति, तथापि निश्चयेन निर्विकारस्वसंवेदनपर्याये विषयत्वात्पर्यायेण परिज्ञानं करोतीति सूत्रतात्पर्यम् ॥ ३९ ॥ अथातीतानागतसूक्ष्मादिपदार्थानिन्द्रियज्ञानं न जानातीति विचारयति— **अत्थं** पदार्थं **अक्खणिवदिदं** इन्द्रियगोचरं **ईहापुव्वेहिं जे विजाणंति** ईहापूर्वकं ये विजानन्ति । **तेसिं परोक्खभूदं** तेषां संबन्धि ज्ञानं परोक्षभूतं सन् **णादुमसक्कं ति पण्णत्तं** सूक्ष्मादिपदार्थान् ज्ञातुमशक्यमिति

अर्थात् स्तुति करने योग्य [**हि**] निश्चय करके [**के प्ररूपयन्ति**] कौन कहता है? कोई भी नहीं। **भावार्थ—**जो ज्ञान भूत भविष्यत् पर्यायोंको नहीं जाने, तो फिर उस ज्ञानकी महिमा ही क्या रहे? कुछ भी नहीं। ज्ञानकी प्रशंसा तो यही है, कि वह सबको प्रत्यक्ष जानता है । इसलिये भगवान्‌के दिव्यज्ञानमें तीनों कालकी समस्त द्रव्यपर्याय एक ही बार प्रत्यक्ष प्रतिभासित होती है, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है । अनंत महिमा सहित सर्वज्ञका ज्ञान ऐसा ही आश्चर्य करनेवाला है ॥ ३९ ॥ आगे इंद्रियजनित ज्ञान अतीत अनागत पर्यायोंके जाननेमें असमर्थ है, ऐसा कहते हैं—[**ये**] जो जीव [**अक्षनिपतितं**] इन्द्रिय गोचर हुए [**अर्थं**] घट पटादि पदार्थोंको [**ईहापूर्वैः**] ईहा है पूर्वमें जिनके ऐसे ईहा, अवाय, धारणा इन मतिज्ञानोंसे [**विजानन्ति**] जानते हैं, [**तेषां**] उन जीवोंके [**परोक्षभूतं**] अतीत अनागतकाल संबंधी परोक्ष वस्तु [**ज्ञातुम्**] जाननेको [**अशक्यं**] असमर्थपना है, [**इति**]

लक्षणस्य ग्राह्यग्राहकसंबन्धस्यासंभवतः परिच्छेत्तुं न शक्नुवन्ति ॥ ४० ॥

अथातीन्द्रियज्ञानस्य तु यद्यदुच्यते तत्तत्संभवतीति संभावयति—

अपदेसं सपदेसं मुत्तममुत्तं च पज्जयमजादं ।
पलयं गयं च जाणदि तं णाणमदिंदियं भणियं ॥ ४१ ॥

अप्रदेशं सप्रदेशं मूर्तममूर्तं च पर्ययमजातम् ।
प्रलयं गतं च जानाति तज्ज्ञानमतीन्द्रियं भणितम् ॥ ४१ ॥

इन्द्रियज्ञानं नाम उपदेशान्तःकरणेन्द्रियादीनि विरूपकारणत्वेनोपलब्धिसंस्कारादीन् अन्तरङ्गस्वरूपकारणत्वेनोपादाय प्रवर्तते । प्रवर्तमानं च सप्रदेशमेवाध्यवस्यति स्थूलोपलम्भकत्वान्नाप्रदेशम् । मूर्तमेवावगच्छति तथाविधविषयनिबन्धनसद्भावान्नामूर्तम् । वर्तमानमेव परि-

प्रज्ञप्तं कथितम् । कैः । ज्ञानिभिरिति । तद्यथा—चक्षुरादीन्द्रियं घटपटादिपदार्थपार्श्वे गत्वा पश्चादर्थं जानातीति संनिकर्षलक्षणं नैयायिकमते । अथवा संक्षेपेणेन्द्रियार्थयोः संबन्धः संनिकर्षः स एव प्रमाणम् । स च संनिकर्ष आकाशाद्यमूर्तपदार्थेषु देशान्तरितमेर्वादिपदार्थेषु कालान्तरितरामरावणादिषु स्वभावान्तरितभूतादिषु तथैवातिसूक्ष्मेषु परचेतोवृत्तिपुद्गलपरमाण्वादिषु च न प्रवर्तते । कस्मादिति चेत्, इन्द्रियाणां स्थूलविषयत्वात्, तथैव मूर्तविषयत्वाच्च । ततः कारणादिन्द्रियज्ञानेन सर्वज्ञो न भवति । तत एव चातीन्द्रियज्ञानोत्पत्तिकारणं रागादिविकल्परहितं स्वसंवेदनज्ञानं विहाय पञ्चेन्द्रियसुखसाधनीभूय इन्द्रियज्ञाने नानामनोरथविकल्पजालरूपे मानसज्ञाने च ये रतिं कुर्वन्ति ते सर्वज्ञपदं न लभन्ते इति सूत्राभिप्रायः ॥ ४० ॥ अथातीन्द्रियज्ञानमतीतानागतसूक्ष्मादिपदार्थान् जानातीत्युपदिशति—**अपदेसं** अप्रदेशं कालाणुपरमाण्वादि **सपदेसं** शुद्धजीवास्तिकायादिपञ्चास्तिकायस्वरूपं **मुत्तं** मूर्तं पुद्गलद्रव्यं **अमुत्तं च** अमूर्तं च शुद्धजीवद्रव्यादि **पज्जयमजादं पलयं गयं च** पर्यायमजातं भाविनं प्रलयं गतं चातीतमेतत्सर्वं पूर्वोक्तं ज्ञेयं वस्तु **जाणदि**

इस प्रकार **[प्रज्ञप्तं]** सर्वज्ञदेवने कहा है । **भावार्थ**—जितने मतिज्ञानी जीव है, उन सबके पहले तो इंद्रिय और पदार्थका संबंध होता है, पीछे अवग्रह ईहादि भेदोंसे पदार्थका निश्चय होता है । इसलिये अतीत अनागतकाल संबंधी वस्तुएं उनके ज्ञानमें नहीं झलकतीं, क्योंकि उन वस्तुओंसे इंद्रियका संयोग नहीं होता । इनके सिवाय वर्त्तमानकाल संबंधी भी जो सूक्ष्म परमाणु आदि हैं, तथा स्वर्ग मेरु आदि दूरवर्ती और अनेक अमूर्तीक पदार्थ हैं, उनको इन्द्रिय संयोग न होनेके कारण मतिज्ञानी नहीं जान सकता । इन्द्रियज्ञानसे स्थूल घटपटादि पदार्थ जाने जाते हैं, इसलिये इन्द्रियज्ञान परोक्ष है—हीन है—हेय है । केवलज्ञानकी तरह सर्वप्रत्यक्ष नहीं है ॥ ४० ॥ आगे अतीन्द्रियज्ञान सबको जानता है, ऐसा कहते हैं—**[यत्]** जो ज्ञान **[अप्रदेशं]** प्रदेश रहित कालाणु तथा परमाणुओंको, **[सप्रदेशं]** प्रदेश सहितको अर्थात् पंचास्तिकायोंको **[मूर्तं]** पुद्गलोंको **[च]** और **[अमूर्तं]** शुद्ध जीवादिक द्रव्योंको **[अजातं पर्यायं]** अनोगत पर्यायोंको **[च]** और **[प्रलयं गतं]** अतीत पर्यायोंको **[जानाति]** जानता है **[तत् ज्ञानं]** उस ज्ञानको **[अतीन्द्रियं]** अतीन्द्रिय **[भणितं]** कहा है ॥ **भावार्थ**—

च्छिनत्ति विषयविषयिसंनिपातसद्भावात्र तु तृचं वस्त्येव । यत्तु पुनरनावरणमनिन्द्रियं ज्ञानं तस्य समिद्धधूमध्वजस्येवानेकप्रकारतालिङ्गितं दाह्यं दाह्यतानतिक्रमाद्दाह्यमेव यथा तथात्मनः अप्रदेशं सप्रदेशं मूर्तममूर्तमजातमतिवाहितं च पर्यायजातं ज्ञेयतानतिक्रमात्परिच्छेद्यमेव भवतीति ॥ ४१ ॥

अथ ज्ञेयार्थपरिणमनलक्षणा क्रिया ज्ञानान्न भवतीति श्रद्दधाति—

परिणमदि णेयमट्ठं णादा जदि णेव खाइगं तस्स ।
णाणं त्ति तं जिणिंदा खवयंतं कम्ममेवुत्ता ॥ ४२ ॥

परिणमति ज्ञेयमर्थं ज्ञाता यदि नैव क्षायिकं तस्य ।
ज्ञानमिति तं जिनेन्द्राः क्षपयन्तं कर्मैवोक्तवन्तः ॥ ४२ ॥

परिच्छेत्ता हि यत्परिच्छेद्यमर्थं परिणमति तन्न तस्य सकलकर्मकक्षक्षयप्रवृत्तस्वाभाविक-

---

जानाति यत् ज्ञानं कर्तृ **तं णाणमदिंदियं भणियं** तत् ज्ञानमतीन्द्रियं भणितं तेनैव सर्वज्ञो भवति । तत एव च पूर्वगाथोदितमिन्द्रियज्ञानं मानसज्ञानं च त्यक्त्वा ये निर्विकल्पसमाधिरूपस्वसंवेदनज्ञाने समस्तविभाव-परिणामत्यागेन रतिं कुर्वन्ति त एव परमाह्लादैकलक्षणसुखस्वभावं सर्वज्ञपदं लभन्ते इत्यभिप्रायः ॥४१॥ एवमतीतानागतपर्याया वर्तमानज्ञाने प्रत्यक्षा न भवन्तीति बौद्धमतनिराकरणमुख्यत्वेन गाथात्रयं, तदनन्तर-मिन्द्रियज्ञानेन सर्वज्ञो न भवत्यतीन्द्रियज्ञानेन भवतीति नैयायिकमतानुसारिशिष्यसंबोधनार्थं च गाथाद्वय-मिति समुदायेन पञ्चमस्थले गाथापञ्चकं गतम् ॥ अथ रागद्वेषमोहाः बन्धकारणं, न च ज्ञानमित्यादि-कथनरूपेण गाथापञ्चकपर्यन्तं व्याख्यानं करोति । तद्यथा—यस्येष्टानिष्टविकल्परूपेण कर्मबन्धकारणभूतेन ज्ञेयविषये परिणमनमस्ति तस्य क्षायिकज्ञानं नास्तीत्यावेदयति— **परिणमदि णेयमट्ठं णादा जदि** नील-मिदं पीतमिदमित्यादिविकल्परूपेण यदि ज्ञेयार्थं परिणमति ज्ञातात्मा **णेव खाइगं तस्स णाणं त्ति** तस्या-

---

अतीन्द्रियज्ञान सबको जानता है, इसलिये अतीन्द्रियज्ञानीको ही सर्वज्ञ पद है । जो इन्द्रियज्ञानसे सर्वज्ञ मानते हैं, वे प्रत्यक्ष मिथ्या बोलते हैं । क्योंकि जो पदार्थ वर्तमान होवे, मूर्तीक स्थूल प्रदेश सहित होवे, तथा निकट होवे, उसीको इन्द्रियज्ञान क्रमसे कुछेक जानसकता है । अप्रदेशी, अमूर्तीक तथा अतीत अनागतकाल संबंधी जो पदार्थ हैं, उनको नहीं जान सकता । ऐसे ज्ञानसे सर्वज्ञ पदवी कहाँसे मिल सकती है ? कहींसे भी नहीं ॥ ४१ ॥ आगे अतीन्द्रियज्ञानमें इष्ट अनिष्ट पदार्थोंमें सविकल्परूप परिण-मन क्रिया नहीं है, ऐसा दिखलाते हैं—[**यदि**] जो [**ज्ञाता**] जाननेवाला आत्मा [**ज्ञेयमर्थं**] ज्ञेयपदार्थको [**परिणमति**] संकल्प विकल्परूप होकर परिणमन करता है, [**तदा**] तो [**तस्य**] उस आत्माके [**क्षायिकं ज्ञानं**] कर्मके क्षयसे उत्पन्न हुआ अतीन्द्रियज्ञान [**नैव**] निश्चयसे नहीं है, [**इति 'हेतोः'**] इसलिये [**जिनेन्द्राः**] सर्वज्ञदेव [**तं**] उसविकल्पी जीवको [**कर्म क्षपयन्तं**] कर्मका अनुभव करनेवाला [**एव**] ही [**उक्तवन्तः**] कहते हैं । **भावार्थ**—जबतक आत्मा सविक-ल्परूप पदार्थोंको जानता है, तबतक उसके क्षायकज्ञान नहीं होता, क्योंकि जो जीव सविकल्पी है, वह प्रत्येक पदार्थमें रागी हुआ मृगतृष्णा-उग्र गर्मीमें तपी हुई बालूमें जलकी सी बुद्धि रखता हुआ, कर्मोंको

परिच्छेदनिदानमथवा ज्ञानमेव नास्ति तस्य। यतः प्रत्यर्थपरिणतिद्वारेण मृगतृष्णाम्भोभारसंभावनाकरणमानसः सुदुःसहं कर्मभारमेवोपभुञ्जानः स जिनेन्द्रैरुद्गीतः ॥ ४२ ॥

अथ कुतस्तर्हि ज्ञेयार्थपरिणमनलक्षणा क्रिया तत्फलं च भवतीति विवेचयति—

उदयगदा कम्मंसा जिणवरवसहेहिं णियदिणा भणिया।
तेसु विमूढो रत्तो दुट्ठो वा बंधमणुभवदि ॥ ४३ ॥

उदयगताः कर्मांशाः जिनवरवृषभैः नियत्या भणिताः।
तेषु विमूढो रक्तो दुष्टो वा बन्धमनुभवति ॥ ४३ ॥

संसारिणो हि नियमेन तावदुदयगताः पुद्गलकर्मांशाः सन्त्येव। अथ स सत्सु तेषु संचेतयमानो मोहरागद्वेषपरिणतत्वात् ज्ञेयार्थपरिणमनलक्षणया क्रियया युज्यते। तत एव च क्रिया-

---

त्मनः क्षायिकज्ञानं नैवास्ति। अथवा ज्ञानमेव नास्ति। कस्मान्नास्ति। **तं जिणिंदा खवयंतं कम्ममेवुत्ता** तं पुरुषं कर्मतापन्नं जिनेन्द्राः कर्तारः उक्तवन्तः। किं कुर्वन्तम्। क्षपयन्तमनुभवन्तम्। किमेव। कर्मैव। निर्विकारसहजानन्दैकसुखस्वभावानुभवनशून्यः सन्नुदयागतं स्वकीयकर्मैव स अनुभवन्नास्ते न च ज्ञानमित्यर्थः। अथवा द्वितीयव्याख्यानम्—यदि ज्ञाता प्रत्यर्थं परिणम्य पश्चादर्थं जानाति तदा अर्थानामानन्त्यात्सर्वपदार्थपरिज्ञानं नास्ति। अथवा तृतीयव्याख्यानम्—बहिरङ्गज्ञेयपदार्थान् यदा छद्मस्थावस्थायां चिन्तयति तदा रागादिविकल्परहितं स्वसंवेदनज्ञानं नास्ति, तदभावे क्षायिकज्ञानमेव नोत्पद्यते इत्यभिप्रायः ॥ ४२ ॥ अथानन्तपदार्थपरिच्छित्तिपरिणमनेऽपि ज्ञानं बन्धकारणं न भवति, न च रागादिरहितकर्मोदयोऽपीति निश्चिनोति—**उदयगदा कम्मंसा जिणवरवसहेहिं णियदिणा भणिया** उदयगता उदयं प्राप्ताः कर्मांशा ज्ञानावरणादिमूलोत्तरकर्मप्रकृतिभेदाः जिनवरवृषभैर्नियत्या स्वभावेन भणिताः, किंतु स्वकीयशुभाशुभफलं दत्त्वा गच्छन्ति, न च रागादिपरिणामरहिताः सन्तो बन्धं कुर्वन्ति। तर्हि कथं बन्धं करोति जीवः इति चेत्। **तेसु विमूढो रत्तो दुट्ठो वा बन्धमणुभवदि** तेषु उदयागतेषु सत्सु

भोगता है। इसी लिये उसके निर्मल ज्ञानका लाभ नहीं है। परन्तु क्षायिकज्ञानीके भावरूप इन्द्रियोंके अभावसे पदार्थोंमें सविकल्परूप परिणति नहीं होती है, क्योंकि निरावरण अतीन्द्रियज्ञानसे अनंत सुख अपने साक्षात् अनुभव गोचर है। परोक्षज्ञानीके इन्द्रियोंके आधीन सविकल्परूप परिणति है, इसलिये वह कर्मसंयोगसे प्राप्त हुए पदार्थोंको भोगता है ॥ ४२ ॥ आगे कहते हैं, कि ज्ञान बंधका कारण नहीं है, ज्ञेयपदार्थोंमें जो राग द्वेषरूप परिणति है, वही बंधका कारण है—[**जिनवरवृषभैः**] गणधरादिकोंमें श्रेष्ठ अथवा बड़े ऐसे वीतरागदेवने [**उदयगताः कर्मांशाः**] उदय अवस्थाको प्राप्त हुए कर्मोंके अंश अर्थात् ज्ञानावरणादि भेद [**नियत्या**] निश्चयसे [**भणिताः**] कहे हैं। [**तेषु**] उन उदयागत कर्मोंमें [**हि**] निश्चयकरके [**मूढः**] मोही, [**रक्तः**] रागी [**वा**] अथवा [**दुष्टः**] द्वेषी [**बन्धं**] प्रकृति, स्थिति आदि चार प्रकारके बन्धको [**अनुभवति**] अनुभव करता है, अर्थात् भोगता है। **भावार्थ—**संसारी सब जीवोंके कर्मका उदय है, परंतु वह उदय बंधका कारण नहीं है। यदि कर्म-

फलभूतं बन्धमनुभवति । अतो मोहोदयात् क्रियाक्रियाफले न तु ज्ञानात् ॥ ४३ ॥

अथ केवलिनां क्रियापि क्रियाफलं न साधयतीत्यनुशास्ति—

ठाणणिसेज्जविहारा धम्मुवदेसो य णियदयो तेसिं ।
अरहंताणं काले मायाचारो व्व इत्थीणं ॥ ४४ ॥

स्थाननिषद्याविहारा धर्मोपदेशश्च नियतयस्तेषाम् ।
अर्हतां काले मायाचार इव स्त्रीणाम् ॥ ४४ ॥

यथा हि महिलानां प्रयत्नमन्तरेणापि तथाविधयोग्यतासद्भावात् स्वभावभूत एव मायोपगुण्ठनागुण्ठितो व्यवहारः प्रवर्तते, तथा हि केवलिनां प्रयत्नमन्तरेणापि तथाविधयोग्यतासद्भावात् स्थानमासनं विहरणं धर्मदेशना च स्वभावभूता एव प्रवर्तन्ते । अपि चाविरुद्धमेतदम्भोधरदृष्टान्तात् । यथा खल्वम्भोधराकारपरिणतानां पुद्गलानां गमनमवस्थानं गर्जनमम्बुवर्षं च पुरुषप्रयत्नमन्तरेणापि दृश्यन्ते, तथा केवलिनां स्थानादयोऽबुद्धिपूर्वका एव दृश्यन्ते । अतोऽमी

कर्मांशेषु मोहरागद्वेषविलक्षणनिजशुद्धात्मतत्त्वभावनारहितः सन् यो विशेषेण मूढो रक्तो दुष्टो वा भवति स केवलज्ञानाद्यनन्तगुणव्यक्तिलक्षणमोक्षाद्विलक्षणं प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदभिन्नं बन्धमनुभवति । ततः स्थितमेतत् ज्ञानं बन्धकारणं न भवति कर्मोदयेऽपि, किंतु रागादयो बन्धकारणमिति ॥ ४३ ॥ अथ केवलिनां रागाद्यभावाद्धर्मोपदेशादयोऽपि बन्धकारणं न भवन्तीति कथयति— **ठाणणिसेज्जविहारा धम्मुवदेसो य** स्थानमूर्ध्वस्थितिर्निषद्या चासनं विहारो धर्मोपदेशश्च **णियदयो** एते व्यापारा नियतयः स्वभावा अनीहिताः । केषाम् । **तेसिं अरहंताणं** तेषामर्हतां निर्दोषिपरमात्मनाम् । क । **काले** अर्हदवस्थायाम् । क इव । **मायाचारो व्व इत्थीणं** मायाचार इव स्त्रीणामिति । तथाहि—यथा स्त्रीणां स्त्रीवेदोदय-

---

जनित इष्ट अनिष्ट भावोंमें जीव रागी द्वेषी मोही होकर परिणमता है, तभी बंध होता है । इससे यह बात सिद्ध हुई, कि ज्ञान तथा कर्मके उदयसे उत्पन्न क्रियायें बंधका कारण नहीं है, बंधके कारण केवल राग द्वेष मोहभाव हैं, इस कारण ये सब तरहसे त्यागने योग्य है ॥ ४३ ॥ आगे केवलीके कर्मका उदय है, और वचनादि योग क्रिया भी है, परन्तु उनके रागादि भावोंके अभावसे बंध नहीं होता है— [**तेषामर्हतां**] उन अरहंतदेवोंके [**काले**] कर्मोंके उदयकालमें [**स्थाननिषद्याविहाराः**] स्थान, आसन, और विहार ये तीन काययोगकी क्रियायें [**च**] और [**धर्मोपदेशः**] दिव्यध्वनिसे निश्चय व्यवहार स्वरूप धर्मका उपदेश यह वचनयोगकी क्रिया [**स्त्रीणां**] स्त्रियोंके स्वाभाविक [**मायाचार इव**] कुटिल आचरणकी तरह [**नियतयः**] निश्चित होती हैं । **भावार्थ—**वीतरागदेवके औदयिक-भावोंसे काय, वचन योगकी क्रियायें अवश्य होती हैं, परन्तु उन क्रियाओंमें भगवानका कोई यत्न नहीं है, मोहके अभावसे इच्छाके विना स्वभावसे ही होती हैं । जैसे स्त्रीवेदकर्मके उदयसे स्त्रीके हाव, भाव, विलास विभ्रमादिक स्वभाव ही से होते हैं, उसी प्रकार अरहंतके योगक्रियायें सहज ही होती हैं । तथा जैसे मेघके जलका बरसना, गर्जना, चलना, स्थिर होना, इत्यादि क्रियायें पुरुषके यत्नके विना ही उसके

स्थानादयो मोहोदयपूर्वकत्वाभावात् क्रियाविशेषा अपि केवलिनां क्रियाफलभूतबन्धसाधनानि न भवन्ति ॥ ४४ ॥

अथैवं सति तीर्थकृतां पुण्यविपाकोऽकिंचित्कर एवेत्यवधारयति—

पुण्णफला अरहंता तेसिं किरिया पुणो हि ओदइया ।
मोहादीहिं विरहिया तम्हा सा खाइग त्ति मदा ॥ ४५ ॥
पुण्यफला अर्हन्तस्तेषां क्रिया पुनर्हि औदयिकी ।
मोहादिभिः विरहिता तस्मात् सा क्षायिकीति मता ॥ ४५ ॥

अर्हन्तः खलु सकलसम्यक्परिपक्वपुण्यकल्पपादपफला एव भवन्ति । क्रिया तु तेषां या काचन सा सर्वापि तदुदयानुभावसंभावितात्मसंभूतितया किलौदयिक्येव । अथैवंभूतापि सा समस्तमहामोहमूर्धाभिषिक्तस्कन्धावारस्यात्यन्तक्षये संभूतत्वान्मोहरागद्वेषरूपाणामुपरञ्जकाना-

सद्भावात्प्रयत्नाभावेऽपि मायाचारः प्रवर्तते, तथा भगवतां शुद्धात्मतत्त्वप्रतिपक्षभूतमोहोदयकार्येहापूर्वप्रयत्नाभावेऽपि श्रीविहारादयः प्रवर्तन्ते । मेघानां स्थानगमनगर्जनजलवर्षणादिवद्वा । ततः स्थितमेतत् मोहाद्यभावात् क्रियाविशेषा अपि बन्धकारणं न भवन्तीति ॥ ४४ ॥ अथ पूर्वं यदुक्तं रागादिरहितकर्मोदयो बन्धकारणं न भवति विहारादिक्रिया च, तमेवार्थं प्रकारान्तरेण दृढयति—**पुण्णफला अरहंता** पञ्चमहाकल्याणपूजाजनकं त्रैलोक्यविजयकरं यत्तीर्थकरनाम पुण्यकर्म तत्फलभूता अर्हन्तो भवन्ति **तेसिं किरिया पुणो हि ओदइया** तेषां या दिव्यध्वनिरूपवचनव्यापारादिक्रिया सा निःक्रियशुद्धात्मतत्त्वविपरीतकर्मोदयजनितत्वात्सर्वाप्यौदयिकी भवति हि स्फुटम् । **मोहादीहिं विरहिया** निर्मोहशुद्धात्मतत्त्वप्रच्छादकममकाराहंकारोत्पादनसमर्थमोहादिविरहितत्वाद्यतः **तम्हा सा खायग त्ति मदा** तस्मात् सा यद्यप्यौदयिकी तथापि निर्विकारशुद्धात्मतत्त्वस्य विक्रियामकुर्वती सती क्षायिकी मता । अत्राह शिष्यः—'औदयिका भावाः बन्धकारणम्' इत्यागमवचनं तर्हि वृथा भवति । परिहारमाह—औदयिका भावा बन्धकारणं भवन्ति, परं किंतु

स्वभावसे होती हैं, उसी प्रकार इच्छाके विना औदयिकभावोंसे अरहंतोंके क्रिया होती हैं । इसी कारण केवलीके बंध नहीं है । रागादिकोंके अभावसे औदयिकक्रिया बंधके फलको नहीं देती ॥ ४४ ॥ आगे अरहंतोंके पुण्यकर्मका उदय बंधका कारण नहीं है, यह कहते हैं—[**अर्हन्तः**] सर्वज्ञ वीतरागदेव [**पुण्यफलाः**] तीर्थंकरनामा पुण्यप्रकृतिके फल हैं, अर्थात् अरहंत पद तीर्थंकरनाम पुण्यकर्मके उदयसे होता है । [**पुनः**] और [**तेषां**] उनकी [**क्रिया**] काय तथा वचनकी क्रिया [**हि**] निश्चयसे [**औदयिकी**] कर्मके उदयसे है । परंतु [**सा**] वह क्रिया [**मोहादिभिः**] मोह, राग, द्वेषादि भावोंसे [**विरहिता**] रहित है । [**तस्मात्**] इसलिये [**क्षायिकी**] मोहकर्मके क्षयसे उत्पन्न हुई है, [**इति मता**] ऐसी कही गई है । **भावार्थ**—अरहंत भगवानके जो दिव्यध्वनि, विहार आदि क्रियायें हैं, वे पूर्व बँधे कर्मके उदयसे हैं । वे आत्माके प्रदेशोंको चलायमान करती हैं, परंतु राग, द्वेष, मोह भावोंके अभावसे आत्माके चैतन्य विकाररूप भावकर्मको उत्पन्न नहीं करतीं । इसलिये औदयिक

मभावाच्चैतन्यविकारकारणतामनासादयन्ती नित्यमौदयिकी कार्यभूतस्य बन्धस्याकारणभूततया कार्यभूतस्य मोक्षस्य कारणभूततया च क्षायिक्येव कथं हि नाम नानुमन्येत। [अथानुमन्येत] चेत्तर्हि कर्मविपाकोऽपि न तेषां स्वभावविघाताय ॥ ४५ ॥

अथ केवलिनामिव सर्वेषामपि स्वभावविघाताभावं निषेधयति—

जदि सो सुहो व असुहो ण हवदि आदा सयं सहावेण।
संसारो वि ण विज्जदि सव्वेसिं जीवकायाणं ॥ ४६ ॥
यदि स शुभो वा अशुभो न भवति आत्मा स्वयं स्वभावेन।
संसारोऽपि न विद्यते सर्वेषां जीवकायानाम् ॥ ४६ ॥

यदि खल्वेकान्तेन शुभाशुभभावस्वभावेन स्वयमात्मा न परिणमते तदा सर्वदैव सर्वथा निर्विघातेन शुद्धस्वभावेनैवावतिष्ठते। तथा च सर्व एव भूतग्रामाः समस्तबन्धसाधनशून्यत्वा-

मोहोदयसहिताः। द्रव्यमोहोदयेऽपि सति यदि शुद्धात्मभावनाबलेन भावमोहेन न परिणमति तदा बन्धो न भवति। यदि पुनः कर्मोदयमात्रेण बन्धो भवति तर्हि संसारिणां सर्वदैव कर्मोदयस्य विद्यमानत्वात्सर्वदैव बन्ध एव न मोक्ष इत्यभिप्रायः ॥ ४५ ॥ अथ यथार्हतां शुभाशुभपरिणामविकारो नास्ति तथैकान्तेन संसारिणामपि नास्तीति सांख्यमतानुसारिशिष्येण पूर्वपक्षे कृते सति दूषणद्वारेण परिहारं ददाति — **जदि सो सुहो व असुहो ण हवदि आदा सयं सहावेण** यथैव शुद्धनयेनात्मा शुभाशुभाभ्यां न परिणमति तथैवाशुद्धनयेनापि स्वयं स्वकीयोपादानकारणेन स्वभावेनाशुद्धनिश्चयरूपेणापि यदि न परिणमति तदा। किं दूषणं भवति। **संसारो वि ण विज्जदि** निस्संसारशुद्धात्मस्वरूपात्प्रतिपक्षभूतो व्यवहारनयेनापि संसारो न विद्यते। केषाम्। **सव्वेसिं जीवकायाणं** सर्वेषां जीवसंघातानामिति। तथाहि—आत्मा तावत्परिणामी

हैं, और आगे नवीन बंधमें कारणरूप नहीं है, पूर्वकर्मके क्षयमें कारण है। तथा जिस कर्मके उदयसे वह क्रिया होती है, उस कर्मका बंध अपना रस (फल) देकर खिर जाता है, इस अपेक्षा अरहंतोंकी क्रिया कर्मके क्षयका कारण है। इसी कारण उस क्रियाको क्षायिकी भी कहते हैं, अर्थात् अरहंतोंकी दिव्य-ध्वनि आदि क्रिया नवीन बंधको करती नहीं हैं, और पूर्व बंधका नाश करती है, तब क्यों न क्षायिकी मानी जावे? अवश्य मानने योग्य है। इससे यह बात सिद्ध हुई, कि केवलीके बंध नहीं होता, क्योंकि कर्मका फल आत्माके भावोंको घातता नहीं। मोहनीयकर्मके होनेपर क्रिया आत्मीकभावोंका घात करती है, और उसके अभावसे क्रियाका कुछ भी बल नहीं रहता ॥ ४५ ॥ आगे कहते हैं, कि जैसे केवलीके परिणामोंमें विकार नहीं है, वैसे अन्य जीवोंके परिणामोंमें विकारोंका अभाव भी नहीं है—[**यदि**] जो [**सः**] वह आत्मा [**स्वभावेन**] अपने स्वभावसे [**स्वयं**] आप ही [**शुभः**] शुभ परिणामरूप [**वा**] अथवा [**अशुभः**] अशुभ परिणामरूप [**न भवति**] न होवे, [**तदा**] तो [**सर्वेषां**] सब [**जीवकायानां**] जीवोंको [**संसार एव**] संसार परिणति ही [**न विद्यते**] नहीं मौजूद होवे। **भावार्थ—**आत्मा परिणामी है। जैसे स्फटिकमणि काले, पीले, लाल फूलके संयोगसे उसीके आकार

दाजवंजवाभावस्वभावतो नित्यमुक्ततां प्रतिपद्येरन् । तच्च नाभ्युपगम्यते । आत्मनः परिणामधर्मत्वेन स्फटिकस्य जपातापिच्छरागस्वभावत्ववत् शुभाशुभस्वभावत्वद्योतनात् ॥ ४६ ॥

अथ पुनरपि प्रकृतमनुसृत्यातीन्द्रियज्ञानं सर्वज्ञत्वेनाभिनन्दति—

जं तक्कालियमिदरं जाणदि जुगवं समंतदो सव्वं ।
अत्थं विचित्तविसमं तं णाणं खाइयं भणियं ॥ ४७ ॥
यत्तात्कालिकमितरं जानाति युगपत्समन्ततः सर्वम् ।
अर्थं विचित्रविषमं तत् ज्ञानं क्षायिकं भणितम् ॥ ४७ ॥

तत्कालकलितवृत्तिकमतीतोदर्ककालकलितवृत्तिकं चाप्येकपद एव समन्ततोऽपि सकलमप्यर्थजातं,पृथक्त्ववृत्तस्वलक्षणलक्ष्मीकटाक्षितानेकप्रकारव्यञ्जितवैचित्र्यमितरेतरविरोधधापितासमानजातीयत्वोद्दामितवैषम्यं क्षायिकं ज्ञानं किल जानीयात् । तस्य हि क्रमप्रवृत्तिहेतुभूतानां क्षयोपशमावस्थावस्थितज्ञानावरणीयकर्मपुद्गलानामत्यन्ताभावात्तात्कालिकमतात्कालिकं वाप्यर्थजातं

स च कर्मोपाधिनिमित्ते सति स्फटिकमणिरिवोपाधि गृह्णाति, ततः कारणात्संसाराभावो न भवति । अथ मतम्—संसाराभावः सांख्यानां दूषणं न भवति, भूषणमेव । नैवम् । संसाराभावो हि मोक्षो भण्यते, स च संसारिजीवानां न दृश्यते, प्रत्यक्षविरोधादिति भावार्थः ॥ ४६ ॥ एवं रागादयो बन्धकारणं न च ज्ञानमित्यादिव्याख्यानमुख्यत्वेन षष्ठस्थले गाथापञ्चकं गतम् । अथ प्रथमं तावत् केवलज्ञानमेव सर्वज्ञस्वरूपं, तदनन्तरं सर्वपरिज्ञाने सति एकपरिज्ञानं, एकपरिज्ञाने सति सर्वपरिज्ञानमित्यादिकथनरूपेण गाथापञ्चकपर्यन्तं व्याख्यानं करोति । तद्यथा—अत्र ज्ञानप्रपञ्चव्याख्यानं प्रकृतं तावत्तत्प्रस्तुतमनुसृत्य पुनरपि केवलज्ञानं सर्वज्ञत्वेन निरूपयति—जं यज्ज्ञानं कर्तृ जाणदि जानाति । कम् । अत्थं अर्थं पदार्थमिति विशेष्य-

काला, पीला, लालरूप परिणमन करता है, उसी प्रकार यह आत्मा अनादिकालसे परद्रव्यके संयोगसे राग, द्वेष, मोहरूप अज्ञान भावोंमें परिणमन करता है । इस कारण संसार भाव है । यदि आत्माको ऐसा (परिणामी) न मानें, तो संसार ही न होवे, सभी जीव अनादिकालसे लेकर मोक्षस्वरूपमें स्थित (ठहरे) कहलावें, परन्तु ऐसा नहीं है । इससे सारांश यह निकला, कि केवली शुभाशुभ भावरूप परिणमन नहीं करते हैं, बाकी सब संसारी जीव शुभ, अशुभ भावोंमें परिणमते हैं ॥ ४६ ॥ आगे पूर्व कहा गया अतीन्द्रियज्ञान ही सबका जाननेवाला है, ऐसा फिर कहते हैं—[**यत्**] जो ज्ञान [**समन्ततः**] सर्वांगसे [**तात्कालिकमितरं**] वर्तमानकाल संबंधी और उससे जुदी भूत, भविष्यतकाल संबंधी पर्यायों कर सहित [**विचित्रं**] अपनी लक्षणरूप लक्ष्मीसे अनेक प्रकार [**विषमं**] और मूर्त अमूर्तादि असमान जाति भेदोंसे विषम अर्थात् एकसा नहीं, ऐसे [**सर्वं अर्थं**] सब ही पदार्थोंके समूहको [**युगपत्**] एक ही समयमें [**जानाति**] जानता है, [**तत् ज्ञानं**] उस ज्ञानको [**क्षायिकं**] क्षायिक अर्थात् कर्मके क्षयसे प्रगट हुआ अतीन्द्रिय ऐसा [**भणितं**] कहा है । **भावार्थ**—अतीत, अनागत, वर्तमानकाल संबंधी नानाप्रकार विषमता सहित समस्त पदार्थोंको सर्वांग एक समयमें प्रकाशित करनेको

तुल्यकालमेव प्रकाशेत। सर्वतो विशुद्धस्य प्रतिनियतदेशविशुद्धेरन्तःप्लवनात् समन्ततोऽपि प्रकाशेत। सर्वावरणक्षयादेशावरणक्षयोपशमस्यानवस्थानात्सर्वमपि प्रकाशेत। सर्वप्रकारज्ञानावरणीयक्षयादसर्वप्रकारज्ञानावरणीयक्षयोपशमस्य विलयनाद्विचित्रमपि प्रकाशेत। असमानजातीयज्ञानावरणक्षयात्समानजातीयज्ञानावरणीयक्षयोपशमस्य विनाशनाद्विषममपि प्रकाशेत। अलमथवातिविस्तरेण, अनिवारितप्रसरप्रकाशशालितया क्षायिकज्ञानमवश्यमेव सर्वदा सर्वत्र सर्वथा सर्वमेव जानीयात् ॥ ४७ ॥

अथ सर्वमजानन्नेकमपि न जानातीति निश्चिनोति—

जो ण विजाणदि जुगवं अत्थे तिक्कालिगे तिहुवणत्थे।
णादुं तस्स ण सक्कं सपज्जयं दव्वमेगं वा ॥ ४८ ॥

पदम्। किं विशिष्टम्। **तक्कालियमिदरं** तात्कालिकं वर्तमानमितरं चातीतानागतम्। कथं जानाति। **जुगवं** युगपदेकसमये **समंतदो** समन्ततः सर्वात्मप्रदेशैः सर्वप्रकारेण वा। कतिसंख्योपेतम्। **सव्वं** समस्तम्। पुनरपि किंविशिष्टम्। **विचित्तं** नानाभेदभिन्नम्। पुनरपि किंरूपम्। **विसमं** मूर्तामूर्तचेतनाचेतनादिजात्यन्तरविशेषैर्विसदृशं **तं णाणं खाइयं भणियं** यदेवं गुणविशिष्टं ज्ञानं तत्क्षायिकं भणितम्। अभेदनयेन तदेव सर्वज्ञस्वरूपं तदेवोपादेयभूतानन्तसुखाद्यनन्तगुणानामाधारभूतं सर्वप्रकारोपादेयरूपेण भावनीयम्। इति तात्पर्यम् ॥ ४७ ॥ अथ यः सर्वं न जानाति स एकमपि न जानातीति विचारयति—**जो ण विजाणदि** यः कर्ता नैव जानाति। कथम्। **जुगवं** युगपदेकक्षणे। कान्। **अत्थे** अर्थान्। कथंभूतान्। **तिक्कालिगे** त्रिकालपर्यायपरिणतान्। पुनरपि कथंभूतान्। **तिहुवणत्थे** त्रिभुवनस्थान्। **णादुं तस्स ण सक्कं** तस्य

एक अतीन्द्रिय क्षायिककेवलज्ञान ही समर्थ है, अन्य किसी ज्ञानकी शक्ति नहीं है। ज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमसे जो ज्ञान एक ही बार सब पदार्थोंको नहीं जानता, क्रम लिये जानता है, ऐसे क्षायोपशमिकज्ञानका भी केवलज्ञानमें अभाव है, क्योंकि केवलज्ञान एक ही बार सबको जानता है, और क्षायोपशमिकज्ञान एकदेश निर्मल है, इसलिये सर्वांग वस्तुको नहीं जानता, क्षायिकज्ञान सर्वदेश विशुद्ध है, इसीमें एकदेश निर्मलज्ञान भी समा जाता है इसलिये वस्तुको सर्वांगसे प्रकाशित करता है, और इस केवलज्ञानके सब आवरणका नाश है, मतिज्ञानावरणादि क्षयोपशमका भी अभाव है, इस कारण सब वस्तुको प्रकाशित करता है। इस केवलज्ञानमें मतिज्ञानावरणादि पाँचों कर्मोंका क्षय हुआ है, इससे नाना प्रकार वस्तुको प्रकाशता है, और असमान जातीय केवलज्ञानावरणका क्षय तथा समान जातीय मतिज्ञानावरणादि चारके क्षयोपशमका क्षय है, इसलिये विषमको प्रकाशित करता है। क्षायिकज्ञानकी महिमा कहाँतक कही जावे, अति विस्तारसे भी पूर्णता नहीं हो सकती, यह अपने अखंडित प्रकाशकी सुन्दरतासे सब कालमें, सब जगह, सब प्रकार, सबको, अवश्य ही जानता है ॥ ४७ ॥ आगे जो सबको नहीं जानता, वह एकको भी नहीं जानता, इस विचारको निश्चित करते हैं—[**यः**] जो पुरुष [**त्रिभुवनस्थान्**] तीन लोकमें स्थित [**त्रैकालिकान्**] अतीत, अना-

यो न विजानाति युगपदर्थान् त्रैकालिकान् त्रिभुवनस्थान् ।
ज्ञातुं तस्य न शक्यं सपर्ययं द्रव्यमेकं वा ॥ ४८ ॥

इह किलैकमाकाशद्रव्यमेकं धर्मद्रव्यमेकमधर्मद्रव्यमसंख्येयानि कालद्रव्याण्यनन्तानि जीवद्रव्याणि । ततोऽप्यनन्तगुणानि पुद्गलद्रव्याणि । तथैषामेव प्रत्येकमतीतानागतानुभूयमानभेदभिन्ननिरवधिवृत्तिप्रवाहपरिपातिनोऽनन्ताः पर्यायाः । एवमेतत्समस्तमपि समुदितं ज्ञेयं, इहैवैकं किंचिज्जीवद्रव्यं ज्ञातृ । अथ यथा समस्तं दाह्यं दहन् दहनः समस्तदाह्यहेतुकसमस्तदाह्याकारपर्यायपरिणतसकलैकदहनाकारमात्मानं परिणमति, तथा समस्तं ज्ञेयं जानन् ज्ञाता समस्तज्ञेयहेतुकसमस्तज्ञेयाकारपर्यायपरिणतसकलैकज्ञानाकारं चेतनत्वात् स्वानुभवप्रत्यक्षमात्मानं परिणमति । एवं किल द्रव्यस्वभावः । यस्तु समस्तज्ञेयं न जानाति स समस्तं दाह्यमदहन् समस्तदाह्यहेतुक-

---

पुरुषस्य संबन्धि ज्ञानं ज्ञातुं समर्थं न भवति । किम् । **दव्वं** ज्ञेयद्रव्यम् । किंविशिष्टम् । **सपज्जयं** अनन्तपर्यायसहितम् । कतिसंख्योपेतम् । **एगं वा** एकमपीति । तथाहि—आकाशद्रव्यं तावदेकं, धर्मद्रव्यमेकं, तथैवाधर्मद्रव्यं च लोकाकाशप्रमितासंख्येयकालद्रव्याणि, ततोऽनन्तगुणानि जीवद्रव्याणि, तेभ्योऽप्यनन्तगुणानि पुद्गलद्रव्याणि । तथैव सर्वेषां प्रत्येकमनन्तपर्यायाः, एतत्सर्वं ज्ञेयं तावत्तत्रैकं विवक्षितं जीवद्रव्यं ज्ञातृ भवति । एवं तावद्वस्तुस्वभावः । तत्र यथा दहनः समस्तं दाह्यं दहन् सन् समस्तदाह्यहेतुकसमस्तदाह्याकारपर्यायपरिणतसकलैकदहनस्वरूपमुष्णपरिणततृणपर्णाद्याकारमात्मानं (स्वकीयस्वभावं) परिणमति । तथायमात्मा समस्तं ज्ञेयं जानन् सन् समस्तज्ञेयहेतुकसमस्तज्ञेयाकारपर्यायपरिणतसकलैकाखण्डज्ञानरूपं स्वकीयमात्मानं परिणमति जानाति परिच्छिनत्ति । यथैव च स एव दहनः पूर्वोक्तलक्षणं दाह्यमदहन् सन् तदाकारेण न परिणमति, तथाऽऽत्मापि पूर्वोक्तलक्षणं समस्तं ज्ञेयमजानन् पूर्वोक्तलक्षणमेव सकलैकाखण्डज्ञानाकारं स्वकीयमात्मानं न परिणमति न जानाति न परिच्छिनत्ति । अपरमप्युदाहरणं दीयते—यथा कोऽप्यन्धक आदित्य-

---

गत, वर्तमान, इन तीनकाल संबंधी [**अर्थान्**] पदार्थोंको [**युगपत्**] एक ही समयमें [**न विजानाति**] नहीं जानता है, [**तस्य**] उस पुरुषके [**सपर्ययं**] अनन्त पर्यायों सहित [**एकं द्रव्यं वा**] एक द्रव्यको भी [**ज्ञातुं**] जाननेकी [**शक्यं न**] सामर्थ्य नहीं है । **भावार्थ—**इस लोकमें आकाशद्रव्य एक है, धर्मद्रव्य एक है, अधर्मद्रव्य भी एक है, कालद्रव्य असंख्यात है, जीवद्रव्य अनंत है, और पुद्गलद्रव्य जीव-राशिसे अनंतगुणा अधिक है । इन छहों द्रव्योंके तीन काल संबंधी अनंत अनंत भिन्न भिन्न पर्याय हैं । ये सब द्रव्य पर्याय ज्ञेय हैं । इन द्रव्योंमें जाननेवाला एक जीव ही है । जैसे अग्नि समस्त ईंधनको जलाता हुआ उसके निमित्तसे काष्ठ, तृण, पत्ता वगैरह ईंधनके आकार होकर अपने एक अग्निस्वभावरूप परिणमता है, उसी प्रकार यह ज्ञायक (जाननेवाला) आत्मा सब ज्ञेयोंको जानता हुआ ज्ञेयके निमित्तसे समस्त ज्ञेयाकाररूप होकर अपने ज्ञायकस्वभावरूप परिणमन करता है, और अपने द्वारा अपनेको आप वेदता (जानता) है । यह आत्मद्रव्यका स्वभाव है । इससे यह बात सिद्ध हुई, कि जो सब ज्ञेयोंको नहीं जानता, वह एक आत्माको भी नहीं जानता, क्योंकि आत्माके ज्ञानमें सब ज्ञेयोंके आकार प्रतिबिम्बित

समस्तदाह्याकारपर्यायपरिणतसकलैकदहनाकारमात्मानम् अपरिणमन् दहन इव समस्तज्ञेयहेतुक-समस्तज्ञेयाकारपर्यायपरिणतसकलैकज्ञानाकारमात्मानं चेतनत्वात् स्वानुभवप्रत्यक्षत्वेऽपि न परिणमति। एवमेतदायाति यः सर्वं न जानाति स आत्मानं न जानाति ॥ ४८॥

अथैकमजानन् सर्वं न जानातीति निश्चिनोति—

दव्वं अणंतपज्जयमेगमणंताणि दव्वजादाणि।
ण विजाणदि जदि जुगवं किध सो सव्वाणि जाणादि ॥ ४९ ॥
द्रव्यमनन्तपर्यायमेकमनन्तानि द्रव्यजातानि।
न विजानाति यदि युगपत् कथं स सर्वाणि जानाति ॥ ४९ ॥

आत्मा हि तावत्स्वयं ज्ञानमयत्वे सति ज्ञातृत्वात् ज्ञानमेव। ज्ञानं तु प्रत्यात्मवर्ति प्रतिभा-समयं महासामान्यम्। तत्तु प्रतिभासमयानन्तविशेषव्यापि। ते च सर्वद्रव्यपर्यायनिबन्धनाः। अथ यः सर्वद्रव्यपर्यायनिबन्धनानन्तविशेषव्यापिप्रतिभासमयमहासामान्यरूपमात्मानं स्वानुभव-

---

प्रकाश्यान् पदार्थानपश्यन्नादित्यमिव, प्रदीपप्रकाश्यान् पदार्थानपश्यन् प्रदीपमिव, दर्पणस्थबिम्बान्यपश्यन् दर्पणमिव, स्वकीयदृष्टिप्रकाश्यान् पदार्थानपश्यन् हस्तपादाद्यवयवपरिणतं स्वकीयदेहाकारमात्मानं स्वकीय-दृष्ट्या न पश्यति, तथायं विवक्षितात्मापि केवलज्ञानप्रकाश्यान् पदार्थानजानन् सकलाखण्डैककेवलज्ञान-रूपमात्मानमपि न जानाति। तत एतत्स्थितं यः सर्वं न जानाति स आत्मानमपि न जानातीति ॥ ४८ ॥ अथैकमजानन् सर्वं न जानातीति निश्चिनोति—**दव्वं** द्रव्यं **अणंतपज्जयं** अनन्तपर्यायं **एगं** एकं **अणंताणि दव्वजादाणि** अनन्तानि द्रव्यजातानि **जो ण विजाणदि** यो न विजानाति अनन्तद्रव्य-समूहान् **किध सो सव्वाणि जाणादि** कथं स सर्वान् जानाति **जुगवं** युगपदेकसमये न कथमपीति। तथाहि—आत्मलक्षणं तावज्ज्ञानं तच्चाखण्डप्रतिभासमयं सर्वजीवसाधारणं महासामान्यम्। तच्च महासामान्यं

होते हैं; इस कारण यह आत्मा सबका जाननेवाला है। इन सबके जाननेवाले आत्माको जब प्रत्यक्ष जानते हैं, तब अन्य सब ज्ञेय भी जाने जाते हैं, क्योंकि सब ज्ञेय इसीमें प्रतिबिम्बित हैं। जो सबको जाने, तो आत्माको भी जाने, और जो आत्माको जाने, तो सबको जाने, यह बात परस्पर एक है, क्योंकि सबका जानना, एक आत्माके जाननेसे होता है। इसलिये आत्माका जानना और सबका जानना एक है। सारांश यह निकला, कि जो सबको नहीं जानता, वह एक आत्माको भी नहीं जानता ॥ ४८ ॥ आगे कहते हैं, कि जो एकको नहीं जानता, वह सबको नहीं जानता—[**यदि**] जो [**अनन्तपर्यायं एकं द्रव्यं**] अनन्त पर्यायवाले एक आत्म द्रव्यको [**नैव जानाति**] निश्चयसे नहीं जानता, [**तदा**] तो [**सः**] वह पुरुष [**युगपत्**] एक ही बार [**अनन्तानि**] अंत रहित [**सर्वाणि**] संपूर्ण [**द्रव्यजातानि**] द्रव्योंके समूह [**कथं**] कैसे [**जानाति**] जान सकता है? **भावार्थ—**आत्माका लक्षण ज्ञान है। ज्ञान प्रकाशरूप है, वह सब जीव-राशिमें महासामान्य है, और अपने ज्ञानमयी अनंत भेदोंसे व्याप्त है। ज्ञेयरूप अनंत द्रव्यपर्यायोंके निमित्तसे ज्ञानके अनंत भेद हैं। इसलिये अपने अनंत

प्रत्यक्षं न करोति स कथं प्रतिभासमयमहासामान्यव्याप्यप्रतिभासमयानन्तविशेषनिबन्धनभूतसर्वद्रव्यपर्यायान् प्रत्यक्षीकुर्यात् । एवमेतदायाति य आत्मानं न जानाति स सर्वं न जानाति। अथ सर्वज्ञानादात्मज्ञानमात्मज्ञानात्सर्वज्ञानमित्यवतिष्ठते । एवं च सति ज्ञानमयत्वेन स्वसंचेतकत्वादात्मनो ज्ञातृज्ञेययोर्वस्तुत्वेनान्यत्वे सत्यपि प्रतिभासप्रतिभास्यमानयोः स्वस्यामवस्थायामन्योन्यसंवलनेनात्यन्तमशक्यविवेचनत्वात्सर्वमात्मनि निखातमिव प्रतिभाति। यद्येवं न स्यात् तदा ज्ञानस्य परिपूर्णात्मसंचेतनाभावात् परिपूर्णस्यैकस्यात्मनोऽपि ज्ञानं न सिद्ध्येत् ॥४९॥

अथ क्रमकृतप्रवृत्त्या ज्ञानस्य सर्वगतत्वं न सिद्ध्यतीति निश्चिनोति—

उप्पज्जदि जदि णाणं कमसो अट्ठे पडुच्च णाणिस्स ।
तं णेव हवदि णिच्चं ण खाइगं णेव सव्वगदं ॥ ५० ॥

ज्ञानमयानन्तविशेषव्यापि । ते च ज्ञानविशेषा अनन्तद्रव्यपर्यायाणां विषयभूतानां ज्ञेयभूतानां परिच्छेदका ग्राहकाः । अखण्डैकप्रतिभासमयं यन्महासामान्यं तत्स्वभावमात्मानं योऽसौ प्रत्यक्षं न जानाति स पुरुषः प्रतिभासमयेन महासामान्येन ये व्याप्ता अनन्तज्ञानविशेषास्तेषां विषयभूताः येऽनन्तद्रव्यपर्यायास्तान् कथं जानाति, न कथमपि । अथ एतदायातम् । यः आत्मानं न जानाति स सर्वं न जानातीति । तथा चोक्तम्—"एको भावः सर्वभावस्वभावः सर्वे भावा एकभावस्वभावाः । एको भावस्तत्त्वतो येन बुद्धः सर्वे भावास्तत्त्वतस्तेन बुद्धाः ॥" अत्राह शिष्यः—आत्मपरिज्ञाने सति सर्वपरिज्ञानं भवतीत्यत्र व्याख्यातं, तत्र तु पूर्वसूत्रे भणितं सर्वपरिज्ञाने सत्यात्मपरिज्ञानं भवतीति । यद्येवं तर्हि छद्मस्थानां सर्वपरिज्ञानं नास्त्यात्मपरिज्ञानं कथं भविष्यति, आत्मपरिज्ञानाभावे चात्मभावना कथं, तदभावे केवलज्ञानोत्पत्तिर्नास्तीति । परिहारमाह—परोक्षप्रमाणभूतश्रुतज्ञानेन सर्वपदार्था ज्ञायन्ते । कथमिति चेत्—लोकालोकादिपरिज्ञानं व्याप्तिज्ञानरूपेण छद्मस्थानामपि विद्यते, तच्च व्याप्तिज्ञानं परोक्षाकारेण केवलज्ञानविषयग्राहकं कथंचिदात्मैव भण्यते । अथवा स्वसंवेदनज्ञानेनात्मा ज्ञायते, ततश्च भावना क्रियते, तया रागादिविकल्परहितस्वसंवेदनज्ञानभावनया केवलज्ञानं च जायते । इति नास्ति दोषः ॥ ४९ ॥ अथ क्रम-

---

विशेषणोंसे युक्त यह सामान्य ज्ञान सबको जानता है । जो पुरुष ऐसे ज्ञानसंयुक्त आत्माको प्रत्यक्ष नहीं जान सकता, वह सब पदार्थोंको कैसे जान सकेगा ? इसलिये 'एक आत्माके जाननेसे सब जाना जाता है । जो एक आत्माको नहीं जानता, वह सबको नहीं जानता', यह बात सिद्ध हुई । दूसरी बात यह है कि, आत्मा और पदार्थोंका ज्ञेयज्ञायक संबंध है । यद्यपि अपने अपने स्वरूपसे दोनों पृथक् पृथक् हैं, तो भी ज्ञेयाकार ज्ञानके परिणमनसे सब ज्ञेयपदार्थ ऐसे भासते हैं, मानों ज्ञानमें ठहर ही रहे हैं । जो ऐसा आत्माको नहीं मानें, तो वह अपने स्वरूपको संपूर्णपनेसे नहीं जाने, तथा आत्माके ज्ञानकी महिमा न होवे । इस कारण जो आत्माको जानता है, वह सबको जानता है, और जो सबको जानता है, वह आत्माको जानता है । एकके जाननेसे सब जाने जाते हैं, और सबके जाननेसे एक जाना जाता है, यह कहना सिद्ध हुआ । यह कथन एकदेश ज्ञानकी अपेक्षासे नहीं है, किंतु केवलज्ञानकी अपेक्षासे है

उत्पद्यते यदि ज्ञानं क्रमशोऽर्थान् प्रतीत्य ज्ञानिनः ।
तन्नैव भवति नित्यं न क्षायिकं नैव सर्वगतम् ॥ ५० ॥

यत्किल क्रमेणैकैकमर्थमालम्ब्य प्रवर्तते ज्ञानं तदेकार्थालम्बनादुत्पन्नमन्यार्थालम्बनात् प्रलीयमानं नित्यमसत्तथा कर्मोदयादेकां व्यक्तिं प्रतिपन्नं पुनर्व्यक्त्यन्तरं प्रतिपद्यमानं क्षायिकमप्यसदनन्तद्रव्यक्षेत्रकालभावानाक्रान्तुमशक्तत्वात् सर्वगतं न स्यात् ॥ ५० ॥

अथ यौगपद्यप्रवृत्त्यैव ज्ञानस्य सर्वगतत्वं सिद्ध्यतीति व्यवतिष्ठते—

तिक्कालणिच्चविसमं सयलं सव्वत्थ संभवं चित्तं ।
जुगवं जाणदि जोण्हं अहो हि णाणस्स माहप्पं ॥ ५१ ॥
त्रैकाल्यनित्यविषमं सकलं सर्वत्र संभवं चित्रम् ।
युगपज्जानाति जैनमहो हि ज्ञानस्य माहात्म्यम् ॥ ५१ ॥

क्षायिकं हि ज्ञानमतिशयास्पदीभूतपरममाहात्म्यं, यत्तु युगपदेव सर्वार्थानालम्ब्य प्रवर्तते

प्रवृत्तज्ञानेन सर्वज्ञो न भवतीति व्यवस्थापयति— उप्पज्जदि जदि णाणं उत्पद्यते ज्ञानं यदि चेत्—कमसो क्रमशः सकाशात् । किं कृत्वा । अट्ठे पडुच्च ज्ञेयार्थानाश्रित्य । कस्य । णाणिस्स ज्ञानिनः आत्मनः तं णेव हवदि णिच्चं उत्पत्तिनिमित्तभूतपदार्थविनाशे तस्यापि विनाश इति नित्यं न भवति । ण खाइगं ज्ञानावरणीयकर्मक्षयोपशमाधीनत्वात् क्षायिकमपि न भवति । णेव सव्वगदं यत एव पूर्वोक्तप्रकारेण पराधीनत्वेन नित्यं न भवति, क्षयोपशमाधीनत्वेन क्षायिकं न भवति, तत एव युगपत्समस्तद्रव्यक्षेत्रकालभावानां परिज्ञानसामर्थ्याभावात्सर्वगतं न भवति । अत एतत्स्थितं यद्ज्ञानं क्रमेणार्थान् प्रतीत्य जायते तेन सर्वज्ञो न भवति। इति ॥ ५० ॥ अथ युगपत्परिच्छित्तिरूपज्ञानेनैव सर्वज्ञो भवतीत्यावेदयति—जाणदि जानाति ।

॥ ४९ ॥ आगे जो ज्ञान पदार्थोंको क्रमसे जानता है, वह सर्वगत नहीं हो सकता, ऐसा सिद्ध करते हैं—[यदि] जो [ज्ञानिनः] आत्माका [ज्ञानं] चैतन्यगुण [अर्थान्] पदार्थोंको [क्रमशः] क्रमसे [प्रतीत्य] अवलम्बन करके [उत्पद्यते] उत्पन्न होता है, [तदा] तो [तत्] वह ज्ञान [नैव] न तो [नित्यं] अविनाशी [भवति] है, [न क्षायिकं] न क्षायिक है, और [नैव सर्वगतं] न सबका जाननेवाला होता है । भावार्थ—जो ज्ञान एक एक पदार्थका अवलम्बन (ग्रहण) करके क्रमसे प्रवर्तता है, एक ही बार सबको नहीं जानता है, वह ज्ञान विनाशीक है, एक पदार्थके अवलम्बनसे उत्पन्न होता है, दूसरेके ग्रहणसे नष्ट होता है, इस कारण अनित्य है । यही ज्ञानावरणीकर्मके क्षयोपशमसे हीनाधिक होता है, इसलिये क्षायिक भी नहीं है, किंतु क्षयोपशमरूप है, और अनंत द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव जाननेमें असमर्थ है, इसलिये सबके न जाननेसे असर्वगत है। सारांश यह है, कि जिस ज्ञानसे पदार्थ क्रमपूर्वक जाने जाते हैं, वह ज्ञान पराधीन है । ऐसे ज्ञानसे सर्वज्ञ पदका होना असिद्ध है, अर्थात् सर्वज्ञ नहीं कहा जाता ॥ ५० ॥ आगे जो ज्ञान एक ही बार सबको जानता है, उस ज्ञानसे सर्वज्ञ पदकी सिद्धि है, ऐसा कहते हैं—[जैनं] केवलज्ञान [त्रैकाल्य-

ज्ञानं तट्टङ्कोत्कीर्णन्यायावस्थितसमस्तवस्तुज्ञेयाकारतयाधिरोपितनित्यत्वं प्रतिपन्नसमस्तव्यक्तित्वेनाभिव्यक्तस्वभावभासिक्षायिकभावं त्रैकाल्येन नित्यमेव विषमीकृतां सकलामपि सर्वार्थसंभूतिमनन्तजातिमापितवैचित्र्यां परिच्छिन्ददक्रमसमाक्रान्तानन्तद्रव्यक्षेत्रकालभावतया प्रकटीकृताद्भुतमाहात्म्यं सर्वगतमेव स्यात् ॥ ५१ ॥

अथ ज्ञानिनो ज्ञप्तिक्रियासद्भावेऽपि क्रियाफलभूतं बन्धं प्रतिषेधयन्नुपसंहरति—

ण वि परिणमदि ण गेण्हदि उप्पज्जदि णेव तेसु अट्ठेसु ।
जाणण्णवि ते आदा अबंधगो तेण पण्णत्तो ॥ ५२ ॥

नापि परिणमति न गृह्णाति उत्पद्यते नैव तेष्वर्थेषु ।
जानन्नपि तानात्मा अबन्धकस्तेन प्रज्ञप्तः ॥ ५२ ॥

इह खलु 'उदयगदा कम्मंसा' इत्यत्र सूत्रे उदयगतेषु पुद्गलकर्मांशेषु सत्सु संचेतयमानो

किं कर्तृ । **जोण्हं** जैनज्ञानम् । कथम् । **जुगवं** युगपदेकसमये **अहो हि णाणस्स माहप्पं** अहो हि स्फुटं जैनज्ञानस्य माहात्म्यं पश्यताम् । किं जानाति । अर्थमित्यध्याहारः । कथंभूतम् । **तिक्कालणिच्चविसयं** त्रिकालविषयं त्रिकालगतं नित्यं सर्वकालम् । पुनरपि किंविशिष्टम् । **सयलं** समस्तम् । पुनरपि कथंभूतम् । **सव्वत्थ संभवं** सर्वत्र लोके संभवं समुत्पन्नं स्थितम् । पुनश्च किंरूपम् । **चित्तं** नानाजातिभेदेन विचित्रमिति । तथाहि—युगपत्सकलग्राहकज्ञानेन सर्वज्ञो भवतीति ज्ञात्वा किं कर्तव्यम् । ज्योतिष्कमन्त्रवादरससिद्ध्यादीनि यानि खण्डविज्ञानानि मूढजीवानां चित्तचमत्कारकारणानि परमात्मभावनाविनाशकानि च तत्राग्रहं त्यक्त्वा जगत्त्रयकालत्रयसकलवस्तुयुगपत्प्रकाशकमविनश्वरमखण्डैकप्रतिभासरूपं सर्वज्ञशब्दवाच्यं यत्केवलज्ञानं तस्यैवोत्पत्तिकारणभूतं यत्समस्तरागादिविकल्पजालेन रहितं सहजशुद्धात्मनोऽभेदज्ञानं तत्र भावना कर्तव्या, इति तात्पर्यम् ॥ ५१ ॥ एवं केवलज्ञानमेव सर्वज्ञ इति कथनरूपेण गाथैका, तदनन्तरं

नित्यविषमं] अतीतादि तीनों कालसे सदाकाल (हमेशा) असम ऐसे [**सर्वत्र संभवं**] सब लोकमें तिष्ठते [**चित्रं**] नाना प्रकारके [**सकलं**] सब पदार्थ [**युगपत्**] एक ही बार [**जानाति**] जानता है । [**अहो**] हे भव्यजीवो, [**हि**] निश्चयकर यह [**ज्ञानस्य**] ज्ञानकी [**माहात्म्यं**] महिमा है । **भावार्थ—**जो ज्ञान एक ही बार सकल पदार्थोंका अवलंबनकर प्रवर्तता है, वह नित्य है, क्षायिक है, और सर्वगत है । जिस कारण केवलज्ञानमें सब पदार्थ टंकोत्कीर्णन्यायसे प्रतिभासते हैं, और प्रकार नहीं । इस ज्ञानको कुछ और जानना अवशेष (बाकी) नहीं है, जो इसमें ज्ञेयाकारोंकी पलटना होवे, इस कारण यह ज्ञान नित्य है । इस ज्ञानकी कोई शक्ति कर्मसे ढँकी हुई नहीं है, अनंत शक्तियाँ खुली हैं, इसलिये यह ज्ञान क्षायिक है, और यह अनंतद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावोंको प्रगट करता है इससे यह ज्ञान सर्वगत है । सारांश—केवलज्ञानकी महिमा कोई भी नहीं कह सकता, ऐसे ही ज्ञानसे सर्वज्ञ पदकी सिद्धि होती है ॥ ५१ ॥ आगे केवलीके ज्ञानकी क्रिया है, परंतु क्रियाका फल—बंध नहीं है, ऐसा कथन संक्षेपसे कहकर आचार्य ज्ञानाधिकार पूरा करते हैं—[**आत्मा**]

मोहरागद्वेषपरिणतत्वात् ज्ञेयार्थपरिणमनलक्षणया क्रियया युज्यमानः क्रियाफलभूतं बन्धमनुभवति, न तु ज्ञानादिति प्रथममेवार्थपरिणमनक्रियाफलत्वेन बन्धस्य समर्थितत्वात्। तथा 'गेण्हदि णेव ण मुंचदि' इत्यर्थपरिणमनादिक्रियाणामभावस्य शुद्धात्मनो निरूपितत्वाच्चार्थानपरिणमतोऽगृह्णतस्तेष्वनुत्पद्यमानस्य चात्मनो ज्ञप्तिक्रियासद्भावेऽपि न खलु क्रियाफलभूतो बन्धः सिद्ध्येत् ॥ ५२ ॥

जानन्नप्येष विश्वं युगपदपि भवद्भाविभूतं समस्तं
मोहाभावाद्यदात्मा परिणमति परं नैव निर्लूनकर्मा।

सर्वपदार्थपरिज्ञानमिति द्वितीया चेति। ततश्च क्रमप्रवृत्तज्ञानेन सर्वज्ञो न भवतीति प्रथमगाथा, युगपद्ग्राहकेण स भवतीति द्वितीया चेति समुदायेन सप्तमस्थले गाथापञ्चकं गतम्। अथ पूर्वं यदुक्तं पदार्थपरिच्छित्तिसद्भावेऽपि रागद्वेषमोहाभावात् केवलिनां बन्धो नास्तीति तमेवार्थं प्रकारान्तरेण दृढीकुर्वन् ज्ञानप्रपञ्चाधिकारमुपसंहरति—**ण वि परिणमदि** यथा स्वकीयात्मप्रदेशैः समरसीभावेन सह परिणमति तथा ज्ञेयरूपेण न परिणमति **ण गेण्हदि** यथैव चानन्तज्ञानादिचतुष्टयरूपमात्मरूपतया गृह्णाति तथा ज्ञेयरूपं न गृह्णाति **उप्पज्जदि णेव तेसु अट्ठेसु** यथा च निर्विकारपरमानन्दैकसुखरूपेण स्वकीयसिद्धपर्यायेणोत्पद्यते तथैव च ज्ञेयपदार्थेषु नोत्पद्यते। किं कुर्वन्नपि। **जाणण्णवि ते** तान् ज्ञेयपदार्थान् स्वस्मात् पृथग्रूपेण जानन्नपि। स कः कर्ता। **आदा** मुक्तात्मा **अबंधगो तेण पण्णत्तो** ततः कारणात्कर्मणामबन्धकः प्रज्ञप्त इति। तद्यथा—रागादिरहितज्ञानं बन्धकारणं न भवतीति ज्ञात्वा शुद्धात्मोपलम्भलक्षणमोक्षविपरीतस्य नारकादिदुःखकारणकर्मबन्धस्य कारणानीन्द्रियमनोजनितान्येकदेशविज्ञानानि त्यक्त्वा सकलविमलकेवलज्ञानस्य कर्मबन्धाकारणभूतस्य यद्बीजभूतं निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानं तत्रैव भावना कर्तव्येत्यभिप्रायः ॥ ५२ ॥ एवं रागद्वेष-

---

केवलज्ञानी शुद्धात्मा [**तान्**] उन पदार्थोंको [**जानन् अपि**] जानता हुआ भी [**येन**] जिस कारण [**अपि**] निश्चय करके [**न परिणमति**] न तो परिणमता है, [**न गृह्णाति**] न ग्रहण करता है, [**नैव**] और न [**तेषु अर्थेषु**] उन पदार्थोंमें [**उत्पद्यते**] उत्पन्न होता है, [**तेन**] उसी कारणसे वह [**अबन्धकः**] नवीन कर्मबंधसे रहित [**प्रज्ञप्तः**] कहा गया है। **भावार्थ—** यद्यपि केवलज्ञानी सब पदार्थोंको जानता है, तो भी उन पदार्थोंको राग, द्वेष, मोह भावसे न परिणमता है, न ग्रहण करता है, और न उनमें उत्पन्न होता है, इस कारण बंध रहित है। क्रिया दो प्रकारकी है, एक ज्ञप्तिक्रिया और दूसरी ज्ञेयार्थपरिणमनक्रिया, उनमें ज्ञानकी राग द्वेष मोह रहित जाननेरूप क्रियाको 'ज्ञप्तिक्रिया' और जो राग द्वेष मोहकर पदार्थका जानना, ऐसी क्रियाको 'ज्ञेयार्थपरिणमनक्रिया' कहते हैं। इनमें से ज्ञेयार्थपरिणमनक्रियासे बंध होता है, ज्ञप्तिक्रियासे नहीं होता। केवलीके ज्ञप्तिक्रिया है, इसलिये उनके बंध नहीं है। पहले "उदयगदा कम्मंसा" आदि गाथासे ज्ञेयार्थ परिणमन क्रियाको बँधका कारण कहा है, सो यह केवलीके नहीं है। और "गेण्हदि णेव ण मुंचदि" आदि गाथासे केवलीके देखने जाननेरूप क्रिया कही है, सो इस ज्ञप्तिक्रियासे बंध नहीं है ॥ ५२ ॥ इसप्रकार **ज्ञाना-**

तेनास्ते मुक्त एव प्रसभविकसितज्ञप्तिविस्तारपीत-
ज्ञेयाकारं त्रिलोकीं पृथगपृथगथ द्योतयन् ज्ञानमूर्तिः ॥

। इति ज्ञानाधिकारः ।

अथ ज्ञानादभिन्नस्य सौख्यस्य स्वरूपं प्रपञ्चयन् ज्ञानसौख्ययोः हेयोपादेयत्वं चिन्तयति—

अत्थि अमुत्तं मुत्तं अदिंदियं इंदियं च अत्थेसु ।
णाणं च तहा सोक्खं जं तेसु परं च तं णेयं ॥ ५३ ॥

अस्त्यमूर्तं मूर्तमतीन्द्रियमैन्द्रियं चार्थेषु ।
ज्ञानं च तथा सौख्यं यत्तेषु परं च तत् ज्ञेयम् ॥ ५३ ॥

अत्र ज्ञानं सौख्यं च मूर्तमिन्द्रियजं चैकमस्ति । इतरदमूर्तमतीन्द्रियं चास्ति । तत्र तेषु चतुर्षु मध्ये यदमूर्तमतीन्द्रियं च तत्प्रधानत्वादुपादेयत्वेन ज्ञातव्यम् । तत्राद्यं मूर्ताभिः क्षायो-

---

मोहरहितत्वात्केवलिनां बन्धो नास्तीति कथनरूपेण ज्ञानप्रपञ्चसमाप्तिमुख्यत्वेन चैकसूत्रेणाष्टमस्थलं गतम् ।

अथ ज्ञानप्रपञ्चव्याख्यानानन्तरं ज्ञानाधारसर्वज्ञं नमस्करोति—

तस्स णमाइं लोगो देवासुरमणुअरायसंबंधो ।
भत्तो करेदि णिच्चं उवजुत्तो तं तहा वि अहं ॥ *२ ॥

करेदि करोति । स कः । **लोगो** लोकः । कथंभूतः । **देवासुरमणुअरायसंबंधो** देवासुरमनुष्यराजसंबन्धः । पुनरपि कथंभूतः । **भत्तो** भक्तः । **णिच्चं** नित्यं सर्वकालम् । पुनरपि किंविशिष्टः । **उवजुत्तो** उपयुक्त उद्यतः । इत्थंभूतो लोकः कां करोति । **णमाइं** नमस्यां नमस्क्रियाम् । कस्य । **तस्स** तस्य पूर्वोक्तसर्वज्ञस्य । **तं तहा वि अहं** तं सर्वज्ञं तथा तेनैव प्रकारेणाहमपि ग्रन्थकर्ता नमस्करोमीति । अयमत्रार्थः— यथा देवेन्द्रचक्रवर्त्यादयोऽनन्ताक्षयसुखादिगुणास्पदं सर्वज्ञस्वरूपं नमस्कुर्वन्ति, तथैवाहमपि तत्पदाभिलाषी परमभक्त्या प्रणमामि ॥ २ ॥ एवमष्टाभिः स्थलैर्द्वात्रिंशद्गाथास्तदनन्तरं नमस्कारगाथा चेति समुदायेन त्रयस्त्रिंशत्सूत्रैर्ज्ञानप्रपञ्चनामा तृतीयोऽन्तराधिकारः समाप्तः । अथ सुखप्रपञ्चाभिधानान्तराधिकारेऽष्टादश गाथा भवन्ति । अत्र पञ्चस्थलानि, तेषु प्रथमस्थले 'अत्थि अमुत्तं' इत्याद्यधिकारगाथासूत्रमेकं, तदनन्तर-

---

धिकार पूर्ण हुआ ॥ १ ॥ आगे दूसरे अधिकारमें ज्ञानसे अभिन्नरूप सुखका वर्णन करते हुए आचार्य महाराज पहले "कौन सुख हेय है, और कौन उपादेय है," यह विचार दिखाते हैं—[**अर्थेषु**] पदार्थोंमें [**अतीन्द्रियं**] इंद्रियोंकी आधीनतासे रहित [**ज्ञानं**] ज्ञान है, वह [**अमूर्तं**] अमूर्तीक है, [**च**] और [**ऐन्द्रियं**] इंद्रियजनित ज्ञान [**मूर्तं**] मूर्तीक [**अस्ति**] है । [**च तथा**] और इसी तरह [**सौख्यं**] सुख भी हैं । अर्थात् जो इंद्रिय विना सुखका अनुभव है, वह अतींद्रिय अमूर्तीक सुख है, और जो इंद्रियके आधीन सुखका अनुभव है, सो इंद्रियजनित मूर्तीक सुख है । [**च**] और [**तेषु**] उन ज्ञान सुखके भेदोंमें [**यत्**] जो [**परं**] उत्कृष्ट है, [**तत्**] वह [**ज्ञेयं**] जानने

---

१ इस गाथासूत्रकी भी श्रीअमृतचन्द्राचार्यने टीका नहीं की, इससे मूलसंख्यामें नहीं रक्खा ।

पशमिकीभिरुपयोगशक्तिभिस्तथाविधेभ्य इन्द्रियेभ्यः समुत्पद्यमानं परायत्तत्वात् कादाचित्कत्वं, क्रमकृतप्रवृत्ति सप्रतिपक्षं सहानिवृद्धि च गौणमिति कृत्वा ज्ञानं च सौख्यं च हेयम् । इतरत्पुनरमूर्ताभिश्चैतन्यानुविधायिनीभिरेकाकिनीभिरेवात्मपरिणामशक्तिभिस्तथाविधेभ्योऽतीन्द्रियेभ्यः स्वाभाविकचिदाकारपरिणामेभ्यः समुत्पद्यमानमत्यन्तमात्मायत्तत्वान्नित्यं, युगपत्कृतप्रवृत्ति निःप्रतिपक्षमहानिवृद्धि च मुख्यमिति कृत्वा ज्ञानं सौख्यं चोपादेयम् ॥ ५३ ॥

अथातीन्द्रियसौख्यसाधनीभूतमतीन्द्रियज्ञानमुपादेयमभिष्टौति—

मतीन्द्रियज्ञानमुख्यत्वेन 'जं पेच्छदो' इत्यादि सूत्रमेकं, अथेन्द्रियज्ञानमुख्यत्वेन 'जीवो सयं अमुत्तो' इत्यादि गाथाचतुष्टयं, अथानन्तरमिन्द्रियसुखप्रतिपादनरूपेण गाथाष्टकं, तत्राप्यष्टकमध्ये प्रथमत इन्द्रियसुखस्य दुःखत्वस्थापनार्थं 'मणुआ सुरा' इत्यादि गाथाद्वयम् । अथ मुक्तात्मनां देहाभावेऽपि सुखमस्तीति ज्ञापनार्थं देहः सुखकारणं न भवतीति कथनरूपेण 'पप्पा इट्ठे विसये' इत्यादि सूत्रद्वयं, तदनन्तरमिन्द्रियविषया अपि सुखकारणं न भवन्तीति कथनेन 'तिमिरहरा' इत्यादि गाथाद्वयम् , अतोऽपि सर्वज्ञनमस्कारमुख्यत्वेन 'तेजोदिट्ठी' इत्यादि गाथाद्वयम् । एवं पञ्चान्तराधिकारे समुदायपातनिका ॥ अथातीन्द्रियसुखस्योपादेयभूतस्य स्वरूपं प्रपञ्चयन्नतीन्द्रियज्ञानमतीन्द्रियसुखं चोपादेयमिति, यत्पुनरिन्द्रियजं ज्ञानं सुखं च तद्धेयमिति प्रतिपादनरूपेण प्रथमतस्तावदधिकारस्थलगाथया स्थलचतुष्टयं सूत्रयति—**अत्थि** अस्ति विद्यते । किं कर्तृ । **णाणं** ज्ञानमिति भिन्नप्रक्रमो व्यवहितसंबन्धः । किंविशिष्टम् । **अमुत्तं मुत्तं** अमूर्तं मूर्तं च । पुनरपि किंविशिष्टम् । **अदिंदियं इंदियं च** यदमूर्तं तदतीन्द्रियं मूर्तं पुनरिन्द्रियजम् । इत्थंभूतं ज्ञानमस्ति । केषु विषयेषु । **अत्थेसु** ज्ञेयपदार्थेषु, **तहा सोक्खं च** तथैव ज्ञानवदमूर्तमतीन्द्रियं मूर्तमिन्द्रियजं च सुखमिति । **जं तेसु परं च तं णेयं** यत्तेषु पूर्वोक्तज्ञानसुखेषु मध्ये परमुत्कृष्टमतीन्द्रियं तदुपादेयमिति ज्ञातव्यम् । तदेव विव्रियते—अमूर्ताभिः क्षायिकीभिरतीन्द्रियाभिश्चिदानन्दैकलक्षणाभिः शुद्धात्मशक्तिभिरुत्पन्नत्वादतीन्द्रियज्ञानं सुखं चात्माधीनत्वेनाविनश्वरत्वादुपादेयमिति पूर्वोक्तामूर्तशुद्धात्मशक्तिभ्यो विलक्षणाभिः क्षायोपशमिकेन्द्रियशक्तिभिरुत्पन्नत्वादिन्द्रियजं ज्ञानं सुखं च परायत्तत्वेन विनश्वरत्वाद्धेयमिति तात्पर्यम् ॥ ५३ ॥ एवमधिकारगाथया प्रथमस्थलं गतम् । अथ पूर्वोक्तमुपादेयभूतमतीन्द्रियज्ञानं विशेषेण व्यक्तीकरोति—**जं**

योग्य है । **भावार्थ**—ज्ञान और सुख दो प्रकारके हैं, एक अतीन्द्रिय अमूर्तीक और दूसरा इन्द्रियाधीन मूर्तीक । इनमें से अतीन्द्रिय अमूर्तीक ज्ञानसुख उपादेय है, और इंद्रियाधीन मूर्तीक ज्ञानसुख हेय है । जो ज्ञानसुख आत्मीक, अमूर्तीक, चैतन्यरूप परद्रव्योंके संयोगसे रहित केवल शुद्ध परिणतिरूप शक्तिसे उत्पन्न है, वह सब तरहसे आत्माके आधीन है, अविनाशी है, एक ही बार अखंडित धारा प्रवाहरूप प्रवर्तता है, शत्रुरहित है, और घटता बढ़ता नहीं है; इस कारण उत्कृष्ट तथा उपादेय है, और जो आत्माके मूर्तीक क्षयोपशमरूप इंद्रियोंके आधीन चैतन्य शक्तिसे उत्पन्न है, वह पराधीन है, विनाशीक है, क्रमरूप प्रवर्तता है, शत्रुसे खंडित है, और घटता बढ़ता है, इस कारण हीन तथा हेय है ॥ ५३ ॥ आगे अतीन्द्रियसुखका कारण अतीन्द्रिय ज्ञान उपादेय है, यह कहते हैं—[प्रेक्षमाणस्य] देखनेवाले

जं पेच्छदो अमुत्तं मुत्तेसु अदिंदियं च पच्छण्णं।
सयलं सगं च इदरं तं णाणं हवदि पच्चक्खं ॥ ५४ ॥
यत्प्रेक्षमाणस्यामूर्तं मूर्तेष्वतीन्द्रियं च प्रच्छन्नम्।
सकलं स्वकं च इतरत् तद्ज्ञानं भवति प्रत्यक्षम् ॥ ५४ ॥

अतीन्द्रियं हि ज्ञानं यदमूर्तं यन्मूर्तेष्वप्यतीन्द्रियं यत्प्रच्छन्नं च यत्सकलं स्वपरविकल्पान्तःपाति प्रेक्षत एव। तस्य खल्वमूर्तेषु धर्माधर्मादिषु, मूर्तेष्वप्यतीन्द्रियेषु परमाण्वादिषु द्रव्यप्रच्छन्नेषु कालादिषु क्षेत्रप्रच्छन्नेष्वलोकाकाशप्रदेशादिषु, कालप्रच्छन्नेष्वसांप्रतिकपर्यायेषु, भावप्रच्छन्नेषु स्थूलपर्यायान्तर्लीनसूक्ष्मपर्यायेषु सर्वेष्वपि स्वपरव्यवस्थाव्यवस्थितेष्वस्ति द्रष्टृत्वं प्रत्यक्षत्वात्। प्रत्यक्षं हि ज्ञानमुद्भिन्नानन्तशुद्धिसंनिधानमनादिसिद्धचैतन्यसामान्यसंबन्धमेकमेवाक्षनामानमात्मानं प्रतिनियतमितरसामग्रीममृगयमाणमनन्तशक्तिसद्भावतोऽनन्ततामुपगतं दहनस्येव

यदन्तीन्द्रियं ज्ञानं कर्तृ **पेच्छदो** प्रेक्षमाणपुरुषस्य जानाति। किं किम्। **अमुत्तं** अमूर्तमतीन्द्रियनिरुपरागसदानन्दैकसुखस्वभावं यत्परमात्मद्रव्यं तत्प्रभृति समस्तामूर्तद्रव्यसमूहं **मुत्तेसु अदिंदियं च** मूर्तेषु पुद्गलद्रव्येषु यदतीन्द्रियं परमाण्वादि **पच्छण्णं** कालाणुप्रभृतिद्रव्यरूपेण प्रच्छन्नं व्यवहितमन्तरितम्, अलोकाकाशप्रदेशप्रभृति क्षेत्रप्रच्छन्नं, निर्विकारपरमानन्दैकसुखास्वादपरिणतिरूपपरमात्मनो वर्तमानसमयगतपरिणामास्तत्प्रभृतयो ये समस्तद्रव्याणां वर्तमानसमयगतपरिणामास्ते कालप्रच्छन्नाः, तस्यैव परमात्मनः सिद्धरूपशुद्धव्यञ्जनपर्यायः शेषद्रव्याणां च ये यथासंभवं व्यञ्जनपर्यायास्तेष्वन्तर्भूताः प्रतिसमयप्रवर्तमानषट्प्रकारप्रवृद्धिहानिरूपा अर्थपर्याया भावप्रच्छन्ना भण्यन्ते। **सयलं** तत्पूर्वोक्तं समस्तं ज्ञेयं द्विधा भवति। कथमितिचेत्। **सगं च इदरं** किमपि यथासंभवं स्वद्रव्यगतं इतरत्परद्रव्यगतं च तदुभयं यतः कारणाज्जानाति तेन कारणेन **तं णाणं** तत्पूर्वोक्तज्ञानं **हवदि** भवति। कथंभूतम्। **पच्चक्खं** प्रत्यक्षमिति। अत्राह शिष्यः—ज्ञानप्रपञ्चाधिकारः पूर्वमेव गतः, अस्मिन् सुखप्रपञ्चाधिकारे सुखमेव कथनीयमिति। परिहारमाह—यदतीन्द्रियं ज्ञानं पूर्वं भणितं तदेवाभेदनयेन सुखं भवतीति ज्ञापनार्थम्, अथवा ज्ञानस्य मुख्यवृत्त्या तत्र

पुरुषका [**यद् ज्ञानं**] जो ज्ञान [**अमूर्तं**] धर्म, अधर्म, आकाश, काल, जीव इन पाँच अमूर्तीक द्रव्योंको [**च**] और [**मूर्तेषु**] मूर्तीक अर्थात् पुद्गलद्रव्योंके पर्यायोंमें [**अतीन्द्रियं**] इंद्रियोंसे नहीं ग्रहण करने योग्य परमाणुओंको [**प्रच्छन्नं**] द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे गुप्त पदार्थोंको [**सकलं स्वकं**] सब ही स्वज्ञेय [**च**] और [**इतरं**] परज्ञेयोंको जानता है। [**तत्**] वह ज्ञान [**प्रत्यक्षं**] इंद्रिय विना केवल आत्माके आधीन [**भवति**] होता है। **भावार्थ**—जो सबको जानता है, उसे प्रत्यक्षज्ञान कहते हैं। इस ज्ञानमें अनंत शुद्धता है। अन्य सामग्री नहीं चाहता, केवल एक अक्षनामा आत्माके प्रति निश्चिन्त हुआ प्रवर्तता है, और अपनी शक्तिसे अनंत स्वरूप है। जैसे अग्नि (आग) ईंधनके आकार है, वैसे ही यह ज्ञान ज्ञेयाकारोंको नहीं छोड़ता है, इसलिये अनन्तस्वरूप है। इस प्रकार प्रत्यक्षज्ञानकी महिमाको कोई दूर नहीं कर सकता। इसलिये अनन्तस्वरूप है।

दाद्याकाराणां ज्ञानस्य ज्ञेयाकाराणामनतिक्रमाद्यथोदितानुभावमनुभवत्तत् केन नाम निवार्येत। अतस्तदुपादेयम् ॥ ५४ ॥

अथेन्द्रियसौख्यसाधनीभूतमिन्द्रियज्ञानं हेयं प्रणिन्दति—

जीवो सयं अमुत्तो मुत्तिगदो तेण मुत्तिणा मुत्तं।
ओगेण्हित्ता जोग्गं जाणदि वा तण्ण जाणादि ॥ ५५ ॥

जीवः स्वयममूर्तो मूर्तिगतस्तेन मूर्तेन मूर्तम्।
अवगृह्य योग्यं जानाति वा तन्न जानाति ॥ ५५ ॥

इन्द्रियज्ञानं हि मूर्तोपलम्भकं मूर्तोपलभ्यं च तद्वान् जीवः स्वयममूर्तोऽपि पञ्चेन्द्रियात्मकं शरीरं मूर्तमुपागतस्तेन ज्ञप्तिनिष्पत्तौ बलाधाननिमित्ततयोपलम्भकेन मूर्तेन मूर्तं स्पर्शादिप्रधानं वस्तूपलभ्यतामुपागतं योग्यमवगृह्य कदाचित्तदुपर्युपरि शुद्धिसंभवादवगच्छति, कदाचित्तदसंभवान्नावगच्छति। परोक्षत्वात्। परोक्षं हि ज्ञानमतिदृढतराज्ञानतमोग्रन्थिगुण्ठनान्निमीलितस्यानादिसिद्धचैतन्यसामान्यसंबन्धस्याप्यात्मनः स्वयं परिच्छेत्तुमर्थमसमर्थस्योपात्तानुपात्तपरप्रत्यय-

---

हेयोपादेयचिन्ता नास्तीति ज्ञापनार्थं वा। एवमतीन्द्रियज्ञानमुपादेयमिति कथनमुख्यत्वेनैकगाथया द्वितीयस्थलं गतम् ॥ ५४ ॥ अथ हेयभूतस्येन्द्रियसुखस्य कारणत्वादल्पविषयत्वाच्चेन्द्रियज्ञानं हेयमित्युपदिशति— **जीवो सयं अमुत्तो** जीवस्तावच्छक्तिरूपेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेनामूर्तातीन्द्रियज्ञानसुखस्वभावः, पश्चादनादिबन्धवशाद् व्यवहारेण **मुत्तिगदो** मूर्तशरीरगतो मूर्तशरीरपरिणतो भवति। **तेण मुत्तिणा** तेन मूर्तशरीरेण मूर्तशरीराधारोत्पन्नमूर्तद्रव्येन्द्रियभावेन्द्रियाधारेण **मुत्तं** मूर्तं वस्तु **ओगेण्हित्ता** अवग्रहादिकेन क्रमकरणव्यवधानरूपं कृत्वा **जोग्गं** तत्स्पर्शादिमूर्तं वस्तु। कथंभूतम्। इन्द्रियग्रहणयोग्यं **जाणदि वा तण्ण जाणादि** स्वावरणक्षयोपशमयोग्यं किमपि स्थूलं जानाति, विशेषक्षयोपशमाभावात् सूक्ष्मं न जानातीति। अयमत्र

इस प्रकार प्रत्यक्षज्ञानकी महिमाको कोई दूर नहीं कर सकता। इसलिये यह प्रत्यक्षज्ञान उपादेय है, और अतीन्द्रिय सुखका कारण है ॥ ५४ ॥ आगे जो इंद्रियसुखका कारण इंद्रियज्ञान है, उसे हेय दिखलाकर निंदा करते हैं—[**जीवः**] आत्मद्रव्य [**स्वयं**] अपने स्वभावसे [**अमूर्तः**] स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, रहित अमूर्तीक है, और [**स एव**] वही अनादि बंध–परिणमनकी अपेक्षा [**मूर्तिगतः**] मूर्तिमान् शरीरमें स्थित (मौजूद) है। [**तेन मूर्तेन**] उस मूर्तीक शरीरमें ज्ञानकी उत्पत्तिको निमित्त-कारणरूप मूर्तिवंत द्रव्येन्द्रियसे [**योग्यं मूर्तं**] इन्द्रियके ग्रहण करने योग्य स्थूलस्वरूप मूर्तीकको अर्थात् स्पर्शादिरूप वस्तुको [**अवगृह्य**] अवग्रह ईहादि भेदोंसे, क्रमसे, ग्रहण करके [**जानाति**] जानता है, [**वा**] अथवा [**तत्**] उस मूर्तीकको [**न जानाति**] नहीं जानता, **अर्थात्** जब कर्मके क्षयोपशमकी तीव्रता होती है, तब जानता है, मंदता होती है, तब नहीं जानता। **भावार्थ**—यह आत्मा अनादिकालसे अज्ञानरूप अंधकारकर अंधा हो गया है यद्यपि अपनी चैतन्यकी महिमाको लिये रहता है, तो भी कर्मके संयोगसे इंद्रियके विना अपनी शक्तिसे जाननेको असमर्थ है, इसलिये आत्माके यह परोक्ष-

सामग्रीमार्गणव्यग्रतयात्यन्तविसंष्ठुलत्वमवलम्बमानमनन्तायाः शक्तेः परिस्खलनान्नितान्तविक्लवीभूतं महामोहमल्लस्य जीवदवस्थत्वात् परपरिणतिप्रवर्तिताभिप्रायमपि पदे पदे प्राप्तविप्रलम्भमनुपलम्भसंभावनामेव परमार्थतोऽर्हति । अतस्तद्धेयम् ॥ ५५ ॥

अथेन्द्रियाणां स्वविषयमात्रेऽपि युगपत्प्रवृत्त्यसंभवाद्धेयमेवेन्द्रियज्ञानमित्यवधारयति—

फासो रसो य गंधो वण्णो सद्दो य पुग्गला होंति ।
अक्खाणं ते अक्खा जुगवं ते णेव गेण्हंति ॥ ५६ ॥
स्पर्शो रसश्च गन्धो वर्णः शब्दश्च पुद्गला भवन्ति ।
अक्षाणां तान्यक्षाणि युगपत्तान्नैव गृह्णन्ति ॥ ५६ ॥

इन्द्रियाणां हि स्पर्शरसगन्धवर्णप्रधानाः शब्दश्च ग्रहणयोग्याः पुद्गलाः । अथेन्द्रियैर्युगपत्ते-

---

भावार्थः—इन्द्रियज्ञानं यद्यपि व्यवहारेण प्रत्यक्षं भण्यते, तथापि निश्चयेन केवलज्ञानापेक्षया परोक्षमेव । परोक्षं तु यावतांशेन सूक्ष्मार्थं न जानाति तावतांशेन चित्तखेदकारणं भवति । खेदश्च दुःखं, ततो दुःखजनकत्वादिन्द्रियज्ञानं हेयमिति ॥ ५५ ॥ अथ चक्षुरादीन्द्रियज्ञानं रूपादिस्वविषयमपि युगपन्न जानाति तेन कारणेन हेयमिति निश्चिनोति—**फासो रसो य गंधो वण्णो सद्दो य पुग्गला होंति** स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दाः पुद्गला मूर्ता भवन्ति । ते च विषयाः । केषाम् । **अक्खाणं** स्पर्शनादीन्द्रियाणां **ते अक्खा** तान्यक्षाणीन्द्रियाणि कर्तॄणि **जुगवं ते णेव गेण्हंति** युगपत्तान् स्वकीयविषयानपि न गृह्णन्ति न जानन्तीति । अय-

---

ज्ञान है । यह परोक्षज्ञान मूर्तिवन्त द्रव्येंद्रियके आधीन है, मूर्तीक पदार्थोंको जानता है, अतिशयकर चंचल है, अनंतज्ञानकी महिमासे गिरा हुआ है, अत्यंत विकल है, महा-मोह-मल्लकी सहायतासे पर-परिणतिमें प्रवर्तता है, पद पद (जगह जगह) पर विवादरूप, उलाहना देने योग्य है, वास्तवमें स्तुति करने योग्य नहीं है, निंद्य है, इसी लिये हेय है ॥ ५५ ॥ आगे इंद्रियज्ञान यद्यपि अपने जानने योग्य मूर्तीक पदार्थोंको जानता है, तो भी एक ही बार नहीं जानता, इसलिये हेय है, ऐसा कहते हैं—[**अक्षाणां**] पाँचों इन्द्रियोंके [**स्पर्शः**] स्पर्श [**रसः**] रस [**च गन्धः**] और गंध [**वर्णः**] रूप [**च**] तथा [**शब्दः**] शब्द ये पाँच विषय [**पुद्गलाः**] पुद्गलमयी [**भवन्ति**] है । अर्थात् पाँच इंद्रियाँ उक्त स्पर्शादि पाँचों विषयोंको जानती है, परंतु [**तानि अक्षाणि**] वे इंद्रियाँ [**तान्**] उन पाँचों विषयोंको [**युगपत्**] एक ही बार [**नैव**] नहीं [**गृह्णन्ति**] ग्रहण करतीं । **भावार्थ—** ये स्पर्शनादि पाँचों इन्द्रियाँ अपने अपने स्पर्शादि विषयोंको ग्रहण करती है, परंतु एक ही समय ग्रहण नहीं कर सकतीं । अर्थात् जिस समय जिह्वा इंद्रिय रसका अनुभव करती है, उस समय अन्य श्रोत्रादि इंद्रियोंका कार्य नहीं होता । **सारांश**–एक इंद्रियका जब कार्य होता है, तब दूसरीका बन्द रहता है, क्योंकि अंतरंगमें जो क्षायोपशमिकज्ञान है, उसकी शक्ति क्रमसे प्रवर्तती है । जैसे काकके दोनों नेत्रोंकी पूतली एक ही होती है, परंतु वह पूतली ऐसी चंचल है, कि लोगोंको यह माळूम पड़ता है, जो दोनों नेत्रोंमें जुदी जुदी पूतली हैं । यथार्थमें वह एक ही है, जिस समय वह जिस नेत्रसे देखता है, उस समय उसी नेत्रमें

ऽपि न गृह्णन्ते, तथाविधक्षयोपशमनशक्तेरसंभवात् । इन्द्रियाणां हि क्षयोपशमसंज्ञिकायाः परिच्छेद्याः शक्तेरन्तरङ्गायाः काकाक्षितारकवत् क्रमप्रवृत्तिवशादनेकतः प्रकाशयितुमसमर्थत्वात्सत्स्वपि द्रव्येन्द्रियद्वारेषु न यौगपद्येन निखिलेन्द्रियार्थावबोधः सिद्ध्येत्, परोक्षत्वात् ॥ ५६ ॥

अथेन्द्रियज्ञानं न प्रत्यक्षं भवतीति निश्चिनोति—

परदव्वं ते अक्खा णेव सहावो त्ति अप्पणो भणिदा ।
उवलद्धं तेहि कधं पच्चक्खं अप्पणो होदि ॥ ५७ ॥
परद्रव्यं तान्यक्षाणि नैव स्वभाव इत्यात्मनो भणितानि ।
उपलब्धं तैः कथं प्रत्यक्षमात्मनो भवति ॥ ५७ ॥

आत्मानमेव केवलं प्रतिनियतं केवलज्ञानं प्रत्यक्षं, इदं तु व्यतिरिक्तास्तित्वयोगितया पर-

मत्राभिप्रायः—यथा सर्वप्रकारोपादेयभूतस्यानन्तसुखस्योपादानकारणभूतं केवलज्ञानं युगपत्समस्तं वस्तु जानत्सत् जीवस्य सुखकारणं भवति तथेदमिन्द्रियज्ञानं स्वकीयविषयेऽपि युगपत्परिज्ञानाभावात्सुखकारणं न भवति ॥ ५६ ॥ अथेन्द्रियज्ञानं प्रत्यक्षं न भवतीति व्यवस्थापयति—**परदव्वं ते अक्खा** तानि प्रसिद्धान्यक्षाणीन्द्रियाणि परद्रव्यं भवन्ति । कस्य । आत्मनः **णेव सहावो त्ति अप्पणो भणिदा** योऽसौ विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभाव आत्मनः सबन्धी तत्स्वभावानि निश्चयेन न भणितानीन्द्रियाणि । कस्मात् । भिन्नास्तित्वनिष्पन्नत्वात् । **उवलद्धं तेहि** उपलब्धं ज्ञातं यत्पञ्चेन्द्रियविषयभूतं वस्तु तैरिन्द्रियैः **कधं पच्चक्खं अप्पणो होदि** तद्वस्तु कथं प्रत्यक्षं भवत्यात्मनो न कथमपीति । तथैव च नानामनोरथव्याप्तिविषये प्रतिपाद्यप्रतिपादकादिविकल्पजालरूपं यन्मनस्तदपीन्द्रियज्ञानवन्निश्चयेन परोक्षं भवतीति ज्ञात्वा किं कर्तव्यम् । सकलैकाखण्डप्रत्यक्षप्रतिभासमयपरमज्योतिःकारणभूते स्वशुद्धात्मस्वरूपभावनासमुत्पन्नपरमाह्लादैकलक्षणसुखसंवि-

आ जाती है, परंतु एक बार दोनों नेत्रोंसे नहीं देख सकता । यही दशा क्षायोपशमिकज्ञानकी है । यह ज्ञान स्पर्शादि पाँचों विषयोंको एक ही बार जाननेमें असमर्थ है । जिस समय जिस इंद्रियरूप द्वारमें जाननेरूप प्रवृत्ति करता है, उस समय उसी द्वारमें रहता है, अन्य द्रव्येन्द्रिय द्वारमें नहीं । इस कारण एक ही काल सब इन्द्रियोंसे ज्ञान नहीं होता । इसी लिये इन्द्रियज्ञान परोक्ष है, पराधीन है, और हेय है ॥ ५६ ॥ आगे इंद्रियज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है, ऐसा निश्चित करते हैं—[**आत्मनः**] आत्माका [**स्वभावः**] चेतनास्वभाव [**नैव**] उन इन्द्रियोंमें [**नैव**] नहीं है, [**इति**] इसलिये [**तानि अक्षाणि**] वे स्पर्शनादि इन्द्रियाँ [**परद्रव्यं**] अन्य पुद्गलद्रव्य [**भणितानि**] कही गई हैं । [**तैः**] उन इंद्रियोंसे [**उपलब्धं**] प्राप्त हुए (जाने हुए) पदार्थ [**आत्मनः**] आत्माके [**कथं**] कैसे [**प्रत्यक्षं**] प्रत्यक्ष [**भवति**] होवें ? कभी नहीं होवें । **भावार्थ—**आत्मा चैतन्यस्वरूप है, और द्रव्येन्द्रियाँ जड़स्वरूप हैं । इन इन्द्रियोंके द्वारा जाना हुआ पदार्थ प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि पराधीनतासे रहित आत्माके आधीन जो ज्ञान है, उसे ही प्रत्यक्ष कहते हैं, और यह इंद्रियज्ञान पुद्गलकी इंद्रियोंके द्वारा उनके आधीन होकर पदार्थको जानता है, इस कारण परोक्ष है तथा पराधीन है । ऐसे

द्रव्यतामुपगतैरात्मनः स्वभाववतां मनागप्यसंस्पृशद्भिरिन्द्रियैरुपलभ्योपजन्यमानं नैवात्मनः प्रत्यक्षं भवितुमर्हति ॥ ५७ ॥

अथ परोक्षप्रत्यक्षलक्षणमुपलक्षयति—

जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्खं त्ति भणिदमट्ठेसु ।
जदि केवलेण णादं हवदि हि जीवेण पच्चक्खं ॥ ५८ ॥
यत्परतो विज्ञानं तत्तु परोक्षमिति भणितमर्थेषु ।
यदि केवलेन ज्ञातं भवति हि जीवेन प्रत्यक्षम् ॥ ५८ ॥

यत्तु खलु परद्रव्यभूतादन्तःकरणादिन्द्रियात्परोपदेशादुपलब्धेः संस्कारादालोकादेर्वा निमित्ततामुपगतात् स्वविषयमुपगतस्यार्थस्य परिच्छेदनं तत् परतः प्रादुर्भवत्परोक्षमित्यालक्ष्यते। यत्पुनरन्तःकरणमिन्द्रियं परोपदेशमुपलब्धिसंस्कारमालोकादिकं वा समस्तमपि परद्रव्यमनपेक्ष्यात्मस्वभावमेवैकं कारणत्वेनोपादाय सर्वद्रव्यपर्यायजातमेकपद एवाभिव्याप्य प्रवर्तमानं परिच्छेदनं तत् केवलादेवात्मनः संभूतत्वात् प्रत्यक्षमित्यालक्ष्यते । इह हि सहजसौख्यसाधनी-

---

भ्याकारपरिणतिरूपे रागादिविकल्पोपाधिरहिते स्वसंवेदनज्ञाने भावना कर्तव्या इत्यभिप्रायः ॥ ५७ ॥ अथ पुनरपि प्रकारान्तरेण प्रत्यक्षपरोक्षलक्षणं कथयति—**जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्ख त्ति भणिदं** यत्परतः सकाशाद्विज्ञानं परिज्ञानं भवति तत्पुनः परोक्षमिति भणितम् । केषु विषयेषु । **अट्ठेसु** ज्ञेयपदार्थेषु **जदि केवलेण णादं हवदि हि** यदि केवलेनासहायेन ज्ञातं भवति हि स्फुटम् । केन कर्तृभूतेन । **जीवेण** जीवेन तर्हि **पच्चक्खं** प्रत्यक्षं भवतीति । अतो विस्तरः—इन्द्रियमनःपरोपदेशावलोकादिबहिरङ्गनिमित्तभूतात्तथैव च ज्ञानावरणीयक्षयोपशमजनितार्थग्रहणशक्तिरूपाया उपलब्धेरर्थावधारणरूपसंस्काराच्चान्तरङ्गकारणभूतात्सकाशादुत्पद्यते यद्विज्ञानं तत्पराधीनत्वात्परोक्षमित्युच्यते । यदि पुनः पूर्वोक्तसमस्तपरद्रव्यमनपेक्ष्य केवलाच्छुद्धबुद्धैकस्वभावात्परमात्मनः सकाशात्समुत्पद्यते ततोऽक्षनामानमात्मानं प्रतीत्योत्पद्यमानत्वात्प्रत्यक्षं

ज्ञानको प्रत्यक्ष नहीं कह सकते ॥ ५७ ॥ आगे परोक्ष और प्रत्यक्षका लक्षण दिखाते है—[**यत्**] जो [**परतः**] परकी सहायतासे [**अर्थेषु**] पदार्थोंमें [**विज्ञानं**] विशेष ज्ञान उत्पन्न होवे, [**तत्**] वह [**परोक्षं**] परोक्ष है, [**इति भणितं**] ऐसा कहा है । [**तु**] परंतु [**यदि**] जो [**केवलेन**] परकी सहायता विना अपने आप ही [**जीवेन**] आत्माकर [**हि**] निश्चयसे [**ज्ञातं**] जाना जावे, [**तदा**] तो वह [**प्रत्यक्षं**] प्रत्यक्षज्ञान [**भवति**] है। **भावार्थ—**जो ज्ञान मनसे, पाँच इंद्रियोसे, परोपदेशसे, क्षयोपशमसे, पूर्वके अभ्याससे और सूर्यादिकके प्रकाशसे उत्पन्न होता है, उसे परोक्षज्ञान कहते हैं, क्योंकि यह ज्ञान इन्द्रियादिक परद्रव्य स्वरूप निमित्तोंसे उत्पन्न होता है, औरपरजनित होनेसे पराधीन है । परंतु जो ज्ञान, मन इन्द्रियादिक परद्रव्योंकी सहायताके विना केवल आत्माकी ही सहायतासे उत्पन्न होता है, तथा एक ही समयमें सब द्रव्य पर्यायोंको जानता है, उसे प्रत्यक्षज्ञान कहते हैं, क्योंकि वह केवल आत्माके आधीन है, यही महा प्रत्यक्षज्ञान आत्मीकस्वाभाविक सुखका साधन माना है ॥ ५८ ॥

भूतमिदमेव महाप्रत्यक्षमभिमेतमिति ॥ ५८ ॥

अथैतदेव प्रत्यक्षं पारमार्थिकसौख्यत्वेनोपक्षिपति—

जादं सयं समत्तं णाणमणंतत्थवित्थडं विमलं ।
रहियं तु ओग्गहादिहिं सुहं त्ति एगंतियं भणियं ॥ ५९ ॥
जातं स्वयं समस्तं ज्ञानमनन्तार्थविस्तृतं विमलम् ।
रहितं तु अवग्रहादिभिः सुखमिति ऐकान्तिकं भणितम् ॥ ५९ ॥

स्वयं जातत्वात्, समस्तत्वात्, अनन्तार्थविस्तृतत्वात्, विमलत्वात्, अवग्रहादिरहितत्वाच्च प्रत्यक्षं ज्ञानं सुखमैकान्तिकमिति निश्चीयते । अनाकुलत्वैकलक्षणत्वात्सौख्यस्य, यतो हि परतो जायमानं पराधीनतया असमस्तमितरद्वारावरणेन कतिपयार्थप्रवृत्तमितरार्थबुभुत्सया समलमसम्यगवबोधेन अवग्रहादिसहितं, क्रमकृतार्थग्रहणखेदेन परोक्षं ज्ञानमत्यन्तमाकुलं भवति । ततो न तत् परमार्थतः सौख्यम् । इदं तु पुनरनादिज्ञानसामान्यस्वभावस्योपरि महाविकाशेनाभिव्याप्य स्वत एव व्यवस्थितत्वात्स्वयं जायमानमात्माधीनतया,समस्तात्मप्रदेशान् परमसमक्षज्ञानोपयोगी-

---

भवतीति सूत्राभिप्रायः ॥ ५८ ॥ एवं हेयभूतेन्द्रियज्ञानकथनमुख्यतया गाथाचतुष्टयेन तृतीयस्थलं गतम् । अथाभेदनयेन पञ्चविशेषणविशिष्टं केवलज्ञानमेव सुखमिति प्रतिपादयति—**जादं** जातम् उत्पन्नम् । किं कर्तृ । **णाणं** केवलज्ञानम् । कथं जातम् । **सयं** स्वयमेव । पुनरपि किंविशिष्टम् । **समत्तं** परिपूर्णम् । पुनरपि किंरूपम् । **अणंतत्थवित्थडं** अनन्तार्थविस्तीर्णम् । पुनः कीदृशम् । **विमलं** संशयादिमलरहितम् । पुनरपि कीदृक् । **रहियं तु ओग्गहादिहिं** अवग्रहादिरहितं चेति । एवं पञ्चविशेषणविशिष्टं यत्केवलज्ञानं **सुहं ति एगंतियं भणियं** तत्सुखं भणितम् । कथंभूतम् । ऐकान्तिकं नियमेनेति । तथाहि–परनिरपेक्षत्वेन चिदानन्दैकस्वभावं निजशुद्धात्मानमुपादानकारणं कृत्वा समुत्पद्यमानत्वात्स्वयं जायमानं सत्सर्वशुद्धात्मप्रदे-

---

आगे यही अतीन्द्रिय प्रत्यक्षज्ञान निश्चयसुख है, ऐसा अभेद दिखाते हैं—[**स्वयं जातं**] अपने आपसे ही उत्पन्न [**समस्तं**] संपूर्ण [**अनन्तार्थविस्तृतं**] सब पदार्थोंमें फैला हुआ [**विमलं**] निर्मल [**तु**] और [**अवग्रहादिभिः रहितं**] अवग्रह, ईहा आदिसे रहित [**ज्ञानं**] ऐसा ज्ञान [**ऐकान्तिकं सुखं**] निश्चय सुख है, [**इति भणितं**] इस प्रकार सर्वज्ञने कहा है । **भावार्थ—**जिसमें आकुलता न हो, वही सुख है । यह अतीन्द्रियप्रत्यक्षज्ञान आकुलता रहित है, इसलिये सुखरूप है । यह परोक्षज्ञान पराधीन है, क्योंकि परसे (द्रव्येन्द्रियसे) उत्पन्न है । असंपूर्ण है । क्योंकि आवरण सहित है। सब पदार्थोंको नहीं जाननेसे सबमें विस्ताररूप नहीं है, सकुचित हैं, संशयादिक सहित होनेसे मल सहित है, निर्मल नहीं है, क्रमवर्ती है, क्योंकि अवग्रह ईहादि युक्त है, और खेद (आकुलता) सहित होनेसे निराकुल नहीं है, इसलिये परोक्षज्ञान सुखरूप नहीं है. और यह अतीन्द्रिय प्रत्यक्षज्ञान पराधीनता रहित एक निज शुद्धात्माके कारणको पाकर उत्पन्न हुआ है, इसलिये आपसे ही उत्पन्न है, आवरण रहित होनेसे अपने आत्माके सब प्रदेशोंमें अपनी अनंत शक्ति सहित है, इसलिये सम्पूर्ण है, अपनी

भूयाभिव्याप्य व्यवस्थितत्वात्समन्तम् अशेषद्वारापावरणेन, प्रसभं निपीतसमस्तवस्तुज्ञेयाकारं परमं वैश्वरूप्यमभिव्याप्य व्यवस्थितत्वादनन्तार्थविस्तृतं समस्तार्थाबुभुत्सया, सकलशक्तिप्रतिबन्धककर्मसामान्यनिःक्रान्ततया परिस्पष्टप्रकाशभास्वरं स्वभावमभिव्याप्य व्यवस्थितत्वाद्विमलं सम्यगवबोधेन, युगपत्समर्पितत्रैसमयिकात्मस्वरूपं लोकालोकमभिव्याप्य व्यवस्थितत्वादवग्रहादिरहितं क्रमकृतार्थग्रहणखेदाभावेन प्रत्यक्षं ज्ञानमनाकुलं भवति। ततस्तत्पारमार्थिकं खलु सौख्यम् ॥५९॥

अथ केवलस्यापि परिणामद्वारेण खेदस्य संभवादैकान्तिकसुखत्वं नास्तीति प्रत्याचष्टे—

जं केवलं ति णाणं तं सोक्खं परिणमं च सो चेव।
खेदो तस्स ण भणिदो जम्हा घादी खयं जादा ॥ ६० ॥
यत्केवलमिति ज्ञानं तत्सौख्यं परिणामश्च स चैव।
खेदस्तस्य न भणितो यस्मात् घातीनि क्षयं यातानि ॥ ६० ॥

अत्र को हि नाम खेदः कश्च परिणामः कश्च केवलसुखयोर्व्यतिरेकः, यतः केवलस्यैकान्तिकसुखत्वं न स्यात्। खेदस्यायतनानि घातिकर्माणि, न नाम केवलं परिणाममात्रम्।

शाधारत्वेनोत्पन्नत्वात्समस्तं सर्वज्ञानाविभागपरिच्छेदपरिपूर्णं सत् समस्तावरणक्षयेनोत्पन्नत्वात्समस्तज्ञेयपदार्थग्राहकत्वेन विस्तीर्णं सत् संशयविमोहविभ्रमरहितत्वेन सूक्ष्मादिपदार्थपरिच्छित्तिविषयेऽत्यन्तविशदत्वाद्विमलं सत् क्रमकरणव्यवधानजनितखेदाभावादवग्रहादिरहितं च सत्, यदेवं पञ्चविशेषणविशिष्टं क्षायिकज्ञानं तदनाकुलत्वलक्षणपरमानन्दैकरूपपारमार्थिकसुखात्संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेऽपि निश्चयेनाभिन्नत्वात्पारमार्थिकसुखं भण्यते। इत्यभिप्रायः ॥ ५९ ॥ अथानन्तपदार्थपरिच्छेदनात्केवलज्ञानेऽपि भेदोऽस्तीति पूर्वपक्षे सति परिहारमाह—**जं केवलं ति णाणं तं सोक्खं** यत्केवलमिति ज्ञानं तत्सौख्यं भवति, तस्मात् **खेदो तस्स ण भणिदो** तस्य केवलज्ञानस्य खेदो दुःखं न भणितम्। तदपि कस्मात्। **जम्हा घादी खयं जादा** यस्मान्मोहादिघातिकर्माणि क्षयं गतानि। तर्हि तस्यानन्तपदार्थपरिच्छित्तिपरिणामो दुःखकारणं

ज्ञायकशक्तिके बलसे समस्त ज्ञेयाकारोंको मानो पिया ही है, इस कारण सब पदार्थोंमें विस्तीर्ण है, अनन्त शक्तिको बाधा करनेवाले कर्मोंके क्षयसे संशय, विमोह, विभ्रम दोष रहित सकल सूक्ष्मादि पदार्थोंको स्पष्ट (प्रगट) जानना है, इसलिये निर्मल है, और अतीत, अनागत, वर्तमानकालरूप लोकालोकको एक ही बार जानता है, इसलिये अक्रमवर्ती है, खेदयुक्त नहीं है, निराकुल है, इस कारण प्रत्यक्षज्ञान ही अतीन्द्रियसुख है, ऐसा जानना ॥ ५९ ॥ आगे केवलज्ञानीको सबके जाननेसे खेद उत्पन्न होता होगा, इस प्रकारके तर्कका निषेध करनेको कहते है—[**यत्**] जो [**केवलं इति**] केवल ऐसे नामवाला [**ज्ञानं**] ज्ञान है, [**तत्**] वह [**सौख्यं**] अनाकुल सुख है, [**च**] और [**स एव**] वही सुख [**परिणामः**] सबके जाननेरूप परिणाम है। [**तस्य**] उस केवलज्ञानके [**खेदः**] आकुलभाव [**न भणितः**] नहीं कहा है, [**यस्मात्**] क्योंकि [**घातीनि**] ज्ञानावरणादि चार घातियाकर्म [**क्षयं**] नाशको [**जातानि**] प्राप्त हुए हैं। **भावार्थ**—मोहकर्मके उदयसे यह आत्मा मतवालासा होकर

घातिकर्माणि हि महामोहोत्पादकत्वादुन्मत्तकवदतस्मिंस्तद्बुद्धिमाधाय परिच्छेद्यमर्थं प्रत्यात्मानं यतः परिणामयन्ति, ततस्तानि तस्य प्रत्यर्थं परिणम्य परिणम्य श्राम्यतः खेदनिदानतां प्रतिपद्यन्ते। तदभावात्कुतो हि नाम केवले खेदस्योद्भेदः। यतश्च त्रिसमयावच्छिन्नसकलपदार्थपरिच्छेद्याकारवैश्वरूप्यप्रकाशनास्पदीभूतं चित्रभित्तिस्थानीयमनन्तस्वरूपं स्वयमेव परिणमत्केवलमेव परिणामः, ततः कुतोऽन्यः परिणामो यद्द्वारेण खेदस्यात्मलाभः। यतश्च समस्तस्वभावप्रतिघाताभावात्समुल्लसितनिरङ्कुशानन्तशक्तितया सकलं त्रैकालिकं लोकालोकाकारमभिव्याप्य कूटस्थत्वेनात्यन्तनिःप्रकम्पं व्यवस्थितत्वादनाकुलतां सौख्यलक्षणभूतामात्मनोऽव्यतिरिक्तां बिभ्राणं केवलमेव सौख्यम्। ततः कुतः केवलसुखयोर्व्यतिरेकः। अतः सर्वथा केवलं सुखमैकान्तिकमनुमोदनीयम् ॥ ६० ॥

भविष्यति। नैवम्। **परिणमं च सो चेव** तस्य केवलज्ञानस्य संबन्धी परिणामश्च स एव सुखरूप एवेति। इदानीं विस्तरः—ज्ञानदर्शनावरणोदये सति युगपदर्थान् ज्ञातुमशक्यत्वात् क्रमकरणव्यवधानग्रहणे खेदो भवति, आवरणद्वयाभावे सति युगपद्ग्रहणे केवलज्ञानस्य खेदो नास्तीति सुखमेव। तथैव तस्य भगवतो जगत्त्रयकालत्रयवर्तिसमस्तपदार्थयुगपत्परिच्छित्तिसमर्थमखण्डैकरूपं प्रत्यक्षपरिच्छित्तिमयं स्वरूपं परिणमत्सत् केवलज्ञानमेव परिणामो न च केवलज्ञानाद्भिन्नपरिणामोऽस्ति येन खेदो भविष्यति। अथवा परिणामविषये द्वितीयव्याख्यानं क्रियते—युगपदनन्तपदार्थपरिच्छित्तिपरिणामेऽपि वीर्यान्तरायनिरवशेषक्षयादनन्तवीर्यत्वात् खेदकारणं नास्ति, तथैव च शुद्धात्मसर्वप्रदेशेषु समरसीभावेन परिणममानानां सहजशुद्धानन्दैकलक्षणसुखरसास्वादपरिणतिरूपामात्मनः सकाशादभिन्नामनाकुलतां प्रति खेदो नास्ति। संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेऽपि निश्चयेनाभेदरूपेण परिणममानं केवलज्ञानमेव सुखं भण्यते। ततः स्थितमेतत्केवलज्ञानाद्भिन्नं सुखं नास्ति। तत एव केवलज्ञाने खेदो न संभवतीति ॥ ६० ॥ अथ पुनरपि केवलज्ञानस्य सुखस्वरूपतां

असत्य वस्तुमें सत् बुद्धिको धारता हुआ ज्ञेय पदार्थोंमें परिणमन करता है, जिससे कि वे घातियाकर्म इसे इन्द्रियोंके आधीन करके पदार्थके जाननेरूप परिणमाते खेदके कारण होते हैं। इससे सिद्ध हुआ, कि घातियाकर्मोंके होनेपर आत्माके जो अशुद्ध ज्ञानपरिणाम हैं, वे खेदके कारण हैं—अर्थात् ज्ञानको खेदके कारण घातियाकर्म हैं। परंतु जहाँ इन घातियाकर्मोंका अभाव है, वहाँ केवलज्ञानावस्थामें खेद नहीं हो सकता, क्योंकि "कारणके अभावसे कार्यका भी अभाव हो जाता है" ऐसा न्याय है। एक ही समय त्रिकालवर्ती सब ज्ञेयोंको जाननेमें समर्थ चित्र विचित्र भीतकी तरह अनन्तस्वरूप परिणाम है, वह केवलज्ञान परिणाम है। इस स्वाधीन परिणाममें खेदके उत्पन्न होनेकी संभावना कैसे हो सकती है? ज्ञान स्वभावके घातनेवाले कर्मोंका नाश होनेसे ज्ञानकी अनंतशक्ति प्रगट होती है, उससे समस्त लोकालोकके आकारको व्याप्त कर कूटस्थ अवस्थासे, अत्यंत निश्चल तथा आत्मासे, अभिन्न अनन्तसुखरूप अनाकुलता सहित केवलज्ञान ही सुख है, ज्ञान और सुखमें कोई भेद नहीं है। इस कारण सब तरहसे निश्चयकर केवलज्ञानको ही सुख मानना योग्य है ॥ ६० ॥ आगे फिर भी केवलज्ञानको सुखरूप दिखाते

अथ पुनरपि केवलस्य सुखस्वरूपतां निरूपयन्नुपसंहरति—

णाणं अत्थंतगयं लोयालोएसु वित्थडा दिट्ठी।
णट्ठमणिट्ठं सव्वं इट्ठं पुण जं हि तं लद्धं ॥ ६१ ॥

ज्ञानमर्थान्तगतं लोकालोकेषु विस्तृता दृष्टिः।
नष्टमनिष्टं सर्वमिष्टं पुनर्यद्धि तल्लब्धम् ॥ ६१ ॥

स्वभावप्रतिघाताभावहेतुकं हि सौख्यम्। आत्मनो हि दृशिज्ञप्ती स्वभावः तयोर्लोकालोकविस्तृतत्वेनार्थान्तगतत्वेन च स्वच्छन्दविजृम्भितत्वाद्भवति प्रतिघाताभावः। ततस्तद्धेतुकं सौख्यमभेदविवक्षायां केवलस्य स्वरूपम्। किंच केवलं सौख्यमेव, सर्वानिष्टप्रहाणात्। सर्वेष्टोपलम्भाच्च। यतो हि केवलावस्थायां सुखप्रतिपत्तिविपक्षभूतस्य दुःखस्य साधनतामुपगतमज्ञानमखिलमेव प्रणश्यति, सुखस्य साधनीभूतं तु परिपूर्णं ज्ञानमुपजायेत। ततः केवलमेव सौख्यमित्यलं प्रपञ्चेन ॥ ६१ ॥

प्रकारान्तरेण दृढयति—**णाणं अत्थंतगयं** ज्ञानं केवलज्ञानमर्थान्तिगतं ज्ञेयान्तप्राप्तं **लोयालोएसु वित्थडा दिट्ठी** लोकालोकयोर्विस्तृता दृष्टिः केवलदर्शनम्। **णट्ठमणिट्ठं सव्वं** अनिष्टं दुःखमज्ञानं च तत्सर्वं नष्टं **इट्ठं पुण जं हि तं लद्धं** इष्टं पुनर्यद् ज्ञानं सुखं च हि स्फुटं तत्सर्वं लब्धमिति। तद्यथा—स्वभावप्रतिघाताभावहेतुकं सुखं भवति। स्वभावो हि केवलज्ञानदर्शनद्वयं, तयोः प्रतिघात आवरणद्वयं तस्याभावः केवलिनां, ततः कारणात्स्वभावप्रतिघाताभावहेतुकमक्षयानन्तसुखं भवति। यतश्च परमानन्दैकलक्षणसुखप्रतिपक्षभूतमाकुलत्वोत्पादकमनिष्टं दुःखमज्ञानं च नष्टं, यतश्च पूर्वोक्तलक्षणसुखाविनाभूतं त्रैलोक्योदरविवरवर्तिसमस्तपदार्थयुगपत्प्रकाशकमिष्टं ज्ञानं च लब्धं, ततो ज्ञायते केवलिनां ज्ञानमेव सुखमित्यभिप्रायः ॥ ६१ ॥ अथ पारमार्थिक-

---

हैं—[**अर्थान्तगतं**] पदार्थोंके पारको प्राप्त हुआ [**ज्ञानं**] केवलज्ञान है। [**तु**] तथा [**लोकालोकेषु**] लोक और अलोकमें [**विस्तृता**] फैला हुआ [**दृष्टिः**] केवलदर्शन है, जब [**सर्वं अनिष्टं**] सब दुःखदायक अज्ञान [**नष्टं**] नाश हुआ [**पुनः**] तो फिर [**यत्**] जो [**इष्टं**] सुखका देनेवाला ज्ञान है, [**तत्**] वह [**लब्धं**] प्राप्त हुआ ही। **भावार्थ**—जो आत्माके स्वभावका घात करता है, उसे दुःख कहते हैं, और उस घातनेवालेका नाश वह सुख है। आत्माके स्वभाव ज्ञान और दर्शन है। सो जबतक इन ज्ञान दर्शनरूप स्वभावोंके घातनेवाले आवरण रहते हैं, तबतक सब जानने और देखनेकी स्वच्छन्दता नहीं रहती, यही आत्माके दुःख है। घातक आवरणके नाश होनेपर ज्ञान दर्शनसे सबका जानना और देखना होता है। यही स्वच्छंदतासे निराबाध (निराकुल) सुख है। इसलिये अनन्तज्ञान दर्शन सुखके कारण है, और अभेदकी विवक्षासे (कहनेकी इच्छासे) जो केवलज्ञान है, वही आत्मीक सुख है, क्योंकि केवलज्ञान सुखस्वरूप ही है। आत्माके दुःखका कारण अनिष्टस्वरूप अज्ञान है, वह तो केवलअवस्थामें नाशको प्राप्त होता है, और सुखका कारण इष्टस्वरूप जो सबका जाननारूप ज्ञान है, वह प्रगट होता है। सारांश यह है, कि केवलज्ञान ही सुख है, अधिक कहनेसे

अथ केवलिनामेव पारमार्थिकसुखमिति श्रद्धापयति—

णो सद्दहंति सोक्खं सुहेसु परमं ति विगदघादीणं।
सुणिदूण ते अभव्वा भव्वा वा तं पडिच्छंति ॥ ६२ ॥
न श्रद्दधति सौख्यं सुखेषु परममिति विगतघातिनाम्।
श्रुत्वा ते अभव्या भव्या वा तत्प्रतीच्छन्ति ॥ ६२ ॥

इह खलु स्वभावप्रतिघातादाकुलत्वाच्च मोहनीयादिकर्मजालशालिनां सुखाभासेऽप्यपारमार्थिकी सुखमिति रूढिः। केवलिनां तु भगवतां प्रक्षीणघातिकर्मणां स्वभावप्रतिघाताभावादनाकुलत्वाच्च यथोदितस्य हेतोर्लक्षणस्य च सद्भावात्पारमार्थिकं सुखमिति श्रद्धेयम्। न किलैवं येषां श्रद्धानमस्ति ते खलु मोक्षसुखसुधापानदूरवर्तिनो मृगतृष्णाम्भोभारमेवाभव्याः पश्यन्ति। ये पुनरिदमिदानीमेव वचः प्रतीच्छन्ति ते शिवश्रियो भाजनं समासन्नभव्याः भवन्ति।

सुखं केवलिनामेव, संसारिणां ये मन्यन्ते तेऽभव्या इति निरूपयति —**णो सद्दहंति** नैव श्रद्दधति न मन्यन्ते। किम्। **सोक्खं** निर्विकारपरमाह्लादैकसुखम्। कथंभूतं न मन्यन्ते। **सुहेसु परमं ति** सुखेषु मध्ये तदेव परमसुखम्। केषां संबन्धि यत्सुखम्। **विगदघादीणं** विगतघातिकर्मणां केवलिनाम्। किं कृत्वापि न मन्यन्ते। **सुणिदूण** 'जादं सयं समत्तं' इत्यादिपूर्वोक्तगाथात्रयकथितप्रकारेण श्रुत्वापि **ते अभव्वा** ते अभव्याः ते हि जीवा वर्तमानकाले सम्यक्त्वरूपभव्यत्वव्यक्त्यभावादभव्या भण्यन्ते, न पुनः सर्वथा **भव्वा वा तं पडिच्छंति** ये वर्तमानकाले सम्यक्त्वरूपभव्यत्वव्यक्तिपरिणतास्तिष्ठन्ति ते तदनन्तसुखमिदानीं मन्यन्ते। ये च सम्यक्त्वरूपभव्यत्वव्यक्त्या भाविकाले परिणमिष्यन्ति ते च दूरभव्या अग्रे श्रद्धानं कुर्युरिति। अयमत्रार्थः —मारणार्थं तलवरगृहीततस्करस्य मरणमिव यद्यपीन्द्रियसुखमिष्टं न भवति, तथापि तलवरस्थानीयचारित्रमोहोदयेन मोहितः सन्निरुपरागस्वात्मोत्थसुखमलभमानः सन् सरागसम्यग्दृष्टिरात्मनिन्दादिपरिणतो हेयरूपेण तदनुभवति। ये पुनर्वीतरागसम्यग्दृष्टयः शुद्धोपयोगिनस्तेषां, मत्स्यानां स्थलगमनमिवाग्निप्रवेश इव वा निर्विकारशुद्धात्मसुखाच्च्यवनमपि दुःखं प्रतिभाति। तथा चोक्तम्—"समसुखशीलितमनसां च्यवनमपि द्वेषमेति किमु कामाः।

क्या? ॥ ६१ ॥ अब केवलीके ही पारमार्थिक अतीन्द्रियसुख है, ऐसा निश्चय करते हैं—[**विगतघातिनां**] जिनके घातियाकर्मोंका क्षय हो गया है, ऐसे केवली भगवानके [**सुखेषु परमं सौख्यं**] अन्य सब सुखोंमें उत्कृष्ट अतींद्रिय सुख है, [**इति श्रुत्वा**] ऐसा सुनकर [**ये**] जो कोई पुरुष [**न हि श्रद्दधति**] विश्वास नहीं करते, [**ते**] वे पुरुष [**अभव्याः**] सम्यक्त्वरूप परिणतिसे रहित अभव्य हैं। [**वा**] और जो पुरुष [**तत्**] केवलीके उस अतींद्रिय सुखको [**प्रतिच्छन्ति**] मानते हैं, [**'ते' भव्या**] वे भव्य हैं, अर्थात् सम्यक्त्व परिणामकर सहित हैं। **भावार्थ—**सम्यग्दृष्टि जीव संसारके सुखोंको सुखाभास समझते हैं, और इंद्रियसुखोंको रूढ़िसे सुख मानते हैं। परंतु यथार्थमें केवलीके सुखको ही सुख मानते हैं, क्योंकि उनके घातियाकर्मोंके नाश होनेसे अनाकुलता प्रगट होती है, और आकुलता रहित सुख ही पारमार्थिक (निश्चयसे) सुख है। जो अज्ञानी आत्मीक सुखके आस्वाद

ये तु पुरा प्रतीच्छन्ति ते तु दूरभव्या इति ॥ ६२ ॥

अथ परोक्षज्ञानिनामपारमार्थिकमिन्द्रियसुखं विचारयति—

मणुयासुरामरिंदा अहिद्दुदा इंदियेहिं सहजेहिं ।
असहंता तं दुक्खं रमंति विसएसु रम्मेसु ॥ ६३ ॥
मनुजासुरामरेन्द्राः अभिद्रुता इन्द्रियैः सहजैः ।
असहमानास्तद्दुःखं रमन्ते विषयेषु रम्येषु ॥ ६३ ॥

अमीषां प्राणिनां हि प्रत्यक्षज्ञानाभावात्परोक्षज्ञानमुपसर्पतां तत्सामग्रीभूतेषु स्वरसत एवेन्द्रियेषु मैत्री प्रवर्तते । अथ तेषां तेषु मैत्रीमुपगतानामुदीर्णमहामोहकालानलकवलितानां तप्तायोगोलानामिवात्यन्तमुपात्ततृष्णानां तद्दुःखवेगमसहमानानां व्याधिसात्म्यतामुपगतेषु रम्येषु विषयेषु रतिरुपजायते । ततो व्याधिस्थानीयत्वादिन्द्रियाणां व्याधिसात्म्यसमत्वाद्विषयाणां च न छद्मस्थानां पारमार्थिकं सौख्यम् ॥ ६३ ॥

स्थलमपि दहति झषाणां किमङ्ग पुनरङ्गमङ्गाराः" ॥ ६२ ॥ एवमभेदनयेन केवलज्ञानमेव सुखं भण्यते इति कथनमुख्यतया गाथाचतुष्टयेन चतुर्थस्थलं गतम् । अथ संसारिणामिन्द्रियज्ञानसाधकमिन्द्रियसुखं विचारयति—**मणुआसुरामरिंदा** मनुजासुरामरेन्द्राः । कथंभूताः । **अहिद्दुदा इंदियेहिं सहजेहिं** अभिद्रुताः कदर्थिताः दुःखिताः । कैः इन्द्रियैः सहजैः । **असहंता तं दुक्खं** तद्दुःखोद्रेकमसहमानाः सन्तः । **रमंति विसएसु रम्मेसु** रमन्ति विषयेषु रम्याभासेषु इति । अथ विस्तरः—मनुजादयो जीवा अमूर्तातीन्द्रियज्ञानसुखास्वादमलभमानाः सन्तः मूर्तेन्द्रियज्ञानसुखनिमित्तं पञ्चेन्द्रियेषु मैत्रीं कुर्वन्ति । ततश्च तप्तलोहगोलकानामुदकाकर्षणमिव विषयेषु तीव्रतृष्णा जायते । तां तृष्णामसहमाना विषयाननुभवन्ति इति । ततो ज्ञायते पञ्चेन्द्रियाणि व्याधिस्थानीयानि, विषयाश्च तत्प्रतीकारौषधस्थानीया इति संसारिणां वास्तवं सुखं नास्ति ॥ ६३ ॥ अथ यावदिन्द्रियव्यापारस्तावद्दुःखमेवेति कथयति—**जेसिं विसयेसु रदी** येषां निर्वि-

---

लेनेवाले नहीं हैं, वे मृग-तृष्णाकी तरह अजलमें जलबुद्धि करके इंद्रियाधीन सुखको सुख मानते हैं ॥ ६२ ॥ अब परोक्षज्ञानियोंके इंद्रियाधीन सुख है, परमार्थसुख नहीं है, ऐसा कहते हैं—[**सहजैः**] स्वाभाविक व्याधिरूप [**इन्द्रियैः**] इंद्रियोंसे [**अभिद्रुताः**] पीड़ित [**मनुजासुरामरेन्द्राः**] मनुष्य, असुर, (पातालवासीदेव) और देवोंके (स्वर्गवासीदेवोंके) इन्द्र अर्थात् स्वामी [**तत् दुःखं**] उस इन्द्रियजनित दुःखको [**असहमानाः**] सहन करनेमें असमर्थ होते हुए [**रम्येषु विषयेषु**] रमणीक इंद्रियजनित सुखोंमें [**रमन्ति**] क्रीड़ा करते हैं । **भावार्थ**—संसारी जीवोंके प्रत्यक्षज्ञानके अभावसे परोक्षज्ञान है । जो कि इंद्रियोंके आधीन है, और तप्त लोहेके गोलेके समान महा-मोहरूप कालाग्निसे ग्रसित तीव्र तृष्णा सहित है । जैसे व्याधिसे पीड़ित होकर रोगी औषध सेवन करता है, उसी प्रकार इंद्रियरूप व्याधिसे दुःखी होकर यह जीव इन्द्रियोंके स्पर्श रसादि विषयरूप औषधका सेवन करता है । इससे सिद्ध हुआ, कि परोक्षज्ञानी अत्यत दुःखी है, उनके आत्मीक निश्चयसुख नहीं है ॥ ६३ ॥

अथ यावदिन्द्रियाणि तावत्स्वभावादेव दुःखमेवं वितर्कयति—

जेसिं विसयेसु रदी तेसिं दुक्खं वियाण सब्भावं।
जइ तं ण हि सब्भावं वावारो णत्थि विसयत्थं ॥ ६४ ॥

येषां विषयेषु रतिस्तेषां दुःखं विजानीहि स्वाभावम्।
यदि तन्न हि स्वभावो व्यापारो नास्ति विषयार्थम् ॥ ६४ ॥

येषां जीवदवस्थानि हतकानीन्द्रियाणि, न नाम तेषामुपाधिप्रत्ययं दुःखम्। किंतु स्वाभाविकमेव, विषयेषु रतेरवलोकनात्। अवलोक्यते हि तेषां स्तम्बेरमस्य करेणुकुट्टनीगात्रस्पर्श इव, शफरस्य बडिशामिषस्वाद इव, इन्दिरस्य संकोचसंमुखारविन्दामोद इव, पतङ्गस्य प्रदीपार्चीरूप इव, कुरङ्गस्य मृगयुगेयस्वर इव, दुर्निवारेन्द्रियवेदनावशीकृतानामासन्ननिपातेष्वपि विषयेष्वभिपातः। यदि पुनर्न तेषां दुःखं स्वाभाविकमभ्युपगम्येत तदोपशान्तशीतज्वरस्य संस्वेदनमिव, प्रहीणदाहज्वरस्यारनालपरिषेक इव, निवृत्तनेत्रसंरम्भस्य च वटाचूर्णावचूर्णनमिव,

---

षयातीन्द्रियपरमात्मस्वरूपविपरीतेषु विषयेषु रतिः **तेसिं दुक्खं वियाण सब्भावं** तेषां बहिर्मुखजीवानां निजशुद्धात्मद्रव्यसंवित्तिसमुत्पन्ननिरुपाधिपारमार्थिकसुखविपरीतं स्वभावेनैव दुःखमस्तीति विजानीहि। कस्मादिति चेत्। पञ्चेन्द्रियविषयेषु रतेरवलोकनात् **जइ तं ण हि सब्भावं** यदि तद्दुःखं स्वभावेन नास्ति हि स्फुटं **वावारो णत्थि विसयत्थं** तर्हि विषयार्थं व्यापारो नास्ति न घटते। व्याधिस्थानामौषधेष्विव

आगे कहते हैं, कि जबतक इन्द्रियाँ हैं, तबतक स्वाभाविक दुःख ही है—[**येषां**] जिन जीवोंकी [**विषयेषु**] इंद्रिय विषयोंमें [**रतिः**] प्रीति है, [**तेषां**] उनके [**दुःखं**] दुःख [**स्वाभावं**] स्वभावसे ही [**विजानीहि**] जानो। क्योंकि [**यदि**] जो [**तत्**] वह इन्द्रियजन्य दुःख [**हि**] निश्चयसे [**स्वभावं**] सहज ही से उत्पन्न हुआ [**न**] न होता, तो [**विषयार्थं**] विषयोंके सेवनेके लिये [**व्यापारः**] इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति भी [**नास्ति**] नहीं होती। **भावार्थ**–जिन जीवोंके इंद्रियाँ जीवित हैं, उनके अन्य (दूसरी) उपाधियोंसे कोई दुःख नहीं है, सहजसे ये ही महान् दुःख हैं, क्योंकि इंद्रियाँ अपने विषयोंको चाहती हैं, और विषयोंकी चाहसे आत्माको दुःख उत्पन्न होता प्रत्यक्ष देखा जाता है। जैसे—हाथी स्पर्शन इंद्रियके विषयसे पीड़ित होकर कुट्टिनी (कपटिनी) हथिनीके वशमें पड़के पकड़ा जाता है। रसना इंद्रियके विषयसे पीड़ित होकर मछली बडिश (लोहेका काँटा) के मांसके चाखनेके लोभसे प्राण खो देती है। भौंरा घ्राण इंद्रियके विषयसे सताया हुवा संकुचित (मुँदे) हुए कमलमें गंधके लोभसे कैद होकर दुःखी होता है। पतङ्ग जीव नेत्र इंद्रियके विषयसे पीड़ित हुआ दीपकमें जल मरता है, और हरिन श्रोत्र इंद्रियके विषयवश वीणाकी आवाजके वशीभूत हो, व्याधाके हाथसे पकड़ा जाता है। यदि इंद्रियाँ दुःखरूप न होतीं, तो विषयकी इच्छा भी नहीं होती, क्योंकि शीतज्वरके दूर होनेपर अग्निके सेककी आवश्यकता नहीं रहती, दाहज्वरके न रहनेपर कांजी-सेवन व्यर्थ होता है, इसी प्रकार नेत्र-पीड़ाकी निवृत्ति होनेपर खपरियाके संग मिश्री आदि औषध, कर्णशूल रोगके नाश होनेपर

विनष्टकर्णशूलस्य बस्तमूत्रपूरणमिव, रूढव्रणस्यालेपनदानमिव, विषयव्यापारो न दृश्येत। दृश्यते चासौ। ततः स्वभावभूतदुःखयोगिन एव जीवदवस्थेन्द्रियाः परोक्षज्ञानिनः ॥ ६४ ॥

अथ मुक्तात्मसुखप्रसिद्धये शरीरस्य सुखसाधनतां प्रतिहन्ति—

पप्पा इट्ठे विसये फासेहिं समस्सिदे सहावेण।
परिणममाणो अप्पा सयमेव सुहं ण हवदि देहो ॥ ६५ ॥

प्राप्येष्टान् विषयान् स्पर्शैः समाश्रितान् स्वभावेन।
परिणममान आत्मा स्वयमेव सुखं न भवति देहः ॥ ६५ ॥

अस्य खल्वात्मनः सशरीरावस्थायामपि न शरीरं सुखसाधनतामापद्यमानं पश्यामः, यतस्तदापि पीनोन्मत्तकरसैरिव प्रकृष्टमोहवशवर्तिभिरिन्द्रियैरिमेऽस्माकमिष्टा इति क्रमेण विषयानभिपतद्भिरसमीचीनवृत्तितामनुभवन्नुपरुद्धशक्तिसारेणापि ज्ञानदर्शनवीर्यात्मकेन निश्चयकारणतामुपागतेन स्वभावेन परिणममानः स्वयमेवायमात्मा सुखतामापद्यते। शरीरं त्वचेतनत्वादेव

विषयार्थं व्यापारो दृश्यते चेत्तत एव ज्ञायते दुःखमस्तीत्यभिप्रायः ॥ ६४ ॥ एवं परमार्थेनेन्द्रियसुखस्य दुःखस्थापनार्थं गाथाद्वयं गतम्। अथ मुक्तात्मनां शरीराभावेऽपि सुखमस्तीति ज्ञापनार्थं शरीरं सुखकारणं न स्यादिति व्यक्तीकरोति–**पप्पा** प्राप्य। कान्। **इट्ठे विसये** इष्टपञ्चेन्द्रियविषयान्। कथंभूतान्। **फासेहिं समस्सिदे** स्पर्शनादीन्द्रियरहितशुद्धात्मतत्त्वविलक्षणैः स्पर्शनादिभिरिन्द्रियैः समाश्रितान् सम्यक् प्राप्यान् ग्राह्यान्, इत्थंभूतान् विषयान् प्राप्य। स कः। **अप्पा** आत्मा कर्ता। किंविशिष्टः। **सहावेण परिणममाणो** अनन्तसुखोपादानभूतशुद्धात्मस्वभावविपरीतेनाशुद्धसुखोपादानभूतेनाशुद्धात्मस्वभावेन परिणममानः। इत्थंभूतः सन् **सयमेव सुहं** स्वयमेवेन्द्रियसुखं भवति परिणमति। **ण हवदि देहो** देहः पुनरचेतनत्वात्सुखं न भवतीति। अयमत्रार्थः–कर्मावृतसंसारिजीवानां यदिन्द्रियसुखं तत्रापि जीव उपादानकारणं न च देहः,

बकरेका मूत्र आदि, व्रग (घाव) रोगके अच्छे होनेपर आलेपन (पट्टी) आदि औषधियाँ निष्प्रयोजन होती हैं, उसी प्रकार जो इंद्रियाँ दुःखरूप न होवें, तो विषयोंकी चाह भी न होवे। परंतु इच्छा देखी जाती है, जो कि रोगके समान है, और उसकी निवृत्तिके लिये विषय–भोग औषध तुल्य हैं। सारांश यह हुआ, कि परोक्षज्ञानी इंद्रियाधीन स्वभावसे ही दुःखी है ॥ ६४ ॥ अब कहते हैं, कि मुक्तात्माओंको शरीरके विना भी सुख है, इसलिये शरीर सुखका कारण नहीं है—[**स्पर्शैः**] स्पर्शनादि पाँच इंद्रियोंसे [**समाश्रितान**] भलेप्रकार आश्रित [**इष्टान् विषयान्**] प्यारे भोगोंको [**प्राप्य**] पाकर [**स्वभावेन**] अशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावसे [**परिणममानः आत्मा**] परिणमन करता हुआ आत्मा [**स्वयमेव**] आप ही [**सुखं**] इंद्रिय-सुखस्वरूप [**भवति**] है, [**देहः**] शरीर [**'सुखं'**] सुखरूप [**न**] नहीं है। **भावार्थ–**इस आत्माके शरीर अवस्थाके होते भी हम यह नहीं देखते हैं, कि सुखका कारण शरीर है। क्योंकि यह आत्मा मोह प्रवृत्तिसे मदोन्मत्त इंद्रियोंके वशमें पड़कर निंदनीय अवस्थाको धारण करता हुआ अशुद्ध ज्ञान, दर्शन, वीर्य, स्वभावरूप परिणमन करता है, और उन

सुखत्वपरिणतेर्निश्चयकारणतामनुपागच्छन्न जातु सुखतामुपढौकत इति ॥ ६५ ॥

अथैतदेव दृढयति—

एगंतेण हि देहो सुहं ण देहिस्स कुणदि सग्गे वा ।
विसयवसेण दु सोक्खं दुक्खं वा हवदि सयमादा ॥ ६६ ॥

एकान्तेन हि देहः सुखं न देहिनः करोति स्वर्गे वा ।
विषयवशेन तु सौख्यं दुःखं वा भवति स्वयमात्मा ॥ ६६ ॥

अयमत्र सिद्धान्तो यद्दिव्यवैक्रियिकत्वेऽपि शरीरं न खलु सुखाय कल्प्येतेतीष्टानामनिष्टानां वा विषयाणां वशेन सुखं वा दुःखं वा स्वयमेवात्मा स्यात् ॥ ६६ ॥

अथात्मनः स्वयमेव सुखपरिणामशक्तियोगित्वाद्विषयाणामकिंचित्करत्वं द्योतयति—

तिमिरहरा जइ दिट्ठी जणस्स दीवेण णत्थि कायव्वं ।
तह सोक्खं सयमादा विसया किं तत्थ कुव्वंति ॥ ६७ ॥

देहकर्मरहितमुक्तात्मनां पुनर्यदनन्तातीन्द्रियसुखं तत्र विशेषेणात्मैव कारणमिति ॥ ६५ ॥ अथ मनुष्यशरीरं मा भवतु, देवशरीरं दिव्यं तत्किल सुखकारणं भविष्यतीत्याशङ्कां निराकरोति-**एगंतेण हि देहो सुहं ण देहिस्स कुणदि** एकान्तेन हि स्फुटं देहः कर्ता सुखं न करोति । कस्य । देहिनः संसारिजीवस्य । क । **सग्गे वा** आस्तां तावन्मनुष्याणां मनुष्यदेहः सुखं न करोति, स्वर्गे वा योऽसौ दिव्यो देवदेहः सोऽप्युपचारं विहाय सुखं न करोति । **विसयवसेण दु सोक्खं दुक्खं वा हवदि सयमादा** किंतु निश्चयेन निर्विषयामूर्तस्वाभाविकसदानन्दैकसुखस्वभावोऽपि व्यवहारेणानादिकर्मबन्धवशाद्विषयाधीनत्वेन परिणम्य सांसारिकसुखं दुःखं वा स्वयमात्मैव भवति, न च देह इत्यभिप्रायः ॥ ६६ ॥ एवं मुक्तात्मनां देहाभावेऽपि सुखमस्तीति परिज्ञानार्थं संसारिणामपि देहः सुखकारणं न भवतीतिकथनरूपेण गाथाद्वयं गतम् । अथात्मनः

विषयोंमें आप ही सुख मान लेता है । शरीर जड़ है, इसलिये सुखरूप कार्यका उपादान कारण अचेतन शरीर कभी नहीं हो सकता । सारांश यह है, कि संसार अवस्थामें भी शरीर सुखका कारण नहीं है, आत्मा ही सुखका कारण है ॥ ६५ ॥ आगे "संसार अवस्थामें भी आत्मा ही सुखका कारण है" इसी बातको फिर दृढ़ करते हैं—[**एकान्तेन**] सब तरहसे [**हि**] निश्चय कर [**देहः**] शरीर [**देहिनः**] देहधारी आत्माको [**स्वर्गे वा**] स्वर्गमें भी [**सुखं**] सुखरूप [**न करोति**] नहीं करता [**तु**] किंतु [**विषयवशेन**] विषयोंके आधीन होकर [**आत्मा स्वयं**] यह आत्मा आप ही [**सौख्यं वा दुःखं**] सुखरूप अथवा दुःखरूप [**भवति**] होता है । **भावार्थ—**सब गतियोंमें स्वर्गगति उत्कृष्ट है, परंतु उसमें भी उत्तम वैक्रियकशरीर सुखका कारण नहीं है, औरोंकी तो बात क्या है । क्योंकि इस आत्माका एक ऐसा स्वभाव है, कि वह इष्ट अनिष्ट पदार्थोंके वश होकर आप ही सुख दुःखकी कल्पना कर लेता है । यथार्थमें शरीर सुख दुःखका कारण नहीं है ॥ ६६ ॥ अब कहते हैं, कि आत्माका स्वभाव ही सुख है, इसलिये इन्द्रियोंके विषय भी सुखके कारण नहीं हैं—[**यदि**] जो

तिमिरहरा यदि दृष्टिर्जनस्य दीपेन नास्ति कर्तव्यम् ।
तथा सौख्यं स्वयमात्मा विषयाः किं तत्र कुर्वन्ति ॥ ६७ ॥

यथा हि केषांचिन्नक्तंचराणां चक्षुषः स्वयमेव तिमिरविकरणशक्तियोगित्वान्न तदपाकरणप्रवणेन प्रदीपप्रकाशादिना कार्यं, एवमस्यात्मनः संसारे मुक्तौ वा स्वयमेव सुखतया परिणममानस्य सुखसाधनधिया अबुधैर्मुधाध्यास्यमाना अपि विषयाः किं हि नाम कुर्युः ॥ ६७ ॥

अथात्मनः सुखस्वभावत्वं दृष्टान्तेन दृढयति—

सयमेव जहादिच्चो तेजो उण्हो य देवदा णभसि ।
सिद्धो वि तहा णाणं सुहं च लोगे तहा देवो ॥ ६८ ॥

स्वयमेव यथादित्यस्तेजः उष्णश्च देवता नभसि ।
सिद्धोऽपि तथा ज्ञानं सुखं च लोके तथा देवः ॥ ६८ ॥

यथा खलु नभसि कारणान्तरमनपेक्ष्यैव स्वयमेव प्रभाकरः प्रभूतप्रभाभारभास्वरस्वरूप-

---

स्वयमेव सुखस्वभावत्वान्निश्चयेन यथा देहः सुखकारणं न भवति तथा विषया अपीति प्रतिपादयति— **जइ** यदि **दिट्ठी** नक्तंचरजनस्य दृष्टिः **तिमिरहरा** अन्धकारहरा भवति **जणस्स** जनस्य **दीवेण णत्थि कायव्वं** दीपेन नास्ति कर्तव्यं तस्य प्रदीपादीनां यथा प्रयोजनं नास्ति **तह सोक्खं सयमादा विसया किं तत्थ कुव्वंति** तथा निर्विषयामूर्तसर्वप्रदेशाह्लादकसहजानन्दैकलक्षणसुखस्वभावो निश्चयेनात्मैव, तत्र मुक्तौ संसारे वा विषयाः किं कुर्वन्ति न किमपीति भावः ॥ ६७ ॥ अथात्मनः सुखस्वभावत्वं ज्ञानस्वभावं च पुनरपि दृष्टान्तेन दृढयति—**सयमेव जहादिच्चो तेजो उण्हो य देवदा णभसि** कारणान्तरं निरपेक्ष्य स्वयमेव यथादित्यः स्वपरप्रकाशरूपं तेजो भवति, तथैव च स्वयमेवोष्णो भवति, तथा चाज्ञानिजनानां देवता

[**जनस्य**] चोर आदि जीवकी [**दृष्टिः**] देखनेकी शक्ति [**तिमिरहरा**] अंधकारके दूर करनेवाली हो [**तदा**] तो उसे [**दीपेन**] दीपकसे [**कर्तव्यं**] कुछ कार्य करना [**नास्ति**] नहीं है, [**तथा**] उसी प्रकार [**आत्मा**] जीव [**स्वयं**] आपही [**सौख्यं**] सुखस्वरूप है [**तत्र**] वहाँ [**विषयाः**] इंद्रियोंके विषय [**किं कुर्वन्ति**] क्या करते हैं? कुछ भी नहीं। **भावार्थ**—जैसे सिंह, सर्प, राक्षस, चोर, आदि रात्रिमें विचरनेवाले जीव अंधेरेमें भी पदार्थोंको अच्छी तरह देख सकते हैं - उनकी दृष्टि अंधकारमें भी प्रकाश करती है, अन्य दीपक आदि प्रकाशकरनेवाले सहायक कारणोंकी अपेक्षा नहीं रखती, इसी प्रकार आत्मा आप ही सुखस्वभाववाला है, उसके सुखानुभव करनेमें विषय विना कारण नहीं हो सकते। विषयोंसे सुख अज्ञानी जनोंने व्यर्थ मान रखा है, यह मानना मोहका विलास है— मिथ्या भ्रम है। इससे यह कथन सिद्ध हुआ, कि जैसे शरीर सुखका कारण नहीं है, वैसे इंद्रियोंके विषय भी सुखके कारण नहीं है ॥ ६७ ॥ अब आत्माके ज्ञान-सुख दृष्टान्तसे दृढ़ करते हैं—[**यथा**] जैसे [**नभसि**] आकाशमें [**आदित्यः**] सूर्य [**स्वयमेव**] आप ही अन्य कारणोंके विना [**तेजः**] बहुत प्रभाके समूहसे प्रकाशरूप है, [**उष्णः**] तप्तायमान लोहपिंडकी तरह हमेशा गरम है, [**च**] और

विकस्वरप्रकाशशालितया तेजः। यथा च कादाचित्कौष्ण्यपरिणतायःपिण्डवन्नित्यमेवौष्ण्यपरिणामापन्नत्वादुष्णः। यथा च देवगतिनामकर्मोदयानुवृत्तिवशवर्तिस्वभावतया देवः। तथैव लोके कारणान्तरमनपेक्ष्यैव स्वयमेव भगवानात्मापि स्वपरप्रकाशनसमर्थनिर्वितथानन्तशक्तिसहजसंवेदनतादात्म्यात् ज्ञानं, तथैव चात्मतृप्तिसमुपजातपरिनिर्वृतिप्रवर्तितानाकुलत्वसुस्थितत्वात् सौख्यं, तथैव चासन्नात्मतत्त्वोपलम्भलब्धवर्णजनमानसशिलास्तम्भोत्कीर्णसमुदीर्णद्युतिस्तुतियोगादिव्यात्मस्वरूपत्वाद्देवः। ततोऽस्यात्मनः सुखसाधनाभासैर्विषयैः पर्याप्तम् ॥ ६८ ॥ इति आनन्द-

भवति। क स्थितः। नभसि आकाशे **सिद्धो वि तहा णाणं सुहं च** सिद्धोऽपि भगवांस्तथैव कारणान्तरं निरपेक्ष्य स्वभावेनैव स्वपरप्रकाशकं केवलज्ञानं, तथैव परमतृप्तिरूपमनाकुलत्वलक्षणं सुखम्। क। **लोगे** जगति **तहा देवो** निजशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्नसुन्दरानन्दस्यन्दिसुखामृतपानपिपासितानां गणधरदेवादिपरमयोगिनां देवेन्द्रादीनां चासन्नभव्यानां मनसि निरन्तरं परमाराध्यं, तथैवानन्तज्ञानादिगुणस्तवनेन स्तुत्यं च यद्दिव्यमात्मस्वरूपं तत्स्वभावत्वात्तथैव देवश्चेति। ततो ज्ञायते मुक्तात्मनां विषयैरपि प्रयोजनं नास्तीति ॥ ६८ ॥ एवं स्वभावेनैव सुखस्वभावत्वाद्विषया अपि मुक्तात्मनां सुखकारणं न भवन्तीतिकथनरूपेण गाथाद्वयं गतम्। अथेदानीं श्री**कुन्दकुन्दाचार्य**देवाः पूर्वोक्तलक्षणानन्तसुखाधारभूतं सर्वज्ञं वस्तुस्तवेन नमस्कुर्वन्ति—

तेजो दिट्ठी णाणं इड्ढी सोक्खं तहेव ईसरियं।
तिहुवणपहाणदइयं माहप्पं जस्स सो अरिहो ॥ *३ ॥

तेजो दिट्ठी णाणं इड्ढी सोक्खं तहेव ईसरियं तिहुवणपहाणदइयं तेजः प्रभामण्डलं, जगत्त्रयकालत्रयवस्तुगतयुगपत्सामान्यास्तित्वग्राहकं केवलदर्शनं, तथैव समस्तविशेषास्तित्वग्राहकं केवलज्ञानं, ऋद्धिशब्देन समवसरणादिलक्षणा विभूतिः, सुखशब्देनाव्याबाधानन्तसुखं, तत्पदाभिलाषेण इन्द्रादयोऽपि भृत्यत्वं कुर्वन्तीत्येवं लक्षणमैश्वर्यं, त्रिभुवनाधीशानामपि वल्लभत्वं दैवं भण्यते **माहप्पं जस्स सो अरिहो**

[**देवता**] देवगतिनामकर्मके उदयसे देव पदवीको धारण करनेवाला है। [**तथा**] वैसे ही [**लोके**] इस जगतमें [**सिद्धः अपि**] शुद्धात्मा भी [**ज्ञानं**] ज्ञानस्वरूप है, [**सुखं**] सुखस्वरूप है, [**च**] और [**देवः**] देव अर्थात् पूज्य है। **भावार्थ—**जिस प्रकार सूर्य अपने सहज स्वभावसे ही अन्य कारणोंके विना तेजवान् है, उष्ण है, और देवता है, उसी प्रकार यह भगवान् आत्मा अन्य कारणोंके विना सहजसे सिद्ध अपने—परके प्रकाश करनेवाले अनंत शक्तिमय चैतन्यप्रकाशसे ज्ञानस्वरूप है, अपनी तृप्तिरूप अनाकुल स्थिरतासे सुखरूप है, और इसी प्रकार आत्माके रसके आस्वादी कोई एक सम्यग्दृष्टि निकटभव्य चतुरजन हैं, उनके चित्तरूपी पत्थरके स्तंभ (खंभे) में सिद्धस्वरूप चित्रित होनेसे पूज्य तथा स्तुति योग्य देव है। सारांश—आत्मा स्वभावसे ही ज्ञान सुख और पूज्य इन गुणोंकर सहित है। इससे यह बात सिद्ध हुई, कि सुखके कारण जो इंद्रियोंके विषय कहे जाते है उनसे आत्माको सुख नहीं होता, वह आप ही सुखस्वभावरूप है ॥ ६८ ॥ इस प्रकार **अतीन्द्रियसुखाधिकार** पूर्ण हुआ। आगे

प्रपञ्चः। इतः शुभपरिणामाधिकारप्रारम्भः।

अथेन्द्रियसुखस्वरूपविचारमुपक्रममाणस्तत्साधनस्वरूपमुपन्यस्यति—

देवदजदिगुरुपूजासु चेव दाणम्मि वा सुसीलेसु।
उववासादिसु रत्तो सुहोवओगप्पगो अप्पा॥ ६९॥
देवतायतिगुरुपूजासु चैव दाने वा सुशीलेषु।
उपवासादिषु रक्तः शुभोपयोगात्मक आत्मा॥ ६९॥

इत्थंभूतं माहात्म्यं यस्य सोऽर्हन् भण्यते। इति वस्तुस्तवनरूपेण नमस्कारं कृतवन्तः॥ ३॥ अथ तस्यैव भगवतः सिद्धावस्थायां गुणस्तवनरूपेण नमस्कारं कुर्वन्ति—

तं गुणदो अधिगदरं अविच्छिदं मणुवदेवपदिभावं।
अपुणब्भावणिबद्धं पणमामि पुणो पुणो सिद्धं॥ *४॥

पणमामि नमस्करोमि **पुणो पुणो** पुनः पुनः। कम्। **तं सिद्धं** परमागमप्रसिद्धं सिद्धम्। कथंभूतम्। **गुणदो अधिगदरं** अव्याबाधानन्तसुखादिगुणैरधिकतरं समधिकतरगुणम्। पुनरपि कथंभूतम्। **अविच्छिदं मणुवदेवपदिभावं** यथा पूर्वमर्हदवस्थायां मनुजदेवेन्द्रादयः समवशरणे समागत्य नमस्कुर्वन्ति तेन प्रभुत्वं भवति, तदतिक्रान्तत्वादतिक्रान्तमनुजदेवपतिभावम्। पुनश्च किं विशिष्टम्। **अपुणब्भावणिबद्धं** द्रव्यक्षेत्रादिपञ्चप्रकारभवाद्विलक्षणशुद्धबुद्धैकस्वभावनिजात्मोपलम्भलक्षणो योऽसौ मोक्षस्तस्याधीनत्वादपुनर्भावनिबद्धमिति भावः॥ ४॥ एवं नमस्कारमुख्यत्वेन गाथाद्वयं गतम्। इति गाथाष्टकेन पञ्चमस्थलं ज्ञातव्यम्। एवमष्टादशगाथाभिः स्थलपञ्चकेन सुखप्रपञ्चनामान्तराधिकारो गतः। इति पूर्वोक्तप्रकारेण 'एस सुरासुर' इत्यादि चतुर्दशगाथाभिः पीठिका गता, तदनन्तरं सप्तगाथाभिः सामान्यसर्वज्ञसिद्धिः, तदनन्तरं त्रयस्त्रिंशद्गाथाभिः ज्ञानप्रपञ्चः, तदनन्तरमष्टादशगाथाभिः सुखप्रपञ्च इति समुदायेन द्वासप्ततिगाथाभिरन्तराधिकारचतुष्टयेन **शुद्धोपयोगाधिकारः** समाप्तः॥ इति ऊर्ध्वं पञ्चविंशतिगाथापर्यन्तं ज्ञानकण्ठिकाचतुष्टयाभिधानोऽधिकारः प्रारभ्यते, तत्र पञ्चविंशतिगाथामध्ये प्रथमं तावच्छुभाशुभविषये मूढत्वनिराकरणार्थं 'देवदजदिगुरु' इत्यादि दशगाथापर्यन्तं प्रथमज्ञानकण्ठिका कथ्यते। तदनन्तरमात्माात्मस्वरूपपरिज्ञानविषये मूढत्वनिराकरणार्थं 'चत्ता पावारंभं' इत्यादि सप्तगाथापर्यन्तं द्वितीयज्ञानकण्ठिका, अथानन्तरं द्रव्यगुणपर्यायपरिज्ञानविषये मूढत्वनिराकरणार्थं 'दव्वादीएसु' इत्यादि गाथाषट्कपर्यन्तं तृतीयज्ञानकण्ठिका। तदनन्तरं स्वपरतत्त्वपरिज्ञानविषये मूढत्वनिराकरणार्थं 'णाणप्पगं' इत्यादि गाथाद्वयेन चतुर्थज्ञानकण्ठिका। इति चतुष्टयाभिधानाधिकारे समुदायपातनिका। अथेदानीं प्रथमज्ञानकण्ठिकायां स्वतन्त्रव्याख्यानेन गाथाचतुष्टयं, तदनन्तरं पुण्यं जीवस्य विषयतृष्णामुत्पादयतीति कथनरूपेण गाथाचतुष्टयं, तदनन्तरमुपसंहार-

---

इस अधिकारमें इंद्रियजनित सुखका विचार किया जावेगा, उसमें भी पहले इंद्रियसुखका कारण शुभोपयोगका स्वरूप कहते है—[**यः**] जो आत्मा [**देवतायतिगुरुपूजासु**] देव, यति, तथा गुरुकी पूजामें [**च**] और [**दाने**] दानमें [**वा**] अथवा [**सुशीलेषु**] गुणव्रत, महाव्रत, आदि उत्तम

यदायमात्मा दुःखस्य साधनीभूतां द्वेषरूपामिन्द्रियार्थानुरागरूपां चाशुभोपयोगभूमिकामतिक्रम्य देवगुरुयतिपूजादानशीलोपवासप्रीतिलक्षणं धर्मानुरागमङ्गीकरोति तदेन्द्रियसुखस्य साधनीभूतां शुभोपयोगभूमिकामधिरूढोऽभिलप्येत ॥ ६९ ॥

अथ शुभोपयोगसाध्यत्वेनेन्द्रियसुखमाख्याति—

जुत्तो सुहेण आदा तिरियो वा माणुसो व देवो वा ।
भूदो तावदि कालं लहदि सुहं इंदियं विविहं ॥ ७० ॥

युक्तः शुभेन आत्मा तिर्यग्वा मानुषो वा देवो वा ।
भूतस्तावत्कालं लभते सुखमैन्द्रियं विविधम् ॥ ७० ॥

अयमात्मेन्द्रियसुखसाधनीभूतस्य शुभोपयोगस्य सामर्थ्यात्तदधिष्ठानभूतानां तिर्यग्मानुषदेवत्वभूमिकानामन्यतमां भूमिकामवाप्य यावत्कालमवतिष्ठते, तावत्कालमनेकप्रकारमिन्द्रिय-

---

रूपेण गाथाद्वयं, इति स्थलत्रयपर्यन्तं क्रमेण व्याख्यानं क्रियते । तद्यथा—अथ यद्यपि पूर्वं गाथाषट्केनेन्द्रियसुखस्वरूपं भणितं तथापि पुनरपि तदेव विस्तरेण कथयन् सन् तत्साधकं शुभोपयोगं प्रतिपादयति, अथवा द्वितीयपातनिका—पीठिकायां यच्छुभोपयोगस्वरूपं सूचितं तस्येदानीमिन्द्रियसुखविशेषविचारप्रस्तावे तत्साधकत्वेन विशेषविवरणं करोति—**देवदजदिगुरुपूजासु चेव दाणम्मि वा सुसीलेसु** देवतायतिगुरुपूजासु चैव दाने वा सुशीलेषु **उववासादिसु रत्तो** तथैवोपवासादिषु च रक्त आसक्तः **अप्पा** जीवः **सुहोवओगप्पगो** शुभोपयोगात्मको भण्यते इति । तथाहि—देवता निर्दोषिपरमात्मा, इन्द्रियजयेन शुद्धात्मस्वरूपप्रयत्नपरो यतिः, स्वयं भेदाभेदरत्नत्रयाराधकस्तदर्थिनां भव्यानां जिनदीक्षादायको गुरुः, पूर्वोक्तदेवतायतिगुरूणां तत्प्रतिबिम्बादीनां च यथासंभवं द्रव्यभावरूपा पूजा, आहारादिचतुर्विधदानं च आचारादिकथितशीलव्रतानि तथैवोपवासा जिनगुणसंपत्त्यादिविधिविशेषाश्च । एतेषु शुभानुष्ठानेषु योऽसौ रतः द्वेषरूपे विषयानुरागे चाशुभानुष्ठाने विरतः, स जीवः शुभोपयोगी भवतीति सूत्रार्थः ॥ ६९ ॥ अथ पूर्वोक्तशुभोपयोगेन साध्यमिन्द्रियसुखं कथयति—**सुहेण जुत्तो आदा** यथा निश्चयरत्नत्रयात्मकशुद्धोपयोगेन युक्तो मुक्तो भूत्वाऽयं जीवोऽनन्तकालमतीन्द्रियसुखं लभते, तथा पूर्वसूत्रोक्तलक्षणशुभोपयोगेन युक्तः परिणतोऽय-

---

शीलों (स्वभावों) में, [**उपवासादिषु**] आहार आदिके त्यागोंमें [**एव**] निश्चयसे [**रक्तः**] लवलीन है, [**'स' आत्मा**] वह जीव [**शुभोपयोगात्मकः**] शुभोपयोगी अर्थात् शुभ परिणामवाला है । **भावार्थ—**जो जीव धर्ममें अनुराग (प्रीति) रखते हैं, उन्हें इंद्रियसुखकी साधनेवाली शुभोपयोगरूपी भूमिमें प्रवर्तमान कहते हैं ॥ ६९ ॥ आगे शुभोपयोगसे इंद्रियसुख होता है, ऐसा कहते हैं—[**शुभेन युक्तः**] शुभोपयोगकर सहित [**आत्मा**] जीव [**तिर्यक्**] उत्तम तिर्यंच [**वा**] अथवा [**मानुषः**] उत्तम मनुष्य [**वा**] अथवा [**देवः**] उत्तम देव [**भूतः**] होता हुआ [**तावत्कालं**] उतने कालतक, अर्थात् तिर्यंच आदिकी जितनी स्थिति है, उतने समयतक, [**विविधं**] नाना प्रकारके [**ऐन्द्रियं सुखं**] इंद्रियजनित सुखोंको [**लभते**] पाता है । **भावार्थ—**यह जीव शुभ

सुखं समासादयतीति ॥ ७० ॥

अथैवमिन्द्रियसुखमुत्क्षिप्य दुःखत्वे प्रक्षिपति—

सोक्खं सहावसिद्धं णत्थि सुराणं पि सिद्धमुवदेसे ।
ते देहवेदणट्टा रमंति विसएसु रम्मेसु ॥ ७१ ॥
सौख्यं स्वभावसिद्धं नास्ति सुराणामपि सिद्धमुपदेशे ।
ते देहवेदनार्ता रमन्ते विषयेषु रम्येषु ॥ ७१ ॥

इन्द्रियसुखभाजनेषु हि प्रधाना दिवौकसः, तेषामपि स्वाभाविकं न खलु सुखमस्ति प्रत्युत तेषां स्वाभाविकं दुःखमेवावलोक्यते । यतस्ते पञ्चेन्द्रियात्मकशरीरपिशाचपीडया

त्मा तिरियो वा माणुसो व देवो वा भूदो तिर्यग्मनुष्यदेवरूपो भूत्वा तावदि कालं तावत्कालं स्वकीयायुःपर्यन्तं लहदि सुहं इंदियं विविहं इन्द्रियजं विविधं सुखं लभते, इति सूत्राभिप्रायः ॥ ७० ॥ अथ पूर्वोक्तमिन्द्रियसुखं निश्चयनयेन दुःखमेवेत्युपदिशति—सोक्खं सहावसिद्धं रागाद्युपाधिरहितं चिदानन्दैकस्वभावेनोपादानकारणभूतेन सिद्धमुत्पन्नं यत्स्वाभाविकसुखं तत्स्वभावसिद्धं भण्यते । तच्च णत्थि सुराणं पि आस्तां मनुष्यादीनां सुखं देवेन्द्रादीनामपि नास्ति सिद्धमुवदेसे इति सिद्धमुपदिष्टमुपदेशे परमागमे । ते देहवेदणट्टा रमंति विसएसु रम्मेसु तथाभूतसुखाभावात्ते देवादयो देहवेदनार्ताः पीडिताः कदर्थिताः सन्तो रमन्ते विषयेषु रम्याभासेष्विति । अथ विस्तरः—अधोभागे सप्तनरकस्थानीयमहाजगरप्रसारितमुखे, कोणचतुष्के तु क्रोधमानमायालोभस्थानीयसर्पचतुष्कप्रसारितवदने देहस्थानीयमहान्धकूपे पतितः सन् कश्चित् पुरुषविशेषः, संसारस्थानीयमहारण्ये मिथ्यात्वादिकुमार्गे नष्टः पतितः सन् मृत्युस्थानीयहस्तिभयेनायुष्कर्मस्थानीये सात्त्विकविशेषे शुक्लकृष्णपक्षस्थानीयशुक्लकृष्णमूषकद्वयच्छेद्यमानमूले व्याधिस्थानीयमधुमक्षिकावेष्टिते लग्नस्तेनैव हस्तिना हन्यमाने सति विषयसुखस्थानीयमधुबिन्दुसुस्वादेन यथा सुखं मन्यते,

---

परिणामोंसे तिर्यंच, मनुष्य और देव, इन तीन गतियोंमें उत्पन्न होता है, वहाँपर अपनी अपनी कालकी स्थिति तक अनेक तरहके इंद्रियजनित सुखोंको भोगता है ॥ ७० ॥ आगे कहते हैं, कि इंद्रियजनित सुख यथार्थमें दुःख ही हैं—[**सुराणामपि**] देवोंके भी [**स्वभावसिद्धं सौख्यं**] आत्माके निज स्वभावसे उत्पन्न अतींद्रिय सुख [**नास्ति**] नहीं है, [**'इति'**] इसप्रकार [**उपदेशे**] भगवानके परमागममें [**सिद्धं**] अच्छी तरह युक्तिसे कहा है । [**यतः**] क्योंकि [**ते**] वे देव [**देहवेदनार्ताः**] पंचेन्द्रियस्वरूप शरीरकी पीड़ासे दुःखी हुए [**रम्येषु विषयेषु**] रमणीक इंद्रिय विषयोंमें [**रमन्ति**] क्रीड़ा करते हैं । **भावार्थ**—सब सांसारिक सुखोंमें अणिमादि आठ ऋद्धि सहित देवोंके सुख प्रधान हैं, परंतु वे यथार्थ आत्मीक-सुख नहीं हैं, स्वाभाविक दुःख ही हैं, क्योंकि जब पंचेन्द्रियरूप पिशाच उनके शरीरमें पीड़ा उत्पन्न करता है, तब ही वे देव मनोज्ञ विषयोंमें गिर पड़ते हैं । अर्थात् जिस प्रकार कोई पुरुष किसी वस्तु विशेषसे पीड़ित होकर पर्वतसे पड़ कर मरता है, इसी प्रकार इंद्रियजनित दुःखोंसे पीड़ित होकर उनके विषयोंमें यह आत्मा रमण (मौज) करता है । इसलिये इन्द्रिय-

परवशा भृगुप्रपातस्थानीयान्मनोज्ञविषयानभिपतन्ति ॥ ७१ ॥

अथैवमिन्द्रियसुखस्य दुःखतायां युक्त्यावतारितायामिन्द्रियसुखसाधनीभूतपुण्यनिर्वर्तकशुभोपयोगस्य दुःखसाधनीभूतपापनिर्वर्तकाशुभोपयोगविशेषादविशेषत्वमवतारयति—

णरणारयतिरियसुरा भजंति जदि देहसंभवं दुक्खं ।
किह सो सुहो व असुहो उवओगो हवदि जीवाणं ॥ ७२ ॥

नरनारकतिर्यक्सुरा भजन्ति यदि देहसंभवं दुःखम् ।
कथं स शुभो वाऽशुभ उपयोगो भवति जीवानाम् ॥ ७२ ॥

यदि शुभोपयोगजन्यसमुदीर्णपुण्यसंपदस्त्रिदशादयोऽशुभोपयोगजन्यपर्यागतपातकापदो वा नारकादयश्च, उभयेऽपि स्वाभाविकसुखाभावादविशेषेण पञ्चेन्द्रियात्मकशरीरप्रत्ययं दुःखमेवानुभवन्ति । ततः परमार्थतः शुभाशुभोपयोगयोः पृथक्त्वव्यवस्था नावतिष्ठते ॥ ७२ ॥

अथ शुभोपयोगजन्यं फलवत्पुण्यं विशेषेण दूषणार्थमभ्युपगम्योत्थापयति—

तथा संसारसुखम् । पूर्वोक्तमोक्षसुखं तु तद्विपरीतमिति तात्पर्यम् ॥ ७१ ॥ अथ पूर्वोक्तप्रकारेण शुभोपयोगसाध्यस्येन्द्रियसुखस्य निश्चयेन दुःखत्वं ज्ञात्वा तत्साधकशुभोपयोगस्याप्यशुभोपयोगेन सह समानत्वं व्यवस्थापयति—**णरणारयतिरियसुरा भजंति जदि देहसंभवं दुक्खं** सहजातीन्द्रियामूर्तसदानन्दैकलक्षणं वास्तवसुखमेव सुखमलभमानाः सन्तो नरनारकतिर्यक्सुरा यदि चेदविशेषेण पूर्वोक्तपरमार्थसुखाद्विलक्षणं पञ्चेन्द्रियात्मकशरीरोत्पन्नं निश्चयनयेन दुःखमेव भजन्ते सेवन्ते **किह सो सुहो व असुहो उवओगो हवदि जीवाणं** व्यवहारेण विशेषेऽपि निश्चयेन स प्रसिद्धः शुद्धोपयोगाद्विलक्षणः शुभाशुभोपयोगः कथं भिन्नत्वं लभते, न कथमपीति भावः ॥ ७२ ॥ एवं स्वतन्त्रगाथाचतुष्टयेन प्रथमस्थलं गतम् । अथ पुण्यानि देवेन्द्रचक्रवर्त्या-

---

जनित सुख दुःखरूप ही हैं । अज्ञानबुद्धिसे सुखरूप माळूम पड़ते है, एक दुःखके ही सुख और दुःख ये दोनों भेद हैं ॥ ७१ ॥ आगे इंद्रिय-सुखका साधक पुण्यका हेतु शुभोपयोग और दुःखका साधन पापका कारण अशुभोपयोग इन दोनोंमें समानपना दिखाते है—[**यदि**] जो [**नरनारकतिर्यक्सुराः**] मनुष्य, नारकी, तिर्यंच (पशु) तथा देव, ये चारों गतिके जीव [**देहसंभवं दुःखं**] शरीरसे उत्पन्न हुई पीड़ाको [**भजन्ति**] भोगते हैं, [**तदा**] तो [**जीवानां**] जीवोंके [**स उपयोगः**] वह चैतन्यरूप परिणाम [**शुभः**] अच्छा [**वा**] अथवा [**अशुभः**] बुरा [**कथं भवति**] कैसे हो सकता है ? । **भावार्थ**—शुभोपयोगका फल देवताओंकी संपदा है, और अशुभोपयोगका नारकादिकी आपदा है, परंतु इन दोनोंमें आत्मीक-सुख नहीं है, इसलिये इन दोनों स्थानोंमें दुःख ही है । सारांश यह है, कि जो परमार्थदृष्टिसे विचारा जावे, तो शुभोपयोग और अशुभोपयोग दोनोंमें कुछ भेद नहीं है । कार्यकी समानता होनेसे कारणकी भी समानता है ॥ ७२ ॥ आगे शुभोपयोगसे उत्पन्न हुए फलवान् पुण्यको विशेषपनेसे दूषणके लिये दिखलाकर निषेध करते है—[**सुखिताः इव**] सुखियोंके समान [**अभिरताः**] लवलीन

कुलिसाउहचक्कधरा सुहोवओगप्पगेहिं भोगेहिं ।
देहादीणं विद्धिं करेंति सुहिदा इवाभिरदा ॥ ७३ ॥
कुलिशायुधचक्रधराः शुभोपयोगात्मकैः भोगैः ।
देहादीनां वृद्धिं कुर्वन्ति सुखिता इवाभिरताः ॥ ७३ ॥

यतो हि शक्राश्चक्रिणश्च स्वेच्छोपगतैर्भोगैः शरीरादीन् पुष्णन्तस्तेषु दुष्टशोणित इव जलौकसोऽत्यन्तमासक्ताः सुखिता इव प्रतिभासन्ते । ततः शुभोपयोगजन्यानि फलवन्ति पुण्यान्यवलोक्यन्ते ॥ ७३ ॥

अथैवमभ्युपगतानां पुण्यानां दुःखबीजहेतुत्वमुद्भावयति—

जदि संति हि पुण्णाणि य परिणामसमुब्भवाणि विविहाणि ।
जणयंति विसयतण्हं जीवाणं देवदंताणं ॥ ७४ ॥
यदि सन्ति हि पुण्यानि च परिणामसमुद्भवानि विविधानि ।
जनयन्ति विषयतृष्णां जीवानां देवतान्तानाम् ॥ ७४ ॥

यदि नामैवं शुभोपयोगपरिणामकृतसमुत्पत्तीन्यनेकप्रकाराणि पुण्यानि विद्यन्त इत्यभ्युप-

---

दिपदं प्रयच्छन्ति इति पूर्वं प्रशंसां करोति । किमर्थम् । तत्फलाधारेणाग्रे तृष्णोत्पत्तिरूपदुःखदर्शनार्थं देवेन्द्राश्चक्रवर्तिनश्च कर्तारः शुभोपयोगजन्यभोगैः कृत्वा विकुर्वणारूपेण देहपरिवारादीनां वृद्धिं कुर्वन्ति । कथंभूताः सन्तः । सुखिता इवाभिरता आसक्ता इति । अयमत्रार्थः—यत्परमातिशयतृप्तिसमुत्पादकं विषयतृष्णाविच्छित्तिकारकं च स्वाभाविकसुखं तदलभमाना दुष्टशोणिते जलयूका इवासक्ताः सुखाभासेन देहादीनां वृद्धिं कुर्वन्ति । ततो ज्ञायते तेषां स्वाभाविकं सुखं नास्तीति ॥ ७३ ॥ अथ पुण्यानि जीवस्य विषयतृष्णामुत्पादयन्तीति प्रतिपादयति—**जदि संति हि पुण्णाणि य** यदि चेन्निश्चयेन पुण्यपापरहितपरमात्मनो विपरीतानि पुण्यानि सन्ति । पुनरपि किंविशिष्टानि । **परिणामसमुब्भवाणि** निर्विकारस्वसंवित्तिविलक्षणशुभपरिणामसमुद्भवानि **विविहाणि** स्वकीयानन्तभेदेन बहुविधानि । तदा तानि किं कुर्वन्ति । **जणयंति**

हुए [**कुलिशायुधचक्रधराः**] वज्रायुधधारी इन्द्र तथा चक्रवर्ती आदिक [**शुभोपयोगात्मकैः**] शुभ उपयोगसे उत्पन्न हुए [**भोगैः**] भोगोंसे [**देहादीनां**] शरीर इंद्रियादिकोंकी [**वृद्धिं**] बढ़ती [**कुर्वन्ति**] करते हैं । **भावार्थ—**यद्यपि शुभोपयोगसे इंद्र, चक्रवर्ती आदि विशेष फल मिलते हैं, परंतु वे इंद्रादिक मनोवांछित भोगोंसे शरीरादिका पोषण ही करते हैं, सुखी नहीं हैं, सुखीसे देखनेमें आते हैं । जैसे जोंक विकारवाले लोहूको बड़ी प्रीतिसे पीती हैं, और उसीमें सुख मानती है, परंतु यथार्थमें वह पीना दुःखका कारण है । इसी प्रकार वे इंद्र वगैरह भी तृष्णासे सुख मान रहे हैं ॥ ७३ ॥ आगे शुभोपयोगजनित पुण्यको भी दुःखका कारण प्रगट दिखलाते हैं–[**यदि**] जो [**हि**] निश्चयसे [**विविधानि**] नानाप्रकारके [**पुण्यानि**] पुण्य [**परिणामसमुद्भवानि**] शुभोपयोगरूप परिणामोंसे उत्पन्न [**सन्ति**] हैं। [**तदा**] तो वे [**देवतान्तानां**] स्वर्गवासी देवोंतक [**जीवानां**]

गम्यते, तदा तानि सुधाशनानामप्यवधिं कृत्वा समस्तसंसारिणां विषयतृष्णामवश्यमेव समुत्पादयन्ति । न खलु तृष्णामन्तरेण दुष्टशोणित इव जलूकानां समस्तसंसारिणां विषयेषु प्रवृत्तिरवलोक्यते, अवलोक्यते च सा । ततोऽस्तु पुण्यानां तृष्णायतनत्वमबाधितमेव ॥ ७४ ॥

अथ पुण्यस्य दुःखबीजविजयमाघोषयति—

ते पुण उदिण्णतण्हा दुहिदा तण्हाहिं विसयसोक्खाणि ।
इच्छंति अणुभवंति य आमरणं दुक्खसंतत्ता ॥ ७५ ॥

ते पुनरुदीर्णतृष्णाः दुःखितास्तृष्णाभिर्विषयसौख्यानि ।
इच्छन्त्यनुभवन्ति च आमरणं दुःखसंतप्ताः ॥ ७५ ॥

अथ ते पुनस्त्रिदशावसानाः कृत्स्नसंसारिणः समुदीर्णतृष्णाः पुण्यनिर्वर्तिताभिरपि तृष्णाभिर्दुःखबीजतयाऽत्यन्तदुःखिताः सन्तो मृगतृष्णाभ्य इवाम्भांसि विषयेभ्यः सौख्यान्यभिलषन्ति। तद्दुःखसंतापवेगमसहमाना अनुभवन्ति च विषयान् जलयूका इव, तावद्यावत् क्षयं यान्ति ।

विसयतण्हं जनयन्ति । काम् । विषयतृष्णाम् । केषाम् । **जीवाणं देवदंताणं** दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकाङ्क्षारूपनिदानबन्धप्रभृतिनानामनोरथहयरूपविकल्पजालरहितपरमसमाधिसमुत्पन्नसुखामृतरूपां सर्वात्मप्रदेशेषु परमाह्लादोत्पत्तिभूतामेकाकारपरमसमरसीभावरूपां विषयाकाङ्क्षाग्निजनितपरमदाहविनाशिकां स्वरूपतृप्तिमलभमानानां देवेन्द्रप्रभृतिबहिर्मुखसंसारिजीवानामिति । इदमत्र तात्पर्यम्—यदि तथाविधा विषयतृष्णा नास्ति तर्हि दुष्टशोणिते जलयूका इव कथं ते विषयेषु प्रवृत्तिं कुर्वन्ति । कुर्वन्ति चेत् पुण्यानि तृष्णोत्पादकत्वेन दुःखकारणानि इति ज्ञायन्ते ॥ ७४ ॥ अथ पुण्यानि दुःखकारणानीति पूर्वोक्तमेवार्थं विशेषेण समर्थयति—**ते पुण उदिण्णतण्हा** सहजशुद्धात्मतृप्तेरभावात्ते निखिलसंसारिजीवाः पुनरुदीर्णतृष्णाः सन्तः **दुहिदा तण्हाहिं** स्वसंवित्तिसमुत्पन्नपारमार्थिकसुखाभावात्पूर्वोक्ततृष्णाभिर्दुःखिताः सन्तः । किं कुर्वन्ति । **विसयसोक्खाणि इच्छंति** निर्विषयपरमात्मसुखाद्विलक्षणानि विषयसुखानि इच्छन्ति । न केवलमिच्छन्ति **अणु-**

सब संसारी जीवोंके [**विषयतृष्णां**] विषयोंकी अत्यंत अभिलाषाको [**जनयन्ति**] उत्पन्न करते हैं । **भावार्थ—**यदि शुभोपयोगसे अनेक तरहके पुण्य उत्पन्न होते हैं, तो भले ही उत्पन्न होवो, कुछ विशेषता नहीं है, क्योंकि वे पुण्य देवताओंसे लेकर सब संसारी जीवोंको तृष्णा उपजाते हैं, और जहाँ तृष्णा है, वहाँ ही दुःख है, क्योंकि तृष्णाके विना इन्द्रियोंके रूपादि विषयोंमें प्रवृत्ति ही नहीं होती । जैसे जोंक (जलका जंतुविशेष) तृष्णाके विना विकारयुक्त (खराब) रुधिरका पान नहीं करती, इसी प्रकार संसारी जीवोंकी विषयोंमें प्रवृत्ति तृष्णाके बिना नहीं होती । इस कारण पुण्य तृष्णाका घर है ॥ ७४ ॥ आगे पुण्यको दुःखका बीज प्रगट करते है—[**पुनः**] उसके बाद [**उदीर्णतृष्णाः**] उठी है, तृष्णा जिनके तथा [**तृष्णाभिः दुःखिता**] अत्यंत अभिलाषासे पीड़ित और [**दुःखसंतप्ताः**] दुःखोंसे तप्तायमान [**ते**] वे देवों पर्यंत सब संसारी जीव [**विषयसौख्यानि**] इंद्रियोंके विषयोंसे उत्पन्न सुखोंको [**आमरणं**] मरण पर्यंत [**इच्छन्ति**] चाहते हैं, [**च**] और

यथा हि जलयूकास्तृष्णाबीजेन विजयमानेन दुःखाङ्कुरेण क्रमतः समाक्रम्यमाणा दुष्टकीलालमभिलषन्त्यस्तदेवानुभवन्त्यश्च प्रलयात् क्लिश्यन्ते । एवममी अपि पुण्यशालिनः पापशालिन इव तृष्णाबीजेन विजयमानेन दुःखाङ्कुरेण क्रमतः समाक्रम्यमाणा विषयानभिलषन्तस्तानेवानुभवन्तश्च प्रलयात् क्लिश्यन्ते । अतः पुण्यानि सुखाभासस्य दुःखस्यैव साधनानि स्युः ॥ ७५ ॥

अथ पुनरपि पुण्यजन्यस्येन्द्रियसुखस्य बहुधा दुःखत्वमुद्द्योतयति—

सपरं बाधासहियं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं ।
जं इंदियेहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा ॥ ७६ ॥

सपरं बाधासहितं विच्छिन्नं बन्धकारणं विषमम् ।
यदिन्द्रियैर्लब्धं तत्सौख्यं दुःखमेव तथा ॥ ७६ ॥

सपरत्वात् बाधासहितत्वात् विच्छिन्नत्वात् बन्धकारणत्वात् विषमत्वाच्च पुण्यजन्यमपीन्द्रियसुखं दुःखमेव स्यात् । सपरं हि सत् परप्रत्ययत्वात् पराधीनतया, बाधासहितं हि सदशनोदन्यादि-

---

भवंति य अनुभवन्ति च । किं पर्यन्तम् । **आमरणं** मरणपर्यन्तम् । कथंभूता । **दुक्खसंतत्ता** दुःखसंतप्ता इति । अयमत्रार्थः—यथा तृष्णोद्रेकेण प्रेरिताः जलौकसः कीलालमभिलषन्त्यस्तदेवानुभवन्त्यश्चामरणं दुःखिता भवन्ति, तथा निजशुद्धात्मसंवित्तिपराङ्मुखा जीवा अपि मृगतृष्णाभ्योऽम्भांसीव विषयानभिलषन्तस्तथैवानुभवन्तश्चामरणं दुःखिता भवन्ति । तत एतदायातं तृष्णातङ्कोत्पादकत्वेन पुण्यानि वस्तुतो दुःखकारणानि इति ॥ ७५ ॥ अथ पुनरपि पुण्योत्पन्नस्येन्द्रियसुखस्य बहुधा दुःखत्वं प्रकाशयति—**सपरं** सह परद्रव्यापेक्षया वर्तते सपरं भवतीन्द्रियसुखं, पारमार्थिकसुखं, तु परद्रव्यनिरपेक्षत्वादात्माधीनं भवति । **बाधासहियं** तीव्रक्षुधातृष्णाद्यनेकबाधासहितत्वाद्बाधासहितमिन्द्रियसुखं, निजात्मसुखं तु पूर्वोक्तसमस्तबाधारहितत्वादव्याबाधम् । **विच्छिण्णं** प्रतिपक्षभूतासातोदयेन सहितत्वाद्विच्छिन्नं सान्तरितं भवतीन्द्रियसुखं, अतीन्द्रियसुखं

[**अनुभवन्ति**] भोगते हैं । **भावार्थ**—मृग-तृष्णासे जलकी अभिलाषाकी नाईं संसारी जीव पुण्यजनित तृष्णाओंमें सुख चाहते हैं । उस तृष्णासे उत्पन्न हुए दुःख संतापको सह नहीं सकते हैं, इसलिये बारंबार विषयोंको मरण पर्यंत भोगते हैं । जैसे जोंक विकारवाले खूनको तृष्णावश क्रमसे तबतक पीती है, जबतक कि नाशको प्राप्त नहीं होती, इसी प्रकार पापी जीवोंकी तरह ये पुण्यवन्त भी तृष्णा–बीजसे बढ़े हुए दुःखरूप अंकुरके वश क्रमसे विषयोंको चाहते हैं, बारम्बार भोगते हैं; और क्लेशयुक्त होते हैं, जबतक कि मर नहीं जाते । इसलिये पुण्य सुखाभासरूप दुःखके कारण हैं; सब प्रकारसे त्यागने योग्य है ॥ ७५ ॥ आगे फिर भी पुण्यजनित इंद्रिय-सुखोंको बहुत प्रकारसे दुःखरूप कहते हैं— [**यत्**] जो [**इन्द्रियैः**] पाँच इंद्रियोंसे [**लब्धं**] प्राप्त हुआ [**सौख्यं**] सुख है, [**तत्**] सो [**तथा**] ऐसे सुखकी तरह [**दुःखमेव**] दुःखरूप ही है, क्योंकि जो सुख [**सपरं**] पराधीन है, [**बाधासहितं**] क्षुधा, तृषादि बाधा युक्त है, [**विच्छिन्नं**] असाताके उदयसे विनाश होनेवाला है, [**बन्धकारणं**] कर्मबंधका कारण है, क्योंकि जहाँ इंद्रियसुख होता है, वहाँ अवश्य रागादिक

भिस्तृष्णाव्यक्तिभिरुपेतत्वात् अत्यन्ताकुलतया, विच्छिन्नं हि सदसद्वेद्योदयमच्यावितसद्वेद्योदयप्रवृत्ततयाऽनुभवत्वादुद्भूतविपक्षतया, बन्धकारणं हि सद्विषयोपभोगमार्गानुलग्नरागादिदोषसेनानुसारसंगच्छमानघनकर्मपांसुपटलत्वादुदर्कदुःसहतया, विषमं हि सदभिवृद्धिपरिहाणिपरिणतत्वादत्यन्तविसंस्थुलतया च दुःखमेव भवति। अथैवं पुण्यमपि पापवद्दुःखसाधनमायातम् ॥ ७६ ॥

अथ पुण्यपापयोरविशेषत्वं निश्चिन्वन्नुपसंहरति—

ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसो त्ति पुण्णपावाणं।
हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंछण्णो ॥ ७७ ॥

न हि मन्यते य एवं नास्ति विशेष इति पुण्यपापयोः।
हिण्डति घोरमपारं संसारं मोहसंछन्नः ॥ ७७ ॥

एवमुक्तक्रमेण शुभाशुभोपयोगद्वैतमिव सुखदुःखद्वैतमिव च न खलु परमार्थतः पुण्यपापद्वैतमवतिष्ठते, उभयत्राप्यनात्मधर्मत्वाविशेषत्वात्। यस्तु पुनरनयोः कल्याणकालायसनिगलयो-

तु प्रतिपक्षभूतासातोदयाभावान्निरन्तरम्। **बंधकारणं** दृष्टाश्रुतानुभूतभोगाकाङ्क्षाप्रभृत्यनेकापध्यानवशेन भाविनरकादिदुःखोत्पादककर्मबन्धोत्पादकत्वाद्बन्धकारणमिन्द्रियसुखं, अतीन्द्रियसुखं तु सर्वापध्यानरहितत्वादबन्धकारणम्। **विसमं** विगतः शमः परमोपशमो यत्र तद्विषममतृप्तिकरं हानिवृद्धिसहितत्वाद्वा विषमं, अतीन्द्रियसुखं तु परमतृप्तिकरं हानिवृद्धिरहितम्। **जं इंदियेहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा** यदिन्द्रियैर्लब्धं संसारसुखं तत्सुखं यथा पूर्वोक्तपञ्चविशेषणविशिष्टं भवति तथैव दुःखमेवेत्यभिप्रायः ॥ ७६ ॥ एवं पुण्यानि जीवस्य तृष्णोत्पादकत्वेन दुःखकारणानि भवन्तीति कथनरूपेण द्वितीयस्थले गाथाचतुष्टयं गतम्। अथ निश्चयेन पुण्यपापयोर्विशेषो नास्तीति कथयन् पुण्यपापयोर्व्याख्यानमुपसंहरति—**ण हि मण्णदि जो एवं** न हि मन्यते य एवम्। किम्। **णत्थि विसेसो त्ति पुण्णपावाणं** पुण्यपापयोर्निश्चयेन विशेषो नास्ति। स किं करोति। **हिंडदि घोरमपारं संसारं** हिण्डति भ्रमति। कम्। ससारम्। कथंभूतम्।

दोषोंकी सेना होती है। उसीके अनुसार अवश्य कर्म-धूलि लगती है। और वह सुख [**विषमं**] विषम अर्थात् चंचलपनेसे हानि वृद्धिरूप है। **भावार्थ—**सांसारिक सुख और दुःख वास्तवमें दोनों एक ही हैं क्योंकि जिस प्रकार सुख पराधीन, बाधा सहित, विनाशीक, बंधकारक तथा विषम इन पाँच विशेषणोंसे युक्त है, उसी प्रकार दुःख भी पराधीन आदि विशेषणों सहित है, और इस सुखका कारण पुण्य भी पापकी तरह दुःखका कारण है। इसी कारण सुख दुःखकी नाईं पुण्य पापमें भी कोई भेद नहीं है, ॥ ७६ ॥ आगे पुण्य पापमें कोई भेद नहीं है, ऐसा निश्चय करके इस कथनका संकोच करते हैं— [**पुण्यपापयोः**] पुण्य और पाप इन दोनोंमें [**विशेषः**] भेद [**नास्ति**] नहीं है, [**इति**] ऐसा [**एवं**] इस प्रकार [**यः**] जो पुरुष [**न हि**] नहीं [**मन्यते**] मानता है, [**'सः'**] वह [**मोहसंछन्नः**] मोहसे आच्छादित होता हुआ [**घोरं**] भयानक और [**अपारं**] जिसका पार नहीं [**संसारं**] ऐसे संसारमें [**हिण्डति**] भ्रमण करता है। **भावार्थ—**जैसे निश्चयसे शुभ और

विवाहङ्कारिकं विशेषमभिमन्यमानोऽहमिन्द्रपदादिसंपदां निदानमिति निर्भरतरं धर्मानुरागमवलम्बते स खलूपरक्तचित्तभित्तितया तिरस्कृतशुद्धोपयोगशक्तिरासंसारं शारीरं दुःखमेवानुभवति ॥ ७७ ॥

अथैवमवधारितशुभाशुभोपयोगाविशेषः समस्तमपि रागद्वेषद्वैतमपहासयन्नशेषदुःखक्षयाय सुनिश्चितमनाः शुद्धोपयोगमधिवसति—

एवं विदिदत्थो जो दव्वेसु ण रागमेदि दोसं वा ।
उवओगविसुद्धो सो खवेदि देहुब्भवं दुक्खं ॥ ७८ ॥

एवं विदितार्थो यो द्रव्येषु न रागमेति द्वेषं वा ।
उपयोगविशुद्धः सः क्षपयति देहोद्भवं दुःखम् ॥ ७८ ॥

यो हि नाम शुभानामशुभानां च भावानामविशेषदर्शनेन सम्यक्परिच्छिन्नवस्तुस्वरूपः स्वपरविभागावस्थितेषु समग्रेषु ससमग्रपर्यायेषु द्रव्येषु रागं द्वेषं चाशेषमेव परिवर्जयति

घोरम् अपारं चाभव्यापेक्षया । कथंभूतः । **मोहसंछण्णो** मोहप्रच्छादित इति । तथाहि—द्रव्यपुण्यपापयोर्व्यवहारेण भेदः, भावपुण्यपापयोस्तत्फलभूतसुखदुःखयोश्चाशुद्धनिश्चयेन भेदः, शुद्धनिश्चयेन तु शुद्धात्मनोऽभिन्नत्वाद्भेदो नास्ति । एवं शुद्धनयेन पुण्यपापयोरभेदं योऽसौ न मन्यते स देवेन्द्रचक्रवर्तिबलदेववासुदेवकामदेवादिपदनिमित्तं निदानबन्धेन पुण्यमिच्छन्निर्मोहशुद्धात्मतत्त्वविपरीतदर्शनचारित्रमोहप्रच्छादितः सुवर्णलोहनिगडद्वयसमानपुण्यपापद्वयबद्धः सन् संसाररहितशुद्धात्मनो विपरीतं संसारं भ्रमतीत्यर्थः ॥७७॥ अथैवं शुभाशुभयोः समानत्वपरिज्ञानेन निश्चितशुद्धात्मतत्त्वः सन् दुःखक्षयाय शुद्धोपयोगानुष्ठानं स्वीकरोति—**एवं विदिदत्थो जो** एवं चिदानन्दैकस्वभावं परमात्मतत्त्वमेवोपादेयमन्यदशेषं हेयमिति हेयोपादेयपरिज्ञानेन विदितार्थतत्त्वो भूत्वा यः **दव्वेसु ण रागमेदि दोसं वा** निजशुद्धात्मद्रव्यादन्येषु शुभाशुभसर्वद्रव्येषु रागं द्वेषं वा न

अशुभमें भेद नहीं है, तथा सुख दुःखमें भेद नहीं है, इसी प्रकार यथार्थ दृष्टिसे पुण्य पापमें भी भेद नहीं है । दानोंमें आत्म-धर्मका अभाव है । जो कोई पुरुष अहंकार बुद्धिसे पुण्य और पापमें भेद मानता है, तथा सोने लोहेकी बेड़ियोंके समान अहमिंद्र, इन्द्र, चक्रवर्ती आदि संपदाओंके कारण अच्छी तरहसे धर्मानुरागका अवलम्बन करता (सहायता लेता) है, वह पुरुष सराग भावों द्वारा शुद्धोपयोग शक्तिसे रहित हुआ जबतक संसारमें है, तबतक शरीरादि संबंधी दुःखोंका भोगनेवाला होता है ॥ ७७ ॥ आगे कहते हैं, कि जो पुरुष शुभ अशुभोपयोगमें एकता मानकर समस्त राग द्वेषोंको दूर करता है, वह संपूर्ण दुःखोंके नाश होनेके निमित्त निश्चल चित्त होकर शुद्धोपयोगको अंगीकार करता है—[**एवं**] इस प्रकार [**विदितार्थः**] पदार्थोंके स्वरूपको जाननेवाला [**यः**] जो पुरुष [**द्रव्येषु**] परद्रव्योंमें [**रागं**] प्रीति भाव [**वा**] अथवा [**द्वेषं**] द्वेष भावको [**न**] नहीं [**एति**] प्राप्त होता है, [**सः**] वह [**उपयोगविशुद्धः**] उपयोगसे निर्मल अर्थात् शुद्धोपयोगी हुआ [**देहोद्भवं दुःखं**] शरीरसे उत्पन्न हुए दुःखको [**क्षपयति**] नष्ट करता है । **भावार्थ**—जो पुरुष शुभ (पुण्यरूप) तथा अशुभ

स किलैकान्तेनोपयोगविशुद्धतया परित्यक्तपरद्रव्यालम्बनोऽग्निरिवायःपिण्डादननुष्ठितायःसारः प्रचण्डघनघातस्थानीयं शारीरं दुःखं क्षपयति, ततो ममायमेवैकः शरणं शुद्धोपयोगः ॥ ७८ ॥

अथ यदि सर्वसावद्ययोगमतीत्य चरित्रमुपस्थितोऽपि शुभोपयोगानुवृत्तिवशतया मोहादीन्नोन्मूलयामि, ततः कुतो मे शुद्धात्मलाभ इति सर्वारम्भेणोत्तिष्ठते—

चत्ता पावारंभं समुट्ठिदो वा सुहम्मि चरियम्हि ।
ण जहदि जदि मोहादी ण लहदि सो अप्पगं सुद्धं ॥ ७९ ॥
त्यक्त्वा पापारम्भं समुत्थितो वा शुभे चरित्रे ।
न जहाति यदि मोहादीन्न लभते स आत्मकं शुद्धम् ॥ ७९ ॥

यः खलु समस्तसावद्ययोगप्रत्याख्यानलक्षणं परमसामायिकं नाम चारित्रं प्रतिज्ञायापि शुभोपयोगवृत्त्याटकाभिसारिकयैवाभिसार्यमाणो न मोहवाहिनीविधेयतामवकिरति स किल

गच्छति **उवओगविसुद्धो सो** रागादिरहितशुद्धात्मानुभूतिलक्षणेन शुद्धोपयोगेन विशुद्धः सन् स **खवेदि देहुब्भवं दुक्खं** तप्तलोहपिण्डस्थानीयदेहादुद्भवं, अनाकुलत्वलक्षणपारमार्थिकसुखाद्विलक्षणं परमाकुलत्वोत्पादकं लोहपिण्डरहितोऽग्निरिव घनघातपरंपरास्थानीयदेहरहितो भूत्वा शारीरं दुःखं क्षपयतीत्यभिप्रायः ॥ ७८ ॥ एवमुपसंहाररूपेण तृतीयस्थले गाथाद्वयं गतम् । इति शुभाशुभमूढत्वनिरासार्थं गाथादशकपर्यन्तं स्थलत्रय-समुदायेन प्रथमज्ञानकण्ठिका समाप्ता । अथ शुभाशुभोपयोगनिवृत्तिलक्षणशुद्धोपयोगेन मोक्षो भवतीति पूर्वसूत्रे भणितम् । अत्र तु द्वितीयज्ञानकण्ठिकाप्रारम्भे शुद्धोपयोगाभावे शुद्धात्मानं न लभते, इति तमेवार्थं व्यतिरेकरूपेण दृढयति—**चत्ता पावारंभं** पूर्वं गृहवासादिरूपं पापारम्भं त्यक्त्वा **समुट्ठिदो वा सुहम्मि चरियम्हि** सम्यगुपस्थितो वा पुनः । क । शुभचरित्रे । **ण जहदि जदि मोहादी** न त्यजति यदि चेन्मोह-रागद्वेषान् **ण लहदि सो अप्पगं सुद्धं** न लभते स आत्मानं शुद्धमिति । इतो विस्तरः—कोऽपि मोक्षार्थी

भावोंको एकरूप जानकर अपने स्वरूपमें स्थिर होके परद्रव्योंमें राग द्वेष भाव छोड़ देता है, वह पुरुष, शरीरसंबंधी दुःखोंका नाश करता है । जैसे—लोह-पिंडमें प्रवेश नहीं की हुई अग्नि घनकी चोट नहीं सहती है, उसी प्रकार शुद्धोपयोगी दुःखको नहीं सहता है । इसलिये आचार्य कहते हैं, कि मुझको एक शुद्धोपयोगकी ही शरण प्राप्त होओ, जिससे कि दुःखस्वरूप संसारका अभाव होवे ॥ ७८ ॥ आगे कहते हैं, कि मैं समस्त पापयोगोंको छोड़कर चारित्रको प्राप्त हुआ हूँ, यदि मैं शुभोपयोगके वश होकर मोहको दूर न करूँगा, तो मेरे शुद्धात्मका लाभ कहाँसे होगा ? इसलिये मोहके नाश करनेको उद्यमी हूँ ।—[**पापारम्भं**] पापका कारण आरंभको [**त्यक्त्वा**] छोड़कर [**वा**] अथवा [**शुभे चरित्रे**] शुभ आचरणमें [**समुत्थितः**] प्रवर्तता हुआ [**'यः'**] जो पुरुष [**यदि**] यदि [**मोहादीन्**] मोह, राग, द्वेषादिकोंको [**न जहाति**] नहीं छोड़ता है, [**'तदा'**] तो [**सः**] वह पुरुष [**शुद्धं आत्मकं**] शुद्ध अर्थात् कर्म-कलंक रहित शुद्ध जीवद्रव्यको [**न लभते**] नहीं पाता । **भावार्थ**—जो पुरुष सब पाप क्रियाओंको छोड़कर परम सामायिक नाम चारित्रकी प्रतिज्ञा करके

सन्नासन्नमहादुःखसंकटः कथमात्मानमविप्लुतं लभते । अतो मया मोहवाहिनीविजयाय बद्धा कक्षेयम् ॥ ७९ ॥

अथ कथं मया विजेतव्या मोहवाहिनीत्युपायमालोचयति—

परमोपेक्षालक्षणं परमसामायिकं पूर्वं प्रतिज्ञाय पश्चाद्विषयसुखसाधकशुभोपयोगपरिणत्या मोहितान्तरङ्गः सन् निर्विकल्पसमाधिलक्षणपूर्वोक्तसामायिकचारित्राभावे सति निर्मोहशुद्धात्मतत्त्वप्रतिपक्षभूतान् मोहादीन्न त्यजति यदि चेत्तर्हि जिनसिद्धसदृशं निजशुद्धात्मानं न लभत इति सूत्रार्थः ॥ ७९ ॥ अथ शुद्धोपयोगाभावे यादृशं जिनसिद्धस्वरूपं न लभते तमेव कथयति—

तवसंजमप्पसिद्धो सुद्धो सग्गापवग्गकरो ।
अमरासुरिंदमहिदो देवो सो लोयसिहरत्थो ॥ *५ ॥

तवसंजमप्पसिद्धो समस्तरागादिपरभावेच्छात्यागेन स्वस्वरूपे प्रतपनं विजयनं तपः, बहिरङ्गेन्द्रिय-प्राणसंयमबलेन स्वशुद्धात्मनि संयमनात्समरसीभावेन परिणमनं संयमः, ताभ्यां प्रसिद्धो जातस्तपःसंयम-प्रसिद्धः, **सुद्धो** क्षुधाद्यष्टादशदोषरहितः **सग्गापवग्गमग्गकरो** स्वर्गः प्रसिद्धः केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टय-लक्षणोऽपवर्गो मोक्षस्तयोर्मार्गं करोत्युपदिशति स्वर्गापवर्गमार्गकरः, **अमरासुरिंदमहिदो** तत्पदाभिलाषिभिर-मरासुरेन्द्रैर्महितः पूजितोऽमरासुरेन्द्रमहितः **देवो सो** स एवं गुणविशिष्टोऽर्हन् देवो भवति । **लोयसिहरत्थो** स एव भगवान् लोकाग्रशिखरस्थः सन् सिद्धो भवतीति जिनसिद्धस्वरूपं ज्ञातव्यम् ॥ ५ ॥ अथ तमित्थंभूतं निर्दोषिपरमात्मानं ये श्रद्दधति मन्यन्ते तेऽक्षयसुखं लभन्त इति प्रज्ञापयति—

तं देवदेवदेवं जदिवरवसहं गुरुं तिलोयस्स ।
पणमंति जे मणुस्सा ते सोक्खं अक्खयं जंति ॥ *६ ॥

तं देवदेवदेवं देवदेवाः सौधर्मेन्द्रप्रभृतयस्तेषां देव आराध्यो देवदेवदेवस्तं देवदेवदेवं, **जदिवरवसहं** जितेन्द्रियत्वेन निजशुद्धात्मनि यत्नपरास्ते यतयस्तेषां वरा गणधरदेवादयस्तेभ्योऽपि वृषभः प्रधानो यतिवर-वृषभस्तं यतिवरवृषभं, **गुरुं तिलोयस्स** अनन्तज्ञानादिगुरुगुणैस्त्रैलोक्यस्यापि गुरुस्तं त्रिलोकगुरुं **पणमंति जे मणुस्सा** तमित्थंभूतं भगवन्तं ये मनुष्यादयो द्रव्यभावनमस्काराभ्यां प्रणमन्त्याराधयन्ति ते **सोक्खं अक्खयं जंति** ते तदाराधनाफलेन परंपरयाऽक्षयानन्तसौख्यं यान्ति लभन्त इति सूत्रार्थः ॥ ६ ॥ अथ'चत्ता पावारंभं' इत्यादि सूत्रेण यदुक्तं शुद्धोपयोगाभावे मोहादिविनाशो न भवति, मोहादिविनाशाभावेन शुद्धात्मलाभो न भवति तदर्थमेवेदानीमुपायं समालोचयति—**जो जाणदि अरहंतं** यः कर्ता जानाति । कम् । अर्हन्तम् । **कैः** कृत्वा । **दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं** द्रव्यत्वगुणत्वपर्यायत्वैः **सो जाणदि अप्पाणं** स पुरुषोऽर्हत्परिज्ञाना-त्पश्चादात्मानं जानाति **मोहो खलु जादि तस्स लयं** तत आत्मपरिज्ञानात्तस्य मोहो दर्शनमोहो **लयं** विनाशं

शुभोपयोग क्रियारूप मोह-ठगकी खोटी स्त्रीके वशमें होजाता है, वह मोहकी सेनाको नहीं जीत सकता, और उसके समीप अनेक दुःख संकट हैं, इसलिये निर्मल आत्माको नहीं पाता । इसी कारण मैंने मोह-सेनाके जीतनेको कमर बाँधी है ॥ ७९ ॥ आगे मुझसे मोहकी सेना कैसे जीती जावे, ऐसे उपायका

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं ।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥ ८० ॥
यो जानात्यर्हन्तं द्रव्यत्वगुणत्वपर्ययत्वैः ।
स जानात्यात्मानं मोहः खलु याति तस्य लयम् ॥ ८० ॥

यो हि नामार्हन्तं द्रव्यत्वगुणत्वपर्ययत्वैः परिच्छिनत्ति स खल्वात्मानं परिच्छिनत्ति, उभयोरपि निश्चयेनाविशेषात् । अर्हतोऽपि पाककाष्ठागतकार्तस्वरस्येव परिस्पष्टमात्मरूपं, ततस्तत्परिच्छेदे सर्वात्मपरिच्छेदः । तत्रान्वयो द्रव्यं, अन्वयविशेषणं गुणः, अन्वयव्यतिरेकाः पर्यायाः । तत्र भगवत्यर्हति सर्वतो विशुद्धे त्रिभूमिकम् पि स्वमनसा समयमुत्पश्यन्ति । यश्चेतनोऽयमित्यन्वयस्तद्द्रव्यं, यच्चान्वयाश्रितं चैतन्यमिति विशेषणं स गुणः, ये चैकसमयमात्रावधृतकालपरिमाणतया परस्परपरावृत्ता अन्वयव्यतिरेकास्ते पर्यायाश्चिद्विवर्तनग्रन्थय इति यावत् । अथैवमस्य त्रिकालमप्येककालमाकलयतो मुक्ताफलानीव प्रलम्बे मालम्बे चिद्विवर्तांश्चेतन एव संक्षिप्य विशेषणविशेष्यत्ववासनान्तर्धानाद्धवलिमानमिव मालम्बे चेतन एव चैतन्यमन्तर्हितं विधाय

क्षयं यातीति । तद्यथा—केवलज्ञानादयो विशेषगुणा, अस्तित्वादयः सामान्यगुणाः, परमौदारिकशरीराकारेण यदात्मप्रदेशानामवस्थानं स व्यञ्जनपर्यायः, अगुरुलघुकगुणषड्वृद्धिहानिरूपेण प्रतिक्षणं प्रवर्तमाना अर्थपर्यायाः, एवंलक्षणगुणपर्यायाधारभूतममूर्तमसंख्यातप्रदेशं शुद्धचैतन्यान्वयरूपं द्रव्यं चेति, इत्थंभूतं द्रव्यगुणपर्यायस्वरूपं पूर्वमर्हदाभिधाने परमात्मनि ज्ञात्वा पश्चान्निश्चयनयेन तदेवागमसारपदभूतयाऽध्यात्मभाषया निजशुद्धात्मभावनाभिमुखरूपेण सविकल्पस्वसंवेदज्ञानेन तथैवागमभाषयाधःप्रवृत्तिकरणानिवृत्तिकरणसंज्ञदर्शन-

---

विचार करते है—[**यः**] जो पुरुष [**द्रव्यत्वगुणत्वपर्ययत्वैः**] द्रव्य गुण पर्यायोंसे [**अर्हन्तं**] पूज्य वीतरागदेवको [**जानाति**] जानता है, [**सः**] वह पुरुष [**आत्मानं**] अपने स्वरूपको [**जानाति**] जानता है । और [**खलु**] निश्चयकर [**तस्य**] उसीका [**मोहः**] मोहकर्म [**लयं**] नाशको [**याति**] प्राप्त होता है । **भावार्थ—**जैसे पिछली आँचका पकाया हुआ सोना निर्मल होता है, उसी प्रकार अरहंतका स्वरूप है, और निश्चयकर जैसा अरहंतका स्वरूप है, वैसा ही आत्माका शुद्ध स्वरूप है । इसलिये अर्हतके जाननेसे आत्मा जाना जाता है । गुणपर्यायोंके आधारको द्रव्य कहते हैं, तथा द्रव्यके ज्ञानादिक विशेषणोंको गुण कहते हैं, और एक समय मात्र कालके प्रमाणसे चैतन्यादिके परिणति भेदोंको पर्याय कहते है । प्रथम ही अरहंतके द्रव्य, गुण, पर्याय अपने मनमें अवधारण करे, पीछे आपको इन गुणपर्यायोंसे जाने, और उसके बाद निज स्वरूपको अभेदरूप अनुभवे । इस आत्माके त्रिकाल संबंधी पर्याय एक कालमें अनुभवन करे । जैसे हारमें मोती पोये जाते हैं, वहाँ भेद नहीं करते हैं, तैसे ही आत्मामें चित्पर्यायका अभेद करे, जैसे हारमें उज्ज्वल गुणका भेद नहीं करते हैं, तैसे ही आत्मामें चेतना गुणको गोपन करे, जैसे पहिरनेवाला पुरुष अभेदरूप हारकी शोभाके सुखको वेदता है, वैसे ही केवलज्ञानसे अभेदरूप आत्मीक-सुखको वेदे । ऐसी अवस्थाके होनेपर अगले अगले समयोंमें

केवलं प्रालम्बमिव केवलमात्मानं परिच्छिन्दतस्तदुत्तरोत्तरक्षणक्षीयमानकर्तृकर्मक्रियाविभागतया निःक्रियं चिन्मात्रं भावमधिगतस्य जातस्य मणेरिवाकम्पप्रवृत्तनिर्मलालोकस्यावश्यमेव निराश्रयतया मोहतमः प्रलीयते । यद्येवं लब्धो मया मोहवाहिनीविजयोपायः ॥ ८० ॥

अथैवं प्राप्तचिन्तामणेरपि मे प्रमादो दस्युरिति जागर्ति—

जीवो ववगदमोहो उवलद्धो तच्चमप्पणो सम्मं ।
जहदि जदि रागदोसे सो अप्पाणं लहदि सुद्धं ॥ ८१ ॥

जीवो व्यपगतमोह उपलब्धवांस्तत्त्वमात्मनः सम्यक् ।
जहाति यदि रागद्वेषौ स आत्मानं लभते शुद्धम् ॥ ८१ ॥

एवमुपवर्णितस्वरूपेणोपायेन मोहमपसार्यापि सम्यगात्मतत्त्वमुपलभ्यापि यदि नाम रागद्वेषौ निर्मूलयति तदा शुद्धमात्मानमनुभवति । यदि पुनः पुनरपि तावनुवर्तेते तदा प्रमाद-

---

मोहक्षपणसमर्थपरिणामविशेषबलेन पश्चादात्मनि योजयति । तदनन्तरमविकल्पस्वरूपे प्राप्ते, यथा पर्यायस्थानीयमुक्ताफलानि गुणस्थानीयं धवलत्वं चाभेदनयेन हार एव, तथा पूर्वोक्तद्रव्यगुणपर्याया अभेदनयेनात्मैवेति भावयतो दर्शनमोहान्धकारः प्रलीयते । इति भावार्थः ॥ ८० ॥ अथ प्रमादोत्पादकचारित्रमोहसंज्ञश्चौरोऽस्तीति मत्वाऽऽप्तपरिज्ञानादुपलब्धस्य शुद्धात्मचिन्तामणेः रक्षणार्थं जागर्तीति कथयति—**जीवो** जीवः कर्ता । किंविशिष्टः । **ववगदमोहो** शुद्धात्मतत्त्वरुचिप्रतिबन्धकविनाशितदर्शनमोहः । पुनरपि किंविशिष्टः । **उवलद्धो** उपलब्धवान् ज्ञातवान् । किम् । **तच्चं** परमानन्दैकस्वभावात्मतत्त्वम् । कस्य सबन्धि । **अप्पणो** निजशुद्धात्मनः । कथम् । **सम्मं** सम्यक् संशयादिरहितत्वेन **जहदि जदि रागदोसे** शुद्धात्मानुभूतिलक्षणवीतरागचारित्रप्रतिबन्धकौ चारित्रमोहसंज्ञौ रागद्वेषौ यदि त्यजति **सो अप्पाणं लहदि सुद्धं** स एवमभेदरत्नत्रयपरिणतो जीवः शुद्धबुद्धैकस्वभावमात्मानं लभते मुक्तो भवतीति । किंच पूर्वं ज्ञानकण्ठिकायां 'उवओगविसुद्धो सो खवेदि देहुब्भवं दुक्खं' इत्युक्तम्, अत्र तु 'चय(जह)दि जदि रागदोसे सो अप्पाणं

कर्ता, कर्म, क्रियाका भेद क्षीण होता है, तभी क्रिया रहित चैतन्य स्वभावको प्राप्त होता है। जैसे चोखे (खरे) रत्नका अकंप निर्मल प्रकाश है, तैसे ही चैतन्य-प्रकाश जब निर्मल निश्चल होता है, तब आश्रयके बिना मोहरूपी अंधकारका अवश्य ही नाश होता है। आचार्य महाराज कहते हैं, जो इस भांति स्वरूपकी प्राप्ति होती है, तो मैंने मोहकी सेनाके जीतनेका उपाय पाया ॥ ८० ॥ आगे कहते हैं, कि यद्यपि मैंने स्वरूप-चिंतामणि पाया है, तो भी प्रमादरूप चोर अभी मौजूद है, इसलिये सावधान होकर मैं जागता हूँ—[**व्यपगतमोहः**] जिससे मोह दूर हो गया है, ऐसा [**जीवः**] आत्मा [**आत्मनः**] आत्माका [**सम्यक् तत्त्वं**] यथार्थ स्वरूप [**उपलब्धवान्**] प्राप्त करता हुआ [**यदि**] जो [**रागद्वेषौ**] राग द्वेषरूप प्रमाद भाव [**जहाति**] त्याग देवे, [**तदा**] तो [**सः**] वह जीव [**शुद्धं आत्मानं**] निर्मल निज स्वरूपको [**लभते**] प्राप्त होवे। **भावार्थ**—जो कोई भव्यजीव पूर्व कहे हुए उपायसे मोहका नाश करे, आत्म-तत्त्वरूप चिंतामणि-रत्नको पावे, और पानेके पश्चात् राग

तन्त्रतया लुण्ठितशुद्धात्मतत्त्वोपलम्भचिन्तारत्नोऽन्तस्ताम्यति । अतो मया रागद्वेषनिषेधायात्यन्तं जागरितव्यम् ॥ ८१ ॥

अथायमेवैको भगवद्भिः स्वयमनुभूयोपदर्शितो निःश्रेयसः पारमार्थिकः पन्था इति मतिं व्यवस्थापयति—

सव्वे वि य अरहंता तेण विधाणेण खविदकम्मंसा ।
किच्चा तधोवदेसं णिव्वादा ते णमो तेसिं ॥ ८२ ॥
सर्वेऽपि चार्हन्तस्तेन विधानेन क्षपितकर्मांशाः ।
कृत्वा तथोपदेशं निर्वृतास्ते नमस्तेभ्यः ॥ ८२ ॥

यतः खल्वतीतकालानुभूतक्रमप्रवृत्तयः समस्ता अपि भगवन्तस्तीर्थकराः प्रकारान्तरस्यासंभवादसंभावितद्वैतेनामुनैवैकेन प्रकारेण क्षपणं कर्मांशानां स्वयमनुभूय, परमाप्ततया परेषामप्यायत्यामिदानींत्वे वा मुमुक्षूणां तथैव तदुपदिश्य निःश्रेयसमध्याश्रिताः । ततो नान्यद्वर्त्म-

लहदि सुद्धं' इति भणितम्, उभयत्र मोक्षोऽस्ति । को विशेषः । प्रत्युत्तरमाह —तत्र शुभाशुभयोर्निश्चयेन समानत्वं ज्ञात्वा पश्चाच्छुद्धे शुभरहिते निजस्वरूपे स्थित्वा मोक्षं लभते, तेन कारणेन शुभाशुभमूढत्वनिरासार्थं ज्ञानकण्ठिका भण्यते । अत्र तु द्रव्यगुणपर्यायैराप्तस्वरूपं ज्ञात्वा पश्चात्तद्रूपे स्वशुद्धात्मनि स्थित्वा मोक्षं प्राप्नोति, ततः कारणादियमाप्तात्ममूढत्वनिरासार्थं ज्ञानकण्ठिका इत्येतावान् विशेषः ॥ ८१ ॥ अथ पूर्वं द्रव्यगुणपर्यायैराप्तस्वरूपं विज्ञाय पश्चात्तथाभूते स्वात्मनि स्थित्वा सर्वेऽप्यर्हन्तो मोक्षं गता इति स्वमनसि निश्चयं करोति—**सव्वे वि य अरहंता** सर्वेऽपि चार्हन्तः **तेण विधाणेण** द्रव्यगुणपर्यायैः पूर्वमर्हत्परिज्ञानात्पश्चात्तथाभूतस्वात्मावस्थानरूपेण तेन पूर्वोक्तप्रकारेण **खविदकम्मंसा** क्षपितकर्मांशा विनाशितकर्मभेदा भूत्वा **किच्चा तधोवदेसं** अहो भव्या अयमेव निश्चयरत्नत्रयात्मकशुद्धात्मोपलम्भलक्षणो मोक्षमार्गो नान्य इत्युपदेशं कृत्वा **णिव्वादा** निर्वृता अक्षयानन्तसुखेन तृप्ता जाताः, ते ते भगवन्तः । **णमो तेसिं** एवं

द्वेष रूप प्रमादके वश न होवे, तो शुद्धात्माका अनुभव कर सके, और यदि राग द्वेषके वशीभूत होवे, तो प्रमादरूप चोरसे शुद्धात्म अनुभवरूप चिंतामणि-रत्नको लुटाके पीछे अंतःकरणमें (चित्तमें) अत्यंत दुःख पावे । इसलिये राग द्वेषके विनाशके निमित्त मुझको सावधान होके जागृत ही रहना चाहिये ॥ ८१ ॥ आगे कहते हैं, कि भगवंतदेवने ही आप अनुभव कर यही एक मोक्ष-मार्ग दिखाया है, ऐसी बुद्धिकी स्थापना करते हैं—[**तेन विधानेन**] तिस पूर्वकथित विधानसे [**क्षपितकर्मांशा**] जिन्होंने कर्मोंके अंश विनाश किये हैं, ऐसे [**ते सर्वे अर्हन्त अपि**] वे सब भगवन्त तीर्थंकरदेव भी [**तथा**] उसी प्रकार [**उपदेशं कृत्वा**] उपदेश करके [**निर्वृत्ताः**] मोक्षको प्राप्त हुए । [**तेभ्यः**] उन अरहंत देवोंको [**नमः**] मेरा नमस्कार होवे । **भावार्थ**—भगवान् तीर्थंकरदेवने पहले अरहंतका स्वरूप, द्रव्य, गुण, पर्यायसे जाना, पीछे उसी प्रकार अपने स्वरूपका अनुभव करके समस्त कर्मोंका नाश किया, और उसी प्रकार भव्यजीवोंको उपदेश दिया, कि यही मोक्ष-मार्ग है, अन्य नहीं है । तथा

निर्वाणस्येत्यवधार्यते। अलमथवा प्रलपितेन। व्यवस्थिता मतिर्मम, नमो भगवद्भ्यः॥ ८२॥

अथ शुद्धात्मलाभपरिपन्थिनो मोहस्य स्वभावं भूमिकाश्च विभावयति—

दव्वादिएसु मूढो भावो जीवस्स हवदि मोहो त्ति।
खुब्भदि तेणुच्छण्णो पप्पा रागं व दोसं वा॥ ८३॥

द्रव्यादिकेषु मूढो भावो जीवस्य भवति मोह इति।
क्षुभ्यति तेनावच्छन्नः प्राप्य रागं वा द्वेषं वा॥ ८३॥

यो हि द्रव्यगुणपर्यायेषु पूर्वमुपवर्णितेषु पीतोन्मत्तकस्येव जीवस्य तत्त्वाप्रतिपत्तिलक्षणो मूढो भावः स खलु मोहः तेनावच्छन्नात्मरूपः सन्नयमात्मा परद्रव्यमात्मद्रव्यत्वेन परगुणमात्म-

मोक्षमार्गनिश्चयं कृत्वा **श्रीकुन्दकुन्दाचार्य**देवास्तस्मै निजशुद्धात्मानुभूतिस्वरूपमोक्षमार्गाय तदुपदेशकेभ्यो-ऽर्हद्भ्यश्च तदुभयस्वरूपाभिलाषिणः सन्तो 'नमोस्तु तेभ्यः' इत्यनेन पदेन नमस्कारं कुर्वन्तीत्यभिप्रायः॥ ॥ ८२॥ अथ रत्नत्रयाराधका एव पुरुषा दानपूजागुणप्रशंसानमस्काराही भवन्ति नान्या इति कथयति—

दंसणसुद्धा पुरिसा णाणपहाणा समग्गचरियत्था।
पूजासक्काररिहा दाणस्स य हि ते णमो तेसिं॥ * ७॥

दंसणसुद्धा निजशुद्धात्मरुचिरूपनिश्चयसम्यक्त्वसाधकेन मूढत्रयादिपञ्चविंशतिमलरहितेन तत्त्वार्थ-श्रद्धानलक्षणेन दर्शनेन शुद्धा दर्शनशुद्धाः **पुरिसा** पुरुषा जीवाः। पुनरपि कथंभूताः। **णाणपहाणा** निरुपमस्वसंवेदनज्ञानसाधकेन वीतरागसर्वज्ञप्रणीतपरमागमाभ्यासलक्षणज्ञानेन प्रधानाः समर्थाः प्रौढज्ञान-प्रधानाः। पुनश्च कथंभूताः। **समग्गचरियत्था** निर्विकारनिश्चलात्मानुभूतिलक्षणनिश्चयचारित्रसाधकेना-चारादिशास्त्रकथितमूलोत्तरगुणानुष्ठानादिरूपेण चारित्रेण समग्राः परिपूर्णाः समग्रचारित्रस्थाः **पूजासक्का-रारिहा** द्रव्यभावलक्षणपूजा गुणप्रशंसा सत्कारस्तयोरर्हा योग्या भवन्ति। **दाणस्स य हि** दानस्य च हि **स्फुटं ते** ते पूर्वोक्तरत्नत्रयाधारा **णमो तेसिं** नमस्तेभ्य इति नमस्कारस्यापि त एव योग्याः॥ ७॥ एव-मात्मात्मस्वरूपविषये मूढत्वनिरासार्थं गाथासप्तकेन द्वितीयज्ञानकण्ठिका गता। अथ शुद्धात्मोपलम्भप्रतिपक्ष-

आज पंचमकाल (कलियुग) में भी वही उपदेश चला आता है। इसलिये अब बहुत कहाँतक कहें, श्रीभगवन्त वीतरागदेव बड़े ही उपकारी है, उनको तीनों काल नमस्कार होवे॥ ८२॥ आगे शुद्धात्माके लाभका घातक मोहके स्वभावको और भूमिकाको कहते हैं—[**जीवस्य**] आत्माका [**द्रव्यादिकेषु**] द्रव्य, गुण, पर्यायमें जो [**मूढः भावः**] विपरीत अज्ञानभाव है, सो [**मोहः इति**] मोह ऐसा नाम [**भवति**] होता है, अर्थात् जिस भावसे यह जीव धतूरा खानेवाले पुरुषके समान द्रव्य, गुण, पर्यायोंको यथार्थ नहीं जानता है, और न श्रद्धान करता है, उस भावको 'मोह' कहते हैं। [**तेन**] उस दर्शनमोह करके [**अवच्छन्नः**] आच्छादित जो यह जीव है, सो [**रागं वा द्वेषं वा**] रागभाव अथवा द्वेषभावको [**प्राप्य**] पाकर [**क्षुभ्यति**] क्षोभ पाता है। अर्थात् इस दर्शनमोहके उदयसे परद्रव्योंको अपना द्रव्य मानता है, परगुणको आत्मगुण मानता है, और परपर्यायको आत्म-

गुणतया परपर्यायानात्मपर्यायभावेन प्रतिपद्यमानः, प्ररूढदृढतरसंस्कारतया परद्रव्यमेवाहरहरुपाददानो दग्धेन्द्रियाणां रुचिवशेनाद्वैतेऽपि प्रवर्तितद्वैतो रुचितारुचितेषु रागद्वेषावुपश्लिष्य प्रचुरतराम्भोभाररयाहतः सेतुबन्ध इव द्वेधा विदीर्यमाणो नितरां क्षोभमुपैति। अतो मोहरागद्वेषभेदात्त्रिभूमिको मोहः ॥ ८३ ॥

अथानिष्टकार्यकारणत्वमभिधाय त्रिभूमिकस्यापि मोहस्य क्षयमासूत्रयति—

मोहेण व रागेण व दोसेण व परिणदस्स जीवस्स।
जायदि विविहो बंधो तम्हा ते संखवइदव्वा ॥ ८४ ॥

मोहेन वा रागेण वा द्वेषेण वा परिणतस्य जीवस्य।
जायते विविधो बन्धस्तस्मात्ते संक्षपयितव्याः ॥ ८४ ॥

एवमस्य तत्त्वाप्रतिपत्तिनिमीलितस्य मोहेन वा रागेण वा द्वेषेण वा परिणतस्य तृणपटला-

---

भूतमोहस्य स्वरूपं भेदांश्च प्रतिपादयति—**दव्वादिएसु** शुद्धात्मादिद्रव्येषु, तेषां द्रव्याणामनन्तज्ञानाद्यस्तित्वादिविशेषसामान्यलक्षणगुणेषु, शुद्धात्मपरिणतिलक्षणसिद्धत्वादिपर्यायेषु च यथासंभवं पूर्वोपवर्णितेषु वक्ष्यमाणेषु च **मूढो भावो** एतेषु पूर्वोक्तद्रव्यगुणपर्यायेषु विपरीताभिनिवेशरूपेण तत्त्वसंशयजनको मूढो भावः **जीवस्स हवदि मोहो त्ति** इत्थंभूतो भावो जीवस्य दर्शनमोह इति भवति। **खुब्भदि तेणुच्छण्णो** तेन दर्शनमोहेनावच्छन्नो झम्पितः सन्नक्षुभितात्मतत्त्वविपरीतेन क्षोभेण क्षोभं स्वरूपचलनं विपर्ययं गच्छति। किं कृत्वा। **पप्पा रागं व दोसं वा** निर्विकारशुद्धात्मनो विपरीतमिष्टानिष्टेन्द्रियविषयेषु हर्षविषादरूपं चारित्रमोहसंज्ञं रागद्वेषं वा प्राप्य चेति। अनेन किमुक्तं भवति। मोहो दर्शनमोहो रागद्वेषद्वयं चारित्रमोहश्चेति त्रिभूमिको मोह इति ॥८३॥ अथ दुःखहेतुभूतबन्धस्य कारणभूता रागद्वेषमोहा निर्मूलनीया इत्याघोषयति—**मोहेण व रागेण व दोसेण व परिणदस्स जीवस्स** मोहरागद्वेषपरिणतस्य मोहादिरहितपरमात्मस्वरूपपरिणतिच्युतस्य बहिर्मुखजीवस्य **जायदि विविहो बंधो** शुद्धोपयोगलक्षणो भावमोक्षस्तद्बलेन जीवप्रदेश-

---

पर्याय जानके अंगीकार करता है। **भावार्थ—**यह जीव अनादि अविद्यासे उत्पन्न हुआ जो परमें आत्म-संस्कार है, उससे सदाकाल परद्रव्यको अंगीकार करता है, इंद्रियोंके वश होकर इष्ट अनिष्ट पदार्थोंमें राग द्वेष भावोंसे द्वैतभावको प्राप्त होता है। यद्यपि संसारके सर्व विषय एक सरीखे हैं, तो भी राग द्वेषरूप भावोंसे उसे भले बुरे लगते हैं। जैसे किसी नदीका बँधा हुआ हुआ पुल पानीके अत्यंत प्रवाहसे भंग होकर दो खंडोंमें बँट जाता है, उसी प्रकार यह आत्मा मोहके तीव्र उदयसे राग द्वेष भावरूप परिणमन करके द्वैतभावको धारण करता हुआ अत्यंत आकुल रहता है। इस कारण एक मोहके राग, द्वेष, और मोह ये तीन भेद जानना चाहिये ॥ ८३ ॥ आगे कहते हैं, कि यह मोह अनिष्ट कार्य करनेका कारण है, इसलिये पूर्वोक्त तीन प्रकार मोहका क्षय करना योग्य है—[**मोहेन**] मोहभावसे [**वा रागेण**] अथवा रागभावसे [**वा**] अथवा [**द्वेषेण**] दुष्ट भावसे [**परिणतस्य जीवस्य**] परिणमते हुए जीवके [**विविधः बन्धः**] अनेक प्रकार कर्मबंध [**जायते**] उत्पन्न होता है,

[अवच्छन्नगर्त]संगतस्य करेणुकुट्टनीगात्रासक्तस्य प्रतिद्विरददर्शनोद्धतप्रविधावितस्य च सिन्धुरस्येव भवति नाम नानाविधो बन्धः। ततोऽमी अनिष्टकार्यकारिणो मुमुक्षुणा मोहरागद्वेषाः सम्यग्निर्मूलकाषं कषित्वा क्षपणीयाः ॥ ८४ ॥

अथामी अमीभिर्लिङ्गैरुपलभ्योद्भवन्त एव निशुम्भनीया इति विभावयति—

अट्ठे अजधागहणं करुणाभावो य मणुवतिरिएसु।
विसएसु य प्पसंगो मोहस्सेदाणि लिंगाणि ॥ ८५ ॥
अर्थे अयथाग्रहणं करुणाभावश्च तिर्यङ्मनुजेषु।
विषयेषु च प्रसङ्गो मोहस्यैतानि लिङ्गानि ॥ ८५ ॥

अर्थानामयाथातथ्यप्रतिपत्त्या तिर्यग्मनुष्येषु प्रेक्षार्हेष्वपि कारुण्यबुद्ध्या च मोहमभीष्ट-

---

कर्मप्रदेशानामत्यन्तविश्लेषो द्रव्यमोक्षः, इत्थंभूतद्रव्यभावमोक्षाद्विलक्षणः सर्वप्रकारोपादेयभूतस्वाभाविकसुखविपरीतस्य नारकादिदुःखस्य कारणभूतो विविधबन्धो जायते। **तम्हा ते संखवइदव्वा** यतो रागद्वेषमोहपरिणतस्य जीवस्येत्थंभूतो बन्धो भवति ततो रागादिरहितशुद्धात्मध्यानेन ते रागद्वेषमोहाः सम्यक् क्षपयितव्या इति तात्पर्यम् ॥ ८४ ॥ अथ स्वकीयस्वकीयलिङ्गैः रागद्वेषमोहान् ज्ञात्वा यथासंभवं त एव विनाशयितव्या इत्युपदिशति—**अट्ठे अजधागहणं** शुद्धात्मादिपदार्थे यथास्वरूपस्थितेऽपि विपरीताभिनिवेशरूपेणायथाग्रहणं **करुणाभावो य** शुद्धात्मोपलब्धिलक्षणपरमोपेक्षासंयमाद्विपरीतः करुणाभावो दयापरिणामश्च, अथवा व्यवहारेण करुणाया अभावः। केषु विषयेषु। **मणुवतिरिएसु** मनुष्यतिर्यग्जीवेषु इति

[तस्मात्] इसलिये **[ते]** वे राग, द्वेष, और मोहभाव **[संक्षपयितव्याः]** मूल सत्तासे क्षय करने योग्य हैं। **भावार्थ**–जीवके राग, द्वेष, मोह, इन तीन भावोंसे ज्ञानावरणादि अनेक कर्मबन्ध होते हैं, इसलिये इन तीनों भावोंका नाश करना चाहिये। जैसे जंगलका मदोन्मत्त हस्ती (हाथी) मोहसे अज्ञानी होकर सिखलाई हुई कुट्टिनी हस्तिनीको अत्यंत प्रेमभावके वश होकर आलिंगन करता है, तथा द्वेष भावसे अन्य हस्तियोंको उस हस्तिनीके पास आते देख लड़नेको सामने दौड़ता है, और तृणादिकसे आच्छादित (ढँके हुए) गड्ढेमें पड़कर पकड़नेवाले पुरुषोंसे नाना प्रकारसे बाँधा जाता है। इसीतरह इस जीवके भी मोह, राग, द्वेष भावोंसे अनेक प्रकार कर्मबंध होता है। इसलिये मोक्षकी इच्छा करनेवालेको अनिष्ट कार्यके कारणरूप मोहादि तीनों भाव मूलसत्तासे ही सर्व प्रकार क्षय करना चाहिये ॥ ८४ ॥ आगे कहते हैं, कि ऊपर कहे तीनों भाव इन लक्षणोंसे उत्पन्न होते देखकर नाश करना चाहिये— **[अर्थे]** पदार्थोंमें **[अयथाग्रहणं]** जैसेका तैसा ग्रहण नहीं करना, अर्थात् अन्यका अन्य जानना **[च]** तथा **[तिर्यङ्मनुजेषु]** तिर्यंच और मनुष्योंमें **[करुणाभावः]** ममतासे दयारूप भाव **[च]** और **[विषयेषु]** संसारके इष्ट अनिष्ट पदार्थोंमें **[प्रसङ्गः]** लगना **[एतानि]** इतने **[मोहस्य]** मोहके **[लिङ्गानि]** चिह्न हैं ॥ **भावार्थ**—मोहके तीन भेद हैं–दर्शनमोह, राग, और द्वेष। पदार्थोंको औरका और जानना, तथा मनुष्य तिर्यंचोंमें ममत्वबुद्धिसे दया होना, ये तो दर्शन-

विषयप्रसंगेन रागमनभीष्टविषयाप्रीत्या द्वेषमिति त्रिभिर्लिङ्गैरधिगम्य क्रममिति संभवन्नपि त्रिभूमिकोऽपि मोहो निहन्तव्यः ॥ ८५ ॥

अथ मोहक्षपणोपायान्तरमालोचयति—

जिणसत्थादो अट्ठे पच्चक्खादीहिं बुज्झदो णियमा ।
खीयदि मोहोवचयो तम्हा सत्थं समधिदव्वं ॥ ८६ ॥
जिनशास्त्रादर्थान् प्रत्यक्षादिभिर्बुध्यमानस्य नियमात् ।
क्षीयते मोहोपचयः तस्मात् शास्त्रं समध्येतव्यम् ॥ ८६ ॥

यत्किल द्रव्यगुणपर्यायस्वभावेनार्हतः ज्ञानादात्मनस्तथा ज्ञानं मोहक्षपणोपायत्वेन प्राक् प्रतिपन्नम् । तत् खलूपायान्तरमिदमपेक्षते । इदं हि विहितप्रथमभूमिकासंक्रमणस्य सर्वज्ञोपज्ञतया सर्वतोऽप्यबाधितं शाब्दं प्रमाणमाक्रम्य क्रीडतस्तत्संस्कारस्फुटीकृतविशिष्टसंवेदनशक्ति-

---

दर्शनमोहचिह्नम् । **विसएसु य प्पसंगो** निर्विषयसुखास्वादरहितबहिरात्मजीवानां मनोज्ञामनोज्ञविषयेषु च योऽसौ प्रकर्षेण सङ्गः संसर्गस्तं दृष्ट्वा प्रीत्यप्रीतिलिङ्गाभ्यां चारित्रमोहसंज्ञौ रागद्वेषौ च ज्ञायेते विवेकिभिः, ततस्तत्परिज्ञानानन्तरमेव निर्विकारस्वशुद्धात्मभावनया रागद्वेषमोहा निहन्तव्या इति सूत्रार्थः ॥ ८५ ॥ अथ द्रव्यगुणपर्यायपरिज्ञानाभावे मोहो भवतीति यदुक्तं पूर्वं तदर्थमागमाभ्यासं कारयति । अथवा द्रव्यगुणत्वपर्यायत्वैरर्हत्परिज्ञानादात्मपरिज्ञानं भवतीति यदुक्तं तदात्मपरिज्ञानमिममागमाभ्यासमपेक्षत इति पातनिकाद्वयं मनसि धृत्वा सूत्रमिदं प्रतिपादयति—**जिणसत्थादो अट्ठे पच्चक्खादीहिं बुज्झदो णियमा** जिनशास्त्रात्सकाशाच्छुद्धात्मादिपदार्थान् प्रत्यक्षादिप्रमाणैर्बुध्यमानस्य जानतो जीवस्य नियमान्निश्चयात् । किं फलं भवति । **खीयदि मोहोवचयो** दुरभिनिवेशसंस्कारकारी मोहोपचयः **खीयदि** क्षीयते प्रलीयते क्षयं याति। **तम्हा सत्थं समधिदव्वं** तस्माच्छास्त्रं सम्यगध्येतव्यं पठनीयमिति । तद्यथा—वीतरागसर्वज्ञप्रणीतशास्त्रात् 'एगो मे सस्सदो अप्पा' इत्यादि परमात्मोपदेशकश्रुतज्ञानेन तावदात्मानं जानीते कश्चिद्भव्यः, तदनन्तरं विशिष्टा-

---

मोहके चिह्न हैं । इष्ट विषयोंमें प्रीति, यह रागका चिह्न है, और अनिष्ट (अप्रिय) पदार्थोंमें क्रूर दृष्टि यह द्वेषका लक्षण है । इन तीन चिह्नों (लक्षणों) से मोहको उत्पन्न होते हुए देखकर उसका नाश अवश्य ही करना चाहिये ॥ ८५ ॥ आगे मोहका क्षय करनेके लिये अन्य उपायका विचार करते हैं— [**प्रत्यक्षादिभिः**] प्रत्यक्ष, परोक्ष, प्रमाण ज्ञानों करके [**जिनशास्त्रात्**] वीतराग सर्वज्ञ प्रणीत आगमसे [**अर्थान्**] पदार्थोंको [**बुध्यमानस्य**] जाननेवाले पुरुषके [**नियमात्**] नियमसे [**मोहोपचयः**] मोहका समूह अर्थात् विपरीतज्ञान व श्रद्धान [**क्षीयते**] नाशको प्राप्त होता है, [**तस्मात्**] इसलिये [**शास्त्रं**] जिनागमको [**समध्येतव्यं**] अच्छी तरह अध्ययन करना चाहिये । **भावार्थ**—पहले मोहके नाश करनेका उपाय, अर्हंतके द्रव्य, गुण, पर्यायके जाननेसे आत्माका ज्ञान होना बतलाया है, परंतु वह उपाय दूसरे उपायको भी चाहता है, क्योंकि अर्हंतके द्रव्य, गुण पर्यायका ज्ञान जिनागमके विना नहीं होता । इसलिये जिनागम मोहके नाशमें एक बलवान् उपाय है, जिन

संपदः सहृदयविद्वज्जनचित्तानन्दप्रकाशदात्रानन्दोद्भेददायिना [सहृदयहृदयानन्दोद्भेददायिना] प्रत्यक्षेणान्येन वा तदविरोधिना प्रमाणजातेन तत्त्वतः समस्तमपि वस्तुजातं परिच्छिन्दतः क्षीयत एवातत्त्वाभिनिवेशसंस्कारकारी मोहोपचयः । अतो हि मोहक्षपणे परमं शब्दब्रह्मोपासनं भावज्ञानावष्टम्भदृढीकृतपरिणामेन सम्यगधीयमानमुपायान्तरम् ॥ ८६ ॥

अथ कथं जैनेन्द्रे शब्दब्रह्मणि किलार्थानां व्यवस्थितिरिति वितर्कयति—

दव्वाणि गुणा तेसिं पज्जाया अट्ठसण्णया भणिया ।
तेसु गुणपज्जयाणं अप्पा दव्व त्ति उवदेसो ॥ ८७ ॥

द्रव्याणि गुणास्तेषां पर्याया अर्थसंज्ञया भणिताः ।
तेषु गुणपर्यायाणामात्मा द्रव्यमित्युपदेशः ॥ ८७ ॥

द्रव्याणि च गुणाश्च पर्यायाश्च अभिधेयभेदेऽप्यभिधानाभेदेन अर्थाः, तत्र गुणपर्यायान् इयूति गुणपर्यायैरर्यन्त इति वा अर्था द्रव्याणि, द्रव्याण्याश्रयत्वेनेयूति द्रव्यैराश्रयभूतैरर्यन्त इति

भ्यासवशेन परमसमाधिकाले रागादिविकल्परहितमानसप्रत्यक्षेण च तमेवात्मानं परिच्छिनत्ति । तथैवानुमानेन वा । तथाहि—अत्रैव देहे निश्चयनयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावः परमात्मास्ति । कस्माद्धेतोः । निर्विकारस्वसंवेदनप्रत्यक्षत्वात् सुखादिवत् इति, तथैवान्येऽपि पदार्था यथासंभवमागमाभ्यासबलोत्पन्नप्रत्यक्षेणानुमानेन वा ज्ञायन्ते । ततो मोक्षार्थिना भव्येनागमाभ्यासः कर्तव्य इति तात्पर्यम् ॥ ८६ ॥ अथ द्रव्यगुणपर्यायाणामर्थसंज्ञां कथयति—**दव्वाणि गुणा तेसिं पज्जाया अट्ठसण्णया भणिया** द्रव्याणि गुणास्तेषां द्रव्याणां **पर्यायाश्च** त्रयोऽप्यर्थसंज्ञया भणिताः कथिता अर्थसंज्ञा भवन्तीत्यर्थः । **तेसु** तेषु त्रिषु द्रव्यगुणपर्यायेषु मध्ये **गुणपज्जयाणं अप्पा** गुणपर्यायाणां संबन्धी आत्मा स्वभावः । कः इति पृष्टे । **दव्व त्ति उवदेसो**

भव्यजीवोंने पहले ही ज्ञान-भूमिकामें गमन किया है, वे कुनयोंसे अखंडित जिनप्रणीत आगमको प्रमाण करके क्रीड़ा करते हैं । जिनागमके बलसे उनके आत्म-ज्ञान-शक्तिरूप संपदा प्रगट होती है । तथा प्रत्यक्ष परोक्ष ज्ञानसे सब वस्तुओंके ज्ञाता द्रष्टा होते हैं, और तभी उनके यथार्थ ज्ञानसे मोहका नाश होता है । इसलिये मोहनाशके उपायोंमें शास्त्ररूप शब्द-ब्रह्मकी सेवा करना योग्य है । भावश्रुत ज्ञानके बलसे दृढ़ परिणाम करके आगम-पाठका अभ्यास करना, यह बड़ा उपाय है ॥ ८६ ॥ अब कहते हैं, कि जिनभगवानके कहे हुए शब्द-ब्रह्ममें सब पदार्थोंके कथनकी यथार्थ स्थिति है—[**द्रव्याणि**] गुण पर्यायोंके आधाररूप सब द्रव्य [**तेषां**] उन द्रव्योंके [**गुणाः**] सहभावी गुण और [**पर्यायाः**] क्रमवर्ती पर्याय [**अर्थसंज्ञया**] 'अर्थ' ऐसे नामसे [**भणिताः**] कहे हैं । [**तेषु**] उन गुण पर्यायोंमें [**गुणपर्यायाणां**] गुण पर्यायोंका [**आत्मा**] सर्वस्व [**द्रव्यं**] द्रव्य है । [**इति**] ऐसा [**उपदेशः**] भगवानका उपदेश है । **भावार्थ—**द्रव्य, गुण, पर्याय, इन तीनोंका 'अर्थ' ऐसा नाम है । क्योंकि समय समय अपने गुण पर्यायोंके प्रति प्राप्त होते है, अथवा गुण पर्यायों करके अपने स्वरूपको प्राप्त होते हैं, इसलिये द्रव्योंका नाम 'अर्थ' है । 'अर्थ' शब्दका अर्थ गमन अथवा

वा अर्था गुणाः, द्रव्याणि क्रमपरिणामेनेयूति द्रव्यैः क्रमपरिणामेनार्यन्त इति वा अर्थाः पर्यायाः। यथा हि सुवर्णं पीततादीन् गुणान् कुण्डलादींश्च पर्यायानियूत् तैरर्यमाणं वा अर्थो द्रव्यस्थानीयं, यथा च सुवर्णमाश्रयत्वेनेयूतस्तेनाश्रयभूतेनार्यमाणा वा अर्थाः पीततादयो गुणाः, यथा च सुवर्णं क्रमपरिणामेनेयूतः तेन क्रमपरिणामेनार्यमाणा वा अर्थाः कुण्डलादयः पर्यायाः। एवमन्यत्रापि । यथा चैतेषु सुवर्णपीततादिगुणकुण्डलादिपर्यायेषु पीततादिगुणकुण्डलादिपर्यायाणां सुवर्णादपृथग्भावात्सुवर्णमेवात्मा तथा च तेषु द्रव्यगुणपर्यायेषु गुणपर्यायाणां द्रव्यादपृथग्भावाद्द्रव्यमेवात्मा ॥ ८७ ॥

अथैवं मोहक्षपणोपायभूतजिनेश्वरोपदेशलाभेऽपि पुरुषकारोऽर्थक्रियाकारीति पौरुषं व्यापारयति—

जो मोहरागदोसे णिहणदि उवलब्भ जोण्हमुवदेसं ।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥ ८८ ॥

द्रव्यमेव स्वभाव इत्युपदेशः, अथवा द्रव्यस्य कः स्वभाव इति पृष्टे गुणपर्यायाणामात्मा एव स्वभाव इति । अथ विस्तरः—अनन्तज्ञानसुखादिगुणान् तथैवामूर्तत्वातीन्द्रियत्वसिद्धत्वादिपर्यायांश्च इयर्ति गच्छति परिणमत्याश्रयति येन कारणेन तस्मादर्थो भण्यते । किम् । शुद्धात्मद्रव्यम् । तच्छुद्धात्मद्रव्यमाधारभूतमियर्ति गच्छन्ति परिणमन्त्याश्रयन्ति येन कारणेन ततोऽर्था भण्यन्ते । के ते । ज्ञानत्वसिद्धत्वादिगुणपर्यायाः । ज्ञानत्वसिद्धत्वादिगुणपर्यायाणामात्मा स्वभावः । क इति पृष्टे शुद्धात्मद्रव्यमेव स्वभावः, अथवा शुद्धात्मद्रव्यस्य कः स्वभाव इति पृष्टे पूर्वोक्तगुणपर्याया एव । एवं शेषद्रव्यगुणपर्यायाणामप्यर्थसंज्ञा बोद्धव्येत्यर्थः ॥८७॥ अथ दुर्लभजैनोपदेशं लब्ध्वापि य एव मोहरागद्वेषान्निहन्ति स एवाशेषदुःखक्षयं प्राप्नोतीत्यावेदयति—य

प्राप्त होता है, क्योंकि आधारभूत द्रव्यको प्राप्त होता है, अथवा द्रव्य करके प्राप्त किया जाता है, इसलिये गुणोंका नाम 'अर्थ' है, और क्रमसे परिणमन करके द्रव्यको प्राप्त होते हैं, अथवा द्रव्य करके अपने स्वरूपको प्राप्त होते हैं, इसलिये पर्यायोंका नाम 'अर्थ' है। जैसे—सोना अपने पीत आदि गुणोंको और कुंडलादि पर्यायों(अवस्थाओं)को प्राप्त होता है, अथवा गुणपर्यायोंसे सुवर्णपनेको प्राप्त होता है, इसलिये सोनेको अर्थ कहते हैं, और जैसे आधारभूत सोनेको पीतत्वादि गुण प्राप्त होते हैं, अथवा सोनेसे प्राप्त होते हैं, इस कारण पीतत्वादि गुणोंको अर्थ कहते है, और जैसे क्रम परिणामसे कुंडलादि पर्याय सोनेको प्राप्त होते है, अथवा सोनेसे प्राप्त होते हैं, इसलिये कुंडलादि पर्यायोंको अर्थ कहते हैं। इस प्रकार द्रव्य, गुण, पर्यायोंका नाम अर्थ है। तथा जैसे सुवर्ण, पीतत्वादिगुण और कुंडलादि पर्यायोंमें पीतत्वादि गुण और कुंडलादि पर्यायोंका सोनेसे जुदापना नहीं है, इसलिये सुवर्ण अपने गुणपर्यायोंका सर्वस्व है, आधार है। उसी प्रकार द्रव्य, गुण, पर्यायोमें गुणपर्यायोंको द्रव्यसे पृथक्पना नहीं है, इसलिये द्रव्य अपने गुणपर्यायोंका सर्वस्व है, आधार है, अर्थात् द्रव्यका गुणपर्यायोंसे अभेद है ॥ ८७ ॥ आगे यद्यपि मोहके नाश करनेका उपाय जिनेश्वरका उपदेश है, परंतु

यो मोहरागद्वेषान्निहन्ति उपलभ्य जैनमुपदेशम् ।
स सर्वदुःखमोक्षं प्राप्नोत्यचिरेण कालेन ॥ ८८ ॥

इह हि द्राघीयसि सदाजवंजवपथे कथमप्यमुं समुपलभ्यापि जैनेश्वरं निशिततरवारिधारापथस्थानीयमुपदेशं य एव मोहरागद्वेषाणामुपरि दृढतरं निपातयति स एव निखिलदुःखपरिमोक्षं क्षिप्रमेवाप्नोति, नापरो व्यापारः करवालपाणिरिव । अत एव सर्वारम्भेण मोहक्षपणाय पुरुषकारे निषीदामि ॥ ८८ ॥

अथ स्वपरविवेकसिद्धेरेव मोहक्षपणं भवतीति स्वपरविभागसिद्धये प्रयतते—

णाणप्पगमप्पाणं परं च दव्वत्तणाहिसंबद्धं ।
जाणदि जदि णिच्छयदो जो सो मोहक्खयं कुणदि ॥ ८९ ॥
ज्ञानात्मकमात्मानं परं च द्रव्यत्वेनाभिसंबद्धम् ।
जानाति यदि निश्चयतो यः स मोहक्षयं करोति ॥ ८९ ॥

एव मोहरागद्वेषान्निहन्ति । किं कृत्वा । उपलभ्य प्राप्य । कम् । जैनोपदेशम् । स सर्वदुःखमोक्षं प्राप्नोति । केन । स्तोककालेनेति । तद्यथा—एकेन्द्रियविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियादिदुर्लभपरंपरया जैनोपदेशं प्राप्य मोहरागद्वेषविलक्षणं निजशुद्धात्मनिश्चलानुभूतिलक्षणं निश्चयसम्यक्त्वज्ञानद्वयाविनाभूतं वीतरागचारित्रसंज्ञं निशितखड्गं य एव मोहरागद्वेषशत्रूनामुपरि दृढतरं पातयति स एव पारमार्थिकानाकुलत्वलक्षणसुखविलक्षणानां दुःखानां क्षयं करोतीत्यर्थः ॥ ८८ ॥ एवं द्रव्यगुणपर्यायविषये मूढत्वनिराकरणार्थं गाथाषट्केन तृतीयज्ञानकण्ठिका गता । अथ स्वपरात्मयोर्भेदज्ञानात् मोहक्षयो भवतीति प्रज्ञापयति—**णाणप्पगमप्पाणं परं च दव्वत्तणाहिसंबद्धं जाणदि जदि** ज्ञानात्मकमात्मानं जानाति यदि । कथंभूतम् । स्वकीयशुद्धचैतन्यद्रव्यत्वेनाभिसंबद्धं, न केवलमात्मानम् । परं च यथोचितचेतनाचेतनपरकीयद्रव्यत्वेनाभिसबद्धम् । कस्मात् ।

उसके लाभमें भी पुरुषार्थ करना कार्यकारी है, इसलिये उद्यमको दिखलाते हैं—[**यः**] जो पुरुष [**जैनं उपदेशं**] वीतराग प्रणीत आत्मधर्मके उपदेशको [**उपलभ्य**] पाकर [**मोहरागद्वेषान्**] मोह, राग, और द्वेषभावोंको [**निहन्ति**] घात करता है, [**सः**] वह [**अचिरेण कालेन**] बहुत थोड़े समयसे [**सर्वदुःखमोक्षं**] संपूर्ण दुःखोंसे भिन्न (जुदा) अवस्थाको [**प्राप्नोति**] पाता है। **भावार्थ**—इस अनादि संसारमें किसी एक प्रकारसे तलवारकी धारके समान जिनप्रणीत उपदेशको पाकर, जो मोह, राग, द्वेषरूप शत्रुओंको मारता है, वह जीव शीघ्र ही सब दुःखोंसे मुक्त होकर (छूटकर) सुखी होता है । जैसे कि सुभट तलवारसे शत्रुओंको मारकर सुखसे बैठता है । इसलिये मैं सब तरह उद्यमी होकर मोहके नाश करनेको पुरुषार्थमें सावधान हुआ बैठा हूँ ॥ ८८ ॥ अब स्वपरभेदके विज्ञानकी सिद्धिसे ही मोहका नाश होता है, इसलिये स्व तथा परके भेदकी सिद्धिके लिये प्रयत्न करते हैं—[**यः**] जो जीव [**यदि**] यदि [**निश्चयतः**] निश्चयसे [**ज्ञानात्मकं**] ज्ञानस्वरूप [**आत्मानं**] परमात्माको [**द्रव्यत्वेन**] अपने द्रव्य स्वरूपसे [**अभिसंबद्धं**] संयुक्त

य एव स्वकीयेन चैतन्यात्मकेन द्रव्यत्वेनाभिसंबद्धमात्मानं परं च परकीयेन यथोचितेन द्रव्यत्वेनाभिसंबद्धमेव निश्चयतः परिच्छिनत्ति, स एव सम्यगवाप्तस्वपरविवेकः सकलं मोहं क्षपयति । अतः स्वपरविवेकाय प्रयतोऽस्मि ॥ ८९ ॥

अथ सर्वथा स्वपरविवेकसिद्धिरागमतो विधातव्येत्युपसंहरति—

तम्हा जिणमग्गादो गुणेहिं आदं परं च दव्वेसु ।
अभिगच्छदु णिम्मोहं इच्छदि जदि अप्पणो अप्पा ॥ ९० ॥

तस्माज्जिनमार्गाद्गुणैरात्मानं परं च द्रव्येषु ।
अभिगच्छतु निर्मोहमिच्छति यद्यात्मन आत्मा ॥ ९० ॥

इह खल्वागमनिगदितेष्वनन्तेषु गुणेषु कैश्चिद्गुणैरन्ययोगव्यवच्छेदकतयासाधारणतामुपादाय विशेषणतामुपगतैरनन्तायां द्रव्यसंततौ स्वपरविवेकमुपगच्छन्तु मोहप्रहाणप्रवणबुद्धयो लब्धवर्णाः । तथाहि—यदिदं सदकारणतया स्वतः सिद्धमन्तर्बहिर्मुखप्रकाशशालितया स्वपरपरिच्छेदकं मदीयं मम नाम चैतन्यमहमनेन तेन समानजातीयमसमानजातीयं वा द्रव्यमन्यदपहाय ममात्मन्येव वर्तमानेनात्मीयमात्मानं सकलत्रिकालकलितध्रौव्यं द्रव्यं जानामि । एवं

णिच्छयदो निश्चयतः निश्चयनयानुकूलं भेदज्ञानमाश्रित्य । **जो** यः कर्ता **सो** स **मोहक्खयं कुणदि** निर्मोहपरमानन्दैकस्वभावशुद्धात्मनो विपरीतस्य मोहस्य क्षयं करोतीति सूत्रार्थः ॥ ८९ ॥ अथ पूर्वसूत्रे यदुक्तं स्वपरभेदविज्ञानं तदागमतः सिद्ध्यतीति प्रतिपादयति-- **तम्हा जिणमग्गादो** यस्मादेवं भणितं पूर्वं स्वपरभेदविज्ञानाद् मोहक्षयो भवति, तस्मात्कारणाज्जिनमार्गाज्जिनागमात् **गुणेहिं** गुणैः **आदं** आत्मानं, न केवलमात्मानं **परं च** परद्रव्यं च । केषु मध्ये । **दव्वेसु** शुद्धात्मादिषड्द्रव्यमध्येषु **अभिगच्छदु** अभिगच्छतु

[**जानाति**] जानता है, [**च**] और [**परं**] पर अर्थात् पुद्गलादि अचेतनको जड़ स्वरूप कर आत्मासे भिन्न अपने अचेतन द्रव्य स्वरूप सयुक्त जानता है, [**सः**] वह जीव [**मोहक्षयं**] मोहका क्षय [**करोति**] करता है । **भावार्थ**—जो जीव अपने चैतन्य स्वभावकर आपको परस्वभावसे भिन्न जानते हैं, और परको जड़ स्वभावसे पर (अन्य) जानते हैं, वे जीव स्वपरविवेकी हैं, और वे ही भेद-विज्ञानी मोहका क्षय करते है । इसलिये मैं स्वपर विवेकके निमित्त प्रयत्न (उद्योग) करता हूँ ॥ ८९ ॥ अब स्वपर विवेककी सबप्रकार सिद्धि जिनभगवान् प्रणीत आगमसे करनी चाहिये, ऐसा कहकर इस कथनका संक्षेप करते हैं—[**तस्मात्**] इसलिये [**यदि**] जो [**आत्मा**] यह जीव [**आत्मनः**] आपको [**निर्मोहं**] मोह रहित वीतराग भावरूप [**इच्छति**] चाहता है, तो [**जिनमार्गात्**] वीतरागदेव कथित आगमसे [**गुणैः**] विशेष गुणोंके द्वारा [**द्रव्येषु**] छह द्रव्योंमेंसे [**आत्मानं**] आपको [**च**] और [**परं**] अन्य द्रव्योंको [**अभिगच्छतु**] जाने । **भावार्थ**—द्रव्योंके गुण दो प्रकारके हैं, एक सामान्य और दूसरे विशेष । इनमेंसे सामान्य गुणोंके द्वारा द्रव्योंका भेद नहीं हो सकता, इसलिये बुद्धिमान् पुरुषोंको चाहिये, कि विशेष गुणोंके द्वारा अनन्त द्रव्यकी संततिमें अपना और

पृथक्त्ववृत्तस्वलक्षणैर्द्रव्यमन्यदपहाय तस्मिन्नेव च वर्तमानैः सकलत्रिकालकलितध्रौव्यं द्रव्यमाकाशं धर्ममधर्मं कालं पुद्गलमात्मान्तरं च निश्चिनोमि। ततो नाहमाकाशं न धर्मो नाधर्मो न च कालो न पुद्गलो नात्मान्तरं च भवामि, यतोऽमीष्वेकापवरकप्रबोधितानेकदीपप्रकाशेष्विव संभूयावस्थितेष्वपि मच्चैतन्यं स्वरूपादप्रच्युतमेव मां पृथगवगमयति। एवमस्य निश्चितस्वपरविवेकस्यात्मनो न खलु विकारकारिणो मोहाङ्कुरस्य प्रादुर्भूतिः स्यात् ॥ ९० ॥

अथ जिनोदितार्थश्रद्धानमन्तरेण धर्मलाभो न भवतीति प्रतर्कयति—

सत्तासंबद्धेदे सविसेसे जो हि णेव सामण्णे।
सद्दहदि ण सो समणो तत्तो धम्मो ण संभवदि ॥ ९१ ॥
सत्तासंबद्धानेतान् सविशेषान् यो हि नैव श्रामण्ये।
श्रद्दधाति न स श्रमणः ततो धर्मो न संभवति ॥ ९१ ॥

यो हि नामैतानि सादृश्यास्तित्वेन सामान्यमनुव्रजन्त्यपि स्वरूपास्तित्वेनाश्लिष्टविशे-

---

जानातु यदि। किम्। **णिम्मोहं इच्छदि जदि** निर्मोहभावमिच्छति यदि चेत्। स कः। **अप्पा** आत्मा। कस्य संबन्धित्वेन **अप्पणो** आत्मन इति। तथाहि–यदिदं मम चैतन्यं स्वपरप्रकाशकं तेनाहं कर्ता शुद्धज्ञानदर्शनभावं स्वकीयमात्मानं जानामि, परं च पुद्गलादिपञ्चद्रव्यरूपं शेषजीवान्तरं च पररूपेण जानामि, ततः कारणादेकापवरकप्रबोधितानेकप्रदीपप्रकाशेष्वेव संभूयावस्थितेष्वपि सर्वद्रव्येषु मम सहजशुद्धचिदानन्दैकस्वभावस्य केनापि सह मोहो नास्तीत्यभिप्रायः ॥ ९० ॥ एवं स्वपरपरिज्ञानविषये मूढत्वनिरासार्थं गाथाद्वयेन चतुर्थज्ञानकण्ठिका गता। इति पञ्चविंशतिगाथाभिर्ज्ञानकण्ठिकाचतुष्टयाभिधानो द्वितीयोऽधिकारः

परका भेद करें। इस कारण अब उस स्व पर भेदका प्रकार कहते हैं—इस अनादिनिधन, किसीसे उत्पन्न नहीं हुए, अंतर बाहिर दैदीप्यमान, स्व परके जाननेवाले अपने चैतन्य गुणसे अन्य जीव द्रव्य तथा अजीव द्रव्य इनको जुदा करके मैं आप विषे तीनो काल अविनाशी अपने स्वरूपको जानता हूँ, और आकाश, धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल, तथा अन्य जीव जो हैं, उनके भेद भिन्न भिन्न (जुदा जुदा) विशेष लक्षणोंसे अपने अपने में तीन काल अविनाशी ऐसे इनके स्वरूपको भी मैं जानता हूँ। इसलिये मैं आकाश नहीं हूँ, धर्म नहीं हूँ, अधर्म नहीं हूँ, काल नहीं हूँ, पुद्गल नहीं हूँ, और अन्य जीव भी नहीं हूँ। मैं जो हूँ, सो हूँ। जैसे एक घरमें अनेक दीपक जलानेसे उन सबका प्रकाश उस घरमें एक जगह मिला हुआ रहता है, इसी प्रकार ये छह द्रव्य एक क्षेत्रमें रहते है, परंतु मेरा द्रव्य इन सबसे भिन्न है। जैसे सब दीपकोंका प्रकाश देखनेसे तो मिला हुआ सा दिखाई देता है, परंतु सूक्ष्म दृष्टिसे विचारपूर्वक देखा जावे, तो जो जिस दीपकका प्रकाश है, वह उसीका है। इसी प्रकार यह मेरा चैतन्य स्वरूप मुझको सबसे पृथक् दिखलाता है। इस प्रकार स्व पर विवेकवाले आत्माके फिर मोहरूपी अंकुरकी उत्पत्ति नहीं होती ॥ ९० ॥ अब कहते हैं, कि वीतरागदेव कथित पदार्थोंकी श्रद्धाके बिना इस जीवको आत्म-धर्मका लाभ नहीं होता—[**यः**] जो जीव [**हि**] निश्चयसे [**श्रामण्ये**] यति अव-

षाणि द्रव्याणि स्वपरावच्छेदेनापरिच्छिन्दन्नश्रद्दधानो वा एवमेव श्रामण्येनात्मानं दमयति स खलु न नाम श्रमणः । यतस्ततोऽपरिच्छिन्नरेणुकनककणिकाविशेषाद्धूलिधावकात्कनकलाभ इव निरुपरागात्मतत्त्वोपलम्भलक्षणो धर्मोपलम्भो न संभूतिमनुभवति ॥ ९१ ॥ अथ 'उवसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाणसंपत्ती' इति प्रतिज्ञाय 'चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो' इति साम्यस्य धर्मत्वं निश्चित्य 'परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मय त्ति पण्णत्तं तम्हा' इति यदात्मनो धर्मत्वमासूत्रयितुमुपक्रान्तं, यत्प्रसिद्धये च 'धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपओगजुदो पावदि णिव्वाणसुहं' इति निर्वाणसुखसाधनशुद्धोपयोगोऽधिकर्तुमारब्धः, शुभाशुभोपयोगौ च विरोधिनौ निर्ध्वस्तौ, शुद्धोपयोगस्वरूपं चोपवर्णितं, तत्प्रसादजौ चात्मनो ज्ञानानन्दौ सहजौ समुद्द्योतयता संवेदनस्वरूपं सुखस्वरूपं च प्रपञ्चितम् ।

समाप्तः । अथ निर्दोषिपरमात्मप्रणीतपदार्थश्रद्धानमन्तरेण श्रमणो न भवति, तस्माच्छुद्धोपयोगलक्षणधर्मोऽपि न संभवतीति निश्चिनोति— **सत्तासंबद्धे** महासत्तासंबन्धेन सहितान् **एदे** एतान् पूर्वोक्तशुद्धजीवादिपदार्थान् । पुनरपि किंविशिष्टान् । **सविसेसे** विशेषसत्तावान्तरसत्तास्वकीयस्वरूपसत्ता तया सहितान् **जो हि णेव सामण्णे सद्दहदि** यः कर्ता द्रव्यश्रामण्ये स्थितोऽपि न श्रद्धत्ते हि स्फुटं **ण सो समणो** निजशुद्धात्मरुचिरूपनिश्चयसम्यक्त्वपूर्वकपरमसामायिकसंयमलक्षणश्रामण्याभावात्स श्रमणो न भवति । इत्थंभूतभावश्रामण्याभावात् **तत्तो धम्मो ण संभवदि** तस्मात्पूर्वोक्तद्रव्यश्रमणात्सकाशान्निरुपरागशुद्धात्मानुभूतिलक्षणधर्मोऽपि न संभवतीति सूत्रार्थः ॥ ९१ ॥ अथ 'उवसंपयामि सम्मं' इत्यादि नमस्कारगाथायां यत्प्रतिज्ञातं, तद-

---

र्थामें [**सत्तासंबद्धान्**] सत्ता भावसे सामान्य अस्तिपने सहित और [**सविशेषान्**] अपने अपने विशेष अस्तित्व सहित [**एतान्**] इन छह द्रव्योंको [**नैव श्रद्दधाति**] नहीं श्रद्धान करता, [**सः**] वह जीव [**श्रमणः**] मुनि [**न**] नहीं है, और [**ततः**] उस द्रव्यलिंगी (बाह्य भेषधारी) मुनिसे [**धर्मः**] शुद्धोपयोगरूप आत्मीक–धर्म [**न संभवति**] नहीं हो सकता । **भावार्थ—** अस्तित्व दो प्रकारका है, एक सामान्य अस्तित्व, दूसरा विशेष अस्तित्व । जैसे वृक्ष जातिसे वृक्ष एक है, आम–निम्बादि भेदोंसे पृथक् पृथक् है, इसी प्रकार द्रव्य सामान्य अस्तित्वसे एक है, विशेष अस्तित्वसे एक है, विशेष अस्तित्वसे अपने जुदा जुदा स्वरूप सहित है । इन सामान्य विशेष भाव संयुक्त द्रव्योंको जो जीव मुनि अवस्था धारण करके नहीं जानता है, और स्व पर भेद सहित श्रद्धान नहीं करता है, वह यति नहीं है । सम्यक्त्व भावके विना द्रव्यलिंग अवस्थाको धारण करके व्यर्थ ही खेद-खिन्न होता है, क्योंकि इस अवस्थासे आत्मीक–धर्मकी संभावना नहीं है । जैसे धूलका धोनेवाला न्यारिया यदि सोनेकी कणिकाओंको पहचाननेवाला नहीं होवे, तो वह कितना भी कष्ट क्यों न उठावे, परंतु उसे सुवर्णकी प्राप्ति नहीं होती, इसी प्रकार संयमादि क्रियामें कितना ही खेद क्यों न करे, परंतु लक्षणोंसे स्व पर भेदके विना वीतराग आत्म-तत्त्वकी प्राप्तिरूप धर्म इस जीवके उत्पन्न नहीं होता ॥ ९१ ॥ पूर्व ही आचार्यने "उवसंपयामि सम्मं" इत्यादि गाथासे साम्यभाव मोक्षका

तदधुना कथं कथमपि शुद्धोपयोगप्रसादेन प्रसाध्य परनिस्पृहतामात्मतृप्तां पारमेश्वरीप्रवृत्तिमभ्युपगतः कृतकृत्यतामवाप्य नितान्तमनाकुलो भूत्वा प्रलीनभेदवासनोन्मेषः स्वयं साक्षाद्धर्म एवास्मीत्यवतिष्ठते—

जो णिहदमोहदिट्ठी आगमकुसलो विरागचरियम्हि ।
अब्भुट्ठिदो महप्पा धम्मो त्ति विसेसिदो समणो ॥ ९२ ॥
यो निहतमोहदृष्टिरागमकुशलो विरागचरिते ।
अभ्युत्थितो महात्मा धर्म इति विशेषितः श्रमणः ॥ ९२ ॥

यदयं स्वयमात्मा धर्मो भवति स खलु मनोरथ एव, तस्य त्वेका बहिर्मोहदृष्टिरेव विहन्त्री । सा चागमकौशलेनात्मज्ञानेन च निहता, नात्र मम पुनर्भावमापत्स्यते । ततो वीतरागचरित्रसूत्रितावतारो ममायमात्मा स्वयं धर्मो भूत्वा निरस्तसमस्तप्रत्यूहतया नित्यमेव निष्कम्प एवा-

नन्तरं 'चारित्तं खलु धम्मो' इत्यादिसूत्रेण चारित्रस्य धर्मत्वं व्यवस्थापितम् । अथ 'परिणमदि जेण दव्वं' इत्यादिसूत्रेणात्मनो धर्मत्वं भणितमित्यादि । तत्सर्वं शुद्धोपयोगप्रसादात्प्रसाध्येदानीं निश्चयरत्नत्रयपरिणत आत्मैव धर्म इत्यवतिष्ठते । अथवा द्वितीयपातनिका—सम्यक्त्वाभावे श्रमणो न भवति तस्मात् श्रमणाद्धर्मोऽपि न भवति, तर्हि कथं श्रमणो भवति, इति पृष्टे प्रत्युत्तरं प्रयच्छन् ज्ञानाधिकारमुपसंहरति—**जो णिहदमोहदिट्ठी** तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणव्यवहारसम्यक्त्वोत्पन्नेन निजशुद्धात्मरुचिरूपेण निश्चयसम्यक्त्वेन परिणतत्वान्निहतमोहदृष्टिर्विध्वंसितदर्शनमोहो यः । पुनश्च किंरूपः । **आगमकुसलो** निर्दोषिपरमात्मप्रणीतपरमागमाभ्यासेन निरुपाधिस्वसंवेदनज्ञानकुशलत्वादागमकुशल आगमप्रवीणः । पुनश्च किंरूपः । **विरागचरियम्हि अब्भुट्ठिदो** व्रतसमितिगुप्त्यादिबहिरङ्गचारित्रानुष्ठानवशेन स्वशुद्धात्मनि निश्चलपरिणतिरूपवीतरागचारित्रपरिणतत्वात् परमवीतरागचारित्रे सम्यगभ्युत्थितः उद्यतः । पुनरपि कथंभूतः । **महप्पा** मोक्षलक्षणमहार्थसाधकत्वेन महात्मा **धम्मो त्ति विसेसिदो समणो** जीवितमरणलाभालाभादिसमताभावनापरिणतात्मा

कारण अंगीकार किया था, और "चारित्तं खलु धम्मो" आदि गाथासे साम्यभाव ही शुद्धोपयोगरूप धर्म है, ऐसा कहकर "परिणमदि जेण दव्वं" इस गाथासे साम्यभावसे आत्माकी एकता बतलाई थी। इसके पश्चात् साम्यधर्मकी सिद्धि होनेके लिये "धम्मेण परिणदप्पा" इससे मोक्ष-सुखका कारण शुद्धोपयोगके अधिकारका आरंभ किया था। उसमें शुद्धोपयोग भलीभाँति दिखलाया, और उसके प्रतिपक्षी संसारके कारण शुभाशुभोपयोगको मूलसे नाश करके शुद्धोपयोगके प्रसादसे उत्पन्न हुए अतीन्द्रियज्ञान सुखोंका स्वरूप कहा। अब मैं शुद्धोपयोगके प्रसादसे परभावोंसे भिन्न, आत्मीक-भावोंकर पूर्ण उत्कृष्ट परमात्मा-दशाको प्राप्त, कृतकृत्य और अत्यंत आकुलता रहित होकर संसार-भेद-वासनासे मुक्त आपमें साक्षात् धर्मस्वरूप होकर स्थित होता हूँ—[**यः**] जो [**निहतमोहदृष्टिः**] दर्शनमोहका घात करनेवाला अर्थात् सम्यग्दृष्टि है, तथा [**आगमकुशलः**] जिन प्रणीत सिद्धान्तमें प्रवीण अर्थात् सम्यग्ज्ञानी है, और [**विरागचारित्रे**] रागभाव रहित चारित्रमें [**अभ्युत्थितः**] सावधान

वतिष्ठते । अलमतिविस्तरेण ॥ ९२ ॥ स्वस्ति स्याद्वादमुद्रिताय जैनेन्द्राय शब्दब्रह्मणे । स्वस्ति तन्मूलायात्मतत्त्वोपलम्भाय च, यत्प्रसादादुद्ग्रन्थितो झगित्येवासंसारबद्धो मोहग्रन्थिः । स्वस्ति च परमवीतरागचारित्रात्मने शुद्धोपयोगाय, यत्प्रसादादयमात्मा स्वयमेव धर्मो भूतः ॥

आत्मा धर्मः स्वयमिति भवन् प्राप्य शुद्धोपयोगं
नित्यानन्दप्रसरसरसं ज्ञानतत्त्वे निलीय ।
प्राप्स्यत्युच्चैरविचलतया निःप्रकम्पप्रकाशां
स्फूर्जज्ज्योतिः सहजविलसद्रत्नदीपस्य लक्ष्मीम् ॥

स श्रमण एवाभेदनयेन धर्म इति विशेषितो मोहक्षोभविहीनात्मपरिणामरूपो निश्चयधर्मो भणित इत्यर्थः ॥ ॥ ९२ ॥ अथैवंभूतनिश्चयरत्नत्रयपरिणतमहातपोधनस्य योऽसौ भक्तिं करोति तस्य फलं दर्शयति —

जो तं दिट्ठा तुट्ठो अब्भुट्ठित्ता करेदि सक्कारं ।
वंदणणमंसणादिहिं तत्तो सो धम्ममादियदि ॥ *८ ॥

जो तं दिट्ठा तुट्ठो यो भव्यवरपुण्डरीको निरुपरागशुद्धात्मोपलम्भलक्षणनिश्चयधर्मपरिणतं पूर्वसूत्रोक्तं मुनीश्वरं दृष्ट्वा तुष्टो निर्भरगुणानुरागेण संतुष्टः सन् । किं करोति । **अब्भुट्ठित्ता करेदि सक्कारं** अभ्युत्थानं कृत्वा मोक्षसाधकसम्यक्त्वादिगुणानां सत्कारं प्रशंसां करोति **वंदणणमंसणादिहिं तत्तो सो धम्ममादियदि** 'तवसिद्धे णयसिद्धे' इत्यादि वन्दना भण्यते, नमोऽस्त्विति नमस्कारो भण्यते, तत्प्रभृतिभक्तिविशेषैः तस्माद्यतिवरात्स भव्यः पुण्यमादत्ते पुण्यं गृह्णाति इत्यर्थः ॥ ८ ॥ अथ तेन पुण्येन भवान्तरे किं फलं भवतीति प्रतिपादयति—

तेण णरा व तिरिच्छा देविं वा माणुसिं गदिं पप्पा ।
विहविस्सरियेहिं सया संपुण्णमणोरहा होंति ॥ *९ ॥ (१०१)

तेण णरा व तिरिच्छा तेन पूर्वोक्तपुण्येनात्र वर्तमानभवे नरा वा तिर्यञ्चो वा **देविं वा माणुसिं गदिं पप्पा** भवान्तरे दैवीं वा मानुषीं वा गतिं प्राप्य **विहविस्सरियेहिं सया संपुण्णमणोरहा होंति** राजाधिराजरूपलावण्यसौभाग्यपुत्रकलत्रादिपरिपूर्णविभूतिर्विभवो भण्यते, आज्ञाफलमैश्वर्यं भण्यते, ताभ्यां

है, तथा [**महात्मा**] श्रेष्ठ मोक्षपदार्थके साधनेमें प्रधान है । [**स श्रमणः**] वह मुनीश्वर [**धर्म इति**] धर्म है, ऐसा [**विशेषितः**] विशेष लक्षणोंसे कहा गया है । **भावार्थ**—यह आत्मा वीतरागभावरूप परिणमन करके साक्षात् आप ही धर्मरूप है । इस आत्माकी घातक जो एक मोहदृष्टि है, वह तो आगम-कुशलता और आत्म-ज्ञानसे विनाशको प्राप्त हुई है, इस कारण मेरे फिर उत्पन्न होनेवाली

---

१ इस टीकामें १०१ गाथाकी रचना है, और दूसरी श्रीप्रभाचन्द्रजीकृत सरोजभास्करटीकामें भी १०१ ही का वर्णन है । श्रीमदमृतचन्द्राचार्यने ९ गाथाओंका व्याख्यान नहीं किया, न मालूम क्या कारण है । बुद्धिमान् इस बातका विचार कर लेवें । इसी तरह आगे भी कुछ गाथायें ऐसी हैं, कि क्षेपककी तरह टीकाकारने छोड दीये हैं ।

निश्चित्यात्मन्यधिकृतमिति ज्ञानतत्त्वं यथावत्
तत्सिद्ध्यर्थं प्रशमविषयं ज्ञेयतत्त्वं बुभुत्सुः ।
सर्वानर्थान् कलयति गुणद्रव्यपर्याययुक्त्या
प्रादुर्भूतिर्न भवति यथा जातु मोहाङ्कुरस्य ॥

इति प्रवचनसारवृत्तौ तत्त्वदीपिकायां श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां **ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापनो नाम प्रथमः श्रुतस्कन्धः समाप्तः ॥ १ ॥**

विभवैश्वर्याभ्यां संपूर्णमनोरथा भवन्तीति । तदेव पुण्यं भोगादिनिदानरहितत्वेन यदि सम्यक्त्वपूर्वकं भवति तर्हि तेन परंपरया मोक्षं लभत इति भावार्थः ॥ ९ ॥

इति श्री**जयसेनाचार्य**कृतायां तात्पर्यवृत्तौ पूर्वोक्तप्रकारेण 'एस सुरासुरमणुसिंदवंदियं' इतीमां गाथामादिं कृत्वा द्वासप्ततिगाथाभिः शुद्धोपयोगाधिकारः, तदनन्तरं 'देवदजदिगुरुपूजासु' इत्यादि पञ्चविंशतिगाथाभिर्ज्ञानकण्ठिकाचतुष्टयाभिधानो द्वितीयोऽधिकारः, ततश्च सत्तासंबद्धेदे' इत्यादि सम्यक्त्वकथनरूपेण प्रथमा गाथा, रत्नत्रयाधारपुरुषस्य धर्मः संभवतीति 'जो णिहदमोहदिट्ठी' इत्यादि द्वितीया चेति स्वतन्त्रगाथाद्वमम्, तस्य निश्चयधर्मसंज्ञतपोधनस्य योऽसौ भक्तिं करोति तत्फलकथनेन 'जो तं दिट्ठा' इत्यादि गाथाद्वयम् । इत्यधिकारद्वयेन पृथग्भूतगाथाचतुष्टयसहितेनैकोत्तरशतगाथाभि**र्ज्ञानतत्त्वप्रतिपादक**नामा प्रथमो महाधिकारः समाप्तः ॥ १ ॥

नहीं है । इसलिये वीतरागचारित्रसे यह मेरा आत्मा धर्मरूप होकर सब शत्रुओंसे रहित सदाकाल ही निश्चल स्थित है । अधिक कहनेसे क्या 'स्यात्' पद-गर्भित जिनप्रणीत शब्द ब्रह्म जयवंत होओ, जिसके प्रसादसे आत्म-तत्त्वकी प्राप्ति हुई, और उस आत्म-तत्त्वकी प्राप्तिसे अनादिकालकी मोहरूपी गाँठ छूटकर परम वीतरागचारित्र प्राप्त हुआ, इसीलिये शुद्धोपयोग संयम भी जयवंत होवै, जिसके प्रसादसे यह आत्मा आप धर्मरूप हुआ ॥

इति श्री**पांडेहेमराज**कृत श्री**प्रवचनसार** सिद्धान्तको बालावबोध भाषाटीकामें **ज्ञानतत्त्व**का अधिकार पूर्ण हुआ ॥ १॥

ज्ञेयतत्त्वाधिकारः ॥ २ ॥

अथ ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापनं, तत्र पदार्थस्य सम्यग्द्रव्यगुणपर्यायस्वरूपमुपवर्णयति—

इतः ऊर्ध्वं 'सत्तासंबद्धेदे' इत्यादि गाथासूत्रेण पूर्वं संक्षेपेण यद्व्याख्यातं सम्यग्दर्शनं तस्येदानीं विषयभूतपदार्थव्याख्यानद्वारेण त्रयोदशाधिकशतप्रमितगाथापर्यन्तं विस्तरव्याख्यानं करोति। अथवा द्वितीयपातनिका—पूर्वं यद्व्याख्यातं ज्ञानं तस्य ज्ञेयभूतपदार्थान् कथयति । तत्र त्रयोदशाधिकशतगाथासु मध्ये प्रथमस्तावत् 'तम्हा तस्स णमाइं' इमां गाथामादिं कृत्वा पाठक्रमेण पञ्चत्रिंशद्गाथापर्यन्तं सामान्यज्ञेयव्याख्यानं, तदनन्तरं 'दव्वं जीवमजीवं' इत्याद्येकोनविंशतिगाथापर्यन्तं विशेषज्ञेयव्याख्यानं, अथानन्तरं 'सपदेसेहिं समग्गो लोगो' इत्यादि गाथाष्टकपर्यन्तं सामान्यभेदभावना, ततश्च 'अत्थित्तणिच्छिदस्स हि' इत्याद्येकपञ्चाशद्गाथापर्यन्तं विशेषभेदभावना चेति द्वितीयमहाधिकारे समुदायपातनिका । अथेदानीं सामान्यज्ञेयव्याख्यानमध्ये प्रथमा नमस्कारगाथा, द्वितीया द्रव्यगुणपर्यायव्याख्यानगाथा, तृतीया स्वसमयपरसमयनिरूपणगाथा, चतुर्थी द्रव्यस्य सत्तादिलक्षणत्रयसूचनगाथा चेति पीठिकाभिधाने प्रथमस्थले स्वतन्त्रगाथाचतुष्टयम्। तदनन्तरं 'सब्भावो हि सहावो' इत्यादिगाथाचतुष्टयपर्यन्तं सत्तालक्षणव्याख्यानमुख्यत्वं तदनन्तरं 'ण भवो भंगविहीणो' इत्यादिगाथात्रयपर्यन्तमुत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणकथनमुख्यता, ततश्च 'पाडुब्भवदि य अण्णो' इत्यादिगाथाद्वयेन द्रव्यपर्यायनिरूपणमुख्यता । अथानन्तरं 'ण हवदि जदि सद्दव्वं' इत्यादि गाथाचतुष्टयेन सत्ताद्रव्ययोरभेदविषये युक्तिं कथयति, तदनन्तरं 'जो खलु दव्वसहावो' इत्यादि सत्ताद्रव्ययोर्गुणगुणिकथनेन प्रथमगाथा, द्रव्येण सह गुणपर्याययोरभेदमुख्यत्वेन 'णत्थि गुणो त्ति य कोई' इत्यादि द्वितीया चेति स्वतन्त्रगाथाद्वयं, तदनन्तरं द्रव्यस्य द्रव्यार्थिकनयेन सदुत्पादो भवति, पर्यायार्थिकनयेनासदित्यादिकथनरूपेण 'एवंविहं' इतिप्रभृति गाथाचतुष्टयं, ततश्च 'अत्थि त्ति य' इत्याद्येकसूत्रेण नयसप्तभङ्गीव्याख्यानमिति समुदायेन चतुर्विंशतिगाथाभिरष्टभिः स्थलैर्द्रव्यनिर्णयं करोति । तद्यथा—अथ सम्यक्त्वं कथयति-—

तम्हा तस्स णमाइं किच्चा णिच्चं पि तम्मणो होज्ज ।
वोच्छामि संगहादो परमट्ठविणिच्छयाधिगमं ॥ *१ ॥

तम्हा तस्स णमाइं किच्चा यस्मात्सम्यक्त्वं विना श्रमणो न भवति तस्मात्कारणात्तस्य सम्यक्चारित्रयुक्तस्य पूर्वोक्ततपोधनस्य नमस्यां नमस्क्रियां नमस्कारं कृत्वा **णिच्चं पि तम्मणो होज्ज** नित्यमपि तद्गतमना भूत्वा **वोच्छामि** वक्ष्याम्यहं कर्ता **संगहादो** संग्रहात्संक्षेपात्संक्षेपात्सकाशात् । किम् । **परमट्ठविणिच्छयाधिगमं** परमार्थविनिश्चयाधिगमं सम्यक्त्वमिति परमार्थविनिश्चयाधिगमशब्देन सम्यक्त्वं कथं भण्यत इति चेत्—परमोऽर्थः परमार्थः शुद्धबुद्धैकस्वभावः परमात्मा, परमार्थस्य विशेषेण संशयादिरहितत्वेन निश्चयः परमार्थनिश्चयरूपोऽधिगमः शङ्काद्यष्टदोषरहितश्च यः परमार्थतोऽर्थावबोधो यस्मात्सम्यक्त्वात्तत्

आगे ज्ञेयतत्त्वका कथन करते हुए उसमें भी पहले पदार्थोंको द्रव्य, गुण, पर्याय, स्वरूप कहते

अत्थो खलु दव्वमओ दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि ।
तेहिं पुणो पज्जाया पज्जयमूढा हि परसमया ॥ १ ॥
अर्थः खलु द्रव्यमयो द्रव्याणि गुणात्मकानि भणितानि ।
तैस्तु पुनः पर्यायाः पर्ययमूढा हि परसमयाः ॥ १ ॥

इह हि किल यः कश्चन परिच्छिद्यमानः पदार्थः स सर्व एव विस्तारायतसामान्यसमुदायात्मना द्रव्येणाभिनिर्वृत्तत्वाद्द्रव्यमयः। द्रव्याणि तु पुनरेकाश्रयविस्तारविशेषात्मकैरभिनिर्वृत्तत्वाद्गुणात्मकानि। पर्यायास्तु पुनरायतविशेषात्मका उक्तलक्षणैर्द्रव्यैरपि गुणैरप्यभिनिर्वृत्तत्वाद्द्रव्यात्मका अपि गुणात्मका अपि। तत्रानेकद्रव्यात्मकैक्यप्रतिपत्तिनिबन्धनो द्रव्यपर्यायः। स द्विविधः, समानजातीयोऽसमानजातीयश्च। तत्र समानजातीयो नाम यथा अनेकपुद्गलात्मको द्व्यणुकस्त्र्यणुक इत्यादि, असमानजातीयो नाम यथा जीवपुद्गलात्मको देवो मनुष्य इत्यादि। गुणद्वारेणायतानैक्यप्रतिपत्तिनिबन्धनो गुणपर्यायः। सोऽपि द्विविधः स्वभावपर्यायो विभावपर्यायश्च। तत्र स्वभावपर्यायो नाम समस्तद्रव्याणामात्मीयात्मीयागुरुलघुगुणद्वारेण प्रतिसमयसमुदीयमानषट्स्थानपतितवृद्धिहानिनानात्वानुभूतिः, विभावपर्यायो नाम रूपादीनां ज्ञानादीनां वा स्वपरप्रत्ययवर्तमानपूर्वोत्तरावस्थावतीर्णतारतम्योपदर्शितस्वभावविशेषानेकत्वापत्तिः। अथेदं दृष्टान्तेन द्रढयति—यथैव हि सर्व एव पटोऽवस्थायिना विस्तारसामान्यसमुदायेनाभिधावताऽऽयतसामान्यसमुदायेन चाभिनिर्वर्त्यमानस्तन्मय एव, तथैव हि सर्व एव पदार्थोऽवस्थायिना

परमार्थविनिश्चयाधिगमम्। अथवा परमार्थविनिश्चयोऽनेकान्तात्मकपदार्थसमूहस्तस्याधिगमो यस्मादिति ॥१॥ अथ पदार्थस्य द्रव्यगुणपर्यायस्वरूपं निरूपयति—**अत्थो खलु दव्वमओ** अर्थो ज्ञानविषयभूतः पदार्थः खलु स्फुटं द्रव्यमयो भवति। कस्मात्। तिर्यक्सामान्योर्ध्वतासामान्यलक्षणेन द्रव्येण निष्पन्नत्वात्। तिर्यक्सामान्योर्ध्वतासामान्यलक्षणं कथ्यते—एककाले नानाव्यक्तिगतोऽन्वयस्तिर्यक्सामान्यं भण्यते, तत्र

हैं—[**खलु**] निश्चयसे [**अर्थः**] [ज्ञेयपदार्थ [**द्रव्यमयः**] सामान्य स्वरूप वस्तुमय है [**तु**] तथा [**द्रव्याणि**] समस्त द्रव्य [**गुणात्मकानि**] अनन्तगुण स्वरूप [**भणितानि**] कहे हैं। [**पुनः**] और [**तैः**] उन द्रव्य गुणोंके परिणमन करनेसे [**पर्यायाः**] पर्याय हैं, अर्थात् द्रव्यपर्याय और गुणपर्याय ये दो भेद सहित पर्याय हैं, और [**पर्ययमूढा**] अशुद्ध पर्यायोंमें मूढ़ अर्थात् आत्मबुद्धिसे पर्यायको ही द्रव्य माननेवाले अज्ञानी [**हि**] निश्चयकर [**परसमयाः**] मिथ्यादृष्टि हैं। **भावार्थ**—जितने ज्ञेयपदार्थ हैं, वे समस्त गुण पर्याय सहित हैं, इसलिये द्रव्य एक आधारभूत अनन्तगुणस्वरूप है। गुणका नाम **विस्तार** है, और पर्यायका नाम **आयत** है। विस्तार चौड़ाईको कहते हैं, और आयत लम्बाईको कहते हैं। गुण चौड़ाईरूप अविनाशी सदा सहभूत (साथ रहनेवाले) हैं, और पर्याय लम्बाईरूप हैं जिससे कि अतीत अनागत वर्तमान कालमें क्रमवर्ती हैं। पर्यायके दो भेद हैं—एक द्रव्यपर्याय और दूसरे गुणपर्याय। इनमेंसे अशुद्ध द्रव्यपर्यायका लक्षण कहते हैं—

विस्तारसामान्यसमुदायेनाभिधावताऽऽयतसामान्यसमुदायेन च द्रव्यनाम्नाभिनिर्वर्त्यमानो द्रव्यमय एव। यथैव च पटेऽवस्थायी विस्तारसामान्यसमुदायोऽभिधावन्नायतसामान्यसमुदायो वा गुणैरभिनिर्वर्त्यमानो गुणेभ्यः पृथगनुपलम्भाद्गुणात्मक एव, तथैव च पदार्थेष्ववस्थायी विस्तारसामान्यसमुदायोऽभिधावन्नायतसामान्यसमुदायो वा द्रव्यनामा गुणैरभिनिर्वर्त्यमानो गुणेभ्यः पृथगनुपलम्भाद्गुणात्मक एव। यथैव चानेकपटात्मको द्विपटिका त्रिपटिकेति समानजातीयो द्रव्यपर्यायः, तथैव चानेकपुद्गलात्मको द्व्यणुकत्र्यणुक इति समानजातीयो द्रव्यपर्यायः। यथैव चानेककौशेयककार्पासमयपटात्मको द्विपटिकात्रिपटिकेत्यसमानजातीयो द्रव्यपर्यायः, तथैव चानेकजीवपुद्गलात्मको देवो मनुष्य इत्यसमानजातीयो द्रव्यपर्यायः। यथैव च क्वचित्पटे स्थूलात्मीयागुरुलघुगुणद्वारेण कालक्रमप्रवृत्तेन नानाविधेन परिणमनान्नानात्वप्रतिपत्तिर्गुणात्मकः स्वभावपर्यायः, तथैव च समस्तेष्वपि द्रव्येषु सूक्ष्मात्मीयात्मीयागुरुलघुगुण-

दृष्टान्तो यथा—नानासिद्धजीवेषु सिद्धोऽयं सिद्धोऽयमित्यनुगताकारः सिद्धजातिप्रत्ययः। नानाकालेष्वेकव्यक्तिगतोऽन्वय ऊर्ध्वतासामान्यं भण्यते। तत्र दृष्टान्तः यथा—य एव केवलज्ञानोत्पत्तिलक्षणे मुक्तात्मा द्वितीयादिलक्षणेष्वपि स एवेतिप्रतीतिः, अथवा नानागोशरीरेषु गौरयं गौरयमिति गोजातिप्रतीतिस्तिर्यक्सामान्यम्। यथैव चैकस्मिन् पुरुषे बालकुमाराद्यवस्थासु स एवायं देवदत्त इति प्रत्यय ऊर्ध्वतासामान्यम्। **दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि** द्रव्याणि गुणात्मकानि भणितानि, अन्वयिनो गुणा अथवा सहभुवो गुणा इति गुणलक्षणम्। यथा अनन्तज्ञानसुखादिविशेषगुणेभ्यस्तथैवागुरुलघुकादिसामान्यगुणेभ्यश्चाभिन्नत्वाद्गुणात्मकं भवति सिद्धजीवद्रव्यं, तथैव स्वकीयविशेषसामान्यगुणेभ्यः सकाशादभिन्नत्वात् सर्वद्रव्याणि गुणात्मकानि

अनेक द्रव्य मिलकर जो एक पर्यायका होता है, सो **द्रव्यपर्याय** है यह द्रव्यपर्याय दो प्रकार है, एक समान जातीय, दूसरा असमान जातीय। समान जातीय जैसे—अनेक जातिके पुद्गलरूप द्व्यणुक त्र्यणुक आदि, और असमान जातीय जैसे—जीव पद्गल मिलकर देव मनुष्यादि पर्याय. और भिन्न जातीय द्रव्यके संयोगसे गुणकी परिणतिरूप गुणपर्याय होती है, सो भी दो प्रकार है, एक स्वभाव गुणपर्याय, दूसरी विभाव गुणपर्याय। स्वभाव गुणपर्याय वह है, जो समस्त द्रव्य अपने अपने अगुरुलघुगुणोंसे समय समय षट्गुणी हानि वृद्धिरूप परिणमन करें, और विभावगुण पर्याय वह है, जो वर्णादि गुण पुद्गलस्कंधोंमें ज्ञानादि गुण जीवमें पुद्गलके संयोगके पहले आगामी दशामें हीनाधिक होकर परिणमन करें। आगे इसीको उदाहरणसे दृढ़ करते है—जैसे वस्त्र शुक्लादि गुणोंसे अपनी परिणतिरूप पर्यायसे सिद्ध हैं, इसलिये गुणपर्यायमय वस्त्र है। इसी प्रकार द्रव्य गुणपर्यायमय है, और जैसे वस्त्र शुक्लादि गुण पर्यायोंसे जुदा नहीं है, इसी प्रकार द्रव्य गुण पर्यायोंसे जुदा नही है। जैसे वस्त्रके दो तीन पाट मिलकर समानजातीय पर्याय होता है, उसी प्रकार पुद्गलके द्व्यणुक त्र्यणुकादि अनेक समानजातीय पर्याय होते है। जैसे वस्त्रके रेशम कपासके दो तीन पाट मिलके असमान जातीय द्रव्यपर्याय होता है, उसी प्रकार जीव पुद्गल मिलकर देव मनुष्यादि असमान जातीय द्रव्यपर्याय होते हैं। और जैसे किसी वस्त्रमें स्थूल अपने अगुरुलघुगुण द्वारा

द्वारेण प्रतिसमयसमुदीयमाणषट्स्थानपतितवृद्धिहानिनानात्वानुभूतिः गुणात्मकः स्वभावपर्यायः। यथैव च पटे रूपादीनां स्वपरप्रत्ययप्रवर्तमानपूर्वोत्तरावस्थावतीर्णतारतम्योपदर्शितस्वभावविशेषानेकत्वापत्तिर्गुणात्मको विभावपर्यायः, तथैव च समस्तेष्वपि द्रव्येषु रूपादीनां ज्ञानादीनां वा स्वपरप्रत्ययप्रवर्तमानपूर्वोत्तरावस्थावतीर्णतारतम्योपदर्शितस्वभावविशेषानेकत्वापत्तिर्गुणात्मको विभावपर्यायः। इयं हि सर्वपदार्थानां द्रव्यगुणपर्यायस्वभावप्रकाशिका पारमेश्वरी व्यवस्था साधीयसी, न पुनरितरा। यतो हि बहवोऽपि पर्यायमात्रमेवावलम्ब्य तत्त्वाप्रतिपत्तिलक्षणं मोहमुपगच्छन्तः परसमया भवन्ति ॥ १ ॥

अथानुषङ्गिकीमिमामेव स्वसमयपरसमयव्यवस्थां प्रतिष्ठाप्योपसंहरति—

जे पज्जयेसु णिरदा जीवा परसमयिग त्ति णिद्दिट्ठा।
आदसहावम्मि ठिदा ते सगसमया मुणेदव्वा ॥ २ ॥

भवन्ति। **तेहिं पुणो पज्जाया** तैः पूर्वोक्तलक्षणैर्द्रव्यगुणैश्च पर्याया भवन्ति, व्यतिरेकिणः पर्यायाः अथवा क्रमभुवः पर्याया इति पर्यायलक्षणम्। यथैकस्मिन् मुक्तात्मद्रव्ये किंचिदूनचरमशरीराकारगतिमार्गणविलक्षणसिद्धगतिपर्यायः तथाऽगुरुलघुकगुणषड्वृद्धिहानिरूपाः साधारणस्वभावगुणपर्यायाश्च, तथा सर्वद्रव्येषु स्वभावद्रव्यपर्यायाः स्वजातीयविभावद्रव्यपर्यायाश्च,तथैवस्वभावविभावगुणपर्यायाश्च 'जेसिं अत्थिसहाओ' इत्यादिगाथायां, तथैव 'भावा जीवादीया' इत्यादिगाथायां च **पञ्चास्तिकाये** पूर्वं कथितक्रमेण यथासंभवं ज्ञातव्याः। **पज्जयमूढा हि परसमया** यस्मादित्थंभूतद्रव्यगुणपर्यायपरिज्ञानमूढा अथवा नारकादिपर्यायरूपो न भवाम्यहमिति भेदविज्ञानमूढाश्च परसमया मिथ्यादृष्टयो भवन्तीति। तस्मादियं पारमेश्वरी द्रव्यगुणपर्यायव्याख्या समीचीना भद्रा भवतीत्यभिप्रायः ॥१॥ अथ प्रसंगायातां परसमयस्वसमयव्यवस्थां कथयति —**जे पज्जयेसु णिरदा जीवा** ये पर्यायेषु निरताः जीवाः **परसमयिग त्ति णिद्दिट्ठा** ते परसमया इति निर्दिष्टाः कथिताः।

कालके क्रमसे नाना प्रकारसे परिणमन होनेसे एक अनेकता लिये शुक्लादि गुणोंका गुणस्वरूप स्वभावपर्याय है, उसी प्रकार सभी द्रव्योंमें सूक्ष्म अपने अपने अगुरुलघुगुणोंसे समय समय षट्गुणी हानि वृद्धिसे नाना स्वभावगुणपर्याय है। और जैसे वस्त्रमें अन्य द्रव्यके सयोगसे वर्णादि गुणोंकी कृष्ण पीततादि भेदोंसे पूर्व उत्तर अवस्थामें हीन अधिकरूप विभावगुणपर्याय होते हैं, उसी प्रकार पुद्गलमें वर्णादि गुणोंकी तथा आत्मामें ज्ञानादि गुणोंकी परसंयोगसे पूर्व उत्तर (पहली-आगेकी) अवस्थामें हीन अधिक विभावगुणपर्याय हैं। इस प्रकार संपूर्ण द्रव्योंके गुणपर्यायोंको भगवानकी वाणी ही दिखलानेमें समर्थ है, अन्यमती नहीं दिखा सकते। क्योंकि वे सब एक नयका ही अवलंबन लेते हैं, और एक नयसे सब द्रव्य, गुण, पर्यायके स्वरूप नहीं कहे जा सकते। ऐसे अनेक जीव अशुद्ध पर्याय मात्रका अवलंबन करते हुए मिथ्या मोहको प्राप्त होकर परसमयी होते हैं ॥ १ ॥ अब इस व्याख्यानका संयोग पाकर स्वसमय तथा परसमयका स्वरूप प्रगट करते हैं-[**ये जीवाः**] जो अज्ञानी संसारी जीव [**पर्यायेषु**] मनुष्यादि पर्यायोंमें [**निरताः**] लवलीन हैं, वे [**परसमयिकाः**] परसमयमें रागयुक्त हैं, [**इति**]

ये पर्यायेषु निरता जीवाः परसमयिका इति निर्दिष्टाः ।
आत्मस्वभावे स्थितास्ते स्वकसमया मन्तव्याः ॥ २ ॥

ये खलु जीवपुद्गलात्मकमसमानजातीयद्रव्यपर्यायं सकलाविद्यानामेकमूलमुपगता यथोदितात्मस्वभावसंभावनक्लीबास्तस्मिन्नेवाशक्तिमुपव्रजन्ति, ते खलूच्छलितनिरर्गलैकान्तदृष्टयो मनुष्य एवाहमेष ममैवैतन्मनुष्यशरीरमित्यहङ्कारममकाराभ्यां विप्रलभ्यमाना अविचलितचेतनाविलासमात्रादात्मव्यवहारात् प्रच्युत्य क्रोडीकृतसमस्तक्रियाकुटुम्बकं मनुष्यव्यवहारमाश्रित्य रज्यन्तो द्विषन्तश्च परद्रव्येण कर्मणा संगतत्वात्परसमया जायन्ते । ये तु पुनरसंकीर्णद्रव्यगुणपर्यायसुस्थितं भगवन्तमात्मनः स्वभावं सकलविद्यानामेकमूलमुपगम्य यथोदितात्मस्वभावसंभावनसमर्थतया पर्यायमात्राशक्तिमत्यस्यात्मनः स्वभाव एव स्थितिमासूत्रयन्ति, ते खलु सहजविजृम्भितानेकान्तदृष्टिप्रक्षपितसमस्तैकान्तदृष्टिपरिग्रहग्रहा मनुष्यादिगतिषु तद्विग्रहेषु चाविहिताहङ्कारममकारा अनेकापवरकसंचारितरत्नप्रदीपमिवैकरूपमेवात्मानमुपलभमाना अविचलितचेतनाविलासमात्रमात्मव्यवहारमुररीकृत्य क्रोडीकृतसमस्तक्रियाकुटुम्बकं मनुष्यव्यवहारमनाश्रयन्तो विश्रा-

---

तथाहि—मनुष्यादिपर्यायरूपोऽहमित्यहङ्कारो भण्यते, मनुष्यादिशरीरं तच्छरीराधारोत्पन्नपञ्चेन्द्रियविषयसुखस्वरूपं च ममेति ममकारो भण्यते, ताभ्यां परिणताः ममकाराहंकाररहितपरमचैतन्यचमत्कारपरिणतेश्च्युता ये ते कर्मोदयजनितपरपर्यायनिरतत्वात्परसमया मिथ्यादृष्टयो भण्यन्ते । **आदसहावम्मि ठिदा** ये पुनरात्मस्वरूपे स्थितास्ते **सगसमया मुणेदव्वा** स्वसमया मन्तव्या ज्ञातव्या इति । तद्यथा—अनेकापवरक-

---

ऐसा [**निर्दिष्टाः**] भगवंतदेवने दिखाया हैं । और जो सम्यग्दृष्टि जीव [**आत्मस्वभावे**] अपने ज्ञानदर्शन स्वभावमें [**स्थिताः**] मौजूद है, [**ते**] वे [**स्वकसमयाः**] स्वसमयमें रत [**ज्ञातव्याः**] जानने योग्य हैं । **भावार्थ**—जो जीव सब अविद्याओंका एक मूलकारण जीव पुद्गल स्वरूप असमान जातिवाले द्रव्यपर्यायको प्राप्त हुए है, और आत्म-स्वभावकी भावनामें नपुंसकके समान अशक्ति (निर्बलपने) को धारण करते हैं, वे निश्चय करके निरर्गल एकान्तदृष्टि ही है । 'मै मनुष्य हूँ, यह मेरा शरीर है' इस प्रकार नाना अहंकार ममकारभावोंसे विपरीत ज्ञानी हुए अविचलित चेतना-विलासरूप आत्म-व्यवहारसे च्युत होकर समस्त निंद्य क्रिया-समूहके अंगीकार करनेसे पुत्र स्त्री मित्रादि मनुष्य-व्यवहारको आश्रय करके रागी द्वेषी होते हैं, और परद्रव्यकर्मोंसे मिलते हैं, इस कारण परसमयरत होते हैं । और जो जीव अपने द्रव्यगुणपर्यायोंकी अभिन्नतासे स्थिर हैं, समस्त विद्याओंके मूलभूत भगवंत आत्माके स्वभावको प्राप्त हुए हैं, आत्मस्वभावकी भावनासे पर्यायरत नहीं हैं, और आत्म-स्वभावमें ही स्थिरता बढ़ाते हैं, वे जीव स्वाभाविक अनेकान्तदृष्टिसे एकांत दृष्टिरूप परिग्रहको दूर करनेवाले हैं । मनुष्यादि गतियोंमें शरीरसंबंधी अहंकार ममकारभावोंसे रहित हैं । जैसे अनेक गृहोंमें संचार करनेवाला रत्नदीपक एक है, उसी प्रकार एकरूप आत्माको प्राप्त हुए हैं । अचलित चैतन्य-विलासरूप आत्म-व्यवहारको अंगीकार करते हैं । असमीचीन क्रियाओंके मूलकारण मनुष्य-व्यवहारके आश्रित नहीं होते ।

न्तरागद्वेषोन्मेषतया परममौदासीन्यमवलम्बमाना निरस्तसमस्तपरद्रव्यसंगतितया स्वद्रव्येणैव केवलेन संगतत्वात्स्वसमया जायन्ते । अतः स्वसमय एवात्मनस्तत्त्वम् ॥ २ ॥

अथ द्रव्यलक्षणमुपलक्षयति—

अपरिच्चत्तसहावेणुप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं ।
गुणवं च सपज्जायं जं तं दव्वं ति वुच्चंति ॥ ३ ॥
अपरित्यक्तस्वभावेनोत्पादव्ययध्रुवत्वसंयुक्तम् ।
गुणवच्च सपर्यायं यत्तद्द्रव्यमिति ब्रुवन्ति ॥ ३ ॥

इह खलु यदनारब्धस्वभावभेदमुत्पादव्ययध्रौव्यत्रयेण गुणपर्यायद्वयेन च यल्लक्ष्यते तद्द्रव्यम् । तत्र हि द्रव्यस्य स्वभावोऽस्तित्वसामान्यान्वयः, अस्तित्वं हि वक्ष्यति द्विविधं, स्वरूपास्तित्वं सादृश्यास्तित्वं चेति । तत्रोत्पादः प्रादुर्भावः, व्ययः प्रच्यवनं, ध्रौव्यमवस्थितिः । गुणा विस्तारविशेषाः, ते द्विविधाः सामान्यविशेषात्मकत्वात् । तत्रास्तित्वं नास्तित्वमेकत्वमन्यत्वं द्रव्यत्वं पर्यायत्वं सर्वगतत्वमसर्वगतत्वं सप्रदेशत्वमप्रदेशत्वं मूर्तत्वममूर्तत्वं सक्रियत्वमक्रियत्वं चेतनत्वमचेतनत्वं कर्तृत्वमकर्तृत्वं भोक्तृत्वमभोक्तृत्वमगुरुलघुत्वं चेत्यादयः सामा-

---

संचारितैकरत्नप्रदीप इवानेकशरीरेष्वप्येकोऽहमिति दृढसंस्कारेण निजशुद्धात्मनि स्थिता ये ते कर्मोदयजनितपर्यायपरिणतिरहितत्वात्स्वसमया भवन्तीत्यर्थः ॥ २ ॥ अथ द्रव्यस्य सत्तादिलक्षणत्रयं सूचयति— **अपरिच्चत्तसहावेण** अपरित्यक्तस्वभावमस्तित्वेन सहाभिन्नं **उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं** उत्पादव्ययध्रौव्यैः सह संयुक्तं **गुणवं च सपज्जायं** गुणवत्पर्यायसहितं च **जं** यदित्थंभूतं सत्तादिलक्षणत्रयसंयुक्तं **तं दव्वं ति वुच्चंति** तं द्रव्यमिति ब्रुवन्ति सर्वज्ञाः । इदं द्रव्यमुत्पादव्ययध्रौव्यैर्गुणपर्यायैश्च सह लक्ष्यलक्षणभेदे अपि सति सत्ताभेदं न गच्छति । तर्हि किं करोति । स्वरूपतयैव तथाविधत्वमवलम्बते । कोऽर्थः । उत्पाद-

---

राग द्वेषके अभावसे परम उदासीन हैं, और समस्त परद्रव्योंकी संगति दूर करके केवल स्वद्रव्यमें प्राप्त हुए हैं, इसी कारण स्वसमय हैं। स्वसमय आत्मस्वभाव है। आत्मस्वभावमें जो लीन रहते है वे धन्य हैं ॥२॥ अब द्रव्यका लक्षण कहते हैं–[**यत्**] जो [**अपरित्यक्तस्वभावेन**] नहीं छोड़े हुए अपने अस्तित्व स्वभावसे [**उत्पादव्ययध्रुवत्वसंबद्धं**] उत्पाद, व्यय, तथा ध्रौव्य संयुक्त है। [**च**] और [**गुणवत्**] अनंतगुणात्मक है, [**सपर्यायं**] पर्यायसहित है, [**तत्**] उसे [**द्रव्यं इति**] द्रव्य ऐसा [**ब्रुवन्ति**] कहते हैं। **भावार्थ**–जो अपने अस्तित्वसे किसीसे उत्पन्न नहीं हुआ होवे, उसे द्रव्य कहते हैं। अस्तित्व दो प्रकारका है–एक स्वरूपास्तित्व और दूसरा सामान्यास्तित्व, इन दोनों अस्तित्वोंका वर्णन आगे करेंगे। यहाँ द्रव्यके लक्षण दो है, सो बतलाते हैं, एक उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य, और दूसरा गुणपर्याय। उत्पाद उत्पन्न होनेको, व्यय विनाश होनेको, और ध्रौव्य स्थिर रहनेको कहते हैं। गुण दो प्रकारका है, एक सामान्यगुण दूसरा विशेषगुण। अस्तित्व, नास्तित्व, एकत्व, अन्यत्व, द्रव्यत्व, पर्यायत्व, सर्वगतत्व, असर्वगतत्व, सप्रदेशत्व, अप्रदेशत्व, मूर्तत्व, अमूर्तत्व, सक्रियत्व, अक्रियत्व, चेतनत्व,

न्यगुणाः । अवगाहहेतुत्वं गतिनिमित्तता स्थितिकारणत्वं वर्तनायतनत्वं रूपादिमत्ता चेतनत्व-मित्यादयो विशेषगुणाः । पर्याया आयतविशेषाः, ते पूर्वमेवोक्ताश्चतुर्विधाः । न च तैरुत्पादा-दिभिर्गुणपर्यायैर्वा सह द्रव्यं लक्ष्यलक्षणभेदेऽपिस्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव द्रव्यस्य तथा-विधत्वादुत्तरीयवत् । यथा खलूत्तरीयमुपात्तमलिनावस्थं प्रक्षालितममलावस्थयोत्पद्यमानं तेनो-त्पादेन लक्ष्यते । न च तेन सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते । तथा द्रव्यमपि समुपात्तप्राक्तनावस्थं समुचितबहिरङ्गसाधनसंनिधिसद्भावे विचित्रबहुतरावस्थानं स्वरूपकर्तृकरणसामर्थ्यस्वभावेनान्तरङ्गसाधनतामुपागतेनानुगृहीतमुत्तरावस्थयोत्पद्यमानं तेनो-त्पादेन लक्ष्यते । न च तेन सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते । यथा च तदेवोत्तरीयममलावस्थयोत्पद्यमान मलिनावस्थया व्ययमानं तेन व्ययेन लक्ष्यते । न च तेन सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते । तथा तदेव द्रव्यमप्युत्त-रावस्थयोत्पद्यमानं प्राक्तनावस्थया व्ययमानं तेन व्ययेन लक्ष्यते । न च तेन सह स्वरूपभेद-मुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते । यथैव च तदेवोत्तरीयमेककालममलावस्थयो-

---

व्ययध्रौव्यस्वरूपं गुणपर्यायरूपं च परिणमति शुद्धात्मवदेव । तथाहि—केवलज्ञानोत्पत्तिप्रस्तावे शुद्धात्मरूप-परिच्छित्तिनिश्चलानुभूतिरूपकारणसमयसारपर्यायस्य विनाशे सति शुद्धात्मोपलम्भव्यक्तिरूपकार्यसमय-सारस्योत्पादः कारणसमयसारस्य व्ययस्तदुभयाधारभूतपरमात्मद्रव्यत्वेन ध्रौव्यं च । तथानन्तज्ञानादिगुणाः, गतिमार्गणाविपक्षभूतसिद्धगतिः, इन्द्रियमार्गणाविपक्षभूतातीन्द्रियत्वादिलक्षणाः शुद्धपर्यायाश्च भवन्तीति । यथा शुद्धसत्तया सहाभिन्नं परमात्मद्रव्यं पूर्वोक्तोत्पादव्ययध्रौव्यैर्गुणपर्यायैश्च सह संज्ञालक्षणप्रयोजनादि-भेदेऽपि सति तैः सह सत्तादिभेदं न करोति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते । तथाविधत्वं कोऽर्थः ।

अचेतनत्व, कर्तृत्व, अकर्तृत्व, भोक्तृत्व, अभोक्तृत्व, अगुरुलघुत्व, इत्यादि सामान्यगुण हैं । अवगाहहेतुत्व, गतिनिमित्तता, स्थितिहेतुत्व, वर्तनायतनत्व, रूपादिमत्व, चेतनत्व, इत्यादि विशेषगुण हैं । द्रव्यगुणकी परिणतिके भेदको पर्याय कहते है । इन उत्पाद व्यय ध्रौव्य गुणपर्यायोंसे द्रव्य लक्षित होता (पहिचाना जाता) है, इसलिये द्रव्य 'लक्ष्य' है । और जिनसे लक्षित होता है, वे लक्षण है, इसलिये उत्पाद व्ययादि 'लक्षण' हैं । लक्ष्य लक्षण भेदसे यद्यपि इनमें भेद है, तथापि स्वरूपसे द्रव्यमें भेद नहीं है, अर्थात् स्वरूपसे लक्ष्य लक्षण एक ही हैं । जैसे—कोई वस्त्र पहले मलिन था, पीछेसे धोकर उज्ज्वल किया, तब उज्ज्वलतासे उत्पन्न हुआ कहलाया । परंतु उस वस्त्रका उत्पादसे पृथक्पना नहीं है, क्योंकि पूर्ववस्त्र ही उज्ज्वलभावसे परिणत हुआ है । इसी प्रकार बहिरंग—अंतरंग निमित्त पाकर द्रव्य एक पर्यायसे उत्पन्न होता है, परंतु उत्पादसे जुदा नहीं है, स्वरूपसे ही उस पर्यायरूप परिणमन करता है । वही वस्त्र उज्ज्व-लावस्थासे तो उत्पन्न हुआ है, और मलिनपर्यायसे व्यय (नाश) को प्राप्त हुआ है, परंतु उस व्ययसे वस्त्र पृथक् नहीं है, क्योंकि आप ही मलिनभावके नाशरूप परिणत हुआ है । इसी प्रकार द्रव्य आगामी पर्यायसे तो उत्पद्यमान है, और प्रथम अवस्थासे नष्ट होता है, परंतु उस व्ययसे पृथक् नहीं है, व्यय-

त्पद्यमानं मलिनव्यवस्थया व्ययमानमवस्थायिन्योत्तरीयत्वावस्थया ध्रौव्यमालम्ब्यमानं ध्रौव्येण लक्ष्यते। न च तेन सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते। तथैव तदेव द्रव्यमप्येककालमुत्तरावस्थयोत्पद्यमानं प्राक्तनावस्थया व्ययमानमवस्थायिन्या द्रव्यत्वावस्थया ध्रौव्यमालम्ब्यमानं ध्रौव्येण लक्ष्यते। न च तेन सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते। यथैव च तदेवोत्तरीयं विस्तारविशेषात्मकैर्गुणैर्लक्ष्यते। न च तैः सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते। तथैव तदेव द्रव्यमपि विस्तारविशेषात्मकैर्गुणैर्लक्ष्यते। न च तैः सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते। यथैव च तदेवोत्तरीयमायतविशेषात्मकैः पर्यायवर्तिभिस्तन्तुभिर्लक्ष्यते। न च तैः सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते। तथैव तदेव द्रव्यमप्यायतविशेषात्मकैः पर्यायैर्लक्ष्यते। न च तैः सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते॥ ३॥

अथ क्रमेणास्तित्वं द्विविधमभिदधाति तत्रेदं स्वरूपास्तित्वाभिधानम्—

उत्पादव्ययध्रौव्यगुणपर्यायस्वरूपेण परिणमन्ति, तथा सर्वद्रव्याणि स्वकीयस्वकीययथोचितोत्पादव्ययध्रौव्यैस्तथैव गुणपर्यायैश्च सह यद्यपि संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभिर्भेदं कुर्वन्ति तथापि सत्तास्वरूपेण भेदं न कुर्वन्ति, स्वभावत एव तथाविधत्वमवलम्बते। तथाविधत्वं कोऽर्थः। उत्पादव्ययादिस्वरूपेण परिणमन्ति। अथवा यथा वस्त्रं निर्मलपर्यायेणोत्पन्नं मलिनपर्यायेण विनष्टं तदुभयाधारभूतवस्त्ररूपेण ध्रुवमविनश्वरं, तथैव शुक्लवर्णादिगुणनवजीर्णादिपर्यायसहितं च सत् तैरुत्पादव्ययध्रौव्यैस्तथैव च स्वकीयगुणपर्यायैः सह संज्ञादिभेदेऽपि सति सत्तारूपेण भेदं न करोति। तर्हि किं करोति। स्वरूपत एवोत्पादादिरूपेण परिणमति, तथा सर्वद्रव्याणीत्यभिप्रायः॥ ३॥ एवं नमस्कारगाथा द्रव्यगुणपर्यायकथनगाथा स्वसमयपरसमयनिरूपणगाथा सत्तादिलक्षणत्रयसूचनगाथा चेति स्वतन्त्रगाथाचतुष्टयेन **पीठिका**भिधानं प्रथमस्थलं गतम्। अथ प्रथमं

स्वरूप परिणत हुआ है। और वही वस्त्र जैसे एक समयमें निर्मल अवस्थाकी अपेक्षासे तो उत्पद्यमान है, मलिनावस्थाकी अपेक्षासे व्यय (नाश) वाला है, और वस्त्रपनेकी अपेक्षा ध्रुव है, परंतु ध्रुवपनेसे स्वरूपभेदको धारण नहीं करता है, आप ही उस स्वरूप परिणमता है। इसी प्रकार द्रव्य हरएक समयमें उत्तर अवस्थासे उत्पन्न होता है, पूर्व अवस्थासे विनाशको प्राप्त होता है, और द्रव्यपने स्वभावसे ध्रुव रहता है, ध्रुवपनेसे पृथक् नहीं रहता, आप ही ध्रौव्यको अवलंबन करता है। और इसी प्रकार जैसे वही वस्त्र उज्ज्वल कोमलादि गुणोंकी अपेक्षा देखते हैं, तो वह उन गुणोंसे भिन्न भेद धारण नहीं करता, स्वरूपसे गुणात्मक है, इसी तरह प्रत्येक द्रव्य निज गुणोंसे भिन्न नहीं है, स्वरूपसे ही गुणात्मक है, ऐसा देखते हैं। जैसे वस्त्र तंतुरूप पर्यायोंसे देखाजाता है, परंतु उन पर्यायोंसे जुदा नहीं है, स्वरूपसे ही उनरूप है; इसी प्रकार द्रव्य निज पर्यायोंसे देखते हैं, परंतु स्वरूपसे ही पर्यायपनेको अवलम्बन करता है। इस तरह द्रव्यका उत्पादव्ययध्रौव्यलक्षण और गुणपर्यायलक्षण जानने योग्य है॥ ३॥ अब दो प्रकारके अस्तित्वमेंसे पहले स्वरूपास्तित्वको दिखलाते हैं—[**गुणैः**] अपने गुणों करके [**चित्रैः सह**

सब्भावो हि सहावो गुणेहिं सह पज्जएहिं चित्तेहिं।
दव्वस्स सव्वकालं उप्पादव्वयधुवत्तेहिं ॥ ४ ॥
सद्भावो हि स्वभावो गुणैः सह पर्ययैश्चित्रैः।
द्रव्यस्य सर्वकालमुत्पादव्ययध्रुवत्वैः ॥ ४ ॥

अस्तित्वं हि किल द्रव्यस्य स्वभावः, तत्पुनरन्यसाधननिरपेक्षत्वादनाद्यनन्ततया हेतुकयैकरूपया वृत्त्या नित्यप्रवृत्तत्वाद्विभावधर्मवैलक्षण्याच्च भावभाववद्भावाभानात्वेऽपि प्रदेशभेदाभावाद्द्रव्येण सहैकत्वमवलम्बमानं द्रव्यस्य स्वभाव एव कथं न भवेत्। तत्तु द्रव्यान्तराणामिव द्रव्यगुणपर्यायाणां न प्रत्येकं परिसमाप्यते। यतो हि परस्परसाधितसिद्धियुक्तत्वात्तेषामस्तित्वमेकमेव, कार्तस्वरवत् यथा हि द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा कार्तस्वरात् पृथगनुपलभ्यमानैः कर्तृकरणाधिकरणरूपेण पीतादिगुणानां कुण्डलादिपर्यायाणां च स्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तस्य कार्तस्वरास्तित्वेन निष्पादितनिष्पत्तियुक्तैः पीततादिगुणैः

तावत्स्वरूपास्तित्वं प्रतिपादयति—**सहावो हि** स्वभावः स्वरूपं भवति हि स्फुटम्। कः कर्ता। **सब्भावो** सद्भावः शुद्धसत्ता शुद्धास्तित्वम्। कस्य स्वभावो भवति **दव्वस्स** मुक्तात्मद्रव्यस्य तच्च स्वरूपास्तित्वं यथा मुक्तात्मनः सकाशात्पृथग्भूतानां पुद्गलादिपञ्चद्रव्याणां शेषजीवानां च भिन्नं भवति न च तथा कैः सह। **गुणेहिं सह पज्जएहिं** केवलज्ञानादिगुणैः किंचिदूनचरमशरीराकारादिस्वकीयपर्यायैश्च सह। कथंभूतैः। **चित्तेहिं** सिद्धगतित्वमतीन्द्रियत्वमकायत्वमयोगत्वमवेदत्वमित्यादिबहुभेदभिन्नैर्न केवलं गुणपर्यायैः सह भिन्नं भवति। **उप्पादव्वयधुवत्तेहिं** शुद्धात्मप्राप्तिरूपमोक्षपर्यायस्योत्पादो रागादिविकल्परहितपरमसमाधिरूपमोक्षमार्गपर्यायस्य व्ययस्तथा मोक्षमार्गाधारभूतान्वयद्रव्यत्वलक्षणं ध्रौव्यं चेत्युक्तलक्षणोत्पादव्ययध्रौव्यैश्च सह भिन्नं न भवति। कथम्। **सव्वकालं** सर्वकालपर्यन्तं यथा भवति। कस्मात्तैः सह भिन्नं न भवतीति चेत्।

पर्यायैः] नाना प्रकारकी अपनी पर्यायोकरके और [**उत्पादव्ययध्रुवत्वैः**] उत्पाद, व्यय, तथा ध्रौव्यकरके [**द्रव्यस्य**] गुणपर्यायस्वरूप द्रव्यका [**सर्वकालं**] तीनों कालमें [**सद्भाव**] अस्तित्व है, वही [**हि**] निश्चय करके [**स्वभावः**] मूलभूत स्वभाव है। **भावार्थ**—निश्चय करके अस्तित्व ही द्रव्यका स्वभाव है, क्योंकि अस्तित्व किसी अन्य निमित्तसे उत्पन्न नहीं हुआ है। अनादि अनंत एकरूप प्रवृत्तिसे अविनाशी है। विभावभावरूप नहीं, किन्तु स्वाभाविकभाव है। और गुणगुणीके भेदसे यद्यपि द्रव्यसे अस्तित्वगुण पृथक् कहा जाता है, परंतु वह प्रदेशभेदके विना द्रव्यसे एकरूप है। एक द्रव्यसे दूसरे द्रव्यकी नाईं पृथक् नहीं हैं, क्योंकि द्रव्यके अस्तित्वसे गुणपर्यायोंका अस्तित्व है, और गुणपर्यायोंके अस्तित्वसे द्रव्यका अस्तित्व है। यह कथन नीचे लिखे हुए सोनेके दृष्टांतसे समझाते हैं। जैसे—पीततादि गुण तथा कुंडलादिपर्याय जो कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षा सोनेसे पृथक् नहीं हैं, उनका कर्ता, साधन, और आधार सोना है, क्योंकि सोनेके अस्तित्वसे ही उनका अस्तित्व है। जो सोना न होवे, तो पीततादि गुण तथा कुंडलादिपर्यायें भी न होवें। सोना स्वभाववंत है, और वे

कुण्डलादिपर्यायैश्च यदस्तित्वं कार्तस्वरस्य स स्वभावः, तथा हि द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा द्रव्यात्पृथगनुपलभ्यमानैः कर्तृकरणाधिकरणरूपेण गुणानां पर्यायाणां च स्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तस्य द्रव्यास्तित्वेन निष्पादितनिष्पत्तियुक्तैर्गुणैः पर्यायैश्च यदस्तित्वं द्रव्यस्य स स्वभावः। यथा वा द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा पीततादिगुणेभ्यः कुण्डलादिपर्यायेभ्यश्च पृथगनुपलभ्यमानस्य कर्तृकरणाधिकरणरूपेण कार्तस्वरस्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तैः पीततादिगुणैः कुण्डलादिपर्यायैश्च निष्पादितनिष्पत्तियुक्तस्य कार्तस्वरस्य मूलसाधनतया तैर्निष्पादितं यदस्तित्वं स स्वभावः, तथा द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा गुणेभ्यः पर्यायेभ्यश्च पृथगनुपलभ्यमानस्य कर्तृकरणाधिकरणरूपेण द्रव्यस्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानाप्रवृत्तियुक्तैर्गुणैः पर्यायैश्च निष्पादितनिष्पत्तियुक्तस्य द्रव्यस्य मूलसाधनतया तैर्निष्पादितं यदस्तित्वं स स्वभावः। किं च—यथा हि द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा कार्तस्वरात्पृथगनुपलभ्यमानैः कर्तृकरणाधिकरणरूपेण कुण्डलाङ्गदपीतताद्युत्पादव्ययध्रौव्याणां स्वरूप-

यतः कारणाद्गुणपर्यायोऽस्तित्वेनोत्पादव्ययध्रौव्यास्तित्वेन च कर्तृभूतेन शुद्धात्मद्रव्यास्तित्वं साध्यते, शुद्धात्मद्रव्यास्तित्वेन च गुणपर्यायोत्पादव्ययध्रौव्यास्तित्वं साध्यत इति। तद्यथा—यथा स्वकीयद्रव्यक्षेत्रकालभावैः सुवर्णादभिन्नानां पीतत्वादिगुणकुण्डलादिपर्यायाणां संबन्धि यदस्तित्वं स एव सुवर्णस्य सद्भावः, तथा स्वकीयद्रव्यक्षेत्रकालभावैः परमात्मद्रव्यादभिन्नानां केवलज्ञानादिगुणकिंचिदूनचरमशरीराकारादिपर्यायाणां संबन्धि यदस्तित्वं स एव मुक्तात्मद्रव्यस्य सद्भावः। यथा स्वकीयद्रव्यक्षेत्रकालभावैः पीतत्वादिगुणकुण्डलादिपर्यायेभ्यः सकाशादभिन्नस्य सुवर्णस्य संबन्धि यदस्तित्वं स एव पीतत्वादिगुणकुण्डलादिपर्यायाणां स्वभावो भवति, तथा स्वकीयद्रव्यक्षेत्रकालभावैः केवलज्ञानादिगुणकिंचिदूनचरमशरीराकारपर्यायेभ्यः सकाशादभिन्नस्य मुक्तात्मद्रव्यस्य संबन्धि यदस्तित्वं स एव केवलज्ञानादिगुणकिंचिदूनचरमशरीराकारपर्यायाणां स्वभावो ज्ञातव्यः।

स्वभाव हैं। इसी प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावोंकी अपेक्षा द्रव्यसे अभिन्न जो उसके गुणपर्याय हैं, उनका कर्ता साधन, और आधार द्रव्य हैं, क्योंकि द्रव्यके अस्तित्वसे ही गुणपर्यायोंका अस्तित्व है। जो द्रव्य न होवे, तो गुणपर्याय भी न होवें। द्रव्य स्वभाववंत है, और गुणपर्याय स्वभाव है। और जैसे द्रव्य, क्षेत्र, काल भावोंसे, पीततादि गुण तथा कुंडलादि पर्यायोंसे अपृथक्भूत (जो जुदे नहीं) सोनेके कर्म पीततादि गुण तथा कुंडलादि पर्याय हैं, इसलिये पीततादि गुण और कुंडलादि पर्यायोंके अस्तित्वसे सोनेका अस्तित्व है। यदि पीततादिगुण तथा कुंडलादि पर्यायें न हों, तो सोना भी न होवे। इसी प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावोंसे गुणपर्यायोंसे अपृथग्भूत द्रव्यके कर्म गुणपर्याय हैं, इसलिये गुणपर्यायोंके अस्तित्वसे द्रव्यका अस्तित्व है। जो गुणपर्यायें न हों, तो द्रव्य भी न होवे। और जैसे—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावोंसे सोनेसे अपृथग्भूत ऐसा जो कंकणका उत्पाद, कुंडलका व्यय तथा पीतत्वादिका ध्रौव्य इन तीन भावोंका कर्ता, साधन, और आधार सोना है, इसलिये सोनेके अस्तित्वसे इनका अस्तित्व है, क्योंकि जो सोना न होवे, तो कंकणका उत्पाद, कुंडलका व्यय और पीतत्वादिका ध्रौव्य,

मुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तस्य कार्तस्वरास्तित्वेन निष्पादितनिष्पत्तियुक्तैः कुण्डलाङ्गदपीतताद्युत्पादव्ययध्रौव्यैर्यदस्तित्वं कार्तस्वरस्य स स्वभावः, तथा हि द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा द्रव्यात्पृथगनुपलभ्यमानैः कर्तृकरणाधिकरणरूपेणोत्पादव्ययध्रौव्याणां स्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तस्य द्रव्यास्तित्वेन निष्पादितनिष्पत्तियुक्तैरुत्पादव्ययध्रौव्यैर्यदस्तित्वं द्रव्यस्य स स्वभावः। यथा वा द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा कुण्डलाङ्गदपीतताद्युत्पादव्ययध्रौव्येभ्यः पृथगनुपलभ्यमानस्य कर्तृकरणाधिकरणरूपेण कार्तस्वरस्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तैः कुण्डलाङ्गदपीतताद्युत्पादव्ययध्रौव्यैर्निष्पादितनिष्पत्तियुक्तस्य कार्तस्वरस्य मूलसाधनतया तैर्निष्पादितं यदस्तित्वं स स्वभावः, तथा द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वोत्पादव्ययध्रौव्येभ्यः पृथगनुपलभ्यमानस्य कर्तृकरणाधिकरणरूपेण द्रव्यस्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तैरुत्पादव्ययध्रौव्यैर्निष्पादितनिष्पत्तियुक्तस्य द्रव्यस्य मूलसाधनतया तैर्निष्पादितं यदस्तित्वं स स्वभावः ॥ ४ ॥

अथेदानीमुत्पादव्ययध्रौव्याणामपि द्रव्येण सहाभिन्नास्तित्वं कथ्यते। यथा स्वकीयद्रव्यादिचतुष्टयेन सुवर्णादभिन्नानां कटकपर्यायोत्पादकङ्कणपर्यायविनाशसुवर्णत्वलक्षणध्रौव्याणां संबन्धि यदस्तित्वं स एव सुवर्णसद्भावः, तथा स्वद्रव्यादिचतुष्टयेन परमात्मद्रव्यादभिन्नानां मोक्षपर्यायोत्पादमोक्षमार्गपर्यायव्ययतदुभयाधारभूतपरमात्मद्रव्यत्वलक्षणध्रौव्याणां संबन्धि यदस्तित्वं स एव मुक्तात्मद्रव्यस्वभावः। यथा स्वद्रव्यादिचतुष्टयेन कटकपर्यायोत्पादकङ्कणपर्यायव्ययसुवर्णत्वलक्षणध्रौव्येभ्यः सकाशादभिन्नस्य सुवर्णस्य संबन्धि यदस्तित्वं स एव कटकपर्यायोत्पादकङ्कणपर्यायव्ययतदुभयाधारभूतसुवर्णत्वलक्षणध्रौव्याणां सद्भावः, तथा स्वद्रव्यादिचतुष्टयेन मोक्षपर्यायोत्पादमोक्षमार्गपर्यायव्ययतदुभयाधारभूतमुक्तात्मद्रव्यत्वलक्षणध्रौव्येभ्यः सकाशादभिन्नस्य परमात्मद्रव्यस्य संबन्धि यदस्तित्वं स एव मोक्षपर्यायोत्पादमोक्षमार्गपर्यायव्ययतदुभयाधारभूतमुक्तात्मद्रव्यत्वलक्षणध्रौव्याणां स्वभाव इति। एवं यथा मुक्तात्मद्रव्यस्य स्वकीयगुणपर्यायोत्पादव्ययध्रौव्यैः सह स्वरूपास्ति-

---

ये तीन भाव भी न होवें। इसी प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों करके द्रव्यसे अपृथग्भूत ऐसे जो उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य इन तीन भावोंका कर्ता, साधन तथा आधार द्रव्य है, इसलिये द्रव्यके अस्तित्वसे उत्पादादिका अस्तित्व है। जो द्रव्य न होवे तो उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य ये तीन भाव न होवे। और जैसे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावोंकर कंकणादि पर्यायका उत्पाद, कुंडलादिका व्यय, पीतत्वादिका ध्रौव्य, इन तीन भावोंसे अपृथग्भूत जो सोना है, उसके कर्ता, साधन और आधार कंकणादि उत्पाद, कुंडलादि व्यय, पीतत्वादि ध्रौव्य, ये तीन भाव हैं, इसलिये इन तीन भावोंके अस्तित्वसे सोनेका अस्तित्व है। यदि ये तीन भाव न होवें, तो सोना भी न होवे। इसी प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों करके उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यसे अपृथग्भूत द्रव्यके कर्ता, साधन और आधार उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, ये तीन भाव है, क्योंकि इन तीनोंके अस्तित्वसे द्रव्यका अस्तित्व है। यदि ये तीन भाव न होवें, तो द्रव्य भी न होवे। इससे यह बात सिद्ध हुई, कि द्रव्य, गुण और पर्यायोंका अस्तित्व एक है। और जो द्रव्य है, सो अपने गुण

इदं तु सादृश्यास्तित्वाभिधानमस्तीति कथयति—

इह विविहलक्खणाणं लक्खणमेगं सदिति सव्वगयं।
उवदिसदा खलु धम्मं जिणवरवसहेण पण्णत्तं ॥ ५ ॥

इह विविधलक्षणानां लक्षणमेकं सदिति सर्वगतम्।
उपदिशता खलु धर्मं जिनवरवृषभेण प्रज्ञप्तम् ॥ ५ ॥

इह किल प्रपञ्चितवैचित्र्येण द्रव्यान्तरेभ्यो व्यावृत्य वृत्तेन प्रतिद्रव्यं सीमानमासूत्रयता विशेषलक्षणभूतेन च स्वरूपास्तित्वेन लक्ष्यमाणानामपि सर्वद्रव्याणामस्तमितवैचित्र्यप्रपञ्चं प्रवृत्य वृत्तं प्रतिद्रव्यमासूत्रितं सीमानं भिन्दत्सदिति सर्वगतं सामान्यलक्षणभूतं सादृश्यास्तित्वमेकं खल्ववबोद्धव्यम्। एवं सदित्यभिधानं सदिति परिच्छेदनं च सर्वार्थपरामर्शि स्यात्। यदि पुनरिदमेव न स्यात्तदा किंचित्सदिति किंचिदसदिति किंचित्सच्चासच्चेति किंचिदवाच्यमिति च स्यात्। तत्तु विप्रतिषिद्धमेवाप्रसाध्यं चैतदनोकहवत्। यथा हि बहूनां बहुविधानामनोकहानामात्मीयस्यात्मीयस्य विशेषलक्षणभूतस्य स्वरूपास्तित्वस्यावष्टम्भेनोत्तिष्ठन्नानात्वं, सामान्य-

---

त्वाभिधानमवान्तरास्तित्वमभिन्नं व्यवस्थापितं, तथैव समस्तशेषद्रव्याणामपि व्यवस्थापनीयमित्यर्थः ॥ ४ ॥ अथ सादृश्यास्तित्वशब्दाभिधेयां महासत्तां प्रज्ञापयति—**इह विविहलक्खणाणं** इह लोके प्रत्येकसत्ताभिधानेन स्वरूपास्तित्वेन विविधलक्षणानां भिन्नलक्षणानां चेतनाचेतनमूर्तामूर्तपदार्थानां **लक्खणमेगं तु** एकमखण्डलक्षणं भवति। किं कर्तृ **सदिति** सर्वं सदिति महासत्तारूपम्। किंविशिष्टम्। **सव्वगयं** संकरव्यतिकरपरिहाररूपस्वजात्यविरोधेन शुद्धसंग्रहनयेन सर्वगतं सर्वपदार्थव्यापकम्। इदं केनोक्तम्। **उवदिसदा खलु धम्मं जिणवरवसहेण पण्णत्तं** धर्मं वस्तुस्वभावसंग्रहमुपदिशता खलु स्फुटं जिनवरवृषभेण

पर्यायस्वरूपको लिये हुए है, अन्य द्रव्यसे कभी नहीं मिलता। इसीको स्वरूपास्तित्व कहते है ॥ ४ ॥ आगे सादृश्यास्तित्व बतलाते हैं—[**इह**] इस लोकमें [**धर्मं उपदिशता**] वस्तुके स्वभावका उपदेश देनेवाले [**जिणवरवृषभेण**] गणधरादिदेवोंमें श्रेष्ठ श्रीवीतराग सर्वज्ञदेवने [**प्रज्ञप्तं**] ऐसा कहा है, कि [**विविधलक्षणानां**] नाना प्रकारके लक्षणोंवाले अपने स्वरूपास्तित्वसे जुदा जुदा द्रव्योंका [**सत् इति**] 'सत्' ऐसा [**सर्वगतं**] सब द्रव्योंमें पानेवाला [**एकं लक्षणं**] एक लक्षण है। **भावार्थ**—स्वरूपास्तित्व विशेषलक्षणरूप है, क्योंकि वह द्रव्योंकी विचित्रताका विस्तार करता है। तथा अन्य द्रव्यसे भेद करके प्रत्येक द्रव्यकी मर्यादा करता है। और 'सत्' ऐसा जो सादृश्यास्तित्व है, सो द्रव्योंमें भेद नहीं करता है, सब द्रव्योंमें प्रवर्तता है, प्रत्येक द्रव्यकी मर्यादाको दूर करता है, और सर्वगत है, इसलिये सामान्यलक्षणरूप है। 'सत्' शब्द सब पदार्थोंका ज्ञान कराता है, क्योंकि यदि ऐसा न माने, तो कुछ पदार्थ सत् हों, कुछ असत् हों, और कुछ अवक्तव्य हों; परंतु ऐसा नहीं है, संपूर्ण पदार्थ सत्रूप ही हैं, असदादिरूप नहीं है। जैसे—वृक्ष अपने अपने स्वरूपास्तित्वसे, आम, नीमादि भेदोंसे अनेक प्रकारके हैं, और सादृश्यास्तित्वसे वृक्ष जातिकी अपेक्षा एक हैं। इसी प्रकार

लक्षणभूतेन सादृश्योद्भासिनानोकहत्वेनोत्थापितमेकत्वं तिरियति । तथा बहूनां बहुविधानां द्रव्याणामात्मीयात्मीयस्य विशेषलक्षणभूतस्य स्वरूपास्तित्वस्यावष्टम्भेनोत्तिष्ठन्नानात्वं, सामान्यलक्षणभूतेन सादृश्योद्भासिना सदित्यस्य भावेनोत्थापितमेकत्वं तिरयति । यथा च तेषामनोकहानां सामान्यलक्षणभूतेन सादृश्योद्भासिनानोकहत्वेनोत्थापितेनैकत्वेन तिरोहितमपि विशेषलक्षणभूतस्य स्वरूपास्तित्वावष्टम्भेनोत्तिष्ठन्नानात्वमुच्चकास्ति, तथा सर्वद्रव्याणामपि सामान्यलक्षणभूतेन सादृश्योद्भासिना सदित्यस्य भावेनोत्थापितेनैकत्वेन तिरोहितमपि विशेषलक्षणभूतस्य स्वरूपास्तित्वस्यावष्टम्भेनोत्तिष्ठन्नानात्वमुच्चकास्ति ॥ ५ ॥

अथ द्रव्यैर्द्रव्यान्तरस्यारम्भं द्रव्यादर्थान्तरत्वं च सत्तायाः प्रतिहन्ति—

दव्वं सहावसिद्धं सदिति जिणा तच्चदो समक्खादा ।
सिद्धं तध आगमदो णेच्छदि जो सो हि परसमओ ॥ ६ ॥

द्रव्यं स्वभावसिद्धं सदिति जिनास्तत्त्वतः समाख्यातवन्तः ।
सिद्धं तथा आगमतो नेच्छति यः स हि परसमयः ॥ ६ ॥

प्रज्ञप्तमिति । तद्यथा—यथा सर्वे मुक्तात्मनः सन्तीत्युक्ते सति परमानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादभरितावस्थलोकाकाशप्रमितशुद्धासंख्येयात्मप्रदेशैस्तथा किंचिदूनचरमशरीराकारादिपर्यायैश्च संकरव्यतिकरपरिहाररूपजातिभेदेन भिन्नानामपि सर्वेषां सिद्धजीवानां ग्रहणं भवति, तथा 'सर्वं सत्' इत्युक्ते संग्रहनयेन सर्वपदार्थानां ग्रहणं भवति । अथवा सेनेयं वनमिदमित्युक्ते अश्वहस्त्यादिपदार्थानां निम्बाम्रादिवृक्षाणां स्वकीयस्वकीयजातिभेदभिन्नानां युगपद्ग्रहणं भवति, तथा सर्वं सदित्युक्ते सति सादृश्यसत्ताभिधानेन महासत्तारूपेण शुद्धसंग्रहनयेन सर्वपदार्थानां स्वजात्यविरोधेन ग्रहणं भवतीत्यर्थः ॥ ५ ॥ अथ यथा द्रव्यं स्वभावसिद्धं तथा सदसदपि स्वभावत एवेत्याख्याति—**दव्वं सहावसिद्धं** द्रव्यं परमात्मद्रव्यं स्वभावसिद्धं भवति । कस्मात् । अनाद्यनन्तेन परहेतुनिरपेक्षेण स्वतः सिद्धेन केवलज्ञानादिगुणाधारभूतेन सदानन्दैकरूपसुख-

---

द्रव्य अपने अपने स्वरूपास्तित्वसे ६ प्रकार हैं, और सादृश्यास्तित्वसे सत्‌की अपेक्षा सब एक हैं। सत्‌के कहनेमें छहों द्रव्य गर्भित हो जाते है । जैसे जब वृक्षोंमें स्वरूपास्तित्वसे भेद करते हैं, तब सादृश्यास्तित्वरूप वृक्षकी जातिकी एकता मिट जाती है, और जब सादृश्यास्तित्वरूप वृक्षजातिकी एकता करते हैं, तब स्वरूपास्तित्वसे उत्पन्न नाना प्रकारके भेद मिट जाते हैं, इसी प्रकार द्रव्योंमें स्वरूपास्तित्वकी अपेक्षा सत्‌रूप एकता मिट जाती है, और सादृश्यास्तित्वकी अपेक्षा नाना प्रकारके भेद मिट जाते हैं। भगवानका मत अनेकान्त है, जिस पक्षकी विवक्षा (कहनेकी इच्छा) करते हैं, वह पक्ष मुख्य होता है, और जिस पक्षकी विवक्षा नहीं करते हैं, वह पक्ष गौण होता है। अनेकान्तसे नय संपूर्ण प्रमाण हैं, विवक्षाकी अपेक्षा मुख्य गौण हैं ॥ ५ ॥ आगे द्रव्योंसे अन्य द्रव्यकी उत्पत्तिका निषेध करते है, और द्रव्यसे सत्ताकी जुदाईका निषेध करते हैं-[**द्रव्यं**] गुणपर्यायरूप वस्तु [**स्वभावसिद्धं**] अपने स्वभावसे निष्पन्न है। और वह [**सत् इति**] सत्तास्वरूप है, ऐसा [**जिनाः**] जिनभगवान [**तत्त्वतः**] स्वरूपसे

न खलु द्रव्यैर्द्रव्यान्तराणामारम्भः, सर्वद्रव्याणां स्वभावसिद्धत्वात्। स्वभावसिद्धत्वं तु तेषामनादिनिधनत्वात्। अनादिनिधनं हि न साधनान्तरमपेक्षते। गुणपर्यायात्मानमात्मनः स्वभावमेव मूलसाधनमुपादाय स्वयमेव सिद्धसिद्धिमद्भूतं वर्तते। यत्तु द्रव्यैरारभ्यते न तद्रव्यान्तरं कादाचित्कत्वात् स पर्याय द्व्यणुकादिवन्मनुष्यादिवच्च। द्रव्यं पुनरनवधि त्रिसमयावस्थायि न तथा स्यात्। अथैवं यथा सिद्धं स्वभावत एव द्रव्यं तथा सदित्यपि तत्स्वभावत एव सिद्धमित्यवधार्यताम्। सत्तात्मना (त्मनः) स्वभावेन निष्पन्ननिष्पत्तिमद्भावयुक्तत्वात्। न च द्रव्यादर्थान्तरभूता सत्तोपपत्तिमभिमपद्यते, यतस्तत्समवायात्तत्सदिति स्यात्। सतः सत्तायाश्च न तावद्युतसिद्धत्वेनार्थान्तरत्वं, तयोर्दण्डदण्डिवद्युतसिद्धत्वस्यादर्शनात्। अयुतसिद्धत्वेनापि न तदुपपद्यते। इहेदमितिप्रतीतेरुपपद्यत इति चेत् किंनिबन्धना हीहेदमिति प्रतीतिः। भेदनिबन्धनेति चेत् को नाम भेदः। प्रादेशिकः, अताद्भाविको वा। न तावत्प्रादेशिकः, पूर्वमेव युतसिद्धत्वस्यापसारणात्। अताद्भाविकश्चेत् उपपन्न एव यद्द्रव्यं तन्न गुण इति वचनात्। अयं तु न खल्वेकान्तेनेहेदमिति-

सुधारसपरमसमरसीभावपरिणतसर्वशुद्धात्मप्रदेशभरितावस्थेन शुद्धोपादानभूतेन स्वकीयस्वभावेन निष्पन्नत्वात्। यच्च स्वभावसिद्धं न भवति तद् द्रव्यमपि न भवति। द्व्यणुकादिपुद्गलस्कन्धपर्यायवत् मनुष्यादिजीवपर्यायवच्च। **सदिति** यथा स्वभावतः सिद्धं तद्द्रव्यं तथा सदिति सत्तालक्षणमपि स्वभावत एव भवति, न च भिन्नसत्तासमवायात्। अथवा यथा द्रव्यं स्वभावतः सिद्धं तथा तस्य योऽसौ सत्तागुणः सोऽपि स्वभावसिद्ध एव। कस्मादिति चेत्। सत्ताद्रव्ययोः संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेऽपि दण्डदण्डिवद्भिन्नप्रदेशाभावात्। इदं के

[**समाख्यातवन्तः**] भले प्रकार कहते हैं। [**यः**] जो पुरुष [**आगमतः**] शास्त्रसे [**तथा सिद्धं**] उक्त प्रकार सिद्ध [**न इच्छति**] नहीं मानता है, [**हि**] निश्चयकरके [**सः**] वह [**परसमयः**] मिथ्यादृष्टि है। **भावार्थ**–द्रव्य अनादिनिधन है, वह किसीका कारण पाके उत्पन्न नहीं हुआ है, इस कारण स्वयंसिद्ध है। अपने गुण पर्याय स्वरूपको मूलसाधन अंगीकार करके आप ही सिद्ध है। और जो द्रव्योंसे उत्पन्न होते हैं, वे कोई अन्य द्रव्य नहीं, पर्याय होते हैं; परंतु पर्याय स्थायी नहीं होते–नाशवान होते हैं। जैसे परमाणुओंसे द्व्यणुकादि स्कंध तथा जीव पुद्गलसे मनुष्यादि होते हैं। ये सब द्रव्यके पर्याय हैं, कोई नवीन द्रव्य नहीं है। इससे सिद्ध हुआ, कि द्रव्य त्रिकालिक स्वयंसिद्ध है, वही सत्ता स्वरूप है। जैसे द्रव्य स्वभावसिद्ध है, वैसे ही सत्ता स्वभावसिद्ध है। परंतु सत्ता द्रव्यसे कोई जुदी वस्तु नहीं है, सत्ता गुण है, और द्रव्य गुणी है। इस सत्ता गुणके संबंधसे द्रव्य 'सत्' कहा जाता है। सत्ता और द्रव्यमें यद्यपि गुणगुणीके भेदसे भेद है, तो भी जैसे दंड और दंडीपुरुषमें भेद है, वैसा भेद नहीं है। भेद दो प्रकारका है-एक प्रदेशभेद और दूसरा गुणगुणीभेद। इनमेंसे सत्ता और द्रव्यमें प्रदेश भेद तो है नहीं, जैसे कि दंड और दंडीमें होता है, क्योंकि सत्ताके और द्रव्यके जुदा जुदा प्रदेश नहीं हैं, गुणगुणीभेद है; क्योंकि जो द्रव्य है, सो गुण नहीं है, और जो गुण है, सो द्रव्य नहीं है। इस प्रकार संज्ञा संख्या लक्षणादिसे भेद कहते हैं। द्रव्य-सत्तामें सर्वथा भेद नहीं हैं। कथंचित्प्रकार भेद

प्रतीतेर्निबन्धनं, स्वयमेवोन्मग्ननिमग्नत्वात्। तथाहि—यदैव पर्यायेणार्प्यते द्रव्यं तदैव गुणवदिदं द्रव्यमयमस्य गुणः, शुभ्रमिदमुत्तरीयमयमस्य शुभ्रो गुण इत्यादिवदताद्भाविको भेद उन्मज्जति। यदा तु द्रव्येणार्प्यते द्रव्यं तदास्तमितसमस्तगुणवासनोन्मेषस्य तथाविधं द्रव्यमेव शुभ्रमुत्तरीयमित्यादिवत्प्रपश्यतः समूल एवाताद्भाविको भेदो निमज्जति। एवं हि भेदे निमज्जति तत्प्रत्यया प्रतीतिर्निमज्जति। तस्यां निमज्जत्यामयुतसिद्धत्वोत्थमर्थान्तरत्वं निमज्जति। ततः समस्तमपि द्रव्यमेवैकं भूत्वावतिष्ठते। यदा तु भेद उन्मज्जति, तस्मिन्नुन्मज्जति तत्प्रत्यया प्रतीतिरुन्मज्जति। तस्यामुन्मज्जत्यामयुतसिद्धत्वोत्थमर्थान्तरत्वमुन्मज्जति। तदापि तत्पर्यायत्वेनोन्मज्जज्जलराशेर्जलकल्लोल इव द्रव्यान्न व्यतिरिक्तं स्यात्। एवं सति स्वयमेव सद्द्रव्यं भवति। यस्त्वेवं नेच्छति स खलु परसमय एव द्रष्टव्यः ॥ ६ ॥

अथोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वेऽपि सद्द्रव्यं भवतीति विभावयति—

सदवट्ठिदं सहावे दव्वं दव्वस्स जो हि परिणामो।
अत्थेसु सो सहावो ठिदिसंभवणाससंबद्धो ॥ ७ ॥

सदवस्थितं स्वभावे द्रव्यं द्रव्यस्य यो हि परिणामः।
अर्थेषु स स्वभावः स्थितिसंभवनाशसंबद्धः ॥ ७ ॥

कथितवन्तः। **जिणा तच्चदो समक्खादा** जिनाः कर्तारः तत्त्वतः सम्यगाख्यातवन्तः कथितवन्तः **सिद्धं तह आगमदो** संतानापेक्षया द्रव्यार्थिकनयेनानादिनिधनागमादपि तथा सिद्धं **णेच्छदि जो सो हि परसमओ** नेच्छति न मन्यते य इदं वस्तुस्वरूपं स हि स्फुटं परसमयो मिथ्यादृष्टिर्भवति। एवं यथा परमात्मद्रव्यं स्वभावतः सिद्धमवबोद्धव्यं तथा सर्वद्रव्याणीति। अत्र द्रव्यं केनापि पुरुषेण न क्रियते। सत्तागुणोऽपि द्रव्याद्भिन्नो नास्तीत्यभिप्रायः ॥ ६ ॥ अथोत्पादव्ययध्रौव्यत्वे सति सत्तैव द्रव्यं भवतीति प्रज्ञापयति—**सद-**

है, किसी एक प्रकारसे अभेद है। इस भेदाभेदको द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनयके भेदसे दिखलाते है—जब पर्यायार्थिकनयसे द्रव्यका कथन करते है, तब द्रव्य गुणवाला है, यह उसका गुण है। जैसे वस्त्र द्रव्य है, यह उसका उज्ज्वलपना गुण है। इस प्रकार गुणगुणी भेद प्रगट होता है। और जब द्रव्यार्थिकनयसे द्रव्यका कथन करते हैं, तब समस्त गुणभेदकी वासना मिट जाती है, एक द्रव्य ही रहता है, गुणगुणी भेद नष्ट हो जाता है। और इस प्रकार भेदके नष्ट होनेसे गुणगुणी भेदरूप ज्ञान भी नष्ट होता है, तथा ज्ञानके नष्ट होनेसे वस्तु अभेदभावसे एकरूप होकर ठहरती है। पर्याय कथनसे जब द्रव्यमें भेद उछलते हैं, तब उसके निमित्तसे भेदरूप ज्ञान प्रगट होता है, और उस भेदरूप ज्ञानके उछलनेसे गुणोंका भेद उछलता है। जिस तरह समुद्रमें उछलते हुए जलके कल्लोल समुद्रसे जुदे नहीं हैं, उसी प्रकार पर्याय कथनसे द्रव्यसे ये भेद जुदे नहीं हैं। इससे सिद्ध हुआ, द्रव्यसे सत्तागुण पृथक् नहीं है, द्रव्य उस स्वरूप ही है। गुणगुणीके भेदसे भेद है, स्वरूपसे भेद नहीं है। जो ऐसा नहीं मानते हैं, वे मिथ्यादृष्टी हैं ॥ ६ ॥ आगे कहते है कि उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यके होनेपर ही सत् द्रव्य

इह हि स्वभावे नित्यमवतिष्ठमानत्वात्सदिति द्रव्यम्। स्वभावस्तु द्रव्यस्य ध्रौव्योत्पादोच्छेदैक्यात्मकपरिणामः यथैव हि द्रव्यवास्तुनः सामस्त्येनैकस्यापि विष्कम्भक्रमप्रवृत्तिवर्तिनः सूक्ष्मांशाः प्रदेशाः, तथैव हि द्रव्यवृत्तेः सामस्त्येनैकस्यापि प्रवाहक्रमप्रवृत्तिवर्तिनः सूक्ष्मांशाः परिणामाः। यथा च प्रदेशानां परस्परव्यतिरेकनिबन्धनो विष्कम्भक्रमः, तथा परिणामानां परस्परव्यतिरेकनिबन्धनः प्रवाहक्रमः। यथैव च ते प्रदेशाः स्वस्थाने स्वरूपपूर्वरूपाभ्यामुत्पन्नोच्छन्नत्वात्सर्वत्र परस्परानुस्यूतिसूत्रितैकवास्तुतयानुत्पन्नप्रलीनत्वाच्च संभूतिसंहारध्रौव्यात्मकमात्मानं धारयन्ति, तथैव ते परिणामाः स्वावसरे स्वरूपपूर्वरूपाभ्यामुत्पन्नोच्छन्नत्वात्सर्वत्र परस्परानुस्यूतिसूत्रितैकप्रवाहतयानुत्पन्नप्रलीनत्वाच्च संभूतिसंहारध्रौव्यात्मकमात्मानं धारयन्ति। तथैव च य एव हि पूर्वप्रदेशोच्छेदनात्मको वास्तुसीमान्तः स एव हि तदुत्तरोत्पादात्मकः, स एव च परस्परानुस्यूतिसूत्रितैकवास्तुतयातदुभयात्मक इति। तथैव य एव हि पूर्वपरिणामोच्छेदात्मकः प्रवाहसीमान्तः स एव हि तदुत्तरोत्पादात्मकः, स एव च परस्परानुस्यूतिसूत्रितैकप्रवाहतयातदुभयात्मक इति एवमस्य स्वभावत एव त्रिलक्षणायां परिणामपद्धतौ दुर्ललितस्य स्वभावानति-

---

वट्ठिदं सहावे दव्वं द्रव्यं मुक्तात्मद्रव्यं भवति। किं कर्तृ। सदिति शुद्धचेतनान्वयरूपमस्तित्वम्। किंविशिष्टम्। अवस्थितम्। क। स्वभावे। स्वभावं कथयति—**दव्वस्स जो हि परिणामो** तस्य परमात्मद्रव्यस्य संबन्धी हि स्फुटं यः परिणामः। केषु विषयेषु। **अत्थेसु** परमात्मपदार्थस्य धर्मत्वादभेदनयेनार्था भण्यन्ते। के ते। केवलज्ञानादिगुणाः सिद्धत्वादिपर्यायाश्च, तेष्वर्थेषु विषयेषु योऽसौ परिणामः। **सो सहावो** केवलज्ञानादिगुणसिद्धत्वादिपर्यायरूपस्तस्य परमात्मद्रव्यस्य स्वभावो भवति। स च कथंभूतः। **ठिदिसंभवणाससंबद्धो** स्वात्मप्राप्तिरूपमोक्षपर्यायस्य संभवस्तस्मिन्नेव क्षणे परमागमभाषयैकत्ववितर्कविचार-

---

होता है—[**स्वभावे**] अपनी परिणतिमें [**अवस्थितं**] ठहरा हुआ जो [**सत्**] सत्तारूप वस्तु सो [**द्रव्यं**] द्रव्य है। और [**द्रव्यस्य**] द्रव्यका [**अर्थेषु**] गुणपर्यायोंमें [**यः**] जो [**स्थितिसंभवनाशसंबद्धः**] ध्रौव्य, उत्पाद, और व्यय सहित [**परिणामः**] परिणाम है, [**सः**] वह [**हि**] [**स्वभावः**] स्वभाव है। **भावार्थ**—द्रव्यके गुणपर्यायरूप परिणमनेको स्वभाव कहते हैं, और वह स्वभाव उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य सहित है। जैसे एक द्रव्यके चौड़ाईरूप सूक्ष्मप्रदेश अनेक हैं, उसी प्रकार समस्त द्रव्योंकी परिणतिके प्रवाहक्रमसे लम्बाईरूप सूक्ष्मपरिणाम भी अनेक हैं। द्रव्योंकी चौड़ाई प्रदेश हैं। और लम्बाई परिणति हैं। प्रदेश सदाकाल स्थायी है, इसी कारण चौड़ाई है, और परिणति प्रवाहरूप क्रमसे है, इसी लिये लम्बाई है। जैसे द्रव्यके प्रदेश पृथक् पृथक् हैं, उसी प्रकार तीन कालसंबंधी परिणाम भी जुदे जुदे हैं। और जैसे वे प्रदेश अपने अपने स्थानोंमें अपने पूर्व पूर्व प्रदेशोंकी अपेक्षा उत्पन्न हैं, उत्तर उत्तर (आगे आगेके) प्रदेशोंकी अपेक्षा व्यय हैं। एक द्रव्य संपूर्ण प्रदेशोंमें है, इस अपेक्षासे न उत्पन्न होते हैं, न नाश होते हैं, ध्रुव हैं। इसी कारण प्रदेश उत्पाद, व्यय और ध्रुवताको धारण किये हुए हैं। इसी प्रकार परिणाम अपने कालमें पूर्व उत्तर परिणामोंकी अपेक्षा उत्पाद व्ययरूप

क्रमात्रिलक्षणमेव सत्त्वमनुमोदनीयम् । मुक्ताफलदामवत् । यथैव हि परिगृहीतद्राघिम्नि प्रलम्बमाने मुक्ताफलदामनि समस्तेष्वपि स्वधामसूच्चकासत्सु मुक्ताफलेषूत्तरोत्तरेषु धामसूत्तरोत्तरमुक्ताफलानामुदयनात्पूर्वपूर्वमुक्ताफलानामनुदयनात् सर्वत्रापि परस्परानुस्यूतिसूत्रकस्य सूत्रकस्यावस्थानात्त्रैलक्षण्यं प्रसिद्धिमवतरति, तथैव हि परिगृहीतनित्यवृत्तिनिवर्तमाने द्रव्ये समस्तेष्वपि स्वावसरेषूच्चकासत्सु परिणामेषूत्तरोत्तरेष्ववसरेषूत्तरोत्तरपरिणामानामुदयनात्पूर्वपूर्वपरिणामानामनुदयनात् सर्वत्रापि परस्परानुस्यूतिसूत्रकस्य प्रवाहस्यावस्थानात्त्रैलक्षण्यं प्रसिद्धिमवतरति ॥७॥

अथोत्पादव्ययध्रौव्याणां परस्पराविनाभावं द्रढयति—

ण भवो भंगविहीणो भंगो वा णत्थि संभवविहीणो ।
उप्पादो वि य भंगो ण विणा धोव्वेण अत्थेण ॥ ८ ॥

न भवो भङ्गविहीनो भङ्गो वा नास्ति संभवविहीनः ।
उत्पादोऽपि च भङ्गो न विना ध्रौव्येणार्थेण ॥ ८ ॥

न खलु सर्गः संहारमन्तरेण, न संहारो वा सर्गमन्तरेण, न सृष्टिसंहारौ स्थितिमन्तरेण, न स्थितिः सर्गसंहारमन्तरेण । य एव हि सर्गः स एव संहारः, य एव संहारः स एव सर्गः,

---

द्वितीयशुक्लध्यानसंज्ञस्य शुद्धोपादानभूतस्य समस्तरागादिविकल्पोपाधिरहितस्वसंवेदनज्ञानपर्यायस्य नाशस्तस्मिन्नेव समये तदुभयाधारभूतपरमात्मद्रव्यस्य स्थितिरित्युक्तलक्षणोत्पादव्ययध्रौव्यत्रयेण संबन्धो भवतीति । एवमुत्पादव्ययध्रौव्यत्रयेणैकसमये यद्यपि पर्यायार्थिकनयेन परमात्मद्रव्यं परिणतं, तथापि द्रव्यार्थिकनयेन सत्तालक्षणमेव भवति । त्रिलक्षणमपि सत्सत्तालक्षणं कथं भण्यत इति चेत् "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" इति वचनात् । यथेदं परमात्मद्रव्यमेकसमयेनोत्पादव्ययध्रौव्यैः परिणतमेव सत्तालक्षणं भण्यते तथा सर्वद्रव्याणीत्यर्थः ॥ ७ ॥ एवं स्वरूपसत्तारूपेण प्रथमगाथा, महासत्तारूपेण द्वितीया, यथा द्रव्यं स्वतःसिद्धं तथा सत्तागुणोऽपीति कथनेन तृतीया, उत्पादव्ययध्रौव्यत्वेऽपि सत्तैव द्रव्यं भण्यत इति कथनेन चतुर्थीति गाथाचतुष्टयेन सत्तालक्षणविवरणमुख्यतया द्वितीयस्थलं गतम् । अथोत्पादव्ययध्रौव्याणां परस्परसापेक्षत्वं

है, सदा एक परिणतिप्रवाहकी अपेक्षा ध्रुव है, इस कारण परिणाम भी उत्पाद-व्यय-ध्रुवता संयुक्त है । जो परिणाम है, वही स्वभाव है, और द्रव्य स्वभावके साथ है, इसी कारण द्रव्य भी पूर्वोक्त तीन लक्षण-युक्त है । जैसे मोतियोंकी मालामें अपनी प्रभासे शोभायमान जो मोती हैं, वे पहले पहले मोतियोंकी अपेक्षा आगे आगेके मोती उत्पादरूप है, पिछले पिछले व्ययरूप हैं, और सबमें सूत एक है, इस अपेक्षासे ध्रुव हैं । इसी प्रकार द्रव्यमें उत्तर परिणामोंकी अपेक्षा उत्पाद, पूर्वपरिणामोंकी अपेक्षा व्यय, और द्रव्य प्रवाहकी अपेक्षा ध्रौव्य है । इस तरह द्रव्य तीन लक्षण सहित है ॥ ७ ॥ अब कहते हैं, कि उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्य ये आपसमें पृथक् नहीं है, एक ही हैं—[**भङ्गविहीनः**] व्यय रहित [**भवः**] उत्पाद [**न**] नहीं होता, [**वा**] तथा [**संभवविहीनः**] उत्पाद रहित [**भङ्गः**] व्यय [**नास्ति**] नहीं होता, [**च**] और [**उत्पादः**] उत्पाद [**अपि**] तथा [**भङ्गः**] व्यय ये

यावेव सर्गसंहारौ सैव स्थितिः, यैव स्थितिस्तावेव सर्गसंहाराविति । तथाहि–य एव कुम्भस्य सर्गः स एव मृत्पिण्डस्य संहारः, भावस्य भावान्तराभावस्वभावेनावभासनात् । य एव च मृत्पिण्डस्य संहारः, स एव कुम्भस्य सर्गः, अभावस्य भावान्तरभावस्वभावेनावभासनात् । यौ च कुम्भपिण्डयोः सर्गसंहारौ सैव मृत्तिकायाः स्थितिः, व्यतिरेकमुखेनैवान्वयस्य प्रकाशनात् । यैव च मृत्तिकायाः स्थितिस्तावेव कुम्भपिण्डयोः सर्गसंहारौ, व्यतिरेकाणामन्वयानतिक्रमणात् । यदि पुनर्नेदमेवमिष्येत तदान्यः सर्गोऽन्यः संहारः अन्या स्थितिरित्यायाति । तथा सति हि केवलं सर्गं मृगयमाणस्य कुम्भस्योत्पादनकारणाभावादभवनिरेव भवेत्, असदुत्पाद एव वा । तत्र कुम्भस्याभवनौ सर्वेषामेव भावानामभवनिरेव भवेत् । असदुत्पादे वा व्योमप्रसवादीना-

दर्शयति—**ण भवो भंगविहीणो** निर्दोषपरमात्मरुचिरूपसम्यक्त्वपर्यायस्य भव उत्पादः तद्विपरीतमिथ्यात्वपर्यायस्य भङ्गं विना न भवति । कस्मात् । उपादानकारणाभावात्, मृत्पिण्डभङ्गाभावे घटोत्पाद इव । द्वितीयं च कारणं मिथ्यात्वपर्यायभङ्गस्य सम्यक्त्वपर्यायरूपेण प्रतिभासनात् । तदपि कस्मात् । "भावान्तरस्वभावरूपो भवत्यभावः" इति वचनात् । घटोत्पादरूपेण मृत्पिण्डभङ्ग इव । यदि पुनर्मिथ्यात्वपर्यायभङ्गस्य सम्यक्त्वोपादानकारणभूतस्याभावेऽपि शुद्धात्मानुभूतिरुचिरूपसम्यक्त्वस्योत्पादो भवति, तर्ह्युपादानकारणरहितानां खपुष्पादीनामप्युत्पादो भवतु । न च तथा । **भंगो वा णत्थि संभवविहीणो** परद्रव्योपादेयरूपमिथ्यात्वस्य भङ्गो नास्ति । कथंभूतः । पूर्वोक्तसम्यक्त्वपर्यायसंभवरहितः । कस्मादिति चेत् । भङ्गकारणाभावात् घटोत्पादाभावे मृत्पिण्डस्येव । द्वितीयं च कारणं सम्यक्त्वपर्यायोत्पादस्य मिथ्यात्वपर्याया-

दोनों [**विना ध्रौव्येण अर्थेन**] नित्य स्थिररूप पदार्थके विना [**न**] नहीं होते । **भावार्थ–** उत्पाद व्ययके विना नहीं होता, व्यय उत्पादके विना नहीं होता, उत्पाद और व्यय ये दोनों ध्रौव्यके विना नहीं होते, तथा ध्रौव्य उत्पाद व्ययके विना नहीं होता । इस कारण जो उत्पाद है, वही व्यय है, जो व्यय है, वही उत्पाद है, जो उत्पाद व्यय है, वही ध्रुवता है । इस कथनको दृष्टान्तसे दिखाते हैं– जैसे जो घड़ेका उत्पाद है, वही मिट्टीके पिंडका व्यय (नाश) है, क्योंकि एक पर्यायका उत्पाद (उत्पन्न होना) दूसरे पर्यायके नाशसे होता है । जो घड़े और पिंडका उत्पाद और व्यय है वही मिट्टीकी ध्रुवता है, क्योंकि पर्यायके विना द्रव्यकी स्थिति देखनेमें नहीं आती । जो माटीकी ध्रुवता है, वही घड़े और पिंडका उत्पाद-व्यय है, क्योंकि द्रव्यकी थिरताके विना पर्याय हो नहीं सकते । इस कारण ये तीनों एक हैं । ऐसा न मानें, तो वस्तुका स्वभाव तीन लक्षणवाला सिद्ध नहीं हो सकता । जो केवल उत्पाद ही माना जाय, तो दो दोष लगते है–एक तो कार्यकी उत्पत्ति न होवे, दूसरे असत्का उत्पाद हो जाय । यही दिखाते हैं—घड़ेका जो उत्पाद है वह मृत्पिण्डके व्ययसे है, यदि केवल उत्पाद ही माना जावे, व्यय न मानें, तो उत्पादके कारणके अभावसे घड़ेकी उत्पत्ति ही न हो सके, और जिस तरह घट-कार्य नहीं हो सकता, वैसे सब पदार्थ भी उत्पन्न नहीं हो सकते । यह पहला दूषण है । दूसरा दोष दिखाते हैं—जो ध्रुवपना सहित वस्तुके विना उत्पाद हो सके, तो असत् वस्तुका उत्पाद हो

मप्युत्पादः स्यात् । तथा केवलं संहरमारभमाणस्य मृत्पिण्डस्य संहारकारणाभावादसंहरणिरेव भवेत्, सदुच्छेद एव वा । तत्र मृत्पिण्डस्यासंहरणौ सर्वेषामेव भावानामसंहरणिरेव भवेत् । सदुच्छेदे वा संविदादीनामप्युच्छेदः स्यात् । तथा केवलां स्थितिमुपगच्छन्त्या मृत्तिकाया व्यतिरेकाक्रान्तस्थित्यन्वयाभावादस्थानिरेव भवेत्, क्षणिकनित्यत्वमेव वा । तत्र मृत्तिकाया अस्थानौ सर्वेषामेव भावानामस्थानिरेव भवेत् । क्षणिकनित्यत्वे वा चित्तक्षणानामपि नित्यत्वं स्यात् । तत उत्तरोत्तरव्यतिरेकाणां सर्गेण पूर्वपूर्वव्यतिरेकाणां संहारेणान्वयस्यावस्थानेनाविनाभूतमुद्योतमाननिर्विघ्नत्रैलक्षण्यलाञ्छनं द्रव्यमवश्यमनुमन्तव्यम् ॥ ८ ॥

अथोत्पादादीनां द्रव्यादनर्थान्तरत्वं संहरति—

उप्पादट्ठिदिभंगा विज्जंते पज्जएसु पज्जाया ।
दव्वं हि संति णियदं तम्हा दव्वं हवदि सव्वं ॥ ९ ॥

भावरूपेण दर्शनात् । तदपि कस्मात् । पर्यायस्य पर्यायान्तराभावरूपत्वाद्, घटपर्यायस्य मृत्पिण्डाभावरूपेणेव । यदि पुनः सम्यक्त्वोत्पादनिरपेक्षो भवति मिथ्यात्वपर्यायाभावस्तर्ह्यभाव एव न स्यात् । कस्मात् । अभावकारणाभावादिति, घटोत्पादाभावे मृत्पिण्डाभावस्य इव । **उप्पादो वि य भंगो ण विणा दव्वेण अत्थेण** परमात्मरुचिरूपसम्यक्त्वस्योत्पादस्तद्विपरीतमिथ्यात्वस्य भङ्गो वा नास्ति । कं विना । तदुभयाधारभूतपरमात्मरूपद्रव्यपदार्थं विना । कस्मात् । द्रव्याभावे व्ययोत्पादाभावान्मृत्तिकाद्रव्याभावे घटोत्पादमृत्पिण्डभङ्गाभावादिति । यथा सम्यक्त्वमिथ्यात्वपर्यायद्वये परस्परसापेक्षमुत्पादादित्रयं दर्शितं तथा सर्वद्रव्यपर्यायेषु द्रष्टव्यमित्यर्थः ॥ ८ ॥ अथोत्पादव्ययध्रौव्याणि द्रव्येण सह परस्पराधाराधेयभावत्वादन्वयद्रव्यार्थिकनयेन

जाना चाहिये, ऐसा होनेपर आकाशके फूल भी उत्पन्न होने लगेंगे । और जो केवल व्यय ही मानेंगे, तो भी दो दूषण आवेंगे । एक तो नाश ही का अभाव हो जावेगा, क्योंकि मृत्पिंडका नाश घड़ेके उत्पन्न होनेसे है, अर्थात् यदि केवल नाश ही मानेंगे, तो नाशका अभाव सिद्ध होगा, क्योंकि नाश उत्पादके विना नहीं होता । दूसरे, सत्का नाश होवेगा, और सत्के नाश होनेसे ज्ञानादिकका भी नाश होकर धारणा न होगी । और केवल ध्रुवके नाश माननेसे भी दो दूषण लगते हैं । एक तो पर्यायका नाश होना है, दूसरे, अनित्यको नित्यपना होता है । जो पर्यायका नाश होगा, तो पर्यायके विना द्रव्यका अस्तित्व नहीं है, इसलिये द्रव्यके नाशका प्रसंग आता है, जैसे मृत्तिकाका पिंड घटादि पर्यायोंके विना नहीं होता । और जो अनित्यको नित्यत्व होगा, तो मनकी गतिको भी नित्यता होगी । इसलिये इन सब कारणोंसे यह बात सिद्ध हुई, कि केवल एकके माननेसे वस्तु सिद्ध नहीं होती है । इसलिये आगामी पर्यायका उत्पाद, पूर्व पर्यायका व्यय, मूलवस्तुकी स्थिरता, इन तीनोंकी एकतासे ही द्रव्यका लक्षण निर्विघ्न सधता है ॥ ८ ॥ आगे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों भावोंको द्रव्यसे अभेदरूप सिद्ध करते हैं—[**उत्पादस्थितिभङ्गाः**] उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य [**पर्यायेषु**] द्रव्यके पर्यायोंमें [**विद्यन्ते**] रहते हैं, और [**हि**] निश्चयकरके वे [**पर्यायाः**] पर्याय [**द्रव्ये**] द्रव्यमें [**सन्ति**]

उत्पादस्थितिभङ्गा विद्यन्ते पर्यायेषु पर्यायाः ।
द्रव्यं हि सन्ति नियतं तस्माद्द्रव्यं भवति सर्वम् ॥ ९ ॥

उत्पादव्ययध्रौव्याणि हि पर्यायानालम्बन्ते, ते पुनः पर्याया द्रव्यमालम्बन्ते । ततः समस्तमप्येतदेकमेव द्रव्यं न पुनर्द्रव्यान्तरम् । द्रव्यं हि तावत्पर्यायैरालम्ब्यते । समुदायिनः समुदायात्मकत्वात् पादपवत् । यथा हि समुदायी पादपः स्कन्धमूलशाखासमुदायात्मकः स्कन्धमूलशाखाभिरालम्बित एव प्रतिभाति, तथा समुदायि द्रव्यं पर्यायसमुदायात्मकं पर्यायैरालम्बितमेव प्रतिभाति । पर्यायास्तूत्पादव्ययध्रौव्यैरालम्ब्यन्ते उत्पादव्ययध्रौव्याणामंशधर्मत्वात् बीजाङ्कुरपादपत्ववत् । यथा किलांशिनः पादपस्य बीजाङ्कुरपादपत्वलक्षणास्त्रयोंऽशा भङ्गोत्पादध्रौव्यलक्षणैरात्मधर्मैरालम्बिताः सममेव प्रतिभान्ति, तथांशिनो द्रव्यस्योच्छिद्यमानोत्पद्यमानावतिष्ठमानभावलक्षणास्त्रयोंऽशा भङ्गोत्पादध्रौव्यलक्षणैरात्मधर्मैरालम्बिताः सममेव प्रतिभान्ति । यदि पुनर्भङ्गोत्पादध्रौव्याणि द्रव्यस्यैवेष्यन्ते तदा समग्रमेव विप्लवते । तथाहि भङ्गे तावत् क्षणभङ्गकटाक्षितानामेकक्षण एव सर्वद्रव्याणां संहरणाद्द्रव्यशून्यतावतारः समुच्छेदो वा । उत्पादे

द्रव्यमेव भवतीत्युपदिशति—**उप्पादट्ठिदिभंगा** विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावात्मतत्त्वनिर्विकारस्वसंवेदनज्ञानरूपेणोत्पादस्तस्मिन्नेव क्षणे स्वसंवेदनज्ञानविलक्षणाज्ञानपर्यायरूपेण भङ्गः, तदुभयाधारात्मद्रव्यत्वावस्थारूपेण स्थितिरित्युक्तलक्षणास्त्रयो भङ्गाः कर्तारः **विज्जंते** विद्यन्ते तिष्ठन्ति । केषु । **पज्जएसु** सम्यक्त्वपूर्वकनिर्विकारस्वसंवेदनज्ञानपर्याये तावदुत्पादस्तिष्ठति स्वसंवेदनज्ञानपर्यायरूपेण भङ्गस्तदुभयाधारात्मद्रव्यत्वावस्थारूपपर्यायेण ध्रौव्यं चेत्युक्तलक्षणस्वकीयस्वकीयपर्यायेषु **पज्जाया दव्वं हि संति** ते चोक्तलक्षणज्ञानाज्ज्ञानतदुभयाधारात्मद्रव्यत्वावस्थारूपपर्याया हि स्फुटं द्रव्यं सन्ति **णियदं** निश्चितं प्रदेशाभेदेऽपि स्वकीयस्वकीयसंज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेन **तम्हा दव्वं हवदि सव्वं** यतो निश्चयाधाराधेयभावेन तिष्ठन्त्युत्पादादयस्तस्मात्कारणादुत्पादादित्रयं स्वसंवेदनज्ञानादिपर्यायत्रयं चान्वयद्रव्यार्थिकनयेन सर्वं द्रव्यं भवति ।

रहते हैं । [**तस्मात्**] इस कारणसे [**नियतं**] यह निश्चय है, कि [**सर्वं**] उत्पादादि सब [**द्रव्यं**] द्रव्य ही [**भवति**] हैं, जुदे नहीं है । **भावार्थ**—उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यभाव पर्यायके आश्रित है और वे पर्याय द्रव्यके आधार हैं, पृथक् नहीं हैं, क्योंकि द्रव्य पर्यायात्मक है । जैसे वृक्ष स्कंध (पिंड), शाखा और मूलादिरूप है, परन्तु ये स्कंध-मूल-शाखादि वृक्षसे जुदा पदार्थ नहीं हैं, इसी प्रकार उत्पादादिकसे द्रव्य पृथक् नहीं है, एक ही है । द्रव्य अंशी है, और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य अंश है । जैसे वृक्ष अंशी है, बीज अंकुर वृक्षत्व अंश हैं । ये तीनों अंश उत्पाद-व्यय और ध्रुवपनेको लिये हुए हैं, बीजका नाश अंकुरका उत्पाद और वृक्षत्वका ध्रुवपना है । इसी प्रकार अंशी द्रव्यके उत्पद्यमान विनाशिक और स्थिरतारूप—ये तीन पर्यायरूप अंश हैं, सो उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वसे संयुत हैं । उत्पाद-व्यय-ध्रुवभाव पर्यायोंमें होते है । जो द्रव्यमें होवें, तो सबका ही नाश हो जावे । इसीको स्पष्ट रीतिसे दिखाते हैं—जो द्रव्यका नाश होवे, तो सब शून्य हो जावे, जो द्रव्यका उत्पाद होवे, तो समय समयमें एक एक द्रव्यके

तु प्रतिसमयोत्पादमुद्रितानां प्रत्येकं द्रव्याणामानन्त्यमसदुत्पादो वा । ध्रौव्ये तु क्रमभुवां भावानामभावाद्द्रव्यस्याभावः क्षणिकत्वं वा । अत उत्पादव्ययध्रौव्यैरालम्ब्यन्तां पर्यायाः पर्यायैश्च द्रव्यमालम्ब्यतां, येन समस्तमप्येतदेकमेव द्रव्यं भवति ॥ ९ ॥

अथोत्पादादीनां क्षणभेदमुदस्य द्रव्यत्वं द्योतयति—

समवेदं खलु दव्वं संभवठिदिणाससण्णिदट्ठेहिं ।
एक्कम्मि चेव समये तम्हा दव्वं खु तत्तिदयं ॥ १० ॥

समवेतं खलु द्रव्यं संभवस्थितिनाशसंज्ञितार्थैः ।
एकस्मिन् चैव समये तस्माद्द्रव्यं खलु तत्त्रियम् ॥ १० ॥

इह हि यो नाम वस्तुनो जन्मक्षणः स जन्मनैव व्याप्तत्वात् स्थितिक्षणो नाशक्षणश्च न भवति । यश्च स्थितिक्षणः स खलूभयोरन्तरालदुर्ललितत्वाज्जन्मक्षणो नाशक्षणश्च न भवति । यश्च नाशक्षणः

पूर्वोक्तोत्पादादित्रयस्य तथैव स्वसंवेदनज्ञानादिपर्यायत्रयस्य चानुगताकारेणान्वयरूपेण यदाधारभूतं तदन्वयद्रव्यं भण्यते, तद्विषयो यस्य स भवत्यन्वयद्रव्यार्थिकनयः यथेदं ज्ञानाज्ञानपर्यायद्वये भङ्गत्रयं व्याख्यातं तथापि सर्वद्रव्यपर्यायेषु यथासंभवं ज्ञातव्यमित्यभिप्रायः ॥ ९ ॥ अथोत्पादादीनां पुनरपि प्रकारान्तरेण द्रव्येण सहाभेदं समर्थयति समयभेदं च निराकरोति—**समवेदं खलु दव्वं** समवेतमेकीभूतमभिन्नं भवति खलु स्फुटम् । किम् । आत्मद्रव्यम् । कैः सह **संभवठिदिणाससण्णिदट्ठेहिं** सम्यक्त्वज्ञानपूर्वकनिश्चल-

उत्पन्न होनेसे अनन्त द्रव्य हो जावें, और जो द्रव्य ध्रुव होवे, तो पर्यायका नाश होवे, और पर्यायके नाशसे द्रव्यका भी नाश हो जावे । इसलिये उत्पादादि द्रव्यके आश्रित नहीं हैं, पर्यायके आश्रित हैं । पर्याय उत्पन्न भी होते है, नष्ट भी होते हैं, और वस्तुकी अपेक्षा स्थिर भी रहते हैं । इस कारण वे पर्यायमें हैं, पर्याय द्रव्यसे जुदे नहीं हैं, द्रव्य ही हैं । पर्यायकी अपेक्षा द्रव्योंमें उत्पादादिक तीन भाव जानना चाहिये ॥ ९ ॥ आगे इन उत्पादादिकोंमें समय भेद नहीं है, एक ही समयमें द्रव्यसे अभेदरूप होते हैं, यह प्रगट करते हैं—[**द्रव्यं**] वस्तु [**संभवस्थितिनाशसंज्ञितार्थैः**] उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य नामक भावोंसे [**खलु**] निश्चयकर [**समवेतं**] एकमेक है, जुदी नहीं है, [**च**] और वह [**एकस्मिन एव समये**] एक ही समयमें उनसे अभेदरूप परिणमन करती है । [**तस्मात्**] इस कारण [**खलु**] निश्चयकरके [**तत् त्रितयं**] वह उत्पादादिकत्रिक [**द्रव्यं**] द्रव्यस्वरूप है—एक ही है । **भावार्थ—**यहाँ कोई वितर्क करे, कि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य एक समयवर्ती हैं—यह सिद्धान्त ठीक नहीं हैं, इन तीनोंका समय जुदा जुदा है, क्योंकि जो समय उत्पादका है, वह उत्पाद ही से व्याप्त है, वह ध्रौव्य-व्ययका समय नहीं है । जो ध्रौव्यका समय है, वह उत्पाद-व्ययके मध्य है, इससे भी जुदा ही समय है । और जो नाशका समय है, उस समय उत्पाद-ध्रौव्य नहीं हो सकते । इस कारण यह समय भी पृथक् है । इस प्रकार इनके समय पृथक् पृथक् संभव होते है; सो इस कुतर्कका समाधान आचार्य महाराज इस प्रकार करते हैं कि, "जो द्रव्य आपही उत्पन्न होता, आप ही स्थिर होता, आप

स तूत्पाद्यावस्थाय च नश्यतो जन्मक्षणः स्थितिक्षणश्च न भवति। इत्युत्पादादीनां वितर्क्यमाणः क्षणभेदो हृदयभूमिमवतरति, अवतरत्येवं यदि द्रव्यमात्मनैवोत्पद्यते आत्मनैवावतिष्ठते आत्मनैव नश्यतीत्यभ्युपगम्यते। तत्तु नाभ्युपगतम्। पर्यायाणामेवोत्पादादयः कुतः क्षणभेदः। तथाहि—यथा कुलालदण्डचक्रचीवरारोप्यमाणसंस्कारसंनिधौ य एव वर्धमानस्य जन्मक्षणः स एव मृत्पिण्डस्य नाशक्षणः स एव च कोटिद्वयाधिरूढस्य मृत्तिकात्वस्य स्थितिक्षणः। तथा अन्तरङ्गबहिरङ्गसाधनारोप्यमाणसंस्कारसंनिधौ य एवोत्तरपर्यायस्य जन्मक्षणः स एव प्राक्तनपर्यायस्य नाशक्षणः स एव च कोटिद्वयाधिरूढस्य द्रव्यत्वस्य स्थितिक्षणः। यथा च वर्धमानमृत्पिण्डमृत्तिकात्वेषु प्रत्येकवर्तीन्युत्पादव्ययध्रौव्याणि त्रिस्वभावस्पर्शिन्यां मृत्तिकायां सामस्त्येनैकसमय एवावलोक्यन्ते, तथा उत्तरप्राक्तनपर्यायद्रव्यत्वेषु प्रत्येकवर्तीन्यप्युत्पादव्ययध्रौव्याणि त्रिस्वभावस्पर्शिनि द्रव्ये सामस्त्येनैकसमय एवावलोक्यन्ते। यथैव च वर्धमानपिण्डमृत्तिकात्ववर्तीन्युत्पादव्ययध्रौव्याणि मृत्तिकैव न वस्त्वन्तरं, तथैवोत्तरप्राक्तनपर्यायद्रव्यत्ववर्तीन्यप्युत्पादव्ययध्रौव्याणि द्रव्यमेव न खल्वर्थान्तरम् ॥ १० ॥

निर्विकारनिजात्मानुभूतिलक्षणवीतरागचारित्रपर्यायेणोत्पादः तथैव रागादिपरद्रव्यैकत्वपरिणतिरूपचारित्रपर्यायेण नाशस्तदुभयाधारात्मद्रव्यत्वावस्थारूपपर्यायेण स्थितिरित्युक्तलक्षणसंज्ञित्वोत्पादव्ययध्रौव्यैः सह। तर्हि किं बौद्धमतवद्भिन्नभिन्नसमये त्रयं भविष्यति। नैवम्। **एकम्मि चेव समये** अङ्गुलिद्रव्यस्य वक्रपर्यायवत्संसारिजीवस्य मरणकाले ऋजुगतिवत् क्षीणकषायचरमसमये केवलज्ञानोत्पत्तिवदयोगिचरमसमये मोक्षवच्चेत्येकस्मिन्समय एव। **तम्हा दव्वं खु तत्तिदयं** यस्मात्पूर्वोक्तप्रकारेणैकसमये भङ्गत्रयेण परिणमति तस्मात्संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेऽपि प्रदेशानामभेदात्त्रयमपि खु स्फुटं द्रव्यं भवति। यथेदं चारित्राचारित्रपर्याय-

---

ही नष्ट होता, तो अवश्य ही तीन समय होते, परंतु ऐसा नहीं है"। पर्यायसे उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य होते हैं, इस कारण एक ही समयमें सधते हैं। जैसे दंड, चक्र, सूत, कुंभकारादिके निमित्तसे घटके उत्पन्न होनेका जो समय है, वही मृत्पिण्डके नाशका समय है, और इन दोनों अवस्थाओंमें मृत्तिका अपने स्वभावको नहीं छोड़ती है, इसलिये उसी समय ध्रुवपना भी है। इसी प्रकार अंतरंग-बहिरंग कारणोंके होनेपर आगामी पर्यायके उत्पन्न होनेका जो समय है, वही पूर्व पर्यायके नाशका समय है, और इन दोनों अवस्थाओंमें द्रव्य अपने स्वभावको छोड़ता नहीं है, इसलिये उसी समय ध्रुव है। जैसे मृत्तिका द्रव्यमें घट, मृत्पिंड और मृत्तिकाभाव इन पर्यायोंसे एक ही समयमें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य है, उसी प्रकार पर्यायोंके द्वारा द्रव्यमें भी जानना चाहिये। पूर्व पर्यायका नाश, उत्तर पर्यायका उत्पाद, और द्रव्यतासे ध्रुवता, ये तीन भाव एक ही समयमें सधते हैं। हाँ, यदि द्रव्य ही उपजता, विनशता, तो एक समय अवश्य ही नहीं सधता, परंतु पर्यायकी अपेक्षा अच्छी तरह सधते हैं, कोई शंका नहीं रहती। और जैसे घट, मृत्पिंड, मृत्तिकाभावरूप उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य मृत्तिकासे जुदे पदार्थ नहीं हैं, मृत्तिकारूप ही हैं, उसी प्रकार उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य ये द्रव्यसे जुदा नहीं

अथ द्रव्यस्योत्पादव्ययध्रौव्याण्यनेकद्रव्यपर्यायद्वारेण चिन्तयति—

पाडुब्भवदि य अण्णो पज्जाओ पज्जओ वयदि अण्णो ।
दव्वस्स तं पि दव्वं णेव पणट्ठं ण उप्पण्णं ॥ ११ ॥
प्रादुर्भवति चान्यः पर्यायः पर्यायो व्येति अन्यः ।
द्रव्यस्य तदपि द्रव्यं नैव प्रणष्टं नोत्पन्नम् ॥ ११ ॥

इह हि यथा किलैकस्त्र्यणुकः समानजातीयोऽनेकद्रव्यपर्यायो विनश्यत्यन्यश्चतुरणुकः प्रजायते, ते तु त्रयश्चत्वारो वा पुद्गला अविनष्टानुत्पन्ना एवावतिष्ठन्ते । तथा सर्वेऽपि समानजातीया द्रव्यपर्याया विनश्यन्ति प्रजायन्ते च । समानजातीनि द्रव्याणि त्वविनष्टानुत्पन्नान्येवावतिष्ठन्ते । यथा चैको मनुष्यत्वलक्षणोऽसमानजातीयो विनश्यत्यन्यस्त्रिदशत्वलक्षणः प्रजायते तौ च जीवपुद्गलौ अविनष्टानुत्पन्नावेवातिष्ठेते, तथा सर्वेऽप्यसमानजातीया द्रव्यपर्याया विनश्यन्ति

द्रये भङ्गत्रयमभेदेन दर्शितं तथा सर्वद्रव्यपर्यायेष्ववबोद्धव्यमित्यर्थः ॥ १० ॥ एवमुत्पादव्ययध्रौव्यरूपलक्षणव्याख्यानमुख्यतया गाथात्रयेण तृतीयस्थलं गतम् । अथ द्रव्यपर्यायेणोत्पादव्ययध्रौव्याणि दर्शयति— **पाडुब्भवदि य** प्रादुर्भवति च जायते **अण्णो** अन्यः कश्चिदपूर्वानन्तज्ञानसुखादिगुणास्पदभूतः शाश्वतिकः । स कः । **पज्जाओ** परमात्मावाप्तिरूपः स्वभावद्रव्यपर्यायः **पज्जओ वयदि अण्णो** पर्यायो व्येति विनश्यति । कथंभूतः । अन्यः पूर्वोक्तमोक्षपर्यायाद्भिन्नो निश्चयरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिरूपस्यैव मोक्षपर्यायस्योपादानकारणभूतः । कस्य संबन्धी पर्यायः । **दव्वस्स** परमात्मद्रव्यस्य । **तं पि दव्वं** तदपि परमात्मद्रव्यं **णेव पणट्ठं ण उप्पण्णं** शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन नैव नष्टं न चोत्पन्नम् । अथवा संसारिजीवापेक्षया देवादिरूपो विभावद्रव्यपर्यायो जायते मनुष्यादिरूपो विनश्यति तदेव जीवद्रव्यं निश्चयेन न चोत्पन्नं न च विनष्टं, पुद्गलद्रव्यं वा द्व्यणुकादिस्कन्धरूपस्वजातीयविभावद्रव्यपर्यायाणां विनाशोत्पादेऽपि निश्चयेन न चोत्पन्नं न च

हैं, द्रव्यस्वरूप ही है ॥ १० ॥ आगे अनेक द्रव्योंके संयोगसे जो पर्याय होते हैं, उनके द्वारा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यका निरूपण करते हैं—[**द्रव्यस्य**] समान जातिवाले द्रव्यका [**अन्यः पर्यायः**] अन्य पर्याय [**प्रादुर्भवति**] उत्पन्न होता है, [**च**] और [**अन्यः पर्यायः**] दूसरा पर्याय [**व्येति**] विनष्ट होता है, [**तदपि**] तो भी [**द्रव्यं**] समान तथा असमानजातीय द्रव्य [**नैव प्रणष्टं**] न तो नष्ट ही हुआ है, और [**न उत्पन्नं**] और न उत्पन्न हुआ है, द्रव्यपनेसे ध्रुव है । **भावार्थ—** संयोगवाले द्रव्यपर्याय दो प्रकारके हैं, एक समानजातीय और दूसरे असमानजातीय । जैसे तीन परमाणुओंका समानजातीय स्कंध (पिंड) पर्याय नष्ट होता है, और चार परमाणुओंका स्कन्ध उत्पन्न होता है, परंतु परमाणुओंसे न उत्पन्न होता है, और न नष्ट होता है, ध्रुव है । इसी प्रकार सब जातिके द्रव्यपर्याय उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप जानना चाहिये । और जैसे जीव पुद्गलके संयोगसे असमान जातिका मनुष्यरूप द्रव्यपर्याय नष्ट होता है, और देवरूप द्रव्यपर्याय उत्पन्न होता है, परंतु द्रव्यत्वकी अपेक्षासे जीव-पुद्गल न उत्पन्न होते हैं, और न नष्ट होते हैं, और ध्रुव हैं, इसी प्रकार और

प्रजायन्ते च असमानजातीनि द्रव्याणि स्वविनष्टानुत्पन्नान्येवावतिष्ठन्ते । एवमात्मना ध्रुवाणि द्रव्यपर्यायद्वारेणोत्पादव्ययीभूतान्युत्पादव्ययध्रौव्याणि द्रव्याणि भवन्ति ॥ ११ ॥

अथ द्रव्यस्योत्पादव्ययध्रौव्याण्येकद्रव्यपर्यायद्वारेण चिन्तयति—

परिणमदि सयं दव्वं गुणदो य गुणंतरं सदविसिट्ठं ।
तम्हा गुणपज्जाया भणिया पुण दव्वमेव त्ति ॥ १२ ॥
परिणमति स्वयं द्रव्यं गुणतश्च गुणान्तरं सदविशिष्टम् ।
तस्माद्गुणपर्याया भणिताः पुनः द्रव्यमेवेति ॥ १२ ॥

एकद्रव्यपर्याया हि गुणपर्यायाः, गुणपर्यायाणामेकद्रव्यत्वात् । एकद्रव्यत्वं हि तेषां सहकारफलवत् । यथा किल सहकारफलं स्वयमेव हरितभावात् पाण्डुभावं परिणमत्पूर्वोत्तरप्रवृत्तहरितपाण्डुभावाभ्यामनुभूतात्मसत्ताकं हरितपाण्डुभावाभ्यां सममविशिष्टसत्ताकतयैकमेव वस्तु न वस्त्वन्तरं, तथा द्रव्यं स्वयमेव पूर्वावस्थावस्थितगुणादुत्तरावस्थावस्थितगुणं परिण-

विनष्टमिति । ततः स्थितं यतः कारणादुत्पादव्ययध्रौव्यरूपेण द्रव्यपर्यायाणां विनाशोत्पादेऽपि द्रव्यस्य विनाशो नास्ति, ततः कारणाद् द्रव्यपर्याया अपि द्रव्यलक्षणं भवन्तीत्यभिप्रायः ॥ ११ ॥ अथ द्रव्यस्योत्पादव्ययध्रौव्यादिगुणपर्यायमुख्यत्वेन प्रतिपादयति—**परिणमदि सयं दव्वं** परिणमति स्वयं स्वयमेवोपादानकारणभूतं जीवद्रव्यं कर्तृ । कं परिणमति । **गुणदो य गुणंतरं** निरुपमरागस्वसंवेदनगुणात्केवलज्ञानोत्पत्तिबीजभूतात्सकाशात्सकलविमलकेवलज्ञानगुणान्तरम् । कथंभूतं सत्परिणमति । **सदविसिट्ठं** स्वकीयस्वरूपत्वाच्चिद्रूपास्तित्वादविशिष्टमभिन्नम् । **तम्हा गुणपज्जाया भणिया पुण दव्वमेव त्ति** तस्मात् कारणान्न केवलं पूर्वसूत्रोदिताः द्रव्यपर्यायाः द्रव्यं भवन्ति, गुणरूपपर्याया गुणपर्याया भण्यन्ते तेऽपि द्रव्यमेव भवन्ति । अथवा संसारिजीवद्रव्यं मतिस्मृत्यादिविभावगुणं त्यक्त्वा श्रुतज्ञानादिविभावगुणान्तरं परिणमति,

भी असमानजातीय द्रव्यपर्यायोंको उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप जानना चाहिये । 'द्रव्य' पर्यायकी अपेक्षा उत्पाद-व्ययस्वरूप है, और द्रव्यपनेकी अपेक्षा ध्रुवरूप है । उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य, ये तीनों द्रव्यसे अभेदरूप हैं, इसलिये द्रव्य ही हैं, अन्य वस्तुरूप नहीं हैं ॥ ११ ॥ आगे एक द्रव्यपर्याय-द्वारसे उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य दिखलाते हैं—[**सदविशिष्टं**] अपने स्वरूपास्तित्वसे अभिन्न [**द्रव्यं**] सत्तारूप वस्तु [**स्वयं**] आप ही [**गुणतः**] एक गुणसे [**गुणान्तरं**] अन्यगुणरूप [**परिणमति**] परिणमन करती है । [**तस्मात्**] इस कारण [**च पुनः**] फिर [**गुणपर्यायाः**] गुणोंके पर्याय [**द्रव्यमेव**] द्रव्य ही हैं [**इति भणिताः**] ऐसा भगवान्ने कहा है । **भावार्थ**—एक द्रव्यके जो पर्याय हैं, वे गुणपर्याय हैं । जैसे आमका जो फल हरे गुणरूप परिणमन करता है, वही अन्यकालमें पीतभावरूपमें परिणम जाता है, परंतु वह आम अन्य द्रव्य नहीं हो जाता, गुणरूप परिणमनसे भेद युक्त होता है । इसी प्रकार द्रव्य पूर्व अवस्थामें रहनेवाले गुणसे अन्य अवस्थाके गुणरूप परिणमन करता है, परंतु उक्त पूर्व-उत्तर अवस्थासे द्रव्य अन्यरूप नहीं होता, गुणके परिणमनसे भेद होता है,

मत्पूर्वोत्तरावस्थावस्थितगुणाभ्यां ताभ्यामनुभूतात्मसत्ताकं पूर्वोत्तरावस्थितगुणाभ्यां सममविशिष्टसत्ताकतयैकमेव द्रव्यं न द्रव्यान्तरम् । यथैव चोत्पद्यमानं पाण्डुभावेन, व्ययमानं हरितभावेनावतिष्ठमानं सहकारफलत्वेनोत्पादव्ययध्रौव्याण्येकवस्तुपर्यायद्वारेण सहकारफलं तथैवोत्पद्यमानमुत्तरावस्थावस्थितगुणेन, व्ययमानं पूर्वावस्थावस्थितगुणेनावतिष्ठमानं द्रव्यत्वगुणेनोत्पादव्ययध्रौव्याण्येकद्रव्यपर्यायद्वारेण द्रव्यं भवति ॥ १२ ॥

अथ सत्ताद्रव्ययोरनर्थान्तरत्वेन युक्तिमुपन्यस्यति—

ण हवदि जदि सद्दव्वं असद्धुवं हवदि तं कहं दव्वं ।
हवदि पुणो अण्णं वा तम्हा दव्वं सयं सत्ता ॥ १३ ॥

न भवति यदि सद्द्रव्यमसद्ध्रुवं भवति तत्कथं द्रव्यम् ।
भवति पुनरन्यद्वा तस्माद्द्रव्यं स्वयं सत्ता ॥ १३ ॥

यदि हि द्रव्यं स्वरूपत एव सन्न स्यात्तदा द्वितयी गतिः असद्वा भवति, सत्तातः पृथग्वा

पुद्गलद्रव्यं वा पूर्वोक्तशुक्लवर्णादिगुणं त्यक्त्वा रक्तादिगुणान्तरं परिणमति हरितगुणं त्यक्त्वा पाण्डुरगुणान्तरमात्रफलमिवेति भावार्थः ॥१२॥ एवं स्वभावविभावरूपा द्रव्यपर्याया गुणपर्यायाश्च नयविभागेन द्रव्यलक्षणं भवन्ति इति कथनमुख्यतया गाथाद्वयेन चतुर्थस्थलं गतम् । अथ सत्ताद्रव्ययोरभेदविषये पुनरपि प्रकारान्तरेण युक्तिं दर्शयति—**ण हवदि जदि सद्दव्वं** परमचैतन्यप्रकाशरूपेण स्वरूपेण स्वरूपसत्तास्तित्वगुणेन यदि चेत् सन्न भवति । किं कर्तृ । परमात्मद्रव्यं तदा **असद्धुवं होदि** असदविद्यमानं भवति ध्रुवं निश्चितम् । अविद्यमानं सत् **तं कहं दव्वं** तत्परमात्मद्रव्यं कथं भवति । किंतु नैव । स च प्रत्यक्षविरोधः । कस्मात् । स्वसंवेदनज्ञानेन गम्यमानत्वात् । अथाविचारितरमणीयन्यायेन सत्तागुणाभावेऽप्यस्तीति चेत् तत्र विचार्यते—यदि केवलज्ञानदर्शनगुणाविनाभूतस्वकीयस्वरूपास्तित्वात्पृथग्भूता तिष्ठति तदा स्वरूपास्तित्वं नास्ति स्वरूपा-

---

द्रव्य तो दोनों अवस्थाओंमें एक ही है । और जैसे आम पीलेपनेसे उत्पन्न होता है, हरेपनेसे नष्ट होता है, तथा आम्रपनेसे ध्रुव है, परंतु ये उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य एक द्रव्यपर्यायरूप आमसे जुदे नहीं है, आम ही है । इसी प्रकार द्रव्य उत्तर अवस्थासे उत्पन्न होता है, पूर्व अवस्थासे नष्ट होता है, तथा द्रव्यपनेसे ध्रुव है, परंतु ये उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य एक द्रव्यपर्यायके द्वारा द्रव्यसे जुदे नहीं हैं, द्रव्य ही हैं । ये गुणपर्यायमें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य जानने चाहिये ॥ १२ ॥ आगे सत्ता और द्रव्यका अभेद दिखलाते हैं—[**यदि**] जो [**द्रव्यं**] गुणपर्यायात्मक वस्तु [**सत्**] अस्तित्वरूप [**न भवति**] नहीं हो [**तदा**] तो [**ध्रुवं**] ध्रुव अर्थात् निश्चित सत्तारूप वस्तु [**असत्**] अवस्तुरूप [**भवति**] हो जावे, तथा [**तत्**] वह सत्ता रहित वस्तु [**द्रव्यं**] द्रव्य स्वरूप [**कथं**] कैसे [**भवति**] होवे, [**वा**] अथवा [**पुनः**] फिर [**अन्यत्**] सत्तासे भिन्न द्रव्य [**भवति**] होवे । [**तस्मात्**] इस कारण [**द्रव्यं**] द्रव्य [**स्वयं सत्ता**] आप ही सत्तास्वरूप है, भेद नहीं है । **भावार्थ**—जो द्रव्य सत्तारूप न होवे, तो दोष आते हैं । या तो द्रव्य असत् होता है, या सत्तासे जुदा होता है ।

भवति। तत्रासद्भवद्ध्रौव्यस्यासंभवादात्मानमधारयद्द्रव्यमेवास्तं गच्छेत्। सत्तातः पृथग्भवत् सत्तामन्तरेणात्मानं धारयत्तावन्मात्रप्रयोजनां सत्तामेवास्तं गमयेत्। स्वरूपतस्तु सद्भवद्ध्रौव्यस्य संभवादात्मानं धारयद्द्रव्यमुद्गच्छेत्। सत्तातोऽपृथग्भूत्वा चात्मानं धारयत्तावन्मात्रप्रयोजनां सत्तामुद्गमयेत्। ततः स्वयमेव द्रव्यं सत्त्वेनाभ्युपगन्तव्यं, भावभाववतोरपृथक्त्वेनानन्यत्वात्॥ १३॥

अथ पृथक्त्वान्यत्वलक्षणमुन्मुद्रयति—

पविभत्तपदेसत्तं पुधत्तमिदि सासणं हि वीरस्स।
अण्णत्तमतब्भावो ण तब्भवं होदि कधमेगं॥ १४॥

स्तित्वाभावे द्रव्यमपि नास्ति। **अथवा स्वकीयस्वरूपा**स्तित्वात्संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेऽपि प्रदेशरूपेणाभिन्नं तिष्ठति तदा संमतमेव। **अत्रावसरे सौगतमतानुसारी** कश्चिदाह–सिद्धपर्यायसत्तारूपेण शुद्धात्मद्रव्यमुपचारेणास्ति, न च मुख्यवृत्त्येति। परिहारमाह–सिद्धपर्यायोपादानकारणभूतपरमात्मद्रव्याभावे सिद्धपर्यायसत्तैव न संभवति वृक्षाभावे फलमिव। अत्र प्रस्तावे नैयायिकमतानुसारी कश्चिदाह—**हवदि पुणो अण्णं वा** तत्परमात्मद्रव्यं भवति पुनः किंतु सत्तायाः सकाशादन्यद्भिन्नं भवति पश्चात्सत्तासमवायात्सद्भवति। आचार्याः परिहारमाहुः–सत्तासमवायात्पूर्वं द्रव्यं सदसद्वा, यदि सत्तदा सत्तासमवायो वृथा पूर्वमेवास्तित्वं तिष्ठति, अथासत्तर्हि खपुष्पवदविद्यमानद्रव्येण सह कथं सत्तासमवायं करोति, करोतीति चेत्तर्हि खपुष्पेणापि सह सत्ताकर्तृसमवायं करोतु, न च तथा। **तम्हा दव्वं सयं सत्ता** तस्मादभेदनयेन शुद्धचैतन्यस्वरूपसत्तैव परमात्मद्रव्यं भवतीति। यथेदं परमात्मद्रव्येण सह शुद्धचेतनासत्ताया अभेदव्याख्यानं कृतं तथा सर्वेषां चेतनद्रव्याणां स्वकीयस्वकीयसत्तया सहाभेदव्याख्यानं कर्तव्यमित्यभिप्रायः॥ १३॥

अथ पृथक्त्वलक्षणं किमन्यत्वलक्षणं च किमिति पृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति—**पविभत्तपदेसत्तं पुधत्तं** पृथक्त्वं भवति पृथक्त्वाभिधानो भवति। किंविशिष्टम्। प्रकर्षेण विभक्तप्रदेशत्वं भिन्नप्रदेशत्वम्। किंवत्।

परंतु जो द्रव्य असत् होगा, तो सत्ताके विना ध्रुव नहीं होगा, जिससे कि द्रव्यके नाशका प्रसंग आ जावेगा। और यदि सत्तासे द्रव्य पृथक् हो, तो द्रव्य सत्ताके विना भी अपने स्वरूपको धारण करे, जिससे कि सत्ताका कुछ प्रयोजन ही न रहे, क्योंकि सत्ताका कार्य यही है, कि द्रव्यके स्वरूपका अस्तित्व करे, सो यदि द्रव्य ही अपने स्वरूपको जुदा धारण करेगा, तो सत्ताका फिर प्रयोजन ही क्या रहेगा? इस न्यायसे सत्ताका नाश होगा। परंतु जो द्रव्य सत्तारूप होगा, तो द्रव्य ध्रुव होगा, जिसके होनेसे द्रव्यका नाश न होगा। यदि सत्तासे द्रव्य पृथक् नहीं होगा, तो द्रव्य अपने स्वरूपको धारण करता हुआ, सत्ताके प्रयोजनको प्रगट करेगा, और सत्ताका नाश न होगा। इसलिये द्रव्य सत्‌रूप है। द्रव्य गुणी है, सत्ता गुण है। गुण-गुणीमें प्रदेश-भेद नहीं है, एक ही हैं॥ १३॥

सिद्धान्तमें भेद दो प्रकारके हैं, एक पृथक्त्व दूसरा अन्यत्व। आगे इन दोनोंका लक्षण कहते हैं—**[हि]** निश्चयसे **[वीरस्य]** महावीर भगवान्‌का **[इति]** ऐसा **[शासनं]** उपदेश है, कि

प्रविभक्तप्रदेशत्वं पृथक्त्वमिति शासनं हि वीरस्य ।
अन्यत्वमतद्भावो न तद्भवत् भवति कथमेकम् ॥ १४ ॥

प्रविभक्तप्रदेशत्वं हि पृथक्त्वस्य लक्षणम् । तत्तु सत्ताद्रव्ययोर्न संभाव्यते, गुणगुणिनोः प्रविभक्तप्रदेशत्वाभावात् शुक्लोत्तरीयवत् । तथाहि—यथा य एव शुक्लस्य गुणस्य प्रदेशास्त एवोत्तरीयस्य गुणिन इति तयोर्न प्रदेशविभागः, तथा य एव सत्ताया गुणस्य प्रदेशास्त एव द्रव्यस्य गुणिन इति तयोर्न प्रदेशविभागः । एवमपि तयोरन्यत्वमस्ति तल्लक्षणसद्भावात् । अतद्भावो ह्यन्यत्वस्य लक्षणं, तत्तु सत्ताद्रव्ययोर्विद्यत एव गुणगुणिनोस्तद्भावस्याभावात् शुक्लोत्तरीयवदेव । तथाहि—यथा यः किलैकचक्षुरिन्द्रियविषयमापद्यमानः समस्तेतरेन्द्रियग्रामगोचरमतिक्रान्तः शुक्लो गुणो भवति, न खलु तदखिलेन्द्रियग्रामगोचरीभूतमुत्तरीयं भवति, यच्च किलाखिलेन्द्रियग्रामगोचरीभूतमुत्तरीयं भवति, न खलु स एकचक्षुरिन्द्रियविषयमापद्यमानः समस्तेतरेन्द्रियग्रामगोचरमतिक्रान्तः शुक्लो गुणो भवतीति तयोस्तद्भावस्याभावः । तथा या

दण्डदण्डिवत् । इत्थंभूतं पृथक्त्वं शुद्धात्मद्रव्यशुद्धसत्तागुणयोर्न घटते, कस्माद्धेतोर्भिन्नप्रदेशाभावात् । कयोरिव । शुक्लवस्त्रशुक्लगुणयोरिव **इदि सासणं हि वीरस्स** इति शासनमुपदेश आज्ञेति । कस्य । वीरस्य वीराभिधानान्तिमतीर्थकरपरमदेवस्य । **अण्णत्तं** तथापि प्रदेशाभेदेऽपि मुक्तात्मद्रव्यशुद्धसत्तागुणयोरन्यत्वं भिन्नत्वं भवति । कथंभूतम् । **अतब्भावो** अतद्भावरूपं संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदस्वभावम् । यथा प्रदेशरूपेणाभेदस्तथा संज्ञादिलक्षणरूपेणाप्यभेदो भवतु को दोष इति चेत् । नैवम् । **ण तब्भवं होदि** तन्मुक्तात्मद्रव्यं

[प्रविभक्तप्रदेशत्वं] जिसमें द्रव्यके प्रदेश अत्यन्त भिन्न हों, वह **[पृथक्त्वं] पृथक्त्व** नामका भेद है । और **[अतद्भावः]** प्रदेशभेदके विना संज्ञा, संख्या, लक्षणादिसे जो गुण-गुणी-भेद है, सो **[अन्यत्वं] अन्यत्व** है । परंतु सत्ता और द्रव्य **[तद्भवं]** उसी भाव अर्थात् एक हीं स्वरूप **[न भवति]** नहीं है, फिर **[कथं एकं]** दोनों एक कैसे हो सकते हैं ? नहीं हो सकते । **भावार्थ—** जिस प्रकार दंड और दंडीमें प्रदेश-भेद है, उस प्रकारके प्रदेश-भेदको **पृथक्त्व** कहते हैं । यह 'पृथक्त्व' सत्तामें नहीं है, क्योंकि सत्ता और द्रव्यमें प्रदेश-भेद नहीं है । जैसे वस्त्र और उसके शुक्ल गुणमें प्रदेश-भेद नहीं है, अभेद है । उसी प्रकार सत्ता और द्रव्यमें अभेद है, परंतु संज्ञा, संख्या, लक्षणादिके भेदसे जो द्रव्यका स्वरूप है, वह सत्ताका स्वरूप नहीं है, और जो सत्ताका स्वरूप है, वह द्रव्यका स्वरूप नहीं है । इस प्रकारके गुण-गुणी भेदको **अन्यत्व** कहते है । यह अन्यत्व भेद सत्ता और द्रव्यमें रहता है । यहाँ प्रश्न होता है कि, जैसे सत्ता और द्रव्यसे प्रदेश-भेद नहीं है, वैसे ही सत्ता–द्रव्यमें स्वरूप भेद भी नहीं है, फिर अन्यत्व-भेदके कहनेकी क्या आवश्यकता है ? सो इसका समाधान यह है, कि 'सत्ता और द्रव्यमें स्वरूप-भेद नहीं है, एक ही भाव है', ऐसा कहना बन नहीं सकता, क्योंकि सत्ता और द्रव्यमें संज्ञा, संख्या, लक्षणादिसे स्वरूप-भेद अवश्य ही है, फिर दोनों एक कैसे हो सकते हैं ? अन्यत्व-भेद मानना ही पड़ेगा । जैसे वस्त्र और शुक्ल गुणमें अन्यत्व-भेद है, उसी

किलाश्रित्य वर्तिनी निर्गुणैकगुणसमुदिता विशेषणं विधायिका वृत्तिस्वरूपा सत्ता भवति, न खलु तदनाश्रित्य वर्ति गुणवदनेकगुणसमुदितं विशेष्यं विधीयमानं वृत्तिमत्स्वरूपं च द्रव्यं भवति यत्तु किलनाश्रित्य वर्ति गुणवदनेकगुणसमुदितं विशेष्यं विधीयमानं वृत्तिमत्स्वरूपं च द्रव्यं भवति, न खलु साश्रित्य वर्तिनी निर्गुणैकगुणसमुदिता विशेषणं विधायिका वृत्तिस्वरूपा च सत्ता भवतीति तयोस्तद्भावस्याभावः। अत एव च सत्ताद्रव्ययोः कथंचिदनर्थान्तरत्वेऽपि सर्वथैकत्वं न शङ्कनीयं, तद्भावो ह्येकत्वस्य लक्षणम्। यत्तु न तद्भवद्विभाव्यते तत्कथमेकं स्यात्। अपि तु गुणगुणिरूपेणानेकमेवेत्यर्थः ॥ १४ ॥

अथातद्भावमुदाहृत्य प्रथयति—

सद्दव्वं सच्च गुणो सच्चेव य पज्जओ त्ति वित्थारो।
जो खलु तस्स अभावो सो तदभावो अतब्भावो ॥ १५ ॥

शुद्धात्मसत्तागुणेन सह प्रदेशाभेदेऽपि संज्ञादिरूपेण तन्मयं न भवति **कथमेगं** तन्मयत्वं हि किलैकत्वलक्षणं संज्ञादिरूपेण तन्मयं त्वभावमेकत्वं किंतु नानात्ममेव। यथेदं मुक्तात्वद्रव्ये प्रदेशाभेदेऽपि संज्ञादिरूपेण नानात्वं कथितं तथैव सर्वद्रव्याणां स्वकीयस्वकीयस्वरूपास्तित्वगुणेन सह ज्ञातव्यमित्यर्थः ॥ १४ ॥ अथातद्भावं विशेषेण विस्तार्य कथयति—**सद्दव्वं सच्च गुणो सच्चेव य पज्जओ त्ति वित्थारो** सद् द्रव्यं संश्च गुणः संश्चैव पर्याय इति सत्तागुणस्य द्रव्यगुणपर्यायेषु विस्तारः। तथाहि—यथामुक्ताफलहारे सत्तागुण-

---

प्रकार सत्ता और द्रव्यमें है, क्योंकि वस्त्रमें जो शुक्ल गुण है, सो एक नेत्र इंद्रियके द्वारा ग्रहण होता है, अन्य नासिकादि इंद्रियोंके द्वारा नहीं होता, इस कारण वह शुक्ल गुण वस्त्र नहीं है। और जो वस्त्र है, सो नेत्र इंद्रियके सिवाय अन्य नासिकादि इंद्रियोंसे भी जाना जाता है, इस कारण वह वस्त्र शुक्ल गुण नहीं है। शुक्ल गुणको एक नेत्र इंद्रियसे जानते है, और वस्त्रको नासिकादि अन्य सब इंद्रियोंसे जानते हैं। इसलिये यह सिद्ध है, कि वस्त्र और शुक्ल गुणमें अन्यत्व अवश्य ही है। जो भेद न होता, तो जैसे नेत्र इंद्रियसे शुक्ल गुणका ज्ञान हुआ था, वैसे ही स्पर्श रस गंधरूप वस्त्रका भी ज्ञान होता, परंतु ऐसा नहीं है। इस कारण इंद्रिय-भेदसे भेद अवश्य ही है। इसी प्रकार सत्ता और द्रव्यमें अन्यत्व-भेद है। सत्ता द्रव्यके आश्रय रहती है, अन्य गुण रहित एक गुणरूप है, और द्रव्यके अनंत विशेषणोंमें एक अपने भेदको दिखाती है, तथा एक पर्यायरूप है, और द्रव्य है, सो किसीके आधार नहीं रहता है, अनंत गुण सहित है, अनेक विशेषणोंसे विशेष्य है, और अनेक पर्यायोंवाला है। इसी कारण सत्ता और द्रव्यमें संज्ञा, संख्या, लक्षणादि भेदसे अवश्य अन्यत्व-भेद है। जो सत्ताका स्वरूप है, वह द्रव्यका नहीं है, और जो द्रव्यका स्वरूप है, वह सत्ताका नहीं है। इस प्रकार गुण-गुणी-भेद है, परंतु प्रदेश-भेद नहीं है ॥ १४ ॥ आगे अन्यत्वका लक्षण विशेषतासे दिखलाते हैं;—[**सत् द्रव्यं**] सत्तारूप द्रव्य है, [**च**] और [**सत् गुणः**] सत्तारूप गुण है, [**च**] तथा [**सत् एव पर्यायः**] सत्तारूप ही पर्याय है, [**इति**] इस प्रकार सत्ताका [**विस्तारः**] विस्तार है। और [**खलु**] निश्चय करके [**यः**] जो

सद्द्रव्यं सच्च गुणः सच्चैव च पर्याय इति विस्तारः ।
यः खलु तस्याभावः स तदभावोऽतद्भावः ॥ १५ ॥

यथा खल्वेकं मुक्ताफलस्रग्दाम, हार इति सूत्रमिति मुक्ताफलमिति त्रेधा विस्तार्यते, तथैकं द्रव्यं द्रव्यमिति गुण इति पर्याय इति त्रेधा विस्तार्यते । यथा चैकस्य मुक्ताफलस्रग्दाम्नः शुक्लो गुणः शुक्लो हारः शुक्लं सूत्रं शुक्लं मुक्ताफलमिति त्रेधा विस्तार्यते, तथैकस्य द्रव्यस्य सत्तागुणः सद्द्रव्यं सद्गुणः सत्पर्याय इति त्रेधा विस्तार्यते । यथा चैकस्मिन् मुक्ताफलस्रग्दाम्नि यः शुक्लो गुणः स न हारो न सूत्रं न मुक्ताफलं यश्च हारः सूत्रं मुक्ताफलं स न शुक्लो गुण

स्थानीयो योऽसौ शुक्लगुणः स प्रदेशाभेदेन किं किं भण्यते । शुक्लो हार इति शुक्लं सूत्रमिति शुक्लं मुक्ताफलमिति भण्यते, यश्च हारः सूत्रं मुक्ताफलं वा तैस्त्रिभिः प्रदेशाभेदेन शुक्लो गुणो भण्यत इति तद्भावस्य लक्षणमिदम् । तद्भावस्येति कोऽर्थः । हारसूत्रमुक्ताफलानां शुक्लगुणेन सह तन्मयत्वं प्रदेशाभिन्नत्वमिति तथा मुक्तात्मपदार्थे योऽसौ शुद्धसत्तागुणः स प्रदेशाभेदेन किं किं भण्यते सत्तालक्षणः परमात्मपदार्थ इति, सत्तालक्षणः केवलज्ञानादिगुण इति सत्तालक्षणः सिद्धपर्याय इति भण्यते । यश्च परमात्मपदार्थः केवलज्ञानादिगुणः सिद्धत्वपर्याय इति तैश्च त्रिभिः शुद्धसत्तागुणो भण्यत इति तद्भावस्य लक्षणमिदम् । तद्भावस्येति कोऽर्थः । परमात्मपदार्थकेवलज्ञानादिगुणसिद्धत्वपर्यायाणां शुद्धसत्तागुणेन संज्ञादिभेदेऽपि प्रदेशैस्तन्मयत्वमपि **जो खलु तस्स अभावो** यस्तस्य पूर्वोक्तलक्षणतद्भावस्य खलु स्फुटं संज्ञादिभेदविवक्षायामभावः **सो तदभावो** स पूर्वोक्तलक्षणस्तदभावो भण्यते । स च तदभावः किं भण्यते । **अतब्भावो** तदभावस्तन्मयत्वम् । किंचातद्भावः संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेद इत्यर्थः । तद्यथा—यथा मुक्ताफलहारे योऽसौ शुक्लगुणस्तद्वाचकेन शुक्लमित्यक्षरद्वयेन हारो वाच्यो न भवति सूत्रं वा मुक्ताफलं वा, हारसूत्रमुक्ताफलशब्दैश्च शुक्लगुणो वाच्यो न भवति । एवं परस्परं प्रदेशाभेदेऽपि योऽसौ संज्ञादिभेदः स तस्य पूर्वोक्तलक्षणतद्भावस्याभावस्तद्भावो भण्यते । स च तद्भावः पुनरपि किं भण्यते । अतद्भावः संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेद इति । तथा मुक्तजीवे योऽसौ शुद्धसत्तागुणस्तद्वाचकेन सत्ताशब्देन मुक्तजीवो वाच्यो न भवति केवलज्ञानादिगुणो वा सिद्धपर्यायो वा मुक्तजीवकेवलज्ञानादिगुणसिद्धपर्यायैश्च शुद्धसत्तागुणो वाच्यो न भवति । इत्येवं परस्परं प्रदेशाभेदेऽपि

[तस्य] उस सत्ता–द्रव्य–गुण पर्यायकी एकताका **[अभावः]** परस्परमें अभाव है, **[सः]** वह **[तदभावः]** उस एकताका अभाव **[अतद्भावः]** अन्यत्व नामा भेद है । **भावार्थ**—जैसे एक मोतीकी माला हार, सूत्र और मोती इन भेदोंसे तीन प्रकार है, उसी प्रकार एक द्रव्य, द्रव्य गुण और पर्याय-भेदोंसे तीन प्रकार है । और जैसे एक मोतीकी मालाका शुक्ल (सफेद) गुण, श्वेत हार, श्वेत सूत, और श्वेत मोती, इन भेदोंसे तीन प्रकार है, उसी प्रकारसे द्रव्यका एक सत्ता गुण, सत् द्रव्य, सत् गुण, और सत्पर्याय इन भेदोंसे तीन प्रकार है । यह सत्ताका विस्तार है । और जैसे एक मोतीकी मालामें भेद-विवक्षासे जो श्वेत गुण है, सो हार नहीं है, सूत नहीं है, और मोती नहीं है । तथा जो हार सूत मोती हैं, वे श्वेत गुण नहीं हैं, ऐसा परस्पर भेद है, उसी प्रकार एक द्रव्यमें जो सत्ता गुण है, वह द्रव्य

इतीतरेतरस्य यस्तस्याभावः स तदभावलक्षणोऽतद्भावोऽन्यत्वनिबन्धनभूतः। तथैकस्मिन् द्रव्ये यः सत्तागुणस्तन्न द्रव्यं नान्यो गुणो न पर्यायो यच्च द्रव्यमन्यो गुणः पर्यायो वा स न सत्तागुण इतीतरेतरस्य यस्तस्याभावः स तदभावलक्षणोऽतद्भावोऽन्यत्वनिबन्धनभूतः ॥ १५ ॥

अथ सर्वथाभावलक्षणत्वमतद्भावस्य निषेधयति—

जं दव्वं तं ण गुणो जो वि गुणो सो ण तच्चमत्थादो।
एसो हि अतब्भावो णेव अभावो त्ति णिद्दिट्ठो ॥ १६ ॥

यद्द्रव्यं तन्न गुणो योऽपि गुणः स न तत्त्वमर्थात्।
एष ह्यतद्भावो नैव अभाव इति निर्दिष्टः ॥ १६ ॥

एकस्मिन्द्रव्ये यद्द्रव्यं गुणो न तद्भवति, यो गुणः स द्रव्यं न भवतीत्येवं यद्द्रव्यस्य गुणरूपेण गुणस्य वा द्रव्यरूपेण तेनाभवनं सोऽतद्भावः। एतावतैवान्यत्वव्यवहारसिद्धेर्न पुनर्द्रव्यस्याभावो गुणो गुणस्याभावो द्रव्यमित्येवंलक्षणोऽभावोऽतद्भावः, एवं सत्येकद्रव्यस्यानेकत्वमुभ-

---

योऽसौ संज्ञादिभेदः संस्तस्य पूर्वोक्तलक्षणतद्भावस्याभावस्तद्भावो भण्यते। स च तदभावः पुनरपि किं भण्यते। अतद्भावः संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेद इत्यर्थः। यथात्र शुद्धात्मनि शुद्धसत्तागुणेन सहाभेदः स्थापितस्तथा यथासंभवं सर्वद्रव्येषु ज्ञातव्य इत्यभिप्रायः ॥ १५ ॥ अथ गुणगुणिनोः प्रदेशभेदनिषेधेन तमेव संज्ञादिभेदरूपमतद्भावं दृढयति—**जं दव्वं तं ण गुणो** यद्द्रव्यं स न गुणः यन्मुक्तजीवद्रव्यं स शुद्धः सत् गुणो न भवति। मुक्तजीवद्रव्यशब्देन शुद्धसत्तागुणो वाच्यो न भवतीत्यर्थः। **जो वि गुणो सो ण तच्चमत्थादो** योऽपि गुणः स न तत्त्वं द्रव्यमर्थतः परमार्थतः, यः शुद्धसत्तागुणः स मुक्तात्मद्रव्यं न भवति। शुद्धसत्ताशब्देन मुक्तात्मद्रव्यं वाच्यं न भवतीत्यर्थः। **एसो हि अतब्भावो** एष उक्तलक्षणो हि स्फुटमतद्भावः। उक्तलक्षण इति कोऽर्थः। गुणगुणिनोः संज्ञादिभेदेऽपि प्रदेशभेदाभावः **णेव अभावो त्ति णिद्दिट्ठो**

नहीं, गुण नहीं, और पर्याय नहीं है, तथा जो द्रव्य गुण पर्याय हैं, सो सत्ता नहीं है, ऐसा आपसमें भेद है। सारांश यह है, कि सत्ताके स्वरूपका अभाव द्रव्य, गुण, पर्यायोंमें है, और द्रव्य, गुण, पर्यायके स्वरूपका अभाव सत्तामें है। इस प्रकार गुण-गुणी-भेद है, प्रदेश-भेद नहीं है। यही **अन्यत्व** नामक भेद है ॥ १५ ॥ आगे सर्वथा अभावरूप गुण-गुणी-भेदका निषेध करते हैं—[**यद्**] जो [**द्रव्यं**] द्रव्य है, [**तत्**] सो [**गुणः न**] गुण नहीं है, और [**यः**] जो [**अपि**] निश्चयसे [**गुणः**] गुण है, [**सः**] वह [**अर्थात्**] स्वरूपके भेदसे [**तत्त्वं न**] द्रव्य नहीं है। [**एषः हि**] यह गुण-गुणी भेदरूप ही [**अतद्भावः**] स्वरूपभेद है, [**अभावः**] सर्वथा अभाव [**नैव**] निश्चयसे नहीं है। [**इति**] ऐसा [**निर्दिष्टः**] सर्वज्ञदेवने दिखाया है। **भावार्थ**—एक द्रव्यमें जो द्रव्य है, वह गुण नहीं है, और जो गुण है, वह द्रव्य नहीं है। इस प्रकार जो द्रव्यका गुणरूप न होना है, वह अन्यत्व-भेद व्यवहारसे कहा जाता है, न कि द्रव्यका अभाव गुण, और गुणका अभाव द्रव्य, ऐसा सर्वथा अभावरूप भेद, क्योंकि इस तरहका अभाव माननेसे द्रव्यका अनेकपना होना, १ (द्रव्य—गुणों) का

यशून्यत्वमपोहरूपत्वं वा स्यात् । तथाहि—यथा खलु चेतनद्रव्यस्याभावोऽचेतनद्रव्यमचेतनद्रव्यस्याभावश्चेतनद्रव्यमिति तयोरनेकत्वं, तथा द्रव्यस्याभावो गुणो गुणस्याभावो द्रव्यमित्येकस्यापि द्रव्यस्यानेकत्वं स्यात् । यथा सुवर्णस्याभावे सुवर्णत्वस्याभावः सुवर्णत्वस्याभावे सुवर्णस्याभाव इत्युभयशून्यत्वं, तथा द्रव्यस्याभावे गुणस्याभावो गुणस्याभावे द्रव्यस्याभाव इत्युभयशून्यत्वं स्यात् । यथा पटाभावमात्रमेव घटो घटाभावमात्रमेव पट इत्युभयोरपोहरूपत्वं तथा द्रव्याभावमात्रमेव गुणो गुणाभावमात्रमेव द्रव्यमित्यत्राप्यपोहरूपत्वं स्यात् । ततो द्रव्यगुणयोरेकत्वमशून्यत्वमनपोहत्वं चेच्छता यथोदित एवातद्भावोऽभ्युपगन्तव्यः ॥ १६ ॥

अथ सत्ताद्रव्ययोर्गुणगुणिभावं साधयति—

जो खलु दव्वसहावो परिणामो सो गुणो सदविसिट्ठो ।
सदवट्ठिदं सहावे दव्व त्ति जिणोवदेसोयं ॥ १७ ॥

नैवाभाव इति निर्दिष्टः । नैव अभाव इति कोऽर्थः । यथा सत्तावाचकशब्देन मुक्तात्मद्रव्यं वाच्यं न भवति तथा यदि सत्ताप्रदेशैरपि सत्तागुणात्सकाशाद्भिन्नं भवति तदा यथा जीवप्रदेशेभ्यः पुद्गलद्रव्यं भिन्नं सद्द्रव्यान्तरं भवति तथा सत्तागुणप्रदेशेभ्यो मुक्तजीवद्रव्यं सत्तागुणाद्भिन्नं सत्पृथग्द्रव्यान्तरं प्राप्नोति । एवं किं सिद्धम् । सत्तागुणरूपं पृथग्द्रव्यं मुक्तात्मद्रव्यं च पृथगिति द्रव्यद्वयं जातं, न च तथा । द्वितीयं च दूषणं प्राप्नोति—यथा सुवर्णत्वगुणप्रदेशेभ्यो भिन्नस्य सुवर्णस्याभावस्तथैव सुवर्णप्रदेशेभ्यो भिन्नस्य सुवर्णत्वगुणस्याप्यभावः, तथा सत्तागुणप्रदेशेभ्यो भिन्नस्य मुक्तजीवद्रव्यस्याभावस्तथैव मुक्तजीवद्रव्यप्रदेशेभ्यो भिन्नस्य सत्तागुणस्याप्यभावः इत्युभयशून्यत्वं प्राप्नोनि । यथेदं मुक्तजीवद्रव्ये संज्ञादिभेदभिन्नस्यातद्भावस्तस्य सत्तागुणेन सह प्रदेशाभेदव्याख्यानं कृतं तथा सर्वद्रव्येषु यथासंभवं ज्ञातव्यमित्यर्थः ॥ १६ ॥ एवं द्रव्यस्यास्तित्वकथन-

---

नाश होना २, और अपोहरूपत्व दोषका प्रसंग, ३ इस प्रकार तीन दोष उपस्थित होते है । वे इस प्रकार है कि,—जैसे जीवका अभाव अजीव है, और अजीवका अभाव जीव है, इसलिये इन दोनोंमें अनेकत्व है, उसी प्रकार द्रव्यका अभाव गुण, और गुणका अभाव द्रव्य माननेसे एकत्वके अनेकत्व द्रव्यका प्रसंग आवेगा १ । जैसे सोनेके अभावसे सोनेके गुणका अभाव होता है, और सोनेके गुणके अभावसे सोनेका नाश सिद्ध होता है, उसी तरह द्रव्यके अभावसे गुणका अभाव होगा, और फिर गुणके अभावसे द्रव्यका अभाव हो जावेगा । इस प्रकार दोनोंके नाशका प्रसंग आवेगा २ । तीसरे, जैसे घटका अभावमात्र पट है, और पटका अभावमात्र घट है, इन दोनोंमें किसीका रूप किसीमें नहीं है, उसी प्रकार द्रव्यका अभावमात्र गुण होगा, और गुणका अभावमात्र द्रव्य होगा, इस तरह अपोहरूपत्व दोषका प्रसंग आवेगा ३ । इसलिये जो द्रव्य–गुणकी एकता चाहते हैं, दोनोंका नाश नहीं चाहते हैं, और अपोहरूपत्व दोषसे जुदा रहना चाहते हैं, उन्हें भगवान् वीतरागदेवने जो गुण-गुणीमें व्यवहारसे अन्यत्व-भेद दिखलाया है, उसे अंगीकार करना चाहिये, सर्वथा अभावरूप मानना योग्य नहीं है ॥ १६ ॥ आगे सत्ता और द्रव्यका गुण-गुणी-भाव दिखलाते हैं—[**यः**] जो [**खलु**] निश्चयसे [**द्रव्यस्वभावः**]

यः खलु द्रव्यस्वभावः परिणामः स गुणः सदविशिष्टः ।
सदवस्थितं स्वभावे द्रव्यमिति जिनोपदेशोऽयम् ॥ १७ ॥

द्रव्यं हि स्वभावे नित्यमवतिष्ठमानत्वात्सदिति प्राक् प्रतिपादितम् । स्वभावस्तु द्रव्यस्य परिणामोऽभिहितः । य एव द्रव्यस्य स्वभावभूतः परिणामः, स एव सदविशिष्टो गुण इतीह साध्यते । यदेव हि द्रव्यस्वरूपवृत्तिभूतमस्तित्वं द्रव्यप्रधाननिर्देशात्सदिति संशब्द्यते तदविशिष्टगुणभूत एव द्रव्यस्य स्वभावभूतः परिणामः द्रव्यवृत्तेर्हि त्रिकोटिसमयस्पर्शिन्याः प्रतिक्षणं तेन तेन स्वभावेन परिणमनाद्द्रव्यस्वभावभूत एव तावत्परिणामः । स त्वस्तित्वभूतद्रव्यवृत्त्यात्मकत्वात्सदविशिष्टो द्रव्यविधायिको गुण एवेति सत्ताद्रव्ययोर्गुणगुणिभावः सिद्ध्यति ॥ १७ ॥

रूपेण प्रथमगाथा पृथक्त्वलक्षणातद्भावविधानान्यत्वलक्षणयोः कथनेन द्वितीया संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदरूपस्यातद्भावस्य विवरणरूपेण तृतीया तस्यैव दृढीकरणार्थं च चतुर्थी द्रव्यगुणयोरभेदविषये युक्तिकथनमुख्यतया गाथाचतुष्टयेन पञ्चमस्थलं गतम् । अथ सत्ता गुणो भवति द्रव्यं च गुणी भवतीति प्रतिपादयति—**जो खलु दव्वसहावो परिणामो** यः खलु स्फुटं द्रव्यस्य स्वभावभूतः परिणामः पञ्चेन्द्रियविषयानुभवरूपमनोव्यापारोत्पन्नसमस्तमनोरथरूपविकल्पजालाभावे सति यश्चिदानन्दैकानुभूतिरूपः स्वस्थभावस्तस्योत्पादः, पूर्वोक्तविकल्पजालविनाशो व्ययः, तदुभयाधारभूतं जीवत्वं ध्रौव्यमित्युक्तलक्षणोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकजीवद्रव्यस्य स्वभावभूतो योऽसौ परिणामः **सो गुणो** स गुणो भवति स परिणामः । कथंभूतः सन्गुणो भवति । **सदविसिट्ठो** सतोऽस्तित्वादविशिष्टोऽभिन्नस्तदुत्पादादित्रयं तिष्ठत्यस्तित्वं चैकं तिष्ठत्यस्तित्वेन सह कथमभिन्नो भवतीतिचेत् । "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" इति वचनात् । एवं सति सत्तैव गुणो भवतीत्यर्थः । इति गुणव्याख्यानं गतम् । **सदवट्ठिदं सहावे दव्व त्ति** सदवस्थितं स्वभावे द्रव्यमिति । द्रव्यं परमात्मद्रव्यं भवति । किं कर्तृ । सदिति । केन । अभेदनयेन । कथं भूतम् । सत् अवस्थितम् । क । उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकस्वभावे । **जिणोवदेसोयं** अयं जिनोपदेश इति 'सदवट्ठिदं सहावे दव्वं दव्वस्स जो हु परिणामो' इत्यादिपूर्वसूत्रे यदुक्तं तदेवेदं व्याख्यानम्, गुणकथनं पुनरधिकमिति तात्पर्यम् । यथेदं जीवद्रव्ये गुणगुणिनोर्व्याख्यानं कृतं तथा सर्वद्रव्येषु ज्ञातव्यमिति ॥ १७ ॥

द्रव्यका स्वभावभूत [**परिणामः**] उत्पाद, व्यय, ध्रुवरूप त्रिकाल संबंधी परिणाम है, [**सः**] वह [**सदविशिष्टः**] सत्तासे अभिन्न अस्तित्वरूप [**गुणः**] गुण है । और [**स्वभावे**] अस्तित्वरूप सत्ता-स्वभावमें [**अवस्थितं द्रव्यं**] तिष्ठता हुआ द्रव्य [**सत्**] सत्ता कहलाता है, [**इति**] इस प्रकार [**अयं**] यह [**जिनोपदेशः**] जिनभगवान्‌का उपदेश है । **भावार्थ**—द्रव्यका जो अस्तित्वरूप स्वभावभूत परिणाम है, उसको सत्ता नामका गुण कहते है । यह अस्तित्वरूप सत्तागुण द्रव्यसे अभिन्न द्रव्यका स्वभावभूत परिणाम है । और यह सत्ता गुण द्रव्यमें प्रधान है । सत्तामें द्रव्य स्थित रहता है । इसी कारण सत्ता गुणकी प्रधानतासे द्रव्यको सत् कहते हैं, और इस सत्ता गुणसे सत्स्वरूप गुणी द्रव्य जाना जाता है । इस कारण सत्ता गुण है, और द्रव्य गुणी है ॥ १७ ॥ आगे गुण-गुणीका

अथ गुणगुणिनोर्नानात्वमुपहन्ति—

णत्थि गुणो त्ति व कोई पज्जाओ त्तीह वा विणा दव्वं ।
दव्वत्तं पुण भावो तम्हा दव्वं सयं सत्ता ॥ १८ ॥
नास्ति गुण इति वा कश्चित् पर्याय इतीह या विना द्रव्यम् ।
द्रव्यत्वं पुनर्भावस्तस्माद्द्रव्यं स्वयं सत्ता ॥ १८ ॥

न खलु द्रव्यात्पृथग्भूतो गुण इति वा पर्याय इति वा कश्चिदपि स्यात् । यथा सुवर्णात्पृथग्भूतं तत्पीतत्वादिकमिति वा तत्कुण्डलादिकत्वमिति वा । अथ तस्य तु द्रव्यस्य स्वरूपवृत्तिभूतमस्तित्वाख्यं यद्द्रव्यत्वं स खलु तद्भावाख्यो गुण एव भवन् किं हि द्रव्यात्पृथग्भूतत्वेन वर्तते । न वर्तत एव । तर्हि द्रव्यं सत्तास्तु, स्वयमेव ॥ १८ ॥

अथ द्रव्यस्य सदुत्पादासदुत्पादयोरविरोधं साधयति—

एवंविहं सहावे दव्वं दव्वत्थपज्जयत्थेहिं ।
सदसब्भावणिबद्धं पादुब्भावं सदा लभदि ॥ १९ ॥

अथ गुणपर्यायाभ्यां द्रव्यस्याभेदं दर्शयति- **णत्थि** नास्ति न विद्यते । स कः । **गुणो त्ति व कोई** गुण इति कश्चित् । न केवलं गुणः **पज्जाओ त्तीह वा** पर्यायो वेतीह । कथम् । **विणा** विना । किं विना । **दव्वं** द्रव्यमिदानीं द्रव्यं कथ्यते **दव्वत्तं पुण भावो** द्रव्यत्वमस्तित्वम् । तत्पुनः किं भण्यते । भावः । कोऽर्थः । उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकसद्भावः **तम्हा दव्वं सयं सत्ता** तस्मादभेदनयेन सत्ता स्वयमेव द्रव्यं भवतीति । तद्यथा—मुक्तात्मद्रव्ये परमावाप्तिरूपो मोक्षपर्यायः केवलज्ञानादिरूपो गुणसमूहश्च येन कारणेन तद्द्वयमपि परमात्मद्रव्यं विना नास्ति न विद्यते । कस्मात्प्रदेशाभेदादिति उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकशुद्धसत्तारूपं मुक्तात्मद्रव्यं भवति । तस्मादभेदेन सत्तैव द्रव्यमित्यर्थः । यथा मुक्तात्मद्रव्ये गुणपर्यायाभ्यां सहाभेदव्याख्यानं कृतं तथा यथासंभवं सर्वद्रव्येषु ज्ञातव्यमिति ॥ १८ ॥ एवं गुणगुणिव्याख्यानरूपेण प्रथमगाथा द्रव्यस्य गुणपर्यायाभ्यां सह भेदो नास्तीति कथनरूपेण द्वितीया चेति स्वतन्त्रगाथाद्वयेन षष्ठस्थलं गतम् ॥ अथ

भेद दूर करते है– [**इह**] इस जगत्में [**द्रव्यं विना**] द्रव्यके विना [**गुण इति**] गुण ऐसा [**वा**] अथवा [**पर्यायः इति**] पर्याय ऐसा [**कश्चित्**] कोई पदार्थ [**नास्ति**] नहीं है । [**पुनः**] और [**द्रव्यत्वं**] द्रव्यका अस्तित्व [**भावः**] उसका स्वभावभूत गुण है, [**तस्मात्**] इसलिये [**द्रव्यं**] द्रव्य [**स्वयं**] आप ही [**सत्ता**] अस्तित्वरूप सत्ता है । **भावार्थ**—ऐसा कोई गुण नहीं है, जो द्रव्यके विना पृथक् रहता हो, इसी प्रकार ऐसा कोई पर्याय भी नहीं है, जो द्रव्यसे पृथक् हो । द्रव्य ही में गुण और पर्याय होते हैं, द्रव्यसे पृथक् कोई पदार्थ नहीं है । अतः गुणपर्याय द्रव्यसे अभेदरूप हैं । जैसे सोनेसे पीतत्वादि गुण, कुंडलादि पर्याय पृथक् नहीं पाये जाते, उसी प्रकार द्रव्यसे गुणपर्याय पृथक् नहीं हैं, और सत्ता है, सो वस्तुसे अभिन्न उसका गुण है । इस कारण अस्तित्वरूप सत्ता गुण द्रव्यके पृथक् नहीं है, द्रव्य स्वयं सत्तास्वरूप है ॥ १८ ॥ आगे द्रव्यके द्रव्यार्थिक–पर्यायार्थिकनयकी विवक्षासे 'सत्

एवंविधं स्वभावे द्रव्यं द्रव्यार्थपर्यायार्थाभ्याम् ।
सदसद्भावनिबद्धं प्रादुर्भावं सदा लभते ॥ १९ ॥

एवमेतद्यथोदितप्रकारसाकल्याकलङ्कलाञ्छनमनादिनिधनं सत्स्वभावे प्रादुर्भावमास्कन्दति द्रव्यम् । स तु प्रादुर्भावो द्रव्यस्य द्रव्याभिधेयतायां सद्भावनिबद्ध एव स्यात् । पर्यायाभिधेयतायां त्वसद्भावनिबद्ध एव । तथाहि—यदा द्रव्यमेवाभिधीयते न पर्यायास्तदा प्रभवावसानवर्जिताभिर्यौगपद्यप्रवृत्ताभिर्द्रव्यनिष्पादिकाभिरन्वयशक्तिभिः प्रभवावसानलाञ्छनाः क्रमप्रवृत्ताः पर्यायनिष्पादिका व्यतिरेकव्यक्तीस्तास्ताः संक्रामतो द्रव्यस्य सद्भावनिबद्ध एव प्रादुर्भावः हेमवत् । तथाहि—यदा हेमैवाभिधीयते नाङ्गदादयः पर्यायास्तदा हेमसमानजीविताभिर्यौगपद्यप्रवृत्ताभिर्हेमनिष्पादिकाभिरन्वयशक्तिभिरङ्गदादिपर्यायसमानजीविताः क्रमप्रवृत्ता अङ्गदादि-

द्रव्यस्य द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयाभ्यां सदुत्पादासदुत्पादौ दर्शयति—**एवंविहसब्भावे** एवंविधसद्भावे सत्तालक्षणमुत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणं गुणपर्यायलक्षणं द्रव्यं चेत्येवंविधपूर्वोक्तसद्भावे, अथ **एवंविहं सहावे** इति पाठान्तरम् । तत्रैवंविधं पूर्वोक्तलक्षणं स्वकीयसद्भावे स्थितम् । किम् । **दव्वं** द्रव्यं कर्तृ । किं करोति । **सदा लभदि** सदा सर्वकालं लभते । किं कर्मतापन्नम् । **पादुब्भावं** प्रादुर्भावमुत्पादम् । कथं भूतम् । **सदसब्भावणिबद्धं** सद्भावनिबद्धमसद्भावनिबद्धं च । काभ्यां कृत्वा । **दव्वत्थपज्जयत्थेहिं** द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयाभ्यामिति । तथाहि—यथा यदा काले द्रव्यार्थिकनयेन विवक्षा क्रियते यदेव कटकपर्याये सुवर्णं तदेव कङ्कणपर्याये नान्यदिति, तदा काले सद्भावनिबद्ध एवोत्पादः । कस्मादिति चेत् । द्रव्यस्य द्रव्यरूपेणा-

---

उत्पाद' और 'असत् उत्पाद' ऐसा दो प्रकारका उत्पाद होता है, सो उन दोनोंका अविरोध दिखलाते है—[**एवंविधं**] इस प्रकारसे [**द्रव्यं**] द्रव्य [**स्वभावे**] स्वभावमें [**द्रव्यार्थपर्यायार्थाभ्यां**] द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनयोंकी विवक्षासे [**सदसद्भावनिबद्धं**] सत् और असत् इन दो भावोंसे संयुक्त [**प्रादुर्भावं**] उत्पादको [**सदा**] हमेशा [**लभते**] प्राप्त होता है । **भावार्थ—**अनादि अनंत द्रव्य अपने परिणाम स्वभावमें निरंतर उत्पन्न होता है, इसको 'उत्पाद' कहते है । इसे जब द्रव्यार्थिकनयकी विवक्षासे कहते है, तब यों कहते हैं, कि द्रव्य जो जो पर्याय धारण करता है, उन उन पर्यायोंमें वही द्रव्य उत्पन्न होता है, जो पूर्वमें था, इसका नाम 'सद्भावउत्पाद' है । और जब पर्यायकी अपेक्षासे कहते हैं, तब यों कहते है कि द्रव्य जो जो पर्याय धारण करता है, उन उन पर्यायोंमें वही द्रव्य अवस्थाके पलटनेसे अन्य कहा जाता है, इसका नाम 'असद्भावउत्पाद' है । इन दोनों प्रकारके उत्पादको नीचे लिखे दृष्टान्तसे समझना चाहिये । जैसे—सोना अपने अविनाशी पीत स्निग्ध (चिकने) गुरुत्वादि गुणोंसे नाना कंकण कुंडलादि पर्यायोंको प्राप्त होता है । जो यहाँपर द्रव्यार्थिकनयसे विचार करें, तो कंकण कुंडलादि जितने पर्याय हैं, उन सबमें वही सोना उत्पन्न होता है, जो कि पहले था, न कि दूसरा । यह सोनेका सद्भावउत्पाद है । और जो उन्हीं कंकण कुंडलादि पर्यायोंमें सोनेको पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षासे कहें, तो जितने कंकण कुंडलादि पर्याय हैं, सबके सब क्रम लिये हुए है । इस कारण ऐसा कहा जावेगा, कि

पर्यायनिष्पादिका व्यतिरेकव्यक्तीस्तास्ताः संक्रामतो हेम्नः सद्भावनिबद्ध एव प्रादुर्भावः। यदा तु पर्याया एवाभिधीयन्ते न द्रव्यं तदा प्रभवावसानलाञ्छनाभिः क्रमप्रवृत्ताभिः पर्यायनिष्पादिकाभिर्व्यतिरेकव्यक्तिभिस्ताभिस्ताभिः प्रभवावसानवर्जिता यौगपद्यप्रवृत्ता द्रव्यनिष्पादिका अन्वयशक्तीः संक्रामतो द्रव्यस्यासद्भावनिबद्ध एव प्रादुर्भावः हेमवदेव। तथाहि—यदाङ्गदादिपर्याया एवाभिधीयन्ते न हेम तदाङ्गदादिपर्यायसमानजीविताभिः क्रमप्रवृत्ताभिरङ्गदादिपर्यायनिष्पादिकाभिर्व्यतिरेकव्यक्तिभिस्ताभिस्ताभिर्हेमसमानजीविता यौगपद्यप्रवृत्ता हेमनिष्पादिका अन्वयशक्तीः संक्रामतो हेम्नोऽसद्भावनिबद्ध एव प्रादुर्भावः अथ पर्यायाभिधेयतायामप्यसदुत्पत्तौ पर्यायनिष्पादिकास्तास्ता व्यतिरेकव्यक्तयो यौगपद्यप्रवृत्तिमासाद्यान्वयशक्तित्वमापन्नाः पर्यायान् द्रवीकुर्युः, तथाङ्गदादिपर्यायनिष्पादिकाभिस्ताभिर्व्यतिरेकव्यक्तिभिर्यौगपद्यप्रवृत्तिमासाद्यान्वयशक्तित्वमापन्नाभिरङ्गदादिपर्याया अपि हेमीक्रियेरन्। द्रव्याभिधेयतायामपि सदुत्पत्तौ द्रव्यनिष्पादिका अन्वयशक्तयः क्रमप्रवृत्तिमासाद्य तत्तद्व्यतिरेकव्यक्तित्वमापन्ना द्रव्यं पर्या-

---

विनष्टत्वात्। यदा पुनः पर्यायविवक्षा क्रियते कटकपर्यायात् सकाशादन्यो यः कङ्कणपर्यायः सुवर्णसंबन्धी स एव न भवति। तदा पुनरसदुत्पादः कस्मादिति चेत्। पूर्वपर्यायस्य विनष्टत्वात्। तथा यदा द्रव्यार्थिकनयविवक्षा क्रियते य एव पूर्वं गृहस्थावस्थायामेवमेवं गृहव्यापारं कृतवान् पश्चाज्जिनदीक्षां गृहीत्वा स एवेदानीं रामादिकेवलीपुरुषो निश्चयरत्नत्रयात्मकपरमात्मध्यानेनानन्तसुखामृततृप्तो जातः, न चान्य इति। तथा सद्भावनिबद्ध एवोत्पादः। कस्मादिति चेत्। पुरुषत्वेनाविनष्टत्वात्। यदा तु पर्यायनयविवक्षा क्रियते। पूर्वं सरागावस्थायाः सकाशादन्योऽयं भरतसगररामपाण्डवादिकेवलिपुरुषाणां संबन्धी निरुपमरागपरमात्म-

---

कंकण उत्पन्न हुआ, कुंडल उत्पन्न हुआ, मुद्रिका (अँगूठी) उत्पन्न हुई। ऐसा दूसरा दूसरा उत्पाद होता है, अर्थात् जो पूर्वमें नहीं था, वह उत्पन्न होता है, यह असद्भावउत्पाद है। इसी प्रकार द्रव्य अपने अविनाशी गुणोंसे युक्त रहकर अनेक पर्याय धारण करता है। सो उसे यदि द्रव्यार्थिकनयकी विवक्षासे कहते है, तो जितने पर्याय हैं, उन सब पर्यायोंमें वही द्रव्य उत्पन्न होता है, जो पहले था, अन्य नहीं। यह सत्उत्पाद है। और यदि पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षासे कहते है, तो जितने पर्याय उत्पन्न होते हैं, वे सब अन्य अन्य ही है। पहले जो थे, वे नहीं है—यह असत् उत्पाद है। और जैसे पर्यायार्थिककी विवक्षामें जो असत्‌रूप कंकण कुंडलादि पर्याय उत्पन्न होते हैं, उनके उत्पन्न करनेवाली जो सुवर्णमें शक्ति है, वह कंकण कुंडलादि पर्यायोंको सुवर्ण द्रव्य करती है। सोनाकी पर्याय भी सोना ही है, क्योंकि पर्यायसे द्रव्य अभिन्न है। इसी प्रकार पर्याय विवक्षामें द्रव्यके जो असद्रूप पर्याय हैं, उनकी उत्पन्न करनेवाली शक्ति जो द्रव्यमें है, वह पर्यायको द्रव्य करती है। जिस द्रव्यके जो पर्याय है, वे उसी द्रव्यरूप हैं, क्योंकि पर्यायसे द्रव्य अभिन्न है। इसलिये पर्याय और द्रव्य दो वस्तु नहीं हैं, जो पर्याय है, वही द्रव्य है। और द्रव्यार्थिककी विवक्षासे जैसे सोना अपनी पीततादि शक्तियोंसे कंकण कुंडलादि पर्यायोंमें उत्पन्न होता है, सो सोना ही कंकण कुंडलादि पर्यायमात्र होता है। अर्थात् जो सोना है, वही कंकण कुंडलादि

यीकुर्युः । तथा हेमनिष्पादिकाभिरन्वयशक्तिभिः क्रमवृत्तिमासाद्य तत्तद्व्यतिरेकव्यक्तित्वमापन्नाभिर्हैमाङ्गदादिपर्यायमात्री क्रियेत । ततो द्रव्यार्थादेशात्सदुत्पादः, पर्यायार्थादेशादसत् इत्यनवद्यम् ॥ १९ ॥

अथ सदुत्पादमनन्यत्वेन निश्चिनोति—

जीवो भवं भविस्सदि णरोऽमरो वा परो भवीय पुणो ।
किं दव्वत्तं पजहदि ण चयदि अण्णो कहं हवदि ॥ २० ॥

जीवो भवन् भविष्यति नरोऽमरो वा परो भूत्वा पुनः ।
किं द्रव्यत्वं प्रजहाति न त्यजत्यन्यः कथं भवति ॥ २० ॥

द्रव्यं हि तावद्द्रव्यत्वभूतामन्वयशक्तिं नित्यमप्यपरित्यजद्भवति सदेव । यस्तु द्रव्यस्य पर्यायभूताया व्यतिरेकव्यक्तेः प्रादुर्भावः तस्मिन्नपि द्रव्यत्वभूताया अन्वयशक्तेरप्रच्यवनात् द्रव्यमनन्यदेव । ततोऽनन्यत्वेन निश्चीयते द्रव्यस्य सदुत्पादः । तथाहि—जीवो द्रव्यं भव-

पर्यायः स एव न भवति । तदा पुनरसद्भावनिबद्ध एवोत्पादः । कस्मादिति चेत् । पूर्वपर्यायादन्यत्वादिति । यथेदं जीवद्रव्ये सदुत्पादासदुत्पादव्याख्यानं कृतं तथा सर्वद्रव्येषु यथासंभवं ज्ञातव्यमिति ॥ १९ ॥ अथ पूर्वोक्तमेव सदुत्पादं द्रव्यादभिन्नत्वेन विवृणोति—**जीवो** जीवः कर्ता **भवं** भवन् परिणमन् सन् **भविस्सदि** भविष्यति तावत् । किं किं भविष्यति । निर्विकारशुद्धोपयोगविलक्षणाभ्यां शुभाशुभोपयोगाभ्यां परिणम्य **णरोऽमरो वा परो** नरो देवः परस्तिर्यङ्नारकरूपो वा निर्विकारशुद्धोपयोगेन सिद्धो वा भविष्यति **भवीय पुणो** एवं पूर्वोक्तप्रकारेण पुनर्भूत्वापि । अथवा द्वितीयव्याख्यानम् । भवन् वर्तमानकालापेक्षया भविष्यति भाविकालापेक्षया भूत्वा भूतकालापेक्षया चेति कालत्रये चैवं भूत्वापि **किं दव्वत्तं पजहदि** किं द्रव्यत्वं

पर्याय हैं, उसी प्रकार द्रव्य अपनी शक्तियोंसे अपने पर्यायोंमें क्रमसे उत्पन्न होता है । जब जो पर्याय धारण करता है, तब उसी पर्यायमात्र होता है, अर्थात् जो द्रव्य है, वही पर्याय है । इसलिये सिद्ध हुआ कि असत्उत्पादमें जो पर्याय है, वे द्रव्य ही हैं, और सदुत्पादमें जो द्रव्य है, सो पर्याय ही हैं । द्रव्य और पर्याय आपसमें अभेदरूप है, परंतु नयके भेदसे भेदरूप हैं ॥ १९ ॥ आगे सदुत्पादको पर्यायसे अभेदरूप बतलाते है—[**जीवः**] आत्मा [**भवन्**] द्रव्यस्वभावरूप परिणमन करता हुआ [**नरः**] मनुष्य वा [**अमरः**] देव [**वा**] अथवा [**परः**] अन्य अर्थात् नारकी, तिर्यंच, सिद्ध इन सब पर्यायरूप [**भविष्यति**] होवेगा, [**पुनः**] और [**भूत्वा**] पर्यायस्वरूप होकर [**किं**] क्या [**द्रव्यत्वं**] अपनी द्रव्यत्वशक्तिको [**प्रजहाति**] छोड़ सकता, है ? कभी नहीं, और जब [**न जहत्**] अपने द्रव्यत्वस्वभावको नहीं छोड़ सकता तो [**अन्यः कथं भवति**] अन्य स्वरूप कैसे हो सकता है ? कदापि नहीं हो सकता । **भावार्थ**—यह जीवद्रव्य नारकी, तिर्यंच, देवता, मनुष्य, सिद्ध इन सबकी अनंत पर्यायोंको धारण करता है । यद्यपि यह जीव पर्यायोंसे अनेक स्वरूप होगया है, तो भी अपने द्रव्यपने स्वभावको नहीं छोड़ता है । और जब अनेक पर्यायोंके धारण करनेपर भी अपनी द्रव्यत्व-शक्तिको

नारकतिर्यग्मनुष्यदेवसिद्धत्वानामन्यतमेन पर्यायेण द्रव्यस्य पर्यायदुर्ललितवृत्तित्वादवश्यमेव भविष्यति। स हि भूत्वा च तेन किं द्रव्यभूतामन्वयशक्तिमुज्झति, नोज्झति। यदि नोज्झति कथमन्यो नाम स्यात्, येन प्रकटितत्रिकोटिसत्ताकः स एव न स्यात्॥ २०॥

अथासदुत्पादमन्यत्वेन निश्चिनोति—

मणुवो ण हवदि देवो देवो वा माणुसो व सिद्धो वा।
एवं अहोज्जमाणो अणण्णभावं कधं लहदि॥ २१॥

मनुजो न भवति देवो देवो वा मानुषो वा सिद्धो वा।
एवमभवन्ननन्यभावं कथं लभते॥ २१॥

पर्याया हि पर्यायभूताया आत्मव्यतिरेकव्यक्तेः काल एव सत्त्वात्ततोऽन्यकालेषु भवन्त्यसन्त एव। यश्च पर्यायाणां द्रव्यत्वभूतयान्वयशक्त्यानुस्यूतः क्रमानुपाती स्वकाले प्रादुर्भावः तस्मिन्पर्यायभूताया आत्मव्यतिरेकव्यक्तेः पूर्वमसत्त्वात्पर्याया अन्य एव। ततः पर्यायाणामन्यत्वेन निश्चीयते पर्यायस्वरूपकर्तृकरणाधिकरणभूतत्वेन पर्यायेभ्यो पृथग्भूतस्य द्रव्य-

---

परित्यजति **ण चयदि** द्रव्यार्थिकनयेन द्रव्यत्वं न त्यजति द्रव्याद्भिन्नो न भवति। **अण्णो कहं हवदि** अन्यो भिन्नः कथं भवति। किंतु द्रव्यान्वयशक्तिरूपेण सद्भावनिबद्धोत्पादः स एवेति द्रव्यादभिन्न इति भावार्थः॥ २०॥ अथ द्रव्यस्यासदुत्पादं पूर्वपर्यायादन्यत्वेन निश्चिनोति—**मणुवो ण हवदि देवो** आकुलत्वोत्पादकमनुजः देवादिविभावपर्यायविलक्षणमनाकुलत्वरूपस्वभावपरिणतिलक्षणं परमात्मद्रव्यं यद्यपि निश्चयेन मनुष्यपर्याये देवपर्याये च समानं तथापि मनुजो देवो न भवति। कस्माद्देवपर्यायकाले मनुष्यपर्यायस्यानुपलम्भात्। **देवो वा माणुसो व सिद्धो** वा देवो वा मनुष्यो न भवति स्वात्मोपलब्धिरूपसिद्धपर्यायो वा न भवति।

नहीं छोड़ता, तो अन्यरूप कभी नहीं हो सकता, जो नारकी था, वही तिर्यंच पर्यायमें है, वही मनुष्य हो जाता है, वही देवता तथा सिद्ध आदि पर्यायरूप हो जाता है। इन सब अवस्थाओंमें अविनाशी द्रव्य वही एक है, दूसरा नहीं। इसलिये सत्‌उत्पादकी अपेक्षा सब पर्यायोंमें वही अविनाशी वस्तु है, ऐसा सिद्ध हुआ॥ २०॥ आगे असत्‌उत्पादको अन्यरूपसे दिखाते हैं—[**मनुजः**] जो मनुष्य है, वह [**देवः**] देव [**वा**] अथवा [**देवः**] देव है, वह [**मानुषः**] मनुष्य [**वा**] अथवा [**सिद्धः**] सिद्ध अर्थात् मोक्ष-पर्यायरूप [**न भवति**] नहीं हो सकता, [**एवं अभवन्**] इस प्रकार नहीं होता हुआ [**अनन्यभावं**] अभिन्नपनेको [**कथं**] किस तरह [**लभते**] प्राप्त हो सकता है?। **भावार्थ**—जो देव मनुष्यादि पर्याय हैं, वे सब एक कालमें नहीं होते, किंतु जुदा जुदा समयमें होते हैं। जिस समय देव-पर्याय है उस समय मनुष्यादि पर्याय नहीं है, एक ही पर्याय हो सकती है। इस कारण जो एक पर्याय होती है, वह अन्यरूप नहीं हो सकती। सब जुदा जुदा ही पर्याय होते हैं। इसलिये पर्यायका कर्त्ता, करण, द्रव्य, आधार है, सो द्रव्य पर्यायसे जुदा नहीं है, पर्यायके पलटनेसे द्रव्य भी व्यवहारसे अन्य कहा जाता है। जैसे—मनुष्य-पर्यायरूप जीव देव-पर्यायरूप वा सिद्ध-पर्यायरूप नहीं होता, और

स्यासदुत्पादः। तथाहि—न हि मनुजस्त्रिदशो वा सिद्धो वा स्यात्, न हि त्रिदशो मनुजो वा सिद्धो वा स्यात्। एवमसन् कथमनन्यो नाम स्यात् येनान्य एव न स्यात्। येन च निष्पद्यमान-मनुजादिपर्यायं जायमानवलयादि विकारं काञ्चनमिव जीवद्रव्यमपि प्रतिपदमन्यन्न स्यात् ॥२१॥

अथैकद्रव्यस्यान्यत्वानन्यत्वविप्रतिषेधमुद्धुनोति—

दव्वट्ठिएण सव्वं दव्वं तं पज्जयट्ठिएण पुणो।
हवदि य अण्णमणण्णं तक्काले तम्मयत्तादो ॥ २२ ॥

द्रव्यार्थिकेन सर्वं द्रव्यं तत्पर्यायार्थिकेन पुनः।
भवति चान्यदनन्यत्तत्काले तन्मयत्वात् ॥ २२ ॥

सर्वस्य हि वस्तुनः सामान्यविशेषात्मकत्वात्तत्स्वरूपमुत्पश्यतां यथाक्रमं सामान्यविशेषौ परिच्छिन्दती द्वे किल चक्षुषी, द्रव्यार्थिकं पर्यायार्थिकं चेति। तत्र पर्यायार्थिकमेकान्तनि-मीलितं विधाय केवलोन्मीलितेन द्रव्यार्थिकेन यदावलोक्यते तदा नारकतिर्यङ्मनुष्यदेव-

---

कस्मात्। पर्यायाणां परस्परं भिन्नकालत्वात्, सुवर्णद्रव्ये कुण्डलादिपर्यायाणामिव। **एवं अहोज्जमाणो** एवमभवन्सन् **अणण्णभावं कधं लहदि** अनन्यभावमेकत्वं कथं लभते, न कथमपि। तत एतावदायाति असद्भावनिबद्धोत्पादः पूर्वपर्यायाद्भिन्नो भवतीति ॥ २१ ॥ अथैकद्रव्यस्य पर्यायैस्सहानन्यत्वाभिधानमेकत्व-मन्यत्वाभिधानमनेकत्वं च नयविभागेन दर्शयति, अथवा पूर्वोक्तसद्भावनिबद्धासद्भावमुत्पादद्वयं प्रकारान्तरेण समर्थयति—**हवदि** भवति। किं कर्तृ। **सव्वं दव्वं** सर्वं विवक्षिताविवक्षितजीवद्रव्यम्। किं विशिष्टं भवति। **अणण्णं** अनन्यमभिन्नमेकं तन्मयमिति। केन सह। तेन नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवरूपविभावपर्याय-समूहेन केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयशक्तिरूपसिद्धपर्यायेण च। केन कृत्वा। **दव्वट्ठिएण** शुद्धान्वयद्रव्यार्थिक-

---

देव-पर्यायरूप जीव मनुष्य-पर्यायरूप वा सिद्ध-पर्याय रूप नहीं होता, इस तरह पर्यायके भेदसे द्रव्य भी अन्य कहा जाता है। इस कारण पर्यायार्थिकनयसे द्रव्य अन्यरूप अवश्य करना चाहिये। जैसे सोना कंकण कुंडलादि पर्यायोंके भेदसे 'कंकणका सोना,' 'कुंडलका सोना' इस रीतिसे अन्य अन्यरूप कहा जाता है, उसी प्रकार मनुष्यजीव, देवजीव, सिद्धजीव इस तरह अन्य अन्य रूप कहनेमें आता है। इस कारण असत्‌उत्पादमें द्रव्यको अन्यरूप कहना चाहिये, यह सिद्ध हुआ ॥ २१ ॥ आगे एक द्रव्यके अन्यत्व, अनन्यत्व ये दो भेद है, वे परस्पर विरोधी एक जगह किस तरह रह सकते है? इसका समाधान आचार्य महाराज करते है—[**द्रव्यार्थिकेन**] द्रव्यार्थिकनयकी विवक्षासे [**तत् सर्वं**] वह समस्त वस्तु [**अनन्यत्**] अन्य नहीं है, वही है, अर्थात् नर नारकादि पर्यायोंमें वही एक द्रव्य रहता है [**पुनः**] और [**पर्यायार्थिकेन**] पर्यायार्थिकनयकी विवक्षासे [**अन्यत्**] अन्यरूप द्रव्य होता है, अर्थात् नर नारक आदि पर्यायोंसे जुदा जुदा कहा जाता है। क्योंकि [**तत्कालं**] नर नारकादि पर्यायोंके होनेके समय वह द्रव्य [**तन्मयत्वात्**] उस पर्यायस्वरूप ही हो जाता है। **भावार्थ—**वस्तु सामान्य, विशेषरूप दो प्रकारसे है। इन दोनोंके देखनेवाले हैं, उनके दो नेत्र कहे हैं—एक तो द्रव्यार्थिक,

सिद्धत्वपर्यायात्मकेषु विशेषेषु व्यवस्थितं जीवसामान्यमेकमवलोकयतामनवलोकितविशेषाणां तत्सर्वं जीवद्रव्यमिति प्रतिभाति । यदा तु द्रव्यार्थिकमेकान्तनिमीलितं [विधाय] केवलोन्मीलितेन पर्यायार्थिकेनावलोक्यते तदा जीवद्रव्ये व्यवस्थितान्नारकतिर्यग्मनुष्यदेवसिद्धत्वपर्यायात्मकान् विशेषाननेकानवलोकयतामनवलोकितसामान्यानामन्यदन्यत्प्रतिभाति । द्रव्यस्य तत्तद्विशेषकाले तत्तद्विशेषेभ्यस्तन्मयत्वेनानन्यत्वात् गणतृणपर्णदारुमयहव्यवाहवत् । यदा तु ते उभे अपि द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिके तुल्यकालोन्मीलिते विधाय तत इतश्चावलोक्यते तदा नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवसिद्धत्वपर्यायेषु व्यवस्थितं जीवसामान्यं जीवसामान्ये च व्यवस्थिता नारकतिर्यग्मनुष्यदेवसिद्धत्वपर्यायात्मका विशेषाश्च तुल्यकालमेवावलोक्यन्ते । तत्रैकचक्षुरवलोकनमेकदेशावलोकनं, द्विचक्षुरवलोकनं सर्वावलोकनम् । ततः सर्वावलोकने द्रव्यस्यान्यत्वमनन्यत्वं च न विप्रतिषिध्यते ॥ २२ ॥

अथ सर्वविप्रतिषेधनिषेधिकां सप्तभङ्गीमवतारयति—

नयेन । कस्मात् । कुण्डलादिपर्यायेषु सुवर्णस्येव भेदाभावात् **तं पज्जयट्ठिएण पुणो** तद् द्रव्यं पर्यायार्थिकनयेन पुनः अन्यद्भिन्नमनेकं पर्यायैः सह पृथग्भवति । कस्मादिति चेत् । **तक्काले तम्मयत्तादो** तृणाग्निकाष्ठाग्निपत्राग्निवत् स्वकीयपर्यायैः सह तत्काले तन्मयत्वादिति । एतावता विमुक्तं भवति । द्रव्यार्थिकनयेन यदा वस्तुपरीक्षा क्रियते तदा पर्यायसंतानरूपेण सर्वं पर्यायकदम्बकं द्रव्यमेव प्रतिभाति । यदा तु पर्यायनयविवक्षा क्रियते तदा द्रव्यमपि पर्यायरूपेण भिन्नं भिन्नं प्रतिभाति । यदा च परस्परसापेक्षया नयद्वयेन युगपत्समीक्ष्यते, तदैकत्वमनेकत्वं च युगपत्प्रतिभातीति । यथेदं जीवद्रव्ये व्याख्यानं कृतं तथा सर्वद्रव्येषु यथासंभवं ज्ञातव्यमित्यर्थः ॥ २२ ॥ एवं सदुत्पादकथनेन प्रथमा सदुत्पादविशेषविवरणरूपेण

दूसरा पर्यायार्थिक । इन दोनों नेत्रोंमेंसे जो पर्यायार्थिक नेत्रको सर्वथा बंद करके एक द्रव्यार्थिक नेत्रसे ही देखे, तब नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव, सिद्ध पर्यायोंमें स्थित जो सामान्य एक जीव उसके देखनेवाले पुरुषोंको सब जगह जीव ही प्रतिभासता (दीखता) है, भेद नहीं माळूम होता । और जब द्रव्यार्थिक नेत्रको सर्वथा बंद कर एक पर्यायार्थिक नेत्रसे ही देखा जावे, तब जीवद्रव्यमें नर नारकादि पर्यायोंके देखनेवाले पुरुषोंको नर नारकादि पर्याय जुदा जुदा माळूम होते हैं । जिस कालमें जो पर्याय होता है, उस पर्यायमें जीव उसी स्वरूप परिणमता है । जैसे कि आग, गोबरके छाने-कंडे, तृण, पत्ता, काठ आदि अनेक ईंधनके आकार हो जाती है, उसी प्रकार जीव भी अनेक पर्यायोंको धारण करता हुआ अनेक आकाररूप होजाता है । तथा जब द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक दोनों ही नेत्रोंसे इधर उधर सब जगह देखा जाय, तो एक ही समय नर नारकादि पर्यायोंमें वही एक द्रव्य देखनेमें आता है, और अन्य अन्य रूप भी दीखता है । इस कारण एक नयरूप नेत्रसे देखना एक अंगका देखना है, तथा दो नयरूप नेत्रोंसे देखना सब अंगोंका देखना कहा जाता है । इसलिये सर्वांग द्रव्यके देखनेमें अन्यरूप और अनन्यरूप—इस तरह दो स्वरूप कहनेका निषेध नहीं हो सकता ॥ २२ ॥ अब सब तरहके विरोधोंको दूर

अत्थि त्ति य णत्थि त्ति य हवदि अवत्तव्वमिदि पुणो दव्वं ।
पज्जायेण दु केण वि तदुभयमादिट्ठमण्णं वा ॥ २३ ॥
अस्तीति च नास्तीति च भवत्यवक्तव्यमिति पुनर्द्रव्यम् ।
पर्यायेण तु केनापि तदुभयमादिष्टमन्यद्वा ॥ २३ ॥

स्यादस्त्येव १ स्यान्नास्त्येव २ स्यादवक्तव्यमेव ३ स्यादस्तिनास्त्येव ४ स्यादस्त्यवक्तव्यमेव ५ स्यान्नास्त्यवक्तव्यमेव ६ स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्यमेव ७, स्वरूपेण १ पररूपेण २ स्वपररूपयौगपद्येन ३ स्वपररूपक्रमेण ४ स्वरूपस्वपररूपयौगपद्याभ्यां ५ पररूपस्वपररूपयौगपद्याभ्यां ६ स्वरूपपररूपस्वपररूपयौगपद्यैरादिश्यमानस्य स्वरूपेण सतः, पररूपेणासतः,

---

द्वितीया तथैवासदुत्पादविशेषविवरणरूपेण तृतीया द्रव्यपर्याययोरेकत्वानेकत्वप्रतिपादनेन चतुर्थीति सदुत्पादासदुत्पादव्याख्यानमुख्यतया गाथाचतुष्टयेन सप्तमस्थलं गतम् । अथ समस्तदुर्नयैकान्तरूपविवादनिषेधिकां नयसप्तभङ्गीं विस्तारयति—**अत्थि त्ति य** स्यादस्त्येव । स्यादिति कोऽर्थः कथंचित्कोऽर्थः । विवक्षितप्रकारेण स्वद्रव्यादिचतुष्टयेन तच्चतुष्टयं शुद्धजीवविषये कथ्यते । शुद्धगुणपर्यायाधारभूतं शुद्धात्मद्रव्यं द्रव्यं भण्यते, लोकाकाशप्रमिताः शुद्धासंख्येयप्रदेशाः क्षेत्रं भण्यते, वर्तमानशुद्धपर्यायरूपपरिणतो वर्तमानसमयः कालो भण्यते, शुद्धचैतन्यं भावश्चेत्युक्तलक्षणद्रव्यादिचतुष्टयेन इति प्रथमभङ्गः १ । **णत्थि त्ति य** स्यान्नास्त्येव स्यादिति कोऽर्थः । कथंचिद्विवक्षितप्रकारेण परद्रव्यादिचतुष्टयेन **हवदि** भवति २ । कथंभूतम् । **अवत्तव्वमिदि** स्यादवक्तव्यमेव ३ स्यादिति कोऽर्थः । कथंचिद्विवक्षितप्रकारेण युगपत्स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयेन स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादवक्तव्यं, स्यादस्तिनास्ति, स्यादस्त्येवावक्तव्यं, स्यान्नास्त्येवावक्तव्यं, स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्यम् । **पुणो** पुनः इत्थंभूतम् । किं भवति । **दव्वं** परमात्मद्रव्यं कर्तृ । पुनरपि कथंभूतं भवति । **तदुभयं** स्यादस्तिनास्त्येव । स्यादिति कोऽर्थः कथंचिद्विवक्षितप्रकारेण क्रमेण स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयेन ४ । कथंभूतं सदित्थमित्थं भवति । **आदिट्ठं** आदिष्टं विवक्षितं सत् । केन कृत्वा । **पज्जायेण**

करनेवाली सप्तभङ्गी वाणीको कहते हैं—[**द्रव्यं**] जो वस्तु है, वह [**केनचित्पर्यायेण**] किसी एक पर्यायसे [**अस्तीति**] अस्तिरूप [**भवति**] है, [**च**] और किसी एक पर्यायसे [**नास्तीति**] वही द्रव्य नास्तिरूप है, [**च**] तथा [**अवक्तव्यं इति**] किसी एक प्रकारसे वचनगोचर नहीं है, [**तु पुनः**] और [**तत् उभयं**] किसी एक पर्यायसे वही द्रव्य अस्तिनास्तिरूप है, [**वा**] अथवा किसी एक पर्यायसे [**अन्यत्**] अन्य तीन भंगस्वरूप [**आदिष्टं**] कहा गया है। **भावार्थ—**द्रव्यकी सिद्धि सप्तभंगोंसे होती है, वे इस प्रकार हैं—स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभाव, इस तरह अपने चतुष्टयकी अपेक्षा द्रव्य **अस्तिरूप** है १, परद्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षा **नास्तिरूप** है २, एक कालमें 'अस्ति नास्ति' कह नहीं सकते, इस कारण वह **अवक्तव्य** है ३, क्रमसे वचनद्वारा **अस्तिनास्तिरूप** है ४, तथा द्रव्यमें **स्यात् अस्त्यवक्तव्य** चौथा भंग है, क्योंकि किसी एक प्रकार स्वचतुष्टयसे अस्तिरूप होता हुआ भी एक ही कालमें स्वपरचतुष्टयसे वचनद्वारा कहा

स्वपररूपाभ्यां युगपद्वक्तुमशक्यस्य, स्वपररूपाभ्यां क्रमेण सतोऽसतश्च, स्वरूपस्वपररूपयौगपद्याभ्यां सतो वक्तुमशक्यस्य च, पररूपस्वपररूपयौगपद्याभ्यामसतो वक्तुमशक्यस्य च, स्वरूपपररूपस्वपररूपयौगपद्यैः सतोऽसतो वक्तुमशक्यस्य चानन्तधर्मणो द्रव्यस्यैकैकं धर्ममाश्रित्य विवक्षिताविवक्षितविधिप्रतिषेधाभ्यामवतरन्ती सप्तभङ्गिकैवकारविश्रान्तमश्रान्तसमुच्चार्यमाणस्यात्कारामोघमन्त्रपदेन समस्तमपि विप्रतिषेधविषमोहमुदस्यति ॥ २३ ॥

अथ निर्धार्यमाणत्वेनोदाहरणीकृतस्य जीवस्य मनुष्यादिपर्यायाणां क्रियाफलत्वेनान्यत्वं द्योतयति —

एसो त्ति णत्थि कोई ण णत्थि किरिया सहावणिव्वत्ता।
किरिया हि णत्थि अफला धम्मो जदि णिप्फलो परमो ॥ २४ ॥

दु पर्यायेण तु प्रश्नोत्तररूपनयविभागेन तु। कथंभूतेन। **केण वि** केनापि विवक्षितेन नैगमादिनयरूपेण **अण्णं वा** अन्यद्वा संयोगभङ्गत्रयरूपेण। तत्कथ्यते—स्यादस्त्येवावक्तव्यं स्वद्रव्यादिचतुष्टयेन युगपत्स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयेन च ५। स्यान्नास्त्येवावक्तव्यं परद्रव्यादिचतुष्टयेन युगपत्स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयेन च ६। स्यादस्तिनास्त्येवावक्तव्यं क्रमेण स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयेन युगपत्स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयेन च ७। **पूर्वं पञ्चास्तिकाये** स्यादस्तीत्यादिप्रमाणवाक्येन प्रमाणसप्तभङ्गी व्याख्याता, अत्र तु स्यादस्त्येव यदेवकारग्रहणं तन्नयसप्तभङ्गीज्ञापनार्थमिति भावार्थः। यथेदं सप्तभङ्गीव्याख्यानं शुद्धात्मद्रव्ये दर्शितं तथा यथासंभवं सर्वपदार्थेषु द्रष्टव्यमिति ॥ २३ ॥ एवं नयसप्तभङ्गी व्याख्यानगाथयाष्टमस्थलं गतम्। एवं पूर्वोक्तप्रकारेण प्रथमा नमस्कारगाथा, द्रव्यगुणपर्यायकथनरूपेण द्वितीया, स्वसमयपरसमयप्रतिपादनेन तृतीया, द्रव्यस्य सत्तादिलक्षणत्रयसूचनरूपेण चतुर्थीति स्वतन्त्रगाथाचतुष्टयेन पीठिकास्थलम्। तदनन्तरमवान्तरसत्ताकथनरूपेण प्रथमा, महासत्तारूपेण द्वितीया, यथा द्रव्यं स्वभावसिद्धं तथा सत्तागुणोऽपीति कथनरूपेण तृतीया, उत्पादव्ययध्रौव्यत्वेऽपि सत्तैव द्रव्यं भवतीति कथनेन चतुर्थीति गाथाचतुष्टयेन सत्तालक्षणविवरणमुख्यता। तदनन्तरमुत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणविवरणमुख्यत्वेन गाथात्रयं, तदनन्तरं द्रव्यपर्यायकथनेन गुणपर्यायकथनेन

नहीं जाता ५, और कथंचित् प्रकार परचतुष्टयसे नास्तिरूप हुआ भी एक ही समय स्वपरचतुष्टयकर बचनगोचर न होनेसे **स्यान्नास्त्यवक्तव्य** है ६, और किसी एक प्रकार स्वरूपसे अस्तिरूप—पररूपसे नास्तिरूप होता हुआ भी एक ही समयमें स्वपररूपकर वचनसे कह नहीं सकते, इस कारण **स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्य** भंगरूप है ७॥ इस प्रकार अनंतगुणात्मक द्रव्य सप्तभंगसे सिद्ध हुआ। विधिनिषेधकी मुख्यता—गौणता करके यह सप्तभंगी वाणी 'स्यात्' पदरूप सत्यमंत्रसे एकांतरूप खोटे नयरूपी विष-मोहको दूर करती है ॥ २३ ॥ आगे जीवके जो ये असद्भूत मनुष्यादि पर्याय दिखलाये हैं, वे मोह-क्रियाके फल हैं, इस कारण वस्तु स्वभावसे जुदा हैं, ऐसा दिखलाते हैं—**[एषः]** यह पर्याय टंकोत्कीर्ण अविनाशी है, **[इति]** ऐसा **[कश्चित्]** नर नारकादि पर्यायोंमें कोई भी पर्याय **[नास्ति]** नहीं है। और **[स्वभावनिर्वृत्ता]** रागादि अशुद्ध परिणतिरूप विभाव स्वभावकर उत्पन्न

एष इति नास्ति कश्चिन्न नास्ति क्रिया स्वभावनिर्वृत्ता।
क्रिया हि नास्त्यफला धर्मो यदि निःफलः परमः ॥ २४ ॥

इह हि संसारिणो जीवस्यानादिकर्मपुद्गलोपाधिसंनिधिमत्ययप्रवर्तमानप्रतिक्षणविवर्तनस्य क्रिया किल स्वभावनिर्वृत्तैवास्ति। ततस्तस्य मनुष्यादिपर्यायेषु च न कश्चनाप्येष एवेति टङ्कोत्कीर्णोऽस्ति, तेषां पूर्वपूर्वोपमर्दप्रवृत्तक्रियाफलत्वेनोत्तरोत्तरोपमर्धमानत्वात् फलमभिलष्येत वा मोहसंवलनाविलयनात् क्रियायाः। क्रिया हि तावच्चेतनस्य पूर्वोत्तरदशाविशिष्टचैतन्यपरिणा-

---

च गाथाद्वयं, ततश्च द्रव्यस्यास्तित्वस्थापनारूपेण प्रथमा, पृथक्त्वलक्षणस्यातद्भावाभिधानत्वलक्षणस्य च कथनरूपेण द्वितीया, संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदरूपस्यातद्भावस्य विवरणरूपेण तृतीया, तस्यैव दृढीकरणार्थं चतुर्थीति गाथाचतुष्टयेन सत्ताद्रव्ययोरभेदविषये युक्तिकथनमुख्यता। तदनन्तरं सत्ताद्रव्ययोर्गुणगुणिकथनेन प्रथमा, गुणपर्यायाणां द्रव्येण सहाभेदकथनेन द्वितीया चेति स्वतन्त्रगाथाद्वयम्। तदनन्तरं द्रव्यस्य सदुत्पादासदुत्पादयोः सामान्यव्याख्यानेन विशेषव्याख्यानेन च गाथाचतुष्टयं, ततश्च सप्तभङ्गीकथनेन गाथैका चेति समुदायेन चतुर्विंशतिगाथाभिरष्टभिः स्थलैः सामान्यज्ञेयव्याख्यानमध्ये सामान्यद्रव्यप्ररूपणं समाप्तम्। अतः परं तत्रैव सामान्यद्रव्यनिर्णयमध्ये सामान्यभेदभावनामुख्यत्वेनैकादशगाथापर्यन्तं व्याख्यानं करोति। तत्र क्रमेण पञ्च स्थानानि भवन्ति। प्रथमस्तावद्वार्तिकव्याख्यानाभिप्रायेण सांख्यैकान्तनिराकरणं, अथवा शुद्धनिश्चयनयेन कर्मफलं भवति, न च शुद्धात्मस्वरूपमिति तस्यैवाधिकारसूत्रस्य विवरणार्थं 'कम्मं णामसमक्खं' इत्यादि पाठक्रमेण गाथाचतुष्टयं, ततः परं रागादिपरिणाम एव द्रव्यकर्मकारणत्वाद्भावकर्म भण्यत इति परिणाममुख्यत्वेन 'आदा कम्ममलिमसो' इत्यादिसूत्रद्वयं, तदनन्तरं कर्मफलचेतना कर्मचेतना ज्ञानचेतनेति त्रिविधचेतनाप्रतिपादनरूपेण 'परिणमदि चेदणाए' इत्यादिसूत्रद्वयं, तदनन्तरं शुद्धात्मभेदभावनाफलं कथयन् सन् 'कत्ता करणं' इत्याद्येकसूत्रेणोपसंहरति। एवं भेदभावनाधिकारे स्थलपञ्चकेन समुदायपातनिका। तद्यथा—अथ नरकादिपर्यायाः कर्माधीनत्वेन विनश्वरत्वादिति शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्वरूपं न भवतीति भेदभावनां कथयति—**एसो त्ति णत्थि कोई** टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावपरमात्मद्रव्यवत्संसारे मनुष्यादिपर्यायेषु मध्ये सर्वदैवैक एकरूप एव नित्यः कोऽपि नास्ति। तर्हि मनुष्यादिपर्यायनिर्वर्तिका संसारक्रिया

हुई जो [**क्रिया**] जीवकी अशुद्ध कर्तव्यता [**नास्ति न**] वह नहीं है, ऐसा भी नहीं, अर्थात् क्रिया तो अवश्य है। [**यदि**] जो [**परमः धर्मः**] उत्कृष्ट वीतराग भाव [**निष्फलः**] नर नारकादि पर्यायरूप फलकरके रहित है, तो [**हि**] निश्चयसे [**क्रिया**] रागादि परणमनरूप क्रिया [**अफला**] फल रहित [**नास्ति**] नहीं है, अर्थात् क्रिया फलवती है। **भावार्थ—**संसारमें कोई पर्याय नित्य नहीं है। यहाँ कोई यह कहे, कि नर नारकादि पर्याय नित्य नहीं मानोगे, तो रागादि परिणतिरूप क्रिया भी नहीं हो सकती? ऐसा कहना ठीक नहीं हैं, क्योंकि आत्मा अनादि कालसे पुद्गलकर्मके निमित्तसे नानारूप परणमन करता है, इस कारण रागादि परिणतिरूप क्रिया है। उसी क्रियाके फल नर नारकादि पर्याय हैं, तथा पूर्व पर्याय आगेकी पर्यायसे विनाशीक हैं। जैसे स्निग्ध रूखे गुणोकर परिणत हुई परमाणु-

मात्मिका। सा पुनरणोरण्वन्तरसंगतस्य परिणतिरिवात्मनो मोहसंवलितस्य द्व्यणुककार्यस्येव मनुष्यादिकार्यस्य निष्पादकत्वात्सफलैव। सैव मोहसंवलनविलयने पुनरणोरुच्छिन्नाण्वन्तरसंगमस्य परिणतिरिव द्व्यणुककार्यस्येव मनुष्यादिकार्यस्यानिष्पादकत्वात् परमद्रव्यस्वभावभूततया परमधर्माख्या भवत्यफलैव ॥ २४ ॥

अथ मनुष्यादिपर्यायाणां जीवस्य क्रियाफलत्वं व्यनक्ति—

कम्मं णामसमक्खं सभावमध अप्पणो सहावेण।
अभिभूय णरं तिरियं णेरइयं वा सुरं कुणदि ॥ २५ ॥

सापि न भविष्यति। **ण णत्थि किरिया** न नास्ति क्रिया मिथ्यात्वरागादिपरिणतिः संसारः कर्मेति यावत् इति पर्यायनामचतुष्टयरूपा क्रियास्त्येव। सा च कथंभूता। **सभावणिव्वत्ता** शुद्धात्मस्वभावाद्विपरीतापि नरनारकादिविभावपर्यायस्वभावेन निर्वृत्ता। तर्हि किं निष्फला भविष्यति। **किरिया हि णत्थि अफला** क्रिया हि नास्त्यफला सा मिथ्यात्वरागादिपरिणतिरूपा क्रिया यद्यप्यनन्तसुखादिगुणात्मकमोक्षकार्यं प्रति निष्फला तथापि नानादुःखदायकस्वकीयकार्यभूतमनुष्यादिपर्यायनिर्वर्तकत्वात्सफलेति मनुष्यादिपर्यायनिष्पत्तिरेवास्याः फलम्। कथं ज्ञायत इति चेत्। **धम्मो जदि णिप्फलो परमो** धर्मो यदि निष्फलः परमः नीरागपरमात्मोपलम्भपरिणतिरूपः आगमभाषया परमयथाख्यातचारित्ररूपो वा योऽसौ परमो धर्मः, स केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्योत्पादकत्वात्सफलोऽपि नरनारकादिपर्यायकारणभूतं ज्ञानावरणादिकर्मबन्धं नोत्पादयति, ततः कारणान्निष्फलः। ततो ज्ञायते नरनारकादिसंसारकार्यं मिथ्यात्वरागादिक्रियायाः फलमिति। अथवास्य सूत्रस्य द्वितीयव्याख्यानं क्रियते—यथा शुद्धनयेन रागादिविभावेन परिणमत्ययं जीवस्तथैवाशुद्धनयेनापि न परिणमतीति यदुक्तं सांख्येन तन्निराकृतम्। कथमिति चेत्। अशुद्धनयेन मिथ्यात्वरागादिविभावपरिणतजीवानां नरनारकादिपर्यायपरिणतिदर्शनादिति। एवं प्रथमस्थले सूत्रगाथा गता ॥ २४ ॥ अथ मनुष्यादिपर्यायाः कर्मजनिता इति विशेषेण व्यक्तीकरोति—**कम्मं** कर्मरहितपरमात्मनो विलक्षणं कर्म कर्तृ। किंविशिष्टम्। **णामसमक्खं** निर्नामनिर्गोत्रमुक्तात्मनो विपरीतं नामेति

ओंकी क्रिया द्व्यणुकादि स्कंधरूप कार्यको उत्पन्न करती है, उसी प्रकार मोहसे मिली हुई आत्माकी क्रिया अवश्य ही मनुष्यादि पर्यायोंको उत्पन्न करती है, इस कारण क्रिया फलवती समझना चाहिये। दूसरा प्रमाण फलवती क्रिया होनेमें यह है, कि वीतरागभाव नरनारकादि पर्यायरूप फलरहित है, तो ऊपरसे यह बात सिद्ध ही है, कि रागादि परिणतिरूप क्रिया नर नारकादि पर्यायरूप फलवाली है। जैसे बंधयोग्य-स्निग्धरूक्ष-भावरहित परमाणु द्व्यणुकादि बंधको नहीं उत्पन्न कर सकते, उसी तरह परम वीतरागभाव मनुष्यादि पर्यायोंको कारण नहीं है। इसलिये यह सारांश निकला, कि मोहसे मिली हुई क्रिया संसारका कारण है। मोह रहित क्रिया वस्तुका स्वभाव है, वही परमधर्मरूप है, तथा संसारका नाश इसी क्रियासे होता है ॥ २४ ॥ आगे जीवके मनुष्यादि पर्याय क्रियाके फल हैं, ऐसा दिखाते हैं— **[अथ]** इसके बाद जो **[नामसमाख्यं]** नामकर्म संज्ञावाला **[कर्म]** नर नारकादिरूप नामकर्म है,

कर्म नामसमाख्यं स्वभावमथात्मनः स्वभावेन ।
अभिभूय नरं तिर्यञ्चं नैरयिकं वा सुरं करोति ॥ २५ ॥

क्रिया खल्वात्मना प्राप्यत्वात्कर्म, तन्निमित्तप्राप्तपरिणामः पुद्गलोऽपि कर्म, तत्कार्यभूता मनुष्यादिपर्याया जीवस्य क्रियाया मूलकारणभूतायाः प्रवृत्तत्वात् क्रियाफलमेव स्युः । क्रियाऽभावे पुद्गलानां कर्मत्वाभावात्तत्कार्यभूतानां तेषामभावात् । अथ कथं ते कर्मणः कार्यभावमायान्ति, कर्मस्वभावेन जीवस्वभावमभिभूय क्रियमाणत्वात् तु प्रदीपवत् । तथाहि—यथा खलु ज्योतिःस्वभावेन तैलस्वभावमभिभूय क्रियमाणः प्रदीपो ज्योतिःकार्यं तथा कर्मस्वभावेन जीवस्वभावमभिभूय क्रियमाणा मनुष्यादिपर्यायाः कर्मकार्यम् ॥ २५ ॥

अथ कुतो मनुष्यादिपर्यायेषु जीवस्य स्वभावाभिभवो भवतीति निर्धारयति—

णरणारयतिरियसुरा जीवा खलु णामकम्मणिव्वत्ता ।
ण हि ते लद्धसहावा परिणममाणा सकम्माणि ॥ २६ ॥

सम्यगाख्या संज्ञा यस्य तद्भवति नामसमाख्यं नामकर्मेत्यर्थः । **सभावं** शुद्धबुद्धैकपरमात्मस्वभावं **अह** अथ **अप्पणो सहावेण** आत्मीयेन ज्ञानावरणादिस्वकीयस्वभावेन करणभूतेन **अभिभूय** तिरस्कृत्य प्रच्छाद्य तं पूर्वोक्तमात्मस्वभावम् । पश्चात्किं करोति । **णरं तिरियं णेरइयं वा सुरं कुणदि** नरतिर्यग्नारकसुररूपं करोतीति । अयमत्रार्थः—यथाग्निः कर्ता तैलस्वभावं कर्मतापन्नमभिभूय निरस्कृत्य वर्त्याधारेण दीपशिखारूपेण परिणमयति, तथा कर्माग्निः कर्ता तैलस्थानीयं शुद्धात्मस्वभावं निरस्कृत्य वर्तिस्थानीयशरीराधारेण दीपशिखास्थानीयनरनारकादिपर्यायरूपेण परिणमयति । ततो ज्ञायते मनुष्यादिपर्यायाः निश्चयनयेन कर्मजनिता इति ॥ २५ ॥ अथ नरनारकादिपर्यायेषु कथं जीवस्य स्वभावाभिभवो जातस्तत्र किं जीवाभाव इति प्रश्ने प्रत्युत्तरं

वह [**स्वभावेन**] अपने नर नारकादि गतिरूप परिणमन स्वभावसे [**आत्मनः**] जीवके [**स्वभावं**] शुद्ध निष्क्रिय परिणामको [**अभिभूय**] आच्छादित करके जीवको [**नरं**] मनुष्य [**तिर्यञ्चं**] तिर्यंच [**नैरयिकं**] नारकी [**वा**] अथवा [**सुरं**] देव [**करोति**] इन चारों गतियोंरूप करता है । **भावार्थ**—रागादि परिणतिरूप क्रिया आत्मासे होती है, इसलिये इस क्रियाका नाम 'भावकर्म' है । उसके निमित्तको पाकर पुद्गल द्रव्य कर्मरूप परिणमन करता है, इस कारण पुद्गलको भी कर्म कहते हैं । उस कर्मके फल मनुष्यादि पर्याय है । वास्तवमें देखा जाय, तो जीवकी जो रागादिरूप क्रिया है, उसीकी मुख्यतासे इन मनुष्यादि पर्यायोंकी प्रवृत्ति होती है, इसी लिये ये पर्याय क्रियाके फल कहे गये हैं । यदि रागादि क्रिया न हो, तो पुद्गल कर्मरूप परिणमन नहीं कर सकता, कर्मरूप परिणमन न होनेसे नर नारकादि पर्याय भी नहीं हो सकते । जैसे दीपक अग्निस्वभावसे तेल स्वभावको दूर करके प्रकाशरूप कार्य करता है, उसी प्रकार ज्ञानावरणादि कर्म जीव-स्वभावको घातकर मनुष्यादि पर्यायरूप नाना प्रकारके कार्यको करता है ॥ २५ ॥ आगे निश्चयसे मनुष्यादि पर्यायोंमें जीवके स्वभावका नाश कदापि नहीं होता, ऐसा दिखाते हैं—[**नरनारकतिर्यक्सुराः**] मनुष्य, नारकी, तिर्यंच और देव [**जीवाः**]

नरनारकतिर्यक्सुरा जीवाः खलु नामकर्मनिर्वृत्ताः ।
न हि ते लब्धस्वभावाः परिणममानाः स्वकर्माणि ॥ २६ ॥

अमी मनुष्यादयः पर्याया नामकर्मनिर्वृत्ताः सन्ति तावत् । न पुनरेतावतापि तत्र जीवस्य स्वभावाभिभवोऽस्ति । यथा कनकबद्धमाणिक्यकङ्कणेषु माणिक्यस्य । यत्तत्र नैव जीवस्वभावमुपलभते तत् स्वकर्मपरिणमनात् पयःपूरवत् । यथा खलु पयःपूरः प्रदेशस्वादाभ्यां पिचुमन्दचन्दनादिवनराजीं परिणमन्न द्रव्यत्वस्वादुत्वस्वभावमुपलभते, तथात्मापि प्रदेशभावाभ्यां कर्मपरिणमनान्नामूर्तत्वनिरुपरागविशुद्धिमत्त्वस्वभावमुपलभते ॥ २६ ॥

अथ जीवस्य द्रव्यत्वेनावस्थितत्वेऽपि पर्यायैरनवस्थितत्वं द्योतयति—

जायदि णेव ण णस्सदि खणभंगसमुब्भवे जणे कोई ।
जो हि भवो सो विलओ संभवविलय त्ति ते णाणा ॥ २७ ॥

ददाति—**णरणारयतिरियसुरा जीवा** नरनारकतिर्यक्सुरनामानो जीवाः सन्ति तावत् । **खलु** स्फुटम् । कथंभूताः । **णामकम्मणिव्वत्ता** नरनारकादिस्वकीयनामकर्मणा निर्वृत्ताः **ण हि ते लद्धसहावा** किंतु यथा माणिक्यबद्धसुवर्णकङ्कणेपु माणिक्यस्य हि मुख्यता नास्ति, तथा ते जीवाश्चिदानन्दैकशुद्धात्मस्वभावमलभमानाः सन्तो लब्धस्वभावा न भवन्ति, तेन कारणेन स्वभावाभिभवो भण्यते, न च जीवाभावः । कथंभूताः सन्तो लब्धस्वभावा न भवन्ति । **परिणममाणा सकम्माणि** स्वकीयोदयागतकर्माणि सुखदुःखरूपेण परिणममाना इति । अयमत्रार्थः—यथा वृक्षसेचनविषये जलप्रवाहश्चन्दनादिवनराजिरूपेण परिणतः सन्स्वकीयकोमलशीतलनिर्मलस्वभावं न लभते, तथायं जीवोऽपि वृक्षस्थानीयकर्मोदयपरिणतः सन्परमाह्लादैकलक्षणसुखामृतास्वादनैर्मल्यादिस्वकीयगुणसमूहं न लभत इति ॥ २६ ॥ अथ जीवस्य द्रव्येण नित्यत्वेऽपि पर्यायेण विनश्वरत्वं दर्शयति—**जायदि णेव ण णस्सदि** जायते नैव न नश्यति द्रव्यार्थिकनयेन । क ।

इस प्रकार चार गतियोंस्वरूप जीव [**खलु**] निश्चयसे [**नामकर्मनिर्वृत्ताः**] नामकर्मसे रचे गये हैं, [**हि**] इसी कारणसे [**ते**] वे जीव [**स्वकर्माणि**] अपने अपने उपार्जित कर्मोंरूप [**परिणममानाः**] परणमन करते हुए [**लब्धस्वभावा न**] चिदानंद स्वभावको नहीं प्राप्त होते। **भावार्थ**—ये मनुष्यादि पर्याय नामकर्मसे उत्पन्न होते है, परंतु इनसे जीवके स्वभावका नाश नहीं होता । जैसे—सोनेमें जड़ा हुआ माणिक रत्नका नाश नहीं होता है, उसी प्रकार जीवका भी नाश नहीं होता । किंतु उन पर्यायोंमें अपने अपने कर्मोंके परिणमनसे यह जीव अपने चिदानंद शुद्ध स्वभावको नहीं पाता है । जैसे जलका प्रवाह वनमें अपने प्रदेशों और स्वादसे नीम चंदनादि वृक्षरूप होके परिणमन करता है, वहाँपर वह जल अपने द्रव्यस्वभाव और स्वाद स्वभावको नहीं पाता, उसी प्रकार यह आत्मा भी जब अपने प्रदेश और भावोंसे कर्मरूप होके परिणमता है, तब यही अमूर्तित्व और वीतराग चिदानंद स्वभावको नहीं पाता । इसलिये यह सिद्ध हुआ, कि यह जीव परिणमनके दोषसे अनेकरूप हो जाता है, लेकिन उसके स्वभावका नाश नहीं होता ॥ २६ ॥ आगे जीव यद्यपि द्रव्यपनेसे एक अवस्थारूप है,

जायते नैव न नश्यति क्षणभङ्गसमुद्भवे जने कश्चित् ।
यो हि भवः स विलयः संभवविलयाविति तौ नाना ॥ २७ ॥

इह तावन्न कश्चिज्जायते न म्रियते च । अथ च मनुष्यदेवतिर्यङ्नारकात्मको जीवलोकः प्रतिक्षणपरिणामित्वादुत्संगितक्षणभङ्गोत्पादः । न च विप्रतिषिद्धमेतत्, संभवविलययोरेकत्वनानात्वाभ्याम् । यदा खलु भङ्गोत्पादयोरेकत्वं तदा पूर्वपक्षः, यदा तु नानात्वं तदोत्तरः । तथाहि– यथा य एव घटस्तदेव कुण्डमित्युक्ते घटकुण्डस्वरूपयोरेकत्वासंभवात्तदुभयाधारभूता मृत्तिका संभवति, तथा य एव संभवः स एव विलय इत्युक्ते संभवविलयस्वरूपयोरेकत्वासंभवात्तदुभयाधारभूतं ध्रौव्यं संभवति । ततो देवादिपर्याये संभवति मनुष्यादिपर्याये विलीयमाने च य एव संभवः स एव विलय इति कृत्वा तदुभयाधारभूतं ध्रौव्यवज्जीवद्रव्यं संभाव्यत एव । ततः सर्वदा

खणभंगसमुब्भवे जणे कोई क्षणभङ्गसमुद्भवे जने कोऽपि । क्षणं क्षणं प्रति भङ्गसमुद्भवो यत्र संभवति क्षणभङ्गसमुद्भवस्तस्मिन्क्षणभङ्गसमुद्भवे विनश्वरे पर्यायार्थिकनयेन जने लोके जगति कश्चिदपि, तस्मान्नैव जायते न चोत्पद्यत इति हेतुं वदति **जो हि भवो सो विलओ** द्रव्यार्थिकनयेन यो हि भवः स एव विलयो यतः कारणात् । तथाहि मुक्तात्मनां य एव सकलविमलकेवलज्ञानादिरूपेण मोक्षपर्यायेण भव उत्पादः स एव निश्चयरत्नत्रयात्मकनिश्चयमोक्षमार्गपर्यायेण विलयो विनाशस्तौ च मोक्षपर्यायमोक्षमार्गपर्यायौ कार्यकारणरूपेण भिन्नौ, तदुभयाधारभूतं यत्परमात्मद्रव्यं तदेव मृत्पिण्डघटाधारभूतमृत्तिकाद्रव्यवत् मनुष्य-

तो भी पर्यायोंसे अनवस्थित (नानारूप) है, ऐसा प्रगट करते हैं—[**क्षणभङ्गसमुद्भवे**] समय समय विनाश होनेवाले [**जने**] इस जीवलोकमें [**कश्चित्**] कोई भी जीव [**नैव जायते**] न तो उत्पन्न होता है, [**न नश्यति**] और न नष्ट होता है । [**यः**] जो द्रव्य [**हि**] निश्चयसे [**भवः**] उत्पत्तिरूप है, [**स**] वही वस्तु [**विलयः**] नाशरूप है । [**इति**] इसलिये [**तौ**] वे [**संभवविलयौ**] उत्पाद और नाश ये दोनों पर्याय [**नाना**] भेद लिये हुए हैं । **भावार्थ—**इस विनाशीक संसारमें जो द्रव्यदृष्टिसे देखा जाय, तो न तो कोई वस्तु उत्पन्न होती है, और न विनाशको प्राप्त होती है, इस कारण द्रव्यार्थिकनयसे उत्पाद और व्यय इन दोनों अवस्थाओंमें द्रव्य एक नित्य ही है, पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा उत्पाद, व्यय जुदा जुदा हैं । इस तरह उत्पाद और व्ययमें एकता और अनेकता ये दो भेद होते है । जो द्रव्यत्वकर देखा जाय, तो एकता है, और पर्यायार्थिकसे अनेकता देखनेमें आती है । यही दृष्टांतसे दिखाते हैं—जैसे जो घड़ा है, वही कूंड़ा है, ऐसा कहनेसे घड़े और कूंड़ेमें एकता नहीं होसकती, इस कारण उन दो स्वरूपोंका आधार मिट्टीकी जो अपेक्षा ली जावे, तो एकता हो सकती है, उसी प्रकार उत्पाद, व्ययमें भी द्रव्यपनेसे दोनोंका आधार ध्रौव्य द्रव्य आता है । इसलिये जीवके देवादि पर्यायके उत्पाद होनेपर और मनुष्यादि पर्यायके विनाश होनेपर जो उत्पन्न होता है, वही विनाश पाता है, इन दोनों अवस्थाओंका आधार ध्रौव्य जीवद्रव्य ही सिद्ध होता है । इस कारण जीव द्रव्य हमेशा द्रव्यपनेसे टंकोत्कीर्ण रहता है । इस तरह सब अवस्थाओंमें एकता सिद्ध हुई । अब भेद दिखाते

द्रव्यत्वेन जीवष्टङ्कोत्कीर्णोऽवतिष्ठते। अपि च यथाऽन्यो घटोऽन्यत्कुण्डमित्युक्ते तदुभयाधारभूताया मृत्तिकाया अन्यत्वासंभवात् घटकुण्डस्वरूपे संभवतः, तथान्यः संभवोऽन्यो विलय इत्युक्ते तदुभयाधारभूतस्य ध्रौव्यस्यान्यत्वासंभवात्संभवविलयस्वरूपे संभवतः। ततो देवादिपर्याये संभवति मनुष्यादिपर्याये विलीयमाने चान्यः संभवोऽन्यो विलय इति कृत्वा संभवविलयवन्तौ देवादिमनुष्यादिपर्यायौ संभाव्येते। ततः प्रतिक्षणं पर्यायैर्जीवोऽनवस्थितः ॥ २७ ॥

अथ जीवस्यानवस्थितत्वहेतुमुद्द्योतयति —

> **तम्हा दु णत्थि कोई सहावसमवट्ठिदो त्ति संसारे।**
> **संसारो पुण किरिया संसरमाणस्स दव्वस्स ॥ २८ ॥**
> **तस्मात्तु नास्ति कश्चित् स्वभावसमवस्थित इति संसारे।**
> **संसारः पुनः क्रिया संसरतो द्रव्यस्य ॥ २८ ॥**

यतः खलु जीवो द्रव्यत्वेनावस्थितोऽपि पर्यायैरनवस्थितः, ततः प्रतीयते न कश्चिदपि संसारे स्वभावेनावस्थित इति। यच्चात्रानवस्थितत्वं तत्र संसार एव हेतुः। तस्य मनुष्यादि-

पर्यायदेवपर्यायाधारभूतसंसारिजीवद्रव्यवद्वा। क्षणभङ्गसमुद्भवे हेतुः कथ्यते। **संभवविलय त्ति ते णाणा** सभवविलयौ द्वाविति तौ नाना भिन्नौ यतः कारणात्ततः पर्यायार्थिकनयेन भङ्गोत्पादौ। तथाहि—य एव पूर्वोक्तमोक्षपर्यायस्योत्पादो मोक्षमार्गपर्यायस्य विनाशस्तावेव भिन्नौ न च तदाधारभूतपरमात्मद्रव्यमिति। ततो ज्ञायते द्रव्यार्थिकनयेन नित्यत्वेऽपि पर्यायरूपेण विनाशोऽस्तीति ॥ २७ ॥ अथ विनश्वरत्वे कारण-मुपन्यस्यति, अथवा प्रथमस्थलेऽधिकारसूत्रेण मनुष्यादिपर्यायाणां कर्मजनितत्वेन यद्विनश्वरत्वं सूचितं तदेव गाथात्रयेण विशेषेण व्याख्यातमिदानीं तस्योपसंहारमाह—**तम्हा दु णत्थि कोई सहावसमवट्ठिदो त्ति** तस्मान्नास्ति कश्चित्स्वभावसमवस्थित इति। यस्मात्पूर्वोक्तप्रकारेण मनुष्यादिपर्यायाणां विनश्वरत्वव्याख्यानं कृतं तस्मादेव ज्ञायते परमानन्दैकलक्षणपरमचैतन्यचमत्कारपरिणतशुद्धात्मस्वभाववदवस्थितो नित्यः कोऽपि

है—जैसे घड़ा अन्य है, और कूंड़ा अन्य ही है, ऐसा कहनेपर जो उन दोनोंका आधार मृत्तिकाकी अपेक्षा लें, तो भेद हो नहीं सकता, इसलिये यहाँ घट-कुंड पर्यायोंके भेदसे ही भेद हो सकता है, उसी प्रकार अन्य ही उत्पन्न होता है, और दूसरा ही नाशको पाता है, ऐसा कहनेपर यदि इन दोनोंका आधार द्रव्य लिया जाय, तो भेद बनता ही नहीं है, इस कारण उत्पाद और व्यय पर्यायके भेदसे ही भेद होता है। इसलिये देवादि पर्यायोंके उत्पन्न होनेपर और मनुष्यादि पर्यायोंके विनाश होनेसे अन्य ही उत्पन्न होता है, और दूसरा ही विनाश पाता है, ऐसा भेद देव मनुष्यादि पर्यायोंसे कहा जाता है। इससे यह सिद्ध हुआ, कि समय समयमें पर्यायोंसे ही जीव अनवस्थित—अथिर है ॥ २७ ॥ आगे जीवके अथिर भाव दिखलाते हैं—[**तस्मात् तु**] इस पूर्वोक्त रीतिसे [**संसारे**] संसारमें [**कश्चित्**] कोई भी वस्तु [**स्वभावसमवस्थितः**] स्वभावसे थिर है, [**इति**] ऐसा [**नास्ति**] नहीं है, [**पुनः**] और जो [**संसरतो द्रव्यस्य**] चारों गतियोंमें भटकनेवाले जीवद्रव्यकी [**क्रिया**] अन्य अन्य अवस्थारूप

पर्यायात्मकत्वात् स्वरूपेणैव तथाविधत्वात् । अथ यस्तु परिणममानस्य द्रव्यस्य पूर्वोत्तरदशापरित्यागोपादानात्मकः क्रियाख्यः परिणामस्तत्संसारस्य स्वरूपम् ॥ २८ ॥

अथ परिणामात्मके संसारे कुतः पुद्गलश्लेषो येन तस्य मनुष्यादिपर्यायात्मकत्वमित्यत्र समाधानमुपवर्णयति—

आदा कम्ममलिमसो परिणामं लहदि कम्मसंजुत्तं ।
तत्तो सिलिसदि कम्मं तम्हा कम्मं तु परिणामो ॥ २९ ॥
आत्मा कर्ममलीमसः परिणामं लभते कर्मसंयुक्तम् ।
ततः श्लिष्यति कर्म तस्मात् कर्म तु परिणामः ॥ २९ ॥

यो हि नाम संसारनामायमात्मनस्तथाविधः परिणामः स एव द्रव्यकर्मश्लेषहेतुः । अथ तथाविधपरिणामस्यापि को हेतुः, द्रव्यकर्म हेतुः तस्य, द्रव्यकर्मसंयुक्तत्वेनेवोपलम्भात् । एवं सतीतरेतराश्रयदोषः । न हि । अनादिप्रसिद्धद्रव्यकर्माभिसंबद्धस्यात्मनः प्राक्तनद्रव्यकर्मणस्तत्र

नास्ति । क । **संसारे** निस्संसारशुद्धात्मनो विपरीते संसारे । संसारस्वरूपं कथयति—**संसारो पुण किरिया** संसारः पुनः क्रिया निष्क्रियनिर्विकल्पशुद्धात्मपरिणतेर्विसदृशा मनुष्यादिविभावपर्यायपरिणतिरूपा क्रिया संसारस्वरूपम् । सा च कस्य भवति । **संसरमाणस्स जीवस्स** विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावमुक्तात्मनो विलक्षणस्य संसरतः परिभ्रमतः संसारिजीवस्येति । ततः स्थितं मनुष्यादिपर्यायात्मकः संसार एव विनश्वरत्वे कारणमिति ॥ २८ ॥ एवं शुद्धात्मनो भिन्नानां कर्मजनितमनुष्यादिपर्यायाणां विनश्वरत्वकथनमुख्यतया गाथाचतुष्टयेन द्वितीयस्थलं गतम् । अथ संसारस्य कारणं ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म तस्य तु कारणं मिथ्यात्वरागादिपरिणाम इत्यावेदयति—**आदा** निर्दोषिपरमात्मा निश्चयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावोऽपि व्यवहारे-

परिणति है, वही [**संसारः**] संसार है । **भावार्थ—**यह जीव द्रव्यपनेसे यद्यपि टंकोत्कीर्ण थिररूप है, तो भी पर्यायोंसे अथिर है, इसलिये संसारमें, मनुष्यादिरूप कोई भी पर्याय अविनाशी नहीं है, स्वभाव हीसे सब अथिररूप हैं, और चारों गतियोंमें भ्रमण करते हुए जीवका पूर्व अवस्थाको त्यागके आगेकी अवस्थाका जो ग्रहण करना है, वही संसारका स्वरूप है ॥ २८ ॥ आगे कहते हैं, कि अशुद्ध परिणतिरूप संसारमें पुद्गलका संबंध किस तरह हुआ ? जिससे कि मनुष्यादि पर्याय होते हैं—[**आत्मा**] यह जीव [**कर्ममलीमसः**] पुद्गलकर्मोंसे अनादिकालसे मलिन हुआ [**कर्मसंयुक्तं**] मिथ्यात्व रागादिरूप कर्म सहित [**परिणामं**] अशुद्ध विभाव (विकार) रूप परिणामको [**लभते**] पाता है, [**ततः**] और उस रागादिरूप विभाव परिणामसे [**कर्म**] पुद्गलीक द्रव्यकर्म [**श्लिष्यति**] जीवके प्रदेशोंमें आकर बंधको प्राप्त होता है । [**तु**] और [**तस्मात्**] इसी कारणसे [**परिणामः**] रागादि विभाव परिणाम [**कर्म**] पुद्गलीक-बंधको कारणरूप भावकर्म है । **भावार्थ—**जो आत्माके रागादिरूप अशुद्ध परिणाम हैं, वे द्रव्य कर्मबंधके कारण हैं, और रागादि विभावपरिणामका कारण द्रव्यकर्म है, क्योंकि द्रव्यकर्मके उदय होनेसे भावकर्म होता है । यहाँपर कोई यह प्रश्न करे, कि ऐसा होनेसे **इतरेतराश्रय** दोष

हेतुत्वेनोपादानात् । एवं कार्यकारणभूतनवपुराणद्रव्यकर्मत्वादात्मनस्तथाविधपरिणामो द्रव्यकर्मैव । तथात्मा चात्मपरिणामकर्तृत्वाद्द्रव्यकर्मकर्ताप्युपचारात् ॥ २९ ॥

अथ परमार्थादात्मनो द्रव्यकर्माकर्तृत्वमुद्द्योतयति—

परिणामो सयमादा सा पुण किरिय त्ति होदि जीवमया ।
किरिया कम्म त्ति मदा तम्हा कम्मस्स ण दु कत्ता ॥ ३० ॥
परिणामः स्वयमात्मा सा पुनः क्रियेति भवति जीवमयी ।
क्रिया कर्मेति मता तस्मात्कर्मणो न तु कर्ता ॥ ३० ॥

आत्मपरिणामो हि तावत्स्वयमात्मैव, परिणामिनः परिणामस्वरूपकर्तृत्वेन परिणामादनन्यत्वात् । यश्च तस्य तथाविधः परिणामः सा जीवमय्येव क्रिया, सर्वद्रव्याणां परिणामलक्षण-

---

णानादिकर्मबन्धवशात् **कम्ममलिमसो** कर्ममलीमसो भवति । तथा भवन्सन् किं करोति । **परिणामं लहदि** परिणामं लभते । कथंभूतम् । **कम्मसंजुत्तं** कर्मरहितपरमात्मनो विसदृशकर्मसंयुक्तं मिथ्यात्वरागादिविभावपरिणामं **तत्तो सिलिसदि कम्मं** ततः परिणामात् श्लिष्यति बध्नाति । किम् । कर्म । यदि पुनर्निर्मलविवेकज्योतिःपरिणामेन परिणमति तदा तु कर्म मुञ्चति **तम्हा कम्मं तु परिणामो** तस्मात् कर्म तु परिणामः । यस्माद्रागादिपरिणामेन कर्म बध्नाति, तस्माद्रागादिविकल्परूपो भावकर्मस्थानीयः सरागपरिणाम एव कर्मकारणत्वादुपचारेण कर्मेति भण्यते । ततः स्थितं रागादिपरिणामः कर्मबन्धकारणमिति ॥ २९ ॥ अथात्मा निश्चयेन स्वकीयपरिणामस्यैव कर्ता न च द्रव्यकर्मण इति प्रतिपादयति । अथवा द्वितीयपातनिका— शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धनयेन यथैवाकर्ता तथैवाशुद्धनयेनापि सांख्येन तदुक्तं तन्निषेधार्थमात्मनो बन्धमोक्षसिद्ध्यर्थं कथंचित्परिणामित्वं व्यवस्थापयतीति पातनिकाद्वयं मनसि संप्रधार्य सूत्रमिदं निरूपयति—**परिणामो सयमादा** परिणामः स्वयमात्मा आत्मपरिणामस्तावदात्मैव । कस्मात्परिणामपरिणा-

---

आता है, क्योंकि रागादि विभावपरिणामोंसे द्रव्यकर्म और द्रव्यकर्मसे विभावपरिणाम होते हैं ? इसका उत्तर इस प्रकार है, कि—यह आत्मा अनादिकालसे द्रव्यकर्मोंकर बँधा हुआ है, इस कारण पूर्व बंधे द्रव्यकर्म उस रागादि विभावपरिणामके कारण होते है, और विभावपरिणाम नवीन द्रव्यकर्मके कारण होते हैं, इसलिये एक दूसरेके आश्रयरूप इतरेतराश्रय दोष नहीं हो सकता । इस तरह नवीन प्राचीन कर्मका भेद होनेसे कार्य कारणभाव सिद्ध होता है । आत्मा नियमसे अपने विभावरूप रागादि भावकर्मोंका कर्ता है, और व्यवहारसे द्रव्यकर्मोंका भी कर्ता कहा जाता है ॥ २९ ॥ आगे निश्चयनयसे 'आत्मा द्रव्यकर्मका अकर्ता है' यह कहते हैं—[**परिणामः**] जो आत्माका परिणाम है, वह [**स्वयं**] आप [**आत्मा**] जीव ही है, [**पुनः**] और [**क्रिया**] वह परिणामरूप क्रिया [**जीवमयी**] जीवकर की जाती है, इससे जीवमयी [**इति**] ऐसी [**भवति**] होती है, अर्थात् कही जाती है । [**क्रिया**] जो क्रिया है, वही [**कर्म इति**] 'कर्म' ऐसी सँज्ञासे [**मता**] मानी गई है, [**तस्मात्**] इस कारण आत्मा [**कर्मणः**] द्रव्यकर्मका [**न तु कर्ता**] करनेवाला नहीं है ॥ **भावार्थ—**परिणामी अपने परिणामका कर्ता होता है, क्योंकि परिणामी

क्रियाया आत्ममयत्वाभ्युपगमात्। या च क्रिया सा पुनरात्मना स्वतन्त्रेण प्राप्यत्वात्कर्म। ततस्तस्य परमार्थादात्मा आत्मपरिणामात्मकस्य भावकर्मण एव कर्ता, न तु पुद्गलपरिणामात्मकस्य द्रव्यकर्मणः। अथ द्रव्यकर्मणः कः कर्तेति चेत्। पुद्गलपरिणामो हि तावत्स्वयं पुद्गल एव, परिणामिनः परिणामस्वरूपकर्तृत्वेन परिणामादनन्यत्वात्। यश्च तस्य तथाविधः परिणामः सा पुद्गलमय्येव क्रिया, सर्वद्रव्याणां परिणामलक्षणक्रियाया आत्ममयत्वाभ्युपगमात्। या च क्रिया सा पुनः पुद्गलेन स्वतन्त्रेण प्राप्यत्वात्कर्म। ततस्तस्य परमार्थात् पुद्गलात्मा आत्मपरिणामात्मकस्य द्रव्यकर्मण एव कर्ता, न त्वात्मपरिणामात्मकस्य भावकर्मणः। तत आत्मात्मस्वरूपेण परिणमति न पुद्गलस्वरूपेण परिणमति ॥ ३० ॥

अथ किं तत्स्वरूपं येनात्मा परिणमतीति तदावेदयति—

भिन्नोस्तन्मयत्वात्। **सा पुण किरिय त्ति होदि** सा पुनः क्रियेति भवति स च परिणामः क्रिया परिणतिरिति भवति। कथंभूता। **जीवमया** जीवेन निर्वृत्तत्वाज्जीवमयी **किरिया कम्म त्ति मदा** जीवेन स्वतन्त्रेण स्वाधीनेन शुद्धाशुद्धोपादानकारणभूतेन प्राप्यत्वात्सा क्रिया कर्मेति मता संमता। कर्मशब्देनात्र यदेव चिद्रूपं जीवादभिन्नं भावकर्मसंज्ञं निश्चयकर्म तदेव ग्राह्यम्। तस्यैव कर्ता जीवः **तम्हा कम्मस्स ण दु कत्ता** तस्माद् द्रव्यकर्मणो न कर्तेति। अत्रैतदायाति—यद्यपि कथंचित् परिणामित्वे सति जीवस्य कर्तृत्वं जातं तथापि निश्चयेन स्वकीयपरिणामानामेव कर्ता पुद्गलकर्मणां व्यवहारेणेति। तत्र तु यदा शुद्धोपादानकारणरूपेण शुद्धोपयोगेन परिणमति तदा मोक्षं साधयति, अशुद्धोपादानकारणेन तु बन्धमिति। पुद्गलोऽपि जीववन्निश्चयेन स्वकीयपरिणामानामेव कर्ता जीवपरिणामानां व्यवहारेणेति ॥ ३० ॥ एवं रागादिपरिणामाः कर्मबन्धकारणं

और परिणामका आपसमें भेद नहीं है, इसलिये जो जीवका परिणाम है, वह जीव ही हुआ। और जो परिणाम है, वह आत्माकी क्रिया होनेसे जीवमयी क्रिया कही जाती है, क्योंकि जिस द्रव्यकी जो परिणामरूप क्रिया है, उससे द्रव्य तन्मय है, इस कारण जीव भी तन्मय होनेसे जीवमयी क्रिया कहलाई। जो क्रिया है, वह आत्माने स्वाधीन होकर की है, इसलिये उसी क्रियाको कर्म कहते है। इससे यह सारांश निकला कि आत्माके रागादि विभाव परिणाम आत्माकी क्रिया (कार्रवाई) है, उस क्रियासे जीव तन्मय हो जाता है, ये ही जीवके भावकर्म है। इसलिये निश्चयसे आत्मा अपने भावकर्मोंका कर्ता है। जब आत्मा अपने भावकर्मोंका कर्ता है, तब तो पुद्गल परिणामरूप द्रव्यकर्मका कर्ता कभी नहीं हो सकता है? यदि कोई ऐसा प्रश्न करे, कि द्रव्यकर्मका कर्ता कौन है? तो उसका उत्तर यह है, कि पुद्गलका जो परिणाम वह पुद्गल ही है, और परिणामी अपने परिणामोंका कर्ता है, परिणाम—परिणामी एक ही है। जो पुद्गलपरिणाम है, वही पुद्गलमयी क्रिया है, क्योंकि सब द्रव्योंकी परिणामरूप क्रियाको तन्मयपना सिद्ध है। जो क्रिया है, वह कर्म है। पुद्गलने भी स्वाधीन होकर की है। इससे यह बात सिद्ध हुई, कि पुद्गल अपने द्रव्यकर्मरूप परिणामोंका कर्ता है, परंतु जीवके भावकर्मरूप परिणामोंका कर्ता नहीं है। इस कारण पुद्गल आत्म-स्वरूप परिणमन नहीं करनेसे ही द्रव्यकर्मका कर्ता नहीं हो सकता ॥ ३० ॥ आगे जिस

परिणमदि चेदणाए आदा पुण चेदणा तिधाभिमदा ।
सा पुण णाणे कम्मे फलम्मि वा कम्मणो भणिदा ॥ ३१ ॥
परिणमति चेतनया आत्मा पुनः चेतना त्रिधाभिमता ।
सा पुनः ज्ञाने कर्मणि फले वा कर्मणो भणिता ॥ ३१ ॥

यतो हि नाम चैतन्यमात्मनः स्वधर्मव्यापकत्वं, ततश्चेतनैवात्मनः स्वरूपं तया खल्वात्मा परिणमति । यः कश्चनाप्यात्मनः परिणामः स सर्वोऽपि चेतनां नातिवर्तत इति तात्पर्यम् । चेतना पुनर्ज्ञानकर्मकर्मफलत्वेन त्रेधा । तत्र ज्ञानपरिणतिर्ज्ञानचेतना, कर्मपरिणतिः कर्मचेतना, कर्मफलपरिणतिः कर्मफलचेतना ॥ ३१ ॥

अथ ज्ञानकर्मकर्मफलस्वरूपमुपवर्णयति—

णाणं अट्ठवियप्पो कम्मं जीवेण जं समारद्धं ।
तमणेगविधं भणिदं फलं ति सोक्खं व दुक्खं वा ॥ ३२ ॥
ज्ञानमर्थविकल्पः कर्म जीवेन यत्समारब्धम् ।
तदनेकविधं भणितं फलमिति सौख्यं वा दुःखं वा ॥ ३२ ॥

तेषामेव कर्ता जीव इतिकथनमुख्यतया गाथाद्वयेन तृतीयस्थलं गतम् । अथ येन परिणामेनात्मा परिणमति तं परिणामं कथयति—**परिणमदि चेदणाए आदा** परिणमति चेतनया करणभूतया । स कः । आत्मा । यः कोऽप्यात्मनः शुद्धाशुद्धपरिणामः स सर्वोऽपि चेतनां न त्यजति इत्यभिप्रायः । **पुण चेदणा तिधाभिमदा सा** सा चेतना पुनस्त्रिधाभिमता । कुत्र कुत्र । **णाणे** ज्ञानविषये **कम्मे** कर्मविषये **फलम्मि वा** फले वा । कस्य फले । **कम्मणो** कर्मणः । **भणिदा** भणिता कथितेति । ज्ञानपरिणतिः ज्ञानचेतना अग्रे वक्ष्यमाणा, कर्मपरिणतिः कर्मचेतना, कर्मफलपरिणतिः कर्मफलचेतनेति भावार्थः ॥ ३१ ॥ अथ ज्ञानकर्मकर्मफलरूपेण त्रिधा चेतनां विशेषेण विचारयति—**णाणं अट्ठवियप्पं** ज्ञानं मत्यादिभेदेनाष्टविकल्पं भवति । अथवा पाठान्तरं **णाणं अट्ठवियप्पो** ज्ञानमर्थविकल्पः तथाह्यर्थः परमात्मादिपदार्थः अनन्तज्ञानसुखादि-

स्वरूप आत्मा परिणमन करता है, उसीको कहते हैं—[**आत्मा**] जीव [**चेतनया**] चेतना स्वभावसे [**परिणमति**] परिणमन करता है, [**पुनः**] और [**सा चेतना**] वह चैतन्यपरिणति [**अभिमता**] सर्वज्ञदेवकर मानी हुई [**ज्ञाने**] ज्ञानपरिणतिमें [**कर्मणि**] कर्मपरिणतिमें [**कर्मणः फले**] कर्मकी फल-परिणतिमें [**त्रिधा**] तीन तरहकी [**भणिता**] कही गई है। **भावार्थ**—जीवका स्वरूप चेतना है, इस कारण जीवके परिणाम भी चेतनाको छोड़ते नहीं, इसलिये जीव चेतनभावोंसे परिणमन करता है। वह चेतना ज्ञानचेतना १, कर्मचेतना २, कर्मफलचेतना ३, इस तरह तीन प्रकारकी जिनेन्द्रदेवने कही है ॥ ३१ ॥ आगे इस तीन तरहकी चेतनाका स्वरूप कहते हैं—[**अर्थविकल्पः**] स्वपरका भेद लिये हुए जीवादिक पदार्थोंको भेद सहित तदाकार जानना, वह [**ज्ञानं**] ज्ञानभाव है, अर्थात् आत्माका ज्ञानभावरूप परिणमना, उसे ज्ञानचेतना कहते हैं, और [**जीवेन**] आत्माने [**यत् समारब्धं**] अपने

अर्थविकल्पस्तावत् ज्ञानम् । तत्र कः खल्वर्थः, स्वपरविभागेनावस्थितं विश्वं, विकल्पस्तदाकारावभासनम् । यस्तु मुकुरुन्दहृदयाभोग इव युगपदवभासमानस्वपराकारार्थविकल्पस्तद् ज्ञानम् । क्रियमाणमात्मना कर्म, क्रियमाणः खल्वात्मना प्रतिक्षणं तेन तेन भावेन भवता यः सद्भावः स एव कर्मात्मना प्राप्यत्वात् । तत्त्वेकविधमपि द्रव्यकर्मोपाधिसंनिधिसद्भावासद्भावाभ्यामनेकविधम् । तस्य कर्मणो यन्निष्पाद्यं सुखदुःखं तत्कर्मफलम् । तत्र यद् द्रव्यकर्मोपाधिसांनिध्यसद्भावात्कर्म तस्य फलमनाकुलत्वलक्षणं प्रकृतिभूतं सौख्यं, यत्तु द्रव्यकर्मोपाधिसांनिध्यासद्भावात्कर्म तस्य फलं सौख्यलक्षणाभावाद्विकृतिभूतं दुःखम् । एवं ज्ञानकर्मकर्मफलस्वरूपनिश्चयः ॥ ३२ ॥

अथ ज्ञानकर्मकर्मफलान्यात्मत्वेन निश्चिनोति—

रूपोऽहमिति, रागाद्याश्रवास्तु मत्तो भिन्ना इति स्वपराकारावभासेनादर्श इवार्थपरिच्छित्तिसमर्थो विकल्पः विकल्पलक्षणमुच्यते । स एव ज्ञानं ज्ञानचेतनेति । **कम्मं जीवेण जं समारद्धं** कर्म जीवेन यत्समारब्धं बुद्धिपूर्वकमनोवचनकायव्यापाररूपेण जीवेन यत्सम्यक्कर्तुमारब्धं तत्कर्म भण्यते । सैव कर्मचेतनेति **तमणेगविधं भणिदं** तच्च कर्म शुभाशुभशुद्धोपयोगभेदेनानेकविधं त्रिविधं भणितमिदानीं फलचेतना कथ्यते–**फलं ति सोक्खं व दुक्खं वा** फलमिति सुखं दुःखं वा विषयानुरागरूपं यदशुभोपयोगलक्षणं कर्म तस्य फलमाकुलत्वोत्पादकं नारकादिदुःखं, यच्च धर्मानुरागरूपं शुभोपयोगलक्षणं कर्म तस्य फलं चक्रवर्त्यादिपञ्चेन्द्रियभोगानुभवरूपं, तच्चाशुद्धनिश्चयेन सुखमप्याकुलोत्पादकत्वात् शुद्धनिश्चयेन दुःखमेव । यच्च रागादिविकल्परहितशुद्धोपयोगपरिणतिरूपं कर्म तस्य फलमनाकुलत्वोत्पादकं परमानन्दैकरूपसुखामृतमिति । एवं ज्ञानकर्मकर्मफलचेतनास्वरूपं ज्ञातव्यम् ॥ ३२ ॥ अथ ज्ञानकर्मकर्मफलान्यभेदनयेनात्मैव भवतीति प्रज्ञापयति—

कर्तव्यसे समय समयमें जो भाव किये है, [**तत्कर्म**] यह भावरूप कर्म है, [**अनेकविधं**] वह शुभादिकके भेदसे अनेक प्रकार है, उसीको कर्मचेतना कहते है। [**वा**] और [**सौख्यं**] सुखरूप [**वा**] अथवा [**दुःखं**] दुःखरूप [**फलं**] उस कर्मका फल है [**इति भणितं**] ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है। **भावार्थ–**जैसे दर्पण तदाकाररूप हुआ भेद सहित घटपटादि पदार्थोंको प्रतिबिम्बित करता है, उसी प्रकार ज्ञान एक ही कालमें स्वपर पदार्थोंको प्रगट करता है। इस तरह ज्ञानभावरूप आत्माके परिणमनको ज्ञानचेतना कहते है। जो समय समयमें पुद्गलकर्मके निमित्तसे जैसे जैसे परिणाम करता है, उन परिणामोंको भावकर्म अथवा कर्मचेतना कहते हैं। वह कर्म पुद्गलके निमित्तसे ही शुभ अशुभरूप अनेक भेदोंवाला हो जाता है, और शुभ द्रव्यकर्मके संबंधसे जो आत्माके साताका उदय होना, वह अनाकुलरूप इंद्रियाधीन सुखरूप कर्मफल है, तथा जो अशुभ द्रव्यकर्मके संबंधसे असाताका उदय होना, वह सुखभावसे रहित विकाररूप दुःखनामा कर्मफल है। इस प्रकार कर्मफलके वेदनेरूप जो आत्माका परिणमन वह कर्मफल चेतना है। ऐसे ज्ञानचेतना १ कर्मचेतना २ कर्मफलचेतना ३ ये तीन भेद चेतनाके कहे गये है ॥ ३२ ॥ आगे ज्ञान–कर्म–कर्मफल ये अभेद नयसे आत्मा ही है, ऐसा दिखलाते

अप्पा परिणामप्पा परिणामो णाणकम्मफलभावी ।
तम्हा णाणं कम्मं फलं च आदा मुणेदव्वो ॥ ३३ ॥
आत्मा परिणामात्मा परिणामो ज्ञानकर्मफलभावी ।
तस्मात् ज्ञानं कर्म फलं चात्मा मन्तव्यः ॥ ३३ ॥

आत्मा हि तावत्परिणामात्मैव, परिणामः स्वयमात्मेति स्वयमुक्तत्वात् । परिणामस्तु चेतनात्मकत्वेन ज्ञानं कर्म कर्मफलं वा भवितुं शीलः, तन्मयत्वाच्चेतनायाः । ततो ज्ञानं कर्म कर्मफलं चात्मैव । एवं हि शुद्धद्रव्यनिरूपणायां परद्रव्यसंपर्कासंभवात्पर्यायाणां द्रव्यान्तःप्रलयाच्च शुद्धद्रव्य एवात्मावतिष्ठते ॥ ३३ ॥

अथैवमात्मनो ज्ञेयतामापन्नस्याशुद्धत्वनिश्चयात् ज्ञानतत्त्वासिद्धौ शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भो भवतीति तमभिनन्दन् द्रव्यसामान्यवर्णनामुपसंहरति—

अप्पा परिणामप्पा आत्मा भवति । कथंभूतः । परिणामात्मा परिणामस्वभावः । कस्मादिति चेत् 'परिणामो सयमादा' इति पूर्वं स्वयमेव भणितत्वात् । परिणामः कथ्यते **परिणामो णाणकम्मफलभावी** परिणामो भवति । किंविशिष्टः । ज्ञानकर्मफलभावी ज्ञानकर्मकर्मफलरूपेण भवितुं शील इत्यर्थः । **तम्हा** तस्मादेव तस्मात्कारणात् । **णाणं** पूर्वसूत्रोक्ता ज्ञानचेतना । **कम्मं** तत्रैवोक्तलक्षणा कर्मचेतना । **फलं च** पूर्वोक्तलक्षण-फलचेतना च । **आदा मुणेदव्वो** इय चेतना त्रिविधाप्यभेदनयेनात्मैव मन्तव्यो ज्ञातव्य इति । एतावता किमुक्तं भवति । त्रिविधचेतनापरिणामेन परिणामी सन्नात्मा किं करोति । निश्चयरत्नत्रयात्मकशुद्धपरिणामेन मोक्षं साधयति, शुभाशुभाभ्यां पुनर्बन्धमपि ॥ ३३ ॥ एवं त्रिविधचेतनाकथनमुख्यतया गाथात्रयेण चतुर्थ-स्थलम् । अथ सामान्यज्ञेयाधिकारसमाप्तौ पूर्वोक्तभेदभावनायाः शुद्धात्मप्राप्तिरूपं फलं दर्शयति—**कत्ता**

है—[**आत्मा**] जीव [**परिणामात्मा**] परिणाम स्वभाववाला है, [**परिणामः**] और परिणाम [**ज्ञानकर्मफलभावी**] ज्ञानरूप–कर्मरूप–कर्मफलरूप होनेको समर्थ है । [**तस्मात्**] इस कारण [**ज्ञानं**] ज्ञान [**कर्म**] कर्मपरिणाम [**च**] और [**फलं**] कर्मफल परिणाम ये ही [**आत्मा**] जीव-स्वरूप [**मन्तव्यः**] जानने चाहिये । **भावार्थ**—आत्मा परिणाम स्वभाववाला सदाकालसे है । वह परिणाम ज्ञानपरिणाम–कर्मपरिणाम–कर्मफलपरिणाम, इस तरह तीन भेद सहित है । परिणाम और परिणामीमें एकता होनेसे परिणामसे जुदा आत्मा नहीं है, इसलिये अभेदनयकी अपेक्षासे तीन परिणामोंरूप आत्मा ही है । अशुद्ध द्रव्यके कथनकी अपेक्षा तो कर्मपरिणाम और कर्मफलपरिणामसे एकता है, फल तथा जब शुद्ध द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा ली जावे, तब आत्माके परद्रव्यका संबंध होना, असंभव है, इस कारण वहाँ अशुद्ध परिणामोंका होना कह नहीं सकते । इसी लिये शुद्ध द्रव्यके कथनमें शुद्ध पर्याय भी द्रव्यके ही अंदर लीन हो जाते हैं, भेदभाव नहीं रहता, और उस अवस्थामें शुद्ध द्रव्य एक ज्ञायक-मात्र हुआ स्थित रहता है ॥ ३३ ॥ आगे इस जीवके शुद्ध स्वभावका निश्चय होनेसे ज्ञानभावकी सिद्धि होती है, तब स्वज्ञेयरूप आत्माके शुद्धस्वरूपका लाभ होता है, ऐसा कहते हुए द्रव्यके सामान्य कथनको

कत्ता करणं कम्मं फलं च अप्प त्ति णिच्छिदो समणो ।
परिणमदि णेव अण्णं जदि अप्पाणं लहदि सुद्धं ॥ ३४ ॥

कर्ता करणं कर्म कर्मफलं चात्मेति निश्चितः श्रमणः ।
परिणमति नैवान्यद्यदि आत्मानं लभते शुद्धम् ॥ ३४ ॥

यो हि नामैवं कर्तारं करणं कर्म कर्मफलं चात्मानमेव निश्चित्य न खलु परद्रव्यं परिणमति स एव विश्रान्तपरद्रव्यसंपर्कं द्रव्यान्तःप्रलीनपर्यायं च शुद्धमात्मानमुपलभते, न पुनरन्यः । तथाहि–यदा नामानादिप्रसिद्धपौद्गलिककर्मबन्धनोपाधिसंनिधिप्रधावितोपरागरञ्जितात्मवृत्तिर्जपापुष्पसंनिधिप्रधावितोपरागरञ्जितात्मवृत्तिः स्फटिकमणिरिव परारोपितविकारोऽहमासं संसारी तदपि न नाम मम कोऽप्यासीत् तदाप्यहमेक एवोपरक्तचित्स्वभावेन स्वतन्त्रः कर्ता, स अहमेक एवोपरक्तचित्स्वभावेन साधकतमः करणमासम् । अहमेक एवोपरक्तचित्परिणमनस्वभावेनात्मना प्राप्यः कर्मासम् । अहमेक एव चोपरक्तचित्परिणमनस्वभावस्य निष्पाद्यं सौख्यं विपर्यस्तलक्षणं दुःखाख्यं कर्मफलमासम् । इदानीं पुनरनादिप्रसिद्धपौद्गलिककर्मबन्धनोपाधिसंनिधिध्वंसविस्फुरितसुविशुद्धसहजात्मवृत्तिर्जपापुष्पसंनिधिध्वंसविस्फुरितसुविशुद्धसहजात्मवृत्तिः

स्वतन्त्रः स्वाधीनः कर्ता साधको निष्पादकोऽस्मि भवामि । स कः । **अप्प त्ति** आत्मेति । आत्मेति कोऽर्थः । अहमिति । कथंभूतः । एकः । कस्याः साधकः । निर्मलात्मानुभूतेः । किंविशिष्टः । निर्विकारपरमचैतन्यपरिणामेन परिणतः सन् **करणं** अतिशयेन साधकं साधकतमं करणमुपकरणं करणकारकमहमेक एवास्मि भवामि । कस्याः साधकः । सहजशुद्धपरमात्मानुभूतेः । केन कृत्वा । रागादिविकल्परहितस्वसंवेदनज्ञानपरि-

पूर्ण करते हैं–[**कर्ता**] कामका करनेवाला [**करणं**] जिससे किया जाय, ऐसा मुख्य कारण [**कर्म**] जो किया जाय वह कर्म [**च**] और [**फलं**] कर्मका फल ये चारों [**आत्मा इति**] आत्मा ही हैं, ऐसा [**निश्चितः**] निश्चय करनेवाला [**श्रमणः**] भेदविज्ञानी मुनि [**यदि**] जो [**अन्यत्**] परद्रव्यरूप [**नैव**] नहीं [**परिणमति**] परिणमन करता है, [**तदा**] तभी [**शुद्धं आत्मानं**] शुद्ध अर्थात् कर्मोपाधिरहित शुद्ध चिदानंदरूप आत्माको [**लभते**] पाता है । **भावार्थ**–जब यह जीव परद्रव्यके संबंधसे आत्माको जुदा जुदा जानकर शुद्ध कर्त्ता, शुद्ध करण, शुद्ध कर्म, शुद्ध फल, इन चारों भेदोंसे आत्माको अभेदरूप समझता है, इनसे एकताका निश्चयकर किसी कालमें भी परद्रव्यसे एकपना मानके परिणमन नहीं करता, वही जीव अभेदरूप ज्ञायकमात्र अपने शुद्ध स्वरूपको प्राप्त होता है । इसी कथनको विशेषतासे दिखाते हैं—जैसे लाल पुष्पके संयोगसे स्फटिकमणिमें राग–विकार उत्पन्न हो जाता है, उसी तरह अनादि कालसे पुद्गलकर्मके बंधनरूप उपाधिके संबंधसे जिसके रागवृत्ति उत्पन्न हुई है, ऐसा मैं परकृत विकारसहित पूर्व हो अज्ञान दशामें संसारी था, उस समयमें भी मेरा अन्य द्रव्य कोई भी नहीं संबंधी था, ऐसी अवस्थामें भी अकेला ही मैं अपनी भूलसे सराग चैतन्यभाव कर कर्त्ता हुआ । मैं ही एक सराग चैतन्यभावकर अज्ञान भावका मुख्य कारण हुआ, इससे करण भी मैं ही

स्फटिकमणिरिव विश्रान्तपरारोपितविकारोऽहमेकान्तेनास्मि मुमुक्षुः, इदानीमपि न नाम मम कोऽप्यस्ति, इदानीमप्यहमेक इव सुविशुद्धचित्स्वभावेन स्वतन्त्रः कर्तास्मि, अहमेक एव च सुविशुद्धचित्स्वभावेन साधकतमः करणमस्मि, अहमेक एव च सुविशुद्धचित्परिणमनस्वभावेनात्मनाप्राप्यः कर्मास्मि, अहमेक एव च सुविशुद्धचित्परिणमनस्वभावस्य निष्पाद्यमनाकुलत्वलक्षणं सौख्याख्यं कर्मफलमस्मि । एवमस्य बन्धपद्धतौ मोक्षपद्धतौ चात्मानमेकमेव भावयतः परमाणोरिवैकत्वभावनोन्मुखस्य परद्रव्यपरिणतिर्न जातु जायते । परमाणुरिव भावितैकत्वश्च परेण नो संपृच्यते । ततः परद्रव्यासंपृक्तत्वात्सुविशुद्धो भवति । कर्तृकरणकर्मकर्मफलानि चात्मत्वेन भावयन् पर्यायैर्न संकीर्यते, ततः पर्यायासंकीर्णत्वाच्च सुविशुद्धो भवतीति ॥ ३४ ॥

द्रव्यान्तरव्यतिकरादपसारितात्मा
सामान्यमज्जितसमस्तविशेषजातः ।
इत्येष शुद्धनय उद्धतमोहलक्ष्मी-
लुण्टाक उत्कटविवेकविविक्ततत्त्वः ॥

णतिबलेन **कम्मं** शुद्धबुद्धैकस्वभावेन परमात्मना प्राप्यं व्याप्यमहमेक एव कर्मकारकमस्मि । फलं च शुद्धज्ञानदर्शनस्वभावपरमात्मनः साध्यं निष्पाद्यं निजशुद्धात्मरुचिपरिच्छित्तिनिश्चलानुभूतिरूपाभेदरत्नत्रयात्मकपरमसमाधिसमुत्पन्नसुखामृतरसास्वादपरिणतिरूपमहमेक एव फलं चास्मि **णिच्छिदो** एवमुक्तप्रकारेण निश्चितमतिः सन् **समणो** सुखदुःखजीवितमरणशत्रुमित्रादिसमताभावनापरिणतः श्रमणः परममुनिः **परिणमदि णेव अण्णं जदि** परिणमति नैवान्यं रागादिपरिणामं यदि चेत् **अप्पाणं लहदि सुद्धं** तदात्मानं भावकर्म-

---

कहलाया । मै ही एक सराग चैतन्यपरिणति स्वभावसे अपने अशुद्ध भावको प्राप्त हुआ, इसलिये कर्म मैं ही हुआ । तथा मैं ही एक सराग चैतन्यभावसे उत्पन्न और आत्मीक-सुखसे उलटा ऐसा दुःखरूप कर्मफल हुआ, इस कारण अज्ञान दशामें भी मैं इन चारों भेदोंसे अभेदरूप परिणत हुआ, और अब ज्ञान दशामें जैसे रक्त पुष्पके संयोगके छूट जानेसे स्फटिकमणि निर्मल स्वाभाविक शुद्ध हो जाता है, वैसे मैं भी सर्वथा प्रकृतियोंके विकारसे रहित हुआ, निर्मल मोक्षमार्गमें प्रवर्तता हूँ, तो अब भी मेरा कोई नहीं, अब मैं ही एक निर्मल चैतन्यभावसे स्वाधीन कर्त्ता हूँ, मैं ही एक निर्मल चैतन्य भावकर शुद्ध स्वभावका अतिशयसे साधनेवाला करण हूँ, मै ही एक निर्मल चैतन्य परिणमन स्वभावसे शुद्ध स्वरूपको प्राप्त होता हूँ, इसलिये कर्म हूँ, और मैं ही एक निर्मल चैतन्यस्वभावकर उत्पन्न आकुलता रहित आत्मीक-सुखरूप कर्मफल हूँ, इसलिये ज्ञानदशामें भी मैं ही अकेला हुआ, इन चारों भेदोंसे अभेदरूप परिणमन करता हूँ, दूसरा कोई भी नहीं । इस प्रकार इस जीवके बंधपद्धति और मोक्ष-पद्धतिके होनेपर भी एक आत्म-स्वरूपकी भावना (चिंतवन) से परद्रव्यरूप परिणति किसी समय भी नहीं हो सकती। जैसे एक भावरूप परिणत हुए परमाणुका अन्य परमाणुके साथ संयोग नहीं होता, उसी तरह आत्माका भी परद्रव्यके साथ संबंध नहीं होता है, इसलिये अशुद्ध पर्यायोंसे भी संबंध नहीं होता । इस तरह

इत्युच्छेदात्परपरिणतेः कर्तृकर्मादिभेद-
भ्रान्तिध्वंसादपि च सुचिराल्लब्धशुद्धात्मतत्त्वः ।
संचिन्मात्रे महसि विशदे मूर्च्छितश्चेतनोऽयं
स्थास्यत्युद्यत्सहजमहिमा सर्वदा मुक्त एव ॥

द्रव्यसामान्यविज्ञाननिम्नं कृत्वेति मानसम् । तद्विशेषपरिज्ञानप्राग्भारः क्रियतेऽधुना ॥
इति द्रव्यसामान्यप्रज्ञापनम् ।

अथ द्रव्यविशेषप्रज्ञापनं तत्र द्रव्यस्य जीवाजीवत्वविशेषं निश्चिनोति—

दव्वं जीवमजीवं जीवो पुण चेदणोवजोगमओ ।
पोग्गलदव्वप्पमुहं अचेदणं हवदि अज्जीवं ॥ ३५ ॥

द्रव्यं जीवोऽजीवो जीवः पुनश्चेतनोपयोगमयः ।
पुद्गलद्रव्यप्रमुखोऽचेतनो भवति चाजीवः ॥ ३५ ॥

इह हि द्रव्यमेकत्वनिबन्धनभूतं द्रव्यत्वसामान्यमनुज्झदेव तदधिरूढविशेषलक्षणसद्भावाद-

द्रव्यकर्मनोकर्मरहितत्वेन शुद्धं शुद्धबुद्धैकस्वभावं लभते प्राप्नोति इत्यभिप्रायो भगवतां **श्रीकुन्दकुन्दाचार्य-देवानाम्** ॥ ३४ ॥ एवमेकसूत्रेण पञ्चमस्थलं गतम् । इति सामान्यज्ञेयाधिकारमध्ये स्थलपञ्चकेन भेदभावना गता। इत्युक्तप्रकारेण 'तम्हा तस्स णमाइं' इत्यादि पञ्चत्रिंशत्सूत्रैः **सामान्यज्ञेयाधिकार**व्याख्यानं समाप्तम्। इत ऊर्ध्वमेकोनविंशतिगाथाभिर्जीवाजीवद्रव्यादिविवरणरूपेण विशेषज्ञेयव्याख्यानं करोति । तत्राष्टस्थानानि भवन्ति । तेष्वादौ जीवाजीवत्वकथनेन प्रथमगाथा, लोकालोकत्वकथनेन द्वितीया, सक्रियनिःक्रियत्व-व्याख्यानेन तृतीया चेति । । 'दव्वं जीवमजीवं' इत्यादिगाथात्रयेण प्रथमस्थलम्, तदनन्तरं ज्ञानादिविशेष-गुणानां स्वरूपकथनेन 'लिंगेहिं जेहिं' इत्यादिगाथाद्वयेन द्वितीयस्थलम् । अथानन्तरं स्वकीयस्वकीयगुणोप-लक्षितद्रव्याणां निर्णयार्थं 'वण्णरस' इत्यादिगाथात्रयेण तृतीयस्थलम् । अथ पञ्चास्तिकायकथनमुख्यत्वेन 'जीवा पोग्गलकाया' इत्यादिगाथाद्वयेन चतुर्थस्थलम् । अतः परं द्रव्याणां लोकाकाशमाधार इति कथनेन प्रथमा, यदेवाकाशद्रव्यस्य प्रदेशलक्षणं तदेव शेषाणामिति कथनरूपेण द्वितीया चेति, 'लोगालोगेसु' इत्यादिसूत्रद्वयेन पञ्चमस्थलम् । तदनन्तरं कालद्रव्यस्याप्रदेशत्वस्थापनरूपेण प्रथमा, समयरूपः पर्यायकालः

ज्ञानी निर्मल होता है । इसी कारण अन्य द्रव्योंसे भिन्न स्वरूप कर्त्ता, करण, कर्म, फल आदि सब भेदोंसे रहित अभेदरूप शुद्ध नयकर मोहका विनाशक ऐसा प्रकाशरूप ज्ञानतत्त्व इस जीवके शोभा पाता है । **सारांश**—जब इस जीवके पर वस्तुमें परिणति मिट जाती है, और कर्त्ता कर्म भेदरूप भ्रम (अज्ञान) का नाश होता है, तभी शुद्ध स्वरूपको पाकर ज्ञानमात्र निर्मल आत्मीक-प्रकाशमें साहजिक महिमा सहित सदा मुक्त हुआ ही तिष्ठता है ॥ ३४ ॥ इस प्रकार **द्रव्यका सामान्यवर्णन** पूर्ण हुआ ।

आगे द्रव्य विशेषका कहना आरंभ करते हुए पहले द्रव्यके '**जीव और अजीव**' ऐसे दो भेद दिखलाते हैं–[**द्रव्यं**] सत्तारूप वस्तु [**जीवः अजीवः**] जीव अजीव इस तरह दो भेदरूप है, [**पुनः**] और

न्योन्यव्यवच्छेदेन जीवाजीवत्वविशेषमुपढौकते । तत्र जीवस्यात्मद्रव्यमेवैका व्यक्तिः । अजीवस्य पुनः पुद्गलद्रव्यं धर्मद्रव्यमधर्मद्रव्यं कालद्रव्यमाकाशद्रव्यं चेति पञ्च व्यक्तयः । विशेषलक्षणं जीवस्य चेतनोपयोगमयत्वं, अजीवस्य पुनरचेतनत्वम् । तत्र यत्र स्वधर्मव्यापकत्वात्स्वरूपत्वेन द्योतमानयानपायिन्या भगवत्या संवित्तिरूपया चेतनया तत्परिणामलक्षणेन द्रव्यवृत्तिरूपेणोपयोगेन च निर्वृत्तत्वमवतीर्णं प्रतिभाति स जीवः । यत्र पुनरुपयोगसहचरिताया यथोदितलक्षणायाश्चेतनाया अभावाद्बहिरन्तश्चाचेतनत्वमवतीर्णं प्रतिभाति सोऽजीवः ॥ ३५ ॥

अथ लोकालोकत्वविशेषं निश्चिनोति—

पोग्गलजीवणिबद्धो धम्माधम्मत्थिकायकालड्ढो ।
वट्टदि आगासे जो लोगो सो सव्वकाले दु ॥ ३६ ॥
पुद्गलजीवनिबद्धो धर्माधर्मास्तिकायकालाढ्यः ।
वर्तते आकाशे यो लोकः स सर्वकाले तु ॥ ३६ ॥

कालाणुरूपो द्रव्यकाल इति कथनरूपेण द्वितीया चेति 'समओ दु अप्पदेसो' इत्यादिगाथाद्वयेन षष्ठस्थलम् । अथ प्रदेशलक्षणकथनेन प्रथमा, तदनन्तरं तिर्यक्प्रचयोर्ध्वप्रचयस्वरूपकथनेन द्वितीया चेति, 'आयासमणुणिविट्ठं' इत्यादिसूत्रद्वयेन सप्तमस्थलम् । तदनन्तरं कालाणुरूपद्रव्यकालस्थापनरूपेण 'उप्पादो पद्धंसो' इत्यादिगाथात्रयेणाष्टमस्थलमिति विशेषज्ञेयाधिकारे समुदायपातनिका । तद्यथा—अथ जीवाजीवलक्षणमावेदयति—**दव्वं जीवमजीवं** द्रव्यं जीवाजीवलक्षणं भवति । **जीवो पुण चेदणो** जीवः पुनश्चेतनः स्वतःसिद्धया बहिरङ्गकारणनिरपेक्षया बहिरन्तश्च प्रकाशमानया नित्यरूपया निश्चयेन परमशुद्धचेतनया व्यवहारेण पुनरशुद्धचेतनया च युक्तत्वाच्चेतनो भवति । पुनरपि किंविशिष्टः । **उवओगमओ** उपयोगमयः अखण्डैकप्रतिभासमयेन सर्वविशुद्धेन केवलज्ञानदर्शनलक्षणेनार्थग्रहणव्यापाररूपेण निश्चयनयेनेत्थंभूतशुद्धोपयोगेन, व्यवहारेण पुनर्मतिज्ञानाद्यशुद्धोपयोगेन च निर्वृत्तत्वान्निष्पन्नत्वादुपयोगमयः **पोग्गलदव्वप्पमुहं अचेदणं हवदि अज्जीवं** पुद्गलद्रव्यप्रमुखमचेतनं भवत्यजीवद्रव्यं पुद्गलधर्माधर्माकाशकालसंज्ञं द्रव्यपञ्चकं पूर्वोक्तलक्षणचेतनाया उपयोगस्य चाभावादजीवमचेतनं भवतीत्यर्थः ॥ ३५ ॥ अथ लोकालोकरूपेणाकाशपदार्थस्य द्वैविध्यमाख्याति—**पोग्गलजीवणिबद्धो** अणुस्कन्धभेदभिन्नाः पुद्गलास्तावत्तथैव मूर्तातीन्द्रियज्ञानमयत्व-

---

इन दोनोंमेंसे [**जीवः**] जीवद्रव्य [**चेतनोपयोगमयः**] चेतना और ज्ञानदर्शनोपयोगमयी है, [**पुद्गलद्रव्यप्रमुखः**] तथा पुद्गल द्रव्यको आदि लेकर पाँच द्रव्य [**अचेतनः**] चेतना रहित अर्थात् जड़स्वरूप [**अजीवः**] अजीव द्रव्य होता है । **भावार्थ**—द्रव्यके दो भेद है, एक जीव, दूसरा अजीव । इन दोनोंमें जीवद्रव्य एक प्रकारका ही है । अजीवके पुद्गल १, धर्म २, अधर्म ३, आकाश ४, काल ५, इस तरह पाँच भेद हैं । जीवका लक्षण चेतना और उपयोग है । जो स्वरूपसे सदाकाल प्रकाशमान् है, अविनाशी है, पूज्य है, जीवका सर्व धन है, जाननामात्र है, उसे **चेतना** कहते हैं । उसी चेतनाका परिणाम पदार्थके जानने देखनेरूप व्यवहारमें प्रवृत्त होता है, वह ज्ञानदर्शनरूप **उपयोग** है ॥ ३५ ॥ आगे लोक और अलोक इस तरह दो भेद दिखलाते हैं–[**यः**] जो क्षेत्र [**आकाशे**] अनंत आकाशमें

अस्ति हि द्रव्यं लोकालोकत्वेन विशेषविशिष्टं स्वलक्षणसद्भावात् । स्वलक्षणं हि लोकस्य षड्द्रव्यसमवायात्मकत्वं, अलोकस्य पुनः केवलाकाशात्मकत्वम् । तत्र सर्वद्रव्यव्यापिनि परममहत्याकाशे यत्र यावति जीवपुद्गलौ गतिस्थितिधर्माणौ गतिस्थिती आस्कन्दतस्तद्गतिस्थितिनिबन्धनभूतौ च धर्माऽधर्मावभिव्याप्यावस्थितौ, सर्वद्रव्यवर्तनानिमित्तभूतश्च कालो नित्यदुर्ललितस्तत्तावदाकाशं शेषाण्यशेषाणि द्रव्याणि चेत्यमीषां समवाय आत्मत्वेन स्वलक्षणं यस्य स लोकः । तत्र यावति पुनराकाशे जीवपुद्गलयोर्गतिस्थिती न संभवतो धर्माधर्मौ नावस्थितौ न कालो दुर्ललितस्तावत्केवलमाकाशमात्मत्वेन स्वलक्षणं यस्य सोऽलोकः ॥ ३६ ॥

अथ क्रियाभावतद्भावविशेषं निश्चिनोति—

उप्पादट्ठिदिभंगा पोग्गलजीवप्पगस्स लोगस्स ।
परिणामादो जायंते संघादादो व भेदादो ॥ ३७ ॥
उत्पादस्थितिभङ्गाः पुद्गलजीवात्मकस्य लोकस्य ।
परिणामाज्जायन्ते संघाताद्वा भेदात् ॥ ३७ ॥

क्रियाभाववत्वेन केवलभाववत्त्वेन च द्रव्यस्यास्ति विशेषः । तत्र भाववन्तौ क्रियावन्तौ च

निर्विकारपरमानन्दैकसुखमयत्वादिलक्षणा जीवाश्चेत्थंभूतजीवपुद्गलैर्निबद्धः संबद्धो भृतः पुद्गलजीवनिबद्धः **धम्माधम्मत्थिकायकालड्ढो** धर्माधर्मास्तिकायौ च कालश्च धर्माधर्मास्तिकायकालास्तैराढ्यो भृतो धर्माधर्मास्तिकायकालाढ्यः **जो** यः एतेषां पञ्चानामित्थंभूतसमुदायो राशिः समूहः **वट्टदि** वर्तते । कस्मिन् । **आगासे** अनन्तानन्ताकाशद्रव्यस्य मध्यवर्तिनि लोकाकाशे **सो लोगो** स पूर्वोक्तपञ्चानां समुदायस्तदाधारभूतं लोकाकाशं चेति षड्द्रव्यसमूहो लोको भवति । क **सव्वकाले दु** सर्वकाले तु तद्बहिर्भूतमनन्तानन्ताकाशमलोक इत्यभिप्रायः ॥ ३६ ॥ अथ द्रव्याणां सक्रियनिःक्रियत्वेन भेदं दर्शयतीत्येका पातनिका, द्वितीया तु जीवपुद्गलयोरर्थव्यञ्जनपर्यायौ द्वौ, शेषद्रव्याणां तु मुख्यवृत्त्यार्थपर्याय इति व्यवस्थापयति---**जायंते** जायन्ते । के कर्तारः । **उप्पादट्ठिदिभंगा** उत्पादस्थितिभङ्गाः । कस्य संबन्धिनः ।

[पुद्गलजीवनिबद्धः] पुद्गल और जीवकर संयुक्त है, और **[धर्माधर्मास्तिकायकालाढ्यः]** धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, और काल इनसे भरा हुआ है, **[स तु]** वही क्षेत्र **[सर्वकाले]** अतीत, अनागत, वर्तमान, तीनों कालोंमें **[लोकः]** 'लोक' ऐसे नामसे कहा जाता है । **भावार्थ**—आकाशद्रव्यके **लोक** और अलोक ऐसे दो भेद हैं । अनंत सर्वव्यापी उस आकाशमें जितना आकाश पुद्गल, जीव, धर्म, अधर्म, कालद्रव्य, इनसे घिरा हुआ है, उसे **लोकाकाश** कहते है, और केवल आकाश ही है, अन्य ५ द्रव्य नहीं रहते, वह **अलोकाकाश** कहा जाता है ॥ ३६ ॥ आगे छह द्रव्योंमेंसे क्रियावाले कितने द्रव्य है, और भाववाले कितने हैं, ऐसा भेद दिखलाते हैं—**[पुद्गलजीवात्मकस्य लोकस्य]** पुद्गल और जीव इन दोनोंकी गति स्थिति परिणतिरूप लोकके **[उत्पादस्थितिभङ्गाः]** उत्पत्ति, ध्रुवपना, विनाश **[परिणामाः]** ऐसे तीन परिणाम **[संघातात्]** मिलनेसे **[वा]** अथवा **[भेदात्]** बिछुड़नेसे

पुद्गलजीवौ परिणामाद्भेदसंघाताभ्यां चोत्पद्यमानावतिष्ठमानभज्यमानत्वात् । शेषद्रव्याणि तु भाववन्त्येव परिणामादेवोत्पद्यमानावतिष्ठमानभज्यमानत्वादिति निश्चयः । तत्र परिणाममात्रलक्षणो भावः, परिस्पन्दनलक्षणा क्रिया । तत्र सर्वाण्यपि द्रव्याणि परिणामस्वभावत्वात् परिणामेनोपात्तान्वयव्यतिरेकाण्यवतिष्ठमानोत्पद्यमानभज्यमानानि भाववन्ति भवन्ति । पुद्गलास्तु परिस्पन्दस्वभावत्वात्परिस्पन्देन भिन्नाः संघातेन संहताः पुनर्भेदेनोत्पद्यमानावतिष्ठमानभज्यमानाः क्रियावन्तश्च भवन्ति । तथा जीवा अपि परिस्पन्दस्वभावत्वात्परिस्पन्देन नूतनकर्मनोकर्मपुद्गलेभ्यो भिन्नास्तैः सह संघातेन संहताः पुनर्भेदेनोत्पद्यमानावतिष्ठमानभज्यमानाः क्रियावन्तश्च भवन्ति ॥ ३७ ॥

लोगस्स लोकस्य । किंविशिष्टस्य । **पोग्गलजीवप्पगस्स** पुद्गलजीवात्मकस्य पुद्गलजीवावित्युपलक्षणं षड्द्रव्यात्मकस्य । कस्मात्सकाशात् जायन्ते । **परिणामादो** परिणामात् एकसमयवर्तिनोऽर्थपर्यायात् **संघादादो व भेदादो** न केवलमर्थपर्यायात्सकाशाज्जायन्ते जीवपुद्गलानामुत्पादादयः संघाताद्वा भेदाद्वा व्यञ्जनपर्यायादित्यर्थः । तथाहि—धर्माधर्माकाशकालानां मुख्यवृत्त्यैकसमयवर्तिनोऽर्थपर्याया एव जीवपुद्गलानामर्थपर्यायव्यञ्जनपर्यायाश्च । कथमिति चेत् । प्रतिसमयपरिणतिरूपा अर्थपर्याया भण्यन्ते । यदा जीवोऽनेन शरीरेण सह भेदवियोगं त्यागं कृत्वा भवान्तरशरीरेण सह संघातं मेलापकं करोति तदा विभावव्यञ्जनपर्यायो भवति, तस्मादेव भवान्तरसंक्रमणात्सक्रियत्वं भण्यते पुद्गलानाम् । तथैव विवक्षितस्कन्धविघटनात्सक्रियत्वेन स्कन्धान्तरसंयोगे सति विभावव्यञ्जनपर्यायो भवति । मुक्तजीवानां तु निश्चयरत्नत्रयलक्षणेन परमकारणसमयसारसञ्ज्ञेन निश्चयमोक्षमार्गबलेनायोगिचरमसमये नखकेशान्विहाय परमौदारिकशरीरस्य विलीयमानरूपेण विनाशे सति केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयव्यक्तिलक्षणेन परमकार्यसमयसाररूपेण स्वभावव्यञ्जनपर्यायेण कृत्वा योऽसावुत्पादः स भेदादेव भवति न संघातात् । कस्मादिति चेत् । शरीरान्तरेण सह संबन्धाभावादिति भावार्थः ॥ ३७ ॥ एवं जीवाजीवत्वलोकालोकत्वसक्रियनिःक्रियत्वकथनक्रमेण प्रथमस्थले गाथात्रयं गतम् ।

[**जायन्ते**] होते हैं । **भावार्थ**—क्रिया और भाव इन दोनोंसे द्रव्यमें भेद हो जाता है । उन द्रव्योंमेंसे पुद्गल और जीव क्रियावन्त है, और भाववन्त भी है, इससे अन्य द्रव्य केवल भाववाले ही है । क्रियाका चिह्न हलना चलना है, और भावका लक्षण परिणमनमात्र है । परिणमनरूप भावसे सब द्रव्य उत्पाद, व्यय, ध्रुवता सहित है, इस कारण हर एक समयमें पर्यायसे पर्यायांतर अर्थात् एक पर्यायसे दूसरे पर्यायरूप द्रव्य होते है, और क्रिया केवल जीव--पुद्गल ही में होती है । पुद्गलका हलन चलन स्वभाव है, इस कारण स्कंधसे मिलते भी है, और बिछुड़ते भी हैं । इसलिये मिलने और बिछुड़नेकी अपेक्षा उत्पाद, व्यय और ध्रुवपने सहित हैं, क्रियावाले हैं । इसी तरह जीव भी कर्मके संयोगसे हलन चलनरूप होता हुआ नवीन कर्म नोकर्मरूप पुद्गलसे मिलता है, और पुराने कर्म नोकर्म पुद्गलोंसे बिछुड़ जाता है, इस कारण उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य सहित हुआ क्रियावाला है । इससे यह बात सिद्ध हुई, कि जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य तो क्रियावान् भी हैं, और भाववाले भी हैं । तथा धर्मादिक चार द्रव्य केवल भाववन्त (परिणामवाले) ही

अथ द्रव्यविशेषो गुणविशेषादिति प्रज्ञापयति—

लिंगेहिं जेहिं दव्वं जीवमजीवं च हवदि विण्णादं।
तेऽतब्भावविसिट्ठा मुत्तामुत्ता गुणा णेया ॥ ३८ ॥
लिङ्गैर्यैर्द्रव्यं जीवोऽजीवश्च भवति विज्ञातम्।
तेऽतद्भावविशिष्टा मूर्तामूर्ता गुणा ज्ञेयाः ॥ ३८ ॥

द्रव्यमाश्रित्य परानाश्रयत्वेन वर्तमानैर्लिङ्ग्यते गम्यते द्रव्यमेतैरिति लिङ्गानि गुणाः। ते च यद्द्रव्यं भवति न तद्गुणा भवन्ति, ये गुणा भवन्ति ते न द्रव्यं भवतीति द्रव्यादतद्भावेन विशिष्टाः सन्तो लिङ्गलिङ्गिप्रसिद्धौ तल्लिङ्गत्वमुपढौकन्ते। अथ ते द्रव्यस्य जीवोऽयमजीवोऽयमित्यादिविशेषमुत्पादयन्ति, स्वयमपि तद्भावविशिष्टत्वेनोपात्तविशेषत्वात्। यतो हि यस्य यस्य द्रव्यस्य यो यः स्वभावस्तस्य तस्य तेन तेन विशिष्टत्वात्तेषामस्ति विशेषः। अत एव च मूर्तानाममूर्तानां च द्रव्याणां मूर्तत्वेनामूर्तत्वेन च तद्भावेन विशिष्टत्वादिमे मूर्ता गुणा इमे अमूर्ता

अथ ज्ञानादिविशेषगुणभेदेन द्रव्यभेदमावेदयति– **लिंगेहिं जेहिं** लिङ्गैर्यैः सहजशुद्धपरमचैतन्यविलासरूपैस्तथैवाचेतनैर्जडरूपैर्वा लिङ्गैश्चिह्नैर्विशेषगुणैर्यैः करणभूतैर्जीवेन कर्तृभूतेन **हवदि विण्णादं** विशेषेण ज्ञातं भवति। किं कर्मतापन्नम्। **दव्वं** द्रव्यम्। कथंभूतम्। **जीवमजीवं च** जीवद्रव्यमजीवद्रव्यं च **ते मुत्तामुत्ता गुणा णेया** ते तानि पूर्वोक्तचेतनाचेतनलिङ्गानि मूर्तामूर्तगुणा ज्ञेया ज्ञातव्याः। ते च कथंभूताः। **अतब्भावविसिट्ठा** अतद्भावविशिष्टाः। तद्यथा–शुद्धजीवद्रव्ये ये केवलज्ञानादिगुणास्तेषां शुद्धजीवप्रदेशैः सह यदेकत्वमभिन्नत्वं तन्मयत्वं स तद्भावो भण्यते, तेषामेव गुणानां तैः प्रदेशैः सह यदा संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदः क्रियते तदा पुनरतद्भावो भण्यते, तेनातद्भावेन संज्ञादिभेदरूपेण स्वकीयस्वकीयद्रव्येण सह विशिष्टा भिन्ना इति, द्वितीयव्याख्यानेन पुनः स्वकीयद्रव्येण सह सद्भावेन तन्मयत्वेनान्यद्रव्याद्विशिष्टा

हैं ॥ ३७ ॥ आगे गुणोंके भेदसे ही द्रव्योंमें भेद है, ऐसा दिखलाते हैं —[**यैर्लिङ्गैः**] जिन चिह्नोंसे [**जीवः**] जीव [**च**] और [**अजीवः**] अजीव [**द्रव्यं**] द्रव्य [**ज्ञातं भवति**] जाना जाता है, [**ते**] वे चिह्न (लक्षण) [**तद्भावविशिष्टाः**] द्रव्योंके स्वरूपकी विशेषता लिये हुए [**मूर्तामूर्ता गुणाः**] मूर्तीक और अमूर्तीक गुण [**ज्ञेयाः**] जानने चाहिये। **भावार्थ**—जो अपने द्रव्यके आधार रहें, उन्हें **गुण** कहते हैं। वे गुण द्रव्यके चिह्न हैं। द्रव्यका स्वरूप गुणोंसे जाना जाता है, इस कारण द्रव्य लक्ष्य है, गुण लक्षण है। लक्ष्य-लक्षण दोनोंमें कथंचित् भेद भी है, और किसी प्रकारसे अभेद भी है। यही दिखलाते हैं, जो द्रव्य है, वह गुण नहीं है, जो गुण है, वह द्रव्य नहीं है, ऐसा जो गुण–गुणी भेद कहा जावे, तो भेद है, और यदि वस्तुका स्वरूप विचारा जाय, तो लक्ष्य–लक्षणमें भेद ही नहीं है, क्योंकि प्रदेश-भेद नहीं है, एक ही है। जो जिस द्रव्यका स्वभाव है, वह अपनी अपनी विशेषताको लिये हुये है, इस कारण मूर्तीक द्रव्यके मूर्तीक गुण होते हैं, और अमूर्तीकके अमूर्तीक गुण होते हैं। एक पुद्गल द्रव्य मूर्तीक है, और जीव, धर्म, अधर्म, आकाश–काल, ये पाँच द्रव्य अमूर्तीक हैं,

इति तेषां विशेषो निश्चेयः ॥ ३८ ॥

अथ मूर्तामूर्तगुणानां लक्षणसंबन्धमाख्याति—

मुत्ता इंदियगेज्झा पोग्गलदव्वप्पगा अणेगविधा ।
दव्वाणममुत्ताणं गुणा अमुत्ता मुणेदव्वा ॥ ३९ ॥

मूर्ता इन्द्रियग्राह्याः पुद्गलद्रव्यात्मका अनेकविधाः ।
द्रव्याणाममूर्तानां गुणा अमूर्ता ज्ञातव्याः ॥ ३९ ॥

मूर्तानां गुणानामिन्द्रियग्राह्यत्वं लक्षणम् । अमूर्तानां तदेव विपर्यस्तम् । ते च मूर्ताः पुद्गलद्रव्यस्य, तस्यैवैकस्य मूर्तत्वात् । अमूर्ताः शेषद्रव्याणां, पुद्गलादन्येषां सर्वेषामप्यमूर्तत्वात् ॥३९॥

अथ मूर्तस्य पुद्गलद्रव्यस्य गुणान् गृणाति—

वण्णरसगंधफासा विज्जंते पोग्गलस्स सुहुमादो ।
पुढवीपरियंतस्स य सद्दो सो पोग्गलो चित्तो ॥ ४० ॥

भिन्ना इत्यभिप्रायः ॥ ३८ ॥ एवं गुणभेदेन द्रव्यभेदो ज्ञातव्यः । अथ मूर्तामूर्तगुणानां लक्षणं संबन्धं च निरूपयति —**मुत्ता इंदियगेज्झा** मूर्ता गुणा इन्द्रियग्राह्या भवन्ति, अमूर्ताः पुनरिन्द्रियविषया न भवन्ति इति मूर्तामूर्तगुणानामिन्द्रियानिन्द्रियविषयत्वलक्षणमुक्तम् । इदानीं मूर्तगुणाः कस्य सबन्धिनो भवन्तीति संबन्धं कथयति **पोग्गलदव्वप्पगा अणेगविधा** मूर्तगुणाः पुद्गलद्रव्यात्मका अनेकविधा भवन्ति पुद्गलद्रव्यसंबन्धिनो भवन्तीत्यर्थः । अमूर्तगुणानां संबन्धं प्रतिपादयति **दव्वाणममुत्ताणं** विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावं यत्परमात्मद्रव्यं तत्प्रभृतीनाममूर्तद्रव्याणां संबन्धिनो भवन्ति । ते के गुणाः । **अमुत्ता** अमूर्ताः गुणाः केवलज्ञानादय इत्यर्थः । इति मूर्तामूर्तगुणानां लक्षणसंबन्धौ ज्ञातव्यौ ॥ ३९ ॥ एवं ज्ञानादिविशेषगुणभेदेन द्रव्यभेदो भवतीति कथनरूपेण द्वितीयस्थले गाथाद्वयं गतम् । अथ मूर्तपुद्गलद्रव्यस्य गुणानावेदयति—**वण्णरसगंधफासा विज्जंते**

ऐसा निश्चयसे जानना चाहिये ॥ ३८ ॥ आगे मूर्त-अमूर्तका लक्षण-संबंध कहते हैं—[**मूर्ताः**] जो मूर्त गुण हैं, वे [**इन्द्रियग्राह्याः**] इन्द्रियोंसे ग्रहण किये जाते हैं, और वे [**पुद्गलद्रव्यात्मकाः**] पुद्गलद्रव्यके ही हैं, तथा [**अनेकविधाः**] वर्णादिक भेदोंसे अनेक तरहके है । [**अमूर्तानां द्रव्याणां**] और जो अमूर्तीक द्रव्योंके [**गुणाः**] गुण हैं, वे [**अमूर्ताः**] अमूर्तीक [**ज्ञातव्याः**] जानने चाहिये । **भावार्थ**—मूर्तीक गुण इंद्रियोंसे जाने जाते हैं, अमूर्तीक गुण इन्द्रियोंसे नहीं जाने जाते । इन्द्रियोंसे जानना, यह तो मूर्तीकका लक्षण हुआ, और जो पुद्गलके हैं, यह पुद्गलके साथ उन मूर्तीक गुणोंका संबंध बतलाया । इसी प्रकार इन्द्रियोंसे ग्रहण नहीं होना, ये अमूर्तका लक्षण हुआ, तथा अमूर्तीक द्रव्यके हैं, यह अमूर्तीक द्रव्यके साथ उन अमूर्तीक गुणोंका संबंध दिखलाया । इसतरह मूर्त और अमूर्त गुणोंका लक्षण और संबंध कहा गया है ॥ ३९ ॥ आगे मूर्त पुद्गलद्रव्यके गुणोंको कहते हैं-[**सूक्ष्मात् पृथिवीपर्यन्तस्य**] परमाणुसे लेकर महास्कंध पृथिवी पर्यंत [**पुद्गलद्रव्यस्य**] ऐसे पुद्गलद्रव्यमें [**वर्णरसगन्धस्पर्शाः**] रूप ५, रस ५, गंध २, स्पर्श ८ ये चार प्रकारके गुण

वर्णरसगन्धस्पर्शा विद्यन्ते पुद्गलस्य सूक्ष्मत्वात् ।
पृथिवीपर्यन्तस्य च शब्दः स पुद्गलश्चित्रः ॥ ४० ॥

इन्द्रियग्राह्याः किल स्पर्शरसगन्धवर्णास्तद्विषयत्वात्, ते चेन्द्रियग्राह्यत्वव्यक्तिशक्तिवशात् गृह्यमाणा अगृह्यमाणाश्च आ एकद्रव्यात्मकसूक्ष्मपर्यायात्परमाणोः, आ अनेकद्रव्यात्मकस्थूलपर्यायात्पृथिवीस्कन्धाच्च सकलस्यापि पुद्गलस्याविशेषेण विशेषगुणत्वेन विद्यन्ते । ते च मूर्तत्वादेव शेषद्रव्याणामसंभवन्तः पुद्गलमधिगमयन्ति । शब्दस्यापीन्द्रियग्राह्यत्वाद्गुणत्वं न खल्वा-

पोग्गलस्स वर्णरसस्पर्शगन्धा विद्यन्ते । कस्य । पुद्गलस्य । कथंभूताः । सुहुमादो पुढवीपरियंतस्स य "पुढवी जलं च छाया चउरिंदियविसयकम्मपरमाणू । छव्विहभेयं भणियं पोग्गलदव्वं जिणवरेहिं ॥" इति गाथाकथितक्रमेण परमाणुलक्षणसूक्ष्मस्वरूपादेः पृथ्वीस्कन्धलक्षणस्थूलस्वरूपपर्यन्तस्य च । तथाहि—यथानन्तज्ञानादिचतुष्टयं विशेषलक्षणभूतं यथासंभवं सर्वजीवेषु साधारणं तथा वर्णादिचतुष्टयं विशेषलक्षणभूतं यथासंभवं सर्वपुद्गलेषु साधारणम् । यथैव चानन्तज्ञानादिचतुष्टयं मुक्तजीवेऽतीन्द्रियविषयज्ञानमनुमानगम्यमा-

[**विद्यन्ते**] मौजूद हैं, [**च**] और जो [**शब्दः**] शब्द है, [**सः**] वह [**पौद्गलश्चित्रः**] भाषा ध्वनि आदिके भेदसे अनेक प्रकारवाला पुद्गलका पर्याय है । **भावार्थ**–पुद्गलद्रव्य सूक्ष्मसूक्ष्म १, सूक्ष्म २, सूक्ष्मस्थूल ३, स्थूलसूक्ष्म ४, स्थूल ५, स्थूलस्थूल ६ छह प्रकारका कहा गया है । उनमेंसे परमाणु सूक्ष्मसे सूक्ष्म है १, कार्माण (कर्म होने योग्य) वर्गणा सूक्ष्म हैं २, स्पर्श, रस, गंध, शब्द ये सूक्ष्मस्थूल हैं, क्योंकि नेत्र-इंद्रियसे नहीं देखे जाते, इसलिये सूक्ष्म हैं, तथा चार इंद्रियोंसे जाने जाते हैं, इसलिये स्थूल भी हैं ३, छाया (परछाँई) स्थूलसूक्ष्म है, क्योंकि नेत्रसे देखनेमें आती है, इसलिये स्थूल है, तथा हाथसे ग्रहण नहीं की जाती, इसलिये सूक्ष्म भी है ४, जल, तैल आदिक स्थूल हैं, क्योंकि छेदन भेदन करनेसे फिर उसी समय मिल जाते हैं ६, पृथिवी, पर्वत, काठ वगैरः स्थूलस्थूल है । इस प्रकार भेदोंसे पुद्गल द्रव्य अनेक प्रकार है । ये स्पर्शादि चारों गुण इन्द्रियोंसे जाने जाते है । यहाँपर कोई प्रश्न करे, कि परमाणु कार्मणवर्गणादिकमें भी ये चार गुण हैं, वे अत्यन्त सूक्ष्मरूपसे वहाँ रहनेपर इन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष ही नहीं हो सकते, तो इनको इन्द्रिय-ग्राह्य किस तरह कहते हो ? इसका समाधान यह है, कि परमाणु आदि पुद्गल यद्यपि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष नहीं हैं, तो भी उनमें इंद्रिय ग्रहण योग्य शक्ति अवश्य मौजूद है, जब स्कंधके संबंध होनेसे स्थूलपना धारण करते हैं, तब इंद्रियोंसे प्रत्यक्ष नियमकर होते है । इस कारण व्यक्ति-शक्तिकी अपेक्षा ग्रहण किये जावें, अथवा नहीं किये जावें, परंतु इन्द्रिय-ग्रहण योग्य अवश्य हैं । सभी छह प्रकारके पुद्गलोंके स्पर्शादि चार गुण नियमसे पाये जाते हैं, अमूर्त द्रव्यके ये चारों नहीं पाये जाते, इसी लिये ये गुण पुद्गलके चिह्न हैं । शब्द भी कर्ण-इन्द्रियसे ग्रहण किया जाता है, परंतु वह पुद्गलकी पर्याय है, गुण नहीं है, क्योंकि अनेक पुद्गलस्कंधोंके संयोगसे उत्पन्न होता है, इसलिये पर्याय है । जो कोई अन्यवादी शब्दको आकाशद्रव्यका गुण मानते हैं, उनका कहना अप्रमाण है, क्योंकि आकाशद्रव्य अमूर्तीक है, इसलिये इंद्रिय-प्रत्यक्ष नहीं होता, और कर्ण-इन्द्रियसे ग्रहण किया जाता है । नियम ऐसा है,

शङ्कनीयं, तस्य वैचित्र्यप्रपञ्चितवैश्वरूपस्याप्यनेकद्रव्यात्मकपुद्गलपर्यायत्वेनाभ्युपगम्यमानत्वात्। गुणत्वे वा न तावदमूर्तद्रव्यगुणः शब्दः गुणगुणिनोरविभक्तप्रदेशत्वेनैकवेदनवेद्यत्वादमूर्तद्रव्यस्यापि श्रवणेन्द्रियविषयत्वापत्तेः। पर्यायलक्षणेनोत्खातगुणलक्षणत्वान्मूर्तद्रव्यगुणोऽपि न भवति। पर्यायलक्षणं हि कादाचित्कत्वं गुणलक्षणं तु नित्यत्वम्। ततः कादाचित्कत्वोत्खातनित्यत्वस्य न शब्दस्यास्ति गुणत्वम्। यत्तु तत्र नित्यत्वं तत्तदारम्भकपुद्गलानां तद्गुणानां च स्पर्शादीनामेव न शब्दपर्यायस्येति दृढतरं ग्राह्यम्। न च पुद्गलपर्यायत्वे शब्दस्य पृथिवीस्कन्धस्येव स्पर्शनादीन्द्रिय-

गमगम्यं च, तथा शुद्धपरमाणुद्रव्ये वर्णादिचतुष्टयमप्यतीन्द्रियज्ञानविषयमनुमानगम्यमागमगम्यं च। यथा वानन्तचतुष्टयस्य संसारिजीवे रागादिस्नेहनिमित्तेन कर्मबन्धवशादशुद्धत्वं भवति तथा वर्णादिचतुष्टयस्यापि स्निग्धरूक्षगुणनिमित्तेन द्व्यणुकादिबन्धावस्थायामशुद्धत्वम्। यथा वानन्तज्ञानादिचतुष्टयस्य रागादिस्नेहरहित-शुद्धात्मध्यानेन शुद्धत्वं भवति तथा वर्णादिचतुष्टयस्यापि स्निग्धगुणाभावे बन्धनेऽसति परमाणुपुद्गलावस्थायां शुद्धत्वमिति। **सद्दो सो पोग्गलो** यस्तु शब्दः स पौद्गलः यथा जीवस्य नरनारकादिविभावपर्यायाः तथायं

कि जिसका कारण इंद्रिय-ग्रहण योग्य न हो, उसका कार्य भी इन्द्रिय-ग्रहण योग्य नहीं हो सकता। यदि शब्द इन्द्रियसे ग्राह्य है, तो अमूर्त आकाश भी कर्ण-इन्द्रियसे ग्राह्य होना चाहिये। शब्द गुण है, गुण-गुणीके प्रदेश कभी जुदे होते नहीं है, इस कारण शब्दके ग्रहण होनेसे आकाश भी अवश्य कर्ण-इन्द्रियसे प्रत्यक्ष होना चाहिये, परंतु वह आकाश तो कभी इन्द्रिय प्रत्यक्ष होना नहीं है, इसलिये शब्द आकाशका गुण कदापि नहीं हो सकता। यहाँपर भी कोई ऐसी तर्क करे, कि पुद्गलद्रव्य मूर्तीक है, उसका ही गुण शब्द हो जाना चाहिये, पुद्गलकी पर्याय क्यों कहते हो? इसका समाधान इस तरह है, कि पर्यायका लक्षण अनित्य है, और गुणका लक्षण नित्य है। यदि शब्द पुद्गलका गुण कहा जावे, तो पुद्गल हमेशा शब्दरूप ही प्राप्त होना चाहिये, परंतु ऐसा नहीं है। जब स्कंधोंका संयोग होता है, तब शब्द होता है, इसलिये पर्याय ही है, गुण नहीं है, ऐसा निश्चयकर जानना। यदि कोई यह कहे, कि जैसे भूमि पुद्गलकी पर्याय है, वह स्पर्शनादि चार इन्द्रियोंसे ग्रहण की जाती है, उसी प्रकार शब्द भी चार इन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष होना चाहिये, एक कर्ण-इन्द्रियसे ही प्रत्यक्ष क्यों कहते हो? उसका उत्तर इस तरहसे है, कि जल पुद्गलकी पर्याय है, वह नासिका-इन्द्रियसे प्रत्यक्ष नहीं होता, अग्नि नासिका और जीभ इन दोनोंसे ग्रहण नहीं होती। पवन नासिका जीभ और नेत्र इन तीनोंसे ग्रहण नहीं होता, इस कारण 'जिस इंद्रियका जो विषय है, उस इंद्रियसे वही ग्रहण किया जाता है, ऐसा नियम तो है, परंतु ऐसा नहीं, कि जो पुद्गलकी पर्याय है, वह सभी इंद्रियोंसे ग्रहण होनी चाहिये'। इस कारण शब्द केवल कर्णेन्द्रियसे ही ग्रहण किया जाता है, शेष चार इंद्रियोंसे ग्राह्य नहीं है। यदि यहाँपर कोई अन्यवादी ऐसी तर्कणा करे, कि—जलमें गंध गुण नहीं होनेसे नासिका जलको नहीं ग्रहण करती। अग्निमें गंध, रस, इन दोनों गुणोंके न होनेसे नासिका जीभ ये दोनों उसको ग्रहण नहीं कर सकती। पवनमें गंध, रस, रूप, इन तीनोंके न होनेसे नासिका, जीभ, नेत्र, उसको ग्रहण नहीं करते हैं? इस तर्कका समाधान इस तरहसे है, कि ऐसा कोई

विषयत्वम् । अपां घ्राणेन्द्रियाविषयत्वात्, ज्योतिषो घ्राणरसनेन्द्रियाविषयत्वात्, मरुतो घ्राणरसनचक्षुरिन्द्रियाविषयत्वाच । न चागन्धागन्धरसागन्धरसवर्णाः; एवमब्ज्योतिर्मारुतः, सर्वपुद्गलानां स्पर्शादिचतुष्कोपेतत्वाभ्युपगमात् । व्यक्तस्पर्शादिचतुष्काणां च चन्द्रकान्तारणियवानामारम्भकैरेव पुद्गलैरव्यक्तगन्धाव्यक्तगन्धरसाव्यक्तगन्धरसवर्णानामब्ज्योतिरुदरमरुतामारम्भदर्शनात् । न च क्वचित्कस्यचित् गुणस्य व्यक्ताव्यक्तत्वं कादाचित्कपरिणामवैचित्र्यमत्ययं नित्यद्रव्यस्वभावप्रतिघाताय । ततोऽस्तु शब्दः पुद्गलपर्याय एवेति ॥ ४० ॥

अथामूर्तानां शेषद्रव्याणां गुणान् गृणाति—

आगासस्सवगाहो धम्मद्दव्वस्स गमणहेदुत्तं ।
धम्मेदरदव्वस्स दु गुणो पुणो ठाणकारणदा ॥ ४१ ॥
कालस्स वट्टणा से गुणोवओगो त्ति अप्पणो भणिदो ।
णेया संखेवादो गुणा हि मुत्तिप्पहीणाणं ॥ ४२ ॥ जुगलं ।

शब्दः पुद्गलस्य विभावपर्यायो न च गुणः । कस्मात् । गुणस्याविनश्वरत्वात् अयं च विनश्वरो । **नैयायिक**मतानुसारी कश्चिद्वदत्याकाशगुणोऽयं शब्दः । परिहारमाह—आकाशगुणत्वे सत्यमूर्तो भवति । अमूर्तश्च श्रवणेन्द्रियविषयो न भवति, दृश्यते च श्रवणेन्द्रियविषयत्वम् । शेषेन्द्रियविषयः कस्मान्न भवतीति चेत्—अन्येन्द्रियविषयोऽन्येन्द्रियस्य न भवति वस्तुस्वभावादेव रसादिविषयवत् । पुनरपि कथंभूतः । **चित्तो** चित्रः भाषात्मकाभाषात्मकरूपेण प्रायोगिकवैश्रसिकरूपेण च नानाप्रकारः । तच्च "सद्दो खंधप्पभवो" इत्यादि गाथायां **पञ्चास्तिकाये** व्याख्यातं तिष्ठत्यत्रालं प्रसंगेन ॥ ४० ॥ अथाकाशाद्यमूर्तद्रव्याणां विशेषगुणान्प्रतिपादयति—आकाशस्यावगाहहेतुत्वं, धर्मद्रव्यस्य गमनहेतुत्वं, धर्मेतरद्रव्यस्य तु पुनः स्थान-

---

पुद्गल नहीं है, जो कि स्पर्शादि चार गुणोंमेंसे एक या दो या तीन गुणोंको धारण करे, क्योंकि सभी पुद्गलोंमें चार गुण अवश्य होते है । इसका कारण यह है, गुणोंमें कमतीपना नहीं होना है, ऐसी सर्वज्ञकी आज्ञा है । इसलिये पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, इनमें स्पर्शादिक चारों गुण होते है, ऐसा जानना चाहिये । केवल मुख्य गौणका भेद है, वह इस प्रकार है—पृथिवीमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, ये चारों गुण प्रगट पाये जाते हैं, जलमें गंधकी गौणता है, अग्निमें गंध, रस, इन दोनोंकी गौणता है, पवनमें गंध, रस, वर्ण, इन तीनोंकी गौणता हैं । इसलिये सभी पुद्गलोंमें चारों गुण होते हैं । इस बातकी सिद्धिके लिये दूसरी युक्ति भी दिखलाते है—चंद्रकांतमणि (पाषाण) पृथिवीकायसे जल झड़ता है, जलसे पृथ्वीकाय मोती उत्पन्न होते हैं, अरणी लकड़ीसे अग्नि उत्पन्न होती है, जौ नामक अन्नके खानेसे पेटमें वायु हो जाता है । इस कारण पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुके पुद्गलोंमें भेद नहीं है, केवल परिणमनके भेदसे भेद है । इससे सिद्ध हुआ, कि सभी पुद्गलोंमें स्पर्शादि चार गुण पाये जाते है ॥ ४० ॥ आगे अमूर्तीक पाँच द्रव्योंके गुणोंको कहते हैं—[**आकाशस्य**] आकाश द्रव्यका [**अवगाहः**] एक ही समय सब द्रव्योंको जगह देनेका कारण ऐसा अवगाहनामा विशेष गुण है, [**तु**] और [**धर्मस्य**] धर्मद्रव्यका [**गमनहेतुत्वं**] जीव पुद्गलोंके

आकाशस्यावगाहो धर्मद्रव्यस्य गमनहेतुत्वम् ।
धर्मेतरद्रव्यस्य तु गुणः पुनः स्थानकारणता ॥ ४१ ॥
कालस्य वर्तना स्यात् गुण उपयोग इति आत्मनो भणितः ।
ज्ञेयाः संक्षेपाद्गुणा हि मूर्तिप्रहीणानाम् ॥ ४२ ॥ युगलम् ।

विशेषगुणो हि युगपत्सर्वद्रव्याणां साधारणावगाहहेतुत्वमाकाशस्य, सकृत्सर्वेषां गमनपरिणामिनां जीवपुद्गलानां गमनहेतुत्वं धर्मस्य, सकृत्सर्वेषां स्थानपरिणामिनां जीवपुद्गलानां स्थानहेतुत्वमधर्मस्य, अशेषशेषद्रव्याणां प्रतिपर्यायं समयवृत्तिहेतुत्वं कालस्य, चैतन्यपरिणामो जीवस्य । एवममूर्तानां विशेषगुणसंक्षेपाधिगमे लिङ्गम् । तत्रैककालमेव सकलद्रव्यसाधारणावगाहसंपादनमसर्वगतत्वादेव शेषद्रव्याणामसंभवदाकाशमधिगमयति । तथैकवारमेव गतिपरिणत-

कारणतागुणो भवतीति प्रथमगाथा गता । कालस्य वर्तना स्याद्गुणः ज्ञानदर्शनोपयोगद्वयमित्यात्मनो गुणो भणितः । एवं संक्षेपादमूर्तद्रव्याणां गुणा ज्ञेया इति । तथाहि—सर्वद्रव्याणां साधारणमवगाहहेतुत्वं विशेषगुणत्वादेवान्यद्रव्याणामसंभवत्सदाकाशं निश्चिनोति । गतिपरिणतसमस्तजीवपुद्गलानामेकसमये साधारणं गमनहेतुत्वं विशेषगुणत्वादेवान्यद्रव्याणामसंभवत्सद्धर्मद्रव्यं निश्चिनोति । तथैव च स्थितिपरिणतसमस्तजीवपुद्गलानामेकसमये साधारणं स्थितिहेतुत्वं विशेषगुणत्वादेवान्यद्रव्याणामसंभवदधर्मद्रव्यं निश्चिनोति । सर्व-

गमनका कारण ऐसा गतिहेतुत्वनामा विशेष गुण है, [**पुनः**] तथा [**धर्मेतरद्रव्यस्य**] अधर्मद्रव्यका [**गुणः**] विशेष गुण [**स्थानकारणता**] एक ही समय स्थितिभावको परिणत हुए जीव पुद्गलोंको स्थितिका कारणपना है । [**कालस्य**] कालद्रव्यका [**वर्तना**] सभी द्रव्योंके समय समय परिणमनकी प्रवृत्तिका कारण ऐसा वर्तना नामका गुण [**स्यात्**] है, [**आत्मनः गुणः**] जीवद्रव्यका विशेष गुण [**उपयोगः इति भणितः**] चेतना परिणाम है, ऐसा भगवान्ने कहा है । [**हि**] निश्चयसे [**एते गुणाः**] पहले कहे जो विशेष गुण हैं, वे [**संक्षेपात्**] विस्तार न करके थोड़ेमें ही [**मूर्तिप्रहीणानां**] मूर्तिरहित जो पाँच द्रव्य हैं, उनके [**ज्ञेयाः**] जानना चाहिये । **भावार्थ**—अवगाहननामा गुण आकाशद्रव्यका ही चिह्न है, क्योंकि अन्य पाँच द्रव्य हैं, वे सर्व व्यापक नहीं हैं, आकाश द्रव्य ही सर्वगत (सबमें फैला हुआ) है, इस कारण पाँच द्रव्योंका अवगाह गुण नहीं हो सकता, और आकाश सबका भाजन है, क्योंकि सब द्रव्य इसीमें रहते है, इससे इस आकाशका अवगाह चिह्न है, वह गुण होता हुआ आकाशके अस्तिपने (मौजूदगी) को दिखाता है । जीव पुद्गलकी गतिको सहायता करनेवाला गतिहेतुत्वनामा गुण धर्मद्रव्यका ही चिह्न है, अन्य पाँच द्रव्योंका बन नहीं सकता, क्योंकि कालद्रव्य पुद्गल प्रदेशी है, इससे कालपुद्गलका गुण नहीं हो सकता । जो द्रव्य अखंडरूप लोक प्रमाण हो, वही पुद्गलकी सब जगह गतिमें सहायता कर सकता है, और समुद्घातके बिना जीवद्रव्य लोकके असंख्यातवें भागमें रहता है, इससे जीवद्रव्यका भी गुण नहीं हो सकता, और आकाशद्रव्य लोकालोकतक है । यदि आकाशका गुण हो, तो जीव पुद्गल अलोकमें गमन कर सकते हैं, सो ऐसा है नहीं । इस कारण आकाशका भी गुण

समस्तजीवपुद्गलानामालोकाद्गमनहेतुत्वमप्रदेशत्वात्कालपुद्गलयोः समुद्घातादन्यत्र लोकासंख्येयभागमात्रत्वाज्जीवस्य लोकालोकसीम्नोऽचलितत्वादाकाशस्य विरुद्धकार्यहेतुत्वादधर्मस्यासंभवद्धर्ममधिगमयति। तथैकवारमेव स्थितिपरिणतसमस्तजीवपुद्गलानामालोकात्स्थानहेतुत्वमप्रदेशत्वात्कालपुद्गलयोः समुद्घातादन्यत्र लोकासंख्येयभागमात्रत्वाज्जीवस्य, लोकालोकसीम्नोऽचलितत्वादाकाशस्य, विरुद्धकार्यहेतुत्वाद्धर्मस्य चासंभवदधर्ममधिगमयति। तथा अशेषद्रव्याणां प्रतिपर्यायं समयवृत्तिहेतुत्वं कारणान्तरसाध्यत्वात्समयविशिष्टाया वृत्तेः स्वतस्तेषामसंभवत्कालमधिगमयति। तथा चैतन्यपरिणामश्चेतनत्वादेव शेषद्रव्याणामसंभवन् जीवमधिगमयति। एवं गुणविशेषाद्द्रव्यविशेषोऽधिगन्तव्यः ॥ ४१-४२ ॥

अथ द्रव्याणां प्रदेशवत्त्वाप्रदेशवत्त्वविशेषं प्रज्ञापयति—

जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा पुणो य आगासं।
सपदेसेहिं असंखा णत्थि पदेस त्ति कालस्स ॥ ४३ ॥

द्रव्याणां युगपत्पर्यायपरिणतिहेतुत्वं विशेषगुणत्वादेवान्यद्रव्याणामसंभवत्कालद्रव्यं निश्चिनोति। सर्वजीवसाधारणं सकलविमलकेवलज्ञानदर्शनद्वयं विशेषगुणत्वादेवान्याचेतनपञ्चद्रव्याणामसंभवत्सच्छुद्धबुद्धैकस्वभावं परमात्मद्रव्यं निश्चिनोति। अयमत्रार्थः—यद्यपि पञ्च द्रव्याणि जीवस्योपकारं कुर्वन्ति तथापि तानि दुःखकारणान्येवेति ज्ञात्वा यदि वाक्षयानन्तसुखादिकारणं विशुद्धज्ञानदर्शनोपयोगस्वभावं परमात्मद्रव्यं तदेव मनसा ध्येयं वचसा वक्तव्यं कायेन तत्साधकमनुष्ठानं च कर्तव्यमिति ॥ ४१-४२ ॥ एवं कस्य द्रव्यस्य

नहीं है, अधर्मद्रव्य जीव पुद्गलकी स्थितिको सहायता देनेवाला है, उसको गति सहायता विरुद्ध पड़ती है, इस कारण अधर्मद्रव्यका भी गुण नहीं हो सकता। इसलिये यह गतिहेतु गुण एक धर्मद्रव्य ही को प्रगट दिखलाता है। उसी प्रकार एक ही बार स्थितिभावको परिणत हुए जीवपुद्गलोंको स्थितिका हेतु होना, ऐसा स्थितिहेतुत्व गुण एक अधर्मद्रव्यका ही है, क्योंकि कालपुद्गल अप्रदेशी और खंड हैं, इसलिये इन दोनोंका गुण नहीं हो सकता, और जीवद्रव्य समुद्घातके विना लोकप्रमाण होता ही नहीं, इससे जीवका भी गुण नहीं बन सकता, आकाशद्रव्य लोकालोक प्रमाण है. सो यदि आकाशका गुण माना जावे, तो अलोकमें भी जीवपुद्गलकी स्थिति होनी चाहिये, इसलिये आकाशका भी गुण नहीं सिद्ध हुआ। इस कारण स्थितिहेतुत्वनामा गुण अधर्मद्रव्यके ही अस्तिपनेको प्रगट करता है। तथा समस्त द्रव्योंके पर्यायोंको समय समयमें पलटानेका कारण वर्तनाहेतुत्वनामा गुण कालद्रव्यका है, क्योंकि अन्य पाँच द्रव्योंसे समय-पर्यायकी उत्पत्ति नहीं होती। इस कारण पाँच द्रव्योंका वर्तनाहेतुत्व गुण नहीं है, वह गुण केवल कालके ही अस्तित्वको कहता है। उसी प्रकार चेतना गुण जीवका ही है, क्योंकि अन्य पाँच द्रव्य अचेतन हैं, इसलिये उनका न होकर जीवका ही चिह्न होता हुआ जीवको प्रगट दिखलाता है। इस तरह गुणोंके भेदसे द्रव्यका भेद जानना चाहिये ॥ ४१-४२ ॥ आगे छह द्रव्योंमें प्रदेशी और अप्रदेशीपनेके भेदको दिखलाते हैं—[**जीवाः**] जीवद्रव्य [**पुद्गलकायाः**] पुद्गल स्कंध [**पुनः**] और

जीवाः पुद्गलकाया धर्माधर्मौ पुनश्चाकाशम् ।
स्वप्रदेशैरसंख्या न सन्ति प्रदेशा इति कालस्य ॥ ४३ ॥

प्रदेशवन्ति हि जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशानि अनेकप्रदेशवत्त्वात् । अप्रदेशः कालाणुः प्रदेशमात्रत्वात् । अस्ति च संवर्तविस्तारयोरपि लोकाकाशतुल्यासंख्येयप्रदेशापरित्यागाज्जीवस्य, द्रव्येण प्रदेशमात्रत्वादप्रदेशत्वेऽपि द्विप्रदेशादिसंख्येयासंख्येयानन्तप्रदेशपर्यायेणानवधारितप्रदेशत्वात्पुद्गलस्य, सकललोकव्याप्यसंख्येयप्रदेशप्रस्ताररूपत्वात् धर्मस्य, सकललोकव्याप्यसंख्येयप्रदेशप्रस्ताररूपत्वादेवाधर्मस्य, सर्वव्याप्यनन्तप्रदेशप्रस्ताररूपत्वादाकाशस्य च प्रदेशवत्त्वम् । कालाणोस्तु द्रव्येण प्रदेशमात्रत्वात्पर्यायेण तु परस्परसंपर्कासंभवादप्रदेशत्वमेवास्ति । ततः कालद्रव्य-

के विशेषगुणा भवन्तीति कथनरूपेण तृतीयस्थले गाथात्रयं गतम् । अथ कालद्रव्यं विहाय जीवादिपञ्चद्रव्याणामस्तिकायत्वं व्याख्याति—**जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा पुणो व आगासं** जीवाः पुद्गलकायाः धर्माधर्मौ पुनश्चाकाशम् । **सपदेसेहिं असंखा ।** एते पञ्चास्तिकायाः किंविशिष्टाः । स्वप्रदेशैरसंख्येयाः । अत्रासंख्येयप्रदेशशब्देन प्रदेशबहुत्वं ग्राह्यम् । तच्च यथासंभवं योजनीयम् । तस्य तावत्संसारावस्थायां विस्तारोपसंहारयोरपि प्रदीपवत्प्रदेशानां हानिवृद्धयोरभावाद्व्यवहारेण देहमात्रेऽपि निश्चयेन लोकाकाशप्रमितासंख्येयप्रदेशत्वम् । धर्माधर्मयोः पुनरवस्थितरूपेण लोकाकाशप्रमितासंख्येयप्रदेशत्वम् । स्कन्धाकारपरिणतपुद्गलानां तु संख्येयासंख्येयानन्तप्रदेशत्वम् । किंतु पुद्गलव्याख्यानेन प्रदेशशब्देन परमाणवो ग्राह्या, न च क्षेत्रप्रदेशाः । कस्मात्पुद्गलानामनन्तप्रदेशक्षेत्रेऽवस्थानाभावादिति । परमाणोर्व्यक्तिरूपेणैकप्रदेशत्वं शक्तिरूपेणोपचारेण बहुप्रदेशत्वं च । आकाशस्यानन्ता इति । **णत्थि पदेस त्ति कालस्स** न सन्ति प्रदेशा इति कालस्य । कस्माद्द्रव्यरूपेणैकप्रदेशत्वात् परस्परसंबन्धाभावात्पर्यायरूपेणापीति ॥ ४३ ॥

[**धर्माधर्मौ**] धर्मद्रव्य तथा अधर्मद्रव्य [**च**] और [**आकाशं**] आकाशद्रव्य ये पाँच द्रव्य [**प्रदेशैः**] प्रदेशोंसे [**असंख्याताः**] गणना रहित हैं, अर्थात् कोई असंख्यात प्रदेशी है, कोई अनंत प्रदेशी हैं, [**कालस्य**] कालद्रव्यके [**प्रदेशाः**] अनेक प्रदेश [**न संति**] नहीं है, [**इति**] इस प्रकार भगवान्‌ने कहा है, अर्थात् कालद्रव्य प्रदेशमात्र होनेसे अप्रदेशी है । **भावार्थ—**जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, ये पाँच द्रव्य अनेक प्रदेशवाले हैं, इस कारण प्रदेशी कहे जाते है । उनमें जीवद्रव्य तो लोकाकाशके प्रमाण असंख्यात प्रदेशवाला है, संकोच विस्तार स्वभाव होनेपर भी असंख्यात् प्रदेशोंसे कम बढ़ नहीं हो सकता, पुद्गलद्रव्य परमाणुद्रव्यसे तो प्रदेशमात्र है, इसलिये अप्रदेशी भी है, परंतु परमाणुमें मिलनेकी शक्ति होनेसे दो परमाणुसे लेकर सख्यात-असख्यात-अनंत परमाणुओंके स्कंधतक प्रदेशभेद होनेके कारण संख्यातप्रदेशी असंख्यातप्रदेशी अनंतप्रदेशी जानना चाहिये । व्यवहारनयसे धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य लोकाकाश प्रमाण हैं, इस कारण असंख्यात प्रदेशी हैं । आकाशद्रव्य सर्वव्यापक होनेसे अनंतप्रदेशी है । काल अणुद्रव्य होनेसे प्रदेशमात्र है, इसलिये अप्रदेशी है, और उस कालाणुमें आपसमें मिल जानेकी शक्ति न होनेसे पुद्गल परमाणुकी तरह उपचारसे भी प्रदेशी नहीं हो सकता ।

प्रदेशं शेषद्रव्याणि प्रदेशवन्ति ॥ ४३ ॥

अथ कामी प्रदेशिनोऽप्रदेशाश्चावस्थिता इति प्रज्ञापयति—

लोगालोगेसु णभो धम्माधम्मेहि आददो लोगो।
सेसे पडुच्च कालो जीवा पुण पोग्गला सेसा ॥ ४४ ॥

लोकालोकयोर्नभो धर्माधर्माभ्यामाततो लोकः।
शेषौ प्रतीत्य कालो जीवाः पुनः पुद्गलाः शेषौ ॥ ४४ ॥

आकाशं हि तावत् लोकालोकयोरपि षड्द्रव्यसमवायासमवाययोरविभागेन वृत्तत्वात्। धर्माधर्मौ सर्वत्र लोके तन्निमित्तगमनस्थानानां जीवपुद्गलानां लोकाद्बहिस्तदेकदेशे च गमनस्थानासंभवात्। कालोऽपि लोके जीवपुद्गलपरिणामव्यज्यमानसमयादिपर्यायत्वात्, स तु

अथ तमेवार्थं द्रढयति—

एदाणि पंचदव्वाणि उज्झियकालं तु अत्थिकाय त्ति।
भण्णंते काया पुण बहुप्पदेसाण पचयत्तं ॥ *२ ॥

एदाणि पंचदव्वाणि एतानि पूर्वसूत्रोक्तानि जीवादिषड्द्रव्याण्येव **उज्झिय कालं तु** कालद्रव्यं विहाय **अत्थिकाय त्ति भण्णंते** अस्तिकायाः पञ्चास्तिकाया इति भण्यन्ते **काया पुण** कायाः कायशब्देन पुनः। किं भण्यते। **बहुप्पदेसाण पचयत्तं** बहुप्रदेशानां सबन्धि प्रचयत्वं समूह इति। अत्र पञ्चास्तिकायमध्ये जीवास्तिकाय उपादेयस्तत्रापि पञ्चपरमेष्ठिपर्यायावस्था तस्यामप्यर्हत्सिद्धावस्था तत्रापि सिद्धावस्था। वस्तुतस्तु रागादिसमस्तविकल्पजालपरिहारकाले सिद्धजीवसदृशा स्वकीयशुद्धात्मावस्थेति भावार्थः ॥ २ ॥ एवं पञ्चास्तिकायसंक्षेपसूचनरूपेण चतुर्थस्थले गाथाद्वयं गतम्। अथ द्रव्याणां लोकाकाशेऽवस्थानमाख्याति— **लोगालोगेसु णभो** लोकालोकयोरधिकरणभूतयोर्णभ आकाशं तिष्ठति **धम्माधम्मेहि आददो लोगो** धर्माधर्मास्तिकायाभ्यामाततो व्याप्तो भृतो लोकः। किं कृत्वा। **सेसे पडुच्च** शेषौ जीवपुद्गलौ प्रतीत्याश्रित्य। अयमत्रार्थः—जीवपुद्गलौ तावल्लोके तिष्ठतस्तयोर्गतिस्थित्योः कारणभूतौ धर्माधर्मावपि लोके। **कालो** कालोऽपि

इससे यह बात सिद्ध हुई, कि पाँच द्रव्य प्रदेशवाले है, और कालद्रव्य केवल अप्रदेशी है ॥ ४३ ॥ आगे प्रदेशी और अप्रदेशी द्रव्य किस जगह रहते है? इस बातको कहते हैं—[**लोकालोकयोः**] लोक और अलोकमें [**नभः**] आकाशद्रव्य रहता है. [**धर्माधर्माभ्यां**] धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्यसे [**लोकः आततः**] लोकाकाश व्याप्त है, अर्थात् धर्म और अधर्म ये दोनों द्रव्य लोकाकाशमें फैल रहे हैं, [**शेषौ प्रतीत्य**] जीव पुद्गल द्रव्यकी प्रतीतिसे [**कालः**] कालद्रव्य तिष्ठ रहा है। [**शेषाः जीवाः**] बाकी रहे जीवद्रव्य [**पुनः**] और [**पुद्गलाः**] पुद्गलद्रव्य ये दोनों लोकाकाशमें हैं। **भावार्थ—** आकाशद्रव्य सब जगह है, क्योंकि सबका भाजन (रहनेका ठिकाना) है, इसलिये लोकालोकमें है। धर्म अधर्मद्रव्य लोकमें हैं, इनके निमित्तसे ही जीव पुद्गलकी गति स्थिति लोकसे बाहर एक प्रदेशमें भी नहीं होती, लोकमें ही होती है। कालद्रव्यका समयादि पर्याय, जीव पुद्गलके परिणमन करनेसे ही प्रगट

लोकैकप्रदेश एवाप्रदेशत्वात्। जीवपुद्गलौ तु युक्तित एव लोके षड्द्रव्यसमवायात्मकत्वाल्लोकस्य। किंतु जीवस्य प्रदेशसंवर्तविस्तारधर्मत्वात् पुद्गलस्य बन्धहेतुभूतस्निग्धरूक्षगुणधर्मत्वाच्च तदेकदेशसर्वलोकनियमो नास्ति कालजीवपुद्गलानामित्येकद्रव्यापेक्षया एकदेश अनेकद्रव्यापेक्षया पुनरञ्जनचूर्णपूर्णसमुद्गकन्यायेन सर्वलोक एवेति ॥ ४४ ॥

अथ प्रदेशवत्त्वाप्रदेशत्वसंभवप्रकारमात्रं सूत्रयति—

जध ते णभप्पदेसा तधप्पदेसा हवंति सेसाणं।
अपदेसो परमाणू तेण पदेसुब्भवो भणिदो ॥ ४५ ॥
यथा ते नभःप्रदेशास्तथा प्रदेशा भवन्ति शेषाणाम्।
अप्रदेशः परमाणुस्तेन प्रदेशोद्भवो भणितः ॥ ४५ ॥

शेषौ जीवपुद्गलौ प्रतीत्य लोके। कस्मादिति चेत्। जीवपुद्गलाभ्यां नवजीर्णपरिणत्या व्यज्यमानसमयघटिकादिपर्यायत्वात्। शेषशब्देन किं भण्यते। **जीवा पुण पुग्गला सेसा** जीवाः पुद्गलाश्च पुनः शेषा भण्यन्त इति। अयमत्र भावः—यथा सिद्धा भगवन्तो यद्यपि निश्चयेन लोकाकाशप्रमितशुद्धासंख्येयप्रदेशे केवलज्ञानादिगुणाधारभूते स्वकीयस्वकीयभावे तिष्ठन्ति तथापि व्यवहारेण मोक्षशिलायां तिष्ठन्तीति भण्यन्ते। तथा सर्वे पदार्था यद्यपि निश्चयेन स्वकीयस्वकीयस्वरूपे तिष्ठन्ति तथापि व्यवहारेण लोकाकाशे तिष्ठन्तीति। अत्र यद्यप्यनन्तजीवद्रव्येभ्योऽनन्तगुणपुद्गलास्तिष्ठन्ति तथाप्येकदीपप्रकाशे बहुदीपप्रकाशवद्विशिष्टावगाहशक्तियोगेनासंख्येयप्रदेशेऽपि लोकेऽवस्थानं न विरुध्यते ॥ ४४ ॥ अथ यदेवाकाशस्य परमाणुव्याप्तक्षेत्रं प्रदेशलक्षणमुक्तं शेषद्रव्यप्रदेशानां तदेवेति सूचयति—**जध ते णभप्पदेसा** यथा ते प्रसिद्धाः परमाणु-

होता है, इस कारण कालद्रव्य भी लोकमें ही है। रहे जीव पुद्गल ये लोकमें प्रगट दीखते ही हैं, जीवके सकोच विस्तार शक्ति होनेसे वह लोकपरिमाण भी है। पुद्गलके बंधका कारण स्निग्ध (चिकना) रूक्ष (रूखा) गुण परिणमन होनेसे यह भी सब लोकप्रमाण है। इस कारण ये दोनों द्रव्य लोकके एकप्रदेश (हिस्से) में भी है, और सब लोकमें भी रहते हैं। तथा कालद्रव्य, जीवद्रव्य और पुद्गल अनेक द्रव्य हैं, इनकी अपेक्षा जो देखा जाय, तो सब लोक भरा हुआ है। जैसे काजल वगैरः रखनेकी कजरौटी अंजन वगैरःसे भरी रहती है, उसी प्रकार अनेक द्रव्यकी अपेक्षा इन तीन द्रव्योंसे सब लोक भरा हुआ है ॥ ४४ ॥ आगे इन द्रव्योंके प्रदेशपनेके कथनका संभव होना दिखलाते हैं—**[यथा]** जैसे **[ते]** वे एक परमाणु बराबर कहे गये जो **[नभःप्रदेशाः]** आकाशके प्रदेश हैं, वे जैसे परमाणुओंके मापसे अनंत गिने जाते हैं, **[तथा]** उसी प्रकार **[शेषाणां]** शेष धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, एकजीवद्रव्य, इनके भी **[प्रदेशाः]** प्रदेश परमाणुरूप गजसे मापे हुये **[भवंति]** होते है, अर्थात् मापे जाते हैं, **[परमाणुः]** अविभागी पुद्गल-परमाणु **[अप्रदेशः]** दो आदि प्रदेशोंसे रहित है, अर्थात् प्रदेशमात्र है, **[तेन]** उस परमाणुसे **[प्रदेशोद्भवः]** प्रदेशोंकी उत्पत्ति **[भणितः]** कही गई है। **भावार्थ—** सबसे सूक्ष्म (छोटा) अविभागी परमाणु होता है, वह परमाणु जितनी जगह रोके, उतनी जगहका नाम

सूत्रयिष्यते हि स्वयमाकाशस्य प्रदेशलक्षणमेकाणुव्याप्यत्वमिति । इह तु यथाकाशस्य प्रदेशास्तथा शेषद्रव्याणामिति प्रदेशलक्षणप्रकारैकत्वमासूत्र्यते । ततो यथैकाणुव्याप्येनांशेन गण्यमानस्याकाशस्यानन्तांशत्वादनन्तप्रदेशत्वं तथैकाणुव्याप्येनांशेन गण्यमानानां धर्माधर्मैकजीवानामसंख्येयांशत्वात् प्रत्येकमसंख्येयप्रदेशत्वम् । यथा चावस्थितप्रमाणयोर्धर्माधर्मयोस्तथा संवर्तविस्ताराभ्यामनवस्थितप्रमाणस्यापि शुष्कार्द्रत्वाभ्यां चर्मण इव जीवस्य स्वांशाल्पबहुत्वाभावादसंख्येयप्रदेशत्वमेव । अमूर्तसंवर्तविस्तारसिद्धिश्च स्थूलकृशशिशुकुमारशरीरव्यापित्वादस्ति स्वसंवेदनसाध्यैव । पुद्गलस्य तु द्रव्येणैकप्रदेशमात्रत्वादप्रदेशत्वे यथोदिते सत्यपि द्विप्रदेशाद्युद्भवहेतुभूततथाविधस्निग्धरूक्षगुणपरिणामशक्तिस्वभावात्प्रदेशोद्भवत्वमस्ति । ततः पर्यायेणानेकप्रदेशत्वस्यापि संभवात् द्व्यादिसंख्येयासंख्येयानन्तप्रदेशत्वमपि न्याय्यं पुद्गलस्य ॥ ४५ ॥

अथ कालाणोरप्रदेशत्वमेवेति नियमयति—

समओ दु अप्पदेसो पदेसमेत्तस्स दव्वजादस्स ।
वदिवददो सो वट्टदि पदेसमागासदव्वस्स ॥ ४६ ॥

व्याप्तक्षेत्रप्रमाणाकाशप्रदेशाः **तधप्पदेसा हवंति सेसाणं** तेनैवाकाशप्रदेशप्रमाणेन प्रदेशा भवन्ति । केषाम् । शुद्धबुद्धैकस्वभावं यत्परमात्मद्रव्यं तत्प्रभृतिशेषद्रव्याणाम् । **अपदेसो परमाणू** अप्रदेशो द्वितीयादिप्रदेशरहितो योऽसौ पुद्गलपरमाणुः **तेण पदेसुब्भवो भणिदो** तेन परमाणुना प्रदेशस्योद्भव उत्पत्तिर्भणिता । परमाणुव्याप्तक्षेत्रं प्रदेशो भवति । तदग्रे विस्तरेण कथयति इह तु सूचितमेव ॥ ४५ ॥ एवं पञ्चमस्थले स्वतन्त्रगाथाद्वयं गतम् । अथ कालद्रव्यस्य द्वितीयादिप्रदेशरहितत्वेनाप्रदेशत्वं व्यवस्थापयति— **समओ** समय-

---

प्रदेश है । इस तरह आकाशके अनंत प्रदेश होते हैं । उसी प्रकार प्रदेशसे धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, और एक जीवद्रव्यका माप किया जावे, तो असंख्यात असंख्यात प्रदेशी हैं, उनमें भी धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य सदा ही स्थिररूप है, तथा जीवद्रव्य संसारमें संकोच विस्तारकर अथिर है, जैसे सूखा और गीला चर्म अनवस्थित है, तो भी अपने प्रदेशोंसे कम ज्यादा नहीं होता । इस प्रकार असंख्यातप्रदेशी है । यहाँपर कोई प्रश्न करे, कि आत्मा अमूर्त है, उसके संकोच विस्तार किस तरह हो सकता है ? तो उसका उत्तर यह है, कि जैसे कोई पुरुष मोटा है, वह क्षीण हो जाता है, और कोई क्षीणसे मोटा हो जाता है, इस दशामें उस पुरुषके शरीरके मोटे वा क्षीण होनेके साथमें ही आत्माके प्रदेश भी संकोच और विस्तारको प्राप्त होते हैं, और जैसे बालक जब जवान होता है, तब आत्माके प्रदेश भी विस्ताररूप हो जाते हैं, इस कारण आत्माके संकोच विस्तार अच्छी तरह अनुभवमें आते हैं, संदेह नहीं रहता । पुद्गलद्रव्य परमाणुकी अपेक्षा यद्यपि एक प्रदेशी है, तो भी द्व्यणुकादि होनेकी इसमें मिलन-शक्ति है, इसलिये द्व्यणुक वगैरह स्कंध (समूहरूप) पर्यायोंकी अपेक्षा संख्यात, असंख्यात, अनंतप्रदेशी पुद्गलद्रव्य है, ॥ ४५ ॥ आगे कालाणुको अप्रदेशी दिखलाते हैं—[**तु**] और [**समयः**] कालद्रव्य [**अप्रदेशः**] प्रदेशसे रहित है, अर्थात् प्रदेशमात्र है, [**सः**] वह कालाणु [**आकाशद्रव्यस्य**]

समयस्त्वप्रदेशः प्रदेशमात्रस्य द्रव्यजातस्य ।
व्यतिपततः स वर्तते प्रदेशमाकाशद्रव्यस्य ॥ ४६ ॥

अप्रदेश एव समयो द्रव्येण प्रदेशमात्रत्वात् न च तस्य पुद्गलस्येव पर्यायेणाप्यनेकप्रदेशत्वं यतस्तस्य निरन्तरं प्रस्तारविस्तृतप्रदेशमात्रासंख्येयद्रव्यत्वेऽपि परस्परसंपर्कासंभवादेकैकमाकाशप्रदेशमभिव्याप्य तस्थुषः प्रदेशमात्रस्य परमाणोस्तदभिव्याप्तमेकमाकाशप्रदेशं मन्दगत्या व्यतिपतत एव वृत्तिः ॥ ४६ ॥

अथ कालपदार्थस्य द्रव्यपर्यायौ प्रज्ञापयति—

वदिवददो तं देसं तस्सम समओ तदो परो पुव्वो ।
जो अत्थो सो कालो समओ उप्पण्णपद्धंसी ॥ ४७ ॥
व्यतिपततस्तं देशं तत्समः समयस्ततः परः पूर्वः ।
योऽर्थः स कालः समय उत्पन्नप्रध्वंसी ॥ ४७ ॥

पर्यायस्योपादानकारणत्वात्समयः कालाणुः । दु पुनः । स च कथंभूतः । **अप्पदेसो** अप्रदेशो द्वितीयादिप्रदेशरहितो भवति । स च किं करोति । **सो वट्टदि** स पूर्वोक्तकालाणुः परमाणोर्गतिपरिणतेः सहकारित्वेन वर्तते । कस्य सबन्धी योऽसौ परमाणुः । **पदेसमेत्तस्स दव्वजादस्स** प्रदेशमात्रपुद्गलजातिरूपपरमाणुद्रव्यस्य । किं कुर्वतः । **वदिवददो** व्यतिपततो मन्दगत्या गच्छतः । कं प्रति । **पदेसं** कालाणुव्याप्तमेकप्रदेशम् । कस्य संबन्धिनम् । **आगासदव्वस्स** आकाशद्रव्यस्येति । तथाहि—कालाणुरप्रदेशो भवति । कस्मात् । द्रव्येणैकप्रदेशत्वात् । अथवा यथा स्नेहगुणेन पुद्गलानां परस्परबन्धो भवति तथाविधबन्धाभावात्पर्यायेणापि । अयमत्रार्थः—यस्मात्पुद्गलपरमाणोरेकप्रदेशगमनपर्यन्तं सहकारित्वं करोति न चाधिकं तस्मादेव ज्ञायते सोऽप्येकप्रदेश इति ॥ ४६ ॥ अथ पूर्वोक्तकालपदार्थस्य पर्यायस्वरूपं द्रव्यस्वरूपं च प्रतिपादयति— **वदिवददो** तस्य पूर्वसूत्रोदितपुद्गलपरमाणोर्व्यतिपततो मन्दगत्या गच्छतः । कं कर्मतापन्नम् । **तं देसं** तं पूर्वगाथोदितं कालाणुव्याप्तमाकाशप्रदेशम् । **तस्सम** तेन कालाणुव्याप्तैकप्रदेशपुद्गलपरमाणुमन्दगतिगमनेन

आकाशद्रव्यके **[प्रदेशं]** निर्विभागक्षेत्ररूप प्रदेशमें **[व्यतिपततः]** मंद गतिसे गमन करनेवाला **[प्रदेशमात्रस्य द्रव्यजातस्य]** तथा एक प्रदेशरूप ऐसे पुद्गलजातिरूप परमाणुके निमित्तसे **[वर्तते]** समय-पर्यायकी प्रगटतासे प्रवर्तता है । **भावार्थ**—लोकाकाशके असंख्यात प्रदेश हैं, और एक एक प्रदेशमें एक एक कालाणु ठहरा हुआ है, वह जुदा जुदा थिरता लिये हुए रत्नोंकी राशिकी तरह आपसमें मिलनेरूप शक्तिसे रहित है, इस प्रकार वे असंख्यात हैं । जब पुद्गल-परमाणु आकाशके एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशमें मंद गतिसे जाता है, तब पुद्गल-परमाणुकी गतिसे उस आकाशमें तिष्ठे हुए कालाणुका समयरूप पर्याय प्रगट होता है, और एक कालाणु एक प्रदेशमात्र होनेसे ही अप्रदेशी है ॥ ४६ ॥ आगे काल पदार्थके द्रव्य और पर्याय दिखाते हैं—**[तं देशं]** जो आकाशका एक प्रदेश है, उसमें **[व्यतिपततः]** मंद गमनसे जानेवाले पुद्गल-परमाणुको **[तत्समः]**

यो हि येन प्रदेशमात्रेण कालपदार्थेनाकाशस्य प्रदेशोऽभिव्याप्तस्तं प्रदेशं मन्दगत्यातिक्रमतः परमाणोस्तत्प्रदेशमात्रातिक्रमणपरिमाणेन तेन समो यः कालपदार्थसूक्ष्मवृत्तिरूपसमयः स तस्य कालपदार्थस्य पर्यायस्ततः एवंविधात्पर्यायात्पूर्वोत्तरवृत्तिवृत्तत्वेन व्यञ्जितनित्यत्वो योऽर्थः तत्तु द्रव्यम् । एवमनुत्पन्नाविध्वस्तो द्रव्यसमयः, उत्पन्नप्रध्वंसी पर्यायसमयः । अनंशः समयोऽयमाकाशप्रदेशस्यानंशत्वान्यथानुपपत्तेः । न चैकसमयेन परमाणोरालोकान्तगमनेऽपि

समः समानः सदृशस्तत्समः **समओ** कालाणुद्रव्यस्य सूक्ष्मपर्यायभूतः समयो व्यवहारकालो भवतीति पर्यायव्याख्यानं गतम् । **तदो परो पुव्वो** तस्मात्पूर्वोक्तसमयरूपकालपर्यायात्परो भाविकाले पूर्वमतीतकाले च **जो अत्थो** यः पूर्वपर्यायेष्वन्वयरूपेण दत्तपदार्थो द्रव्यं **सो कालो** स कालः कालपदार्थो भवतीति द्रव्यव्याख्यानम् । **समओ उप्पण्णपद्धंसी** स पूर्वोक्तसमयपर्यायो यद्यपि पूर्वापरसमयसंतानापेक्षया संख्येयासंख्येयानन्तसमयो भवति, तथापि वर्तमानसमयं प्रत्युत्पन्नप्रध्वंसी । यस्तु पूर्वोक्तद्रव्यकालः स त्रिकालस्थायित्वेन नित्य इति । एवं कालस्य पर्यायस्वरूपं द्रव्यस्वरूपं च ज्ञातव्यम् ॥ अथवानेन गाथाद्वयेन समयरूपव्यवहारकालव्याख्यानं क्रियते निश्चयकालव्याख्यानं तु 'उप्पादो पद्धंसो' इत्यादि गाथात्रयेणाग्रे करोति । तद्यथा । **समओ** परमार्थकालस्य पर्यायभूतसमयः । (**अप्पदेसो** अपगतप्रदेशो द्वितीयादिप्रदेशरहितो निरंश इत्यर्थः) । कथं निरंश इति चेत् । **पदेसमेत्तस्स दवियजादस्स** प्रदेशमात्रपुद्गलद्रव्यस्य संबन्धी योऽसौ परमाणुः **वदिवादादो वट्टदि** व्यतिपातात् मन्दगतिगमनात्सकाशात्स परमाणुस्तावद्गमनरूपेण वर्तते । कं प्रति । **पदेसमागासदवियस्स** विवक्षितैकाकाशप्रदेशं

जितना कुछ सूक्ष्मकाल लगे, उस समान कालपदार्थ [**समयः**] समयनामा पर्याय कहा जाता है। [**ततः**] उस पर्यायसे [**परः पूर्वः**] आगे तथा पहले [**यः**] जो नित्यभूत [**अर्थः**] पदार्थ है, [**सः**] वह [**कालः**] कालनामा द्रव्य है। **भावार्थ**—एक आकाशके प्रदेशमें जो कालाणु है, वह दूसरे प्रदेशमें रहनेवाले कालाणुसे कदापि नहीं मिलता, इस कारण जब पुद्गल-परमाणु एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेश (जगह) में जाता है, तब पहले प्रदेशमें रहनेवाले कालाणुसे दूसरे प्रदेशवर्ति कालाणुमें भेद है, संयोग नहीं है, क्योंकि उसमें मिलन-शक्तिका अभाव है। इस कारण सूक्ष्म कालका समय नामका पर्याय पुद्गलकी मंद गतिसे प्रगट जाना जाता है। जो कालाणु भिन्न नहीं होते, तथा उनमें मिलनेकी शक्ति होती तो समय-पर्याय कभी नहीं होता। अखंड एक द्रव्यके परिणमनसे तथा कालाणुके भिन्न होनेसे समय-भेद होता है। पुद्गल-परमाणु एक कालाणुसे दूसरे कालाणुमें जब जाता है, वहाँ भेद होता है। इसी लिये कालद्रव्यका समय-पर्याय पुद्गल-परमाणुकी मंद गतिसे प्रगट होता है। और जो समय-पर्यायके उत्पन्न होनेसे न तो उत्पन्न होता है, न विनाश पाता है, आगे पीछे सदा नित्य है, वह कालाणु द्रव्यसमय है। तथा पर्याय-समय विनाशीक है, कालाणुरूप द्रव्य-समय नित्य है। पर्याय-समयसे अन्य कोई भी सूक्ष्म काल नहीं है, इस कारण समय निरंशी है, अर्थात् फिर उसका भेद नहीं होता, और जो समयके भी अंश (भाग) किये जावें, तो सूक्ष्म आकाशके प्रदेशोंके भी अंश हो जायँगे, परंतु प्रदेश तो सबसे सूक्ष्म

समयस्य सांशत्वं विशिष्टगतिपरिणामाद्विशिष्टावगाहपरिणामवत् । तथाहि—यथा विशिष्टावगाहपरिणामादेकपरमाणुपरिमाणोऽनन्तपरमाणुस्कन्धः परमाणोरनंशत्वात् पुनरप्यनन्तांशत्वं न साधयति तथा विशिष्टगतिपरिणामादेककालाणुव्याप्तैकाकाशप्रदेशातिक्रमणपरिमाणावच्छिन्नैकसमयेनैकस्माल्लोकान्ताद्द्वितीयं लोकान्तमाक्रामतः परमाणोरसंख्येयाः कालाणवः समयस्यानंशत्वादसंख्येयांशत्वं न साधयन्ति ॥ ४७ ॥

अथाकाशस्य प्रदेशलक्षणं सूत्रयति—

प्रति । इति प्रथमगाथाव्याख्यानम् । **वदिवददो तं देसं** स परमाणुस्तमाकाशप्रदेशं यदा व्यतिपतितोऽतिक्रान्तो भवति **तस्सम समओ** तेन पुद्गलपरमाणुमन्दगतिगमनेन समः समानः समयो भवतीति निरंशत्वमिति वर्तमानसमयो व्याख्यातः । इदानीं पूर्वपरसमयौ कथयति—**तदो परो पुव्वो** तस्मात्पूर्वोक्तवर्तमानसमयात्परो भावी कोऽपि समयो भविष्यति पूर्वमपि कोऽपि गतः **अत्थो जो** एवं यः समयत्रयरूपोऽर्थः **सो कालो** सोऽतीतानागतवर्तमानरूपेण त्रिविधव्यवहारकालो भण्यते । **समओ उप्पण्णपद्धंसी** तेषु त्रिषु मध्ये योऽसौ वर्तमानः स उत्पन्नप्रध्वंसी अतीतानागतौ तु संख्येयासंख्येयानन्तसमयावित्यर्थः । एवमुक्तलक्षणे काले विद्यमानेऽपि परमात्मतत्त्वमलभमानोऽतीतानन्तकाले संसारसागरे भ्रमितोऽयं जीवो यतस्ततः कारणात्तदेव निजपरमात्मतत्त्वं सर्वप्रकारोपादेयरूपेण श्रद्धेयं, स्वसंवेदनज्ञानरूपेण ज्ञातव्यमाहारभयमैथुनपरिग्रहसंज्ञास्वरूपप्रभृतिसमस्तरागादिविभावत्यागेन ध्येयमिति तात्पर्यम् ॥ ४७ ॥ एवं कालव्याख्यानमुख्यत्वेन षष्ठस्थले गाथाद्वयं गतम् । अथ पूर्वं यत्सूचितं प्रदेशस्वरूपं तदिदानीं विवृणोति—

क्षेत्र है, उसमें अंशोंकी कल्पना किस तरह हो सकती है ? कदापि नहीं हो सकती । उसी तरह समय भी सूक्ष्म काल है, इसमें भी अंश कल्पना नहीं हो सकती । यहाँपर कोई प्रश्न करे, कि पुद्गल-परमाणु एक समयमें शीघ्र गतिसे जाकर लोकके अग्रभागतक पहुँचता है, उस अवस्थामें चौदह राजूतक श्रेणीबद्ध जितने आकाश-प्रदेशोंमें कालाणु हैं, उन सबको स्पर्श करता है, इसलिये एकसमयमें गमन करनेसे जितने आकाश-प्रदेशोंमें कालाणु हैं, उतने ही समयके अंश भेद होने चाहिये ? इसका उत्तर यह है, कि परमाणुमें कोई एक गतिपरिणामकी विशेषता है, इस कारण बहुत शीघ्र चालसे १४ राजू चला जाता है, परंतु समयके अंश नहीं होते हैं, समय तो अत्यंत सूक्ष्म काल है । जैसे एक परमाणुके प्रमाण आकाश-प्रदेश है, उसमें अनंत परमाणुओंका स्कंध रहता है, वहाँपर प्रदेशके अनंत अंश नहीं होते, क्योंकि परमाणु निरंश है, उसमें दूसरा अंश सिद्ध नहीं होता । इस कारण उस आकाशके प्रदेशमें कोई एक ऐसी अवगाह-शक्ति है, जो उसमें एक परमाणुके बराबर अनंत परमाणु स्कंध (समूह) रहते हैं, लेकिन अनंत परमाणुओंसे उस प्रदेशके अनंत अंश नहीं हो जाते, यह कोई अवगाह-शक्तिकी ही विशेषता है । उसी तरह गतिपरिणामकी विशेषतासे एक समयमें परमाणु लोकके अंततक चला जाता है, वहाँ असंख्यात कालाणुओंको उल्लंघन करनेपर भी समयके असंख्यात अंश सिद्ध नहीं होते । समय तो अंशरूप ही है, उससे दूसरे अंश किस तरह हो सकते हैं ? कदापि भी नहीं ॥ ४७ ॥ आगे आकाशके प्रदेशका लक्षण कहते हैं—[**अणु-**

आगासमणुणिविट्ठं आगासपदेससण्णया भणिदं ।
सव्वेसिं च अणूणं सक्कदि तं देदुमवगासं ॥ ४८ ॥
आकाशमणुनिविष्टमाकाशप्रदेशसंज्ञया भणितम् ।
सर्वेषां चाणूनां शक्नोति तद्दातुमवकाशम् ॥ ४८ ॥

आकाशस्यैकाणुव्याप्योंऽशः किलाकाशप्रदेशः, स खल्वेकोऽपि शेषपञ्चद्रव्यप्रदेशानां परमसौक्ष्म्यपरिणतानन्तपरमाणुस्कन्धानां चावकाशदानसमर्थः । अस्ति चाविभागैकद्रव्यत्वेऽप्यंशकल्पनमाकाशस्य, सर्वेषामणूनामवकाशदानस्यान्यथानुपपत्तेः । यदि पुनराकाशस्यांशा न स्युरिति मतिस्तदाङ्गुलीयुगलं नभसि प्रसार्य निरूप्यतां किमेकं क्षेत्रं किमनेकम् । एकं चेत्किमभिन्नांशाविभागैकद्रव्यत्वेन किं वा भिन्नांशाविभागैकद्रव्यत्वेन । अभिन्नांशाविभागैकद्रव्यत्वेन चेत् येनांशेनैकस्या अङ्गुलेः क्षेत्रं तेनांशेनेतरस्या इत्यन्यतरांशाभावः । एवं द्व्याद्यंशानामभावादाकाशस्य परमाणोरिव प्रदेशमात्रत्वम् । भिन्नांशाविभागैकद्रव्यत्वेन चेत् अविभागैकद्रव्यस्यांश-

आगासमणुणिविट्ठं आकाशम् अणुनिविष्टं पुद्गलपरमाणुव्याप्तम् । **आगासपदेससण्णया भणिदं** आकाशप्रदेशसंज्ञया भणितं कथितम् । **सव्वेसिं च अणूणं** सर्वेषामणूनां चकारात्सूक्ष्मस्कन्धानां च **सक्कदि तं देदुमवगासं** शक्नोति स आकाशप्रदेशो दातुमवकाशम् । तस्याकाशप्रदेशस्य यदीत्थंभूतमवकाशदानसामर्थ्यं न भवति तदानन्तानन्तो जीवराशिस्तस्मादप्यनन्तगुणपुद्गलराशिश्चासंख्येयप्रदेशलोके कथमवकाशं लभते । तच्च विस्तरेण पूर्वं भणितमेव । अथ मतम्–अखण्डाकाशद्रव्यस्य प्रदेशविभागः कथं घटते । परिहारमाह–चिदानन्दैकस्वभावनिजात्मतत्त्वपरमैकाग्र्यलक्षणसमाधिसंजातनिर्विकाराह्लादैकरूपसुखसुधारसा-

निविष्टं] परमाणुसे व्याप्त (रोका गया) जो [**आकाशं**] आकाशद्रव्य है, वह [**आकाशप्रदेशसंज्ञया**] आकाशका प्रदेश ऐसे नामसे [**भणितं**] भगवन्तदेवने कहा है, [**तत्**] वह आकाशका एक प्रदेश [**सर्वेषां**] अन्य सब द्रव्योंके प्रदेशोंको [**च**] और [**अणूनां**] परमसूक्ष्मपनेको परिणत हुए ऐसे अनंत पुद्गलस्कंधोंको [**अवकाशं**] जगह [**दातुं**] देनेको [**शक्नोति**] समर्थ है। **भावार्थ—** जितने आकाशको एक परमाणु रोककर स्थित हो, उतना आकाशनामा प्रदेश है। इससे सूक्ष्म क्षेत्र कोई भी नहीं है, जैसा कि यह प्रदेश सूक्ष्म है, इसमें अन्य अंशोंकी कल्पना नहीं होती। तथा उस सूक्ष्म आकाशके प्रदेशमें जगह देनेकी ऐसी ही शक्ति है, कि पाँच द्रव्योंके भी प्रदेश रहते हैं, और अनंत पुद्गल-परमाणु तथा अनंत पुद्गल-स्कंध भी रहते है। यह आकाशमें अवगाह (जगह) देनेकी कोई एक ऐसी ही अतिशय महिमायुक्त शक्ति है। यहाँपर कोई प्रश्न करे, कि आकाशद्रव्य तो अखंड एक वस्तु है, उसमें प्रदेशरूप अंश कल्पना कैसे हो सकती है? उसका समाधान इस तरहसे है, कि निर्विभाग एक वस्तुमें भी अंश कल्पना बन सकती है। यदि ऐसा कहो, कि किस तरहसे होती है? तो पहले अपने हाथकी दो अँगुलीं आकाशमें रक्खो, अब बतलाओ, कि दो अँगुलियोंका एक क्षेत्र है, कि दो क्षेत्र? यदि कहो कि एक क्षेत्र है, तो यह प्रश्न उठता है, कि क्या वह अखंड एक आकाशकी

कल्पनमायातम् । अनेकं चेत् किं सविभागानेकद्रव्यत्वेन किं वाऽविभागैकद्रव्यत्वेन । सविभागानेकद्रव्यत्वेन चेत् एकद्रव्यस्याकाशस्यानन्तद्रव्यत्वं, अविभागैकद्रव्यत्वेन चेत् अविभागैकद्रव्यस्यांशकल्पनमायातम् ॥ ४८ ॥

अथ तिर्यगूर्ध्वप्रचयावावेदयति—

एक्को व दुगे बहुगा संखातीदा तदो अणंता य ।
दव्वाणं च पदेसा संति हि समय त्ति कालस्स ॥ ४९ ॥
एको वा द्वौ बहवः संख्यातीतास्ततोऽनन्ताश्च ।
द्रव्याणां च प्रदेशाः सन्ति हि समया इति कालस्य ॥ ४९ ॥

प्रदेशप्रचयो हि तिर्यक्प्रचयः समयविशिष्टवृत्तिप्रचयस्तदूर्ध्वप्रचयः । तत्राकाशस्यावस्थितानन्तप्रदेशत्वाद्धर्माधर्मयोरवस्थितासंख्येयप्रदेशत्वाज्जीवस्यानवस्थितासंख्येयप्रदेशत्वात्पुद्गलस्य

स्यादत्रप्रमुनियुगलस्यावस्थितक्षेत्रं किमेकमनेकं वा । यद्येकं तर्हि द्वयोरप्येकत्वं प्राप्नोति न च तथा । भिन्नं चेत्तदा अखण्डस्याप्याकाशद्रव्यप्रदेशविभागो न विरुध्यत इत्यर्थः ॥ ४८ ॥ अथ तिर्यक्प्रचयोर्ध्वप्रचयौ निरूपयति—**एक्को व दुगे बहुगा संखातीदा तदो अणंता य** एको वा द्वौ बहवः संख्यातीतास्ततोऽनन्ताश्च । **दव्वाणं च पदेसा संति** हि कालद्रव्यं विहाय पञ्चद्रव्याणां संबन्धिन एते प्रदेशा यथासंभवं सन्ति हि स्फुटम् । **समय त्ति कालस्स** कालस्य पुनः पूर्वोक्तसंख्योपेताः समयाः सन्तीति । तद्यथा—एकाकारपरमसमरसीभावपरिणतपरमानन्दैकलक्षणसुखामृतभरितावस्थानां केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपानन्तगुणाधारभूतानां लोकाकाशप्रमितशुद्धासंख्येयप्रदेशानां मुक्तात्मपदार्थे योऽसौ प्रचयः समूहः समुदायो

अपेक्षा एक क्षेत्र है? यदि ऐसा मानो, तब तो ठीक है, और जो दो अँगुलियोंकी भिन्नतासे दो अंश आकाशके कल्पना करनेपर उनकी अपेक्षा भी एक क्षेत्र कहोगे, तो जिस अंशकर एक अँगुलीका क्षेत्र है, उसी अंशका दूसरी अंगुलीका भी क्षेत्र है, ऐसा माननेसे अन्य अंशोंका अभाव हो जायगा । इसी तरह दो आदि आकाशके अनेक अंशोंकर भिन्न भिन्न ही अनेक अंश मानोगे, तो आकाश अनंत हो जावेंगे, और जो एक आकाशके अनेक अंश मानोगे, तो एक अखंड आकाशमें अंशकल्पना सिद्ध ही है ॥ ४८ ॥ आगे तिर्यक्प्रचय, ऊर्ध्वप्रचय इन दोनोंका लक्षण कहते हैं—[**द्रव्याणां प्रदेशाः**] कालद्रव्यके विना पाँच द्रव्योंके निर्विभाग अंशरूप प्रदेश [**एकः**] एक [**वा**] अथवा [**द्वौ बहवः**] दो अथवा बहुत संख्याते [**च**] और [**संख्यातीताः**] असंख्यात [**च**] तथा [**ततः**] उसके बाद [**अनंताः**] अनंत इस तरह यथायोग्य [**सन्ति**] सदाकाल रहते हैं, [**कालस्य**] कालद्रव्यका [**समय इति**] समय पर्यायरूप एक प्रदेश [**हि**] निश्चयकर जानना चाहिये । **भावार्थ—**जिन द्रव्योंके बहुत प्रदेश होवें, उन्हें तिर्यक्प्रचय कहते हैं, क्योंकि प्रदेशोंके समूहका नाम तिर्यक्प्रचय है । अनेक समयोंका नाम ऊर्ध्वप्रचय है । सो यह ऊर्ध्वप्रचय सब द्रव्योंके होता है, क्योंकि अतीत, अनागत, वर्तमान, कालके अनेक समयोंमें सब द्रव्य परिणमन करते हैं। तिर्यक्प्रचय एक कालद्रव्यके विना सबके जानना चाहिये ।

द्रव्येणानेकप्रदेशत्वशक्तियुक्तैकप्रदेशत्वात्पर्यायेण. द्विबहुप्रदेशत्वाच्चास्ति तिर्यक्प्रचयः। न पुनः कालस्य शक्त्या, व्यक्त्या चैकप्रदेशत्वात्। ऊर्ध्वप्रचयस्तु त्रिकोटिस्पर्शित्वेन सांशत्वाद्द्रव्यवृत्तेः सर्वद्रव्याणामनिवारित एव। अयं तु विशेषः समयविशिष्टवृत्तिप्रचयः शेषद्रव्याणामूर्ध्वप्रचयः समयप्रचयः एव कालस्योर्ध्वप्रचयः। शेषद्रव्याणां वृत्तेर्हि समयादर्थान्तरभूतत्वादस्ति समयविशिष्टत्वम्। कालवृत्तेस्तु स्वतः समयभूतत्वात्तन्नास्ति ॥ ४९ ॥

अथ कालपदार्थोर्ध्वप्रचयनिरन्वयत्वमुपहन्ति—

उप्पादो पद्धंसो विज्जदि जदि जस्स एकसमयम्हि।
समयस्स सो वि समओ सभावसमवट्टिदो हवदि ॥ ५० ॥

राशिः स। किं किं भण्यते। तिर्यक्प्रचयाः तिर्यक्सामान्यमिति विस्तारसामान्यमिति अक्रमानेकान्त इति च भण्यते। स च प्रदेशप्रचयलक्षणस्तिर्यक्प्रचयो यथा मुक्तात्मद्रव्ये भणितस्तथा कालं विहाय स्वकीयस्वकीयप्रदेशसंख्यानुसारेण शेषद्रव्याणां स भवतीति तिर्यक्प्रचयो व्याख्यातः। प्रतिसमयवर्तिनां पूर्वोत्तरपर्यायाणां मुक्ताफलमालावत्संतान ऊर्ध्वप्रचय इत्यूर्ध्वसामान्यमित्यायतसामान्यमिति क्रमानेकान्त इति च भण्यते। स च सर्वद्रव्याणां भवति। किंतु पञ्चद्रव्याणां संबन्धी पूर्वापरपर्यायसंतानरूपो योऽसावूर्ध्वताप्रचयस्तस्य स्वकीयस्वकीयद्रव्यमुपादानकारणम्। कालस्तु प्रतिसमयं सहकारिकारणं भवति। यस्तु कालस्य समयसन्तानरूप ऊर्ध्वताप्रचयस्तस्य काल एवोपादानकारणं सहकारिकारणं च। कस्मात्। कालस्य भिन्नसमयाभावात्पर्याया एव समया भवन्तीत्यभिप्रायः ॥ ४९ ॥ एवं सप्तमस्थले स्वतन्त्रगाथाद्वयं गतम्। अथ समयसंतानरूपस्योर्ध्वप्रचयस्यान्वयिरूपेणाधारभूतं कालद्रव्यं व्यवस्थापयति—**उप्पादो**

आकाशद्रव्यके निश्चल अनंत प्रदेश हैं, धर्म और अधर्म इन द्रव्योंके निश्चल असंख्यात प्रदेश हैं, जीवके संकोच विस्तारकी अपेक्षा अथिर असंख्यात प्रदेश हैं, पुद्गलके यद्यपि द्रव्यपनेसे एक प्रदेश है, तो भी मिलन-शक्तिरूप पर्यायकी अपेक्षा दोसे लेकर संख्यात, असंख्यात, अनंतप्रदेश जानने, कालद्रव्य एक-प्रदेशमात्र है, इसमें कालाणुओंकी आपसमें मिलन-शक्ति नहीं हैं। इस कारण पाँच द्रव्योंके बहुत प्रदेश होनेसे तिर्यक्प्रचय है, काल प्रदेशमात्र है, इसलिये उसके तिर्यक् प्रचय नहीं है। ऊर्ध्वप्रचय तो सब द्रव्योंके है, क्योंकि सभी द्रव्य समय समयमें परिणमन करते हैं। यहाँपर इतना विशेष जानना, कि पाँच द्रव्योंका जो ऊर्ध्वप्रचय है, वह कालके ऊर्ध्वप्रचयसे जाना जाता है, क्योंकि कालद्रव्य सब द्रव्योंकी परिणति होनेको सहायक है। इस कारण कालके समय-पर्यायसे सब द्रव्योंकी परिणतिका भेद गिना जाता है। इसी लिये कालके ऊर्ध्वप्रचयसे अन्य पाँच द्रव्योंका ऊर्ध्वप्रचयरूप भेद गिन लेना। कालका ऊर्ध्वप्रचय अन्यसे नहीं, क्योंकि कालकी परिणतिका भेद काल ही के समयपर्यायसे गिननेमें आता है। इस कारण कालके ऊर्ध्वप्रचयको निमित्त व उपादानकारण आप काल ही जानना। अन्य पाँच द्रव्य अपने ऊर्ध्वप्रचयको उपादानकारण हैं, कालका ऊर्ध्वप्रचय उस जगह निमित्तकारण है ॥ ४९ ॥ आगे कहते हैं, कि यद्यपि समय-संतानरूप ऊर्ध्वप्रचयसे कालपदार्थ उत्पन्न होता है, तथा विनाश पाता है, तो

उत्पादः प्रध्वंसो विद्यते यदि यस्यैकसमये ।
समयस्य सोऽपि समयः स्वभावसमवस्थितो भवति ॥ ५० ॥

समयो हि समयपदार्थस्य वृत्त्यंशः, तस्मिन् कस्याप्यवश्यमुत्पादप्रध्वंसौ संभवतः, परमाणोर्व्यतिपातोत्पद्यमानत्वेन कारणपूर्वत्वात् । तौ यदि वृत्त्यंशस्यैव किं यौगपद्येन किं क्रमेण, यौगपद्येन चेत् नास्ति यौगपद्यं, सममेकस्य विरुद्धधर्मयोरनवतारात्, क्रमेण चेत् नास्ति क्रमः, वृत्त्यंशस्य सूक्ष्मत्वेन विभागाभावात् । ततो वृत्तिमान् कोऽप्यवश्यमनुसर्तव्यः, स च समयपदार्थ एव । तस्य खल्वेकस्मिन्नपि वृत्त्यंशे समुत्पादप्रध्वंसौ संभवतः । यो हि यस्य वृत्तिमतो यस्मिन् वृत्त्यंशे तद्वृत्त्यंशविशिष्टत्वेनोत्पादः स एव तस्यैव वृत्तिमतस्तस्मिन्नेव वृत्त्यंशे पूर्व-

---

पद्धंसो विज्जदि जदि उत्पादः प्रध्वंसो विद्यते यदि चेत् । कस्य । **जस्स** यस्य कालाणोः । क **एक्कसमयम्हि** एकसमये वर्तमानसमये । **समयस्स** समयोत्पादकत्वात्समयः कालाणुस्तस्य **सो वि समओ** सोऽपि कालाणुः **सभावसमवट्ठिदो हवदि** स्वभावसमवस्थितो भवति । पूर्वोक्तमुत्पादप्रध्वंसद्वयं तदाधारभूतं कालाणुद्रव्यरूपं ध्रौव्यमिति त्रयात्मकस्वभावसत्तास्तित्वमिति यावत् । तत्र सम्यगवस्थितः स्वभावः समवस्थितो भवति । तथाहि—यथाङ्गुलिद्रव्ये यस्मिन्नेव वर्तमानक्षणे वक्रपरिणामस्योत्पादस्तस्मिन्नेव क्षणे तस्यैवाङ्गुलिद्रव्यस्य पूर्वर्जुपर्यायेण प्रध्वंसस्तदाधारभूताङ्गुलिद्रव्येन ध्रौव्यमिति द्रव्यसिद्धिः । अथवा स्वस्वभावरूपसुखेनोत्पादस्तस्मिन्नेव क्षणे तस्यैवात्मद्रव्यस्य पूर्वानुभूताकुलत्वदुःखरूपेण प्रध्वंसस्तदुभया-

---

भी द्रव्यपनेसे ध्रुव है—[**यस्य समयस्य**] जिस कालाणुरूप द्रव्यसमयका [**एकसमये**] एक ही अति सूक्ष्म कालसमयमें [**यदि**] यदि [**उत्पादः**] उत्पन्न होना, [**प्रध्वंसः**] विनाश होना [**विद्यते**] प्रवर्तता है, तो [**सोपि**] वह भी [**समयः**] कालपदार्थ [**स्वभावसमवस्थितः**] अविनाशी स्वभावमें स्थिररूप [**भवति**] होता है । **भावार्थ**—कालपदार्थका समयपर्याय है, उसमें पूर्वपर्यायका नाश और उत्तरपर्यायका उत्पाद अवश्य होता है, क्योंकि पुद्गलपरमाणु पूर्वकालाणुको छोड़कर आगेके कालाणुके समीप मंद गतिसे जाता है, वहाँ समयपर्याय उत्पन्न होता है । इस कारण पूर्वका नाश और आगेकी पर्यायकी उत्पत्ति एक समय होती है । यहाँपर कोई प्रश्न करे, कि कालद्रव्यमें उत्पाद—व्यय होना क्यों कहते हो, समयपर्यायको ही उत्पाद व्यय सहित होना मान लेना चाहिये ? तो इसका समाधान इस तरहसे है, कि—जो समयपर्यायका ही उत्पाद व्यय माना जावे, तो एक समयमें उत्पाद व्यय नहीं बन सकते, क्योंकि उत्पाद—व्यय ये दोनो प्रकाश अंधकारकी तरह आपसमें विरोधी हैं । इस कारण एकपर्याय समयका उत्पाद—व्यय एक कालमें किस तरह हो सकता है ? नहीं हो सकता । यदि ऐसा कहो, "कि एकसमयमें क्रमसे समयपर्यायका उत्पाद व्यय होता है," तो ऐसा भी ठीक नहीं माळ्म होता, क्योंकि समय अत्यंत सूक्ष्म है, उसमें क्रमसे भेद हो ही नहीं सकता । इसी लिये एक समयमें समयपर्यायका उत्पाद व्यय नहीं संभव होता है । कालाणुरूप द्रव्यसमयको अंगीकार करनेसे उत्पाद व्यय एक ही समयमें अच्छी तरह सिद्ध होते हैं ! इस कारण कालाणुरूप द्रव्यसमय ही

वृत्त्यंशविशिष्टत्वेन प्रध्वंसः। यद्येवमुत्पादव्ययावेकस्मिन्नपि वृत्त्यंशे संभवतः समयपदार्थस्य कथं नाम निरन्वयत्वं, यतः पूर्वोत्तरवृत्त्यंशविशिष्टत्वाभ्यां युगपदुपात्तप्रध्वंसोत्पादस्यापि स्वभावेनाप्रध्वस्तानुत्पन्नत्वादवस्थितत्वमेव न भवेत्। एवमेकस्मिन् वृत्त्यंशे समयपदार्थस्योत्पादव्ययध्रौव्यवत्त्वं सिद्धम् ॥ ५० ॥

अथ सर्ववृत्त्यंशेषु समयपदार्थस्योत्पादव्ययध्रौव्यवत्त्वं साधयति—

एगम्हि संति समये संभवठिदिणाससण्णिदा अट्ठा।
समयस्स सव्वकालं एस हि कालाणुसब्भावो ॥ ५१ ॥
एकस्मिन् सन्ति समये संभवस्थितिनाशसंज्ञिता अर्थाः।
समयस्य सर्वकालं एष हि कालाणुसद्भावः ॥ ५१ ॥

अस्ति हि समस्तेष्वपि वृत्त्यंशेषु समयपदार्थस्योत्पादव्ययध्रौव्यत्वमेकस्मिन् वृत्त्यंशे तस्य

धारभूतपरमात्मद्रव्यत्वेन ध्रौव्यमिति द्रव्यसिद्धिः। अथवा मोक्षपर्यायरूपेणोत्पादस्तस्मिन्नेव क्षणे रत्नत्रयात्मकनिश्चयमोक्षमार्गपर्यायरूपेण प्रध्वंसस्तदुभयाधारपरमात्मद्रव्यत्वेन ध्रौव्यमिति द्रव्यसिद्धिः। तथा वर्तमानसमयरूपपर्यायेणोत्पादस्तस्मिन्नेव क्षणे तस्यैव कालाणुद्रव्यस्य पूर्वसमयरूपपर्यायेण प्रध्वंसस्तदुभयाधारभूताङ्गुलिद्रव्यस्थानीयेन कालाणुद्रव्यरूपेण ध्रौव्यमिति कालद्रव्यसिद्धिरित्यर्थः ॥ ५० ॥ अथ पूर्वोक्तप्रकारेण यथा वर्तमानसमये कालद्रव्यस्योत्पादव्ययध्रौव्यत्वं स्थापितं तथा सर्वसमयेष्वस्तीति निश्चिनोति—**एगम्हि संति समये संभवठिदिणाससण्णिदा अट्ठा** एकस्मिन्समये सन्ति विद्यन्ते। के। संभवस्थितिनाशसंज्ञिता अर्थाः धर्माः स्वभावा इति यावत्। कस्य संबन्धिनः। **समयस्स** समयरूपपर्यायस्योत्पादकत्वात्। समयः कालाणुस्तस्य **सव्वकालं** यथेकस्मिन् वर्तमानसमये सर्वदा तथैव **एस हि कालाणुसब्भावो** एष प्रत्यक्षीभूतो हि स्फुटमुत्पादव्ययध्रौव्यात्मककालाणुसद्भाव

अविनाशी ध्रुवद्रव्य स्वीकार करना चाहिये। उस द्रव्यकालाणुके एक समयमें पूर्वसमयपर्यायका नाश और उत्तरसमयपर्यायका उत्पाद होता है, तथा द्रव्यपने ध्रौव्य है। इस प्रकार द्रव्यके ध्रौव्य माननेसे एक समयमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य अच्छी तरह सिद्ध होते हैं। यदि कालाणुद्रव्य न माना जावे, तो ये उत्पादादि तीनों भाव सिद्ध नहीं हो सकते। जैसे हाथकी उँगली टेढी करनेसे उस उँगलीके पूर्व सीधे पर्यायका नाश होता है, वक्र (टेढ़ा) पर्यायका उत्पाद होता है, और अंगुलीपने ध्रौव्य है, उसी प्रकार कालद्रव्यके उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य जानने चाहिये ॥ ५० ॥ आगे सब समयपर्यायोंमें कालपदार्थके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सिद्ध होते हैं, ऐसा कहते हैं—[**एकस्मिन् समये**] एक समयपर्यायमें [**समयस्य**] कालाणुरूप कालपदार्थके [**संभवस्थितिनाशसंज्ञिताः**] उत्पाद, स्थिति, नाश नामके [**अर्थाः**] तीनों भाव [**सन्ति**] प्रवर्तते हैं, [**एषः हि**] यह उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप ही [**कालाणुसद्भावः**] कालद्रव्यका अस्तित्व [**सर्वकालं**] सदाकाल रहता है। **भावार्थ**—एक ही समय कालपदार्थके उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्य ये तीनों भाव होते हैं, और जैसे कालद्रव्य एकसमयमें उत्पाद, व्यय, ध्रुवरूप परिणमन

दर्शनात्, उपपत्तिमच्चैतत् विशेषास्तित्वस्य सामान्यास्तित्वमन्तरेणानुपपत्तेः। अयमेव च समयपदार्थस्य सिद्ध्यति सद्भावः। यदि विशेषसामान्यास्तित्वे सिद्ध्यतस्तदा त अस्तित्वमन्तरेण न सिद्ध्यतः कथंचिदपि ॥ ५१ ॥

अथ कालपदार्थस्यास्तित्वान्यथानुपपत्त्या प्रदेशमात्रत्वं साधयति—

जस्स ण संति पदेसा पदेसमेत्तं तु तच्चदो णादुं।
सुण्णं जाण तमत्थं अत्थंतरभूदमत्थीदो ॥ ५२ ॥

यस्य न सन्ति प्रदेशाः प्रदेशमात्रं तु तत्त्वतो ज्ञातुम्।
शून्यं जानीहि तमर्थमर्थान्तरभूतमस्तित्वात् ॥ ५२ ॥

अस्तित्वं हि तावदुत्पादव्ययध्रौव्यैक्यात्मिका वृत्तिः। न खलु सा प्रदेशमन्तरेण सूत्र्य-

---

इति। तद्यथा—यथा पूर्वमेकसमयोत्पादप्रध्वंसाधारेणाङ्गुलिद्रव्यादिदृष्टान्तेन वर्तमानसमये कालद्रव्यस्योत्पादव्ययध्रौव्यत्वं स्थापितं तथा सर्वसमयेषु ज्ञातव्यमिति। अत्र यद्यप्यतीतानन्तकाले दुर्लभायाः सर्वप्रकारोपादेयभूतायाः सिद्धगतेः काललब्धिरूपेण बहिरङ्गसहकारी भवति कालस्तथापि निश्चयनयेन निजशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानसमस्तपरद्रव्येच्छानिरोधलक्षणरूपा तपश्चरणरूपा या तु निश्चयचतुर्विधाराधना सैव तत्रोपादनकारणं न च कालस्तेन कारणेन स हेय इति भावार्थः ॥ ५१ ॥ अथोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकास्तित्वावष्टम्भेन कालस्यैकप्रदेशत्वं साधयति—**जस्स ण संति** यस्य पदार्थस्य न सन्ति न विद्यन्ते। के। **पदेसा** प्रदेशाः **पदेसमेत्तं तु** प्रदेशमात्रमेकप्रदेशमाणं पुनस्तद्वस्तु **तच्चदो णादुं** तत्त्वतः पदार्थतो

करता है, उसी प्रकार सब समयोंमें भी परिणमता है। कालाणुद्रव्य तो ध्रुव रहता है, परन्तु पूर्वसमयका नाश और आगेके समयका उत्पाद होता है। इस तरह ये तीनों भाव सदैव सिद्ध होते है ॥ ५१ ॥
आगे कालपदार्थ प्रदेशमात्र कालाणुरूप न होवे, तो उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप अस्तित्व भी नहीं बन सकता, यह सिद्ध करते हैं—[**यस्य**] जिस द्रव्यके [**प्रदेशाः**] क्षेत्रके निर्विभाग अनेक अंश [**न सन्ति**] नहीं हैं, [**च**] और [**प्रदेशमात्रं**] एक प्रदेशमात्र भी [**तत्त्वतः**] स्वरूपसे [**ज्ञातुं**] जाननेको [**'न'**] नहीं है, तो [**तं अर्थं**] उस द्रव्यको [**शून्यं**] अस्तित्व रहित अर्थात् अवस्तुभूत [**जानीहि**] तुम जानो। **भावार्थ**—पदार्थका अस्तित्व उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यसे होता है। इसलिये वह अस्तित्व जो द्रव्यके प्रदेश न होवें, तो नहीं होता। यदि कालद्रव्यका एकप्रदेश भी न माना जावे, तो उस कालपदार्थका मूलसे नाश हो जावेगा। यदि कोई ऐसा कहे, कि समयपर्याय ही मानो, प्रदेशमात्र कालाणुद्रव्य माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है। तो उससे यह पूँछना है, कि, पर्यायवाले ध्रौव्यके विना समयपर्याय किस तरह हो सकता है? जो ऐसा कहो, कि द्रव्य विना ही समयपर्याय उत्पन्न होता है, तो उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यकी एकता एक काल किस तरह हो सकती है? जो ऐसा मानो, "कि अनादिअनंत निरंतर अनेक समयपर्याय अंशोंकी परंपरामें पूर्व पूर्व समय अंशका नाश होता है, अगले अंशका उत्पाद है, परंपरा संतान द्रव्यपनेसे ध्रौव्य है। इस तरह द्रव्य विना ही ये तीनों भाव सध सकते

माणा कालस्य संभवति, यतः प्रदेशाभावे वृत्तिमदभावः। स तु शून्य एव, अस्तित्वसंज्ञाया वृत्तेरर्थान्तरभूतत्वात्। न च वृत्तिरेव केवला कालो भवितुमर्हति, वृत्तेर्हि वृत्तिमन्तमन्तरेणानुपपत्तेः। उपपत्तौ वा कथमुत्पादव्ययध्रौव्यैक्यात्मकत्वम्। अनाद्यन्तनिरन्तरानेकांशवशीकृतैकात्मकत्वेन पूर्वपूर्वांशप्रध्वंसादुत्तरोत्तरांशोत्पादादेकात्मध्रौव्यादिति चेत्। नैवम्। यस्मिन्नंशे प्रध्वंसो यस्मिंश्चोत्पादस्तयोः सह प्रवृत्त्यभावात् कुतस्त्यमैक्यम्। तथा प्रध्वस्तांशस्य सर्वथास्तमितत्वादुत्पद्यमानांशस्य वा संभवितात्मलाभत्वात्प्रध्वंसोत्पादैक्यवर्तिध्रौव्यमेव कुतस्त्यम्। एवं सति नश्यति त्रैलक्षण्यं, उल्लसति क्षणभङ्गः, अस्तमुपैति नित्यं द्रव्यं, उदीयन्ते क्षणक्षयिणो भावाः। ततस्तत्त्वविप्लवभयात्कश्चिदवश्यमाश्रयो भूतो वृत्तेर्वृत्तिमाननुसर्तव्यः। स तु प्रदेश एवाप्रदेशस्यान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वासिद्धेः। एवं सप्रदेशत्वे हि कालस्य कुत एकद्रव्यनिबन्धनं लोकाकाशतुल्या-

ज्ञातुं शक्यते। **सुण्णं जाण तमत्थं** यस्यैकोऽपि प्रदेशो नास्ति तमर्थं पदार्थं शून्यं जानीहि हे शिष्य, कस्माच्छून्यमिति चेत्। **अत्थंतरभूदं** एकप्रदेशाभावे सत्यर्थान्तरभूतं भिन्नं भवति यतः कारणत्। कस्याः सकाशाद्भिन्नम्। **अत्थीदो** उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकसत्ताया इति। तथाहि-कालपदार्थस्य तावत्पूर्वसूत्रोदितप्रकारेणोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकमस्तित्वं विद्यते तच्चास्तित्वं प्रदेशं विना न घटते। यश्च प्रदेशवान् स कालपदार्थ इति। अथ मतं कालद्रव्याभावेऽप्युत्पादव्ययध्रौव्यत्वं घटते। नैवम्। अङ्गुलिद्रव्याभावे वर्तमानवक्रपर्यायोत्पादो भूतर्जुपर्यायस्य विनाशस्तदुभयाधारभूतं ध्रौव्यम्। कस्य भविष्यति। न कस्यापि। तथा कालद्रव्याभावे वर्तमानसमयरूपोत्पादो भूतसमयरूपो विनाशस्तदुभयाधारभूतं ध्रौव्यम्। कस्य भविष्यति।

हैं," तो ऐसा माननेसे तीनों भाव एक समयमें सिद्ध नहीं हो सकते, क्योंकि जिस अंशका नाश है, उसका नाश ही है, और जिसका उत्पाद है वह, उत्पादरूप ही है। उत्पाद व्यय एकमें किस तरह होसकते हैं, और ध्रौव्य भी कहाँ रह सकता है, और ऐसा माननेपर इन भावोंके नाश होनेका प्रसंग आता है, तथा **बौद्धधर्मका** प्रवेश होता है। ऐसा होनेसे नित्यपनेका अभाव हो जायगा, और द्रव्य क्षणविनाशी होने लगेगा, इत्यादि अनेक दोष आ जावेंगे। इस कारण समयपर्यायका आधारभूत प्रदेशमात्र कालद्रव्य अवश्य स्वीकार करना चाहिये। प्रदेशमात्र द्रव्यमें एक ही समय अच्छी तरह उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य सध जाते हैं। जो कोई ऐसा कहे "कि कालद्रव्यके जब प्रदेशकी स्थापना की, तो असंख्यात कालाणुओंको भिन्न माननेकी क्या आवश्यकता है? एक अखंड लोकपरिमाण द्रव्य मानलेना चाहिये। उसीसे समय उत्पन्न होसकता है", तो उसका समाधान यह है, कि जो अखंड कालद्रव्य होवे, तो समयपर्याय उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि पुद्गलपरमाणु जब एक कालाणुको छोड़कर दूसरे कालाणुप्रति मंदगतिसे जाता है, तब उस जगह दोनों कालाणु जुदा जुदा होनेसे समयका भेद होता है। जो एक अखंड लोकपरिमाण कालद्रव्य होवे, तो समयपर्यायकी सिद्धि किस तरह हो सकती है? यदि कहो, "कि कालद्रव्य लोकपरिमाण असंख्यातप्रदेशी है, उसके एकप्रदेशसे दूसरे प्रदेश प्रति जब पुद्गलपरमाणु जायगा, तब समयपर्यायकी सिद्धि हो जायगी," तो उसका उत्तर यह है, कि ऐसा कहनेसे बड़ा भारी

संख्येयप्रदेशत्वं नाभ्युपगम्येत । पर्यायसमयाप्रसिद्धेः । प्रदेशमात्रं हि द्रव्यसमयमतिक्रामतः परमाणोः पर्यायसमयः प्रसिद्ध्यति । लोकाकाशतुल्यासंख्येयप्रदेशत्वे तु द्रव्यसमयस्य कुतस्त्या तत्सिद्धिः । लोकाकाशतुल्यासंख्येयप्रदेशैकद्रव्यत्वेऽपि तस्यैकप्रदेशमतिक्रामतः परमाणोस्तत्सिद्धिरिति चेन्नैवं, एकदेशवृत्तेः सर्ववृत्तित्वविरोधात् । सर्वस्यापि हि कालपदार्थस्य यः सूक्ष्मो वृत्त्यंशः स समयो न तु तदेकदेशस्य, तिर्यक्प्रचयस्योर्ध्वप्रचयत्वप्रसंगाच्च । तथाहि— प्रथममेकेन प्रदेशेन वर्तते ततोऽन्येन ततोऽप्यन्तरेणेति तिर्यक्प्रचयोऽप्यूर्ध्वप्रचयीभूय प्रदेशमात्रं द्रव्यमवस्थापयति । ततस्तिर्यक्प्रचयस्योर्ध्वप्रचयत्वमनिच्छता प्रथममेव प्रदेशमात्रं कालद्रव्यं व्यवस्थापयितव्यम् ॥ ५२ ॥

अथैवं ज्ञेयतत्त्वमुक्त्वा ज्ञानज्ञेयविभागेनात्मानं निश्चिन्वन्नात्मनोऽत्यन्तविभक्तत्वाय व्यवहारजीवत्वहेतुमालोचयति—

न कस्यापि । एवं सत्येतदायाति–अन्यस्य भङ्गोऽन्यस्योत्पादोऽन्यस्य ध्रौव्यमिति सर्वं वस्तुस्वरूपं विप्लवते । तस्माद्वस्तुविप्लवभयादुत्पादव्ययध्रौव्याणां कोऽप्येक आधारभूतोऽस्तीत्यभ्युपगन्तव्यः । स चैकप्रदेशरूपः कालाणुपदार्थ एवेति । अत्रातीतानन्तकाले ये केचन सिद्धसुखभाजनं जाता, भाविकाले चात्मोपादानसिद्धं स्वयमतिशयवदित्यादिविशेषेण विशिष्टसिद्धसुखस्य भाजनं भविष्यन्ति ते सर्वेऽपि काललब्धिवशेनैव । तथापि तत्र निजपरमात्मोपादेयरुचिरूपं वीतरागचारित्राविनाभूतं यन्निश्चयसम्यक्त्वं तस्यैव मुख्यत्वं, न च कालस्य, तेन स हेय इति । तथा चोक्तम्—"किं पलविएण बहुणा जे सिद्धा णरवरा गया काले । सिज्झिहहिं जे वि भविया तं जाणह सम्ममाहप्पं ॥" ॥ ५२ ॥ एवं निश्चयकालव्याख्यानमुख्यत्वेनाष्टमस्थले गाथात्रयं गतम् । इति पूर्वोक्तप्रकारेण 'दव्वं जीवमजीवं' इत्याद्येकोनविंशतिगाथाभिः स्थलाष्टकेन **विशेषज्ञेयाधिकारः**

दोष आवेगा । वह इस प्रकार है—एक अखंड कालद्रव्यके एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेश प्रति जानेसे समयपर्यायका भेद नहीं होता, क्योंकि अखंडद्रव्यसे एकप्रदेशमें समयपर्यायके होनेपर सभी जगह समयपर्याय है । कालकी एकतासे समयका भेद नहीं हो सकता । इसलिये ऐसा है, कि सबसे सूक्ष्म कालपर्याय समय है । वह कालाणुके भिन्न भिन्नपनेसे सिद्ध होता है, एकतासे नहीं । कालके अखंड माननेसे और भी दोष आता है, कालके तिर्यक्प्रचय नहीं है, ऊर्ध्वप्रचय है । जो कालको असंख्यात प्रदेशी माना जावे, तो कालके तिर्यक्प्रचय होना चाहिये, वही तिर्यक् ऊर्ध्वप्रचय हो जावेगा । वह इस तरहसे है—असंख्यात प्रदेशी काल प्रथम एक प्रदेशकर प्रवृत्त होता है । इससे आगे अन्य प्रदेशसे प्रवृत्त होता है, उससे भी आगे अन्य प्रदेशसे प्रवृत्त होता है, इस तरह क्रमसे असंख्यात प्रदेशोंसे प्रवृत्त होवे, तो तिर्यक्प्रचय ही ऊर्ध्वप्रचय हो जावेगा । एक एक प्रदेशमें कालद्रव्यको क्रमसे प्रवृत्त होनेसे कालद्रव्य भी प्रदेशमात्र ही स्थित (सिद्ध) होता है । इस कारण जो पुरुष तिर्यक्प्रचयमें ऊर्ध्वप्रचयका दोष नहीं चाहते हैं, वे पहले ही प्रदेशमात्र कालद्रव्यको मानें, जिससे कि कालद्रव्यकी सिद्धि अच्छी तरह होवे ॥ ५२ ॥ इस तरह पूर्वोक्त **विशेषज्ञेयतत्त्वका** वर्णन किया । आगे ज्ञान-ज्ञेयसे

सपदेसेहिं समग्गो लोगो अट्ठेहिं णिट्ठिदो णिच्चो ।
जो तं जाणदि जीवो पाणचदुक्केण संबद्धो ॥ ५३ ॥
सप्रदेशैः समग्रो लोकोऽर्थैर्निष्ठितो नित्यः ।
यस्तं जानाति जीवः प्राणचतुष्केन संबद्धः ॥ ५३ ॥

एवमाकाशपदार्थादाकालपदार्थाच्च समस्तैरेव संभावितप्रदेशसद्भावैः पदार्थैः समग्र एव यः समाप्तिं नीतो लोकस्तं खलु तदन्तःपातित्वेऽप्यचिन्त्यस्वपरपरिच्छेदशक्तिसंपदा जीव एव जानीते न त्वितरः । एवं शेषद्रव्याणि ज्ञेयमेव, जीवद्रव्यं तु ज्ञेयं ज्ञानं चेति ज्ञानज्ञेयविभागः । अथास्य जीवस्य सहजविजृम्भितानन्तज्ञानशक्तिहेतुके त्रिसमयावस्थायित्वलक्षणे वस्तुस्वरूपभूत-

समासः ॥ अतःपरं शुद्धजीवस्य द्रव्यभावप्राणैः सह भेदनिमित्तं 'सपदेसेहिं समग्गो' इत्यादि यथाक्रमेण गाथाष्टकपर्यन्तं सामान्यभेदभावनाव्याख्यानं करोति । तद्यथा । अथ ज्ञानज्ञेयज्ञापनार्थं तथैवात्मनः प्राणचतुष्केन सह भेदभावनार्थं वा सूत्रमिदं प्रतिपादयति—**लोगो** लोको भवति । कथंभूतः । **णिट्ठिदो** निष्ठितः समाप्तिं नीतो भृतो वा । कैः कर्तृभूतैः । **अट्ठेहिं** सहजशुद्धबुद्धैकस्वभावो योऽसौ परमात्मपदार्थस्तत्प्रभृतयो येऽर्थास्तैः । पुनरपि किंविशिष्टः । **सपदेसेहिं समग्गो** स्वकीयप्रदेशैः समग्रः परिपूर्णः । अथवा पदार्थैः कथंभूतैः । सप्रदेशैः प्रदेशसहितैः । पुनरपि किंविशिष्टो लोकः । **णिच्चो** द्रव्यार्थिकनयेन नित्यः लोकाकाशापेक्षया वा । अथवा नित्यो न केनापि पुरुषविशेषेण कृतः **जो तं जाणदि** यः कर्ता तं ज्ञेयभूतलोकं जानाति **जीवो** स जीवपदार्थो भवति । एतावता किमुक्तं भवति योऽसौ विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावो जीवः स ज्ञानं ज्ञेयश्च भण्यते । शेषपदार्थास्तु ज्ञेया एवेति ज्ञातृज्ञेयविभागः । पुनरपि किंविशिष्टो जीवः । **पाणचदुक्केण संबद्धो** यद्यपि निश्चयेन स्वतःसिद्धपरमचैतन्यस्वभावेन निश्चयप्राणेन जीव इति

आत्माका निश्चय करके उसको समस्त परभावोंसे जुदा दिखलानेके लिये व्यवहार जीवपनेका कारण कहते हैं—[**सप्रदेशैः**] अपने अपने प्रदेशोंसे संयुक्त [**अर्थैः**] सब पदार्थोंसे [**समग्रः**] भरा हुआ ऐसा जो [**लोकः**] यह तीन लोक है, वह [**नित्यः**] अनादिअनंत [**निष्ठितः**] निश्चल ठहरा हुआ है, [**तं**] उस द्रव्यस्वरूप लोकको [**यः**] जो द्रव्य जानता है, [**सः**] वह द्रव्य [**जीवः**] चेतनालक्षणवाला जीवनामा जानना चाहिये । वह जीवद्रव्य [**प्राणचतुष्काभिसंबद्धः**] इंद्रिय, बल, आयु, उच्छ्वास इन चार प्राणोंसे युक्त है । **भावार्थ**—यह लोक छह द्रव्योंसे रचित है, और सदाकाल अविनाशी है, तथा इस लोकमें छह द्रव्योंमेंसे अचिंत्यशक्ति और अपना-परका जाननेवाला एक जीवद्रव्य ही है, दूसरा कोई नहीं । इससे यह बात सिद्ध हुई, कि अन्य पाँच द्रव्य तो ज्ञेय हैं, और जीवद्रव्य ज्ञान भी है, तथा ज्ञेय भी है, ऐसे ज्ञान-ज्ञेयका भेद जानना । और यद्यपि यह जीव वस्तुस्वरूपसे स्वाभाविक उत्पन्न ज्ञानादि शक्ति सहित तीनोंकाल अविनाशी टंकोत्कीर्ण है, तो भी संसार–अवस्थामें अनादि पुद्गलके संयोगसे दूषित हुआ चार प्राणोंसे संबंध रखता है । वे चार प्राण व्यवहारजीवके कारण हैं । इन चार प्राणोंसे इस जीवका भेद करने योग्य है, जिससे कि यह जीव साहजिक (स्वाभाविक)

तया सर्वदानपायिनि निश्चयजीवत्वे सत्यपि संसारावस्थायामनादिप्रवाहप्रवृत्तपुद्गलसंश्लेषदूषितात्मतया प्राणचतुष्काभिसंबद्धत्वं व्यवहारजीवत्वहेतुर्विभक्तव्योऽस्ति ॥ ५३ ॥

अथ के प्राणा इत्यावेदयति—

इंदियपाणो य तधा बलपाणो तह य आउपाणो य ।
आणप्पाणप्पाणो जीवाणं होंति पाणा ते ॥ ५४ ॥

इन्द्रियप्राणश्च तथा बलप्राणस्तथा चायुःप्राणश्च ।
आनपानप्राणो जीवानां भवन्ति प्राणास्ते ॥ ५४ ॥

स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रपञ्चकमिन्द्रियप्राणाः, कायवाङ्मनस्त्रयं बलप्राणाः, भवधारणनिमित्तमायुःप्राणः । उदञ्चनन्यञ्चनात्मको मरुदानपानप्राणाः ॥ ५४ ॥

अथ प्राणानां निरुक्त्या जीवत्वहेतुत्वं पौद्गलिकत्वं च सूत्रयति—

पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीवस्सदि जो हि जीविदो पुव्वं ।
सो जीवो ते पाणा पोग्गलदव्वेहिं णिव्वत्ता ॥ ५५ ॥

तथा व्यवहारेणानादिकर्मबन्धवशादायुराद्यशुद्धप्राणचतुष्केनापि संबद्धः सन् जीवति । तच्च शुद्धनयेन जीवस्वरूपं न भवतीति भेदभावना ज्ञातव्येत्यभिप्रायः ॥ ५३ ॥ अथेन्द्रियादिप्राणचतुष्कस्वरूपं प्रतिपादयति— अतीन्द्रियानन्तसुखाभावादात्मनो विलक्षण इन्द्रियप्राणः, मनोवाक्कायव्यापाररहितात्परमात्मद्रव्याद्विसदृशो बलप्राणः, अनाद्यनन्तस्वभावात्परमात्मपदार्थाद्विपरीतः साद्यन्त आयुःप्राणः, उच्छ्वासनिश्वासजनितखेदरहिताच्छुद्धात्मतत्त्वात्प्रतिपक्षभूत आनपानप्राणः । एवमायुरिन्द्रियबलोच्छ्वासरूपेणाभेदनयेन जीवानां संबन्धिनश्चत्वारः प्राणा भवन्ति । ते च शुद्धनयेन जीवाद्भिन्ना भावयितव्या इति ॥ ५४ ॥ अथ त एव प्राणा भेदनयेन दशविधा भवन्तीत्यावेदयति—

पंच वि इंदियपाणा मणवचिकाया य तिण्णि बलपाणा ।
आणप्पाणप्पाणो आउगपाणेण होंति दसपाणा ॥ *३ ॥

इन्द्रियप्राणः पञ्चविधः, त्रिधा बलप्राणः, पुनश्चैक आनपानप्राणः, आयुःप्राणः । इति भेदेन दश

अपने निश्चय स्वभावको प्राप्त हो जावे ॥ ५३ ॥ आगे व्यवहारजीवके कारण जो प्राण कहे, उन्हींको कहते हैं—[**इन्द्रियप्राणः**] पाँच इन्द्रियप्राण [**च तथा**] और इसीतरह [**बलप्राणः**] तीन बलप्राण [**च तथा**] और इसी प्रकार [**आयुःप्राणः**] आयुप्राण [**च**] और [**आनपानप्राणाः**] उश्वास निश्वास नामा प्राण [**ते**] ये सब [**प्राणाः**] १० प्राण [**जीवानां**] जीवोंके होते हैं ॥ **भावार्थ**—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु, कर्ण ये पांच इंद्रियप्राण, कायबल १, वचनबल २, मनोबल ३, ये तीन बलप्राण, मनुष्यादि पर्यायकी स्थितिका हेतु आयुःप्राण और श्वासोच्छ्वासप्राण, इस प्रकार दस विशेषप्राण हैं, और चार सामान्य प्राण सभी जीवोंके होते है ॥ ५४ ॥ आगे इन प्राणोंको व्यवहार जीवके कारण कहते हुए पुद्गलीक हैं, ऐसा दिखाते हैं—[**यः**] जो चैतन्यस्वरूप आत्मा [**हि**] निश्चयसे

प्राणैश्चतुर्भिर्जीवति जीविष्यति यो हि जीवितः पूर्वम् ।
स जीवः ते प्राणाः पुद्गलद्रव्यैर्निर्वृत्ताः ॥ ५५ ॥

प्राणसामान्येन जीवति जीविष्यति जीवितवांश्च पूर्वमिति जीवः । एवमनादिसंतानप्रवर्तमानतया त्रिसमयावस्थत्वात्प्राणसामान्यं जीवस्य जीवत्वहेतुरस्त्येव । तथापि तन्न जीवस्य स्वभावत्वमवाप्नोति पुद्गलद्रव्यनिर्वृत्तत्वात् ॥ ५५ ॥

अथ प्राणानां पौद्गलिकत्वं साधयति—

जीवो पाणणिबद्धो बद्धो मोहादिएहिं कम्मेहिं ।
उवभुंजदि कम्मफलं बज्झदि अण्णेहिं कम्मेहिं ॥ ५६ ॥
जीवः प्राणनिबद्धो बद्धो मोहादिकैः कर्मभिः ।
उपभुङ्क्ते कर्मफलं बध्यतेऽन्यैः कर्मभिः ॥ ५६ ॥

यतो मोहादिभिः पौद्गलिककर्मभिर्बद्धत्वाज्जीवः प्राणनिबद्धो भवति । यतश्च प्राणनिबद्ध-

---

प्राणास्तेऽपि चिदानन्दैकस्वभावात्परमात्मनो निश्चयेन भिन्ना ज्ञातव्या इत्यभिप्रायः ॥ ३ ॥ अथप्राणशब्दव्युत्पत्त्या जीवस्य जीवत्वं प्राणानां पुद्गलस्वरूपत्वं च निरूपयति—**पाणेहिं चदुहिं जीवदि** यद्यपि निश्चयेन सत्ताचैतन्यसुखबोधादिशुद्धभावप्राणैर्जीवति तथापि व्यवहारेण वर्तमानकाले द्रव्यभावरूपैश्चतुर्भिरशुद्धप्राणैर्जीवति **जीवस्सदि** जीविष्यति भाविकाले **जो हि जीविदो** यो हि स्फुटं जीवितः **पुव्वं** पूर्वकाले **सो जीवो** स जीवो भवति **ते पाणा** ते पूर्वोक्ताः प्राणाः **पोग्गलदव्वेहिं णिव्वत्ता** उदयागतपुद्गलकर्मणा निर्वृत्ता निष्पन्ना इति । तत एव कारणात्पुद्गलद्रव्यविपरीतादनन्तज्ञानदर्शनसुखवीर्याद्यनन्तगुणस्वभावात्परमात्मतत्वाद्भिन्ना भावयितव्या इति भावः ॥ ५५ ॥ अथ प्राणानां यत्पूर्वसूत्रोदितं पौद्गलिकत्वं तदेव दर्शयति—**जीवो पाणणिबद्धो** जीवः कर्ता चतुर्भिः प्राणैर्निबद्धः संबद्धो भवति । कथंभूतः सन् । **बद्धो**

[**चतुर्भिः प्राणैः**] पहले कहे हुए इंद्रियादि चार प्राणोंसे [**जीवति**] जीता है, [**जीविष्यति**] जीवेगा, [**पूर्वं जीवितः**] पहले जीता था, [**सः**] वह [**जीवः**] जीवद्रव्य है, [**पुनः**] और [**प्राणाः**] चारों प्राण [**पुद्गलद्रव्यैः**] पुद्गलद्रव्यसे [**निर्वृत्ताः**] रचे गये हैं। **भावार्थ**—यद्यपि यह जीव निश्चयसे आत्मीक निजलक्षणरूप सुख, सत्ता, अवबोध, चैतन्यरूप प्राणोंकर सदा अविनाशी जीवित है, तो भी संसार-अवस्थामें अनादिकालसे परद्रव्यसंतानके संबंधसे तीनकालवर्ती चारों गतिके पर्यायोंमें जीवितव्यके कारण व्यवहार प्राणोंसे जीवित कहा गया है। वास्तवमें ये चारों प्राण आत्माके निजस्वरूप नहीं है, पुद्गलद्रव्यसे रचित हैं। इसलिये परभावरूप ही हैं ॥ ५५ ॥ आगे प्राणोंको पुद्गलीक दिखलाते हैं—[**मोहादिकैः कर्मभिः**] मोह, राग, द्वेष, भाव, आदि पुद्गलीक अनेक कर्मोंसे [**बद्धः**] बँधा हुआ [**जीवः**] आत्मा [**प्राणनिबद्धः**] चार प्राणोंसे बँधा है, और उन प्राणोंके संबंधसे ही [**कर्मफलं**] उदय अवस्थाको प्राप्त हुए कर्मोंके फलको [**उपभुञ्जानः**] भोगता हुआ [**अन्यैः कर्मभिः**] अन्य नवीन ज्ञानावरणादि कर्मोंसे [**बध्यते**] बँधता है। **भावार्थ**—यह आत्मा राग, द्वेष,

त्वात्पौद्गलिककर्मफलमुपभुञ्जानः पुनरप्यन्यैः पौद्गलिककर्मभिर्बध्यते । ततः पौद्गलिककर्मकार्यत्वात्पौद्गलिककर्मकारणत्वाच्च पौद्गलिका एव प्राणा निश्चीयन्ते ॥ ५६ ॥

अथ प्राणानां पौद्गलिककर्मकारणत्वमुन्मीलयति—

पाणाबाधं जीवो मोहपदेसेहिं कुणदि जीवाणं ।
जदि सो हवदि हि बंधो णाणावरणादिकम्मेहिं ॥ ५७ ॥

प्राणाबाधं जीवो मोहप्रद्वेषाभ्यां करोति जीवयोः ।
यदि स भवति हि बन्धो ज्ञानावरणादिकर्मभिः ॥ ५७ ॥

प्राणैर्हि तावज्जीवः कर्मफलमुपभुङ्क्ते, तदुपभुञ्जानो मोहप्रद्वेषावाप्नोति ताभ्यां स्वजीवपर-

---

शुद्धात्मोपलम्भलक्षणमोक्षादिविलक्षणैर्बद्धः । कैर्बद्धः । **मोहादिएहिं कम्मेहिं** मोहनीयादिकर्मभिर्बद्धस्ततो ज्ञायते मोहादिकर्मभिर्बद्धः सन् प्राणनिबद्धो भवति, न च कर्मबन्धरहित इति । तत एव ज्ञायते प्राणाः पुद्गलकर्मोदयजनिता इति । तथाविधः सन् किंकरोति । **उवभुंजदि कम्मफलं** परमसमाधिसमुत्पन्ननित्यानन्दैकलक्षणसुखामृतभोजनमलभमानः सन कटुकविषसमानमपि कर्मफलमुपभुङ्क्ते । **बज्झदि अण्णेहि कम्मेहिं** तत्कर्मफलमुपभुञ्जानः सन्नयं जीवः कर्मरहितात्मनो विसदृशैरन्यकर्मभिर्नवतरकर्मभिर्बध्यते । यतः कारणात्कर्मफलं भुञ्जानो नवतरकर्माणि बध्नाति, ततो ज्ञायते प्राणा नवतरपुद्गलकर्मणां कारणभूता इति ॥ ५६ ॥ अथ प्राणा नवतरपुद्गलकर्मबन्धस्य कारणं भवन्तीति पूर्वोक्तमेवार्थं विशेषेण समर्थयति— **पाणाबाधं** आयुरादिप्राणानां बाधां पीडां **कुणदि** करोति । स कः । **जीवो** जीवः । काभ्यां कृत्वा **मोहपदेसेहिं** सकलविमलकेवलज्ञानप्रदीपेन मोहान्धकारविनाशकात्परमात्मनो विपरीताभ्यां मोहप्रद्वेषाभ्याम् । केषां प्राणबाधां करोति । **जीवाणं** एकेन्द्रियप्रमुखजीवानाम् । **जदि** यदि चेत् **सो हवदि बंधो** तदा स्वात्मोपलम्भप्राप्तिरूपान्मोक्षाद्विपरीतो मूलोत्तरप्रकृत्यादिभेदभिन्नः स परमागमप्रसिद्धो **हि** स्फुटं बन्धो

मोह, भावोंकर परिणमन करनेसे ही पुद्गलीक चार प्राणोंको धारण करता है, और यह पुद्गलीक मोहादिक भावोंसे बँधा हुआ प्राणोंसे बद्ध होता है । इस कारण इन प्राणोंका कारण पुद्गलद्रव्य है । कारणके समान ही कार्य होता है, इसलिये ये प्राण भी पुद्गलीक हैं, और इन प्राणोंकर उदयको प्राप्त हुए कर्मोंके भोगसे नवीन पुद्गलीककर्म बँधते हैं, इस कारण ये प्राण पुद्गलके कारण है । इस तरह भी प्राण पुद्गलीक जानने । इससे यह बात सिद्ध हुई, कि ये प्राण पुद्गलसे उत्पन्न हुए है, और पुद्गलको उत्पन्न भी करते हैं, इसलिये पुद्गलीक हैं ॥ ५६ ॥ आगे नूतन पुद्गलीककर्मके कारण प्राण हैं, ऐसा दिखलाते हैं— **[यदि]** यदि **[सः]** वह प्राणसंयुक्त **[जीवः]** संसारी आत्मा **[मोहप्रद्वेषाभ्यां]** राग, द्वेष, भावोंसे **[जीवयोः]** स्वजीव तथा परजीवोंके **[प्राणाबाधं]** प्राणोंका घात **[करोति]** करता है, **[तदा]** तब **[हि]** निश्चयसे इसके **[ज्ञानावरणादिकर्मभिः]** ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंसे **[बन्धः]** प्रकृति स्थित्यादिरूप बंध **[भवति]** होता है । **भावार्थ**—यह जीव प्राणोंकर कर्मफलको भोगता है, और उस फलको भोगता हुआ इष्ट अनिष्ट पदार्थोंमें राग, द्वेष करता है, उन राग, द्वेष, भावोंसे अपने

जीवयोः प्राणाबाधं विदधाति । तदा कदाचित्परस्य द्रव्यप्राणानाबाध्य कदाचिदनाबाध्य स्वस्य भावप्राणानुपरक्तत्वेन बाधमानो ज्ञानावरणादीनि कर्माणि बध्नाति । एवं प्राणाः पौद्गलिककर्मकारणतामुपयान्ति ॥ ५७ ॥

अथ पुद्गलप्राणसंततिप्रवृत्तिहेतुमन्तरङ्गमासूत्रयति—

आदा कम्ममलिमसो धरेदि पाणे पुणो पुणो अण्णे ।
ण चयदि जाव ममत्तं देहपधाणेसु विसयेसु ॥ ५८ ॥

आत्मा कर्ममलीमसो धारयति प्राणान् पुनः पुनरन्यान् ।
न त्यजति यावन्ममत्वं देहप्रधानेषु विषयेषु ॥ ५८ ॥

योऽयमात्मनः पौद्गलिकप्राणानां संतानेन प्रवृत्तिः तस्या अनादिपौद्गलकर्म मूलं, शरीरादिममत्वरूपमुपरक्तत्वमन्तरङ्गो हेतुः ॥ ५८ ॥

भवति । कैः कृत्वा । **णाणावरणादिकम्मेहिं** ज्ञानावरणादिकर्मभिरिति । ततो ज्ञायते प्राणाः पुद्गलकर्मबन्धकारणं भवन्तीति । अयमत्रार्थः—यथा कोऽपि तप्तलोहपिण्डेन परं हन्तुकामः सन् पूर्वं तावदात्मानमेव हन्ति पश्चादन्यघाते नियमो नास्ति, तथायमज्ञानी जीवोऽपि तप्तलोहपिण्डस्थानीयमोहादिपरिणामेन परिणतः सन् पूर्वं निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानस्वरूपं स्वकीयशुद्धप्राणं हन्ति पश्चादुत्तरकाले परप्राणघाते नियमो नास्तीति ॥ ५७ ॥ अथेन्द्रियादिप्राणोत्पत्तेरन्तरङ्गहेतुमुपदिशति—**आदा कम्ममलिमसो** अयमात्मा स्वभावेन भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्ममलरहितत्वेनात्यन्तनिर्मलोऽपि व्यवहारेणानादिकर्मबन्धवशान्मलीमसो भवति । तथाभूतः सन् किं करोति । **धरेदि पाणे पुणो पुणो अण्णे** धारयति प्राणान् पुनःपुनः अन्यान्नवतरान् । यावत्किम् । **ण चयदि जाव ममत्तं** निःस्नेहचिच्चमत्कारपरिणतेर्विपरीतां ममतां यावत्कालं न त्यजति । केषु विषयेषु । **देहपधाणेसु विसयेसु** देहविषयरहितपरमचैतन्यप्रकाशपरिणतेः प्रतिपक्षभूतेषु देहप्रधानेषु पञ्चेन्द्रियविषयेष्विति । ततः स्थितमेतत् इन्द्रियादिप्राणोत्पत्तेर्देहादिममत्वमेवान्तरङ्गकारणमिति ॥ ५८ ॥

ज्ञानप्राणका नाश करता है, तथा अन्य जीवोंके द्रव्यप्राणोंका घात करता है । जब यह राग, द्वेष, भावोंसे परिणमन करता है, तब अन्य जीवके द्रव्यप्राणोंका घात होवे, अथवा न होवे, परंतु आप तो अवश्य रागी द्वेषी हुआ अपना घात कर लेता है । दूसरी बात यह है, कि जब यह जीव रागी द्वेषी होता है, तब अनेक तरहके बंध करता है, और प्राणोंके संबंधसे पुद्गलीक बंधको करता है । इसलिये ये प्राण पुद्गलीक कर्मके कारण हैं ॥ ५७ ॥ आगे इन प्राणोंकी संतानकी उत्पत्तिका अंतरंग कारण बतलाते हैं—**[कर्ममलीमसः]** अनादिकालसे लेकर कर्मोंकर मैला जो **[आत्मा]** जीवद्रव्य है, वह **[तावत्]** तबतक **[पुनः पुनः]** बारंवार **[अन्यान्]** दूसरे नवीन **[प्राणान्]** प्राणोंको **[धारयति]** धारण करता है, **[यावत्]** जबतक कि **[देहप्रधानेषु]** शरीर है, मुख्य जिनमें ऐसे **[विषयेषु]** संसार, शरीर, भोग, आदिक विषयोंमें **[ममतां]** ममत्व बुद्धिको **[न त्यजति]** नहीं छोड़ देता । **भावार्थ—** जबतक इस जीवके शरीरादिमें से ममत्वबुद्धि नहीं छूटती, तबतक चतुर्गतिरूप संसारके कारण प्राणोंको

अथ पुद्गलप्राणसंततिनिवृत्तिहेतुमन्तरङ्गं ग्राहयति—

जो इंदियादिविजई भवीय उवओगमप्पगं झादि ।
कम्मेहिं सो ण रंजदि किह तं पाणा अणुचरंति ॥ ५९ ॥

य इन्द्रियादिविजयी भूत्वोपयोगमात्मकं ध्यायति ।
कर्मभिः स न रज्यते कथं तं प्राणा अनुचरन्ति ॥ ५९ ॥

पुद्गलप्राणसंततिनिवृत्तेरन्तरङ्गो हेतुर्हि पौद्गलिककर्ममूलस्योपरक्तत्वस्याभावः । स तु समस्तेन्द्रियादिपरद्रव्यानुवर्तिविजयिनो भूत्वा समस्तोपाश्रयानुवृत्तिव्यावृत्तस्य स्फटिकमणेरिवात्यन्तविशुद्धमुपयोगमात्रमात्मानं सुनिश्चलं केवलमधिवसतः स्यात् । इदमत्र तात्पर्यम्—आत्मनोऽत्यन्तविभक्तसिद्धये व्यवहारजीवत्वहेतवः पुद्गलप्राणा एवमुच्छेत्तव्याः ॥ ५९ ॥

अथ पुनरस्यात्मनोऽत्यन्तविभक्तत्वसिद्धये गतिविशिष्टव्यवहारजीवत्वहेतुपर्यायस्वरूपमुपवर्णयति—

अथेन्द्रियादिप्राणानामभ्यन्तरविनाशकारणमावेदयति—**जो इंदियादिविजई भवीय** यः कर्तातीन्द्रियात्मोत्थसुखामृतसंतोषबलेन जितेन्द्रियत्वेन निःकषायनिर्मलानुभूतिबलेन कषायजयेन पञ्चेन्द्रियादिविजयी भूत्वा **उवओगमप्पगं झादि** केवलज्ञानदर्शनोपयोगं निजात्मानं ध्यायति **कम्मेहिं सो ण रंजदि** कर्मभिश्चिच्चमत्कारादात्मनः प्रतिबन्धकैर्ज्ञानावरणादिकर्मभिः स न रज्यते न बध्यते । **किह तं पाणा अणुचरंति** कर्मबन्धाभावे सति तं पुरुषं प्राणाः कर्तारः कथमनुचरन्ति कथमाश्रयन्ति । न कथमपीति । ततो ज्ञायते कषायेन्द्रियविजय एव पञ्चेन्द्रियादिप्राणानां विनाशकारणमिति ॥ ५९ ॥ एवं 'सपदेसेहिं समग्गो' इत्यादिगाथाष्टकेन सामान्यभेदभावनाधिकारः समाप्तः । अथानन्तरमेकपञ्चाशद्गाथापर्यन्तं विशेषभेदभावनाधिकारः

धारण करता है । इस कारण प्राणोंका अंतरंग कारण जो ममता भाव है, वह सब तरहसे त्यागने योग्य है ॥ ५८ ॥ आगे इन पुद्गलीक प्राणोंकी संतानके नाशका अंतरंग कारण कहते हैं—[**यः**] जो पुरुष [**इन्द्रियादिविजयीभूत्वा**] इंद्रिय कषाय अव्रतादिक विषयोंको जीतनेवाला होकर [**आत्मकं**] अपने [**उपयोगं**] समस्त परभावोंसे भिन्न शुद्ध चैतन्यस्वरूपका [**ध्यायति**] एकाग्र चित्त होकर अनुभव करता है, [**सः**] वह भेदविज्ञानी [**कर्मभिः**] समस्त शुभाशुभकर्मोंसे [**न रज्यते**] रागी नहीं होता, [**तं**] उस महात्माको [**प्राणाः**] संसारसंतानके कारण पुद्गलीक प्राण [**कथं**] किस तरह [**अनुचरन्ति**] संबद्ध कर सकते हैं ? किसी तरहसे भी नहीं । **भावार्थ**—पुद्गल-संतानके अभावका कारण एक वीतरागभाव है । जैसे स्फटिकमणिकी शुद्धताका कारण उसके समीप काली पीली हरी आदि वस्तुका अभाव है, उसी तरह यह आत्मा सकल इंद्रिय विकारोंसे रहित होकर निज स्वरूपमें थिर होनेसे शुद्धस्वरूपको प्राप्त होता है, उसके बाद फिर प्राणधारणरूप दूसरा जन्म नहीं धारण करता । इसलिये इष्ट अनिष्ट पदार्थमें रागभाव त्यागना योग्य है ॥ ५९ ॥ आगे फिर परभावोंसे जुदा आत्माको दिखलानेके लिये व्यवहारजीवके चार गतियोंके पर्यायोंका स्वरूप कहते हैं—[**अस्तित्व-**

अत्थित्तणिच्छिदस्स हि अत्थस्सत्थंतरम्मि संभूदो ।
अत्थो पज्जाओ सो संठाणादिप्पभेदेहिं ॥ ९० ॥
अस्तित्वनिश्चितस्य ह्यर्थस्यार्थान्तरे संभूतः ।
अर्थः पर्यायः स संस्थानादिप्रभेदैः ॥ ९० ॥

स्वलक्षणभूतस्वरूपास्तित्वनिश्चितस्यैकस्यार्थस्य स्वलक्षणभूतस्वरूपास्तित्वनिश्चित एवान्यस्मिन्नर्थे विशिष्टरूपतया संभावितात्मलाभोऽर्थोऽनेकद्रव्यात्मकः पर्यायः । स खलु पुद्गलस्य पुद्गलान्तर इव जीवस्य पुद्गले संस्थानादिविशिष्टतया समुपजायमानः संभाव्यत एव । उपपन्नश्चैवंविधः पर्यायः । अनेकद्रव्यसंयोगात्मत्वेन केवलजीवव्यतिरेकमात्रस्यैकद्रव्यपर्यायस्यास्खलितस्यान्तरवभासनात् ॥ ९० ॥

कथ्यते । तत्र विशेषान्तराधिकारचतुष्टयं भवति । तेषु चतुर्षु मध्ये शुभाद्युपयोगत्रयमुख्यत्वेनैकादशगाथापर्यन्तं प्रथमविशेषान्तराधिकारः प्रारभ्यते । तत्र चत्वारि स्थलानि भवन्ति । तस्मिन्नादौ नरादिपर्यायैः सह शुद्धात्मस्वरूपस्य पृथक्त्वपरिज्ञानार्थं 'अत्थित्तणिच्छदस्स हि' इत्यादि यथाक्रमेण गाथात्रयम् । तदनन्तरं तेषां संयोगकारणं 'अप्पा उवओगप्पा' इत्यादि गाथाद्वयम् । तदनन्तरं शुभाशुभशुद्धोपयोगत्रयसूचनमुख्यत्वेन 'जो जाणादि जिणिंदे' इत्यादि गाथात्रयम् । तदनन्तरं कायवाङ्मनसां शुद्धात्मना सह भेदकथनरूपेण 'णाहं देहो' इत्यादि गाथात्रयम् । एवमेकादशगाथाभिः प्रथमविशेषान्तराधिकारे समुदायपातनिका । तद्यथा---अथ पुनरपि शुद्धात्मनो विशेषभेदभावनार्थं नरनारकादिपर्यायरूपं व्यवहारजीवत्वहेतुं दर्शयति---**अत्थित्तणिच्छिदस्स हि** चिदानन्दैकलक्षणस्वरूपास्तित्वेन निश्चितस्य ज्ञानस्य हि स्फुटम् । कस्य । **अत्थस्स** परमात्मपदार्थस्य **अत्थंतरम्मि** शुद्धात्मार्थादन्यस्मिन् ज्ञानावरणादिकर्मरूपे अर्थान्तरे **संभूदो** संजात उत्पन्नः **अत्थो** यो नरनारकादिरूपोऽर्थः । **पज्जाओ सो** निर्विकारशुद्धात्मानुभूतिलक्षणस्वभावव्यञ्जनपर्यायादन्यादृशः सन् विभावव्यञ्जनपर्यायो भवति । स इत्थंभूतपर्यायो जीवस्य । कैः कृत्वा जातः । **संठाणादिप्पभेदेहिं** संस्थानादिरहितपरमात्मद्रव्यविलक्षणैः संस्थानसंहननशरीरादिप्रभेदैरिति

निश्चितस्य] अपने सहज स्वभावरूप स्वरूपके अस्तित्वकर निश्चल जो [**अर्थस्य**] जीवपदार्थ है, उसके [**हि**] निश्चयसे [**यः**] जो [**अर्थान्तरे संभूतः**] अन्य पदार्थ पुद्गलद्रव्यके संयोगसे उत्पन्न हुआ, [**अर्थः**] जो अनेक द्रव्यस्वरूप पदार्थ है, [**सः**] वह संयोगजनित भाव [**संस्थानादिप्रभेदैः**] संस्थान संहननादिके भेदोंसे [**पर्यायः**] नर नारक आदि विभाव (विकार) पर्याय हैं । **भावार्थ**—जीवके पुद्गलके संयोगसे नर नारकादि विभावपर्याय उत्पन्न होते हैं । वे पर्याय व्यवहार जीवके कारण हैं, सर्वथा विनाशवान् हैं, तथा त्यागने योग्य हैं, और जो जीवके पुद्गल-संयोगसे भिन्न असंख्यातप्रदेशी अंतरंगमें प्रकाशमान नित्य अखंडित ज्ञान दर्शनादिपर्याय हैं, वे उपादेय (ग्रहण करने योग्य)

---

१ पुस्तकान्तरे तदनन्तरं शुभाशुभशुद्धोपयोगत्रयसूचनमुख्यत्वेन 'अप्पा उवओगप्पा' इत्यादिसूत्रद्वयं, तदन्तरं शरीरवाङ्मनसां संबधित्वेन शुद्धात्मनः कर्तृकरणादिनिषेधकथनमुख्यत्वेन 'णाहं देहो' इत्यादि गाथात्रयम्, ततः परं तस्यैवोपयोगत्रयस्य विशेषव्याख्यानार्थं 'जो जाणादि जिणिंदे' इत्यादि गाथात्रयम् ।

अथ पर्यायव्यक्तीर्दर्शयति—

णरणारयतिरियसुरा संठाणादीहिं अण्णहा जादा ।
पज्जाया जीवाणं उदयादिहिं णामकम्मस्स ॥ ६१ ॥

नरनारकतिर्यक्सुराः संस्थानादिभिरन्यथा जाताः ।
पर्याया जीवानामुदयादिभिर्नामकर्मणः ॥ ६१ ॥

नारकस्तिर्यङ्मनुष्यो देव इति किल पर्याया जीवानाम् । ते खलु नामकर्मपुद्गलविपाककारणत्वेनानेकद्रव्यसंयोगात्मकत्वात् कुकूलाङ्गारादिपर्याया जातवेदसः क्षोदखिल्वसंस्थानादिभिरिव संस्थानादिभिरन्यथैव भूता भवन्ति ॥ ६१ ॥

अथात्मनोऽन्यद्रव्यसंकीर्णत्वेऽप्यर्थनिश्चायकमस्तित्वं स्वपरविभागहेतुत्वेनोद्द्योतयति—

तं सब्भावणिबद्धं दव्वसहावं तिहा समक्खादं ।
जाणदि जो सवियप्पं ण मुहदि सो अण्णदवियम्हि ॥ ६२ ॥

तं सद्भावनिबद्धं द्रव्यस्वभावं त्रिधा समाख्यातम् ।
जानाति यः सविकल्पं न मुह्यति सोऽन्यद्रव्ये ॥ ६२ ॥

॥ ६० ॥ अथ तानेव पर्यायभेदान् व्यक्तीकरोति—**णरणारयतिरियसुरा** नरनारकतिर्यग्देवरूपा अवस्थाविशेषाः । **संठाणादीहिं अण्णहा जादा** संस्थानादिभिरन्यथा जाताः, मनुष्यभवे यत्समचतुरस्रादिसंस्थानमौदारिकशरीरादिकं च तदपेक्षया भवान्तरेऽन्यद्विसदृशं संस्थानादिकं भवति । तेन कारणेन ते नरनारकादिपर्याया अन्यथा जाता भिन्ना भण्यन्ते । न च शुद्धबुद्धैकस्वभावपरमात्मद्रव्यत्वेन । कस्मात् । तृणकाष्ठपत्राकारादिभेदभिन्नस्याग्नेरिव स्वरूपं तदेव । **पज्जाया जीवाणं** ते च नरनारकादयो जीवानां विभावव्यञ्जनपर्याया भण्यन्ते । कैः कृत्वा । **उदयादिहिं णामकम्मस्स** उदयादिभिर्नामकर्मणो निर्दोषपरमात्मशब्दवाच्यान्निर्णामनिर्गोत्रादिलक्षणाच्छुद्धात्मद्रव्यादन्यादृशैर्नामकर्मजनितैर्बन्धोदयोदीरणादिभिरिति । यत एव ते कर्मोदयजनितास्ततो ज्ञायन्ते शुद्धात्मस्वरूपं न संभवन्तीति ॥६१॥ अथ स्वरूपास्तित्वलक्षणं परमात्मद्रव्यं योऽसौ जानाति स परद्रव्ये मोहं न करोतीति प्रकाशयति—**जाणदि** जानाति **जो** यः कर्ता ।

हैं ॥ ६० ॥ आगे द्रव्यपर्यायके भेद दिखलाते हैं—[**हि**] निश्चयसे [**जीवानां**] संसारी जीवोंके [**नरनारकतिर्यक्सुराः पर्यायाः**] मनुष्य, नारकी, तिर्यँच और देवपर्याय हैं, वे [**नामकर्मणः उदयात्**] पुद्गलविपाकी नामकर्मके उदयसे [**संस्थानादिभिः**] संस्थान, संहनन, स्पर्श, रसादिके भेदोंसे [**अन्यथा जाताः**] स्वभावपर्यायसे भिन्न विभावस्वरूप उत्पन्न होते हैं । **भावार्थ**–जैसे अग्नि, गोबरके छानेसे तथा लकड़ी, तृण इत्यादि अनेक प्रकारके ईंधनके संयोगसे उत्पन्न अनेक तरहके आकारोंसे विभाव (विकार) रूप पर्याय सहित होती है, उसी तरह इस जीवके पुद्गलके संयोगसे देवादिक नाना विकार उत्पन्न होते है ॥ ६१ ॥ आगे यद्यपि परद्रव्योंसे आत्मा मिला हुआ है, तो भी स्वपरभेदके निमित्त स्वरूपास्तित्वको दिखलाते हैं—[**यः**] जो पुरुष [**तं**] उस पूर्वकथित [**सद्भावनिबद्धं**]

यत्खलु स्वलक्षणभूतं स्वरूपास्तित्वमर्थनिश्चायकमाख्यातं स खलु द्रव्यस्य स्वभाव एव, सद्भावनिबद्धत्वाद्द्रव्यस्वभावस्य। यथासौ द्रव्यस्वभावो द्रव्यगुणपर्यायत्वेन स्थित्युत्पादव्ययत्वेन च त्रितयीं विकल्पभूमिकामधिरूढः परिज्ञायमानः परद्रव्ये मोहमपोह्य स्वपरविभागहेतुर्भवति ततः स्वरूपास्तित्वमेव स्वपरविभागसिद्धये प्रतिपदमवधार्यम्। तथा हि–यश्चेतनत्वान्वयलक्षणं द्रव्यं यश्चेतनाविशेषत्वलक्षणो गुणो यश्चेतनत्वव्यतिरेकलक्षणः पर्यायस्तत्त्रयात्मकं, या पूर्वोत्तरव्यतिरेकस्पर्शिना चेतनत्वेन स्थितिर्यावुत्तरपूर्वव्यतिरेकत्वेन चेतनस्योत्पादव्ययौ तत्त्रयात्मकं च स्वरूपास्तित्वं यस्य तु स्वभावोऽहं स खल्वयमन्यः। यच्चाचेतनत्वान्वयलक्षणं द्रव्यं योऽचेतनाविशेषत्वलक्षणो गुणो योऽचेतनत्वव्यतिरेकलक्षणः पर्यायस्तत्त्रयात्मकं, या पूर्वोत्तरव्यतिरेकस्पर्शिनाचेतनत्वेन स्थितिर्यावुत्तरपूर्वव्यतिरेकत्वेनाचेतनस्योत्पादव्ययौ तत्त्रयात्मकं च स्वरूपास्तित्वम्। यस्य तु स्वभावः पुद्गलस्य स खल्वयमन्यः नास्ति। मे मोहोऽस्ति स्वपरविभागः॥ ६२॥

कम्। तं पूर्वोक्तं **दव्वसहावं** परमात्मद्रव्यस्वभावम्। किंविशिष्टम्। **सब्भावणिबद्धं** स्वभावः स्वरूपसत्ता तत्र निबद्धमाधीनं तन्मयं सद्भावनिबद्धम्। पुनरपि किंविशिष्टम्। **तिहा समक्खादं** त्रिधा समाख्यातं कथितम्। केवलज्ञानादयो गुणाः सिद्धत्वादिविशुद्धपर्यायास्तदुभयाधारभूतं परमात्मद्रव्यं द्रव्यत्वमित्युक्तलक्षणत्रयात्मकं तथैव शुद्धोत्पादव्ययध्रौव्यत्रयात्मकं च यत्पूर्वोक्तं स्वरूपास्तित्वं तेन कृत्वा त्रिधा सम्यगाख्यातं कथितं प्रतिपादितम्। पुनरपि कथंभूतं आत्मस्वभावम्। **सवियप्पं** सविकल्पं ज्ञानं निर्विकल्पं दर्शनं पूर्वोक्तद्रव्यगुणपर्यायरूपेण सभेदम्। इत्थंभूतमात्मस्वभावं जानाति, **ण मुहदि सो अण्णदवियम्हि** न मुह्यति सोऽन्यद्रव्ये स तु भेदज्ञानी विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावमात्मतत्त्वं देहरागादिपरद्रव्ये मोहं न गच्छतीत्यर्थः

द्रव्यके स्वरूपास्तित्वकर संयुक्त और [**त्रिधा समाख्यातं**] द्रव्य, गुण, पर्याय अथवा उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य ऐसे तीन प्रकार कहे हुए [**द्रव्यस्वभावं**] द्रव्यके निज लक्षणको [**सविकल्पं**] भेद सहित [**जानाति**] जानता है, [**सः**] वह भेदविज्ञानी [**अन्यद्रव्ये**] अपनेसे भिन्न अचेतनद्रव्योंमें [**न मुह्यति**] मोहको नहीं प्राप्त होता। **भावार्थ**–जो पुरुष द्रव्य, गुण, पर्याय, भेदोंसे तथा उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, इन तीन भेदोंसे स्वरूप और पररूपको अच्छी तरह जानता है, वह स्वरूपास्तित्वका जाननेवाला स्वपरका ज्ञायक ही होता है। परपदार्थमें रागी, द्वेषी, तथा मोही नहीं होता। इसी स्वपर भेदको विशेषतासे दिखाते हैं–जो जीव काललब्धि (अच्छी होनहार) पाकर दर्शनमोहका उपशम अथवा क्षय करता है, उसी जीवको ऐसा भेद-विज्ञान होता है, कि जो चैतन्यवस्तुरूप द्रव्य है, चैतन्य परिणतिरूप पर्याय है, और जो चैतन्यरूप गुण है, वह मेरा स्वरूप है। यही मेरा स्वरूप अपने चैतन्यपरिणामसे उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यता लिये हुए अपने स्वरूपास्तित्वसे संयुक्त है। तथा जो यह मुझसे पर है, वह अचेतनद्रव्य है। वह अचेतनद्रव्य अपने अचेतनत्व गुण सहित है, अपने अचेतनपर्यायस्वरूप परिणमता है, और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यको लिये हुए अपने स्वरूपास्तित्व संयुक्त है, इस कारण मेरे स्वरूपसे भिन्न पुद्गलका विकार जो यह मोह है, वह मेरा स्वरूप नहीं है, यह मुझे विश्वास है। इस प्रकार ज्ञानीके स्व

अथात्मनोऽत्यन्तविभक्तत्वाय परद्रव्यसंयोगकारणस्वरूपमालोचयति—

अप्पा उवओगप्पा उवओगो णाणदंसणं भणिदो।
सो वि सुहो असुहो वा उवओगो अप्पणो हवदि ॥ ६३ ॥

आत्मा उपयोगात्मा उपयोगो ज्ञानदर्शनं भणितः।
सोऽपि शुभोऽशुभो वा उपयोग आत्मनो भवति ॥ ६३ ॥

आत्मनो हि परद्रव्यसंयोगकारणमुपयोगविशेषः, उपयोगो हि तावदात्मनः स्वभावश्चैतन्यानुविधायिपरिणामत्वात्। स तु ज्ञानं दर्शनं च साकारनिराकारत्वेनोभयरूपत्वाच्चैतन्यस्य। अथायमुपयोगो द्वेधा विशिष्यते शुद्धाशुद्धत्वेन। तत्र शुद्धो निरुपरागः, अशुद्धः सोपरागः। स तु विशुद्धिसंक्लेशरूपत्वेन द्वैविध्यादुपरागस्य द्विविधः शुभोऽशुभश्च ॥ ६३ ॥

अथात्र क उपयोगः परद्रव्यसंयोगकारणमित्यावेदयति—

उवओगो जदि हि सुहो पुण्णं जीवस्स संचयं जादि।
असुहो वा तध पावं तेसिमभावे ण चयमत्थि ॥ ६४ ॥

॥ ६२ ॥ एवं नरनारकादिपर्यायैः सह परमात्मनो विशेषभेदकथनरूपेण प्रथमस्थले गाथात्रयं गतम्। अथात्मनः पूर्वोक्तप्रकारेण नरनारकादिपर्यायैः सह भिन्नत्वपरिज्ञानं जातं, तावदिदानीं तेषां संयोगकारणं कथ्यते—**अप्पा** आत्मा भवति। कथंभूतः। **उवओगप्पा** चैतन्यानुविधायी योऽसावुपयोगस्तेन निर्वृत्तत्वादुपयोगात्मा। **उवओगो णाणदंसणं भणिदो** स चोपयोगः सविकल्पं ज्ञानं निर्विकल्पं दर्शनमिति भणितः **सो वि सुहो** सोऽपि ज्ञानदर्शनोपयोगधर्मानुरागरूपः शुभः **असुहो** विषयानुरागरूपो द्वेषमोहरूपश्चाशुभः। वाशब्देन शुभाशुभानुरागरहितत्वेन शुद्धः। **उवओगो अप्पणो हवदि** इत्थंभूतस्त्रिलक्षण उपयोग आत्मनः संबन्धीभवतीत्यर्थः ॥ ६३ ॥ अथोपयोगस्तावन्नरकादिपर्यायकारणभूतस्य कर्मरूपस्य परद्रव्यस्य सयोग-

---

और परका भेद होता है ॥ ६२ ॥ आगे सब प्रकारसे आत्माको भिन्न करनेके लिये परद्रव्यके संयोगका कारण दिखलाते हैं—[**आत्मा**] जीवद्रव्य [**उपयोगात्मा**] चेतना स्वरूप हैं, [**उपयोगः**] वह चेतना परिणाम [**ज्ञानदर्शनं**] जानना देखनास्वरूप दो भेद [**भणितः**] कहा गया है, [**सः**] वह ज्ञान दर्शनरूप दो प्रकार [**आत्मनः**] आत्माका [**उपयोगः**] चैतन्य परिणाम [**हि**] निश्चयसे [**शुभः**] शुभरूप [**वा**] अथवा [**अशुभः**] अशुभरूप [**भवति**] होता है। **भावार्थ**—जीवके साथ पौद्गलीक वर्गणाओंके बंधका कारण अशुद्ध चेतनास्वरूप उपयोग है, वह उपयोग आत्माका ज्ञान दर्शनरूप चैतन्यपरिणाम है। उनमें सामान्यचेतना 'दर्शन' है, और 'ज्ञान' विशेषचेतना है। यह ज्ञान, दर्शनरूप उपयोग शुद्ध अशुद्ध ऐसे दो प्रकारका है। जो वीतरागउपयोग है, वह तो 'शुद्धोपयोग' है, और जो सरागउपयोग है, वह 'अशुद्धोपयोग' है। यह अशुद्धोपयोग भी विशुद्ध (मंद कषाय) और संक्लेश (तीव्र कषाय) के भेदसे दो प्रकारका है। विशुद्धरूप 'शुभोपयोग' है, और सक्लेशरूप 'अशुभोपयोग' है, ॥ ६३ ॥ आगे शुभोपयोग अशुभोपयोग इन दोनोंमें परद्रव्यके संबंधका कारण बतलाते हैं। [**जीवस्य**] आत्माके

उपयोगो यदि हि शुभः पुण्यं जीवस्य संचयं याति।
अशुभो वा तथा पापं तयोरभावे न चयोऽस्ति ॥ ६४ ॥

उपयोगो हि जीवस्य परद्रव्यसंयोगकारणमशुद्धः। स तु विशुद्धिसंक्लेशरूपोपरागवशात् शुभाशुभत्वेनोपात्तद्वैविध्यः। पुण्यपापत्वेनोपात्तद्वैविध्यस्य परद्रव्यस्य संयोगकारणत्वेन निर्वर्तयति। यदा तु द्विविधस्याप्यस्याशुद्धस्याभावः क्रियते तदा खलूपयोगः शुद्ध एवावतिष्ठते। स पुनरकारणमेव परद्रव्यसंयोगस्य ॥ ६४ ॥

अथ शुभोपयोगस्वरूपं प्ररूपयति—

जो जाणादि जिणिंदे पेच्छदि सिद्धे तहेव अणगारे।
जीवेसु साणुकंपो उवओगो सो सुहो तस्स ॥ ६५ ॥

कारणं भवति। तावदिदानीं कस्य कर्मणः क उपयोगः कारणं भवतीति विचारयति—**उवओगो जदि हि सुहो** उपयोगो यदि चेत् हि स्फुटं शुभो भवति। **पुण्णं जीवस्स संचयं जादि** तदाकाले द्रव्यपुण्यं कर्तृ जीवस्य संचयमुपचयं वृद्धिं याति बध्यत इत्यर्थः। **असुहो वा तह पावं** अशुभोपयोगो वा तथा तेनैव प्रकारेण पुण्यवद् द्रव्यपापं संचयं याति। **तेसिमभावे ण चयमत्थि** तयोरभावे न चयोऽस्ति। निर्दोषिनिजपरमात्मभावनारूपेण शुद्धोपयोगबलेन यदा तयोर्द्वयोः शुभाशुभोपयोगयोरभावः क्रियते तदोभयः संचयः कर्मबन्धो नास्तीत्यर्थः ॥ ६४ ॥ एवं शुभाशुभशुद्धोपयोगत्रयस्य सामान्यकथनरूपेण द्वितीयस्थले गाथाद्वयं गतम्। अथ विशेषेण शुभोपयोगस्वरूपं व्याख्याति—**जो जाणादि जिणिंदे** यः कर्ता जानाति। कान्। अनन्तज्ञानादिचतुष्टयसहितान् क्षुधाद्यष्टादशदोषरहितांश्च जिनेन्द्रान्।

[**यदि**] जो [**हि**] निश्चयकर [**शुभः**] दान पूजा आदि क्रिया शुभरूप [**उपयोगः**] चैतन्यविकारमय अशुद्ध परिणाम होता है, [**तदा**] उस समय [**पुण्यं**] साताको उत्पन्न करनेवाला पुण्यरूप पुद्गलपिंड [**संचयं**] इकट्ठा होकर आत्माके प्रदेशोंमें बंधपनेको [**याति**] प्राप्त होता है, [**वा**] अथवा [**अशुभः**] जिस समय आत्माके मिथ्यात्व विषय कषायादिरूप अशुभोपयोग होता है, तो [**तथा**] उसी प्रकार इकट्ठा होकर [**पापं**] असाताको करनेवाला पापरूप पुद्गलवर्गणाका पिंड आकर बँधता है। [**तयोः**] उन शुभोपयोग अशुभोपयोग परिणामोंके [**अभावे**] नाश होनेपर [**चयः**] परद्रव्यका संचयरूप बंध [**न अस्ति**] नहीं होता है। **भावार्थ**—इस आत्माके शुभ अशुभरूप दोनों प्रकारका जो अशुद्धोपयोग है, वह बंधका ही कारण है, उस अशुद्धोपयोगका अभाव होनेसे, तथा निर्मल शुद्धोपयोगभावरूप परिणमन करनेसे ही इसके परद्रव्यका संयोग नहीं होता। इससे यह बात सिद्ध हुई, कि शुभ अशुभरूप अशुद्धोपयोग परद्रव्यके संयोगका कारण है, और शुद्धोपयोग मोक्षका कारण है ॥ ६४ ॥ आगे शुभोपयोगका स्वरूप कहते हैं—[**यः**] जो जीव [**जिनेन्द्रान्**] परमपूज्य देवाधिदेव परमेश्वर वीतराग जो अरहंतदेव हैं, उनके स्वरूपको [**जानाति**] जानता है, [**सिद्धान्**] अष्टकर्मोपाधि रहित सिद्ध परमेष्ठियोंको [**पश्यति**] ज्ञानदृष्टिसे देखता है, [**तथैव**] उसी प्रकार [**अनगारान्**] आचार्य

यो जानाति जिनेन्द्रान् पश्यति सिद्धांस्तथैवानगारान् ।
जीवेषु सानुकम्प उपयोगः स शुभस्तस्य ॥ ६५ ॥

विशिष्टक्षयोपशमदशाविश्रान्तदर्शनचारित्रमोहनीयपुद्गलानुवृत्तिपरत्वेन परिगृहीतशोभनोपरागत्वात् परमभट्टारकमहादेवाधिदेवपरमेश्वरार्हत्सिद्धसाधुश्रद्धाने समस्तभूतग्रामानुकम्पाचरणे च प्रवृत्तः शुभ उपयोगः ॥ ६५ ॥

अथाशुभोपयोगस्वरूपं प्ररूपयति—

विसयकसाओगाढो दुस्सुदिदुच्चित्तदुट्ठगोट्ठिजुदो ।
उग्गो उम्मग्गपरो उवओगो जस्स सो असुहो ॥ ६६ ॥
विषयकषायावगाढो दुःश्रुतिदुश्चित्तदुष्टगोष्टियुतः ।
उग्र उन्मार्गपर उपयोगो यस्य सोऽशुभः ॥ ६६ ॥

पेच्छदि सिद्धे पश्यति । कान् । ज्ञानावरणाद्यष्टकर्मरहितान्सम्यक्त्वाद्यष्टगुणान्तर्भूतानन्तगुणसहितांश्च सिद्धान् **तहेव अणगारे** तथैवानगारान् । अनगारशब्दवाच्यान्निश्चयव्यवहारपञ्चाचारादियथोक्तलक्षणानाचार्योपाध्यायसाधून् । **जीवेसु साणुकंपो** त्रसस्थावरजीवेषु सानुकम्पः सदयः **उवओगो सो सुहो** स इत्थंभूत उपयोगः शुभो भण्यते । स च कस्य भवति । **तस्स** तस्य पूर्वोक्तलक्षणजीवस्येत्यभिप्रायः ॥६५॥ अथाशुभोपयोगस्वरूपं निरूपयति **विसयकसाओगाढो** विषयकषायावगाढः **दुस्सुदिदुच्चित्तदुट्ठगोट्ठिजुदो** दुःश्रुतिदुश्चित्तदुष्टगोष्ठीयुतः **उग्गो** उग्रः **उम्मग्गपरो** उन्मार्गपरः **उवओगो** एवं विशेषणचतुष्टययुक्त उपयोगः परिणामः **जस्स** यस्य जीवस्य भवति **सो असुहो** स उपयोगस्त्वशुभोपयोगो भण्यते, अभेदेन पुरुषो वा । तथा हि —विषयकषायरहितशुद्धचैतन्यपरिणतेः प्रतिपक्षभूतो विषयकषायावगाढो विषयकषायपरिणतः । शुद्धात्मतत्त्वप्रतिपादिका श्रुतिः सुश्रुतिस्तद्विलक्षणा दुःश्रुतिः मिथ्याशास्त्रश्रुतिर्वा । निश्चिन्तात्मध्यानपरिणतं सुचित्तं, तद्विनाशकं दुश्चित्तं, स्वपरनिमित्तेष्टकामभोगचिन्तापरिणतं रागाद्यपध्यानं वा । परम-

---

उपाध्याय साधुओंको भी जानता है, देखता है, [**च**] और [**जीवे**] समस्त प्राणियोंपर [**सानुकम्पः**] दयाभावयुक्त है, [**तस्य**] उस जीवके [**सः**] वह [**शुभः**] शुभरूप [**उपयोगः**] चैतन्यविकाररूप परिणाम जानना चाहिये । **भावार्थ**–जिस जीवके दर्शनमोहनीय अथवा चारित्रमोहनीयकर्मकी विशेषतारूप क्षयोपशम अवस्था तो न हुई हो, और शुभरागका उदय हो, उस जीवके भक्तिपूर्वक पंचपरमेष्ठीके देखने, जानने, श्रद्धाकरनेरूप परिणाम होवें, तथा सब जीवोंमें दयाभाव हो, यही शुभोपयोगका लक्षण जानना चाहिये ॥ ६५ ॥ आगे अशुभोपयोगका स्वरूप कहते हैं—[**यस्य**] जिस जीवका [**उपयोगः**] अशुद्ध चैतन्य विकार परिणाम [**विषयकषायावगाढः**] इन्द्रिय विषय तथा क्रोधादि कषाय इनसे अत्यंत गाढ हो, [**दुःश्रुतिदुश्चित्तदुष्टगोष्ठीयुतः**] मिथ्या शास्त्रोंका सुनना, आर्त रौद्र अशुभ ध्यानरूप मन, पराई निंदा आदि चर्चा, इनमें उपयोग सहित हो, [**उग्रः**] हिंसादि आचरणके करनेमें महा उद्यमी हो, और [**उन्मार्गपरः**] वीतराग सर्वज्ञकथित मार्गसे उलटा

विशिष्टोदयदशाविश्रान्तदर्शनज्ञानचारित्रमोहनीयपुद्गलानुवृत्तिपरत्वेन परिगृहीताशोभनोपरागत्वात्परमभट्टारकमहादेवाधिदेवपरमेश्वरार्हत्सिद्धसाधुभ्योऽन्यत्रोन्मार्गश्रद्धाने विषयकषायदुःश्रवणदुराशयदुष्टसेवनोग्रताचरणे च प्रवृत्तोऽशुभोपयोगः ॥ ६६ ॥

अथ परद्रव्यसंयोगकारणविनाशमभ्यस्यति—

असुहोवओगरहिदो सुहोवजुत्तो ण अण्णदवियम्हि ।
होज्जं मज्झत्थोऽहं णाणप्पगमप्पगं झाए ॥ ६७ ॥

अशुभोपयोगरहितः शुभोपयुक्तो न अन्यद्रव्ये ।
भवन्मध्यस्थोऽहं ज्ञानात्मकमात्मकं ध्यायामि ॥ ६७ ॥

यो हि नामायं परद्रव्यसंयोगकारणत्वेनोपन्यस्तोऽशुद्ध उपयोगः स खलु मन्दतीव्रोदयदशाविश्रान्तपरद्रव्यानुवृत्तितन्त्रत्वादेव प्रवर्तते न पुनरन्यस्मात् । ततोऽहमेष सर्वस्मिन्नेव पर-

चैतन्यपरिणतेर्विनाशिका दुष्टगोष्ठी तत्प्रतिपक्षभूतकुशीलपुरुषगोष्ठी वा । इत्थंभूतं दुःश्रुतिदुश्चित्तदुष्टगोष्ठीभिर्युतो दुःश्रुतिदुश्चित्तदुष्टगोष्ठीयुक्तः परमोपशमभावपरिणतपरमचैतन्यस्वभावात्प्रतिकूलः उग्रः वीतरागसर्वज्ञप्रणीतनिश्चयव्यवहारमोक्षमार्गाद्विलक्षण उन्मार्गपरः । इत्थंभूतविशेषणचतुष्टयसहित उपयोगः परिणामः तत्परिणतपुरुषो वेत्यशुभोपयोगो भण्यत इत्यर्थः ॥ ६६ ॥ अथ शुभाशुभरहितशुद्धोपयोगं प्ररूपयति—**असुहोवओगरहिदो** अशुभोपयोगरहितो भवामि । स कः **अहं** अहं कर्ता । पुनरपि कथंभूतः । **सुहोवजुत्तो ण** शुभोपयोगयुक्तः परिणतो न भवामि । क विषयेऽसौ शुभोपयोगः **अण्णदवियम्हि** निजपरमात्मद्रव्यादन्यद्रव्ये । तर्हि कथंभूतो भवामि । **होज्जं मज्झत्थो** जीवितमरणलाभालाभसुखदुःखशत्रुमित्रनिन्दाप्रशंसादि-

जो मिथ्यामार्ग उसमें सावधान हो, [**सः**] वह परिणाम [**अशुभः**] अशुभोपयोग कहा है। **भावार्थ–**जब इस जीवके दर्शनमोह तथा चारित्रमोहका तीव्र उदय होता है, तब वह अशुभरागके ग्रहण करनेसे पंचपरमेष्ठीमें रुचि नहीं करता, मिथ्यामार्गका श्रद्धानी होकर विषयकषायोंमें प्रवर्तता है, मिथ्या सिद्धांतशास्त्रोंको सुनता है, खोटे आचरण करता है, इत्यादि पापक्रियाओंमें लीन होता है, इसीसे वह जीव अशुभोपयोगी कहा जाता है ॥ ६६ ॥ आगे परद्रव्य संयोगके कारण जो शुभ अशुभभाव हैं, उनके नाश होनेका कारण दिखलाते हैं—[**अशुभोपयोगरहितः**] मिथ्यात्व, विषय, कषायादि रहित हुआ [**शुभोपयुक्तः न**] शुभोपयोगरूप भावोंमें भी उपयोग नहीं करनेवाला [**अन्यद्रव्ये मध्यस्थो भवन्**] और शुभ अशुभ द्रव्य भावरूप पर भावोंमें मध्यवर्ती हुआ अर्थात् दोनोंको समान माननेवाला ऐसा जो [**अहं**] स्वपरविवेकी मैं हूँ, सो [**ज्ञानात्मकं**] ज्ञानस्वरूप [**आत्मानं**] शुद्ध जीवद्रव्यका [**ध्यायामि**] परमसमरसीभावमें मग्न हुआ अनुभव करता हूँ। **भावार्थ–**यह जो परसंयोगका कारण शुभ अशुभरूप अशुद्ध उपयोग होता है, वह मोहनीयकर्मकी मंद तीव्र दशाके आधीन होकर प्रवर्तता है, शुद्ध आत्मीक भावसे विपरीत (उलटा) है, परद्रव्यरूप है, इस कारण इन दोनों शुभ अशुभ भावोंमें मेरी समान बुद्धि है, इसी लिये मैं मध्यस्थ हूँ, परद्रव्यको अंगीकार नहीं करता हूँ, इस

द्रव्ये मध्यस्थो भवामि । एवं भवंश्चाहं परद्रव्यानुवृत्तितन्त्रत्वाभावात् शुभेनाशुभेन वा शुद्धोपयोगेन निर्मुक्तो भूत्वा केवलस्वद्रव्यानुवृत्तिपरिग्रहात् प्रसिद्धशुद्धोपयोग उपयोगात्मनात्मन्येव नित्यं निश्चलमुपयुक्तस्तिष्ठामि । एष मे परद्रव्यसंयोगकारणविनाशाभ्यासः ॥ ६७ ॥

अथ शरीरादावपि परद्रव्ये माध्यस्थं प्रकटयति—

णाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं ।
कत्ता ण ण कारयिदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥ ६८ ॥
नाहं देहो न मनो न चैव वाणी न कारणं तेषाम् ।
कर्ता न न कारयिता अनुमन्ता नैव कर्तॄणाम् ॥ ६८ ॥

शरीरं च वाचं च मनश्च परद्रव्यत्वेनाहं प्रपद्ये, ततो न तेषु कश्चिदपि मम पक्षपातोऽस्ति । सर्वत्राप्यहमत्यन्तं मध्यस्थोऽस्मि । तथा हि—न खल्वहं शरीरवाङ्मनसां स्वरूपाधारभूतमचेतनद्रव्यमस्मि, तानि खलु मां स्वरूपाधारमन्तरेणाप्यात्मनः स्वरूपं धारयन्ति । ततोऽहं शरीरवाङ्मनःपक्षपातमपास्यात्यन्तमध्यस्थोऽस्मि । न च मे शरीरवाङ्मनःकारणाचेतनद्रव्यत्वमस्ति, तानि खलु मां कारणमन्तरेणापि कारणवन्ति भवन्ति । ततोऽहं तत्कारणत्वपक्षपातमपास्यास्म्ययमत्यन्तमध्यस्थः । न च मे स्वतन्त्रशरीरवाङ्मनःकारणाचेतनद्रव्यत्वमस्ति, तानि खलु मां

विषये मध्यस्थो भवामि। इत्थंभूतः सन् किं करोमि। **णाणप्पगमप्पगं झाए** ज्ञानात्मकमात्मानं ध्यायामि। ज्ञानेन निर्वृत्तज्ञानात्मकं केवलज्ञानान्तर्भूतानन्तगुणात्मकं निजात्मानं शुद्धध्यानप्रतिपक्षभूतसमस्तमनोरथरूपचिन्ताजालत्यागेन ध्यायामीति शुद्धोपयोगलक्षणं ज्ञातव्यम् ॥ ६७ ॥ एवं शुभाशुभशुद्धोपयोगविवरणरूपेण तृतीयस्थले गाथात्रयं गतम् । अथ देहमनोवचनविषयेऽत्यन्तमाध्यस्थ्यमुद्द्योतयति—**णाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी** नाहं देहो न मनो न चैव वाणी। मनोवचनकायव्यापाररहितात्परमात्मद्रव्याद्भिन्नं यन्मनोवचनकायत्रयं निश्चयनयेन तन्नाहं भवामि । ततः कारणात्तत्पक्षपातं मुक्त्वात्यन्तमध्यस्थोऽस्मि । **ण कारणं तेसिं** न कारणं तेषाम् । निर्विकारपरमाह्लादैकलक्षणसुखामृतपरिणतेर्यदुपादानकारणभूतमात्मद्रव्यं तद्विलक्षणो

कारण मैं अशुद्धोपयोगसे रहित हुआ केवल स्वरूपकी प्रवृत्तिसे शुद्धोपयोगी होकर आत्मामें सदा काल निश्चल होकर तिष्ठता हूँ । यह जो मेरे आत्मलीन शुद्धोपयोग वृत्ति है, वही परद्रव्यसंयोग कारणके विनाशका अभ्यास है, यही मोक्षमार्ग है, यही साक्षात् जीवन्मोक्ष है, और यही कर्तृत्व, भोक्तृत्व, आस्रव, बंधभाव, दशासे रहित सिद्धस्वरूप शुद्धभाव है ॥ ६७ ॥ आगे शरीरादि परद्रव्यमें भी मध्यस्थ भाव दिखलाते हैं—[**अहं**] मैं जो शुद्धचिन्मात्र स्वपरविवेकी हूँ, सो [**देहः न**] शरीररूप नहीं हूँ, [**मनो न**] मनयोगरूप भी नहीं हूँ, [**च**] और [**एव**] निश्चयसे [**वाणी न**] वचनयोगरूप भी नहीं हूँ, [**तेषां कारणं न**] उन काय वचन मनका उपादान कारणरूप पुद्गलपिंड भी नहीं हूँ, [**कर्ता न**] उन तीन योगोंका कर्ता नहीं हूँ, अर्थात् मुझ कर्ताके बिना ही वे योग्य पुद्गलपिंडकर किये जाते हैं, [**कारयिता न**] उन तीन योगोंका प्रेरक होकर करानेवाला नहीं हूँ, पुद्गलद्रव्य ही उनका

कर्तारमन्तरेणापि क्रियमाणानि । ततोऽहं तत्कर्तृत्वपक्षपातमपास्यास्म्ययमत्यन्तमध्यस्थः । न च मे स्वतन्त्रशरीरवाङ्मनःकारकाचेतनद्रव्यप्रयोजकत्वमस्ति, तानि खलु मां कारकप्रयोजकम[र्थम]न्तरेणापि क्रियमाणानि । ततोऽहं तत्कारकप्रयोजकपक्षपातमपास्यास्म्ययमत्यन्तमध्यस्थः । न च मे स्वतन्त्रशरीरावाङ्मनःकारकाचेतनद्रव्यानुज्ञातृत्वमस्ति, तानि खलु मां कारकानुज्ञातारमन्तरेणापि क्रियमाणानि ततोऽहं तत्कारकानुज्ञातृत्वपक्षपातमपास्यास्म्ययमत्यन्तं मध्यस्थः ॥६८॥

अथ शरीरवाङ्मनसां परद्रव्यत्वं निश्चिनोति—

देहो य मणो वाणी पोग्गलदव्वप्पग त्ति णिद्दिट्ठा ।
पोग्गलदव्वं हि पुणो पिंडो परमाणुदव्वाणं ॥ ६९ ॥

देहश्च मनो वाणी पुद्गलद्रव्यात्मका इति निर्दिष्टाः ।
पुद्गलद्रव्यमपि पुनः पिण्डः परमाणुद्रव्याणाम् ॥ ६९ ॥

शरीरं च वाक् च मनश्च त्रीण्यपि परद्रव्यं पुद्गलद्रव्यात्मकत्वात् । पुद्गलद्रव्यत्वं तु तेषां पुद्गलद्रव्यस्वलक्षणभूतस्वरूपास्तित्वनिश्चितत्वात् । तथाविधपुद्गलद्रव्यं त्वनेकपरमाणुद्रव्याणामेक-

---

मनोवचनकायानामुपादानकारणभूतः पुद्गलपिण्डो न भवामि । ततः कारणात्पक्षपातं मुक्त्वात्यन्तमध्यस्थोऽस्मि । **कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं** कर्ता न हि कारयिता अनुमन्ता नैव कर्तॄणाम् । स्वशुद्धात्मभावनाविषये यत्कृतकारितानुमतस्वरूपं तद्विलक्षणं यन्मनोवचनकायविषये कृतकारितानुमतस्वरूपं तन्नाहं भवामि । ततः कारणात्पक्षपातं मुक्त्वात्यन्तमध्यस्थोऽस्मीति तात्पर्यम् ॥६८॥ अथ कायवाङ्मनसां शुद्धात्मस्वरूपात्परद्रव्यत्वं व्यवस्थापयति -**देहो य मणो वाणी पुग्गलदव्वप्पग त्ति णिद्दिट्ठा** देहश्च मनो वाणी तिस्रोऽपि पुद्गलद्रव्यात्मका इति निर्दिष्टाः । कस्मात् । व्यवहारेण जीवेन सहैकत्वेऽपि निश्चयेन परमचैतन्यप्रकाशपरिणतेर्भिन्नत्वात् । पुद्गलद्रव्यं किं भण्यते । **पुग्गलदव्वं हि पुणो पिंडो परमाणुदव्वाणं**

कर्ता है, [**कर्तॄणां**] और उन योगोंके करनेवाले पुद्गलपिंडोका [**अनुमन्ता**] अनुमोदनेवाला भी नहीं हूँ । मेरी अनुमोदनाके विना ही पुद्गलपिंड उन योगोंका कर्ता है । इस कारण मैं परद्रव्यमें अत्यंत मध्यस्थ हूँ । **भावार्थ**–स्वपर विवेकी जीव सब द्रव्योंके स्वरूपका जाननेवाला है, इस कारण इन तीन योगोंको पुद्गलीक जानता है । इनमें कृत, कारित, अनुमोदना, भाव नहीं करता, परद्रव्यके भाव जानकर त्यागी होता है, स्वरूपमें निश्चल हुआ तिष्ठता है, और शुभ अशुभरूप अशुद्धोपयोगको विनाश करके निरास्रव हुआ शुद्धोपयोगी होता है ॥ ६८ ॥ आगे इन शरीर वचन मन तीनोंको निश्चयकर परद्रव्य दिखलाते हैं—[**देहः**] शरीर [**मनः**] चित्त [**च**] और [**वाणी**] वचन ये तीनों योग [**पुद्गलद्रव्यात्मकाः**] पुद्गलद्रव्यरूप हैं, [**इति**] ऐसे [**निर्दिष्टाः**] वीतरागदेवने कहे हैं, [**पुनः**] और [**पुद्गलद्रव्यं**] तीन योगरूप पुद्गलद्रव्य [**अपि**] निश्चयसे [**परमाणुद्रव्याणां**] सूक्ष्म अविभागी पुद्गलपरमाणुओंका [**पिण्डं**] स्कंधरूप (समूहरूप) पिंड है । **भावार्थ**–ये तीन योग निश्चयसे पुद्गलद्रव्यस्वरूप हैं । अनंत परमाणु मिलकर एकरूप हुए विभावपर्याय ही हैं, इस कारण ये योग पुद्गलपर्याय

पिण्डपर्यायेण परिणामः। अनेकपरमाणुद्रव्यस्वलक्षणभूतस्वरूपास्तित्वानामनेकत्वेऽपि कथंचिदेकत्वेनावभासनात् ॥ ६९ ॥

अथात्मनः परद्रव्यत्वाभावं परद्रव्यकर्तृत्वाभावं च साधयति—

णाहं पोग्गलमइओ ण ते मया पोग्गला कया पिंडं।
तम्हा हि ण देहोऽहं कत्ता वा तस्स देहस्स ॥ ७० ॥

नाहं पुद्गलमयो न ते मया पुद्गलाः कृताः पिण्डम्।
तस्माद्धि न देहोऽहं कर्ता वा तस्य देहस्य ॥ ७० ॥

यदेतत्प्रकरणनिर्धारितं पुद्गलात्मकमन्तर्नीतवाङ्मनो द्वैतं शरीरं नाम परद्रव्यं न तावदहमस्मि, ममापुद्गलमयस्य पुद्गलात्मकशरीरत्वविरोधात्। न चापि तस्य कारणद्वारेण कर्तृद्वारेण कर्तृप्रयोजनद्वारेण कर्त्रनुमन्तृद्वारेण वा शरीरस्य कर्ताहमस्मि, ममानेकपरमाणुद्रव्यैकपिण्डपर्यायपरिणामस्याकर्तुरनेकपरमाणुद्रव्यैकपिण्डपर्यायपरिणामात्मकशरीरकर्तृत्वस्य सर्वथा विरोधात् ॥७०॥

पुद्गलद्रव्यं हि स्फुटं पुनः पिण्डः समूहो भवति। केषाम्। परमाणुद्रव्याणामित्यर्थः ॥ ६९ ॥ अथात्मनः शरीररूपपरद्रव्याभावं तत्कर्तृत्वाभावं च निरूपयति—**णाहं पुग्गलमइओ** नाहं पुद्गलमयः **ण ते मया पुग्गला कया पिंडा** न च ते पुद्गला मया कृताः पिण्डाः। **तम्हा हि ण देहोऽहं** तस्माद्देहो न भवाम्यहं हि स्फुटं **कत्ता वा तस्स देहस्स** कर्ता वा न भवामि तस्य देहस्येति। अयमत्रार्थः—देहोऽहं न भवामि। कस्मात्। अशरीरसहजशुद्धचैतन्यपरिणतत्वेन मम देहत्वविरोधात्। कर्ता वा न भवामि तस्य देहस्य। तदपि कस्मात्। निःक्रियपरमचिज्ज्योतिःपरिणतत्वेन मम देहकर्तृत्वविरोधादिति ॥७०॥ एवं कायवाङ्मनसां

हैं। यद्यपि योगरूप पुद्गलपर्यायमें अपने स्वरूपास्तित्वसे परमाणु जुदा जुदा हैं, तो भी, स्निग्ध रूक्ष गुणके बंध परिणामकी अपेक्षासे एक पिंडरूप भासते (मालूम पड़ते) हैं ॥ ६९ ॥ आगे आत्माके परद्रव्यका अभाव और परद्रव्यके कर्तापनेका अभाव सिद्ध करते हैं—[**अहं**] मैं शुद्ध चैतन्यमात्र वस्तु [**पुद्गलमयः न**] अचेतन पुद्गलद्रव्यरूप नहीं हूँ, [**ते पुद्गलाः**] वे सूक्ष्मपरमाणुरूप पुद्गल [**मया**] स्वरूप गुप्त मुझ चैतन्यसे [**पिण्डं कृता न**] स्कंधरूप नहीं किये गये हैं, अपनी शक्तिसे ही पिंडरूप हो जाते हैं। [**तस्मात्**] इस कारण [**हि**] निश्चयसे [**अहं**] ज्ञानस्वरूप मैं [**देहः**] पुद्गलविकार शरीरमयी [**न**] नहीं हूँ, मैं तो अमूर्त चैतन्य हूँ, [**वा**] अथवा [**तस्य देहस्य**] उस पुद्गलमयी देहका [**कर्ता 'न'**] उत्पन्न करनेवाला भी नहीं हूँ। **भावार्थ**—यह मन वचन सहित शरीर है, वह अवश्य पुद्गलीक ही है, इसमें कुछ भी संदेह नहीं, ऐसा मैंने निश्चय किया है। इस कारण मैं इसका कृत, कारित, अनुमोद भावोंसे कर्ता नहीं हूँ, क्योंकि यह शरीर तो अनंत परमाणुओंका पिंड है, और मुझमें अनंतपरमाणुरूप परिणमन शक्ति नहीं हैं, इसलिये मैं इस शरीरका कर्ता किस तरह हो सकता हूँ? नहीं हो सकता। पुद्गलकी निज शक्तिसे वह पुद्गलपर्याय ही है, मुझमें और शरीरमें बड़ा भारी विरोध है। इस कारण मैं भिन्न द्रव्य हूँ ॥ ७० ॥ आगे कहते हैं, कि परमाणुरूप द्रव्योंके स्कंध पर्याय

अथ कथं परमाणुद्रव्याणां पिण्डपर्यायपरिणतिरिति संदेहमपनुदति—

अपदेसो परमाणू पदेसमेत्तो य सयमसद्दो जो।
णिद्धो वा लुक्खो वा दुपदेसादित्तमणुहवदि ॥ ७१ ॥

अप्रदेशः परमाणुः प्रदेशमात्रश्च स्वयमशब्दो यः।
स्निग्धो वा रूक्षो वा द्विप्रदेशादित्वमनुभवति ॥ ७१ ॥

परमाणुर्हि द्व्यादिप्रदेशानामभावादप्रदेशः, एकप्रदेशसद्भावात्प्रदेशमात्रः, स्वयमनेकपरमाणुद्रव्यात्मकशब्दपर्यायव्यक्त्यसंभवादशब्दश्च। यतश्चतुःस्पर्शपञ्चरसद्विगन्धपञ्चवर्णानामविरोधेन सद्भावात् स्निग्धो वा रूक्षो वा स्यात्। तत एव तस्य पिण्डपर्यायपरिणतिरूपा द्विप्रदेशादित्वानुभूतिः। अथैवं स्निग्धरूक्षत्वं पिण्डत्वसाधनम् ॥ ७१ ॥

शुद्धात्मना सह भेदकथनरूपेण चतुर्थस्थले गाथात्रयं गतम्। इति पूर्वोक्तप्रकारेण 'अत्थित्तणिच्छिदस्स हि' इत्याद्येकादशगाथाभिः स्थलचतुष्टयेन प्रथमो विशेषान्तराधिकारः समाप्तः। अथ केवलपुद्गलमुख्यत्वेन नवगाथापर्यन्तं व्याख्यानं करोति। तत्र स्थलद्वयं भवति। परमाणूनां परस्परबन्धकथनार्थं 'अपदेसो परमाणू' इत्यादि प्रथमस्थले गाथाचतुष्टयम्। तदनन्तरं स्कन्धानां बन्धमुख्यत्वेन 'दुपदेसादी खंधा' इत्यादि द्वितीयस्थले गाथापञ्चकम्। एवं द्वितीयविशेषान्तराधिकारे समुदायपातनिका। अथ यद्यात्मा पुद्गलानां पिण्डं न करोति तर्हि कथं पिण्डपर्यायपरिणतिरिति प्रश्ने प्रत्युत्तरं ददाति—**अपदेसो** अप्रदेशः। स कः। **परमाणू** पुद्गलपरमाणुः। पुनरपि कथंभूतः। **पदेसमेत्तो य** द्वितीयादिप्रदेशाभावात् प्रदेशमात्रश्च। पुनश्च किंरूपः। **सयमसद्दो य** स्वयं व्यक्तिरूपेणाशब्दः। एवं विशेषणत्रयविशिष्टः सन् **णिद्धो वा लुक्खो वा** स्निग्धो वा रूक्षो वा यतः कारणात्संभवति ततः कारणात्। **दुपदेसादित्तमणुहवदि** द्विप्रदेशादिरूपं बन्धमनुभवतीति। तथाहि—यथायमात्मा शुद्धबुद्धैकस्वभावेन बन्धरहितोऽपि पश्चादशुद्धनयेन स्निग्धस्थानीयरागभावेन रूक्षस्थानीयद्वेषभावेन यदा परिणमति तदा परमागमकथितप्रकारेण बन्धमनुभवति। तथा परमाणुरपि स्वभावेन बन्धरहितोऽपि यदा बन्धकारणभूतस्निग्धरूक्षगुणेन परिणतो भवति तदा पुद्गलान्तरेण सह

किस तरहसे होते हैं, इस संदेहको दूर करते हैं—[**परमाणुः**] जो सूक्ष्म अविभागी पुद्गलपरमाणु है, वह [**अप्रदेशः**] दो आदि प्रदेशोंसे रहित है, [**प्रदेशमात्रः**] एक प्रदेशमात्र है, [**च**] और [**स्वयं अशब्दः**] आप ही शब्द पर्याय रहित है, 'शब्द तो अनंत पुद्गलपरमाणुओंके स्कंधसे उत्पन्न होता है,' [**यत्**] इसी कारणसे यह परमाणु [**स्निग्धो वा**] चिकना परिणाम सहित हुआ, [**वा**] और रूक्ष (रूखा) परिणाम सहित भी हुआ, [**द्विप्रदेशादित्वं**] दो प्रदेशको आदि लेकर अनेकप्रदेश भावोंको [**अनुभवति**] प्राप्त होता है। **भावार्थ—**यह 'परमाणु' अविभागी प्रदेशमात्र है, और इसमें वर्णादि पाँच गुण अविरोधी पाये जाते हैं, तथा प्रगट शब्द पर्याय रहित है, इस कारण यह शुद्ध परमाणु कहा जाता है। इसमें स्निग्ध रूक्ष गुण हैं, इन गुणोंके परिणमनेसे ही एक परमाणु दूसरे परमाणुसे मिल जाता है, इस कारण पिंडरूप स्कंधपर्याय हो जाता है, और वह अनेकप्रदेशी भी कहा जाता है ॥ ७१ ॥

अथ कीदृशं तत्स्निग्धरूक्षत्वं परमाणोरित्यावेदयति—

एगुत्तरमेगादी अणुस्स णिद्धत्तणं च लुक्खत्तं ।
परिणामादो भणिदं जाव अणंतत्तमणुभवदि ॥ ७२ ॥
एकोत्तरमेकाद्यणोः स्निग्धत्वं च रूक्षत्वम् ।
परिणामाद्भणितं यावदनन्तत्वमनुभवति ॥ ७२ ॥

परमाणोर्हि तावदस्ति परिणामः, तस्य वस्तुस्वभावत्वेनानतिक्रमात् । ततस्तु परिणामादुपात्तकादाचित्कवैचित्र्यं चित्रगुणयोगित्वात्परमाणोरेकाद्येकोत्तरानन्तावसानाविभागपरिच्छेदव्यापि स्निग्धत्वं वा रूक्षत्वं वा भवति ॥ ७२ ॥

अथात्र कीदृशात्स्निग्धरूक्षत्वात्पिण्डत्वमित्यावेदयति—

विभावपर्यायरूपं बन्धमनुभवतीत्यर्थः ॥ ७१ ॥ अथ कीदृशं तत्स्निग्धरूक्षत्वमिति पृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति— **एगुत्तरमेगादी** एकोत्तरमेकादि । किम् । **णिद्धत्तणं च लुक्खत्तं** स्निग्धत्वं रूक्षत्वं च कर्मतापन्नं **भणिदं** भणितं कथितम् । किंपर्यन्तम् । **जाव अणंतत्तमणुभवदि** अनन्तत्वमनन्तपर्यन्तं यावदनुभवति प्राप्नोति । कस्मात्सकाशात् । **परिणामादो** परिणतिविशेषात्परिणामित्वादित्यर्थः । कस्य संबन्धि । **अणुस्स** अणोः पुद्गलपरमाणोः । तथाहि—यथा जीवे जलाजागोमहिषीक्षीरे स्नेहवृद्धिवत्स्नेहस्थानीयं रागत्वं रूक्षस्थानीयं द्वेषत्वं बन्धकारणभूतं जघन्यविशुद्धसंक्लेशस्थानीयमादिं कृत्वा परमागमकथितक्रमेणोत्कृष्टविशुद्धसंक्लेशपर्यन्तं वर्धते । तथा पुद्गलपरमाणुद्रव्येऽपि स्निग्धत्वं रूक्षत्वं च बन्धकारणभूतं पूर्वोक्तजलादितारतम्यशक्तिदृष्टान्तेनैकगुणसंज्ञाजघन्यशक्तिमादिं कृत्वा गुणसंज्ञेनाविभागपरिच्छेदद्वितीयनामाभिधेयेन शक्तिविशेषेण वर्धते । किंपर्यन्तम् । यावदनन्तसंख्यानम् । कस्मात् । पुद्गलद्रव्यस्य परिणामित्वात् परिणामस्य वस्तुस्वभावादेव निषेधितुमशक्यत्वादिति ॥ ७२ ॥ अथात्र कीदृशात्स्निग्धरूक्षत्वगुणात् पिण्डो भवतीति प्रश्ने समाधानं ददाति—**बज्झंति हि** बध्यन्ते हि स्फुटम् । के । कर्मतापन्नाः **अणुपरिणामा** अणुपरिणामाः । अणुपरिणाम-

---

आगे परमाणुओंमें स्निग्ध रूक्ष गुण किस तरहका है, यह कहते हैं—**[अणोः]** परमाणुके **[परिणामात्]** स्निग्ध, रूक्ष, गुणमें अनेक प्रकारकी परिणमन शक्ति होनेसे **[एकादि]** एकसे लेकर **[एकोत्तरं]** एक एक बढ़ता हुआ तबतक **[स्निग्धत्वं]** चिकनभाव **[वा]** अथवा **[रूक्षत्वं]** रूक्षभाव **[भणितं]** कहा गया है । **[यावत्]** जबतक कि **[अनन्तत्वं]** अनंत भेदोंको **[अनुभवति]** प्राप्त हो जाता है । **भावार्थ**—परमाणुमें स्निग्ध रूक्ष गुण हैं, उन गुणोंकी अनंत प्रकार परिणति होती है, इसलिये स्निग्ध रूक्ष गुणके अनंत भेद हो जाते है । वे भेद इस तरहके होते हैं, कि जिनका दूसरा फिर अंश नहीं होता, उन्हींका नाम **अविभागप्रतिच्छेद** भी कहा गया है । जैसे बकरी, गाय, भैंस, ऊँटनीके दूधमें अथवा घी वगैरहमें बढ़ते बढ़ते चिकनाईका भेद होता है, और जैसे धूलि, राख, रेत इत्यादि वस्तुओंमें रूखापन अधिक अधिक होता है, उसी प्रकार स्निग्ध रूक्ष गुणके अनंतभेद जानने चाहिये ॥ ७२ ॥ आगे किस तरहके स्निग्ध, रूक्ष, गुणके परिणमनसे बंध होकर पिंड हो जाता है, यह

णिद्धा वा लुक्खा वा अणुपरिणामा समा व विसमा वा ।
समदो दुराधिगा जदि बज्झन्ति हि आदिपरिहीणा ॥ ७३ ॥
स्निग्धा वा रूक्षा वा अणुपरिणामाः समा वा विषमा वा ।
समतो द्व्यधिका यदि बध्यन्ते हि आदिपरिहीनाः ॥ ७३ ॥

समतो द्व्यधिकगुणाद्धि स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्ध इत्युत्सर्गः, स्निग्धरूक्षद्व्यधिकगुणत्वस्य हि परिणामकत्वेन बन्धसाधनत्वात् । न खल्वेकगुणात् स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्ध इत्यपवादः एकगुणस्निग्धरूक्षत्वस्य हि परिणम्यपरिणामकत्वाभावेन बन्धस्यासाधनत्वात् ॥ ७३ ॥

शब्देनात्र परिणामपरिणता अणवो गृह्यन्ते । कथंभूताः । **णिद्धा वा लुक्खा वा** स्निग्धपरिणामपरिणता वा रूक्षपरिणामपरिणता वा । पुनरपि किंविशिष्टाः **समा व विसमा वा** द्विशक्तिचतुःशक्तिषट्शक्त्यादिपरिणतानां सम इति संज्ञा । त्रिशक्तिपञ्चशक्तिसप्तशक्त्यादिपरिणतानां विषम इति संज्ञा । पुनश्च किंरूपा । **समदो दुराधिगा जदि** समतः समसंख्यानात्सकाशाद् द्वाभ्यां गुणाभ्यामधिका यदि चेत् । कथं द्विगुणाधिकत्वमिति चेत् । एको द्विगुणस्तिष्ठति द्वितीयोऽपि द्विगुण इति द्वौ समसंख्यानौ तिष्ठतस्तावत् एकस्य विवक्षितद्विगुणस्य द्विगुणाधिकत्वे कृते सति स चतुर्गुणो भवति शक्तिचतुष्टयपरिणतो भवति । तस्य चतुर्गुणस्य पूर्वोक्तद्विगुणेन सह बन्धो भवतीति । तथैव द्वौ त्रिशक्तियुक्तौ तिष्ठतस्तावत् । तत्राप्येकस्य त्रिगुणशब्दाभिधेयस्य त्रिशक्तियुक्तस्य परमाणोः शक्तिद्वयमेलापके कृते सति पञ्चगुणत्वं भवति । तेन पञ्चगुणेन सह पूर्वोक्तत्रिगुणस्य बन्धो भवति । एवं द्वयोर्द्वयोः स्निग्धयोर्द्वयोर्द्वयो रूक्षयोर्द्वयोर्द्वयोः स्निग्धरूक्षयोर्वा समयोः विषमयोश्च द्विगुणाधिकत्वे सति बन्धो भवतीत्यर्थः, किंतु विशेषोऽस्ति । **आदिपरिहीणा** आदिशब्देन जलस्थानीयं जघन्यस्निग्धत्वं वालुकास्थानीयं जघन्यरूक्षत्वं भण्यते ताभ्यां विहीना आदिपरिहीना बध्यन्ते । किं च—परमचैतन्यपरिणतिलक्षणपरमात्मतत्त्वभावनारूपधर्मध्यानशुक्लध्यानबलेन यथा जघन्यस्निग्धशक्तिस्थानीये क्षीणरागत्वे सति जघन्यरूक्षशक्तिस्थानीये क्षीणद्वेषत्वे च सति जलवालुकयोरिव जीवस्य बन्धो न भवति, तथा पुद्गलपरमाणोरपि जघन्यस्निग्धरूक्षशक्तिप्रस्तावे बन्धो न भवतीत्यभिप्रायः ॥ ७३ ॥ अथ

दिखलाते है—**[अणुपरिणामाः]** परमाणुके पर्यायभेद **[स्निग्धा वा]** स्निग्ध होवें, **[वा]** अथवा **[रूक्षाः]** रूखे होवें, **[समा वा]** दो चार छह इत्यादि अंशोंकी गिनती कर समान हों, **[विषमा वा]** अथवा तीन पाँच सात इत्यादि अंशोंकर विषम हो, परंतु **[यदि]** जो **[आदिपरिहीनाः]** जघन्य अंशसे रहित **[समतः]** गिनतीकी समानतासे **[द्व्यधिकाः]** दो अंश अधिक होवें, तब **[बध्यन्ते]** आपसमें बँधते हैं, अन्यरीतिसे नहीं । **भावार्थ—**स्निग्ध रूक्ष गुणमें अनंत अंश भेद हैं, परंतु एक परमाणु दूसरे परमाणुसे तब बँधता है, जब कि दो अंश अधिक स्निग्ध अथवा रूक्ष गुणका परिणमन हो, क्योंकि दो ही अंशकी अधिकतासे बंध होनेकी योग्यता परमागममें दिखलाई है, अन्य प्रकारसे बंध नहीं होता, पूर्वोक्त परिणमनसे ही होता है । एक अंशरूप स्निग्ध रूक्ष भाव परिणत परमाणुसे बंध नहीं होता, क्योंकि अति जघन्यभावमें बंधपरिणाम होनेकी अयोग्यता है । इस कारण एक अंशकर

अथ परमाणूनां पिण्डत्वस्य यथोदितहेतुत्वमवधारयति—

णिद्धत्तणेण दुगुणो चदुगुणणिद्धेण बंधमणुभवदि ।
लुक्खेण वा तिगुणिदो अणु बज्झदि पंचगुणजुत्तो ॥ ७४ ॥
स्निग्धत्वेन द्विगुणश्चतुर्गुणस्निग्धेन बन्धमनुभवति ।
रूक्षेण वा त्रिगुणितोऽणुर्बध्यते पञ्चगुणयुक्तः ॥ ७४ ॥

यथोदितहेतुकमेव परमाणूनां पिण्डत्वमवधार्यं द्विचतुर्गुणयोस्त्रिपञ्चगुणयोश्च द्वयोः स्निग्धयोः द्वयो रूक्षयोर्द्वयोः स्निग्धरूक्षयोर्वा परमाण्वोर्बन्धस्य प्रसिद्धेः । उक्तं च "णिद्धा णिद्धेण बज्झंति लुक्खा लुक्खा य पोग्गला । णिद्ध लुक्खा य बज्झंति रूवारूवी य पोग्गला ॥" "णिद्धस्स

तमेवार्थं विशेषेण समर्थयति—गुणशब्दवाच्यशक्तिद्वययुक्तस्य स्निग्धपरमाणोश्चतुर्गुणः स्निग्धेन रूक्षेण वा समशब्दसंज्ञेन तथैव त्रिशक्तियुक्तरूक्षस्य पञ्चगुणरूक्षेण स्निग्धेन वा विषमसंज्ञेन द्विगुणाधिकत्वेन सति बन्धो भवतीति ज्ञातव्यम् । अयं तु विशेषः—परमानन्दैकलक्षणस्वसंवेदज्ञानबलेन हीयमानरागद्वेषत्वे सति पूर्वोक्तजलवालुकादृष्टान्तेन यथा जीवानां बन्धो न भवति तथा जघन्यस्निग्धरूक्षत्वगुणे सति परमाणूनां चेति ।

बंध नहीं होता ॥ ७३ ॥ आगे किस तरह बंध होता है, यह दिखलाते हैं–[**स्निग्धत्वेन**] चिकनेपनेसे [**द्विगुणः**] दो अंशरूप परिणत परमाणु [**चतुर्गुणस्निग्धेन**] चार अंशरूप परिणत हुए परमाणुसे [**बंधं**] बंध अवस्थाको [**अनुभवति**] प्राप्त होता है, [**वा**] अथवा [**रूक्षेण**] रूखेपनेसे [**त्रिगुणितः**] तीन अंशरूप परिणत परमाणु [**पञ्चगुणयुक्तः**] पाँच अंशरूप परिणत हुए परमाणुसे संयुक्त हुआ [**अनुबध्यते**] बंधको प्राप्त होता है। **भावार्थ–**एक परमाणुमें दो अंश स्निग्ध हों, तथा दूसरे परमाणुमें चार अंश हों, तो दोनों परमाणुओंका आपसमें बंध होता है । अथवा एकमें चार अंश हों, तथा दूसरेमें छह अंश हों, तो भी बंध होता है । इस प्रकार अपने अनंत अंश भेद तक दो अंश अधिक स्निग्धतासे स्निग्ध परमाणुओंका अथवा स्कंधोंका बंध जानना । तथा एक परमाणु तीन अंश रूक्ष हो, और दूसरा परमाणु पाँच अंश रूक्ष हो, तो दोनोंका बंध होता है, अथवा एक परमाणु पाँच अंश दूसरा सात अंश हो, तो भी बंध होता है । इस प्रकार अपने अंश भेद तक दो अंश अधिक रूक्षतासे रूक्ष परमाणुओंका अथवा स्कंधोंका बंध जानना चाहिये । एक परमाणुमें दो अंश रूखेपनेके हैं, और दूसरे परमाणुमें चार अंश स्निग्धताके हैं, तो भी बंध होता है, इस प्रकार दो अंश अधिक स्निग्ध रूक्ष गुणोंके अंशोंसे भी परमाणु तथा स्कंधोंका बंध जानना चाहिये। इससे यह बात सिद्ध हुई, कि स्निग्धतासे दो अंश अधिक स्निग्धताकर बंध होता है, तथा रूक्षतासे दो अंश अधिक रूक्षताकर बंध होता हैं, और रूक्षता स्निग्धतामें भी दो अंश अधिक होनेसे बंध होता है । जो दो परमाणुओंमें अंश बराबर हों, तो बंध नहीं होता, और जो एक अंश अधिक हो, तो भी बंध होना संभव नहीं है, परंतु जब दो अंश अधिक हों, तभी बंध हो सकता है, दूसरी तरह बंध होनेकी योग्यता नहीं है । तथा जो एक अंश चिकनाई अथवा रूखाई हो, तो भी बंध नहीं होता, क्योंकि एक अंश अति जघन्य है इस कारण बंध योग्य नहीं है । दो अंशसे लेकर आगे

णिद्धेण दुराहिएण लुक्खस्स लुक्खेण दुराहिएण । णिद्धस्स लुक्खेण हवेदि बंधो जहण्णवज्जे विसमे समे वा ॥" ॥ ७४ ॥

अथात्मनः पुद्गलपिण्डात्मकर्तृत्वाभावमवधारयति—

दुपदेसादी खंधा सुहुमा वा बादरा ससंठाणा ।
पुढविजलतेउवाऊ सगपरिणामेहिं जायंते ॥ ७५ ॥
द्विप्रदेशादयः स्कन्धाः सूक्ष्मा वा बादराः ससंस्थानाः ।
पृथिवीजलतेजोवायवः स्वकपरिणामैर्जायन्ते ॥ ७५ ॥

एवममी समुपजायमाना द्विप्रदेशादयः स्कन्धा विशिष्टावगाहनशक्तिवशादुपात्तसौक्ष्म्यस्थौल्यविशेषा विशिष्टाकारधारणशक्तिवशाद्गृहीतविचित्रसंस्थानाः सन्तो यथास्वं स्पर्शादिचतुष्क-

तथा चोक्तम्—"णिद्धस्स णिद्धेण दुराधिगेण लुक्खस्स लुक्खेण दुराधिगेण । णिद्धस्स लुक्खेण हवेदि बंधो जघण्णवज्जे विसमे समे वा" ॥ ७४ ॥ एवं पूर्वोक्तप्रकारेण स्निग्धरूक्षपरिणतपरमाणुस्वरूपकथनेन प्रथमगाथा । स्निग्धरूक्षगुणविवरणेन द्वितीया । स्निग्धरूक्षगुणाभ्यां द्व्यधिकत्वे सति बन्धकथनेन तृतीया । तस्यैव दृढीकरणेन चतुर्थी चेति परमाणूनां परस्परबन्धव्याख्यानमुख्यत्वेन प्रथमस्थले गाथाचतुष्टयं गतम् । अथात्मा द्व्यणुकादिपुद्गलस्कन्धानां कर्ता न भवतीत्युपदिशति—**जायन्ते** उत्पद्यन्ते । के कर्तारः । **दुपदेसादी खंदा** द्विप्रदेशाद्यनन्ताणुपर्यन्ताः स्कन्धा जायन्ते । **पुढविजलतेउवाऊ** पृथ्वीजलतेजोवायवः । कथंभूताः सन्तः । **सुहुमा वा बादरा** सूक्ष्मा बादराः । पुनरपि किंविशिष्टाः सन्तः । **ससंठाणा** यथासंभवं वृत्तचतुरस्रादिस्वकीयस्वकीयसंस्थानाकारयुक्ताः । कैः कृत्वा जायन्ते । **सगपरिणामेहिं** स्वकीयस्वकीयस्निग्धरूक्षपरिणामैरिति । अथ विस्तरः—जीवा हि तावद्वस्तुतष्टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकरूपेण शुद्धबुद्धैकस्वभावा एव पश्चाद्व्यवहारेणानादिकर्मबन्धोपाधिवशेन शुद्धात्मस्वभावमलभमानाः सन्तः पृथिव्यप्तेजोवात-

अनंत भेदतक दो अंश अधिक चिकनाई रूखाईके होवें, तब बंध होता है, एक अंशसे बंधका अभाव ही जानना । एक परमाणु एक अंश चिकनाई अथवा रूखाईपनेसे परिणत हो, और दूसरा तीन अंश चिकनाई अथवा तीन अंश रूखापनेसे परिणत हो, तो भी बंध नहीं होता । यद्यपि यहाँपर दो अंश अधिक भी हैं, तो भी बंधकी योग्यता नहीं है, इस कारण एक अंशसे बंध कभी नहीं होता ॥ ७४ ॥ आगे आत्माके पुद्गलपिंडके कर्तापनेका अभाव दिखलाते हैं—[**द्विप्रदेशादयः स्कन्धाः**] दो प्रदेशको आदि लेकर परमाणुओंके स्कंध अर्थात् दो परमाणुओंका स्कंध, तीन परमाणुओंका स्कंध, इत्यादि अनंत परमाणुओंके खंध पर्यंत जो स्कंध हैं, वे सब [**स्वकपरिणामैः**] अपने ही स्निग्ध रूक्ष गुणके परिणमनकी योग्यतासे [**जायन्ते**] उत्पन्न होते हैं, [**वा**] अथवा [**सूक्ष्मा बादराः**] सूक्ष्मजाति और स्थूलजातिके [**पृथ्वीजलतेजोवायवः**] पृथिवीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, ये भी स्निग्ध रूक्षभावके परिणमनसे पुद्गलात्मक स्कंध पर्यायरूप उत्पन्न होते हैं । वे पुद्गलपर्याय [**ससंस्थानाः**] तिकोने, चौकोने, गोलाकार, इत्यादि अनेक आकार सहित होते हैं । **भावार्थ**—दो परमाणुओंके स्कंधसे

स्याविर्भावतिरोभावस्वशक्तिवशमासाद्य पृथिव्यप्तेजोवायवः स्वपरिणामैरेव जायन्ते । अतोऽवधार्यते द्व्यणुकाद्यनन्तानन्तपुद्गलानां न पिण्डकर्ता पुरुषोऽस्ति ॥ ७५ ॥

अथात्मनः पुद्गलपिण्डानेतृत्वाभावमवधारयति—

ओगाढगाढणिचिदो पुग्गलकायेहिं सव्वदो लोगो ।
सुहुमेहि बादरेहि य अप्पाओग्गेहिं जोग्गेहिं ॥ ७६ ॥

अवगाढगाढनिचितः पुद्गलकायैः सर्वतो लोकः ।
सूक्ष्मैर्बादरैश्चाप्रायोग्यैर्योग्यैः ॥ ७६ ॥

यतो हि सूक्ष्मत्वपरिणतैर्बादरपरिणतैश्चानतिसूक्ष्मत्वस्थूलत्वात् कर्मत्वपरिणमनशक्तियोगिभिरतिसूक्ष्मस्थूलतया तदयोगिभिश्चावगाहविशिष्टत्वेन परस्परमबाधमानैः स्वयमेव सर्वत एव

कायिकेषु समुत्पद्यन्ते, तथापि स्वकीयाभ्यन्तरसुखदुःखादिरूपपरिणतेरेवाशुद्धोपादानकारणं भवन्ति । न च पृथिव्यादिकायाकारपरिणतेः । कस्मादिति चेत् । तत्र स्कन्धानामेवोपादानकारणत्वादिति । ततो ज्ञायते पुद्गलपिण्डानां जीव कर्ता न भवतीति ॥ ७५ ॥ अथात्मा बन्धकाले बन्धयोग्यपुद्गलान् बहिर्भागान्नैवानयतीत्यावेदयति—**ओगाढगाढणिचिदो** अवगाह्यावगाह्यनैरन्तर्येण निचितो भृतः । स कः **लोगो** लोकः । कथंभूतः । **सव्वदो** सर्वतः सर्वप्रदेशेषु । कैः कर्तृभूतैः । **पुग्गलकायेहिं** पुद्गलकायैः । किंविशिष्टैः । **सुहुमेहि बादरेहि य** इन्द्रियाग्रहणयोग्यैः सूक्ष्मैस्तद्ग्रहणयोग्यैर्बादरैश्च । पुनश्च कथंभूतैः । **अप्पाओग्गेहिं** अतिसूक्ष्मस्थूलत्वेन कर्मवर्गणायोग्यतारहितैः । पुनश्च किंविशिष्टैः । **जोग्गेहिं** अतिसूक्ष्मस्थूलत्वाभावात्कर्मवर्गणायोग्यैरिति । अयमत्रार्थः —निश्चयेन शुद्धस्वरूपैरपि व्यवहारेण कर्मोदयाधीनतया पृथिव्यादि-

---

लेकर अनंतानंत परमाणुस्कंध पर्यंत नानाप्रकार आकारोंको धारण किये हुए, सूक्ष्म स्थूलरूप जो पुद्गलपर्याय होते हैं, तथा स्पर्श, रस, गंध, वर्णकी मुख्यता वा गौणता लिये हुए पृथ्वी, जल, तेज, वायुरूप पिंड है, उन सब पर्यायोंका कर्ता पुद्गलद्रव्य जानना चाहिये । इससे यह सिद्धांत निकला, कि आत्मा-(पुरुष) पुद्गलपिंडका कर्ता नहीं है, पुद्गलद्रव्यमें ही पिंड होनेकी स्निग्धरूक्ष शक्ति है, इसलिये अपने परिणामसे वह अनेक प्रकार हो जाता है ॥ ७५ ॥ आगे आत्मा पुद्गलपिंडका प्रेरक भी नहीं है, यह निश्चय करते हैं—[**लोकः**] असंख्यप्रदेशी लोक [**सर्वतः**] सब जगह [**सूक्ष्मैः**] सूक्ष्मरूप [**च**] और [**बादरैः**] स्थूलरूप [**आत्मप्रायोग्यैः**] आत्माके ग्रहण करने योग्य [**योग्यैः**] कर्मरूप होने योग्य अथवा कर्मरूप न होने योग्य ऐसे [**पुद्गलकायैः**] पुद्गलद्रव्यके पिंडोंसे [**अवगाढगाढनिचितः**] अत्यंत गाढ़ भर रहा है । **भावार्थ**—यह लोक सब जगह एक एक प्रदेशमें अनंत अनंत कार्माण (कर्म होने योग्य) वर्गणाओंसे भरपूर है, अवगाहना शक्ति होनेसे कहींपर बाधा नहीं होती । इस कारण इस लोकमें सब जगह जीव ठहरे हुए हैं, और कर्मबंधके योग्य पुद्गलवर्गणा भी सब जगह मौजूद हैं । जीवके जिस तरहके परिणाम होते हैं, उसी तरहका आत्माके कर्मबंध होता है । ऐसा नहीं है, कि यह आत्मा आप किसी जगहसे प्रेरणा करके कार्माणवर्गणाओंका बंध करता हो । जिस जगह

पुद्गलकायैर्गाढं निचितो लोकः । ततोऽवधार्यते न पुद्गलपिण्डानामानेता पुरुषोऽस्ति ॥ ७६ ॥

अथात्मनः पुद्गलपिण्डानां कर्मत्वकर्तृत्वाभावमवधारयति—

कम्मत्तणपाओग्गा खंधा जीवस्स परिणइं पप्पा ।
गच्छंति कम्मभावं ण हि ते जीवेण परिणमिदा ॥ ७७ ॥

कर्मत्वप्रायोग्याः स्कन्धा जीवस्य परिणतिं प्राप्य ।
गच्छन्ति कर्मभावं न हि ते जीवेन परिणमिताः ॥ ७७ ॥

यतो हि तुल्यक्षेत्रावगाढजीवपरिणाममात्रं बहिरङ्गसाधनमाश्रित्य जीवं परिणमयितारमन्तरेणापि कर्मत्वपरिणमनशक्तियोगिनः पुद्गलस्कन्धाः स्वयमेव कर्मभावेन परिणमन्ति । ततोऽवधार्यते न पुद्गलपिण्डानां कर्मत्वकर्ता पुरुषोऽस्ति ॥ ७७ ॥

अथात्मनः कर्मत्वपरिणतपुद्गलद्रव्यात्मकशरीरकर्तृत्वाभावमवधारयति—

पञ्चसूक्ष्मस्थावरत्वं प्राप्तैर्जीवैर्यथा लोको निरन्तरं भृतस्तिष्ठति तथा पुद्गलैरपि । ततो ज्ञायते यत्रैव शरीरावगाढक्षेत्रे जीवस्तिष्ठति बन्धयोग्यपुद्गला अपि तत्रैव तिष्ठन्ति न च बहिर्भागाज्जीव आनयतीति ॥ ७६ ॥ अथ कर्मस्कन्धानां जीव उपादानकर्ता न भवतीति प्रज्ञापयति—**कम्मत्तणपाओग्गा खंधा** कर्मत्वप्रायोग्याः स्कन्धाः कर्तारः **जीवस्स परिणइं पप्पा** जीवस्य परिणतिं प्राप्य निर्दोषिपरमात्मभावनोत्पन्नसहजानन्दैकलक्षणसुखामृतपरिणतेः प्रतिपक्षभूतां जीवसंबन्धिनीं मिथ्यात्वरागादिपरिणतिं प्राप्य **गच्छंति कम्मभावं** गच्छन्ति परिणमन्ति । कम् । कर्मभावं ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मपर्यायं **ण हि ते जीवेण परिणमिदा** न हि नैव ते कर्मस्कन्धा जीवेनोपादानकर्तृभूतेन परिणमिताः परिणतिं नीता इत्यर्थः । अनेन व्याख्यानेनैतदुक्तं भवति कर्मस्कन्धानां निश्चयेन जीवः कर्ता न भवतीति ॥ ७७ ॥ अथ शरीराकारपरिणतपुद्गलपिण्डानां जीवः कर्ता न भवतीत्युपदिशति—**ते ते कम्मत्तगदा** ते ते पूर्वसूत्रोदिता कर्मत्वं गता द्रव्यकर्मपर्याय-

---

जीव है, उसी जगह अनंतवर्गणा हैं, वहाँपर ही आपसमें बंध हो जाता है । इस कारण आत्मा पुद्गलपिंडका प्रेरक नहीं है ॥ ७६ ॥ आगे आत्माको पुद्गलपिंडरूप कर्मका अकर्ता दिखलाते हैं—[**कर्मत्वप्रायोग्याः**] अष्टकर्मरूप होनेयोग्य जो [**स्कन्धाः**] पुद्गलवर्गणाओंके पिंड हैं, वे [**जीवस्य**] संसारी आत्माकी [**परिणति**] अशुद्ध परिणतिको [**प्राप्य**] पाकर [**कर्मभावं**] आठ कर्मरूप परिणामको [**गच्छन्ति**] प्राप्त होते है, [**तु**] परंतु [**ते**] वे कर्मयोग्य बंध [**जीवेन**] आत्माने [**न परिणमिताः**] नहीं परिणमाये हैं, अपनी शक्तिसे ही परिणत हुए है । **भावार्थ**—जिस क्षेत्रमें कार्माणवर्गणा हैं, उसी क्षेत्रमें जीव भी है । वे जीव अनादि बंधके संयोगसे अशुद्ध भावोंस्वरूप परिणमते हैं । उस अशुद्ध परिणामका बंधरूप बहिरंग निमित्तकारण पाकर कर्मवर्गणा अपनी अंतरंग निजशक्तिसे आठ कर्मरूप परिणम जाती है । इस कारण यह आत्मा उनका परिणमानेवाला नहीं है, कार्माणवर्गणा अपने आप परिणमती है । इसी लिये 'उनका कर्ता आत्मा नहीं है' यह सिद्ध हुआ ॥ ७७ ॥ आगे आत्माको नोकर्मरूप शरीरका अकर्ता दिखलाते हैं—[**ते ते**] वे वे [**कर्मत्वगताः**] द्रव्यकर्मरूप परिणत हुए [**पुद्गल-**

ते ते कम्मत्तगदा पोग्गलकाया पुणो वि जीवस्स ।
संजायंते देहा देहंतरसंकमं पप्पा ॥ ७८ ॥

ते ते कर्मत्वगताः पुद्गलकायाः पुनरपि जीवस्य ।
संजायन्ते देहा देहान्तरसंक्रमं प्राप्य ॥ ७८ ॥

ये ये नामामी यस्य जीवस्य परिणामं निमित्तमात्रीकृत्य पुद्गलकायाः स्वयमेव कर्मत्वेन परिणमन्ति, अथ ते ते तस्य जीवस्यानादिसंतानप्रवृत्तिशरीरान्तरसंक्रान्तिमाश्रित्य स्वयमेव च शरीराणि जायन्ते । अतोऽवधार्यते न कर्मत्वपरिणतपुद्गलद्रव्यात्मकशरीरकर्ता पुरुषोऽस्ति ॥७८॥

अथात्मनः शरीरत्वाभावमवधारयति—

ओरालिओ य देहो देहो वेउव्विओ य तेजइओ ।
आहारय कम्मइओ पुग्गलदव्वप्पगा सव्वे ॥ ७९ ॥

औदारिकश्च देहो देहो वैक्रियिकश्च तैजसः ।
आहारकः कार्मणः पुद्गलद्रव्यात्मकाः सर्वे ॥ ७९ ॥

यतो ह्यौदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि सर्वाण्यपि पुद्गलद्रव्यात्मकानि ।

परिणताः **पोग्गलकाया** पुद्गलस्कन्धाः **पुणो वि जीवस्स** पुनरपि भवान्तरेऽपि जीवस्य **संजायंते देहा** सजायन्ते सम्यग्जायन्ते देहाः शरीराणीति । किं कृत्वा । **देहंतरसंकमं पप्पा** देहान्तरसंक्रमं भवान्तरं प्राप्य लब्ध्वेति । अनेन किमुक्तं भवति —औदारिकादिशरीरनामकर्मरहितपरमात्मानमलभमानेन जीवेन यान्युपार्जितान्यौदारिकादिशरीरनामकर्माणि तानि भवान्तरे प्राप्ते सत्युदयमागच्छन्ति तदुदयेन नोकर्मपुद्गला औदारिकादिशरीराकारेण स्वयमेव परिणमन्ति । ततः कारणादौदारिकादिकायानां जीवः कर्ता न भवतीति ॥ ७८ ॥ अथ शरीराणि जीवस्वरूपं न भवन्तीति निश्चिनोति—**ओरालिओ य देहो** औदारिकश्च देहः **देहो वेउव्विओ य** देहो वैक्रियकश्च **तेजइओ** तैजसिकः **आहारय कम्मइओ** आहारः कार्मणश्च **पुग्गलदव्वप्पगा सव्वे** एते पञ्च देहाः पुद्गलद्रव्यात्मकाः सर्वेऽपि मम स्वरूपं न भवन्ति । कस्मादिति

कायाः] कर्मवर्गणापिंड [**देहान्तरसंक्रमं प्राप्य**] अन्य पर्यायका संबंध पाके [**पुनः**] फिर [**हि**] निश्चयसे [**जीवस्य**] आत्माके [**देहाः**] शरीररूप [**संजायन्ते**] उत्पन्न होते है । **भावार्थ—**जीवके परिणामका निमित्त पाकर द्रव्यकर्मबंधरूप जो पुद्गल हुए थे, वे ही अन्य पर्यायमें शरीराकार हो जाते हैं, और अपनी ही शक्तिसे द्रव्यकर्मका नोकर्मरूप शरीर फल हो जाता है । इस कारण नोकर्मका भी कर्ता पुद्गल ही है, आत्मा नहीं है ॥ ७८ ॥ आगे आत्माके पाँच शरीरोंका अभाव दिखलाते हैं— [**औदारिकः देहः**] मनुष्य तिर्यंच संबंधी औदारिकशरीर [**च**] और [**वैक्रियिकः**] नारकी देवता संबंधी वैक्रियिकशरीर [**च**] और [**तैजसः**] शुभ अशुभ तैजसशरीर [**आहारकः**] आहारक पुतलेका शरीर [**कार्मणः**] आठ कर्मरूप शरीर इस तरह ये पाँच शरीर हैं, वे [**सर्वे**] सब ही [**पुद्गलद्रव्यात्मकाः**] पुद्गलद्रव्यमयी हैं । इसकारण पाँच शरीर आत्मा नहीं है । आत्मा तो इनसे

ततोऽवधार्यते न शरीरं पुरुषोऽस्ति ॥ ७९ ॥

अथ किं तर्हि जीवस्य शरीरादिसर्वपरद्रव्यविभागसाधनमसाधारणं स्वलक्षणमित्यावेदयति–

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥ ८० ॥

अरसमरूपमगन्धमव्यक्तं चेतनागुणमशब्दम् ।
जानीह्यलिङ्गग्रहणं जीवमनिर्दिष्टसंस्थानम् ॥ ८० ॥

आत्मनो हि रसरूपगन्धगुणाभावस्वभावत्वात्स्पर्शगुणव्यक्त्यभावस्वभावत्वात् शब्दपर्याया-भावस्वभावत्वात्तथा तन्मूलादलिङ्गग्राह्यत्वात्सर्वसंस्थानाभावस्वभावत्वाच्च पुद्गलद्रव्यविभागसाधन-मरसत्वमरूपत्वमगन्धत्वमव्यक्तत्वमशब्दत्वमलिङ्गग्राह्यत्वमसंस्थानत्वं चास्ति । सकलपुद्गलापुद्गला-जीवद्रव्यविभागसाधनं तु चेतनागुणत्वमस्ति । तदेव च तस्य स्वजीवद्रव्यमात्राश्रितत्वेन स्वलक्ष-णतां बिभ्राणं शेषद्रव्यान्तरविभागं साधयति । अलिङ्गग्राह्य इति वक्तव्ये यदलिङ्गग्रहणमित्युक्तं

चेत् । ममाशरीरचैतन्यचमत्कारपरिणतत्वेन सर्वदैवाचेतनशरीरत्वविरोधादिति ॥ ७९ ॥ एवं पुद्गलस्कन्धानां बन्धव्याख्यानमुख्यतया द्वितीयस्थले गाथापञ्चकं गतम् । इति 'अपदेसो परमाणू' इत्यादि गाथानवकेन परमाणुस्कन्धभेदभिन्नपुद्गलानां पिण्डनिष्पत्तिव्याख्यानमुख्यतया द्वितीयविशेषान्तराधिकारः समाप्तः । अथै-कोनविंशतिगाथापर्यन्तं जीवस्य पुद्गलेन सह बन्धमुख्यतया व्याख्यानं करोति, तत्र षट् स्थलानि भवन्ति । तेष्वादौ 'अरसमरूवं' इत्यादि शुद्धजीवव्याख्यानगाथैका 'मुत्तो रूवादि' इत्यादिपूर्वपक्षपरिहारमुख्यतया गाथाद्वयमिति प्रथमस्थले गाथात्रयम् । तदनन्तरं भावबन्धमुख्यत्वेन 'उवओगमओ' इत्यादि गाथाद्वयम् । अथ परस्परं द्वयोः पुद्गलयोः बन्धो जीवस्य रागादिपरिणामेन सह बन्धो जीवपुद्गलयोर्बन्धश्चेति त्रिविधबन्ध-मुख्यत्वेन 'फासेहि पुग्गलाणं' इत्यादि सूत्रद्वयम् । ततः परं निश्चयेन द्रव्यबन्धकारणत्वाद्रागादिपरिणाम एव बन्ध इति कथनमुख्यतया 'रत्तो बंधदि' इत्यादि गाथात्रयम् । अथ भेदभावनामुख्यत्वेन 'भणिदा पुढवी' इत्यादि सूत्रद्वयम् । तदनन्तरं जीवो रागादिपरिणामानामेव कर्ता न च द्रव्यकर्मणामिति कथनमुख्यत्वेन 'कुव्वं सहावमादा' इत्यादि षष्ठस्थले गाथासप्तकम् । यत्र मुख्यत्वमिति वदति तत्र यथासंभवमन्योऽप्यर्थो

भिन्न स्वरूप है ॥ ७९ ॥ आगे जीवका शरीरादिक पर द्रव्योंसे भिन्न शुद्ध स्वरूप, जो कि अन्य द्रव्यमें नहीं पाया जावे, ऐसा लक्षण दिखलाते हैं—[**त्वं**] हे भव्य, तू [**जीवं**] शुद्धस्वरूप आत्माको [**अरसं**] ५ प्रकारके रससे रहित, [**अरूपं**] ५ वर्णोंसे रहित [**अगन्धं**] दो प्रकारके गंध गुण रहित, [**अव्यक्तं**] आठ प्रकारके स्पर्श गुण रहित, इसीसे अप्रगट [**अशब्दं**] शब्दपर्यायसे रहित स्वभाववाला [**अलिङ्गग्रहणं**] पुद्गलके चिह्नसे ग्रहण नहीं होनेवाला, [**अनिर्दिष्टसंस्थानं**] सब आकारोंसे रहित निराकार स्वभावयुक्त [**चेतनागुणं**] और ज्ञान दर्शन गुणवाला ऐसा शुद्ध निर्विकार-द्रव्य जानना । **भावार्थ**—यह आत्मा अमूर्त स्वभाव होनेसे रस, रूप, गंध, स्पर्श, शब्द संस्थानादिक पुद्गलीक भावोंसे रहित है, अपने चेतना गुण से धर्म, अधर्म, आकाश, काल, इन चार अमूर्त द्रव्योंसे भी

तद्बहुतरार्थप्रतिपत्तये । तथाहि—न लिङ्गैरिन्द्रियैर्ग्राहकतामापन्नस्य ग्रहणं यस्येत्यतीन्द्रियज्ञानमयत्वस्य प्रतिपत्तिः । न लिङ्गैरिन्द्रियैर्ग्राह्यतामापन्नस्य ग्रहणं यस्येतीन्द्रियप्रत्यक्षाविषयत्वस्य । न लिङ्गादिन्द्रियगम्याद्धूमादग्नेरिव ग्रहणं यस्येतीन्द्रियप्रत्यक्षपूर्वकानुमानाविषयत्वस्य । न लिङ्गादेव परैः ग्रहणं यस्येत्यनुमेयमात्रत्वाभावस्य । न लिङ्गादेव परेषां ग्रहणं यस्येत्यनुमातृमात्रत्वाभावस्य । न लिङ्गात्स्वभावेन ग्रहणं यस्येति प्रत्यक्षज्ञातृत्वस्य । न लिङ्गेनोपयोगाख्यलक्षणेन ग्रहणं ज्ञेयार्थालम्बनं यस्येति बहिरर्थालम्बनज्ञानाभावस्य । न लिङ्गस्योपयोगाख्यलक्षणस्य ग्रहणं स्वयमाहरणं यस्येत्यनाहार्यज्ञानत्वस्य । न लिङ्गस्योपयोगाख्यलक्षणस्य ग्रहणं परेण हरणं यस्येत्याहार्यज्ञानत्वस्य । न लिङ्गे उपयोगाख्यलक्षणस्य ग्रहणं सूर्य इवोपरागो यस्येति शुद्धोपयोगस्वभावस्य । न लिङ्गादुपयोगाख्यलक्षणाद्ग्रहणं पौद्गलिककर्मादानं यस्येति द्रव्यकर्मासंपृक्तत्वस्य । न लिङ्गेभ्य इन्द्रियेभ्यो ग्रहणं विषयाणामुपभोगो यस्येति विषयोपभोक्तृत्वाभावस्य । न लिङ्गात्मनो वेन्द्रियादिलक्षणाद्ग्रहणं जीवस्येति शुक्रार्तवानुविधायित्वाभावस्य । न लिङ्गस्य मेहना-

---

लभ्यत इति सर्वत्र ज्ञातव्यः । एवमेकोनविंशतिगाथाभिस्तृतीयविशेषान्तराधिकारे समुदायपातनिका । तद्यथा—अथ किं तर्हि जीवस्य शरीरादिपरद्रव्येभ्यो भिन्नमन्यद्रव्यासाधारणं स्वस्वरूपमिति प्रश्ने प्रत्युत्तरं ददाति—**अरसमरूवमगंधं** रसरूपगन्धरहितत्वात्तथा चाव्याहार्यमाणास्पर्शरूपगन्धत्वाच्च **अव्वत्तं** अव्यक्तत्वात् **असद्दं** अशब्दत्वात् **अलिंगग्गहणं** अलिङ्गग्रहणत्वात् **अणिद्दिट्ठसंठाणं** अनिर्दिष्टसंस्थानत्वाच्च **जाण जीवं** जानीहि जीवम् । अरसमरूपमगन्धमस्पर्शमव्यक्तमशब्दमलिङ्गग्रहणमनिर्दिष्टसंस्थानलक्षणं च हे शिष्य, जीवं जीवद्रव्यं जानीहि । पुनरपि कथंभूतम् । **चेदणागुणं** समस्तपुद्गलादिभ्योऽचेतनेभ्यो भिन्नः समस्तान्यद्रव्यासाधारणः स्वकीयानन्तजीवजातिसाधारणश्च चेतनागुणो यस्य तं चेतनागुणं चालिङ्गग्राह्यमिति वक्तव्ये यदलिङ्गग्रहणमित्युक्तं तत्किमर्थमिति चेत् बहुतरार्थप्रतिपत्त्यर्थम् । तथाहि—लिङ्गमिन्द्रियं तेनार्थानां ग्रहणं परिच्छेदनं न करोति तेनालिङ्गग्रहणो भवति । तदपि कस्मात्स्वयमेवातीन्द्रियाखण्डज्ञानसहितत्वात् । तेनैव लिङ्गशब्दवाच्येन चक्षुरादीन्द्रियेणान्यजीवानां यस्य ग्रहणं परिच्छेदनं कर्तुं नायाति तेनालिङ्गग्रहण उच्यते । तदपि कस्मात् । निर्विकारातीन्द्रियस्वसंवेदनप्रत्यक्षज्ञानगम्यत्वात् । लिङ्गं धूमादि तेन धूमलिङ्गोद्भवा-

---

भिन्न है, स्वजीव सत्ताकी अपेक्षा अन्य जीव द्रव्यसे भी भिन्न है, अपने अस्तित्वकर सद्रूप वस्तुमात्र है, और यहाँपर अलिंगग्रहण विशेषण इसलिये कहा है, कि वह आत्मा किसी पुद्गलीक चिह्नसे ग्रहण नहीं किया जाता । इस विशेषण पदके अनेक अर्थ है, उनमेंसे कुछ थोड़े दिखलाते हैं—लिंग नाम इंद्रियोंका है, उन इन्द्रियोंसे यह आत्मा पदार्थोंका ग्रहण (ज्ञान) करनेवाला नहीं है, अतीन्द्रिय स्वभावसे पदार्थोंको जानता है, इसलिये अलिंगग्रहण है । अथवा इन्द्रियोंसे अन्य जीव भी इस आत्माका ग्रहण नहीं कर-सकते, यह तो अतीन्द्रिय स्वसंवेदन ज्ञानगम्य (अपने अनुभवगोचर) है, इसलिये भी अलिंगग्रहण है । जैसे धूम-धुएं चिह्नको देखकर अग्निका ज्ञान करते हैं, वैसे अनुमान ज्ञानकर लिंग अर्थात् चिह्नकर यह आत्मा अन्य पदार्थोंका जाननेवाला नहीं है, यह तो अतीन्द्रिय प्रत्यक्षज्ञानसे जानता है, इस कारण भी

कारस्य ग्रहणं यस्येति लौकिकसाधनमात्रत्वाभावस्य । न लिङ्गेनामेहनाकारेण ग्रहणं लोकव्याप्तिर्यस्येति कुहुकप्रसिद्धसाधनाकारलोकव्याप्तित्वाभावस्य । न लिङ्गानां स्त्रीपुन्नपुंसकवेदानां ग्रहणं यस्येति स्त्रीपुन्नपुंसकद्रव्यभावाभावस्य । न लिङ्गानां धर्मध्वजानां ग्रहणं यस्येति बहिरङ्गयतिलिङ्गाभावस्य । न लिङ्गं गुणो ग्रहणमर्थावबोधो यस्येति गुणविशेषानालीढशुद्धद्रव्यत्वस्य । न लिङ्गं गुणपर्यायो ग्रहणमर्थावबोधविशेषो यस्येति पर्यायविशेषानालीढशुद्धद्रव्यत्वस्य । न लिङ्गं प्रत्यभिज्ञानहेतुर्ग्रहणमर्थावबोधसामान्यं यस्येति द्रव्यानालीढशुद्धपर्यायत्वस्य ॥ ८० ॥

अथ कथममूर्तस्यात्मनः स्निग्धरूक्षत्वाभावाद् बन्धो भवतीति पूर्वपक्षयति—

मुत्तो रूवादिगुणो बज्झदि फासेहिं अण्णमण्णेहिं ।
तव्विवरीदो अप्पा बज्झदि किध पोग्गलं कम्मं ॥ ८१ ॥
मूर्तो रूपादिगुणो बध्यते स्पर्शैरन्योन्यैः ।
तद्विपरीत आत्मा बध्नाति कथं पौद्गलं कर्म ॥ ८१ ॥

नुमानेनाग्निवदनुमेयभूतपरपदार्थानां ग्रहणं न करोति तेनालिङ्गग्रहण इति । तदपि कस्मात् । स्वयमेवालिङ्गोद्भवातीन्द्रियज्ञानसहितत्वात्, तेनैव लिङ्गोद्भवानुमानेनाग्निग्रहणवत् परपुरुषाणां यस्यात्मनो ग्रहणं परिज्ञानं कर्तुं नायाति तेनालिङ्गग्रहण इति । तदपि कस्मात् । अलिङ्गोद्भवातीन्द्रियज्ञानगम्यत्वात । अथवा लिङ्गं चिह्नं लाञ्छनं शिखाजटाधारणादि तेनार्थानां ग्रहणं परिच्छेदनं न करोति, तेनालिङ्गग्रहण इति । तदपि कस्मात् । स्वाभाविकाचिह्नोद्भवातीन्द्रियज्ञानसहितत्वात् । तेनैव चिह्नोद्भवज्ञानेन परपुरुषाणां यस्यात्मनो ग्रहणं परिज्ञानं कर्तुं नायाति तेनालिङ्गग्रहण इति । तदपि कस्मान्निरुपरागस्वसंवेदनज्ञानगम्यत्वादिति । एवमलिङ्गग्रहणशब्दस्य व्याख्यानक्रमेण शुद्धजीवस्वरूपं ज्ञातव्यमित्यभिप्रायः ॥ ८० ॥ अथामूर्तशुद्धात्मनो व्याख्याने कृते सत्यमूर्तजीवस्य मूर्तपुद्गलकर्मणा सह कथं बन्धो भवतीति पूर्वपक्षं करोति—**मुत्तो रूवादिगुणो** मूर्तो रूपरसगन्धस्पर्शवान् पुद्गलद्रव्यगुणः **बज्झदि** अन्योन्यसंश्लेषेण बध्यते बन्धमनुभवति,

---

अलिंगग्रहण है । कोई भी जीव इंद्रियगम्य चिह्नसे इस आत्माका अनुमान नहीं कर सकता, अर्थात्–इंद्रियज्ञान जनित अनुमानसे ग्रहण नहीं किया जासकता, इस कारण भी अलिंगग्रहण है । इत्यादि अलिंगग्रहण शब्दके अनेक अर्थ होते है । यह शुद्ध आत्मा केवल अनुभवगम्य है, वचनसे नहीं कहा जासकता, कहनेसे अशुद्धताका प्रसंग आता है । इसलिये शुद्ध जीवद्रव्य ज्ञानगम्य है । जो अनुभवी हैं, वे ही शांतरसके स्वादको जानते हैं, इसका अन्य कथन है, वह व्यवहारमात्र है । जिनके काललब्धि निकट आगई है, वे ही व्यवहारमात्र शब्दब्रह्मका निमित्त पाकर स्वरूपमें लीन होते है । इस कारण अवाच्य शुद्ध जीवद्रव्य अनुभव योग्य ही है ॥ ८० ॥ आगे अमूर्त आत्माके स्निग्ध रूक्ष गुणका अभाव होनेसे बंध किस तरह हो सकता है ? ऐसा तर्क करते हैं–[**रूपादिगुणः**] रूप, रस, गंध, स्पर्श गुणवाला [**मूर्तः**] स्कंध वा परमाणुरूप पुद्गलद्रव्य [**अन्योन्यैः**] परस्पर [**स्पर्शैः**] स्निग्ध रूक्षरूप स्पर्शगुणसे [**बध्यते**] बंधको प्राप्त होसकता है, [**तद्विपरीतः**] पुद्गलके स्निग्ध, रूक्षगुण रहित

मूर्तयोर्हि तावत्पुद्गलयो रूपादिगुणयुक्तत्वेन यथोदितस्निग्धरूक्षत्वस्पर्शविशेषादन्योन्यबन्धोऽवधार्यते एव । आत्मकर्मपुद्गलयोस्तु स कथमवधार्यते । मूर्तस्य कर्मपुद्गलस्य रूपादिगुणयुक्तत्वेन यथोदितस्निग्धरूक्षत्वस्पर्शविशेषसंभवेऽप्यमूर्तस्यात्मनो रूपादिगुणयुक्तत्वाभावेन यथोदितस्निग्धरूक्षत्वस्पर्शविशेषासंभावनया चैकाङ्गविकलत्वात् ॥ ८१ ॥

अथैवममूर्तस्याप्यात्मनो बन्धो भवतीति सिद्धान्तयति—

रूवादिएहिं रहिदो पेच्छदि जाणादि रूवमादीणि ।
दव्वाणि गुणे य जधा तह बंधो तेण जाणीहि ॥ ८२ ॥

रूपादिकै रहितः पश्यति जानाति रूपादीनि ।
द्रव्याणि गुणांश्च यथा तथा बन्धस्तेन जानीहि ॥ ८२ ॥

येन प्रकारेण रूपादिरहितो रूपीणि द्रव्याणि तद्गुणांश्च पश्यति जानाति च, तेनैव प्रकारेण

तत्र दोषो नास्ति । कैः कृत्वा । **फासेहिं अण्णमण्णेहिं** स्निग्धरूक्षगुणलक्षणस्पर्शसंयोगैः । किंविशिष्टैः । अन्योन्यैः परस्परनिमित्तैः । **तव्विवरीदो अप्पा बज्झदि किध पोग्गलं कम्मं** तद्विपरीतात्मा बध्नाति कथं पौद्गलं कर्मेति । अयं परमात्मा निर्विकारपरमचैतन्यचमत्कारपरिणतत्वेन बन्धकारणभूतस्निग्धरूक्षगुणस्थानीयद्वेषादिविभावपरिणामरहितत्वादमूर्तत्वाच्च पौद्गलकर्म कथं बध्नाति न कथमपीति पूर्वपक्षः ॥ ८१ ॥ अथैवममूर्तस्याप्यात्मनो नयविभागेन बन्धो भवतीति प्रत्युत्तरं ददाति—**रूवादिएहिं रहिदो** अमूर्तपरमचिज्ज्योतिःपरिणतत्वेन तावदयमात्मा रूपादिरहितः । तथाविधः सन् किं करोति । **पेच्छदि जाणादि** मुक्तावस्थायां युगपत्परिच्छित्तिरूपसामान्यविशेषग्राहककेवलदर्शनज्ञानोपयोगेन यद्यपि तादात्म्यसंबन्धो नास्ति तथापि ग्राह्यग्राहकलक्षणसंबन्धेन पश्यति जानाति । कानि कर्मतापन्नानि । **रूवमादीणि दव्वाणि** रूप-

---

[**आत्मा**] जीवद्रव्य [**पौद्गलिकं कर्म**] पुद्गलीक-कर्मवर्गणाओंको [**कथं**] कैसे [**बध्नाति**] बाँध सकता है ? **भावार्थ—**पुद्गलद्रव्य मूर्तीक है, वह अपने स्निग्ध रूक्ष गुणकर आपसमें बँधता है। आत्मा तो अमूर्तीक है, स्निग्ध, रूक्ष गुणसे रहित है, वह कर्मवर्गणासे किस तरह बँध सकता है ? यह बड़ा संशय है, कि एक तरफ तो स्निग्ध, रूक्ष गुण सहित कर्मवर्गणा और दूसरी तरफ स्निग्ध, रूक्ष गुण रहित आत्मा ये दोनों आपसमें किस तरह बंधको प्राप्त हो सकते है ? ऐसा शिष्यका प्रश्न है ॥ ८१ ॥ आगे अमूर्त आत्माके भी बंध होता है, ऐसा उत्तर दृष्टान्त द्वारा कहते है।—[**रूपादिकैः रहितः**] रूपादिसे रहित यह आत्मा [**यथा**] जैसे [**रूपादीनि द्रव्याणि**] रूपादिगुणोंवाले घट पटादिस्वरूप अनेक पुद्गलद्रव्योंको [**च**] और [**गुणान्**] उन द्रव्योंके रूपादिगुणोंको [**जानाति**] जानता है, [**पश्यति**] देखता है, [**तथा**] उसी प्रकार [**तेन**] पुद्गलद्रव्यके साथ [**बन्धं**] आत्माका बंध [**जानीहि**] जानो। **भावार्थ—**आत्मा अमूर्तीक है, परंतु मूर्तीकद्रव्यका देखने जाननेवाला है। देखना जानना इसका स्वभाव है, उस देखने जाननेसे ही मूर्तीकद्रव्यसे बंध होता है, जो देखता जानता न होता, तो बंध होता। जब देखता जानता है, तभी बंध है। यही बात दृष्टान्तसे दिखलाते हैं—जैसे

रूपादिरहितो रूपिभिः कर्मपुद्गलैः किल बध्यते। अन्यथा कथममूर्तो मूर्तं पश्यति जानाति चेत्यत्रापि पर्यनुयोगस्यानिवार्यत्वात्। न चैतदत्यन्तदुर्घटत्वाद्दार्ष्टान्तिकीकृतं, किंतु दृष्टान्तद्वारेणाबालगोपालप्रकटितम्। तथाहि—यथा बालकस्य गोपालकस्य वा पृथगवस्थितं मृद्बलीवर्दं बलीवर्दं वा पश्यतो जानतश्च न बलीवर्देन सहास्ति संबन्धः, विषयभावावस्थितबलीवर्दनिमित्तोपयोगाधिरूढबलीवर्दाकारदर्शनज्ञानसंबन्धो बलीवर्दसंबन्धव्यवहारसाधकस्त्वस्त्येव, तथा किलात्मनो नीरूपत्वेन स्पर्शशून्यत्वान्न कर्मपुद्गलैः सहास्ति संबन्धः, एकावगाहभावावस्थितकर्मपुद्गलनिमित्तोपयोगाधिरूढरागद्वेषादिभावसंबन्धः कर्मपुद्गलबन्धव्यवहारसाधकस्त्वस्त्येव ॥ ८२ ॥

रसगन्धस्पर्शसहितानि मूर्तद्रव्याणि। न केवलं द्रव्याणि **गुणे य जधा** तद्गुणांश्च यथा। अथवा यः कश्चित्संसारी जीवो विशेषभेदज्ञानरहितः सन् काष्ठपाषाणाद्यचेतनजिनप्रतिमां दृष्ट्वा मदीयाराध्योऽयमिति मन्यते। यद्यपि तत्र सत्तावलोकदर्शनेन सह प्रतिमायास्तादात्म्यसंबन्धो नास्ति तथापि परिच्छेद्यपरिच्छेदकलक्षणसंबन्धोऽस्ति। यथा वा समवसरणे प्रत्यक्षजिनेश्वरं दृष्ट्वा विशेषभेदज्ञानी मन्यते मदीयाराध्योऽयमिति। तत्रापि यद्यप्यवलोकनज्ञानस्य जिनेश्वरेण सह तादात्म्यसंबन्धो नास्ति तथाप्याराध्याराधकसंबन्धोऽस्ति। **तह बंधो तेण जाणीहि** तथा बन्धं तेनैव दृष्टान्तेन जानीहि। अयमत्रार्थः—यद्यप्ययमात्मा निश्चयेनामूर्तस्तथाप्यनादिकर्मबन्धवशाद्व्यवहारेण मूर्तः सन् द्रव्यबन्धनिमित्तभूतं रागादिविकल्परूपं भावबन्धोपयोगं करोति। तस्मिन्सति मूर्तद्रव्यकर्मणा सह यद्यपि तादात्म्यसंबन्धो नास्ति तथापि पूर्वोक्तदृष्टान्तेन संश्लेषसंबधोऽस्तीति नास्ति दोषः ॥ ८२ ॥ एवं शुद्धबुद्धैकस्वभावजीवकथनमुख्यत्वेन प्रथमगाथा। मूर्तिरहित-

एक बालक मिट्टीके वलय (कंकण) को अपना समझकर देखता है, जानता है, मानता है, परन्तु वह वलय उस बालकसे जुदा है, कुछ संबंध नहीं है, तो भी जो उस कंकणको कोई तोड़ डाले, फोड़ डाले, अथवा लेजावे, तो वह बालक अति दुःखी होता है, और इसी तरह ग्वालिया सच्चे कंकणको अपना समझ कर देखता है, जानता है, मानता है, सच्चा वलय भी उस ग्वालियेसे जुदा है—उस वलयसे कुछ संबंध नहीं है, तो भी उस सच्चे वलयको जो कोई तोड़ डाले, अथवा लेजावे, तो ग्वालिया भी अति दुःखी होता है। इस जगह विचारना चाहिये, कि माटीका वलय और सच्चा वलय दोनों बाल गोपालसे जुदे हैं, उनके जानेसे-टूटने फूटनेसे बालक और ग्वालिया क्यों दुःखी होते हैं। इससे यह बात विचारमें आती है, कि वे बाल गोपाल उन वलयोंको अपना मानकर देखते हैं, जानते हैं। इस कारण अपने परिणामोंसे बँध रहे हैं, उनका ज्ञान वलयके निमित्तसे तदाकार परिणत हो रहा है। इसलिये परस्वरूप वलयोंसे संबंधका व्यवहार आजाता है। उसी प्रकार इस आत्माका पुद्गलसे कुछ संबंध नहीं है, परंतु अनादिकालसे लेकर एक क्षेत्रावगाहकर ठहरे हुए जो पुद्गल है, उनका निमित्त पाकर उत्पन्न हुआ जो राग, द्वेष, मोहरूप अशुद्धोपयोग वही भावबंध है, उसीसे आत्मा बँधा हुआ है, पुद्गलीक कर्मबंध व्यवहारमात्र है। इससे यह बात सिद्ध हुई, कि जो यह आत्मा परद्रव्यको रागी, द्वेषी, मोही, होकर देखता है, जानता है, वही अशुद्धोपयोगरूप परिणाम बंधका कारण है, और अपने ही अशुद्धपरिणामसे बंध है

अथ भावबन्धस्वरूपं ज्ञापयति—

उवओगमओ जीवो मुज्झदि रज्जेदि वा पदुस्सेदि ।
पप्पा विविधे विसये जो हि पुणो तेहिं संबंधो ॥ ८३ ॥
उपयोगमयो जीवो मुह्यति रज्यति वा प्रद्वेष्टि ।
प्राप्य विविधान् विषयान् यो हि पुनस्तैः संबन्धः ॥ ८३ ॥

अयमात्मा सर्व एव तावत्सविकल्पनिर्विकल्पपरिच्छेदात्मकत्वादुपयोगमयः । तत्र यो हि नाम नानाकारान् परिच्छेद्यानर्थानासाद्य मोहं वा रागं वा द्वेषं वा समुपैति स नाम तैः परप्रत्ययैरपि मोहरागद्वेषैरुपरक्तात्मस्वभावत्वान्नीलपीतरक्तोपाश्रयप्रत्ययनीलपीतरक्तत्वैरुपरक्तस्वभावः स्फटिकमणिरिव स्वयमेक एव तद्भावद्वितीयत्वाद् बन्धो भवति ॥ ८३ ॥

अथ भावबन्धयुक्तिं द्रव्यबन्धस्वरूपं च प्रज्ञापयति—

जीवस्य मूर्तकर्मणा सह कथं बन्धो भवतीति पूर्वपक्षरूपेण द्वितीया तत्परिहाररूपेण तृतीया चेति गाथात्रयेण प्रथमस्थलं गतम् । अथ रागद्वेषमोहलक्षणं भावबन्धस्वरूपमाख्याति—**उवओगमओ जीवो** उपयोगमयो जीवः, अयं जीवो निश्चयनयेन विशुद्धज्ञानदर्शनोपयोगमयस्तावत्तथाभूतोऽप्यनादिबन्धवशात्सोपाधिस्फटिकवत् परोपाधिभावेन परिणतः सन् । किं करोति । **मुज्झदि रज्जेदि वा पदुस्सेदि** मुह्यति रज्यति वा प्रद्वेष्टि द्वेषं करोति । किं कृत्वा । पूर्वं **पप्पा** प्राप्य । कान् । **विविधे विसये** निर्विषयपरमात्मस्वरूपभावनाविपक्षभूतान्विविधपञ्चेन्द्रियविषयान् । **जो हि पुणो** यः पुनरित्थंभूतोऽस्ति जीवो हि स्फुटं, **तेहि संबंधो** तैः संबद्धो भवति तैः पूर्वोक्तरागद्वेषमोहैः कर्तृभूतैर्मोहरागद्वेषरहितजीवस्य शुद्धपरिणामलक्षणं परमधर्ममलभमानः सन् स जीवो बद्धो भवतीति । अत्र योऽसौ रागद्वेषमोहपरिणामः स एव भावबन्ध इत्यर्थः ॥ ८३ ॥ अथ भावबन्धयुक्तिं द्रव्यबन्धस्वरूपं च प्रतिपादयति—**भावेण जेण** भावेन परिणामेन येन **जीवो** जीवः

॥ ८२ ॥ आगे भावबंधका स्वरूप दिखलाते हैं—[**यः**] जो [**उपयोगमयः**] ज्ञान दर्शनमयी [**जीवः**] आत्मा [**विविधान्**] अनेक तरहके [**विषयान्**] इष्ट अनिष्ट विषयोंको [**प्राप्य**] पाकर [**मुह्यति**] मोही होता है, [**वा**] अथवा [**रज्यति**] रागी होता है, अथवा [**प्रद्वेष्टि**] द्वेषी होता है, [**सः**] वह [**पुनः**] फिर [**तैः**] उन राग, द्वेष, मोह भावोंसे [**बद्धः**] बंधा हुआ है । **भावार्थ**—यह संसारी जीव इंद्रियोंके विषयोंमें उपयोगी होता हुआ राग, द्वेष, मोहभावको प्राप्त होता है । वे राग, द्वेष, मोहभाव परके निमित्तसे होते हैं । यद्यपि यह आत्मा एकभावस्वरूप है, परंतु राग, द्वेष, मोहभावके परिणमनसे द्वैतभावरूप हुआ है, इससे बंध है । जैसे स्फटिकमणि स्वभावसे एक श्वेतभावरूप है, परंतु नील पीत रक्तवस्तुके संबंधसे नील पीत रक्तरूप दूसरे परिणामको प्राप्त होता है, तदाकार संबंधको धारण करता है, उसी प्रकार यह आत्मा परसंयोगसे राग, द्वेष, मोहभावरूप भावबंधसे बँधता है ॥ ८३ ॥ आगे भावबंधके अनुसार द्रव्यबंधका स्वरूप दिखलाते हैं—[**जीवः**] आत्मा [**येन भावेन**] जिस राग, द्वेष, मोहभावकर [**विषये**] इंद्रियोंके विषयमें [**आगतं**] आये हुए इष्ट

भावेण जेण जीवो पेच्छदि जाणादि आगदं विसये ।
रज्जदि तेणेव पुणो बज्झदि कम्म त्ति उवदेसो ॥ ८४ ॥
भावेन येन जीवः पश्यति जानात्यागतं विषये ।
रज्यति तेनैव पुनर्बध्यते कर्मेत्युपदेशः ॥ ८४ ॥

अयमात्मा साकारनिराकारपरिच्छेदात्मकत्वात्परिच्छेद्यतामापद्यमानमर्थजातं येनैव मोहरूपेण रागरूपेण द्वेषरूपेण वा भावेन पश्यति जानाति च तेनैवोपरज्यत एव । योऽयमुपरागः स खलु स्निग्धरूक्षत्वस्थानीयो भावबन्धः । अथ पुनस्तेनैव पौद्गलिकं कर्म बध्यत एव, इत्येष भावबन्धप्रत्ययो द्रव्यबन्धः ॥ ८४ ॥

अथ पुद्गलजीवतदुभयबन्धस्वरूपं ज्ञापयति—

फासेहिं पुग्गलाणं बंधो जीवस्स रागमादीहिं ।
अण्णोण्णस्सवगाहो पुग्गलजीवप्पगो भणिदो ॥ ८५ ॥

कर्ता **पेच्छदि जाणादि** निर्विकल्पदर्शनपरिणामेन पश्यति सविकल्पज्ञानपरिणामेन जानाति । किं कर्मतापन्नं, **आगदं विसये** आगतं प्राप्तं किमपीष्टानिष्टं वस्तु पञ्चेन्द्रियविषये **रज्जदि तेणेव पुणो** रज्यते तेनैव पुनः आदिमध्यान्तवर्जितं रागादिदोषरहितं चिज्ज्योतिःस्वरूपं निजात्मद्रव्यमरोचमानस्तथैवाजानन्सन् समस्तरागादिविकल्पपरिहारेण भावयंश्च तेनैव पूर्वोक्तज्ञानदर्शनोपयोगेन रज्यते रागं करोति इति भावबन्धयुक्तिः । **बज्झदि कम्म त्ति उवदेसो** तेन भावबन्धेन नवतरद्रव्यकर्म बध्नातीति द्रव्यबन्धस्वरूपं चेत्युपदेशः ॥८४॥ एवं भावबन्धकथनमुख्यतया गाथाद्वयेन द्वितीयस्थलं गतम् । अथ पूर्वनवतरपुद्गलद्रव्यकर्मणो परस्परबन्धो जीवस्य तु रागादिभावेन सह बन्धो जीवस्यैव नवतरद्रव्यकर्मणा सह चेति त्रिविधबन्धस्वरूपं प्रज्ञापयति— **फासेहि पुग्गलाणं बंधो** स्पर्शैः पुद्गलानां बन्धः पूर्वनवतरपुद्गलद्रव्यकर्मणोर्जीवगतरागादिभावनिमित्तेन

अनिष्ट पदार्थको **[पश्यति]** देखता है, **[जानाति]** जानता है, **[तेन एव]** और उसी राग, द्वेष, मोहरूप परिणामकर **[रज्यते]** तदाकार हो लीन होजाता है, **[पुनः]** फिर **[तेनैव]** उसी भावबंधके निमित्तसे **[कर्म]** ज्ञानावरणादि आठ प्रकार द्रव्यकर्म **[बध्यते]** बँधते हैं, **[इति उपदेशः]** यह भगवन्तका उपदेश है । **भावार्थ**—यह आत्मा ज्ञान दर्शन स्वभाव सहित है । जब यह राग, द्वेष, मोहभावोंसे ज्ञेयपदार्थको देखता है, जानता है, तब इसके चिद्विकाररूप राग, द्वेष, मोह परिणाम होते हैं । उन अशुद्धोपयोगरूप परिणामोंका जो होना वही भावबंध है । इसी भावकर्मके अनुसार द्रव्यकर्म बँधते हैं, ऐसा जिनेन्द्रदेवका उपदेश मनमें धारण करने योग्य है ॥ ८४ ॥ आगे पुद्गलकर्मका बंध पुद्गलकर्मोंसे होता है, जीवका बंध अशुद्धरागादि भावोंसे होता है, और आत्मा पुद्गल इन दोनोंका भी बंध आपसमें होता है, ऐसा तीन तरहका बंध दिखलाते हैं—**[स्पर्शैः]** यथायोग्य स्निग्ध, रूक्ष, स्पर्श, गुणोंसे **[पुद्गलानां]** पुद्गलकर्मवर्गणाओंका आपसमें **[बन्धः]** मिलकर एकपिंडरूप बंध होता है, **[रागादिभिः]** पर उपाधिसे उत्पन्न चिद्विकाररूप राग, द्वेष, मोह, परिणामोंसे **[जीवस्य]** आत्माका

स्पर्शैः पुद्गलानां बन्धो जीवस्य रागादिभिः ।
अन्योन्यस्यावगाहः पुद्गलजीवात्मको भणितः ॥ ८५ ॥

यस्तावदत्र कर्मणां स्निग्धरूक्षत्वस्पर्शविशेषैरेकत्वपरिणामः स केवलपुद्गलबन्धः । यस्तु जीवस्यौपाधिकमोहरागद्वेषपर्यायैरेकत्वपरिणामः स केवलजीवबन्धः । यः पुनः जीवकर्मपुद्गलयोः परस्परपरिणामनिमित्तमात्रत्वेन विशिष्टतरः परस्परमवगाहः स तदुभयबन्धः ॥ ८५ ॥

अथ द्रव्यबन्धस्य भावबन्धहेतुकत्वमुज्जीवयति—

सपदेसो सो अप्पा तेसु पदेसेसु पुग्गला काया ।
पविसंति जहाजोग्गं चिट्ठंति हि जंति बज्झंति ॥ ८६ ॥
सप्रदेशः स आत्मा तेषु प्रदेशेषु पुद्गलाः कायाः ।
प्रविशन्ति यथायोग्यं तिष्ठन्ति हि यान्ति बध्यन्ते ॥ ८६ ॥

अयमात्मा लोककाशतुल्यासंख्येयप्रदेशत्वात्सप्रदेशः । अथ तेषु तस्य प्रदेशेषु कायवाङ्म-

---

स्वकीयस्निग्धरूक्षोपादानकारणेन च परस्परस्पर्शसंयोगेन योऽसौ बन्धः स पुद्गलबन्धः । **जीवस्स रागमादीहिं** जीवस्य रागादिभिर्निरुपरागपरमचैतन्यरूपनिजात्मतत्त्वभावनाच्युतस्य जीवस्य यद्रागादिभिः सह परिणमनं स जीवबन्ध इति । **अण्णोण्णस्सवगाहो पुग्गलजीवप्पगो भणिदो** अन्योन्यस्यावगाहः पुद्गलजीवात्मको भणितः । निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानरहितत्वेन स्निग्धरूक्षस्थानीयरागद्वेषपरिणतजीवस्य बन्धयोग्यस्निग्धरूक्षपरिणामपरिणतपुद्गलस्य च योऽसौ परस्परावगाहलक्षणः स इत्थंभूतबन्धो जीवपुद्गलबन्ध इति त्रिविधबन्धलक्षणं ज्ञातव्यम् ॥ ८५ ॥ अथ बन्धो 'जीवस्स रागमादीहिं' पूर्वसूत्रे यदुक्तं तदेव रागत्वं द्रव्यबन्धस्य कारणमिति विशेषेण समर्थयति—**सपदेसो सो अप्पा** स प्रसिद्धात्मा लोकाकाशप्रमितासंख्येयप्रदेशत्वात्तावत्सप्रदेशः । **तेसु पदेसेसु पुग्गला काया** तेषु प्रदेशेषु कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलकायाः कर्तारः **पविसंति** प्रविशन्ति । कथम् । **जहाजोग्गं** मनोवचनकायवर्गणालम्बनवीर्यान्तरायक्षयोपशम-

---

बंध होता है, [**अन्योन्यं**] परस्परमें परिणामोंका निमित्त पाकर [**अवगाहः**] एक क्षेत्रमें जीवकर्मका बंध होना [**पुद्गलजीवात्मकः**] वह पुद्गलकर्म और जीव इन दोनोंका बंध [**भणितः**] कहा गया है ॥ **भावार्थ—**जब जीवके नवीन कर्मबंध होता है, तब वह तीन जातिका होता है । जो जीवके प्रदेशोंमें पूर्वबद्ध वर्गणा हैं, उनसे तो नूतन कर्मवर्गणा स्निग्ध रूक्ष भावकर बँधती है, और जो जीवके रागादि अशुद्धोपयोग होता है, उससे जीवबंध होता है, तथा जीव और पुद्गलके परिणमनसे निमित्त नैमित्तिकभावकर जो दोनोंका एकक्षेत्रावगाह है, वह आपसमें जीवपुद्गलका बंध होता है, इस प्रकार तीन जातिका बंध जानना चाहिये ॥ ८५ ॥ आगे द्रव्यबंधका कारण भावबंध है, ऐसा दिखलाते हैं— [**सः**] सो [**आत्मा**] यह आत्मा [**सप्रदेशः**] लोकप्रमाण असंख्यात प्रदेशी है, [**तेषु प्रदेशेषु**] उन असंख्यातप्रदेशोंमें [**पुद्गलाः कायाः**] पुद्गलकर्मवर्गणापिंड [**यथायोग्यं**] मन, वचन, कायवर्गणाओंकी सहायतासे जो आत्माके प्रदेशोंका कंपरूप योगका परिणमन है, उसीके अनुसार [**प्रविशन्ति**]

नोवर्गणालम्बनः परिस्पन्दो यथा भवति तथा कर्मपुद्गलकायाः स्वयमेव परिस्पन्दवन्तः प्रविशन्त्यपि तिष्ठन्त्यपि [गच्छन्त्यपि] च । अस्ति चेज्जीवस्य मोहरागद्वेषरूपो भावो बध्यन्तेऽपि च । ततोऽवधार्यते द्रव्यबन्धस्य भावबन्धो हेतुः ॥ ८६ ॥

अथ द्रव्यबन्धहेतुत्वेन रागपरिणाममात्रस्य भावबन्धस्य निश्चयबन्धत्वं साधयति—

रत्तो बंधदि कम्मं मुच्चदि कम्मेहिं रागरहिदप्पा ।
एसो बंधसमासो जीवाणं जाण णिच्छयदो ॥ ८७ ॥

रक्तो बध्नाति कर्म मुच्यते कर्मभी रागरहितात्मा ।
एष बन्धसमासो जीवानां जानीहि निश्चयतः ॥ ८७ ॥

यतो रागपरिणत एवाभिनवेन द्रव्यकर्मणा बध्यते न वैराग्यपरिणतः, अभिनवेन द्रव्यकर्मणा रागपरिणतो न मुच्यते वैराग्यपरिणत एव, संस्पृश्यतैवाभिनवेन द्रव्यकर्मणा चिरसंचि-

---

जनितात्मप्रदेशपरिस्पन्दलक्षणयोगानुसारेण यथायोग्यम् । न केवलं प्रविशन्ति **चिट्ठंति** हि प्रवेशानन्तरं स्वकीयस्थितिकालपर्यन्तं तिष्ठन्ति हि स्फुटम् । न केवलं तिष्ठन्ति **जंति** स्वकीयोदयकालं प्राप्य फलं दत्त्वा गच्छन्ति, **बज्झंति** केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयव्यक्तिरूपमोक्षप्रतिपक्षभूतबन्धस्य कारणं रागादिकं लब्ध्वा पुनरपि द्रव्यबन्धरूपेण बध्यन्ते च । अत एतदायातं रागादिपरिणाम एव द्रव्यबन्धकारणमिति । अथवा द्वितीयव्याख्यानम्—प्रविशन्ति प्रदेशबन्धास्तिष्ठन्ति स्थितिबन्धाः फलं दत्त्वा गच्छन्त्यनुभागबन्धा बध्यन्ते प्रकृतिबन्धा इति ॥ ८६ ॥ एवं त्रिविधबन्धमुख्यतया सूत्रद्वयेन तृतीयस्थलं गतम् । अथ द्रव्यबन्धकारणत्वान्निश्चयेन रागादिविकल्परूपो भावबन्ध एव बन्ध इति प्रज्ञापयति—**रत्तो बंधदि कम्मं** रक्तो बध्नाति कर्म । रक्त एव कर्म बध्नाति न च वैराग्यपरिणतः **मुंचदि कम्मेहिं रागरहिदप्पा** मुच्यते कर्मभ्यां राग-

---

जीवके प्रदेशोंमें आके प्रवेश करते हैं, [**च**] और [**बध्यन्ते**] परस्परमें एक क्षेत्रावगाहकर बँधते हैं, तथा वे कर्मवर्गणापिंड [**तिष्ठन्ति**] राग, द्वेष, मोह, भावके अनुसार अपनी स्थिति लेकर ठहरते हैं, उसके बाद [**यान्ति**] अपना फल देकर क्षय होजाते है । **भावार्थ**—जो पहले तो जीवके रागादि अशुद्धोपयोगरूप भावबंध होता है; उसके बाद द्रव्यबंध होता है । इस कारण द्रव्यबंधका कारण भावबंध जानना । प्रकृति और प्रदेशबंध योगपरिणामसे होते हैं, स्थिति और अनुभागबंध राग द्वेषरूप कषाय परिणामसे होते है ॥ ८६ ॥ आगे द्रव्यबंधका कारण रागादि भाव है, इसलिये रागादि भावको ही निश्चयबंध दिखलाते है—[**रक्तः**] जो जीव परद्रव्यमें रागी है, वही [**कर्म**] ज्ञानावरणादि कर्मोंको [**बध्नाति**] बाँधता है, [**रागरहितात्मा**] और जो रागभावकर रहित है, वह [**कर्मभिः**] सब कर्मकलंकोंसे [**मुच्यते**] मुक्त होता है । [**निश्चयतः**] निश्चयनयकर [**जीवानां**] संसारी आत्माओंके [**एषः**] यह रागादि विभावरूप अशुद्धोपयोग ही भावबंध है, ऐसा [**बन्धसमासः**] बंधका संक्षेप कथन [**जानीहि**] हे शिष्य, तू समझ । **भावार्थ**—जो जीव रागभावकर परिणमता है, वही नवीन द्रव्य कर्मकर बँधता है, और जो जीव वैराग्यस्वरूप परिणमन करता है, वह कर्मोंसे नहीं बँधता । रागपरिणत

तेन पुराणेन च न मुच्यते रागपरिणतः, मुच्यत एव संस्पृश्यतैवाभिनवेन द्रव्यकर्मणा चिरसंचितेन पुराणेन च वैराग्यपरिणतो न बध्यते । ततोऽवधार्यते द्रव्यबन्धस्य साधकतमत्वाद्रागपरिणाम एव निश्चयेन बन्धः ॥ ८७ ॥

अथ परिणामस्य द्रव्यबन्धसाधकतमरागविशिष्टत्वं सविशेषं प्रकटयति—

परिणामादो बंधो परिणामो रागदोसमोहजुदो ।
असुहो मोहपदोसो सुहो व असुहो हवदि रागो ॥ ८८ ॥

परिणामाद् बन्धः परिणामो रागद्वेषमोहयुतः ।
अशुभौ मोहप्रद्वेषौ शुभो वाशुभो भवति रागः ॥ ८८ ॥

द्रव्यबन्धोऽस्ति तावद्विशिष्टपरिणामात् । विशिष्टत्वं तु परिणामस्य रागद्वेषमोहमयत्वेन । तत्र शुभाशुभत्वेन द्वैतानुवर्ति । तत्र मोहद्वेषमयत्वेनाशुभत्वं, रागमयत्वेन तु शुभत्वं चाशुभत्वं च ।

रहितात्मा मुच्यत एव शुभाशुभकर्मभ्यां रागरहितात्मा न च बध्यते **एसो बंधसमासो** एव प्रत्यक्षीभूतो बन्धसंक्षेपः । **जीवाणं** जीवानां संबन्धी **जाण णिच्छयदो** जानीहि त्वं हे शिष्य, निश्चयतो निश्चयनयाभिप्रायेणेति । एवं रागपरिणाम एव बन्धकारणं ज्ञात्वा समस्तरागादिविकल्पजालत्यागेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजात्मतत्त्वे निरन्तरं भावना कर्तव्येति ॥ ८७ ॥ अथ जीवपरिणामस्य द्रव्यबन्धसाधकं रागाद्युपाधिजनितभेदं दर्शयति—**परिणामादो बंधो** परिणामात्सकाशाद्बन्धो भवति । स च परिणामः किंविशिष्टः । **परिणामो रागदोसमोहजुदो** वीतरागपरमात्मनो विलक्षणत्वेन परिणामो रागद्वेषमोहोपाधित्रयेण संयुक्तः **असुहो मोहपदोसो** अशुभौ मोहप्रद्वेषौ परोपाधिजनितपरिणामत्रयमध्ये मोहप्रद्वेषद्वयमशुभम् । **सुहो व असुहो हवदि रागो** शुभोऽशुभो वा भवति रागः । पञ्चपरमेष्ठ्यादिभक्तिरूपः शुभराग उच्यते, विषयकषायरूपश्चाशुभ इति । अयं परिणामः सर्वोऽपि सोपाधित्वात् बन्धहेतुरिति ज्ञात्वा बन्धे शुभाशुभ-

---

जीव नूतनकर्मसे छूटता ही नहीं, और वैराग्यपरिणतिवाला नवीनकर्मोंसे छूट जाता है, तथा पुराने कर्मोंसे छूटता है । रागपरिणतिवाला जीव नवीन कर्मोंसे भी बँधता है, और पुराने कर्मोंसे भी पहलेका बँधा हुआ है । वैराग्यसे परिणत जीव बंध अवस्थाके होनेपर भी अबंध हो गया है । इससे यह बात सिद्ध हुई, कि द्रव्यबंधका कारण रागादि अशुद्धोपयोग है, वही निश्चयबंध है, द्रव्य उपचारमात्र है ॥ ८७ ॥ आगे द्रव्यबंधका कारण जो परिणाम है, उसमें रागकी विशेषता दिखलाते हैं—[**परिणामात्**] अशुद्धोपयोगरूप परिणामसे [**बन्धः**] पुद्गलकर्मवर्गणारूप द्रव्यबंध होता है, [**परिणामः**] और वह परिणाम [**रागद्वेषमोहयुतः**] राग, द्वेष, मोह, भावोंकर सहित है । वह परिणाम शुभ और अशुभके भेदसे दो तरहका है, उनमेंसे [**मोहप्रद्वेषौ**] मोहभाव और द्वेषभाव ये दोनों [**अशुभौ**] अशुभ हैं, और [**रागः**] रागभाव [**शुभः**] पंचपरमेष्ठीकी भक्ति आदि स्वरूप शुभ है, [**वा**] और [**अशुभः**] विषयरतिरूप अशुभ भी है । **भावार्थ**—जो परिणाम राग, द्वेष, मोहकी विशेषता लिये हुए हो, वही परिणाम बंधका कारण है । मोहसामान्य राग, द्वेष, मोहके भेदसे तीन प्रकारका है, उनमेंसे द्वेष, मोह

विशुद्धिसंक्लेशाङ्गत्वेन रागस्य द्वैविध्यात् भवति ॥ ८८ ॥

अथ विशिष्टपरिणामविशेषमविशिष्टपरिणामं च कारणे कार्यमुपचर्य कार्यत्वेन निर्दिशति—

• सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पाव त्ति भणियमण्णेसु ।
परिणामो णण्णगदो दुक्खक्खयकारणं समये ॥ ८९ ॥
शुभपरिणामः पुण्यमशुभः पापमिति भणितमन्येषु ।
परिणामोऽनन्यगतो दुःखक्षयकारणं समये ॥ ८९ ॥

द्विविधस्तावत्परिणामः परद्रव्यप्रवृत्तः स्वद्रव्यप्रवृत्तश्च । तत्र परद्रव्यप्रवृत्तः परोपरक्तत्वाद्विशिष्टपरिणामः, स्वद्रव्यप्रवृत्तस्तु परानुपरक्तत्वादविशिष्टपरिणामः । तत्रोक्तौ द्वौ विशिष्टपरि-

---

समस्तरागद्वेषविनाशार्थं समस्तरागाद्युपाधिरहिते सहजानन्दैकलक्षणसुखामृतस्वभावे निजात्मद्रव्ये भावना कर्तव्येति तात्पर्यम् ॥ ८८ ॥ अथ द्रव्यरूपपुण्यपापबन्धकारणत्वाच्छुभाशुभपरिणामयोः पुण्यपापसंज्ञां शुभाशुभरहितशुद्धोपयोगपरिणामस्य मोक्षकारणत्वं च कथयति —**सुहपरिणामो पुण्णं** द्रव्यपुण्यबन्धकारणत्वाच्छुभपरिणामः पुण्यं भण्यते **असुहो पाव त्ति भणियं** द्रव्यपापबन्धकारणत्वादशुभपरिणामः पापं भण्यते । केषु विषयेषु योऽसौ शुभाशुभपरिणामः । **अण्णेसु** निजशुद्धात्मनः सकाशादन्येषु शुभाशुभबहिर्द्रव्येषु **परिणामो णण्णगदो** परिणामो नान्यगतोऽनन्यगतः स्वस्वरूपस्थ इत्यर्थः । स इत्थंभूतः शुद्धोपयोगलक्षणः परिणामः **दुक्खक्खयकारणं** दुःखक्षयकारणं दुःखक्षयाभिधानमोक्षस्य कारणं **भणिदो** भणितः । क भणितः । **समये** परमागमे लब्धिकाले वा । किं च । मिथ्यादृष्टिसासादनमिश्रगुणस्थानत्रये तारतम्येनाशुभपरिणामो भवतीति पूर्वं भणितमस्ति. अविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतसंज्ञगुणस्थानत्रये तारतम्येन शुभपरिणामश्च भणितः, अप्रमत्तादिक्षीणकषायान्तगुणस्थानेषु तारतम्येन शुद्धोपयोगोऽपि भणितः । नयविवक्षायां मिथ्यादृष्ट्यादिक्षीणकषायान्तगुणस्थानेषु पुनरशुद्धनिश्चयनयो भवत्येव । तत्राशुद्धनिश्चयमध्ये शुद्धोपयोगः कथं लभ्यत इति शिष्येण पूर्वपक्षे कृते सति प्रत्युत्तरं ददाति -वस्त्वेकदेशपरीक्षा तावन्नयलक्षणं शुभाशुभशुद्धद्रव्यालम्बनमुपयोगलक्षणं चेति तेन कारणेनाशुद्धनिश्चयमध्येऽपि शुद्धात्मावलम्बनत्वात् शुद्ध-

---

तो अशुभ भाव ही है, और राग शुभ अशुभके भेदसे दो प्रकारका है । धर्मानुराग शुभ है, और विषयराग अशुभ भाव है । इस प्रकार ये शुभाशुभ दो तरहके परिणाम बंधके ही कारण है ॥ ८८ ॥ आगे बंधके कारणविशेष जो शुभाशुभपरिणाम हैं, उनको तथा मोक्षका कारण शुद्ध परिणामको कारणमें कार्यका उपचार करके कार्यरूपमें दिखलाते है—[**अन्येषु**] अपनी आत्मसत्तासे भिन्नरूप पंचपरमेष्ठी आदिकोंमें [**यः**] जो [**शुभपरिणामः**] भक्ति आदि प्रशस्तरागरूप परिणाम है, वह [**पुण्यं**] पुण्य है, और जो [**अशुभः**] परद्रव्यमें ममत्व विषयानुराग अप्रशस्त (खोटा) राग परिणाम है, वह [**पापं**] पाप है, [**अनन्यगतः परिणामः**] जो अन्यद्रव्यमें नहीं प्रवर्ते, ऐसा वीतराग शुद्धोपयोगरूप भाव है, वह [**दुःखक्षयकारणं**] दुःखके नाशका कारणरूप मोक्षस्वरूप है, [**इति**] ऐसा [**समये**] परमागममें [**भणितं**] कहा है । **भावार्थ**—परिणाम दो प्रकारका है, एक तो परद्रव्यमें प्रवर्तता

णामस्य विशेषौ, शुभपरिणामोऽशुभपरिणामश्च । तत्र पुण्यपुद्गलबन्धकारणत्वात् शुभपरिणामः पुण्यं, पापपुद्गलबन्धकारणत्वादशुभपरिणामः पापम् । अविशिष्टपरिणामस्य तु शुद्धत्वेनैकत्वान्नास्ति विशेषः । स काले संसारदुःखहेतुकर्मपुद्गलक्षयकारणत्वात्संसारदुःखहेतुकर्मपुद्गलक्षयात्मको मोक्ष एव ॥ ८९ ॥

अथ जीवस्य स्वपरद्रव्यप्रवृत्तिनिवृत्तिसिद्धये स्वपरविभागं दर्शयति—

भणिदा पुढविप्पमुहा जीवणिकायाध थावरा य तसा ।
अण्णा ते जीवादो जीवो वि य तेहिंदो अण्णो ॥ ९० ॥

ध्येयत्वात् शुद्धसाधकत्वाच्च शुद्धोपयोगपरिणामो लभ्यत इति नयलक्षणमुपयोगलक्षणं च यथासंभवं सर्वत्र ज्ञातव्यम् । अत्र योऽसौ रागादिविकल्पोपाधिरहितसमाधिलक्षणशुद्धोपयोगो मुक्तिकारणं भणितः स शुद्धात्मद्रव्यलक्षणाद्ध्येयभूताच्छुद्धपरिणामिकभावादभेदप्रधानद्रव्यार्थिकनयेनाभिन्नोऽपि भेदप्रधानपर्यायार्थिकनयेन भिन्नः । कस्मादिति चेत् । अयमेकदेशनिरावरणत्वेन क्षायोपशमिकखण्डज्ञानव्यक्तिरूपः स च परिणामिकः सकलावरणरहितत्वेनाखण्डज्ञानव्यक्तिरूपः । अयं तु सादिसान्तत्वेन विनश्वरः, स च अनाद्यनन्तत्वेनाविनश्वरः । यदि पुनरेकान्तेनाभेदो भवति तर्हि घटोत्पत्तौ मृत्पिण्डविनाशवद् ध्यानपर्यायविनाशे मोक्षे जाते सति ध्येयरूपपारिणामिकस्यापि विनाशो भवतीत्यर्थः । तत एव ज्ञायते शुद्धपारिणामिकभावो ध्येयरूपो भवति ध्यानभावनारूपो न भवति । कस्मात् । ध्यानस्य विनश्वरत्वादिति ॥ ८९ ॥ एवं द्रव्यबन्धकारणत्वात् मिथ्यात्वरागादिविकल्परूपो भावबन्ध एव निश्चयेन बन्ध इति कथनमुख्यतया गाथात्रयेण चतुर्थस्थलं गतम् । अथ जीवस्य स्वद्रव्यप्रवृत्तिपरद्रव्यनिवृत्तिनिमित्तं षड्जीवनिकायैः सह भेदविज्ञानं दर्शयति— **भणिदा पुढविप्पमुहा** भणिताः परमागमे कथिताः पृथिवीप्रमुखाः । ते के । **जीवणिकाया** जीवसमूहाः ।

है, दूसरा निजद्रव्यमें प्रवर्तता है । जो परद्रव्यमें प्रवर्तता है, वह बंधकारणरूप विशेषता सहित है, इसलिये विशेष परिणाम कहा जाता है, और जो स्वरूपमें प्रवर्तता है, वह बंध कारणविशेष रहित है, इस कारण अविशेष परिणाम कहा जाता है । विशेष परिणामके शुभ अशुभ ऐसे दो भेद हैं । जो पुण्यरूप पुद्गलबंधका कारण है वह शुभपरिणाम हैं, और जो पापरूप पुद्गलोंके बंधका कारण है, उसे अशुभ परिणाम जानना चाहिये । ये शुभ अशुभ परिणाम पुण्य पाप भी कहे जाते हैं, वास्तवमें पुण्यादिकके कारण हैं, परंतु कारणमें कार्यका उपचार होता है, उसकी अपेक्षा पुण्य पाप कहे जाते हैं । तथा जो अविशेष परिणाम है, वह शुद्ध एकभाव है, इसलिये उसमें भेद नहीं है, वह संसारमें दुःखरूप पुद्गलक्षयका कारण है, और सकलकर्मक्षयलक्षण मोक्षका बीजभूत है । यहाँपर भी कारणमें कार्यके उपचारकी अपेक्षा यह शुद्धोपयोग मोक्षरूप ही जानना चाहिये ॥ ८९ ॥ आगे जीवकी स्वद्रव्यमें प्रवृत्ति और परद्रव्यसे निवृत्ति इस बातकी सिद्धिके लिये स्वपरभेद दिखलाते है—[**अथ**] इसके बाद [**ये**] जो [**पृथिवीप्रमुखाः**] पृथ्वीको आदि लेकर [**जीवनिकायाः**] जीवके छः काय जो [**स्थावराः**] स्थावर [**च**] और [**त्रसाः**] त्रस [**भणिताः**] कहे गये हैं, [**ते**] वे सब भेद [**जीवात् अन्ये**]

भणिताः पृथिवीप्रमुखा जीवनिकाया अथ स्थावराश्च त्रसाः ।
अन्ये ते जीवाज्जीवोऽपि च तेभ्योऽन्यः ॥ ९० ॥

य एते पृथिवीप्रभृतयः षड्जीवनिकायास्त्रसस्थावरभेदेनाभ्युपगम्यन्ते ते खल्वचेतनत्वादन्ये जीवात्, जीवोऽपि च चेतनत्वादन्यस्तेभ्यः । अत्र षड्जीवनिकायात्मनः परद्रव्यमेक एवात्मा स्वद्रव्यम् ॥ ९० ॥

अथ जीवस्य स्वपरद्रव्यप्रवृत्तिनिमित्तत्वेन स्वपरविभागज्ञानाज्ञाने अवधारयति—

जो णवि जाणदि एवं परमप्पाणं सहावमासेज्ज ।
कीरदि अज्झवसाणं अहं ममेदं ति मोहादो ॥ ९१ ॥
यो नैव जानात्येवं परमात्मानं स्वभावमासाद्य ।
कुरुतेऽध्यवसानमहं ममेदमिति मोहात् ॥ ९१ ॥

यो हि नाम नैवं प्रतिनियतचेतनाचेतनत्वस्वभावेन जीवपुद्गलयोः स्वपरविभागं पश्यति स

अथ अथ । कथंभूताः थावरा य तसा स्थावराश्च त्रसाः । ते च किंविशिष्टाः । अण्णा ते अन्ये भिन्नास्ते कस्मात् । जीवादो शुद्धबुद्धैकजीवस्वभावात् । जीवो वि य तेहिंदो अण्णो जीवोऽपि च तेभ्योऽन्य इति । तथा हि—टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावपरमात्मतत्त्वभावनारहितेन जीवेन यदुपार्जितं त्रसस्थावरनामकर्म तदुदयजनितत्वादचेतनत्वाच्च त्रसस्थावरजीवनिकायाः शुद्धचैतन्यस्वभावजीवाद्भिन्नाः । जीवोऽपि च तेभ्यो विलक्षणत्वाद्भिन्न इति । अत्रैवं भेदविज्ञाने जाते सति मोक्षार्थी जीवः स्वद्रव्ये प्रवृत्तिं परद्रव्ये निवृत्तिं च करोतीति भावार्थः ॥ ९० ॥ अथैतदेव भेदविज्ञानं प्रकारान्तरेण द्रढयति—जो णवि जाणदि एवं यः कर्ता नैव जानात्येवं पूर्वोक्तप्रकारेण । कम् । परं षड्जीवनिकायादिपरद्रव्यं. अप्पाणं निर्दोषिपरमात्मद्रव्यरूपं निजात्मानम् । किं कृत्वा । सहावमासेज्ज शुद्धोपयोगलक्षणनिजशुद्धस्वभावमाश्रित्य कीरदि अज्झवसाणं स पुरुषः करोत्यध्यवसानं परिणामम् । केन रूपेण । अहं ममेदं ति अहं ममेदमिति ।

चेतनालक्षण जीवसे अन्य अचेतन पुद्गलपिंडरूप हैं, [च] और [जीवः अपि] जीवद्रव्य भी निश्चयसे [तेभ्यः] उन त्रस स्थावररूप छह प्रकारके भेदोंसे [अन्यः] जुदा टंकोत्कीर्ण ज्ञायकस्वरूप है । **भावार्थ**—जो कुछ कर्मजनित सामग्री है, वह सब परद्रव्यरूप है । उससे निवृत्त होकर निजद्रव्यमें ही प्रवृत्ति करनी चाहिये ॥ ९० ॥ आगे जीवके स्वद्रव्यमें प्रवृत्ति करनेसे भेदविज्ञान होता है, और परद्रव्यमें प्रवृत्ति करनेसे स्वपरभेदविज्ञानका अभाव होता है, यह दिखलाते हैं—[यः] जो जीव [एवं] पूर्वोक्त प्रकारसे अर्थात् चेतन और अचेतन स्वभावोंका निश्चयकरके [स्वभावं आसाद्य] सच्चिदानंदरूप शुद्ध नित्य आत्मीकभावको उपादेयरूप अंगीकार कर [परं] पुद्गलको [आत्मानं] तथा जीवको स्व और परके भेदकर [न जानाति] नहीं जानता है, वह [मोहात्] राग, द्वेष, मोहसे [अहं इदं] मैं शरीरादिस्वरूप हूँ, [मम इदं] मेरे ये शरीरादि हैं, [इति] ऐसा [अध्यवसानं] मिथ्या परिणाम [कुरुते] करता है । **भावार्थ**—जो जीव स्वरूपको अंगीकारकर स्वपरका भेद नहीं जानता

एवाहं ममेदमित्यात्मात्मीयत्वेन परद्रव्यमध्यवस्यति मोहान्नान्यः । अतो जीवस्य परद्रव्यप्रवृत्तिनिमित्तं स्वपरपरिच्छेदाभावमात्रमेव सामर्थ्यात्स्वद्रव्यप्रवृत्तिनिमित्तं तदभावः ॥ ९१ ॥

अथात्मनः किं कर्मेति निरूपयति—

कुव्वं सभावमादा हवदि हि कत्ता सगस्स भावस्स ।
पोग्गलदव्वमयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ॥ ९२ ॥
कुर्वन् स्वभावमात्मा भवति हि कर्ता स्वकस्य भावस्य ।
पुद्गलद्रव्यमयानां न तु कर्ता सर्वभावानाम् ॥ ९२ ॥

आत्मा हि तावत्स्वं भावं करोति तस्य स्वधर्मत्वादात्मनस्तथाभवनशक्तिसंभवेनावश्यमेव कार्यत्वात् । स तं च स्वतन्त्रः कुर्वाणस्तस्य कर्तावश्यं स्यात्, क्रियमाणश्चात्मना स्वो भावस्तेनाप्यत्वात्तस्य कर्मावश्यं स्यात् । एवमात्मनः स्वपरिणामः कर्म न त्वात्मा पुद्गलस्य भावान्

ममकाराहंकारादिरहितपरमात्मभावनाच्युतो भूत्वा परद्रव्यं रागादिकमहमिति देहादिकं ममेतिरूपेण । कस्मात् । **मोहादो** मोहाधीनत्वादिति । ततः स्थितमेतत्स्वपरभेदविज्ञानबलेन स्वसंवेदनज्ञानी जीवः स्वद्रव्ये रतिं परद्रव्ये निवृत्तिं करोतीति ॥ ९१ ॥ एवं भेदभावनाकथनमुख्यतया सूत्रद्वयेन पञ्चमस्थलं गतम् । अथात्मनो निश्चयेन रागादिस्वपरिणाम एव कर्म न च द्रव्यकर्मेति प्ररूपयति—**कुव्वं सभावं** कुर्वन्स्वभावम्, अत्र स्वभावशब्देन यद्यपि शुद्धनिश्चयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावो भण्यते, तथापि कर्मबन्धप्रस्तावे रागादिपरिणामोऽप्यशुद्धनिश्चयेन स्वभावो भण्यते । तं स्वभावं कुर्वन् । स कः । **आदा** आत्मा **हवदि हि कत्ता** कर्ता भवति हि स्फुटम् । कस्य । **सगस्स भावस्स** स्वकीयचिद्रूपस्वभावस्य रागादिपरिणामस्य तदेव तस्य रागादिपरिणामरूपं निश्चयेन भावकर्म भण्यते । कस्मात् । तप्तायःपिण्डवत्तेनात्मना प्राप्यत्वाद्व्याप्य-

है, वह भेदविज्ञानी नहीं है, और भेदविज्ञानी न होनेसे परद्रव्यमें अहंकार ममकार करता है । इससे यह बात सिद्ध हुई, कि परद्रव्यमें प्रवृत्तिका कारण स्वपरभेदका नहीं जानना है, और स्वद्रव्यमें प्रवृत्तिका कारण स्वपरभेदका जानना है ॥ ९१ ॥ आगे आत्माका कर्म कौनसा है, ऐसा कहते हैं—[**आत्मा**] जीव [**स्वभावं**] अपने चेतनास्वरूपपरिणामको [**कुर्वन्**] करता हुआ [**स्वकस्य**] अपने [**भावस्य**] चेतनास्वरूपभावका [**कर्ता**] कर्ता (करनेवाला) [**हि**] निश्चयसे [**भवति**] होता है । [**तु**] और [**पुद्गलद्रव्यमयानां**] पुद्गलद्रव्यमयी [**सर्वभावानां**] सर्व द्रव्य कर्म शरीरादि भावोंका [**कर्ता**] करनेवाला [**न**] नहीं है ॥ **भावार्थ**—जीवद्रव्य अपने परिणामका कर्ता है, क्योंकि वे परिणाम जीवके स्वभाव हैं, जीवमें उस भावरूप होनेकी शक्ति है, इस कारण परिणाम कार्य है । उस कार्यको स्वाधीन होके करता हुआ आत्मा कर्ता होता है, और जो आत्माकर किया जावे, वह परिणामरूप कार्य सो आत्माका कर्म है । यही आत्माके परिणाम परिणामीभावरूप कर्ताकर्मभाव है । आत्मा द्रव्यकर्मादि पुद्गलीकभावोंका कर्ता नहीं है, क्योंकि वे परद्रव्यके स्वभाव हैं, आत्माके उन भावोंरूप होनेकी शक्तिका अभाव है । इसलिये उन पुद्गलीकभावोंका अकर्ता हुआ यह आत्मा अकर्ता है; क्योंकि

करोति तेषां परधर्मत्वादात्मनस्तथाभवनशक्त्यसंभवेनाकार्यत्वात् स तानकुर्वाणो न तेषां कर्ता स्यात् अक्रियमाणाश्चात्मना ते न तस्य कर्म स्युः । एवमात्मनः पुद्गलपरिणामो न कर्म ॥९२॥

अथ कथमात्मनः पुद्गलपरिणामो न कर्म स्यादिति संदेहमपनुदति—

गेण्हदि णेव ण मुंचदि करेदि ण हि पोग्गलाणि कम्माणि ।
जीवो पुग्गलमज्झे वट्टण्णवि सव्वकालेसु ॥ ९३ ॥
गृह्णाति नैव न मुञ्चति करोति न हि पुद्गलानि कर्माणि ।
जीवः पुद्गलमध्ये वर्तमानोऽपि सर्वकालेषु ॥ ९३ ॥

न खल्वात्मनः पुद्गलपरिणामः कर्म परद्रव्योपादानहानशून्यत्वात्, यो हि यस्य परिणमयिता दृष्टः स तदुपादानहानशून्यो न दृष्टः, यथाग्निरयःपिण्डस्य । आत्मा तु तुल्यक्षेत्रवर्तित्वेऽपि परद्रव्योपादानहानशून्य एव । ततो न स पुद्गलानां कर्मभावेन परिणमयिता स्यात् ॥ ९३ ॥

त्वादिति । **पोग्गलदव्वमयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं** चिद्रूपात्मनो विलक्षणानां पुद्गलद्रव्यमयानां न तु कर्ता सर्वभावानां ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मपर्यायाणामिति । ततो ज्ञायते जीवस्य रागादिस्वपरिणाम एव कर्म तस्यैव स कर्तेति ॥ ९२ ॥ अथात्मनः कथं द्रव्यकर्मरूपपरिणामः कर्म न स्यादिति प्रश्नसमाधानं ददाति—**गेण्हदि णेव ण मुंचदि करेदि ण हि पोग्गलाणि कम्माणि जीवो** यथा निर्विकल्पसमाधिरतः परममुनिः परभावं न गृह्णाति न मुञ्चति न च करोत्युपादानरूपेण लोहपिण्डो वाग्निं तथायमात्मा न च गृह्णाति न च मुञ्चति न च करोत्युपादानरूपेण पुद्गलकर्माणीति । किं कुर्वन्नपि । **पुग्गलमज्झे वट्टण्णवि सव्वकालेसु** क्षीरन्यायेन पुद्गलमध्ये वर्तमानोऽपि सर्वकालेषु । अनेन किमुक्तं भवति—यथा सिद्धो भगवान् पुद्गलमध्ये वर्तमानोऽपि परद्रव्यग्रहणमोचनकरणरहितस्तथा शुद्धनिश्चयेन शक्तिरूपेण संसारी जीवोऽपीति भावार्थः ॥ ९३ ॥ अथ यद्ययमात्मा पुद्गलकर्म न करोति न च मुञ्चति तर्हि बन्धः कथं तर्हि मोक्षोऽपि

वे भाव आत्माकर नहीं किये जाते हैं, इसी कारण वे आत्माके कर्म नहीं है । उन भावोंसे कर्ताकर्मभाव पुद्गलका ही है । इससे यह बात सिद्ध हुई, कि पुद्गलपरिणाम आत्माके कर्म नहीं है ॥ ९२ ॥ आगे आत्माका पुद्गलपरिणाम कर्म किस तरह नहीं है, यह संदेह दूर करते हैं—[**जीवः**] आत्मा [**सर्वकालेषु**] सदाकाल [**पुद्गलमध्ये**] पुद्गलके बीचमें एक क्षेत्रावगाहकर [**प्रवर्तमानः अपि**] मौजूद है, तो भी [**पुद्गलानि कर्माणि**] पुद्गलीक द्रव्यकर्मादिकोंको [**नैव गृह्णाति**] न तो ग्रहण करता है, और [**न मुञ्चति**] न छोड़ता है, तथा [**हि**] निश्चयसे [**न करोति**] करता भी नहीं है । **भावार्थ—**पुद्गलीक परिणाम आत्माके नहीं हैं, क्योंकि आत्माके परद्रव्यका ग्रहण करना तथा छोड़ना नहीं है । जैसे कि अग्नि स्वभावसे लोहके पिंडको ग्रहण करती वा छोड़ती नहीं है । जो द्रव्य जिसका परिणमावनेवाला होता है, वही उसका ग्रहण करनेवाला वा छोड़नेवाला होता है, ऐसा नियम है । आत्मा पुद्गलका परिणमावनेवाला नहीं है, इस कारण पुद्गलको न तो ग्रहण करता है, न छोड़ता है, और न करनेवाला कर्ता ही है । इसलिये यह सिद्ध हुआ, कि पुद्गलीकपरिणाम आत्माका नहीं हैं ॥ ९३ ॥

अथात्मनः कुतस्तर्हि पुद्गलकर्मभिरुपादानं हानं चेति निरूपयति—

स इदाणिं कत्ता सं सगपरिणामस्स दव्वजादस्स ।
आदीयदे कदाई विमुच्चदे कम्मधूलीहिं ॥ ९४ ॥

स इदानीं कर्ता सन् स्वकपरिणामस्य द्रव्यजातस्य ।
आदीयते कदाचिद्विमुच्यते कर्मधूलिभिः ॥ ९४ ॥

सोऽयमात्मा परद्रव्योपादानहानशून्योऽपि सांप्रतं संसारावस्थायां निमित्तमात्रीकृतपरद्रव्यपरिणामस्य स्वपरिणाममात्रस्य द्रव्यत्वभूतत्वात्केवलस्य कलयन् कर्तृत्वं तदेव तस्य स्वपरिणामं निमित्तमात्रीकृत्योपात्तकर्मपरिणामाभिः पुद्गलधूलीभिर्विशिष्टावगाहरूपेणोपादीयते कदाचिन्मुच्यते च ॥ ९४ ॥

कथमितिप्रश्ने प्रत्युत्तरं ददाति—**स इदाणिं कत्ता सं** स इदानीं कर्ता सन् स पूर्वोक्तलक्षण आत्मा इदानीं कोऽर्थः एवं पूर्वोक्तनयविभागेन कर्ता सन् । कस्य । **सगपरिणामस्स** निर्विकारनित्यानन्दैकलक्षणपरमसुखामृतव्यक्तिरूपकार्यसमयसारसाधकनिश्चयरत्नत्रयात्मककारणसमयसारविलक्षणस्य मिथ्यात्वरागादिविभावरूपस्य स्वकीयपरिणामस्य । पुनरपि किंविशिष्टस्य । **दव्वजादस्स** स्वकीयात्मद्रव्योपादानकारणजातस्य । **आदीयदे कदाई कम्मधूलीहिं** आदीयते बध्यते । काभिः । कर्मधूलीभिः कर्तृभूताभिः कदाचित्पूर्वोक्तविभावपरिणामकाले । न केवलमादीयते **विमुच्चदे** विशेषेण मुच्यते त्यज्यते ताभिः कर्मधूलीभिः कदाचित्पूर्वोक्तकारणसमयसारपरिणतिकाले । एतावता किमुक्तं भवति—अशुद्धपरिणामेन बध्यते शुद्धपरिणामेन मुच्यत इति ॥ ९४ ॥ अथ यथा द्रव्यकर्माणि निश्चयेन स्वयमेवोत्पद्यन्ते तथा ज्ञानावरणादि-

आगे आत्माका पुद्गलमयी कर्मोंसे ग्रहण त्याग किस तरह होता है, यह कहते हैं—[**सः**] वह परद्रव्यके ग्रहण त्यागसे रहित आत्मा [**इदानीं**] अब संसार अवस्थामें परद्रव्यका निमित्त पाके [**द्रव्यजातस्य**] आत्मद्रव्यसे उत्पन्न हुए [**स्वकपरिणामस्य**] चेतनाके विकाररूप अशुद्ध अपने परिणामोंका [**कर्ता सन्**] कर्ता होता हुआ [**कर्मधूलीभिः**] उस अशुद्ध चेतनारूप आत्मपरिणामका ही निमित्त पाकर ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणत हुई पुद्गलकर्मरूप धूलिसे [**उपादीयते**] ग्रहण किया जाता है, और [**कदाचित्**] किसी कालमें अपना रस (फल) देकर [**विमुच्यते**] छोड़ दिया जाता है। **भावार्थ**—संसार अवस्थामें यह जीव परद्रव्य संयोगके निमित्तसे अशुद्धोपयोग भावोंस्वरूप परिणमन करनेसे उनका कर्ता है, परिणमनकी अपेक्षा अशुद्धोपयोग भाव आत्माके परिणाम हैं, इस कारण उनका तो कर्ता हो सकता है, लेकिन पुद्गलकर्मका कर्ता नहीं होता। उस आत्माके अशुद्ध परिणामोंका निमित्त पाकर पुद्गलद्रव्य अपनी निजशक्तिसे ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमन करके आत्मासे एक क्षेत्रावगाह होके अपने आप बँधते हैं, फिर अपना रस (फल) देकर आप ही क्षयको प्राप्त होजाते हैं। इससे यह बात सिद्ध हुई, कि पुद्गलकर्मका आत्मा ग्रहण करनेवाला वा छोड़नेवाला नहीं है, पुद्गल ही पुद्गलको ग्रहण करता है, तथा छोड़ता है ॥ ९४ ॥ [**यदा**] जिस समय [**आत्मा**] यह आत्मा

अथ किंकृतं पुद्गलकर्मणां वैचित्र्यमिति निरूपयति—

परिणमदि जदा अप्पा सुहम्हि असुहम्हि रागदोसजुदो ।
तं पविसदि कम्मरयं णाणावरणादिभावेहिं ॥ ९५ ॥

परिणमति यदात्मा शुभेऽशुभे रागद्वेषयुतः ।
तं प्रविशति कर्मरजो ज्ञानावरणादिभावैः ॥ ९५ ॥

अस्ति खल्वात्मनः शुभाशुभपरिणामकाले स्वयमेव समुपात्तवैचित्र्यकर्मपुद्गलपरिणामः नवघनाम्बुनो भूमिसंयोगपरिणामकाले समुपात्तवैचित्र्यान्यपुद्गलपरिणामवत् । तथाहि—यथा यदा नवघनाम्बुभूमिसंयोगेन परिणमति तदान्ये पुद्गलाः स्वयमेव समुपात्तवैचित्र्यैः शाद्वलशिलीन्ध्रशक्रगोपादिभावैः परिणमन्ते, तथा यदायमात्मा रागद्वेषवशीकृतः शुभाशुभभावेन परिणमति तदा अन्ये योगद्वारेण प्रविशन्तः कर्मपुद्गलाः स्वयमेव समुपात्तवैचित्र्यैर्ज्ञानावरणादिभावैः परिणमन्ते । अतः स्वभावकृतं कर्मणां वैचित्र्यं न पुनरात्मकृतम् ॥ ९५ ॥

अथैक एव आत्मा बन्ध इति विभावयति—

विचित्रभेदरूपेणापि स्वयमेव परिणमन्तीति कथयति—**परिणमदि जदा अप्पा** परिणमति यदात्मा समस्तशुभाशुभपरद्रव्यविषये परमोपेक्षालक्षणं शुद्धोपयोगपरिणामं मुक्त्वा यदायमात्मा परिणमति । क्व । **सुहम्हि असुहम्हि** शुभेऽशुभे वा परिणामे । कथंभूतः सन् । **रागदोसजुदो** रागद्वेषयुक्तः परिणत इत्यर्थः । **तं पविसदि कम्मरयं** तदा काले तत्प्रसिद्धं कर्मरजः प्रविशति । कैः कृत्वा । **णाणावरणादिभावेहिं** भूमेर्मेघजलसंयोगे सति यथाऽन्ये पुद्गलाः स्वयमेव हरितपल्लवादिभावैः परिणमन्ति तथा स्वयमेव नानाभेदपरिणतैर्मूलोत्तरप्रकृतिरूपज्ञानावरणादिभावैः पर्यायैरिति । ततो ज्ञायते ज्ञानावरणादिकर्मणामुत्पत्तिः स्वयंकृता तथा मूलोत्तरप्रकृतिरूपवैचित्र्यमपि, न च जीवकृतमिति ॥ ९५ ॥ अथ पूर्वोक्तज्ञानावरणादिप्रकृतीनां जघन्योत्कृष्टानुभागस्वरूपं प्रतिपादयति—

[**रागद्वेषयुतः**] राग द्वेष भावों सहित हुआ [**शुभे अशुभे**] शुभ अशुभ भावोंमें [**परिणमति**] परिणमन करता है, उसी समय [**ज्ञानावरणादिभावैः**] ज्ञानावरणादि आठ कर्मरूप होकर [**तत्कर्मरजः**] वह कर्मरूपी धूल [**प्रविशति**] इस आत्माके योगो द्वारा प्रवेश करती है । **भावार्थ—** जैसे वर्षाऋतुमें नवीन मेघोका जल जब भूमिके साथ सयोग करता है, तब उस मेघजलका निमित्त पाके अन्य पुद्गल आपसे ही निजशक्तिसे हरी दूब (घास) और हरे पीले आदि पत्ते, अंकुर वगैरह भावोंस्वरूप परिणमन करते हैं, उसी प्रकार जब यह आत्मा शुभ अशुभरूप राग, द्वेष, भावोंसे परिणत होता है, तब इसके शुभाशुभभावोंका निमित्त पाकर पुद्गलद्रव्य अपने आप नाना प्रकार ज्ञानावरणादि आठ कर्मरूप परिणमता है । इस कारण यह सिद्धांत हुआ, कि पुद्गलद्रव्य स्वभावसे ही कर्मोंकी विचित्रताका कर्ता है, आत्मा कर्ता नहीं हो सकता ॥ ९५ ॥ आगे अभेदनयकी विवक्षासे आत्माको एक बंधस्वरूप दिखलाते हैं—[**स आत्मा**] वह संसारी जीव [**सप्रदेशः**] लोकमात्र असंख्यात प्रदेशोंवाला होनेसे

सपदेसो सो अप्पा कसायिदो मोहरागदोसेहिं ।
कम्मरजेहिं सिलिट्ठो बंधो त्ति परूविदो समये ॥ ९६ ॥
सप्रदेशः स आत्मा कषायितो मोहरागद्वेषैः ।
कर्मरजोभिः श्लिष्टो बन्ध इति प्ररूपितः समये ॥ ९६ ॥

यथात्र सप्रदेशत्वे सति लोध्रादिभिः कषायितत्वात् मञ्जिष्ठरङ्गादिभिरुपश्लिष्टमेकं रक्तं दृष्टं वासः, तथात्मापि सप्रदेशत्वे सति काले मोहरागद्वेषैः कषायितत्वात् कर्मरजोभिरुपश्लिष्ट एको

सुहपयडीण विसोही तिव्वो असुहाण संकिलेसम्मि ।
विवरीदो दु जहण्णो अणुभागो सव्वपयडीणं ॥ *४ ॥

अणुभागो अनुभागः फलदानशक्तिविशेषः भवतीति क्रियाध्याहारः । कथंभूतो भवति । **तिव्वो** तीव्रः प्रकृष्टः परमामृतसमानः । कासां सबन्धी । **सुहपयडीणं** सद्वेद्यादिशुभप्रकृतीनाम् । कया कारणभूतया । **विसोही** तीव्रधर्मानुरागरूपविशुद्धया । **असुहाण संकिलेसम्मि** असद्वेद्याद्यशुभप्रकृतीनां तु मिथ्यात्वादि-रूपतीव्रसंक्लेशे सति तीव्रो हालाहलविषसदृशो भवति । **विवरीदो दु जहण्णो** विपरीतस्तु जघन्यो गुडनिम्ब-रूपो भवति । जघन्यविशुद्धया जघन्यसंक्लेशेन च मध्यमविशुद्धया मध्यमसंक्लेशेन तु शुभाशुभप्रकृतीनां खण्डशर्करारूपः काञ्जीरविषरूपश्चेति । एवंविधो जघन्यमध्यमोत्कृष्टरूपोऽनुभागः कासां संबन्धी भवति । **सव्वपयडीणं** मूलोत्तरप्रकृतिरहितनिजपरमानन्दैकस्वभावलक्षणसर्वप्रकारोपादेयभूतपरमात्मद्रव्याद्भिन्नानां हेय-भूतानां सर्वमूलोत्तरकर्मप्रकृतीनामिति कर्मशक्तिस्वरूपं ज्ञातव्यम् । अथाभेदनयेन बन्धकारणभूतरागादिपरि-णतात्मैव बन्धो भण्यत इत्यावेदयति—**सपदेसो** लोकाकाशप्रमितासंख्येयप्रदेशत्वात्सप्रदेशस्तावद्भवति **सो अप्पा** स पूर्वोक्तलक्षण आत्मा । पुनरपि किंविशिष्टः । **कसायिदो** कषायितः परिणतो रञ्जितः । कैः । **मोहरागदोसेहिं** निर्मोहस्वशुद्धात्मतत्त्वभावनाप्रतिबन्धिभिर्मोहरागद्वेषैः । पुनश्च किंरूपः । **कम्मरजेहिं सिलिट्ठो** कर्मरजोभिः श्लिष्टः कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलरजोभिः संश्लिष्टो बद्धः । **बंधो त्ति परूविदो** अभेदेनात्मैव बन्ध इति प्ररूपितः । क्व । **समये** परमागमे । अत्रेदं भणितं भवति—यथा वस्त्रं लोध्रादिद्रव्यैः कषायितं रञ्जितं सन्मञ्जिष्ठादिरङ्गद्रव्येण रञ्जितं सदभेदेन रक्तमित्युच्यते तथा वस्त्रस्थानीय आत्मा लोध्रादिद्रव्यस्था-नीयमोहरागद्वेषैः कषायितो रञ्जितः परिणतो मञ्जिष्ठास्थानीयकर्मपुद्गलैः संश्लिष्टः संबद्धः सन् भेदेऽप्यभेदो-पचारलक्षणेनासद्भूतव्यवहारेण बन्ध इत्यभिधीयते । कस्मात् । अशुद्धद्रव्यनिरूपणार्थविषयत्वादसद्भूतव्यवहार-

---

[**मोहरागद्वेषैः कषायितः**] मोह—राग—द्वेषरूप रंगसे कसैला हुआ [**कर्मरजोभिः**] ज्ञानावरणादि आठ कर्मरूपी धूली—समूहसे [**श्लिष्टः**] बँधा हुआ है, [**इति**] इस प्रकार [**समये**] जैनसिद्धान्तमें [**बंधः**] बंधरूप [**प्ररूपितः**] कहा गया है । **भावार्थ—**जैसे वस्त्र प्रदेशोंवाला होनेसे लोध फिटकरी आदिसे कसैला होता है, फिर वही वस्त्र मंजीठादि रंगसे लाल होजाता है, उसी प्रकार यह आत्मा प्रदेशी है, इसलिये बंधके समयमें राग, द्वेष, मोहभावोंसे रंजित हुआ कसैला होता है, तब कर्मरूपी धूलिसे बंध अवस्थाको प्राप्त होता है । इस कारण राग, द्वेष, भावोंरूप परिणमन निश्चयबंध है, कर्मवर्गणारूप व्यवहारबंध

बन्धो द्रष्टव्यः शुद्धद्रव्यविषयत्वान्निश्चयस्य ॥ ९६ ॥

अथ निश्चयव्यवहाराविरोधं दर्शयति—

एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयेण णिद्दिट्ठो।
अरहंतेहिं जदीणं ववहारो अण्णहा भणिदो ॥ ९७ ॥
एष बन्धसमासो जीवानां निश्चयेन निर्दिष्टः ।
अर्हद्भिर्यतीनां व्यवहारोऽन्यथा भणितः ॥ ९७ ॥

रागपरिणाम एवात्मनः कर्म, स एव पुण्यपापद्वैतम् । रागादिपरिणामस्यैवात्मा कर्ता तस्यैवोपादाता हाता चेत्येष शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मको निश्चयनयः । यस्तु पुद्गलपरिणाम आत्मनः

नयस्येति ॥ ९६ ॥ **एसो बंधसमासो** एष बन्धसमासः एष बहुधा पूर्वोक्तप्रकारो रागादिपरिणतिरूपो बन्धसंक्षेपः केषां संबन्धी । **जीवाणं** जीवानाम् । **णिच्छयेण णिद्दिट्ठो** निश्चयेन निर्दिष्टः कथितः । कैः कर्तृभूतैः । **अरहंतेहिं** अर्हद्भिः निर्दोषिपरमात्मभिः । केषाम् । **जदीणं** जितेन्द्रियत्वेन शुद्धात्मस्वरूपे यत्नपराणां गणधरदेवादियतीनाम् । **ववहारो** द्रव्यकर्मरूपव्यवहारबन्धः **अण्णहा भणिदो** निश्चयनयापेक्षयान्यथा व्यवहारनयेनेति भणितः । किंच रागादीनेवात्मा करोति तानेव भुङ्क्ते चेति निश्चयनयलक्षणमिदम् । अयं तु निश्चयनयो द्रव्यकर्मबन्धप्रतिपादकासद्भूतव्यवहारनयापेक्षया शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मको विवक्षितनिश्चयनयस्तथैवाशुद्धनिश्चयश्च भण्यते । द्रव्यकर्माण्यात्मा करोति भुङ्क्ते चेत्यशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मकासद्भूतव्यवहारनयो

है । निश्चयनय तो केवल द्रव्यके परिणामको दिखलाता है, और व्यवहारनय अन्य द्रव्यके परिणामको दिखलाता है ॥ ९६ ॥ आगे निश्चय और व्यवहार इन दोनो नयोंका आपसमें अविरोध दिखलाते हैं— [**अर्हद्भिः**] अर्हतदेवने [**जीवानां**] ससारी जीवोंका [**एषः**] पूर्वोक्त प्रकार यह रागपरिणाम ही [**निश्चयेन**] निश्चयसे बंध है, ऐसा [**बन्धसमासः**] बंधका संक्षेप कथन (सारांश) [**यतीनां**] मुनीश्वरोंको [**निर्दिष्टः**] दिखलाया है। [**अन्यथा**] इस निश्चयबंधसे जुदा जो जीवोंके एक क्षेत्रावगाहरूप द्रव्यकर्मबंध है, वह [**व्यवहारः**] उपचारसे बंध [**भणितः**] भगवंतने कहा है। **भावार्थ**—जो पुण्य पाप स्वरूप आत्माका राग परिणाम है, वह उसका कर्म है, उसीका आत्मा कर्ता है, उस राग परिणामको अपने ही परिणमनसे ग्रहण करता है, और अपने ही से छोड़ता है। इस कारण यह शुद्ध द्रव्यका कहनेवाला निश्चयनय जानना । तथा जो द्रव्यकर्मरूप पुद्गलपरिणाम आत्माका कर्म है, उसका वह कर्ता है, और ग्रहण करनेवाला तथा छोड़नेवाला है, सो यह अशुद्ध द्रव्यका कहनेवाला व्यवहारनय है । इस प्रकार निश्चय व्यवहार नयसे शुद्धाशुद्धरूप बंधका स्वरूप दो प्रकार दिखलाया है । परंतु इतना विशेष है, कि निश्चयनय ग्रहण करने योग्य है, क्योंकि वह केवल द्रव्यके परिणामको दिखलाता है, और साध्यरूप शुद्ध द्रव्यके शुद्ध स्वरूपको दिखलाता है । तथा व्यवहारनय परद्रव्यके परिणामको आत्मपरिणाम दिखलानेसे द्रव्यको अशुद्ध दिखलाता है, इस कारण ग्रहण योग्य नहीं है । यहाँपर कोई प्रश्न करे, 'कि तुमने रागपरिणामको निश्चयबंध कहा, और इसीको शुद्ध द्रव्यका कथन तथा ग्रहण योग्य कहा है, सो क्या कारण

कर्म स एव पुण्यपापद्वैतं पुद्गलपरिणामस्यात्मा कर्ता तस्योपादाता हाता चेति सोऽशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मको व्यवहारनयः। उभावप्येतौ स्तः, शुद्धाशुद्धत्वेनोभयथा द्रव्यस्य प्रतीयमानत्वात्। किन्त्वत्र निश्चयनयः साधकतमत्वादुपात्तः, साध्यस्य हि शुद्धत्वेन द्रव्यस्य शुद्धत्वद्योतकत्वान्निश्चयनय एव साधकतमो न पुनरशुद्धद्योतको व्यवहारनयः ॥ ९७ ॥

अथाशुद्धनयादशुद्धात्मलाभ एवेत्यावेदयति—

ण चयदि जो दु ममत्तिं अहं ममेदं ति देहदविणेसु ।
सो सामण्णं चत्ता पडिवण्णो होदि उम्मग्गं ॥ ९८ ॥
न त्यजति यस्तु ममतामहं ममेदमिति देहद्रविणेषु ।
स श्रामण्यं त्यक्त्वा प्रतिपन्नो भवत्युन्मार्गम् ॥ ९८ ॥

यो हि नाम शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मकनिश्चयनयनिरपेक्षोऽशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मकव्यवहार-

---

भण्यते। इदं नयद्वयं तावदस्ति। किंत्वत्र निश्चयनय उपादेयः न चासद्भूतव्यवहारः। ननु रागादीनात्मा करोति भुङ्क्ते चेत्येवंलक्षणो निश्चयनयो व्याख्यातः स कथमुपादेयो भवति। परिहारमाह-रागादीनेवात्मा करोति न च द्रव्यकर्मरागादय एव बन्धकारणमिति यदा जानाति जीवस्तदा रागद्वेषादिविकल्पजालत्यागेन रागादिविनाशार्थं निजशुद्धात्मानं भावयति। ततश्च रागादिविनाशो भवति। रागादिविनाशे चात्मा शुद्धो भवति। ततः परंपरया शुद्धात्मसाधकत्वादयमशुद्धनयोऽप्युपचारेण शुद्धनयो भण्यते निश्चयनयो न भण्यते तथैवोपादेयो भण्यते इत्यभिप्रायः ॥ ९७ ॥ एवमात्मा स्वपरिणामानामेव कर्ता न च द्रव्यकर्मणामिति कथनमुख्यतया गाथासप्तकेन षष्ठस्थलं गतम्। इति 'अरसमरूवं' इत्यादिगाथात्रयेण पूर्वं शुद्धात्मव्याख्याने कृते सति शिष्येण यदुक्तममूर्तस्यात्मनो मूर्तकर्मणा सह कथं बन्धो भवतीति तत्परिहारार्थं नयविभागेन बन्धसमर्थनमुख्यतयैकोनविंशतिगाथाभिः स्थलषट्केन तृतीयविशेषान्तराधिकारः समाप्तः। अतः परं द्वादशगाथापर्यन्तं चतुर्भिः स्थलैः शुद्धात्मानुभूतिलक्षणविशेषभेदभावनारूपचूलिकाव्याख्यानं करोति। तत्र शुद्धात्मनो भावनाप्रधानत्वेन 'ण चयदि जो दु ममत्तिं' इत्यादिपाठक्रमेण प्रथमस्थले गाथाचतुष्टयम्। तदनन्तरं शुद्धात्मोपलम्भभावनाफलेन दर्शनमोहग्रन्थिविनाशस्तथैव चारित्रमोहग्रन्थिविनाशः क्रमेण तदुभय-

---

है? यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि यह रागपरिणाम तो द्रव्यकी अशुद्धता करता है, वह ग्रहण योग्य कैसे होसकता है? तो इसका समाधान इस तरहसे है, कि रागपरिणाम तो आत्माकी अशुद्धताको ही करता है, इसमें कुछ भी संदेह नहीं, परंतु इस जगह दूसरी विवक्षासे कथन किया गया है। वही दिखलाते हैं—यहांपर शुद्ध द्रव्यका कथन एक द्रव्याश्रित परिणामकी अपेक्षासे जानना चाहिये, और अशुद्ध कथन अन्य द्रव्यका परिणाम अन्य द्रव्यमें लगाना जानना। तथा जो इस जगह बंधरूप निश्चयनय ग्रहण योग्य कहा है, सो इसलिये कि यह जीव अपने ही परिणामोंसे अपनेको बँधा हुआ समझेगा, तो आप ही अपनेको छुड़ावेगा। इस कारण ऐसी समझ होनेके लिये ग्रहण योग्य कहा है, और जो अपनेको दूसरेसे बंधा हुआ मानेगा, तो कभी छूटनेका उपाय नहीं करेगा। इसलिये अपनेसे अपनेको बँधा मानना

नयोपजनितमोहः सन् अहमिदं ममेदमित्यात्मात्मीयत्वेन देहद्रविणादौ परद्रव्ये ममत्वं न जहाति स खलु शुद्धात्मपरिणतिरूपं श्रामण्याख्यं मार्गं दूरादपहायाशुद्धात्मपरिणतिरूपमुन्मार्गमेव प्रतिपद्यते । अतोऽवधार्यते अशुद्धनयादशुद्धात्मलाभ एव ॥ ९८ ॥

अथ शुद्धनयात् शुद्धात्मलाभ एवेत्यवधारयति—

णाहं होमि परेसिं ण मे परे संति णाणमहमेक्को ।
इदि जो झायदि झाणे सो अप्पाणं हवदि झादा ॥ ९९ ॥

विनाशो भवतीति कथनमुख्यत्वेन 'जो एवं जाणित्ता' इत्यादि द्वितीयस्थले गाथात्रयम् । ततः परं केवलिध्यानोपचारकथनरूपेण 'णिहदघणघादिकम्मा' इत्यादि तृतीयस्थले गाथाद्वयम् । तदनन्तरं दर्शनाधिकारोपसंहारप्रधानत्वेन 'एवं जिणा जिणिंदा' इत्यादि चतुर्थस्थले गाथाद्वयम् । ततःपरं 'दंसणसंसुद्धाणं' इत्यादि नमस्कारगाथा चेति द्वादशगाथाभिश्चतुर्थस्थले विशेषान्तराधिकारे समुदायपातनिका । अथाशुद्धनयादशुद्धात्मलाभ एव भवतीत्युपदिशति—**ण चयदि जो दु ममत्तिं** न त्यजति यस्तु ममतां ममकाराहंकारादिसमस्तविभावरहितसकलविमलकेवलज्ञानाद्यनन्तगुणस्वरूपनिजात्मपदार्थनिश्चलानुभूतिलक्षणनिश्चयनयरहितत्वेन व्यवहारमोहितहृदयः सन् ममतां ममत्वभावं न त्यजति यः । केन रूपेण **अहं ममेदं ति** अहं ममेदमिति । केषु विषयेषु । **देहदविणेसु** देहद्रव्येषु देहे देहोऽहमिति परद्रव्येषु ममेदमिति **सो सामण्णं चत्ता पडिवण्णो होदि उम्मग्गं** स श्रामण्यं त्यक्त्वा प्रतिपन्नो भवत्युन्मार्गं स पुरुषो जीवितमरणलाभालाभसुखदुःखशत्रुमित्रनिन्दाप्रशंसादिपरमसाध्यस्थ्यलक्षणं श्रामण्यं यतित्वं चारित्रं दूरादपहाय तत्प्रतिपक्षभूतमुन्मार्गं मिथ्यामार्गं प्रतिपन्नो भवति । उन्मार्गाच्च संसारं परिभ्रमति । ततः स्थितं अशुद्धनयादशुद्धात्मलाभ एव ॥ ९८ ॥ अथ शुद्धनयाच्छुद्धात्मलाभो भवतीति निश्चिनोति—**णाहं होमि परेसिं ण मे परे संति** नाहं

हुआ ही रागादि परिणामोंका त्यागी होके, अपने वीतराग परिणामको धारण करेगा । इसी अपेक्षासे निश्चयबंध शुद्ध द्रव्यका साधक कहा गया है ॥ ९७ ॥ आगे अशुद्ध नयसे अशुद्धात्माका लाभ होता है, यह दिखलाते हैं—[**यः**] जो पुरुष [**देहद्रविणेषु**] शरीर तथा धनादिकमें [**अहं इदं**] मैं शरीरादिरूप हूँ, [**तु**] और [**मम इदं**] मेरे ये शरीर धनादिक हैं, [**इति**] इस प्रकार [**ममता**] ममत्व बुद्धिको [**न जहाति**] नहीं छोड़ता है, [**सः**] वह पुरुष [**श्रामण्यं**] समस्त परद्रव्यके त्यागरूप मुनिपदको [**त्यक्त्वा**] छोड़कर [**उन्मार्गं**] अशुद्ध परिणतिरूप विपरीत मार्गको [**प्रतिपन्नः भवति**] प्राप्त होता है । **भावार्थ**—जो पुरुष शुद्ध द्रव्यके दिखानेवाले निश्चयनयको छोड़कर अशुद्ध द्रव्यके स्वरूपको कहता है, और ऐसे व्यवहारनयकी सहायता लेकर मोही हुआ देह धनादि परभावोंमें 'ये मेरे, मैं इन स्वरूप हूँ' इस तरह ममताभावको धारण करता हुआ मोहको नहीं छोड़ता है, वह पुरुष अशुद्ध परिणतिरूप हुआ मुनिपदको छोड़के विपरीत मार्गपर चलनेवाला है । इससे यह निश्चय हुआ, कि अशुद्ध नयके ग्रहण करनेसे अशुद्धात्माका लाभ होता है ॥ ९८ ॥ आगे शुद्ध नयसे शुद्ध आत्माका लाभ होता है, यह कहते हैं–[**अहं**] मैं शुद्धात्मा [**परेषां**] शरीरादि परद्रव्योंका [**न भवामि**]

नाहं भावामि परेषां न मे परे सन्ति ज्ञानमहमेकः ।
इति यो ध्यायति ध्यानेन स आत्मा भवति ध्याता ॥ ९९ ॥

यो हि नामं स्वविषयमात्रप्रवृत्ताशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मकव्यवहारनयाविरोधमध्यस्थः शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मकनिश्चयनयापहस्तितमोहः सन् नाहं परेषामस्मि न परे मे सन्तीति स्वपरयोः परस्परस्वस्वामिसंबन्धमुद्धूय शुद्धज्ञानमेवैकमहमित्यनात्मानमुत्सृज्यात्मानमेवात्मत्वेनोपादाय परद्रव्यव्यावृत्तत्वादात्मन्येवैकस्मिन्नग्रे चिन्तां निरुणद्धि स खल्वेकाग्रचिन्तानिरोधकस्तस्मिन्नेकाग्रचिन्तानिरोधसमये शुद्धात्मा स्यात् । अतोऽवधार्यते शुद्धनयादेव शुद्धात्मलाभः ॥ ९९ ॥

अथ ध्रुवत्वात् शुद्ध आत्मैवोपलम्भनीय इत्युपदिशति—

एवं णाणप्पाणं दंसणभूदं अदिंदियमहत्थं ।
धुवमचलमणालंबं मण्णेऽहं अप्पगं सुद्धं ॥ १०० ॥

भवामि परेषाम् । न मे परे सन्तीति समस्तचेतनाचेतनपरद्रव्येषु स्वस्वामिसंबन्धं मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतैश्च स्वात्मानुभूतिलक्षणनिश्चयनबलेन पूर्वमपहाय निराकृत्य । पश्चात् किं करोति । **णाणमहमेक्को** ज्ञानमहमेकः सकलविमलकेवलज्ञानमेवाहं भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरहितत्वेनैकश्च । **इदि जो झायदि** इत्यनेन प्रकारेण योऽसौ ध्यायति चिन्तयति भावयति । क । **झाणे** निजशुद्धात्मध्याने स्थितः **सो अप्पाणं हवदि झादा** स आत्मानं भवति ध्याता । स चिदानन्दैकस्वभावपरमात्मानं ध्याता भवतीति । ततश्च परमात्मध्यानात्तादृशमेव परमात्मानं लभते । तदपि कस्मात् । उपादानकारणसदृशं कार्यमिति वचनात् । ततो ज्ञायते शुद्धनयाच्छुद्धात्मलाभ इति ॥ ९९ ॥ अथ ध्रुवत्वाच्छुद्धात्मानमेव भावयेऽहमिति विचारयति— **मण्णे** 'मण्णे' इत्यादिपदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते—मन्ये ध्यायामि सर्वप्रकारोपादेयत्वेन भावये ।

नहीं हूँ, और [**परे मे**] शरीरादिक परद्रव्य मेरे [**न सन्ति**] नहीं हैं, [**अहं**] मै परमात्मा [**एकः ज्ञानं**] सकल परभावोंसे रहित एक ज्ञानस्वरूप ही हूँ, [**इति**] इस प्रकार [**यः**] जो भेदविज्ञानी जीव [**ध्याने**] एकाग्रतारूप ध्यानमें समस्त ममत्व भावोंसे रहित हुआ [**ध्यायति**] अपने निज-स्वरूपका चिन्तवन करता है, [**सः**] वही पुरुष [**आत्मानं**] आत्माके प्रति [**ध्याता**] ध्यानका करनेवाला [**भवति**] होता है । **भावार्थ—**जो पुरुष व्यवहारनयके अशुद्ध कथनमें अविरोधी होके मध्यस्थ हुआ निश्चयनयके शुद्ध कथनसे मोहको दूर करता है, अर्थात् शरीरादि परभाव मेरे नहीं हैं, मै इनका नहीं हूँ, ऐसी भावनासे परमें स्वामीपनेकी बुद्धिको छोड़कर शुद्ध ज्ञानमात्र अपना स्वरूप जानके अंगीकार करता हुआ, बाह्य वस्तुसे चित्तको हटाकर और समस्त संकल्प विकल्प त्यागके अन्य चिंताको रोकता है, वह जीव एकाग्रतारूप ध्यानके समय शुद्धात्मा होता है । इससे यह बात सिद्ध हुई, कि शुद्धनयके अवलम्बनसे शुद्धात्माका लाभ होता है ॥ ९९ ॥ आगे कहते हैं, कि आत्मा अविनाशी ध्रुव शुद्ध वस्तु है, इस कारण यही ग्रहण योग्य है—[**अहं**] भेदविज्ञानी मैं [**एवं**] इस तरह [**आत्मानं**] आत्माको [**मन्ये**] मानता हूँ, कि आत्मा [**शुद्धं**] परभावोंसे रहित निर्मल है, [**ध्रुवं**] निश्चल एकरूप

एवं ज्ञानात्मानं दर्शनभूतमतीन्द्रियमहार्थम् ।
ध्रुवमचलमनालम्बं मन्येऽहमात्मकं शुद्धम् ॥ १०० ॥

आत्मनो हि शुद्ध आत्मैव सदहेतुकत्वेनानाद्यनन्तत्वात् स्वतः सिद्धत्वाच्च ध्रुवो न किंचनाप्यन्यत् शुद्धत्वं चात्मनः परद्रव्यविभागेन स्वधर्माविभागेन चैकत्वात् । तच्च ज्ञानात्मकत्वाद्दर्शनभूतत्वादतीन्द्रियमहार्थत्वादचलत्वादनालम्बत्वाच्च । तत्र ज्ञानमेवात्मनि बिभ्रतः स्वयं दर्शनभूतस्य चातिशयपरद्रव्यविभागेन स्वधर्माविभागेन चास्त्येकत्वम् । तथा प्रतिनियतस्पर्शरसगन्धवर्णगुणशब्दपर्यायग्राहीण्यनेकानीन्द्रियाण्यतिक्रम्य सर्वस्पर्शरसगन्धवर्णगुणशब्दपर्यायग्राहकस्यैकस्य सतो[महतो]ऽर्थस्येन्द्रियात्मकपरद्रव्यविभागेन स्पर्शादिग्रहणात्मकस्वधर्माविभागेन चास्त्येकत्वम् । तथा क्षणक्षयप्रवृत्तपरिच्छेद्यपर्यायग्रहणमोक्षणाभावेनाचलस्य परिच्छेद्यपर्यायात्मकपरद्रव्यविभागेन तत्प्रत्ययपरिच्छेदात्मकस्वधर्माविभागेन चास्त्येकत्वम् । तथा नित्यप्रवृत्तपरिच्छेद्यद्रव्यालम्बनाभावेनानालम्बस्य परिच्छेद्यपरद्रव्यविभागेन तत्प्रत्ययपरिच्छेदात्मकस्वधर्मा-

स कः । अहं कर्ता । कं कर्मतापन्नम् । **अप्पगं** सहजपरमाह्लादैकलक्षणनिजात्मानम् । किंविशिष्टम् । **सुद्धं** रागादिसमस्तविभावरहितम् । पुनरपि किंविशिष्टम् ।' **धुवं** टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावत्वेन ध्रुवमविनश्वरम् । पुनरपि कथंभूतम् । **एवं णाणप्पाणं दंसणभूदं** एवं बहुविधपूर्वोक्तप्रकारेणाखण्डैकज्ञानदर्शनात्मकम् । पुनश्च किंरूपम् । **अइंदियं** अतीन्द्रियं मूर्तविनश्वरानेकेन्द्रियरहितत्वेनामूर्ताविनश्वरैकातीन्द्रियस्वभावम् । पुनश्च

है, **[ज्ञानात्मानं]** ज्ञानस्वरूप है, **[दर्शनभूतं]** दर्शनमयी है, **[अतीन्द्रियमहार्थं]** अपने अतींद्रिय स्वभावसे सबका ज्ञाता महान् पदार्थ है, **[अचलं]** अपने स्वरूपमें निश्चल है, **[अनालम्बं]** परद्रव्यके आलंबन (सहायता) से रहित स्वाधीन है । इस प्रकार शुद्ध टंकोत्कीर्ण आत्माको अविनाशी वस्तु मानता हूँ । **भावार्थ—**आत्मा किसी कारणसे उत्पन्न नहीं हुआ है. इसलिये अनादि, अनंत, शुद्ध, स्वतःसिद्ध, अविनाशी है, और दूसरी कोई भी वस्तु ध्रुव नहीं है । यह आत्मा अपने स्वभावकर एकस्वरूप है, इस कारण शुद्ध है । यह अपने ज्ञानदर्शन–गुणमयी है, इसके परद्रव्यसे जुदापना है, अपने धर्मसे जुदा नहीं है, इस कारण एक है । निश्चयसे एक स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्दरूप विषयोंकी ग्रहण करनेवालीं जो पाँच इन्द्रियाँ है, उनको त्यागकर अपने अखंड ज्ञानसे एक ही समय इन पाँच विषयोंका ज्ञाता यह आत्मा महा पदार्थ है, इसलिये इस आत्माका पाँच विषयरूप परद्रव्यसे जुदापना है, परंतु इनके जाननेरूप स्वभावसे जुदापना नहीं है, इसलिये भी यह एकरूप है । इसी प्रकार यह आत्मा समय समय विनाशीक ज्ञेयपदार्थोंके ग्रहण करनेवाला और त्यागनेवाला नहीं है, अचल है, इस कारण इसके ज्ञेयपर्यायरूप परद्रव्यसे जुदापना है, 'उसके जाननेरूप भावसे जुदापना नहीं है, इसलिये भी एक है, और अन्य भाव सहित ज्ञेयपदार्थोंके अवलंबनका अभाव है, यह आत्मा तो स्वाधीन है, इस कारण इसके ज्ञेयपदार्थोंसे भिन्नपना है, परंतु इनके जाननेरूप भावसे जुदापना नहीं है, इससे भी एकरूप है । इस प्रकार अनेक परद्रव्योंके भेदसे अपनी एकताको नहीं छोड़ता है, इस कारण शुद्धनयसे शुद्ध

विभागेन चास्त्येकत्वम् । एवं शुद्ध आत्मा चिन्मात्रशुद्धनयस्य तावन्मात्रनिरूपणात्मकत्वात् अयमेक एव च ध्रुवत्वादुपलब्धव्यः, किमन्यैरध्वनीनाङ्गसंगच्छमानानेकमार्गपादपच्छायास्थानीयैरध्रुवैः ॥ १०० ॥

अथाध्रुवत्वादात्मनोऽन्यन्नोपलभनीयमित्युपदिशति—

देहा वा दविणा वा सुहदुक्खा वाध सत्तुमित्तजणा ।
जीवस्स ण संति धुवा धुवोवओगप्पगो अप्पा ॥ १०१ ॥

देहा वा द्रविणानि वा सुखदुःखे वाथ शत्रुमित्रजनाः ।
जीवस्य न सन्ति ध्रुवा ध्रुव उपयोगात्मक आत्मा ॥ १०१ ॥

आत्मनो हिं परद्रव्याविभागेन परद्रव्योपरज्यमानस्वधर्मविभागेन चाशुद्धत्वनिबन्धनं न

कीदृशम् । **महत्थं** मोक्षलक्षणमहापुरुषार्थसाधकत्वान्महार्थम् । पुनरपि किंस्वभावम् । **अचलं** अतिचपलचञ्चलमनोवाक्कायव्यापाररहितत्वेन स्वस्वरूपे निश्चलं स्थिरम् । पुनरपि किंविशिष्टम् । **अणालंबं** स्वाधीनद्रव्यत्वेन सालम्बनं भणितावस्थमपि समस्तपराधीनपरद्रव्यालम्बनरहितत्वेन निरालम्बनमित्यर्थः ॥ १०० ॥ अथात्मनः पृथग्भूतं देहादिकमध्रुवत्वान्न भावनीयमित्याख्याति— **ण संति धुवा** ध्रुवा अविनश्वरा नित्या न सन्ति । कस्य । **जीवस्स** जीवस्य । के ते । **देहा वा दविणा वा** देहा वा द्रव्याणि वा सर्वप्रकारशुचीभूतादेहरहितात्परमात्मनो विलक्षणा औदारिकादिपञ्चदेहास्तथैव च पञ्चेन्द्रियभोगोपभोगसाधकानि परद्रव्याणि च । न केवलं देहादयो ध्रुवा न भवन्ति **सुहदुक्खा वा** निर्विकारपरमानन्दैकलक्षणस्वात्मोत्थसुखामृतविलक्षणानि सांसारिकसुखदुःखानि वा । **अध** अहो भव्याः **सत्तुमित्तजणा** शत्रुमित्रादिभावरहितादात्मनो भिन्नाः शत्रुमित्रादिजनाश्च । यद्येतत् सर्वमध्रुवं तर्हि किं ध्रुवमिति चेत् । **धुवो** ध्रुवः शाश्वतः । स कः । **अप्पा** निजात्मा । किंविशिष्टः । **उवओगप्पगो** त्रैलोक्योदरविवरवर्तित्रिकालविषयसमस्तद्रव्यगुण-

चिन्मात्र वस्तु है, यही एक टंकोत्कीर्ण ध्रुव है, और अंगीकार करने योग्य है । जैसे मार्गमें गमन करते हुए पथिक-जनोंको अनेक वृक्षोंकी छाया विनाशीक और अध्रुव होती है, उसी प्रकार इस आत्माके परद्रव्यके संबंधसे अनेक अध्रुवभाव उत्पन्न होते हैं, उनसे कुछ साध्य [इष्ट] की सिद्धि नहीं होती। इसलिये एक नित्यस्वरूप यही अवलंबन योग्य है, बाकी सब त्याज्य हैं ॥ १०० ॥ आगे कहते है, कि आत्मा ध्रुव है, इस कारण इसके सिवाय अन्य वस्तुको अंगीकार करना योग्य नहीं है—**[देहाः]** औदारिकादि पाँच शरीर **[वा]** अथवा **[द्रविणानि]** धन धान्यादिक **[वा]** अथवा **[सुखदुःखे]** इष्ट अनिष्ट पंचेन्द्रिय विषयजन्य सुख दुःख **[वा अथ]** अथवा और **[शत्रुमित्रजनाः]** शत्रु मित्र आदिक लोक ये सभी संयोगजन्य पदार्थ **[जीवस्य]** आत्माके **[ध्रुवाः]** अविनाशी **[न सन्ति]** नहीं हैं, केवल **[उपयोगात्मकः]** ज्ञान दर्शनस्वरूप **[आत्मा]** शुद्धजीव **[ध्रुवः]** अविनाशी वस्तु है । **भावार्थ—**जो शरीरादिक भाव हैं, वे परद्रव्यसे तन्मयी हैं, आत्मासे भिन्न हैं, और अशुद्धताके कारण हैं । वे आत्माके कुछ नहीं लगते, विनाशीक हैं, और जो यह आत्मा है, वह अनादि अनंत है,

किंचनाप्यन्यदसद्धेतुमत्त्वेनाद्यन्तत्वात्परतः सिद्धत्वाच्च ध्रुवमस्ति । ध्रुव उपयोगात्मा शुद्ध आत्मैव । अतोऽध्रुवं शरीरादिकमुपलभ्यमानमपि नोपलभे शुद्धात्मानमुपलभे ध्रुवम् ॥ १०१ ॥

अथैवं शुद्धात्मोपलम्भात्किं स्यादिति निरूपयति—

जो एवं जाणित्ता झादि परं अप्पगं विसुद्धप्पा ।
सागारोऽणागारो खवेदि सो मोहदुग्गंठिं ॥ १०२ ॥

य एवं ज्ञात्वा ध्यायति परमात्मानं विशुद्धात्मा ।
सागारोऽनगारः क्षपयति स मोहदुर्ग्रन्थिम् ॥ १०२ ॥

अमुना यथोदितेन विधिना शुद्धात्मानं ध्रुवमधिगच्छतस्तस्मिन्नेव प्रवृत्तेः शुद्धात्मत्वं स्यात् । ततोऽनन्तशक्तिचिन्मात्रस्य परमस्यात्मन एकाग्रसंचेतनलक्षणं ध्यानं स्यात्, ततः

पर्याययुगपत्परिच्छित्तिसमर्थकेवलज्ञानदर्शनोपयोगात्मक इति । एवमध्रुवत्वं ज्ञात्वा ध्रुवस्वभावे स्वात्मनि भावना कर्तव्येति तात्पर्यम् ॥ १०१ ॥ एवमशुद्धनयादशुद्धात्मलाभो भवतीति कथनेन प्रथमगाथा । शुद्धनयाच्छुद्धात्मलाभो भवतीति कथनेन द्वितीया । ध्रुवत्वादात्मैव भावनीय इति प्रतिपादनेन तृतीया । आत्मनोऽन्यदध्रुवं न भावनीयमिति कथनेन चतुर्थी चेति शुद्धात्मव्याख्यानमुख्यत्वेन प्रथमस्थले गाथाचतुष्टयं गतम् । अथैवं पूर्वोक्तप्रकारेण शुद्धात्मोपलम्भे सति किं फलं भवतीति प्रश्ने प्रत्युत्तरमाह—**झादि** ध्यायति **जो** यः कर्ता । कम् । **अप्पगं** निजात्मानम् । कथंभूतम् । **परं** परमानन्तज्ञानादिगुणाधारत्वात्परमुत्कृष्टम् । किं कृत्वा पूर्वम् । **एवं जाणित्ता** एवं पूर्वोक्तप्रकारेण स्वात्मोपलम्भलक्षणस्वसंवेदनज्ञानेन ज्ञात्वा । कथंभूतः सन् ध्यायति । **विसुद्धप्पा** ख्यातिपूजालाभादिसमस्तमनोरथजालरहितत्वेन विशुद्धात्मा सन् । पुनरपि कथंभूतः । **सागारोऽणागारो** सागारोऽनागारः । अथवा साकारानाकारः । सहाकारेण विकल्पेन वर्तते साकारो ज्ञानोपयोगः, अनाकारो निर्विकल्पो दर्शनोपयोगस्ताभ्यां युक्तः साकारानाकारः । अथवा साकारः सविकल्पो गृहस्थः अनाकारो निर्विकल्पस्तपोधनः अथवा सहाकारेण लिङ्गेन चिह्नेन वर्तते साकारो यतिः अनाकारश्चिह्नरहितो गृहस्थः । **खवेदि सो मोहदुग्गंठिं** य एवं गुणविशिष्टः क्षपयति स मोह-

---

उत्कृष्टसे उत्कृष्ट है, सदा सिद्धरूप है, ज्ञानदर्शनमयी है, और एक ध्रुव है । इस कारण मैं शरीरादि अध्रुव (विनाशीक) वस्तुको अंगीकार नहीं करता हूँ, शुद्ध आत्माको ही प्राप्त होता हूँ ॥ १०१ ॥ आगे शुद्धात्माकी प्राप्तिसे क्या होता है, यह कहते है—[**यः**] जो [**सागारः**] अणुव्रती श्रावक तथा [**अनगारः**] मुनीश्वर [**एवं**] पूर्वोक्त रीतिसे [**ज्ञात्वा**] स्वरूपको ध्रुव जानकर [**परमात्मानं**] सबसे उत्कृष्ट शुद्धात्माको [**ध्यायति**] एकाग्रपनेसे चिंतवन करता है, [**सः**] वह [**विशुद्धात्मा**] निर्मल आत्मा होता हुआ [**मोहदुर्ग्रन्थिं**] मोहकी अनादि कालकी विपरीत बुद्धिरूपी गाँठको [**क्षपयति**] क्षीण (नष्ट) करता है । **भावार्थ**—जो पुरुष शुद्ध अविनाशी आत्माके स्वभावको प्राप्त होता है, अर्थात् उस स्वभावमें रमण करता है, उसके शुद्धात्मभाव प्रगट होता है, उसके बाद अनंत चैतन्य-शक्ति सहित परमात्माका जाननेरूप एकाग्र ध्यान होता है, इसलिये गृहस्थ अथवा मुनि यदि

साकारोपयुक्तस्य चाविशेषेणैकाग्रचेतनप्रसिद्धेरासंसारबद्धदृढतरमोहदुर्ग्रन्थेरुद्ग्रन्थनं स्यात् । अतः शुद्धात्मोपलम्भस्य मोहग्रन्थिभेदः फलम् ॥ १०२ ॥

अथ मोहग्रन्थिभेदात्किं स्यादिति निरूपयति—

जो णिहदमोहगंठी रागपदोसे खवीय सामण्णे ।
होज्जं समसुहदुक्खो सो सोक्खं अक्खयं लहदि ॥ १०३ ॥
यो निहतमोहग्रन्थी रागप्रद्वेषौ क्षपयित्वा श्रामण्ये ।
भवन् समसुखदुःखः स सौख्यमक्षयं लभते ॥ १०३ ॥

मोहग्रन्थिक्षपणाद्धि तन्मूलरागद्वेषक्षपणं ततः समसुखदुःखस्य परममाध्यस्थ्यलक्षणे श्रामण्ये भवनं ततोऽनाकुलत्वलक्षणाक्षयसौख्यलाभः । अतो मोहग्रन्थिभेदादक्षयसौख्यं फलम् ॥ १०३ ॥

अथैकाग्र्यसंचेतनलक्षणं ध्यानमशुद्धत्वमात्मनो नावहतीति निश्चिनोति—

दुर्ग्रन्थिम् । मोह एव दुर्ग्रन्थिः शुद्धात्मरुचिप्रतिबन्धको दर्शनमोहस्तम् । ततः स्थितमेतत्—आत्मोपलम्भस्य मोहग्रन्थिविनाश एव फलम् ॥ १०२ ॥ अथ दर्शनमोहग्रन्थिभेदात्किं भवतीति प्रश्ने समाधानं ददाति— **जो णिहदमोहगंठी** यः पूर्वसूत्रोक्तप्रकारेण निहतदर्शनमोहग्रन्थिर्भूत्वा **रागपदोसे खवीय** निजशुद्धात्मनिश्चलानुभूतिलक्षणवीतरागचारित्रप्रतिबन्धकौ चरित्रमोहसंज्ञौ रागद्वेषौ क्षपयित्वा । क्व । **सामण्णे** स्वस्वभावलक्षणे श्रामण्ये । पुनरपि किं कृत्वा । **होज्जं** भूत्वा । किंविशिष्टः । **समसुहदुक्खो** निजशुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्नरागादिविकल्पोपाधिरहितपरमसुखानुभवेन सांसारिकसुखदुःखोत्पन्नहर्षविषादरहितत्वात्समसुखदुःखः । **सो सोक्खं अक्खयं लहदि** स एवं गुणविशिष्टो भेदज्ञानी सौख्यमक्षयं लभते । ततो ज्ञायते दर्शनमोहक्षयाचारित्रमोहसंज्ञरागद्वेषविनाशतश्च सुखदुःखमाध्यस्थ्यलक्षणश्रामण्येऽवस्थानं तेनाक्षयसुखलाभो भवतीति ॥ १०३ ॥ अथ निजशुद्धात्मैकाग्र्यलक्षणध्यानमात्मनोऽत्यन्तविशुद्धिं करोतीत्यावेदयति—**जो खविदमोह-**

निश्चल होके स्वरूपको ध्यावे, तो अनादि बंधवाली मोहकी गाँठको खोल सकता है । इस कारण शुद्धात्माकी प्राप्तिका फल मोहकी गाँठका खुलना है ॥ १०२ ॥ आगे मोह—गाँठके खुलनेसे क्या होता है, यह कहते है—[**यः**] जो पुरुष [**निहतमोहग्रन्थिः**] मोहकी गाँठको दूर करता हुआ [**श्रामण्ये**] यति अवस्थामें [**रागद्वेषौ**] इष्ट अनिष्ट पदार्थोंमें प्रीति अप्रीतिभावको [**क्षपयित्वा**] छोड़कर [**समसुखदुःखः**] सुख दुःखमें समान दृष्टिवाला [**भवेत्**] होता है, [**सः**] वह समबुद्धि पुरुष [**अक्षयं सौख्यं**] अविनाशी अतीन्द्रिय आत्मीक मोक्ष—सुखको [**लभते**] पाता है। **भावार्थ—**इस मोहकी गाँठके खुलनेसे आत्माके राग द्वेषका नाश होता है, और जहाँ राग द्वेषका अभाव है, वहीं सुख दुःखमें समान भाव होते हैं, तथा वहाँ ही आकुलता रहित स्वाधीन आत्मीक सुख अवश्य होता है। इस कारण मोहकी गाँठके खुलनेसे अविनाशीक सुख होनेरूप ही फल होता है ॥ १०३ ॥ आगे एकाग्रतासे निश्चल स्वरूपका अनुभव करनेवाला ध्यान आत्माकी अशुद्धताको दूर करता है, यह कहते हैं—[**यः**] जो पुरुष [**क्षपितमोहकलुषः**] मोहरूप मैलको क्षय करता हुआ

जो खविदमोहकलुसो विसयविरत्तो मणो णिरुंभित्ता।
समवट्ठिदो सहावे सो अप्पाणं हवदि झादा॥ १०४॥
यः क्षपितमोहकलुषो विषयविरक्तो मनो निरुध्य।
समवस्थितः स्वभावे स आत्मानं भवति ध्याता॥ १०४॥

आत्मनो हि परिक्षपितमोहकलुषस्य तन्मूलपरद्रव्यप्रवृत्त्यभावाद्विषयविरक्तत्वं स्यात्, ततोऽधिकरणभूतद्रव्यान्तराभावादुदधिमध्यप्रवृत्तैकपोतपतत्रिण इव अनन्यशरणस्य मनसो

कलुसो यः क्षपितमोहकलुषः मोहो दर्शनमोहः कलुषश्चारित्रमोहः पूर्वसूत्रद्वयकथितक्रमेण क्षपितौ मोहकलुषौ येन स भवति क्षपितमोहकलुषः। पुनरपि किंविशिष्टः। **विसयविरत्तो** मोहकलुषरहितस्वात्मसंवित्तिसमुत्पन्नसुधारसास्वादबलेन कलुषमोहोदयजनितविषयसुखाकाङ्क्षारहितत्वाद्विषयविरक्तः। पुनरपि कथंभूतः। **समवट्ठिदो** सम्यगवस्थितः। क्व। **सहावे** निजपरमात्मद्रव्ये स्वभावे। किं कृत्वा पूर्वम्। **मणो णिरुंभित्ता** विषयकषायोत्पन्नविकल्पजालरूपं मनो निरुध्य निश्चलं कृत्वा **सो अप्पाणं हवदि झादा** स एवंगुणयुक्तः पुरुषः स्वात्मानं भवति ध्याता। तेनैव शुद्धात्मध्यानेनात्यन्तिकीं मुक्तिलक्षणां शुद्धिं लभत इति। ततः स्थितं शुद्धात्मध्यानाज्जीवो विशुद्धो भवतीति। किं च ध्यानेन किलात्मा शुद्धो जातः तत्र विषये चतुर्विधव्याख्यानं क्रियते। तथाहि—ध्यानं ध्यानसतानस्तथैकध्यानचिन्ता ध्यानान्वयसूचनमिति। तत्रैकाग्र्यचिन्तानिरोधो ध्यानम्। तच्च शुद्धाशुद्धरूपेण द्विधा। अथ ध्यानसंतानः कथ्यते—यत्रान्तर्मुहूर्तपर्यन्तं ध्यानं तदनन्तरमन्तर्मुहूर्तपर्यन्तं तत्त्वचिन्ता पुनरप्यन्तर्मुहूर्तपर्यन्तं ध्यानं पुनरपि ततः चिन्तेति प्रमत्ताप्रमत्तगुणस्थानवदन्तर्मुहूर्तेऽन्तर्मुहूर्ते गते सति परावर्तनमस्ति स **ध्यानसंतानो** भण्यते। स च धर्मध्यानसंबन्धी। शुक्लध्यानं पुनरुपशमश्रेणिक्षपकश्रेण्यारोहणे भवति। तत्र चाल्पकालत्वात्परावर्तनरूपध्यानसंतानो न घटते। इदानीं ध्यानचिन्ता कथ्यते—यत्र ध्यानसन्तानवद्ध्यानपरावर्तो नास्ति ध्यानसंबन्धिनी चिन्तास्ति तत्र यद्यपि क्वापि काले ध्यानं करोति तथापि सा **ध्यानचिन्ता** भण्यते। अथ ध्यानान्वयसूचनं कथ्यते—

तथा [**विषयविरक्तः**] परद्रव्यरूप इष्ट अनिष्ट इंद्रियोंके विषयोंसे विरक्त हुआ [**मनः निरुध्य**] चंचल चित्तको बाह्य विषयोंसे रोककर [**स्वभावे समवस्थितः**] अपने अनंत सहज चैतन्यस्वरूपमें [**समवस्थितः**] एकाग्र निश्चलभावमें ठहरता है, [**स**] वह पुरुष [**आत्मानं**] टंकोत्कीर्ण निज शुद्ध जीवद्रव्यका [**ध्याता**] ध्यान करनेवाला [**भवति**] होता है। **भावार्थ**—जब यह आत्मा निर्मोही होता है, तब मोहके आधीन जो परद्रव्यमें प्रवृत्ति है, उसका अभाव होता है, और परप्रवृत्तिके अभावसे इन्द्रियोंके विषयोंमें वैराग्यभाव होता है, ऐसा होनेसे सहज ही मनका निरोध होता है। यह मन अत्यन्त चंचल है। जब इंद्रिय-विषयोंसे वैराग्यभाव होता है, तब विषयरूप आधारके अभावसे अपने आप चंचलपनेसे रहित होजाता है। जैसे समुद्रके मध्यमें जहाजका पक्षी उड़ उड़कर चारों दिशाओंमें वृक्षादि आधारके अभाव होनेसे अन्य आश्रयके विना जहाजके ही ऊपर आप ही से निश्चल होकर तिष्ठता-ठहरता है, उसी प्रकार यह मन भी वैराग्यभावसे परद्रव्यरूप इन्द्रिय विषय आधारके विना

निरोधः स्यात् । ततस्तन्मूलचञ्चलत्वविलयादनन्तसहजचैतन्यात्मनि स्वभावे समवस्थानं स्यात् । तत्तु स्वरूपप्रवृत्तानाकुलैकाग्रसंचेतनत्वात् ध्यानमित्युपगीयते । अतः स्वभावावस्थानरूपत्वेन ध्यानमात्मनोऽनन्यत्वात् ध्यानमात्मैवेति [नाशुद्धत्वायेति] ॥ १०४ ॥

अथोपलब्धशुद्धात्मा सकलज्ञानी किं ध्यायतीति प्रश्नमासूत्रयति—

णिहदघणघादिकम्मो पच्चक्खं सव्वभावतच्चण्हू ।
णेयंतगदो समणो झादि कमट्ठं असंदेहो ॥ १०५ ॥

निहतघनघातिकर्मा प्रत्यक्षं सर्वभावतत्त्वज्ञः ।
ज्ञेयान्तगतः श्रमणो ध्यायति कमर्थमसंदेहः ॥ १०५ ॥

लोको हि मोहसद्भावे ज्ञानशक्तिप्रतिबन्धकसद्भावे च सतृष्णत्वादप्रत्यक्षार्थत्वानवच्छिन्नविषयत्वाभ्यां चाभिलषितं जिज्ञासितं संदिग्धं चार्थं ध्यायन् दृष्टः, भगवान् सर्वज्ञस्तु निहतघन-

---

यत्र ध्यानसामग्रीभूता द्वादशानुप्रेक्षा अन्यद्वा ध्यानसंबन्धि संवेगवैराग्यवचनं वा व्याख्यानं तत् **ध्यानान्वयसूचनमिति** । अन्यथा वा चतुर्विधं ध्यानव्याख्यानं ध्याता ध्यानं फलं ध्येयमिति । अथवार्तरौद्रधर्म्यशुक्लविभेदेन चतुर्विधं ध्यानव्याख्यानं तदन्यत्र कथितमस्ति ॥ १०४ ॥ एवमात्मपरिज्ञानाद्दर्शनमोहक्षपणं भवतीति कथनरूपेण प्रथमगाथा, दर्शनमोहक्षयाच्चारित्रमोहक्षपणं भवतीति कथनेन द्वितीया, तदुभयक्षयेण मोक्षो भवतीति प्रतिपादनेन तृतीया चेत्यात्मोपलम्भफलकथनरूपेण द्वितीयस्थले गाथात्रयं गतम् । अथोपलब्धशुद्धात्मतत्त्वसकलज्ञानी किं ध्यायतीति प्रश्नमाक्षेपद्वारेण पूर्वपक्षं वा करोति—**णिहदघणघादिकम्मो** पूर्वसूत्रोदितनिश्चलनिजपरमात्मतत्त्वपरिणतिरूपशुद्धध्यानेन निहतघनघातिकर्मा । **पच्चक्खं सव्वभावतच्चण्हू** प्रत्यक्षं यथा भवति तथा सर्वभावतत्त्वज्ञः सर्वपदार्थपरिज्ञातस्वरूपः **णेयंतगदो** ज्ञेयान्तगतः ज्ञेयभूतपदार्थानां परिच्छित्तिरूपेण पारंगतः । एवं विशेषणत्रयविशिष्टः **समणो** जीवितमरणादिसमभावपरिणतात्मस्वरूपः श्रमणो महाश्रमणः सर्वज्ञः **झादि कमट्ठं** ध्यायति कमर्थमिति प्रश्नः । अथवा कमर्थं ध्यायति न कमपीत्याक्षेपः । कथंभूतः सन् । **असंदेहो** असन्देहः संशयादिरहित इति । अयमत्रार्थः—यथा कोऽपि देवदत्तो विषयसुखनिमित्तं

निराश्रय हुआ सहज ही निश्चल होता है, तब चंचलताके अभावसे स्वरूपमें एकाग्र होता है, उस एकाग्रतासे अनंत चैतन्यस्वरूपका स्वसंवेदन (अनुभव) रूप ध्यान होता है, उस ध्यानसे आत्मा शुद्ध होता है। इस कारण ध्यान परम शुद्धताका कारण है ॥ १०४ ॥ आगे कहते हैं, कि जिन केवली-भगवानने शुद्ध स्वरूपको पाया है, उनके भी ध्यान कहा गया है, वे केवली क्या ध्यान करते हैं, ऐसा प्रश्न करते हैं–[**निहतघनघातिकर्मा**] जिन्होंने अत्यंत दृढबद्ध घातियाकर्मोंका नाश किया है, [**प्रत्यक्षं**] परोक्षतासे रहित साक्षात् [**सर्वभावतत्त्वज्ञः**] समस्तपदार्थोंके जाननेवाले [**ज्ञेयान्तगतः**] जानने योग्य पदार्थोंके पारको प्राप्त [**असंदेहः**] संशय, विमोह, विभ्रमसे रहित ऐसे [**श्रमणः**] महामुनि केवली [**कमर्थं**] किस पदार्थका [**ध्यायति**] ध्यान करते हैं। **भावार्थ**—इस संसारमें मोहकर्मके उदयसे ज्ञानके घातक कर्मके उदयसे ये संसारी जीव तृष्णावन्त हैं, इसलिये इन जीवोंको

घातिकर्मतया मोहाभावे ज्ञानशक्तिप्रतिबन्धकाभावे च निरस्ततृष्णत्वात्प्रत्यक्षसर्वभावतत्त्वज्ञेयान्तगतत्वाभ्यां च नाभिलषति न जिज्ञासति न संदिह्यति च कुतोऽभिलषितो जिज्ञासितः संदिग्धश्चार्थः । एवं सति किं ध्यायति ॥ १०५ ॥

अथैतदुपलब्धशुद्धात्मा सकलज्ञानी ध्यायतीत्युत्तरमासूत्रयति—

सव्वाबाधविजुत्तो समंतसव्वक्खसोक्खणाणड्ढो ।
भूदो अक्खातीदो झादि अणक्खो परं सोक्खं ॥ १०६ ॥

सर्वाबाधवियुक्तः समन्तसर्वाक्षसौख्यज्ञानाढ्यः ।
भूतोऽक्षातीतो ध्यायत्यनक्षः परं सौख्यम् ॥ १०६ ॥

अयमात्मा यदैव सहजसौख्यज्ञानबाधायतनानामसार्वदिक्कासकलपुरुषसौख्यज्ञानायतनानां चाक्षाणामभावात्स्वयमनक्षत्वेन वर्तते तदैव परेषामक्षातीतो भवन् निराबाधसहजसौख्यज्ञानत्वात् सर्वाबाधवियुक्तः, सार्वदिक्सकलपुरुषसौख्यज्ञानपूर्णत्वात्समन्तसर्वाक्षसौख्यज्ञानाढ्यश्च भवति।

विद्याराधनाध्यानं करोति यदा विद्या सिद्धा भवति तत्फलभूतं विषयसुखं च सिद्धं भवति तदाराधनाध्यानं न करोति, तथायं भगवानपि केवलज्ञानविद्यानिमित्तं च तत्फलभूतानन्तसुखनिमित्तं च पूर्वं छद्मस्थावस्थायां शुद्धात्मभावनारूपं ध्यानं कृतवान् इदानीं तद्ध्यानेन केवलज्ञानविद्या सिद्धा तत्फलभूतमनन्तसुखं च सिद्धम् । किमर्थं ध्यानं करोतीति प्रश्नः आक्षेपो वा, द्वितीयं च कारणं परोक्षेऽर्थे ध्यानं भवति भगवतः सर्वं प्रत्यक्षं कथं ध्यानमिति पूर्वपक्षद्वारेण गाथा गता ॥ १०५ ॥ अथात्र पूर्वपक्षे परिहारं ददाति—**झादि** ध्यायति एकाकारसमरसीभावेन परिणमत्यनुभवति । स कः कर्ता । भगवान् । किं ध्यायति । **सोक्खं** सौख्यम् । किंविशिष्टम् । **परं** उत्कृष्टं सर्वात्मप्रदेशाह्लादकपरमानन्तसुखम् । कस्मिन्प्रस्तावे । यस्मिन्नेव क्षणे **भूदो** भूतः संजातः । किंविशिष्टः । **अक्खातीदो** अक्षातीतः इन्द्रियरहितः न केवलं स्वयमतीन्द्रियो जातः परेषां च **अणक्खो** अनक्षः इन्द्रियविषयो न भवतीत्यर्थः । पुनरपि किंविशिष्टः । **सव्वाबाधविजुत्तो** प्राकृतलक्षणबलेन बाधाशब्दस्य ह्रस्वत्वं सर्वाबाधावियुक्तः । आसमन्ताद्बाधाः पीडा आबाधाः सर्वाश्च ता आबाधाश्च सर्वाबाधास्ताभिर्वियुक्तो रहितः सर्वाबाधावियुक्तः । पुनश्च किंरूपः । **समंतसव्वक्खसोक्ख-**

सकल पदार्थ प्रत्यक्ष नहीं होते, और सबके अंतःप्रविष्ट इनका ज्ञान नहीं है, इस कारण वांछित अर्थका ध्यान करते हैं, इनके तो ध्यानका होना संभव है, परंतु केवलीभगवान् तो घातियाकर्म रहित हैं, समस्त पदार्थोंके साक्षात्कार करनेवाले हैं, और सब पदार्थोंका प्रमाण (माप) करनेवाले हैं, इसलिये इन सर्वज्ञके कोई चीजकी इच्छा नहीं रही, और कुछ जानना भी बाकी न रहा, इस कारण केवलीभगवानके ध्यान कैसे होसकता है? ऐसा शिष्यका प्रश्न है ॥ १०५ ॥ आगे इस प्रश्नका उत्तर कहते हैं, कि यद्यपि स्वरूपको प्राप्त हुए हैं, तो भी केवली ध्यान करते हैं—[**अक्षातीतः**] इन्द्रियोंसे रहित [**भूतः**] हुए [**अनक्षः**] दूसरेको इन्द्रिय ज्ञानगम्य न होनेवाले, [**सर्वाबाधवियुक्तः**] समस्त ज्ञानावरणादि घातियाकर्मोंसे रहित और [**समन्तसर्वाक्षसौख्यज्ञानाढ्यः**] सर्वांग परिपूर्ण आत्माके अनंतसुख

एवंभूतश्च सर्वाभिलाषजिज्ञासासंदेहासंभवेऽप्यपूर्वमनाकुलत्वलक्षणं परमसौख्यं ध्यायति। अनाकुलत्वसंगतैकाग्रसंचेतनमात्रेणावतिष्ठत इति यावत्। ईदृशमवस्थानं च सहजज्ञानानन्दस्वभावस्य सिद्धत्वस्य सिद्धिरेव॥ १०६॥

अथायमेव शुद्धात्मोपलम्भलक्षणो मोक्षस्य मार्ग इत्यवधारयति—

एवं जिणा जिणिंदा सिद्धा मग्गं समुट्ठिदा समणा।
जादा णमोत्थु तेसिं तस्स य णिव्वाणमग्गस्स॥ १०७॥

णाणड्ढो समन्ततः सामस्त्येन स्पर्शनादिसर्वाक्षसौख्यज्ञानाढ्यः। समन्ततः सर्वात्मप्रदेशैर्वा स्पर्शनादिसर्वेन्द्रियाणां संबन्धित्वेन ये ज्ञानसौख्ये द्वे ताभ्यामाढ्यः परिपूर्ण इत्यर्थः। तद्यथा—अयं भगवानेकदेशोद्भवसांसारिकज्ञानसुखकारणभूतानि सर्वात्मप्रदेशोद्भवस्वाभाविकातीन्द्रियज्ञानसुखविनाशकानि च यानीन्द्रियाणि निश्चयरत्नत्रयात्मककारणसमयसारबलेनातिक्रामति विनाशयति यदा तस्मिन्नेव क्षणे समस्तबाधारहितः सन्नतीन्द्रियमनन्तमात्मोत्थसुखं ध्यायत्यनुभवति परिणमति। ततो ज्ञायते केवलिनामन्यच्चिन्तानिरोधलक्षणं ध्यानं नास्ति किंत्विदमेव परमसुखानुभवनं वा ध्यानकार्यभूतां कर्मनिर्जरां दृष्ट्वा ध्यानशब्देनोपचर्यते। यत्पुनः सयोगिकेवलिनस्तृतीयशुक्लध्यानमयोगिकेवलिनश्चतुर्थशुक्लध्यानं भवतीत्युक्तं तदुपचारेण ज्ञातव्यमिति सूत्राभिप्रायः॥ १०६॥ एवं केवली किं ध्यायतीति प्रश्नमुख्यत्वेन प्रथमगाथा। परमसुखं ध्यायत्यनुभवतीति परिहारमुख्यत्वेन द्वितीया चेति ध्यानविषयपूर्वपक्षपरिहारद्वारेण तृतीयस्थले गाथाद्वयं गतम्। अथायमेव निजशुद्धात्मोपलब्धिलक्षणमोक्षमार्गो नान्य इति विशेषेण समर्थयति—**जादा** उत्पन्नाः। कथंभूताः। **सिद्धा** सिद्धाः सिद्धपरमेष्ठिनो मुक्तात्मान इत्यर्थः। के कर्तारः। **जिणा** जिनाः अनगार-

---

और अनंतज्ञान इन दोनोंसे पूर्ण ऐसे केवली भगवान् [**परं**] उत्कृष्ट [**सौख्यं**] आत्मीकसुखका [**ध्यायति**] चिंतवन अर्थात् एकाग्रतासे अनुभव करते हैं। **भावार्थ**—यह आत्मा जिस समय अनंतज्ञान अनंतसुखके आवरण करनेवाले एकदेशी ज्ञान सुखके हेतु इन्द्रियोंके नाशसे अतींद्रिय दशाको प्राप्त होता है, तब बाधाओं (रुकावटों)से रहित हुआ अनंतज्ञान अनंतसुख सहित होता है, ऐसे केवली भगवानमें यद्यपि कुछ प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं रही, और कुछ जाननेकी भी अभिलाषा नहीं रही, तथा कुछ संशय भी नहीं रहा, तो भी भगवान् एकाग्रतासे अपने अनंत अनाकुल परमसुखको अनुभवते हैं। इस कारण उपचारसे 'ध्यान करता है' ऐसा कहते हैं। ध्यान करनेका फल यह है, कि पूर्वमें बँधे हुए कर्मोंकी निर्जरा होती है, और आगामी बंधका परमसंवर होता है, इस कारण केवलीभगवानके अपने अनंतसुखका अनुभव करनेसे पूर्व कर्मोंकी निर्जरा होती है; आगेका संवर है, इसलिये उपचारमात्र केवलीके ध्यान है। इस प्रकार स्वाभाविक ज्ञानानन्दस्वरूप सिद्धत्वकी सिद्धि भगवानके ही है॥ १०६॥ आगे शुद्ध आत्माकी प्राप्ति ही मोक्षमार्ग है, निश्चय करते हैं—[**एवं**] इस पूर्वोक्त प्रकारसे [**मार्गं**] सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रमयी शुद्धात्मप्रवृत्तिरूप मोक्षमार्गके प्रति [**समुत्थिताः**] उद्यमी होके प्राप्त हुए जो [**जिनाः**] उसी भवसे मोक्ष जानेवाले सामान्य चरमशरीरी जीव [**जिनेन्द्राः**] अरहंत पदके

एवं जिना जिनेन्द्राः सिद्धा मार्गं समुत्थिताः श्रमणाः ।
जाता नमोऽस्तु तेभ्यस्तस्मै च निर्वाणमार्गाय ॥ १०७ ॥

यतः सर्व एव सामान्यचरमशरीरास्तीर्थकराः अचरमशरीरा मुमुक्षवश्चामुनैव यथोदितेन शुद्धात्मतत्त्वप्रवृत्तिलक्षणेन विधिना प्रवृत्तमोक्षस्य मार्गमधिगम्य सिद्धा बभूवुः, न पुनरन्यथापि । ततोऽवधार्यते केवलमयमेक एव मोक्षस्य मार्गो न द्वितीय इति । अलं च प्रपञ्चेन । तेषां शुद्धात्मतत्त्वप्रवृत्तानां [सिद्धानां] तस्य शुद्धात्मतत्त्वप्रवृत्तिरूपस्य मोक्षमार्गस्य च प्रत्यस्तमितभाव्यभावकविभागत्वेन नोआगमभावनमस्कारोऽस्तु । अवधारितो मोक्षमार्गः कृत्यमनुष्ठीयते ॥ १०७ ॥

अथोपसंपद्ये साम्यमिति पूर्वप्रतिज्ञां निर्वहन् मोक्षमार्गभूतां स्वयमपि शुद्धात्मप्रवृत्तिमासूत्रयति–

तम्हा तह जाणित्ता अप्पाणं जाणगं सभावेण ।
परिवज्जामि ममत्तिं उवट्ठिदो णिम्ममत्तम्मि ॥ १०८ ॥

केवलिनः । **जिणिंदा** न केवलं जिना जिनेन्द्राश्च तीर्थकरपरमदेवाः । कथंभूताः सन्तः एते सिद्धा जाताः । **मग्गं समुट्ठिदा** निजपरमात्मतत्त्वानुभूतिलक्षणमार्गं मोक्षमार्गं समुत्थिता आश्रिताः । केन । एवं पूर्वं बहुधा व्याख्यातक्रमेण । न केवलं जिना जिनेन्द्रा अनेन मार्गेण सिद्धा जाताः **समणा** सुखदुःखादिसमताभावनापरिणतात्मतत्त्वलक्षणाः शेषा अचरमदेहश्रमणाश्च । अचरमदेहानां कथं सिद्धत्वमिति चेत् । "तवसिद्धे णयसिद्धे संजमसिद्धे चरित्तसिद्धे य । णाणम्मि दंसणम्मि य सिद्धे सिरसा णमंसामि ॥" इति गाथाकथितक्रमेणैकदेशेन **णमोत्थु तेसिं** नमोऽस्तु तेभ्यः । अनन्तज्ञानादिसिद्धगुणस्मरणरूपो भावनमस्कारोऽस्तु **तस्स य णिव्वाणमग्गस्स** तस्मै निर्विकारस्वसंवित्तिलक्षणनिश्चयरत्नत्रयात्मकनिर्वाणमार्गाय च । ततोऽवधार्यते अयमेव मोक्षमार्गो नान्य इति ॥ १०७ ॥

अथ 'उवसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाणसंपत्ती' इत्यादि पूर्वप्रतिज्ञां निर्वाहयन् स्वयमपि मोक्षमार्गपरिणतिं स्वीकरोति प्रतिपादयति—**तम्हा** यस्मात्पूर्वोक्तशुद्धात्मोपलम्भलक्षणमोक्षमार्गेण जिना जिनेन्द्राः श्रमणाश्च सिद्धा जातास्तस्मादहमपि **तह** तथैव तेनैव प्रकारेण **जाणित्ता** ज्ञात्वा । कम् । **अप्पाणं** निज-

धारक तीर्थंकर और [**श्रमणाः**] एक दो पर्याय धारणकर मोक्ष जानेवाले ऐसे मोक्षाभिलाषी मुनि हैं, वे [**सिद्धाः**] मोक्षमें सिद्ध अवस्थाको [**जाताः**] प्राप्त हुए हैं, [**तेभ्यः**] उन सबको [**च**] तथा [**तस्मै निर्वाणमार्गाय**] शुद्धात्माकी प्रवृत्तिमयी अनुभवरूप मोक्षमार्गको [**नमः अस्तु**] द्रव्य भावरूप नमस्कार होवे । **भावार्थ**—जो तीर्थंकर वा सामान्यकेवली अथवा अन्य मुनि मोक्षको गये हैं, ये केवल शुद्ध आत्माकी प्रवृत्तिरूप मोक्षमार्गको पाकर ही मुक्त हुए हैं । शुद्धात्माके अनुभव विना दूसरा कोई मोक्षमार्ग नहीं है, यही अद्वितीय मार्ग है । अब बहुत विस्तार कहाँतक किया जावे, सारांश इतना है, कि जो शुद्धात्मतत्त्वमें प्रवर्तमान हैं, ऐसे सिद्ध परमेष्ठियोंको और जो शुद्धात्मतत्त्वकी प्रवृत्तिमयी अनुभवरूप मोक्षमार्ग है, उसको द्रव्य भावरूप नमस्कार होवे ॥ १०७ ॥ आगे आचार्यने जो पूर्व प्रतिज्ञा की थी, कि मैं समताभावोंको अवलंबता हूँ, अब उसीका निर्वाह (पालन) करते हुए मोक्ष-

तस्मात्तथा ज्ञात्वात्मानं ज्ञायकं स्वभावेन ।
परिवर्जयामि ममतामुपस्थितो निर्ममत्वे ॥ १०८ ॥

अहमेष मोक्षाधिकारी ज्ञायकस्वभावात्मतत्त्वपरिज्ञानपुरस्सरममत्वनिर्ममत्वहानोपादानविधानेन कृत्यान्तरस्याभावात्सर्वारम्भेण शुद्धात्मनि प्रवर्तते । तथाहि—**अहं हि तावत् ज्ञायक एव स्वभावेन, केवलज्ञायकस्य च सतो मम विश्वेनापि सहजज्ञेयज्ञायकलक्षण एव संबन्धः न पुनरन्ये स्वस्वामिलक्षणादयः संबन्धाः । ततो मम न क्वचनापि ममत्वं सर्वत्र निर्ममत्वमेव । अथैकस्य ज्ञायकभावस्य समस्तज्ञेयभावस्वभावत्वात्प्रोत्कीर्णलिखितनिखातकीलितमज्जितसमावर्तितप्रतिबिम्बितवत्तत्र क्रमप्रवृत्तानन्तभूतभवद्भाविविचित्रपर्यायप्राग्भारमगाधस्वभावं गम्भीरं**

परमात्मानम् । किंविशिष्टम् । **जाणगं** ज्ञायकं केवलज्ञानाद्यनन्तगुणस्वभावम् । केन कृत्वा ज्ञात्वा । **सभावेण** समस्तरागादिविभावरहितशुद्धबुद्धैकस्वभावेन । पश्चात् किं करोमि । **परिवज्जामि** परि समन्ताद्वर्जयामि । काम् । **ममत्तिं** समस्तचेतनाचेतनमिश्रपरद्रव्यसंबन्धिनीं ममताम् । कथंभूतः सन् । **उवट्ठिदो** उपस्थितः परिणतः । क्व । **णिम्ममत्तम्मि** समस्तपरद्रव्यममकाराहंकाररहितत्वेन निर्ममत्वलक्षणे परमसाम्याभिधाने वीतरागचारित्रे तत्परिणतनिजशुद्धात्मस्वभावे वा । तथाहि–अहं तावत्केवलज्ञानदर्शनस्वभावत्वेन ज्ञायकैकटङ्कोत्कीर्णस्वभावः । तथाभूतस्य सतो मम न केवलं स्वस्वाम्यादयः परद्रव्यसंबन्धा न सन्ति । निश्चयेन ज्ञेयज्ञायकसंबन्धो नास्ति । ततः कारणात्समस्तपरद्रव्यममत्वरहितो भूत्वा परमसाम्यलक्षणे निजशुद्धात्मनि

मार्गरूप शुद्ध आत्माकी प्रवृत्ति दिखलाते हैं—**[तस्मात्]** इस कारणसे अर्थात् जो मुक्त हुए हैं, वे शुद्धात्माके श्रद्धान, ज्ञान, आचरणसे हुए हैं, इस कारणसे **[तथा]** उसी प्रकार अर्थात् जैसे तीर्थंकरादिकोंने स्वरूप जानके शुद्धात्माका अनुभव किया है, उसी तरह मैं भी **[स्वभावेन]** अपने आत्मीक भावसे **[ज्ञायकं]** सकल ज्ञेयपदार्थोंको जाननेवाले **[आत्मानं]** आत्माको **[ज्ञात्वा]** समस्त परद्रव्यसे भिन्न जानकर **[ममतां]** पर वस्तुमें ममत्वबुद्धिको **[परिवर्जयामि]** सब तरहसे छोड़ता हूँ, और **[निर्ममत्वे]** स्वरूपमें निश्चल होके वीतराग भावमें **[उपस्थितः]** स्थित होता हूँ । **भावार्थ—** जो पुरुष मोक्षका इच्छुक है, वह ज्ञानस्वरूप आत्माका जाननेवाला होता है, इसके बाद ममता भावका त्यागी होके वीतरागभावोंका आचरण करता है, तथा अन्य सब कार्य मिथ्या भ्रमरूप समझकर सब प्रकारके उद्यमवाला होके शुद्धात्मामें प्रवर्तता है । उस प्रवृत्तिकी रीति इस तरह है—मैं निजस्वभावसे ज्ञायक (जाननेवाला) हूँ, इस कारण समस्त परवस्तुओंके साथ मेरा ज्ञेयज्ञायक सम्बंध है, लेकिन् वे पदार्थ मेरे हैं, मैं उनका स्वामी हूँ, ऐसा मेरा सम्बंध नहीं है । इसलिये मेरे किसी परवस्तुमें ममत्वभाव नहीं है, सबमें ममताभाव रहित हूँ, और जो मैं एक स्वभाव हूँ, सो मेरा समस्त ज्ञेयपदार्थोंका जानना स्वभाव है, ईस कारण वे ज्ञेय मुझमें ऐसे माळूम होते हैं, कि मानों प्रतिमाकी तरह गढ़ दिये हैं, वा लिखे हैं, या मेरेमें समा गये (मिल गये) हैं, या कीलित हैं, या डूब गये हैं, वा पलट रहे हैं, अथवा प्रतिबिंबित हैं, इस तरह मेरे ज्ञेयज्ञायक संबंध है, अन्य कोई भी संबंध नहीं है । इसलिये अब मैं मोहको

समस्तमपि द्रव्यजातमेकक्षण एव प्रत्यक्षयन्तं ज्ञेयज्ञायकलक्षणसंबन्धस्यानिवार्यत्वेनाशक्यविवेचनत्वादुपात्तवैश्वरूप्यमपि सहजानन्तशक्तिज्ञायकस्वभावेनैक्यरूप्यमनुज्झन्तमासंसारमनयैव स्थित्या स्थितं मोहेनान्यथाध्यवस्यमानं शुद्धात्मानमेष मोहमुत्खाय यथास्थितमेवातिनिःप्रकम्पः संप्रतिपद्ये । स्वयमेव भवतु चास्यैवं दर्शनविशुद्धिमूलया सम्यग्ज्ञानोपयुक्ततयात्यन्तमव्याबाधरतत्वात्साधोरपि साक्षात्सिद्धभूतस्य स्वात्मनस्तथाभूतानां परमात्मनां च नित्यमेव तदेकपरायणत्वलक्षणो भावनमस्कारः ॥ १०८ ॥

जैनं ज्ञानं ज्ञेयतत्त्वप्रणेतृ
स्फीतं शब्दब्रह्म सम्यग्विगाह्य ।
संशुद्धात्मद्रव्यमात्रैकवृत्त्या
नित्यं युक्तैः स्थीयतेऽस्माभिरेवम् ॥

तिष्ठामीति । किंच 'उवसंपयामि सम्मं' इत्यादिस्वकीयप्रतिज्ञां निर्वाहयन्स्वयमपि मोक्षमार्गपरिणतिं स्वीकरोत्येवं यदुक्तं गाथापातनिका प्रारम्भे तेन किमुक्तं भवति–ये तां प्रतिज्ञां गृहीत्वा सिद्धिं गतास्तैरेव सा प्रतिज्ञा वस्तुवृत्त्या समाप्तिं नीता । कुन्दकुन्दाचार्यदेवैः पुनर्ज्ञानदर्शनाधिकारद्वयरूपग्रन्थसमाप्तिरूपेण समाप्तिं नीता । शिवकुमारमहाराजेन तु तद्ग्रन्थश्रवणेन च । कस्मादिति चेत् । ये मोक्षं गतास्तेषां सा प्रतिज्ञा परिपूर्णा जाता । न चैतेषां कस्मात् । चरमदेहत्वाभावादिति ॥ १०८ ॥ एवं ज्ञानदर्शनाधिकारसमाप्तिरूपेण चतुर्थस्थले गाथाद्वयं गतम् ।

एवं निजशुद्धात्मभावनारूपमोक्षमार्गेण ये सिद्धिं गता ये च तदाराधकास्तेषां दर्शनाधिकारापेक्षयावसानमङ्गलार्थं ग्रन्थापेक्षया मध्यमङ्गलार्थं च तत्पदाभिलाषी भूत्वा नमस्कारं करोति—

दंसणसंसुद्धाणं सम्मण्णाणोवजोगजुत्ताणं ।
अव्वाबाधरदाणं णमो णमो सिद्धसाहूणं ॥ *५ ॥

णमो णमो नमो नमः पुनः पुनर्नमस्करोमीति भक्तिप्रकर्षं दर्शयति । केभ्यः । सिद्धसाहूणं सिद्ध-

---

दूर कर अपने यथास्थित (जैसा था वैसा) स्वरूपको निश्चल होकर, आपसे ही अंगीकार करता हूँ । मेरे स्वरूपमें त्रिकालसम्बंधी अनेक प्रकार अति गंभीर सब ही द्रव्य–पर्याय एक ही समयमें प्रत्यक्ष हैं, और मेरा यह स्वरूप ज्ञेयज्ञायक सम्बंधसे यद्यपि समस्त लोकके स्वरूप हुआ है, तो भी स्वाभाविक अनंत ज्ञायकशक्तिसे अपने एक स्वरूपको नहीं छोड़ता, और यह मेरा स्वरूप अनादि कालसे इसी प्रकारका था, परंतु मोहके वशीभूत होके अन्यका अन्य (दूसरा) जाना, इसी कारण मैं अज्ञानी हुआ । अब मैंने जैसेका तैसा (यथार्थ) जान लिया, इस कारण अप्रमादी होके स्वरूपको स्वीकार करता हूँ, और सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानसे अखण्डित सुखमें तिष्ठे हुए साक्षात् सिद्धस्वरूप भगवान् अपनी जो आत्मा है, उसको हमारा भावनमस्कार होवे । तथा जो अन्य जीव उस परमात्मभावको प्राप्त हुए हैं, उनको भी हमारा बहुत भक्तिसे भावनमस्कार होवे ॥ १०८ ॥

ज्ञेयीकुर्वन्नञ्जसासीमविश्वं
ज्ञानीकुर्वन् ज्ञेयमाक्रान्तभेदम् ।
आत्मीकुर्वन् ज्ञानमात्मन्यभासि
स्फूर्जत्यात्मा ब्रह्म संपद्य सद्यः ॥
द्रव्यानुसारि चरणं चरणानुसारि
द्रव्यं मिथो द्वयमिदं ननु सव्यपेक्षम्
तस्मान्मुमुक्षुरधिरोहतु मोक्षमार्गे
द्रव्यं प्रतीत्य यदि वा चरणं प्रतीत्य ॥

इति तत्त्वदीपिकायां प्रवचनसारवृत्तौ श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापनो नाम द्वितीयः श्रुतस्कन्धः समाप्तः ॥ २ ॥

साधुभ्यः । पुनरपि कथंभूतेभ्यः । सिद्धशब्दवाच्यस्वात्मोपलब्धिलक्षणार्हत्सिद्धेभ्यः साधुशब्दवाच्यमोक्षसाधकाचार्योपाध्यायसाधुभ्यः । पुनरपि कथंभूतेभ्यः । **दंसणसंसुद्धाणं** मूढत्रयादिपञ्चविंशतिमलरहितसम्यग्दर्शनसंशुद्धेभ्यः । पुनरपि कथंभूतेभ्यः । **सम्मण्णाणोवजोगजुत्ताणं** संशयादिरहितं सम्यग्ज्ञानं तस्योपयोगः सम्यग्ज्ञानोपयोगः, योगो निर्विकल्पसमाधिर्वीतरागचारित्रमित्यर्थः ताभ्यां युक्ताः सम्यग्ज्ञानोपयोगयुक्तास्तेभ्यः । पुनश्च किंरूपेभ्यः । **अव्वाबाधरदाणं** सम्यग्ज्ञानादिभावनोत्पन्नाव्याबाधानन्तसुखरतेभ्यश्च ॥ ५ ॥ इति नमस्कारगाथासहितस्थलचतुष्टयेन चतुर्थविशेषान्तराधिकारः समाप्तः । एवं 'अत्थित्तणिच्छिदस्स हि' इत्याद्येकादशगाथापर्यन्तं शुभाशुभशुद्धोपयोगत्रयमुख्यत्वेन प्रथमो विशेषान्तराधिकारस्तदनन्तरं 'अपदेसो परमाणू पदेसमेत्तो य' इत्यादिगाथानवकपर्यन्तं पुद्गलानां परस्परबन्धमुख्यत्वेन द्वितीयो विशेषान्तराधिकारस्ततः परं 'अरसमरूवं' इत्यादि एकोनविंशतिगाथापर्यन्तं जीवस्य पुद्गलकर्मणा सह बन्धमुख्यत्वेन तृतीयो विशेषान्तराधिकारस्ततश्च 'ण चयदि जो दु ममत्तिं' इत्यादि द्वादशगाथापर्यन्तं विशेषभेदभावनाचूलिकाव्याख्यानरूपश्चतुर्थो चारित्रविशेषान्तराधिकार इत्येकाधिकपञ्चाशद्गाथाभिर्विशेषान्तराधिकारचतुष्टयेन विशेषभेदभावनाभिधानश्चतुर्थोऽन्तराधिकारः समाप्तः ।

इति श्री**जयसेनाचार्य**कृतायां तात्पर्यवृत्तौ 'तम्हा दंसणमाई' इत्यादि पञ्चत्रिंशद्गाथापर्यन्तं सामान्यज्ञेयव्याख्यानं तदनन्तरं 'दव्वं जीवं' इत्याद्येकोनविंशतिगाथापर्यन्तं जीवपुद्गलधर्मादिभेदेन विशेषज्ञेयव्याख्यानं ततश्च 'सपदेसेहि समग्गो' इत्यादि गाथाष्टकपर्यन्तं सामान्यभेदभावना ततः परं 'अत्थित्तणिच्छिदस्स हि' इत्याद्येकाधिकपञ्चाशद्गाथापर्यन्तं विशेषभेदभावना चेत्यन्तराधिकारचतुष्टयेन त्रयोदशाधिकशतगाथाभिः **सम्यग्दर्शनाधिकार**नामा **ज्ञेया**धिकारापरसंज्ञो द्वितीयो महाधिकारः समाप्तः ॥ २ ॥

इति श्री**पांडे हेमराज**कृत श्रीप्रवचनसार सिद्धांतकी बालावबोध-
भाषाटीकामें **ज्ञेयतत्त्व**का अधिकार पूर्ण हुआ ॥ २ ॥

नसे
ा] प्राप्त
है, वैसा ही
होना चाहता है,

चारित्राधिकारः ॥ ३ ॥

अथ परेषां चरणानुयोगसूचिका चूलिका । तत्र

द्रव्यस्य सिद्धौ चरणस्य सिद्धिः
द्रव्यस्य सिद्धिश्चरणस्य सिद्धौ ।
बुद्ध्वेति कर्माविरताः परेऽपि
द्रव्याविरुद्धं चरणं चरन्तु ॥

इति चरणाचरणे परान् प्रयोजयति—'एस सुरासुर' इत्यादि 'सेसे' इत्यादि 'ते ते' इत्यादि ।

एवं पणमिय सिद्धे जिणवरवसहे पुणो पुणो समणे ।
पडिवज्जदु सामण्णं जदि इच्छदि दुक्खपरिमोक्खं ॥ १ ॥

कार्थं प्रत्यत्रैव ग्रन्थः समाप्त इति ज्ञातव्यम् । कस्मादिति चेत् । 'उवसंपयामि सम्मं' इति प्रतिज्ञासमाप्तेः । अतःपरं यथाक्रमेण सप्ताधिकनवतिगाथापर्यन्तं चूलिकारूपेण चारित्राधिकारव्याख्यानं प्रारभ्यते । तत्र ताव-दुत्सर्गरूपेण चारित्रस्य संक्षेपव्याख्यानम् । तदनन्तरमपवादरूपेण तस्यैव चारित्रस्य विस्तरव्याख्यानम् । ततश्च श्रामण्यापरनाममोक्षमार्गव्याख्यानम् । तदनन्तरं शुभोपयोगव्याख्यानमित्यन्तराधिकारचतुष्टयं भवति । तत्रापि प्रथमान्तराधिकारे पञ्चस्थलानि 'एवं पणमिय सिद्धे' इत्यादि गाथासप्तकेन दीक्षाभिमुखपुरुषस्य दीक्षाविधान-कथनमुख्यतया प्रथमस्थलम् । अतःपरं 'वदसमिदिंदिय' इत्यादिमूलगुणकथनरूपेण द्वितीयस्थले गाथाद्वयम् । तदनन्तरं गुरुव्यवस्थाज्ञापनार्थं 'लिंगग्गहणे' इत्यादि एका गाथा । तथैव प्रायश्चित्तकथनमुख्यतया 'पयदम्हि' इत्यादि गाथाद्वयमिति समुदायेन तृतीयस्थले गाथात्रयम् । अथाधारादिशास्त्रकथितक्रमेण तपोधनस्य संक्षेप-समाचारकथनार्थं 'अधिवासे व' इत्यादि चतुर्थस्थले गाथात्रयम् । तदनन्तरं भावहिंसाद्रव्यहिंसापरिहारार्थं 'अपयत्तादो चरिया' इत्यादिपञ्चमस्थले सूत्रषट्कमित्येकविंशतिगाथाभिः स्थलपञ्चकेन प्रथमान्तराधिकारे समुदायपातनिका । तद्यथा—अथासन्नभव्यजीवांश्चारित्रे प्रेरयति—**पडिवज्जदु** प्रतिपद्यतां स्वीकरोतु ।

इसके बाद चारित्रका अधिकार प्रारंभ करते हैं—जो जीव मोक्षाभिलाषी है, वे द्रव्यके स्वरूपको भी यथार्थ जानते हैं, और चारित्रके स्वरूपको भी यथार्थ जानते है, क्योंकि द्रव्यके ज्ञानके अनुसार चारित्र होता है, और चारित्रके अनुसार द्रव्यज्ञान होता है । इस कारण ये दोनों एकत्र रहते हैं । इन दोनोंमें जो एक न होवे, तो मोक्षमार्ग भी न हो, इसलिये इन दोनोंका जानना योग्य है । इसी कारण चारित्रका स्वरूप कहते है । आगे चारित्रके आचरणमें अन्य जीवोंको युक्त करते है । जो द्रव्यका ज्ञान होवे, तो चारित्रके आचरणकी अच्छी तरह सिद्धि होवे, और जो चारित्र हो, तो द्रव्यका ज्ञान सफल और ऐसे इन दोनोंकी परस्पर सिद्धि है । इस कारण जो जीव क्रियामें प्रवृत्त होते हैं, वे आत्मद्रव्यके है, उसको विरोधी क्रियाका आचरण करो, अहंबुद्धि रहित निरभिलाषी होके आचरो । इसी लिये आचार्य भी हमारा बहुभक्तिके निमित्त यत्याचार कहते हैं । पूर्व ही ग्रंथारंभके आदिमें "एस सुरासुर" इत्यादि

एवं प्रणम्य सिद्धान् जिनवरवृषभान् पुनः पुनः श्रमणान् ।
प्रतिपद्यतां श्रामण्यं यदीच्छति दुःखपरिमोक्षम् ॥ १ ॥

यथा ममात्मना दुःखमोक्षार्थिना, 'किच्चा अरिहंताणं' इति 'तेसिं' इति अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसाधूनां प्रणतिवन्दनात्मकनमस्कारपुरःसरं विशुद्धदर्शनज्ञानप्रधानं साम्यनाम श्रामण्यमवान्तरग्रन्थसंदर्भोभयसंभावितसौस्थित्यं स्वयं प्रतिपन्नं परेषामात्मापि यदि दुःखमोक्षार्थी तथा तत्प्रतिपद्यतां यथानुभूतस्य तत्प्रतिपत्तिवर्त्मनः प्रणेतारो वयमिमे तिष्ठाम इति ॥१॥

अथ श्रमणो भवितुमिच्छन् पूर्वं किं किं करोतीत्युपदिशति—

किम् । **सामण्णं** श्रामण्यं चारित्रम् । यदि किम् । **इच्छदि जदि दुक्खपरिमोक्खं** यदि च दुःखपरिमोक्षमिच्छति । स कः कर्ता । परेषामात्मा । कथं प्रतिपद्यताम् **एवं** एवं पूर्वोक्तप्रकारेण 'एस सुरासुरमणुसिंद' इत्यादिगाथापञ्चकेन पञ्चपरमेष्ठिनमस्कारं कृत्वा ममात्मना दुःखमोक्षार्थिनान्यैः पूर्वोक्तभव्यैर्वा यथा तच्चारित्रं प्रतिपन्नं तथा प्रतिपद्यताम् । किं कृत्वा पूर्वम् । **पणमिय** प्रणम्य । कान् । **सिद्धे** अञ्जनपादुकादिसिद्धिविलक्षणस्वात्मोपलब्धिसिद्धिसमेतसिद्धान् । **जिणवरवसहे** सासादनादिक्षीणकषायान्ता एकदेशजिना उच्यन्ते शेषाश्चानगारकेवलिनो जिनवरा भण्यन्ते । तीर्थंकरपरमदेवाश्च जिनवरवृषभा इति तान् जिनवरवृषभान् । न केवलं तान् प्रणम्य **पुणो पुणो समणे** चिच्चमत्कारमात्रनिजात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनिश्चयरत्नत्रयाचरणप्रतिपादनसाधकत्वोद्यतान् श्रमणशब्दवाच्यानाचार्योपाध्यायसाधूंश्च पुनः पुनः प्रणम्येति । किंच पूर्वं ग्रन्थप्रारम्भकाले शाम्यमाश्रयामीति **शिवकुमारमहाराज**नामा प्रतिज्ञां करोतीति भणितम् । इदानीं तु महात्मना चारित्रं प्रतिपन्नमिति पूर्वापरविरोधः । परिहारमाह—ग्रन्थप्रारम्भात्पूर्वमेव दीक्षा गृहीता तिष्ठति परं किंतु ग्रन्थकरणव्याजेन क्वाप्यात्मानं भावनापरिणतं दर्शयति । क्वापि **शिवकुमारमहाराजं** क्वाप्यन्यं भव्यजीवं वा । तेन कारणेनात्र ग्रन्थे पुरुषनियमो नास्ति कालनियमो नास्तीत्यभिप्रायः ॥ १ ॥ अथ श्रमणो भवन्निच्छन्पूर्वं क्षमितव्यं करोति—'उवट्ठिदो होदि सो समणो' इत्यग्रे षष्ठगाथाय

गाथाओंसे पंचपरमेष्ठियोंको नमस्कार किया था, उन्हीं गाथाओंसे इस यत्याचारके आरंभमें भी आचार्य नमस्कार करते है । अब फिर आचार्य नमस्कारपूर्वक दयालु होके कहते हैं—[**एवं**] इस प्रकार "एस सुरासुर" इत्यादि गाथाओंकर [**जिनवरवृषभान्**] जिनवरोंमें श्रेष्ठ ऐसे अरहंतोंको [**सिद्धान्**] सिद्धोंको [**पुनः पुनः**] अनेक बार [**श्रमणान्**] मुनियोंको [**प्रणम्य**] नमस्कार करके 'भव्यजीवोंको चारित्रमें प्रेरणा करनेका उपदेश करते है, कि हे भव्यजीवो ! जैसे दुःखका नाश करनेके लिये मेरी आत्माने पंच–परमेष्ठियोंको वंदना (नमस्कार) पूर्वक निर्मल ज्ञान दर्शनरूप समताभाव नामवाला यतिमार्ग अंगीकार किया है, उसी प्रकार' [**यदि**] जो तुम्हारा आत्मा भी [**दुःखपरिमोक्षं**] दुःखसे मुक्त होनेकी [**इच्छति**] अभिलाषा करता है, तो [**श्रामण्यं**] यतिधर्मको [**प्रतिपद्यतां**] प्राप्त होवे । **भावार्थ**—जैसा हमने वह साम्यभावरूप मोक्षकामार्गभूत चारित्र अनुभव किया है, वैसा ही तुमको भी कहते हैं, कि तुम भी मुनिमार्गका आचरण करो ॥ १ ॥ आगे जो मुनि होना चाहता है,

आपिच्छ बंधुवग्गं विमोचिदो गुरुकलत्तपुत्तेहिं ।
आसिज्ज णाणदंसणचरित्ततववीरियायारं ॥ २ ॥
आपृच्छ्य बन्धुवर्गं विमोचितो गुरुकलत्रपुत्रैः ।
आसाद्य ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारम् ॥ २ ॥

यो हि नाम श्रमणो भवितुमिच्छति स पूर्वमेव बन्धुवर्गमापृच्छते, गुरुकलत्रपुत्रेभ्य आत्मानं विमोचयति, ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारमासीदति । तथाहि—एवं बन्धुवर्गमापृच्छते, अहो इदंजनशरीरबन्धुवर्गवर्तिन आत्मानः अस्य जनस्य आत्मा न किंचनापि युष्माकं भवतीति निश्चयेन यूयं जानीत तत आपृष्टा यूयं, अयमात्मा अद्योद्भिन्नज्ञानज्योतिः आत्मानमेवात्मनोऽनादिबन्धुमुपसर्पति । अहो इदंजनशरीरजनकस्यात्मन्, अहो इदंजनशरीरजनन्या आत्मन्, अस्य जनस्यात्मान न युवाभ्यां जनितो भवतीति निश्चयेन युवां जानीतं तत इममात्मानं युवां विमु-

यद्व्याख्यानं तिष्ठति तन्मनसि धृत्वा पूर्वं किं कृत्वा श्रमणो भविष्यतीति व्याख्याति—**आपिच्छ** आपृच्छ्य पृष्ट्वा । कम् । **बंधुवग्गं** गोत्रम् । ततः कथंभूतो भवति । **विमोचिदो** विमोचितस्त्यक्तो भवति । कैः कर्तृभूतैः । **गुरुकलत्तपुत्तेहिं** पितृमातृकलत्रपुत्रैः । पुनरपि किं कृत्वा श्रमणो भविष्यति । **आसिज्ज** आसाद्य आश्रित्य । कम् । **णाणदंसणचरित्ततववीरियायारं** ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारमिति । अथ विस्तरः—अहो बन्धुवर्गपितृमातृकलत्रपुत्राः, अयं मदीयात्मा सांप्रतमुद्भिन्नपरमविवेकज्योतिस्सन् स्वकीयचिदानन्दैकस्वभावं परमात्मानमेव निश्चयनयेनानादिबन्धुवर्गं पितरं मातरं कलत्रं पुत्रं चाश्रयति तेन कारणेन मां

वह पहले क्या क्या करे, उसकी परिपाटीको कहते हैं—[**बंधुवर्गं**] अपने कुटुंबसमूहको [**आपृच्छ्य**] पूँछकर [**गुरुकलत्रपुत्रैः**] मा बाप स्त्रीजन और पुत्र इनसे [**विमोचितः**] मुक्त हुआ [**ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारं**] आठ प्रकारका ज्ञानाचार, आठ तरहका दर्शनाचार, तेरह प्रकारका चारित्राचार, बारहप्रकार तपाचार और आत्मशक्तिको प्राप्त करनेवाला ऐसा वीर्याचार, इस तरह पाँच आचारोंको [**आसाद्य**] स्वीकार करके विरक्त होता है । **भावार्थ—**जो जीव मुनि होना चाहता है, वह पहले ही अपने कुटुम्बके लोगोंसे पूँछकर अपनेको छुड़ावे । छुड़ानेकी रीति इस तरहसे है—भो इस जनके शरीरके तुम भाई बंधुओ, इस जनका (मेरा) आत्मा तुम्हारा नहीं है, ऐसा तुम निश्चयकर समझो । इसलिये तुमसे पूँछता हूँ, कि यह मेरी आत्मामें ज्ञान-ज्योति प्रगट हुई है, इस कारण अपना आत्मस्वरूप ही अनादि भाई बंधुको प्राप्त होता । अहो इस जनके शरीरके तुम माता पिताओ, इस जनका आत्मा तुमने उत्पन्न नहीं किया, यह तुम निश्चयसे समझो, इसलिये तुम इस मेरे आत्माके विषयमें ममता भाव छोड़ो । यह आत्मा ज्ञान-ज्योतिकर प्रगट हुआ है, सो अपने आत्मस्वरूप ही माता पिताको प्राप्त होता है । हे इस जनके शरीरका मन हरनेवाली स्त्री, तू इस जनके आत्माको नहीं रमण कराती, (प्रसन्न करती) यह निश्चयसे जान । इस कारण इस आत्मासे ममत्व भाव छोड़ दे । यह आत्मा ज्ञान-ज्योतिकर प्रगट हुआ है, इसलिये अपनी अनुभूतिरूप स्त्रीके साथ रमण-स्वभावी

श्वस्व, अयमात्मा अद्योद्भिन्नज्ञानज्योतिः आत्मानमेवात्मनोऽनादिजनकमुपसर्पति । अहो इदंजनशरीररमण्या आत्मन्, अस्य जनस्यात्मानं न त्वं रमयसीति निश्चयेन त्वं जानीहि तत इममात्मानं विमुञ्च, अयमात्मा अद्योद्भिन्नज्ञानज्योतिः स्वानुभूतिमेवात्मनोऽनादिरमणीमुपसर्पति । अहो इदंजनशरीरपुत्रस्यात्मन्, अस्य जनस्यात्मनो न त्वं जन्यो भवसीति निश्चयेन त्वं जानीहि तत इममात्मानं विमुञ्च, अयमात्मा अद्योद्भिन्नज्ञानज्योतिः आत्मानमेवात्मनोऽनादिजन्यमुपसर्पति । एवं गुरुकलत्रपुत्रेभ्य आत्मानं विमोचयति । तथा अहो कालविनयोपधानबहुमानानिह्नवार्थव्यञ्जनतदुभयसंपन्नलक्षणज्ञानाचार, न शुद्धस्यात्मनस्त्वमसीति निश्चयेन जानामि तथापि त्वां तावदासीदामि यावत्त्वत्प्रसादात् शुद्धमात्मानमुपलभे । अहो निःशङ्कितत्वनिःकाङ्क्षितत्वनिर्विचिकित्सत्वनिर्मूढदृष्टित्वोपबृंहणस्थितिकरणवात्सल्यप्रभावनालक्षणदर्शनाचार, न शुद्धस्यात्मनस्त्वमसीति निश्चयेन जानामि तथापि त्वां तावदासीदामि यावत् त्वत्प्रसादात् शुद्धमात्मान-

मुञ्चत यूयमिति क्षमितव्यं करोति । ततश्च किं करोति परमचैतन्यमात्रनिजात्मतत्त्वसर्वप्रकारोपादेयरुचिपरिच्छित्तिनिश्चलानुभूतिसमस्तपरद्रव्येच्छानिवृत्तिलक्षणतपश्चरणस्वशक्त्यनवगूहनवीर्याचाररूपं निश्चयपञ्चाचारमाचारादिचरणग्रन्थकथिततत्साधकव्यवहारपञ्चाचारं चाश्रयतीत्यर्थः । अत्र यद्गोत्रादिभिः सह क्षमितव्यव्याख्यानं कृतं तदत्रातिप्रसङ्गनिषेधार्थम् । तत्र नियमो नास्ति । कथमिति चेत् । पूर्वकाले प्रचुरेण **भरतसगरराम-**

है । हे जनके शरीरका पुत्र; तू इस जनके आत्मासे नहीं उत्पन्न हुआ, यह निश्चयसे समझ । इस कारण इसमें ममता भाव छोड़, यह आत्मा ज्ञान-ज्योतिकर प्रगट हुआ है, इसलिये अपने आत्माका यह आत्मा ही अनादि पुत्र है, और वह उसको प्राप्त होता है । इस प्रकार माता, पिता, स्त्री, पुत्रादि, कुटुम्बसे अपना पीछा छुड़ावे । अथवा जो कोई जीव मुनि होना चाहता है, वह तो सब तरह कुटुम्बसे विरक्त ही है, उसको कुटुम्बसे पूँछनेका कुछ कार्य ही नहीं रहा, परंतु यदि कुटुम्बसे विरक्त होवे, और जब कुछ कहना पड़े, तब वैराग्यके कारण कुटुम्बके समझानेको इस तरहके वचन निकलते है । यहाँपर ऐसा नहीं समझना, कि जो विरक्त होवे, तो कुटुम्बको राजी करके ही होवे । कुटुम्ब यदि किसी तरह राजी न होवे, तब कुटुम्बके भरोसे रहनेसे विरक्त कभी हो ही नहीं सकता । इस कारण कुटुम्बके पूँछनेका नियम नहीं है । जो कभी किसी जीवको मुनि–दशा धारणके समय कुछ कहना ही होवे, तो पूर्वोक्त प्रकार उपदेशरूप वचन निकलते हैं । उस तरहके वैराग्यरूप वचनोंको सुनकर जो निकट-संसारी जीव कुटुम्बमें हो, वे भी विरक्त होसकते हैं । तथा इसके बाद सम्यग्दृष्टी जीव अपने स्वरूपको देखता है, जानता है, अनुभव करता है, अन्य समस्त ही व्यवहार भावोंसे अपनेको भिन्न मानता है, और परभावरूप सभी शुभाशुभ क्रियाओंको हेयरूप जानता है, अंगीकार नहीं करता । लेकिन वही सम्यग्दृष्टी जीव पूर्व बँधे हुए कर्मोंके उदयसे अनेक प्रकारके विभाव (विकार) भावोंस्वरूप परिणमता है, तो भी उन भावोंसे विरक्त है, वह यह जानता है, कि जबतक इस अशुद्ध परिणतिकी स्थिति है, तबतक यह अवश्य होती है, इस कारण आकुलतारूप भावोंको भी नहीं प्राप्त होता । यह सम्यग्दृष्टी जीव तो सकल द्रव्य भावरूप विभावभावोंका तभी त्याग

मुपलभे । अहो मोक्षमार्गप्रवृत्तिकारणपञ्चमहाव्रतोपेतकायवाङ्मनोगुप्तीर्याभाषैषणादाननिक्षेपण-प्रतिष्ठापनसमितिलक्षणचारित्राचार, न शुद्धस्यात्मनस्त्वमसीति निश्चयेन जानामि तथापि त्वां तावदासीदामि यावत्त्वत्प्रसादात् शुद्धमात्मानमुपलभे । अहो अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यान-रसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशप्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायध्यानव्युत्सर्गलक्षणतप-आचार, न शुद्धस्यात्मनस्त्वमसीति निश्चयेन जानामि तथापि त्वां तावदासीदामि यावत्त्वत्प्र-सादात् शुद्धमात्मानमुपलभे । अहो समस्तेतराचारप्रवर्तकस्वशक्त्यनिगूहनलक्षणवीर्याचार, न

पाण्डवादयो राजान एव जिनदीक्षां गृह्णन्ति, तत्परिवारमध्ये यदा कोऽपि मिथ्यादृष्टिर्भवति तदा धर्मस्यो-पसर्गं करोतीति । यदि पुनः कोऽपि मन्यते गोत्रसंमतं कृत्वा पश्चात्तपश्चरणं करोमि तस्य प्रचुरेण तपश्च-रणमेव नास्ति कथमपि तपश्चरणे गृहीतेऽपि यदि गोत्रादिममत्वं करोति तदा तपोधन एव न भवति । तथाचोक्तम्—"जो सकलणयररज्जं पुव्वं चइऊण कुणइ य ममत्तिं । सो णवरि लिंगधारी संजमसारेण

करचुका, जब इसके स्वपर विवेकरूप भेदविज्ञान प्रगट हुआ था, और तभी टंकोत्कीर्ण निजभाव भी अंगीकार किये । इसलिये सम्यग्दृष्टीको न तो कुछ त्यागनेको रहा है और न कुछ स्वीकार करनेको ही है । परंतु वही सम्यग्दृष्टि जीव चारित्रमोहके उदयसे शुभ भावोंरूप परिणमन करता है, उस परिणमनकी अपेक्षा त्यागता है, और अंगीकार करता है । यही कथन दिखलाते है—प्रथम ही गुणस्थानोंकी परि-पाटीके क्रमसे अशुभ परिणतिकी हानि होती है, उसके बाद धीरे धीरे शुभ परिणति भी छूटती जाती है। इस कारण पहले तो वह गृहवास कुटुम्बका त्यागी होता है, पीछे शुभ रागके उदयसे व्यवहार रत्नत्रय-रूप पंचाचारोंको अंगीकार करता है । यद्यपि ज्ञानभावसे समस्त ही शुभाशुभ क्रियाओंका त्यागी है, परंतु शुभ रागके उदयसे ही पंचाचारोंको ग्रहण करता है । उसकी रीति बतलाते हैं—हे काल, विनय, उपधान, बहुमान, अनिह्नव, अर्थ, व्यंजन, तदुभयरूप आठ प्रकार ज्ञानाचार; मै तुझको जानता हूँ, कि तू शुद्धात्म स्वरूपका निश्चय करके स्वभाव नहीं है, तो भी मै तबतक अंगीकार करता हूँ, जबतक कि तेरे प्रसादसे शुद्धात्माको प्राप्त हो जाऊँ । अहो निःशंकितत्व, निःकांक्षितत्व, निर्विचिकित्सत्व, निर्मूढदृष्टित्व, उपबृंहण, स्थितिकरण, वात्सल्य, प्रभावनास्वरूप, दर्शनाचार; तू शुद्धात्माका स्वरूप नहीं है, ऐसा मैं निश्चयसे जानता हूँ, तो भी तुझको तबतक स्वीकार करता हूँ, जबतक तेरे प्रसादसे शुद्ध आत्माको प्राप्त हो जाऊँ । अहो मोक्षमार्गकी प्रवृत्तिके कारण पंच महाव्रत, तीन गुप्ति, पाँच समितिरूप तेरह प्रकार चारित्राचार; मैं जानता हूँ, कि निश्चयसे तू शुद्धात्माका स्वरूप नहीं है, तथापि तबतक अंगीकार करता हूँ, जबतक कि तेरे प्रसादसे शुद्धात्माको प्राप्त होऊँ । अहो अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसख्यान, रस-परित्याग, विविक्तशय्यासन, कायक्लेश, प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान, व्युत्सर्गस्वरूप बारह प्रकार तपआचार; मै निश्चयसे जानता हूँ, कि तू शुद्धात्माका स्वभाव नहीं है, परंतु तो भी तुझको तबतक स्वीकार करता हूँ, जबतक तेरे प्रसादसे शुद्धस्वरूपको प्राप्त होजाऊँ । अहो समस्त आचारकी प्रवृत्तिके बढ़ानेमें स्वशक्तिके प्रगट करनेवाले वीर्याचार; मैं निश्चयसे जानता हूँ, कि तू शुद्धात्माका स्वरूप नहीं है,

शुद्धस्यात्मनस्त्वमसीति निश्चयेन जानामि तथापि त्वां तावदासीदामि यावत्त्वत्प्रसादात् शुद्धमात्मानमुपलभे । एवं ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारमासीदति च ॥ २ ॥

अथातः कीदृशो भवतीत्युपदिशति—

समणं गणिं गुणड्ढं कुलरूववयोविसिट्ठमिट्ठदरं ।
समणेहि तं पि पणदो पडिच्छ मं चेदि अणुगहिदो ॥ ३ ॥
श्रमणं गणिनं गुणाढ्यं कुलरूपवयोविशिष्टमिष्टतरम् ।
श्रमणैस्तमपि प्रणतः प्रतीच्छ मां चेत्यनुगृहीतः ॥ ३ ॥

ततो हि श्रामण्यार्थी प्रणतोऽनुगृहीतश्च भवति । तथाहि–आचरिताचारितसमस्तविरतिप्रवृत्तिसमानात्मरूपश्रामण्यत्वात् श्रमणम्, एवंविधश्रामण्याचरणाचारणप्रवीणत्वात् गुणाढ्यं,

णिस्सारो" ॥ २ ॥ अथ जिनदीक्षार्थी भव्यो जैनाचार्यमाश्रयति—**समणं** निन्दाप्रशंसादिसमचित्तत्वेन पूर्वसूत्रोदितनिश्चयव्यवहारपञ्चाचारस्य चरणाचरणप्रवीणत्वात् श्रमणम् । **गुणड्ढं** चतुरशीतिलक्षगुणाष्टादशसहस्रशीलसहकारिकारणोत्तमनिजशुद्धात्मानुभूतिगुणेनाढ्यं भृतं परिपूर्णत्वात् गुणाढ्यम् । **कुलरूववयोविसिट्ठं** लोकदुगुंछारहितत्वेन जिनदीक्षायोग्यं कुलं भण्यते । अन्तरङ्गशुद्धात्मानुभूतिरूपकं निर्ग्रन्थनिर्विकारं रूपमुच्यते । शुद्धात्मसंवित्तिविनाशकारिवृद्धबालयौवनोद्रेकजनितबुद्धिवैकल्यरहितं वयश्चेति तैः कुलरूपवयोभिर्विशिष्टत्वात्कुलरूपवयोविशिष्टम् । **इट्ठदरं** संमतम् । कैः । **समणेहिं** निजपरमात्मतत्त्वभावनासहितसम-

परंतु तो भी तुझको तबतक अंगीकार करता हूँ जबतक कि तेरे प्रसाद (कृपा)से शुद्ध स्वरूपको प्राप्त हो जाऊँ । इस प्रकार ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्यरूप पाँच प्रकार आचारको अंगीकार करता है ॥ २ ॥ आगे इसके बाद कैसा होता है, यह कहते हैं—[**तं**] उस [**गणिणं**] परम आचार्यके पास जाकर [**प्रणतः**] नमस्कार करता हुआ [**चापि**] और निश्चयकर [**मां**] हे प्रभो, मुझको [**प्रतीच्छ**] शुद्धात्म तत्त्वकी सिद्धिकरके अंगीकार करो, [**इति**] इस प्रकार बिनती करता हुआ [**अनुगृहीतः**] आचार्य दीक्षाका उपदेश देते हैं, और अंगीकार करते हैं । वे आचार्य कैसे हैं, कि [**श्रमणं**] पंचाचारके आचरण करनेमें तथा करानेमें प्रवीण अर्थात् साम्यभावलीन है, [**गुणाढ्यं**] यतिपदवीका आप आचरण करनेमें अन्यको आचरण करानेमें प्रवीण होनेसे गुणोंकर परिपूर्ण हैं, [**कुलरूपवयोविशिष्टं**] कुलसे, रूपसे, उमरसे, विशेषता लियेहुए (उत्कृष्ट) है, और वे [**श्रमणैः**] मुक्तिके इच्छुक महामुनियोंकर [**इष्टतरं**] अतिप्रिय हैं । **भावार्थ**—जो उत्तम कुलमें उत्पन्न हुआ है, उसकी सब लोक निःशंक होते हुए सेवा करते हैं, जो उत्तम कुलोत्पन्न होगा, उसके कुलकी परिपाटीसे ही क्रूर भावादिक दोषोंका अभाव निश्चयसे होगा । इससे कुलकी विशेषता लिये हुए ही आचार्य होते हैं, आचार्यके बाहरसे रूपकी विशेषता ऐसी है, कि देखनेसे उनमें अंगरंगकी शुद्ध अनुभव-मुद्रा पायी जाती है, तो भी बाहरके शुद्ध रूपकर मानों अंतरंगकी शुद्धता बतलाई जारही है, इस कारण रूपकी विशेषताकर सहित होते हैं, तथा वय (उमर) करके विशेषता इस तरह है, कि बालक, वृद्ध अवस्थामें बुद्धिकी

सकललौकिकजननिःशङ्कसेवनीयत्वात् कुलक्रमागतक्रौर्यादिदोषवर्जितत्वाच्च कुलविशिष्टम्, अन्तरङ्गशुद्धरूपानुमापकबहिरङ्गशुद्धरूपत्वात् रूपविशिष्टं, शैशववार्धक्यकृतबुद्धिविक्लवत्वाभावाद्यौवनोद्रेकक्रियाविविक्तबुद्धित्वाच्च वयोविशिष्टं, निःशेषितयथोक्तश्रामण्याचरणाचारणविषयपौरुषेयदोषत्वेन मुमुक्षुभिरभ्युपगततरत्वात् श्रमणैरिष्टतरं च गणिनं शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भसाधकमाचार्यं शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भसिद्ध्या मामनुगृहाणेत्युपसर्पन् प्रणतो भवति। एवमियं ते शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भसिद्धिरिति तेन प्रार्थितार्थेन संयुज्यमानोऽनुगृहीतो भवति ॥ ३ ॥

अथातोऽपि कीदृशो भवतीत्युपदिशति—

णाहं होमि परेसिं ण मे परे णत्थि मज्झमिह किंचि।
इदि णिच्छिदो जिदिंदो जादो जधजादरूवधरो ॥ ४ ॥
नाहं भवामि परेषां न मे परे नास्ति ममेह किंचित्।
इति निश्चितो जितेन्द्रियः जातो यथाजातरूपधरः ॥ ४ ॥

चित्तश्रमणैरन्याचार्यैः **गणिं** एवंविधगुणविशिष्टं, परमभावनासाधकदीक्षादायकमाचार्यम्। **तं पि पणदो** न केवलमाचार्यमाश्रितो भवति प्रणतोऽपि भवति। केन रूपेण। **पडिच्छ मं** हे भगवन्, अनन्तज्ञानादिजिनगुणसंपत्तिकारणभूताया अनादिकालेऽत्यन्तदुर्लभाया भावसहितजिनदीक्षायाः प्रदानेन प्रसादेन मां प्रतीच्छ स्वीकुरु **चेदि अणुगहिदो** न केवलं प्रणतो भवति, तेनाचार्येणानुगृहीतः स्वीकृतश्च भवति। हे भव्य, निस्सारसंसारे दुर्लभबोधिं प्राप्य निजशुद्धात्मभावनारूपया निश्चयचतुर्विधाराधनया मनुष्यजन्म सफलं कुर्वित्यनेन प्रकारेणानुगृहीतो भवतीत्यर्थः ॥ ३ ॥ अथ गुरुणा स्वीकृतः सन्कीदृशो भवतीत्युपदिशति—**णाहं होमि परेसिं** नाहं भवामि परेषाम्। निजशुद्धात्मनः सकाशात्परेषां भिन्नद्रव्याणां संबन्धी न भवाम्यहम्। **ण मे परे** न मे संबन्धीनि परद्रव्याणि, **णत्थि मज्झमिह किंचि** नास्ति ममेह

विकलतासे रहित हैं, और जवान अवस्थामें काम-विकारसे बुद्धिकी विकलता होती है, उससे भी रहित हैं। ऐसी अवस्थाकी विशेषता लिये हुए आचार्य कहे गये है, और समस्त सिद्धांतोक्त मुनिकी क्रियाके आचरण करने तथा करानेमें जो कभी पीछे दोष हुआ हो, उसको बतलानेवाले हैं, तथा गुणका उपदेश करनेवाले हैं। इसलिये अत्यंत प्रिय है। इत्यादि अनेक गुणोंकर शोभायमान जो आचार्य हैं, उनके पास जाकर यह दीक्षा(व्रत)का ग्रहण करनेवाला पुरुष पहले तो नमस्कार करता है, उसके बाद शुद्धात्मतत्त्वके साधक आचार्यको हाथ जोड़कर बिनती करता है, कि प्रभो, मैं संसारसे भयभीत हुआ हूँ, सो मुझको शुद्धात्मतत्त्वकी सिद्धि होनेके लिये दीक्षा दो। तब आचार्य कहते है, कि तुझको शुद्धात्मतत्त्वकी सिद्धि (प्राप्ति) करनेवाली यह भगवती दीक्षा है। ऐसा कहकर वह मुमुक्षु आचार्यसे कृपायुक्त किया जाता है ॥ ३ ॥ आगे फिर वह कैसा होता है, यह कहते हैं—[**अहं**] मैं [**परेषां**] शुद्ध चिन्मात्रसे अन्य जो परद्रव्य हैं, उनका [**न भवामि**] नहीं हूँ, और [**न मे**] न मेरे [**परे**] परद्रव्य हैं, इसलिये [**इह**] इस लोकमें [**मम**] मेरा [**किंचित्**] कुछ भी [**नास्ति**] नहीं है

ततोऽपि श्रामण्यार्थी यथाजातरूपधरो भवति । तथाहि—अहं तावन्न किंचिदपि परेषां भवामि परेऽपि न किंचिदपि मम भवन्ति, सर्वद्रव्याणां परैः सह तत्त्वतः समस्तसंबन्धशून्यत्वात् । तदिह षड्द्रव्यात्मके लोके न मम किंचिदप्यात्मनोऽन्यदस्तीति निश्चितमतिः परद्रव्यस्वस्वामिसंबन्धनामिन्द्रियनोइन्द्रियाणां जयेन जितेन्द्रियश्च सन् धृतयथानिष्पन्नात्मद्रव्यशुद्धरूपत्वेन यथाजातरूपधरो भवति ॥ ४ ॥

अथैतस्य यथाजातरूपधरत्वस्यासंसारानभ्यस्तत्वेनात्यन्तमप्रसिद्धस्याभिनवाभ्यासकौशलोपलभ्यमानायाः सिद्धेर्गमकं बहिरङ्गान्तरङ्गलिङ्गद्वैतमुपदिशति—

जधजादरूवजादं उप्पाडिदकेसमंसुगं सुद्धं ।
रहिदं हिंसादीदो अप्पडिकम्मं हवदि लिंगं ॥ ५ ॥

किंचिदपि परद्रव्यं मम नास्ति । **इदि णिच्छिदो** इति निश्चितमतिर्जातः । **जिदिंदो जादो** इन्द्रियमनोजनितविकल्पजालरहितानन्तज्ञानादिगुणस्वरूपनिजपरमात्मद्रव्याद्विपरीतेन्द्रियनोइन्द्रियाणां जयेन जितेन्द्रियश्च संजातः सन् **जधजादरूवधरो** यथाजातरूपधरः व्यवहारेण नग्नत्वं यथाजातरूपं निश्चयेन तु स्वात्मरूपं तदित्थंभूतं यथाजातरूपं धरतीति यथाजातरूपधरः निर्ग्रन्थो जात इत्यर्थः ॥ ४ ॥ अथ तस्य पूर्वसूत्रोदितयथाजातरूपधरस्य निर्ग्रन्थस्यानादिकालदुर्लभायाः स्वात्मोपलब्धिलक्षणसिद्धेर्गमकं चिह्नं बाह्याभ्यन्तरलिङ्गद्वयमादिशति —**जधजादरूवजादं** पूर्वसूत्रोक्तलक्षणयथाजातरूपेण निर्ग्रन्थत्वेन जातमुत्पन्नं यथाजातरूपजातम् । **उप्पाडिदकेसमंसुगं** केशश्मश्रुसंस्कारोत्पन्नरागादिदोषवर्जनार्थमुत्पाटितकेशश्मश्रुकम् । **सुद्धं** निरवद्यचैतन्यचमत्कारविसदृशेन सर्वसावद्ययोगेन रहितत्वाच्छुद्धम् । **रहिदं हिंसादीदो** शुद्धचैतन्यरूप-

[**इति**] इस तरह [**निश्चितः**] निश्चय करता हुआ [**जितेन्द्रियः**] पाँच इंद्रियोंका जीतनेवाला [**यथाजातरूपधरः जातः**] आत्माका जैसा कुछ स्वयंसिद्ध स्वरूप है, उसको धारण करता है । **भावार्थ**—जो पुरुष मुनि होना चाहता है, उसके प्रथम तो ऐसे भाव होते हैं, कि न मैं परद्रव्यका हूँ, और न मेरे परद्रव्य हैं, क्योंकि कोई द्रव्य अपना स्वरूप छोड़कर किसीसे मिलता नहीं है, सब जुदे जुदे है । इसलिये संसारमें जो नोकर्म, द्रव्यकर्म, भावकर्मरूप समस्त परभाव हैं, उनमें मेरा स्वरूप कुछ भी नहीं है । मैं सबसे भिन्न अविनाशी टंकोत्कीर्ण वस्तुमात्र हूँ, ऐसा निश्चय करके जितेंद्री होता हुआ जैसा कुछ मुनिका स्वरूप है, उसको धारण करता है ॥ ४ ॥ आगे अनादिकालसे लेकर कभी जिसका अभ्यास नहीं किया था, ऐसा जो यथाजातरूपधारक मुनिपद है, उसकी बतलानेवाली अंतरंग बहिरंग भेदकर लिंगकी द्वैतता दिखलाते है, अर्थात् जिन चिन्होंसे मुनि-पदवी अच्छी तरह जानी जावे, ऐसे द्रव्य भावलिंगोंको कहते हैं—[**यथाजातरूपजातं**] जैसा निर्ग्रंथ अर्थात् परमाणुमात्र परिग्रहसे भी रहित मुनिका स्वरूप होता है, वैसे स्वरूपवाला [**उत्पाटितकेशश्मश्रुकं**] लोंच करडाले है, सिर डाढ़ीके बाल जिसने ऐसा [**शुद्धं**] समस्त परिग्रहरहित होनेसे निर्मल [**हिंसादितः रहितं**] हिंसा आदि पाप योगोंसे रहित और [**अप्रतिकर्म**] शरीरके सम्हालनेकी अथवा सजानेकी क्रियाकर रहित, ऐसा

मुच्छारंभविमुक्कं जुत्तं उवजोगजोगसुद्धीहिं ।
लिंगं ण परावेक्खं अपुणब्भवकारणं जेण्हं ॥ ६ ॥ जुगलं ।
यथाजातरूपजातमुत्पाटितकेशश्मश्रुकं शुद्धम्
रहितं हिंसादितोऽप्रतिकर्म भवति लिङ्गम् ॥ ५ ॥
मूर्च्छारम्भविमुक्तं युक्तमुपयोगयोगशुद्धिभ्याम् ।
लिङ्गं न परापेक्षमपुनर्भवकारणं जैनम् ॥ ६ ॥ युगलम् ।

आत्मनो हि तावदात्मना यथोदितक्रमेण यथाजातरूपधरस्य जातस्यायथाजातरूपधरत्वप्रत्ययानां मोहरागद्वेषादिभावानां भवत्येवाभावः, तदभावात्तु तद्भावभाविनो निवसनभूषणधारणस्य मूर्धजव्यञ्जनपालनस्य सकिंचनत्वस्य सावद्ययोगयुक्तत्वस्य शरीरसंस्कारकरणत्वस्य चाभावाद्यथाजातरूपत्वमुत्पाटितकेशश्मश्रुत्वं शुद्धत्वं हिंसादिरहितत्वमप्रतिकर्मत्वं च भवत्येव, तदेतद्बहिरङ्गं लिङ्गम् । तथात्मनो यथाजातरूपधरत्वापसारितायथाजातरूपधरत्वप्रत्ययमोहरागद्वेषादि-

---

निश्चयप्राणहिंसाकारणभूताया रागादिपरिणतिलक्षणनिश्चयहिंसाया अभावात् हिंसादिरहितम् । **अप्पडिकम्मं हवदि** परमोपेक्षासंयमबलेन देहप्रतिकाररहितत्वादप्रतिकर्म भवति । किम् । **लिंगं** एवं पञ्चविशेषणविशिष्टं लिङ्गं द्रव्यलिङ्गं ज्ञातव्यमिति प्रथमगाथा गता ॥ **मुच्छारंभविमुक्कं** परद्रव्यकाङ्क्षारहितनिर्मोहपरमात्मज्योतिर्विलक्षणा बाह्यद्रव्ये ममत्वबुद्धिर्मूर्च्छा भण्यते, मनोवाक्कायव्यापाररहितचिच्चमत्कारप्रतिपक्षभूत आरम्भो व्यापारस्ताभ्यां मूर्च्छारम्भाभ्यां विमुक्तं मूर्च्छारम्भविमुक्तम् । **जुत्तं उवजोगजोगसुद्धीहिं** निर्विकारस्वसंवेदनलक्षण उपयोगः निर्विकल्पसमाधिर्योगः तयोरुपयोगयोगयोः शुद्धिरुपयोगयोगशुद्धिस्तया युक्तम् । **ण परावेक्खं** निर्मलानुभूतिपरिणतेः परस्य परद्रव्यस्यापेक्षया रहितं न परापेक्षम् । **अपुणब्भ-**

[**लिङ्गं**] मुनीश्वरके **द्रव्यलिंग** [**भवति**] होता है । तथा [**मूर्च्छारम्भवियुक्तं**] परद्रव्यमें मोहसे उत्पन्न ममतारूप परिणामोंके आरंभसे रहित [**उपयोगयोगशुद्धिभ्यां**] ज्ञानदर्शनरूप चैतन्यपरिणामस्वरूप उपयोग और मन वचन कायकी क्रियारूप योग इनकी शुद्धि अर्थात् शुभाशुभरूप रंजकतासे रहित भावरूप उपयोगशुद्धि और योगपरिणतिकी निश्चलतारूप योगशुद्धि इस तरह दो प्रकारकी शुद्धताकर [**युक्तं**] सहित [**न परापेक्षं**] परकी अपेक्षा नहीं रखनेवाला [**अपुनर्भवकारणं**] और मोक्षका कारण ऐसा [**जैनं लिङ्गं**] जिनेन्द्रकर कहा हुआ **भावलिंग** होता है । **भावार्थ—** यथाजातरूप (निर्ग्रंथपने) पदके रोकनेवाले जो राग, द्वेष, मोह, भाव हैं, उनका जब अभाव होता है, तब यह आत्मा आप ही से परिपाटी (क्रम) के अनुसार यथाजातरूपका धारक होता है । उस अवस्थामें इस जीवके रागादि भावोंके बढ़ानेवाले जो वस्त्र आभूषण है, उनका अभाव तथा सिर डाढ़ीके बालोंकी रक्षाका अभाव होता है, निष्परिग्रह दशा होती है, पापक्रियासे रहित होता है, और शरीर मंडनादिक क्रियासे रहित होता है, अर्थात् जैसा मुनिका स्वरूप बाह्यदशासे होता है, वैसा ही बन जाता है, यह द्रव्यलिंग जानना । तथा इस आत्माके जैसा निर्ममत्वादि अंतरंगमें मुनिपद कहा है, वैसी ही

भावानामभावादेव तद्भावभाविनो ममत्वकर्मप्रक्रमपरिणामस्य शुभाशुभोपरक्तोपयोगतत्पूर्वकतथाविधयोगाशुद्धियुक्तत्वस्य परद्रव्यसापेक्षत्वस्य चाभावान्मूर्च्छारम्भवियुक्तत्वमुपयोगयोगशुद्धियुक्तत्वमपरापेक्षत्वं च भवत्येव, तदेतदन्तरङ्गं लिङ्गम् ॥ ५-६ ॥

अथैतदुभयलिङ्गमादायैतदेतत्कृत्वा च श्रमणो भवतीति भवतिक्रियाया बन्धुवर्गप्रच्छनक्रियादिशेषसकलक्रियाणां चैककर्तृकत्वमुद्द्योतयन्नियता श्रामण्यप्रतिपत्तिर्भवतीत्युपदिशति—

आदाय तं पि लिंगं गुरुणा परमेणं तं णमंसित्ता ।
सोच्चा सवदं किरियं उवट्ठिदो होदि सो समणो ॥ ७ ॥
आदाय तदपि लिङ्गं गुरुणा परमेण तं नमस्कृत्य ।
श्रुत्वा सव्रतां क्रियामुपस्थितो भवति स श्रमणः ॥ ७ ॥

ततोऽपि श्रमणो भवितुमिच्छन् लिङ्गद्वैतमादत्ते गुरुं नमस्यति व्रतक्रिये शृणोति अथोप-

---

कारणं पुनर्भवविनाशकशुद्धात्मपरिणामाविपरीतापुनर्भवस्य मोक्षस्य कारणमपुनर्भवकारणम् । **जेण्हं** जिनस्य संबन्धीदं जिनेन प्रोक्तं वा जैनम् । एवं पञ्चविशेषणविशिष्टं भवति । किम् । **लिंगं** भावलिङ्गमिति । इति द्रव्यलिङ्गभावलिङ्गस्वरूपं ज्ञातव्यम् ॥ ५-६ ॥ अथैतल्लिङ्गद्वैतमादाय पूर्वं भाविनैगमनयेन यदुक्तं पञ्चाचारस्वरूपं तदिदानीं स्वीकृत्य तदाधारेणोपस्थितः स्वस्थो भूत्वा श्रमणो भवतीत्याख्याति—**आदाय तं पि लिंगं** आदाय गृहीत्वा तत्पूर्वोक्तं लिङ्गद्वयमपि । कथंभूतम् । दत्तमिति क्रियाध्याहारः । केन दत्तम् । **गुरुणा परमेण** दिव्यध्वनिकाले परमागमोपदेशरूपेणार्हद्भट्टारकेण । दीक्षाकाले तु दीक्षागुरुणा, लिङ्गग्रहणानन्तरं **तं णमंसित्ता** तं गुरुं नमस्कृत्य **सोच्चा** तदनन्तरं श्रुत्वा । काम् । **किरियं** क्रियां बृहत्प्र-

---

अवस्थाका जो स्वरूपका होना उसके रोकनेवाले जो राग द्वेष मोह भाव है, उनका जब अभाव होता है, तब इस आत्माके स्वाभाविक मोक्षका कारण, अहंकार ममता भाव रहित, उपयोगकी शुद्धता संयुक्त, स्वाधीन, अंतरंगलिंग प्रगट होता है । इस प्रकार जब यह आत्मा बाह्य चिन्होंसे और अंतरंग चिन्होंसे यथाजातरूपका धारक होता है, तब इसके मुनिपद कहा है ॥ ५-६ ॥ आगे दो प्रकारके लिंगको अंगीकार कर अन्य क्रियाओंको करके ही मुनि होता है, इस कारण कुटुम्बीलोकोंको पूँछने आदिक क्रियासे लेकर आगे जो समस्त क्रिया मुनि-पदकी पूर्णता तक हैं, उन सब क्रियाओका जब यह एक कर्ता होता है, तब इसके निश्चयसे मुनि-पदकी सिद्धि होती है, यह कहते हैं—[**परमेण गुरुणा**] उत्कृष्ट गुरू जो अरहंत केवली अथवा दीक्षा देनेवाले आचार्यगुरू हैं, उनसे उपदेशित [**तदपि लिङ्गं**] द्रव्य भाव भेदसे दो प्रकारके लिंगको [**आदाय**] अंगीकार करके, [**तं नमस्कृत्य**] दीक्षाके देनेवाले अर्हंत वा आचार्यको [**नमस्कृत्य**] नमस्कार करके और [**सव्रतां**] पाँच महाव्रतों सहित [**क्रियां**] मुनिकी आचार विधिको [**श्रुत्वा**] सुनकर [**सः**] वह मुनिपदका इच्छुक पुरुष [**उपस्थितः**] मुनिपदको एकाग्रतासे अवलम्बनकर तिष्ठता हुआ [**श्रमणः**] सबमें समदृष्टि होनेसे परिपूर्ण साक्षात् मुनि होता है । **भावार्थ**—जो मुनि होना चाहता है, वह प्रथम गुरूके उपदेशसे दो प्रकारके लिंगको धारण

तिष्ठते उपस्थितश्च पर्याप्तश्रामण्यसामग्रीकः श्रमणो भवति । तथाहि—तत इदं यथाजातरूपधरत्वस्य गमकं बहिरङ्गमन्तरङ्गमपि लिङ्गं प्रथममेव गुरुणा परमेणार्हद्भट्टारकेण तदात्वे च दीक्षाचार्येण तदादानविधानप्रतिपादकत्वेन व्यवहारतो दीयमानत्वाद्दत्तमादानक्रियया संभाव्य तन्मयो भवति । ततो भाव्यभावकभावप्रवृत्तेतरेतरसंवलनप्रत्यस्तमितस्वपरविभागत्वेन दत्तसर्वस्वमूलोत्तरपरमगुरुनमस्क्रियया संभाव्य भावस्तववन्दनामयो भवति । ततः सर्वसावद्ययोगप्रत्याख्यानलक्षणैकमहाव्रतश्रवणात्मना श्रुतज्ञानेन समये भवन्तमात्मानं जानन् सामायिकमधिरोहति । ततः समस्तसावद्यकर्मायतनं कायमुत्सृज्य यथाजातरूपं स्वरूपमेकमेकाग्रेणालम्ब्य व्यवतिष्ठमान उपस्थितो भवति, उपस्थितस्तु सर्वत्र समदृष्टित्वात्साक्षाच्छ्रमणो भवति ॥ ७ ॥

अथाविच्छिन्नसामायिकाधिरूढोऽपि श्रमणः कदाचिच्छेदोपस्थापनमर्हतीत्युपदिशति—

तिक्रमणाम् । किंविशिष्टाम् । **सवदं** सव्रतां व्रतारोपणसहिताम् । **उवट्ठिदो** ततश्चोपस्थितः स्वस्थः सन् **होदि सो समणो** स पूर्वोक्तस्तपोधन इदानीं श्रमणो भवतीति । इतो विस्तरः—पूर्वोक्तलिङ्गद्वयग्रहणानन्तरं पूर्वसूत्रोक्तपञ्चाचारमाश्रयति ततश्चानन्तज्ञानादिगुणस्मरणरूपेण भावनमस्कारेण तथैव तद्गुणप्रतिपादकवचनरूपेण द्रव्यनमस्कारेण च गुरुं नमस्करोति । ततः परं समस्तशुभाशुभपरिणामनिवृत्तिरूपं स्वस्वरूपे निश्चलावस्थानं परमसामायिकव्रतमारोहति स्वीकरोति । मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतैश्च जगत्त्रये कालत्रयेऽपि समस्तशुभाशुभकर्मभ्यो भिन्ना निजशुद्धात्मपरिणतिलक्षणा या तु क्रिया सा निश्चयेन बृहत्प्रतिक्रमणा भण्यते । व्रतारोपणानन्तरं तां च शृणोति । ततो निर्विकल्पं समाधिबलेन कायमुत्सृज्योपस्थितो भवति, ततश्चैवं परिपूर्णश्रमणसामग्र्यां सत्यां परिपूर्णश्रमणो भवतीत्यर्थः ॥ ७ ॥ एवं दीक्षाभिमुखपुरुषस्य दीक्षाविधानकथनमुख्यत्वेन प्रथमस्थले गाथासप्तकं गतम् । अथ निर्विकल्पसामायिकसंयमे यदा च्युतो

करता है । वह दो प्रकारका लिंग व्यवहारसे गुरूका दिया हुआ कहा जाता है, क्योंकि गुरूने ही द्रव्य भाव लिंगकी विधि बतलाई है, और यह शिष्य जब इस लिंगको स्वीकार करता है, तब मानता है, कि गुरूने मुझको मुनिपद दिया है, ऐसी भावनासे तन्मय होता है । पीछे गुरूको परम उपकारी जानकर नमस्कार करता है, उसके बाद बहुत भक्तिसे स्तुति करता है, और सब पापयोगोंकी क्रियाके दूर करनेवाले पाँच महाव्रतोंको प्रत्याचाररूप श्रुतज्ञानसे सुनता है, तथा जैसा सिद्धान्तमें टंकोत्कीर्ण शुद्ध सिद्ध समान आत्माका स्वरूप कहा है, वैसा ही जानता हुआ राग द्वेषसे रहित सामायिक दशाको प्राप्त होता है, और प्रतिक्रमण, आलोचन, प्रत्याख्यानस्वरूप श्रुतज्ञानसे सुनता है, सुनकर तीन कालके कर्मोंसे भी भिन्न अपने स्वरूपका अनुभव करता है । तीन कालकी मन, वचन, कायकी क्रियासे रहित स्थिर स्वरूपको प्राप्त होता है, और जिस शरीरकी क्रियासे पाप होवे, ऐसे काययोगका त्यागी होता है, तथा यथाजातस्वरूपको धारणकर एकाग्रसे तिष्ठता है । जब इतनी संपूर्ण क्रियायें होती हैं, तभी मुनिपदवी होती है ॥ ७ ॥ आगे यद्यपि अखंडित सामायिक दशाको मुनि प्राप्त है, तो भी किसी कालमें छेदोपस्थापक होता है, यह कहते हैं **[व्रतसमितीन्द्रियरोधाः]** पाप योगक्रियासे रहित पाँच महाव्रत,

वदसमिदिंदियरोधो लोचावस्सयमचेलमण्हाणं ।
खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयणमेगभत्तं च ॥ ८ ॥
एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता ।
तेसु पमत्तो समणो छेदोवट्ठावगो होदि ॥ ९ ॥ जुम्मं ।
व्रतसमितीन्द्रियरोधो लोचावश्यकमचेलमस्नानम् ।
क्षितिशयनमदन्तधावनं स्थितिभोजनमेकभक्तं च ॥ ८ ॥
एते खलु मूलगुणाः श्रमणानां जिनवरैः प्रज्ञप्ताः ।
तेषु प्रमत्तः श्रमणः छेदोपस्थापको भवति ॥ ९ ॥ युग्मम् ।

सर्वसावद्ययोगप्रत्याख्यानलक्षणैकमहाव्रतव्यक्तवशेन हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहविरत्यात्मकं पञ्चतयं व्रतं तत्परिकरश्च पञ्चतयी समितिः पञ्चतय इन्द्रियरोधो लोचः षट्तयमावश्य-

---

भवति तदा सविकल्पं छेदोपस्थापनचारित्रमारोहतीति प्रतिपादयति—**वदसमिदिंदियरोधो** व्रतानि च समितयश्चेन्द्रियरोधश्च व्रतसमितिन्द्रियरोधः । **लोचावस्सयं** लोचं चावश्यकानि लोचावश्यकं, "समाहारस्यैकवचनम्" । **अचेलमण्हाणं खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयणमेगभत्तं च** अचेलकास्नानक्षितिशयनादन्तधावनस्थितिभोजनैकभक्तानि ॥ **एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता** एते खलु स्फुटं अष्टाविंशतिमूलगुणाः श्रमणानां जिनवरैः प्रज्ञप्ताः **तेसु पमत्तो समणो छेदोवट्ठावगो होदि** तेषु मूलगुणेषु यदा प्रमत्तः च्युतो भवति । सः कः । श्रमणस्तपोधनस्तदाकाले छेदोपस्थापको भवति । छेदे व्रतखण्डने सति पुनरप्युपस्थापकश्छेदोपस्थापक इति । तथाहि—निश्चयेन मूलमात्मा तस्य केवलज्ञानाद्यनन्तगुणा मूलगुणास्ते च निर्विकल्पसमाधिरूपेण परमसामायिकाभिधानेन निश्चयैकव्रतेन मोक्षबीजभूतेन मोक्षे जाते सति सर्वे प्रकटा भवन्ति । तेन कारणेन

पाँच समिति, और पाँच इन्द्रियोंका निरोध (रोकना) [**लोचावश्यकं**] केशोंका लोंच, छह आवश्यक क्रियायें, [**अचैलक्यं**] दिगम्बर अवस्था, [**अस्नानं**] अग प्रक्षालनादि क्रियासे रहित होना, [**क्षितिशयनं**] भूमिमें सोना, [**अदन्तधावनं**] दाँतोन नहीं करना, [**स्थितिभोजनं**] खड़े होकर भोजन करना, [**च**] और [**एकभुक्तः**] एक बार भोजन करना, [**एते**] ये २८ [**मूलगुणाः**] मूलगुण [**श्रमणानां**] मुनीश्वरोंके [**जिनवरैः**] सर्वज्ञवीतरागदेवने [**खलु**] निश्चयकर [**प्रज्ञप्ताः**] कहे हैं, इन मूलगुणोंसे ही यतिपदवी स्थिर रहती है । [**तेषु**] उन मूलगुणोंमें जो किसी समय [**प्रमत्तः**] प्रमादी हुआ [**श्रमणः**] मुनि हो, तो [**छेदोपस्थापकः**] संयमके छेद (भंग) का फिर स्थापन करनेवाला होता है । **भावार्थ—**ये अट्ठाईस मूलगुण निर्विकल्प सामायिकके भेद हैं, इस कारण ये मुनिके मूलगुण हैं, इन्हींसे मुनिपदकी सिद्धि होती है । जो कभी इन गुणोंमें प्रमादी होजावे, तो निर्विकल्प सामायिकका भंग होजाता है, इसलिये इनमें सावधान होना योग्य है । जो यह माळूम हो, कि मेरे इस भेदमें संयमका भंग हुआ है, तो उसी भेदमें फिर आत्माको स्थापन करे, उस

कमचेलक्यमस्नानं क्षितिशयनमदन्तधावनं स्थितिभोजनमेकभक्तश्चैवं एते निर्विकल्पसामायिकसंयमविकल्पत्वात् श्रमणानां मूलगुणा एव। तेषु यदा निर्विकल्पसामायिकसंयमाधिरूढत्वेनानभ्यस्तविकल्पत्वात्प्रमाद्यति तदा केवलकल्याणमात्रार्थिनः कुण्डलवलयाङ्गुलीयादिपरिग्रहः किल श्रेयान्, न पुनः सर्वथा कल्याणलाभ एवेति संप्रधार्य विकल्पेनात्मानमुपस्थापयन् छेदोपस्थापको भवति ॥ ८-९ ॥

अथास्य प्रव्रज्यादायक इव छेदोपस्थापकः परोऽप्यस्तीत्याचार्यविकल्पप्रज्ञापनद्वारेणोपदिशति—

लिंगग्गहणे तेसिं गुरु त्ति पव्वज्जदायगो होदि ।
छेदेसूवट्ठवगा सेसा णिज्जावगा समणा ॥ १० ॥
लिङ्गग्रहणे तेषां गुरुरिति प्रव्रज्यादायको भवति ।
छेदयोरुपस्थापकाः शेषा निर्यापकाः श्रमणाः ॥ १० ॥

तदेव सामायिकं मूलगुणव्यक्तिकारणत्वात् निश्चयमूलगुणो भवति। यदा पुनर्निर्विकल्पसमाधौ समर्थो न भवत्ययं जीवस्तदा यथा कोऽपि सुवर्णार्थी पुरुषः सुवर्णमलभमानस्तत्पर्यायानपि कुण्डलादीन् गृह्णाति न च सर्वथा त्यागं करोति, तथायं जीवोऽपि निश्चयमूलगुणाभिधानपरमसमाध्यभावे छेदोपस्थापनं चारित्रं गृह्णाति। छेदे सत्युपस्थापनं छेदोपस्थापनम्। अथवा छेदेन व्रतभेदेनोपस्थापनं छेदोपस्थापनम्। तच्च संक्षेपेण पञ्चमहाव्रतरूपं भवति। तेषां व्रतानां च रक्षणार्थं पञ्चसमित्यादिभेदेन पुनरष्टाविंशतिमूलगुणभेदा भवन्ति। तेषां च मूलगुणानां रक्षणार्थं द्वाविंशतिपरीषहजयद्वादशविधतपश्चरणभेदेन चतुस्त्रिंशदुत्तरगुणा भवन्ति तेषां च रक्षणार्थं देवमनुष्यतिर्यगचेतनकृतचतुर्विधोपसर्गजयद्वादशानुप्रेक्षाभावनादयश्चेत्यभिप्रायः ॥ ८-९ ॥ एवं मूलोत्तरगुणकथनरूपेण द्वितीयस्थले सूत्रद्वयं गतम्। अथास्य तपोधनस्य प्रव्रज्यादायक इवान्योऽपि निर्यापकसंज्ञो गुरुरस्ति इति गुरुव्यवस्थां निरूपयति—**लिंगग्गहणे तेसिं** लिङ्गग्रहणे तेषां तपोधनानां

अवस्थामें छेदोपस्थापक होता है। जैसे कोई पुरुष सुवर्णका इच्छुक है, उस पुरुषको सोनेकी कंकण, कुंडल, मुद्रिका, आदि जितनी पर्यायें है, वे सब ग्रहण करना कल्याणकारी है, ऐसा नहीं है, कि सोना ही ग्रहण योग्य है, उसके भेद—पर्याय ग्रहण योग्य नहीं हो। यदि भेदोंको ग्रहण नहीं करेगा, तो सोनेकी प्राप्ति कहाँसे हो सकती है ? क्योंकि सोना तो उन भेदोंस्वरूप ही है, इस कारण सोनेके सब पर्याय-भेद ग्रहण करने योग्य हैं। उसी प्रकार निर्विकल्प सामायिक संयमका जो अभिलाषी है, उसको उस सामायिकके भेद २८ मूलगुण भी ग्रहण करने योग्य हैं, क्योंकि सामायिक इन मूलगुणोंरूप है, इस कारण इन गुणोंमें वह मुनि सावधान होता है, यदि किसी कारणसे कभी भंग होजावे, तो फिर स्थापन करता है ॥ ८-९ ॥ आगे जैसे इस मुनिको दीक्षाके देनेवाले आचार्य होते है, उसी प्रकार इसके संयम भंग हुआ हो, तो उपदेश देकर संयमके भेदोंमें फिर स्थापन करे, इस प्रकार भेदका बतलानेवाला दूसरा भी इसका गुरू होता है, यह कहते हैं—[**तेषां**] पूर्वोक्त मुनियोंके [**लिङ्गग्रहणे**] मुनिलिङ्ग ग्रह-

यतो लिङ्गग्रहणकाले निर्विकल्पसामायिकसंयमप्रतिपादकत्वेन यः किलाचार्यः प्रव्रज्यादायकः स गुरुः, य पुनरनन्तरं सविकल्पच्छेदोपस्थापनसंयमप्रतिपादकत्वेन छेदं प्रत्युपस्थापकः स निर्यापकः, योऽपि छिन्नसंयमप्रतिसंधानविधानप्रतिपादकत्वेन छेदे सत्युपस्थापकः सोऽपि निर्यापक एव। ततश्छेदोपस्थापकः परोऽप्यस्ति ॥ १० ॥

अथ छिन्नसंयमप्रतिसंधानविधानमुपदिशति—

पयदम्हि समारद्धे छेदो समणस्स कायचेट्ठम्हि ।
जायदि जदि तस्स पुणो आलोयणपुव्विया किरिया ॥ ११ ॥

गुरु त्ति होदि गुरुर्भवतीति । स कः । **पव्वज्जदायगो** निर्विकल्पसमाधिरूपपरमसामायिकप्रतिपादको योऽसौ प्रव्रज्यादायकः स एव दीक्षागुरुः **छेदेसु अ वट्टगा** छेदयोश्च वर्तकाः ये **सेसा णिज्जावगा समणा** ते शेषाः श्रमणा निर्यापका भवन्ति शिक्षागुरवश्च भवन्तीति । अयमत्रार्थः— निर्विकल्पसमाधिरूपसामायिकस्यैकदेशेन च्युतिरेकदेशच्छेदः, सर्वथा च्युतिः सकलदेशच्छेद इति देशसकलभेदेन द्विधा छेदः । तयोश्छेदयोर्ये प्रायश्चित्तं दत्त्वा संवेगवैराग्यजनकपरमागमवचनैः संवरणं कुर्वन्ति ते निर्यापकाः शिक्षागुरवः श्रुतगुरवश्चेति भण्यन्ते । दीक्षादायकस्तु दीक्षागुरुरित्यभिप्रायः ॥ १० ॥ अथ पूर्वसूत्रोक्तच्छेदद्वयस्य प्रायश्चित्तविधानं कथयति--**पयदम्हि समारद्धे छेदो समणस्स कायचेट्ठम्हि जायदि जदि** प्रयतायां समारब्धायां छेदः श्रमणस्य कायचेष्टायां जायते यदि चेत् । अथ विस्तरः--छेदो जायते यदि चेत् । स्वस्थभावच्युतिलक्षणः छेदो भवति । कस्याम् । कायचेष्टायाम् । कथंभूतायाम् । प्रयतायां स्वस्वभावलक्षणप्रयत्नपरायां समारब्धायां अशनशयनयानस्थानादिप्रारब्धायाम् । **तस्स पुणो आलोयणपुव्विया**

णकी अवस्थामें [**गुरुः**] जो गुरू होता है, वह [**प्रव्रज्यादायकः**] दीक्षाको देनेवाला [**भवति**] होता है, अर्थात् कहा जाता है, [**छेदयोः**] एक देश सर्वदेशके भेदकर जो दो प्रकारके छेद अर्थात् संयमके भेद उनके [**उपस्थापकाः**] उपदेश देकर फिर स्थापन करनेवाले [**शेषाः**] अन्य [**श्रमणाः**] यत्याचारमें अति प्रवीण महामुनि है, वे [**निर्यापकाः**] निर्यापकगुरु कहे जाते हैं । **भावार्थ—**प्रथम तो जिस आचार्यके पाससे मुनिपदकी दीक्षा लीजावे, वह गुरू **दीक्षादायक** कहा जाता है, और दीक्षा लेनेके बाद अंतरंग एकदेश जो कभी संयमका भंग हुआ हो, तो जिस गुरूके उपदेशसे फिर उस संयमकी स्थापना कीजावे, वह गुरू निर्यापक कहा जाता है, अथवा यदि जिस संयमका सर्वथा ही नाश हुआ हो, तो वह संयम जिस गुरूके उपदेशसे फिर अंगीकार किया जावे, वह गुरू भी **निर्यापक** कहा जाता है ॥ १० ॥ आगे जो सयमरूप वृक्ष भंग हुआ हो, तो उसके जोड़नेकी विधि दिखलाते हैं—[**प्रयतायां**] यत्नपूर्वक [**समारब्धायां**] आरम्भ हुई [**कायचेष्टायां**] शरीरकी क्रियाके होनेपर [**यदि**] जो [**श्रमणस्य**] मुनिके [**छेदः**] संयमका भंग [**जायते**] उत्पन्न हो, तो [**पुनः**] फिर [**तस्य**] उस मुनिको [**आलोचनपूर्विका क्रिया**] जैसी कुछ यत्याचार ग्रंथोंमें आलोचना-क्रिया कही गई है, वैसी ही करनी चाहिये, यह उपाय है । [**छेदोप**-

छेदपउत्तो समणो समणं ववहारिणं जिणमदम्हि ।
आसेज्जालोचित्ता उवदिट्ठं तेण कायव्वं ॥ १२ ॥ जुगलं ।
प्रयतायां समारब्धायां छेदः श्रमणस्य कायचेष्टायाम् ।
जायते यदि तस्य पुनरालोचनापूर्विका क्रिया ॥ ११ ॥
छेदप्रयुक्तः श्रमणः श्रमणं व्यवहारिणं जिनमते ।
आसाद्यालोच्योपदिष्टं तेन कर्तव्यम् ॥ १२ ॥ युगलम् ।

द्विविधः किलः संयमस्य छेदः, बहिरङ्गोऽन्तरङ्गश्च । तत्र कायचेष्टामात्राधिकृतो बहिरङ्गः, उपयोगाधिकृतः पुनरन्तरङ्गः । तत्र यदि सम्यगुपयुक्तस्य श्रमणस्य प्रयत्नसमारब्धायाः कायचेष्टायाः कथंचिद्बहिरङ्गच्छेदो जायते तदा तस्य सर्वथान्तरङ्गच्छेदवर्जितत्वादालोचनपूर्विकया क्रिययैव प्रतीकारः । यदा तु स एवोपयोगाधिकृतच्छेदत्वेन साक्षाच्छेद एवोपयुक्तो भवति

किरिया तस्य पुनरालोचनपूर्विका क्रिया । तदा काले तस्य तपोधनस्य स्वस्थभावस्य बहिरङ्गसहकारिकारणभूता प्रतिक्रमणलक्षणालोचनपूर्विका पुनः क्रियैव प्रायश्चित्तं प्रतिकारो भवति न चाधिकम् । कस्मादिति चेत् । अभ्यन्तरे स्वस्थभावचलनाभावादिति प्रथमगाथा गता । **छेदपउत्तो समणो** छेदे प्रयुक्तः श्रमणो निर्विकारस्वसंवित्तिभावनाच्युतिलक्षणच्छेदेन यदि चेत् प्रयुक्तः सहितः श्रमणो भवति । **समणं ववहारिणं जिणमदम्हि** श्रमणं व्यवहारिणं जिनमते तदा जिनमते व्यवहारज्ञं प्रायश्चित्तकुशलं श्रमणं **आसेज्ज** आसाद्य प्राप्य न केवल साद्य **आलोचित्ता** निःप्रपञ्चभावेनालोच्य दोषनिवेदनं कृत्वा । **उवदिट्ठं**

युक्तः श्रमणः] अंतरंग उपयोगरूप यतिपद जिसके भंग हुआ हो, ऐसा मुनि [**जिनमते व्यवहारिणं**] वीतराग-मार्गमें व्यवहारक्रियामें चतुर [**श्रमणं**] महामुनिको [**आसाद्य**] प्राप्त होकर [**आलोच्य**] और अपने दोष प्रकाशित करके (कह करके) [**तेन**] उस महामुनिसे [**उपदिष्टं**] उपदेश किया गया, जो मुनिपद भंगका दंड वह [**कर्तव्यं**] करे। **भावार्थ**—संयमका भंग दो प्रकार होता है, एक तो बहिरङ्ग दूसरा अंतरङ्ग। जो उपयोगके विना शरीर ही की क्रियासे भंग हुआ हो, वह बहिरङ्ग है, और जो उपयोगकर भंग हुआ हो, वह अंतरंग है । इस तरह दो प्रकारसे संयमका भंग जानना । जो मुनि अंतरंगमें उपयोगकी निर्मलतासे संयममें सावधान है, और बहिरङ्ग चलना, बैठना, सोना, आदि शरीरकी क्रियाओंमें यत्नसे प्रवर्तता है, तथा यत्न करनेपर भी जिसका किसी तरह शरीरमात्र क्रियासे उपयोग विना ही संयमका भंग हुआ हो, तो उस मुनिके सर्वथा अंतरंगमें संयमका भंग नहीं हुआ, किंतु वहाँपर किसी जातिका बहिरङ्गमें उस मुनिके उस संयमके स्थापन करनेका उपाय आलोचनादिक किया है । आलोचनादिक क्रियासे उस दोषकी निवृत्ति होती है, और जो अंतरङ्गमें उपयोगसे संयमका घात हुआ हो, तो यह साक्षात् संयमका घात है । वह मुनि इस दोषको दूर करनेके लिये जो आचार्य महामुनि भगवंत कथित व्यवहार-मार्गमें प्रवीण (चतुर) हो, उसके पास जाकर अपना दोष प्रकाशे, (कहे) आलोचनादि क्रिया करे, और वह आचार्य जो संयमके शुद्ध करनेका उपाय

तदा जिनोदितव्यवहारविधिविदग्धश्रमणाश्रयणालोचनपूर्वकतदुपदिष्टानुष्ठानेन प्रतिसंधानम् ॥ ११-१२ ॥

अथ श्रामण्यस्य छेदायतनत्वात् परद्रव्यप्रतिबन्धा प्रतिषेध्या इत्युपदिशति—

अधिवासे व विवासे छेदविहूणो भवीय सामण्णे ।
समणो विहरदु णिच्चं परिहरमाणो णिबंधाणि ॥ १३ ॥

अधिवासे वा विवासे छेदविहीनो भूत्वा श्रामण्ये ।
श्रमणो विहरतु नित्यं परिहरमाणो निबन्धान् ॥ १३ ॥

सर्व एव हि परद्रव्यप्रतिबन्धा उपयोगोपरञ्जकत्वेन निरुपरागोपयोगरूपस्य श्रामण्यस्य छेदा-

---

तेण कायव्वं उपदिष्टं तेन कर्तव्यम् । तेन प्रायश्चित्तपरिज्ञानसहिताचार्येण निर्विकारस्वसंवेदनभावनानुकूलं यदुपदिष्टं प्रायश्चित्तं तत्कर्तव्यमिति सूत्रतात्पर्यम् ॥ ११-१२ ॥ एवं गुरुव्यवस्थाकथनरूपेण प्रथमगाथा, तथैव प्रायश्चित्तकथनार्थं गाथाद्वयमिति समुदायेन तृतीयस्थले गाथात्रयं गतम् । अथ निर्विकारश्रामण्यच्छेदजनकान्परद्रव्यानुबन्धान्निषेधयति—**विहरदु** विहरतु विहारं करोतु । स कः । **समणो** शत्रुमित्रादिसमचित्तश्रमणः **णिच्चं** नित्यं सर्वकालम् । किं कुर्वन्सन् । **परिहरमाणो** परिहरन्सन् । कान् । **णिबंधाणि** चेतनाचेतनमिश्रपरद्रव्येष्वनुबन्धान् । क विहरतु । **अधिवासे** अधिकृतगुरुकुलवासे निश्चयेन स्वकीयशुद्धात्मवासे वा **विवासे** गुरुविरहितवासे वा । किं कृत्वा । **सामण्णे** निजशुद्धात्मानुभूतिलक्षणनिश्चयचारित्रे **छेदविहूणो भवीय** छेदविहीनो भूत्वा रागादिरहितनिजशुद्धात्मानुभूतिलक्षणनिश्चयचारित्रच्युतिरूपच्छेदरहितो भूत्वा । तथाहि—गुरुपार्श्वे यावन्ति शास्त्राणि तावन्ति पठित्वा तदनन्तरं गुरुं पृष्ट्वा च समशील-

---

(आचरण) बतलावे, उसको अंगीकार करे। इस प्रकार फिर संयमको स्थापन करना चाहिये। ऐसे यह अंतरङ्ग बहिरङ्गरूप दो प्रकारकी संयमका छेदोपस्थापन जानना योग्य है ॥ ११-१२ ॥ आगे मुनिपदके भंगका कारण परद्रव्योंके साथ संबंध है, इसलिये परके संबंधोंका निषेध करते हैं—[**श्रामण्ये**] समताभावरूप यति अवस्थामें [**छेदविहीनो भूत्वा**] अंतरंग बहिरंग भेदसे दो तरहका जो मुनिपदका भंग है, उससे रहित होकर [**नित्यं**] सर्वदा (हमेशा) [**निबन्धान्**] परद्रव्यमें इष्ट अनिष्ट सम्बन्धोंके [**परिहरमाणः**] त्यागता हुआ [**अनिवासे**] आत्मामें आत्माको अंगीकार कर जहाँ गुरूका वास हो, वहाँपर अर्थात् उन पूज्य गुरुओंकी संगतिमें रहे, [**वा**] अथवा [**विवासे**] अथवा उससे दूसरी जगह रहकर [**विहरतु**] व्यवहार कर्म करे। **भावार्थ**—जो मुनि अपने गुरूओंके पास रहे, तब तो बहुत अच्छी बात है, अथवा अन्य जगह रहे, तब भी अच्छा है। परंतु सब जगह इष्ट अनिष्ट विषयोंमें सम्बन्ध (राग द्वेष) का त्याग होना चाहिये, तथा मुनिपदवीके भंग होजानेका कारण परद्रव्यके साथ संबंध होना ही है, क्योंकि परद्रव्यके संबंधसे अवश्य ही उपयोग भूमिमें रागभाव होता है, जिस जगह रागभाव है, वहाँपर वीतरागभाव यतिपदका भंग होता ही है। इस कारण परद्रव्यके साथ संबंध होना उपयोगकी अशुद्धताके कारण हैं। इसलिये परद्रव्य संबंध मुनिको सर्वथा निषेध किया है।

यतनानि तदभावादेवाछिन्नश्रामण्यम् । अत आत्मन्येवात्मनो नित्याधिकृत्य वासे वा [गुरुत्वेन गुरूनधिकृत्य वासे वा] गुरुभ्यो विशिष्टे वासे वा नित्यमेव प्रतिषेधयन् परद्रव्यप्रतिबन्धान् श्रामण्ये छेदविहीनो भूत्वा श्रमणो वर्तताम् ॥ १३ ॥

अथ श्रामण्यस्य परिपूर्णायतनत्वात् स्वद्रव्य एव प्रतिबन्धो विधेय इत्युपदिशति—

चरदि णिबद्धो णिच्चं समणो णाणम्हि दंसणमुहम्मि ।
पयदो मूलगुणेसु य जो सो पडिपुण्णसामण्णो ॥ १४ ॥

चरति निबद्धो नित्यं श्रमणो ज्ञाने दर्शनमुखे ।
प्रयतो मूलगुणेषु च यः स परिपूर्णश्रामण्यः ॥ १४ ॥

एक एव हि स्वद्रव्यप्रतिबन्ध उपयोगमार्जकत्वेन मार्जितोपयोगरूपस्य श्रामण्यस्यपरिपूर्णतायतनं, तत्सद्भावादेव परिपूर्णं श्रामण्यम् । अतो नित्यमेव ज्ञाने दर्शनादौ च प्रतिबद्धेन मूल-

---

तपोधनैः सह भेदाभेदरत्नत्रयभावनया भव्यानामानन्दं जनयन् तपःश्रुतसत्त्वैकत्वसंतोषभावनापञ्चकं भावयन् तीर्थकरपरमदेवगणधरदेवादिमहापुरुषाणां चरितानि स्वयं भावयन् परेषां प्रकाशयंश्च विहरतीति भावः ॥ १३ ॥ अथ श्रामण्यपरिपूर्णकारणत्वात्स्वशुद्धात्मद्रव्ये निरन्तरमवस्थानं कर्तव्यमित्याख्याति -**चरदि** चरति वर्तते । कथंभूतः **णिबद्धो** आधीनः, **णिच्चं** नित्य सर्वकालम् । सः कः कर्ता । **समणो** लाभालाभादिसमचित्तश्रमणः । क निबद्धः । **णाणम्मि** वीतरागसर्वज्ञप्रणीतपरमागमज्ञाने तत्फलभूतस्वसंवेदनज्ञाने वा **दंसणमुहम्मि** दर्शनं तत्त्वार्थश्रद्धानं तत्फलभूतनिजशुद्धात्मोपादेयरुचिरूपनिश्चयसम्यक्त्वं वा तत्प्रमुखेष्वनन्तसुखादिगुणेषु **पयदो मूलगुणेसु य** प्रयतः प्रयत्नपरश्च । केषु । मूलगुणेषु निश्चयमूलगुणाधारपर-

---

जब परद्रव्यका संबंध मुनिके दूर हो जायगा, तो सहज ही अंतरंग संयमका घात न होगा, तभी निर्दोष मुनिपदकी सिद्धि होगी । इस तरह परद्रव्यके विरक्त वीतरागभावोंमें लीन मुनि कहीं भी रहे, चाहे गुरुके पास रहे, अथवा अन्य जगह रहे, सभी जगह वह निर्दोष है, और जो परभावोंमें रागी द्वेषी होता है, वह सब जगह संयमका घाती होता है, तथा महा सदोषी है । इसलिये परद्रव्यके सम्बन्ध मुनिको सर्वथा निषेध किये गये हैं ॥ १३ ॥ आगे मुनिपदकी पूर्णताका कारण अपने आत्माका सम्बन्ध है, इसलिये आत्मामें लीन होना योग्य है, यही कहते हैं— [**यः] जो [**श्रमणः**] मुनि [**दर्शनमुखे**] सम्यक् दर्शन आदि अनंतगुण सहित [**ज्ञाने**] ज्ञानस्वरूप आत्मामें [**नित्यं**] हमेशां [**चरति**] प्रवृत्त (लीन) होता है, [**सः**] वह [**मूलगुणेषु**] २८ मूलगुणोंमें [**प्रयतः**] सावधान होकर उद्यमी हुआ [**परिपूर्णश्रामण्यः**] अंतरङ्ग बाह्य संयम भंगसे रहित अखंडित यतिपदवी अर्थात् परिपूर्ण मुनिपदका धारक होता है । **भावार्थ**—अपने आत्मामें जो रत (लीन) होना, वह परिपूर्ण मुनिपदवीका कारण है, क्योंकि जब यह अपनेमें रत होता है, तभी इसके परद्रव्यमें ममत्व भाव छूटता है, और जिस अवस्थामें यह परद्रव्यसे विरक्त हुआ, कि वहीं इसका उपयोग भी निर्मल हो जाता है, जिस जगह उपयोगकी निर्मलता है, वहाँ अवश्य ही मुनिपदकी सिद्धि होती है । इसलिये आत्मामें रत होना परिपूर्ण**

शुभयततया चरितव्यं ज्ञानदर्शनस्वभावशुद्धात्मद्रव्यप्रतिबद्धशुद्धास्तित्वमात्रेण वर्तितव्यमिति तात्पर्यम् ॥ १४ ॥

अथ श्रामण्यस्य छेदायतनत्वात् यतिजनासन्नः सूक्ष्मपरद्रव्यप्रतिबन्धोऽपि प्रतिषेध्य इत्युपदिशति—

भत्ते वा खमणे वा आवसधे वा पुणो विहारे वा ।
उवधिम्हि वा णिबद्धं णेच्छदि समणम्हि विकधम्हि ॥ १५ ॥
भक्ते वा क्षपणे वा आवसथे वा पुनर्विहारे वा ।
उपधौ वा निबद्धं नेच्छति श्रमणे विकथायाम् ॥ १५ ॥

श्रामण्यपर्यायसहकारिकारणशरीरवृत्तिहेतुमात्रत्वेनादीयमाने भक्ते तथाविधशरीरवृत्त्यविरोधेन शुद्धात्मद्रव्यनीरङ्गनिस्तरङ्गविश्रान्तिसूत्रणानुसारेण प्रवर्तमाने क्षपणे नीरङ्गनिस्तरङ्गान्तरङ्गद्रव्यप्रसिद्ध्यर्थमध्यास्यमाने गिरीन्द्रकन्दरप्रभृतावावसथे यथोक्तशरीरवृत्तिहेतुमार्गणार्थमारभ्यमाणे

मात्मद्रव्ये वा **जो सो पडिपुण्णसामण्णो** य एवं गुणविशिष्टश्रमणः स परिपूर्णश्रामण्यो भवतीति । अयमत्रार्थः—निजशुद्धात्मभावनारतानामेव परिपूर्णश्रामण्यं भवतीति ॥ १४ ॥ अथ श्रामण्यच्छेदकारणत्वात्प्रासुकाहारादिष्वपि ममत्वं निषेधयति—**णेच्छदि** नेच्छति । कम् । **णिबद्धं** निबद्धमावद्धम् । क । **भत्ते वा** शुद्धात्मभावनासहकारिभूतदेहस्थितिहेतुत्वेन गृह्यमाणे भक्ते वा प्रासुकाहारे **खमणे वा** इन्द्रियदर्पविनाशकारणभूतत्वेन निर्विकल्पसमाधिहेतुभूते क्षपणे चानशने **आवसधे वा** परमात्मतत्त्वोपलब्धिसहकारिभूते गिरिगुहाद्यावसथे वा **पुणो विहारे वा** शुद्धात्मभावनासहकारिभूताहारनीहारार्थव्यवहारार्थव्यवहारे वा ।

मुनिपदका कारण है । ऐसा समझकर अपने ज्ञान दर्शनादि अनंत गुणोंमें अपना सर्वस्व जान रत होना योग्य है, और अट्ठाईस मूलगुणोंमें यत्नसे प्रवृत्त होना योग्य है । इससे यह बात सिद्ध हुई, कि मुनिपदकी पूर्णता एक आत्मामें लीन होनेसे ही होती है, इस कारण अन्य परद्रव्यका सम्बन्ध त्यागना ही योग्य है ॥ १४ ॥ आगे मुनिके निकटमें यद्यपि सूक्ष्म परद्रव्य भी है, तथापि उनमें मुनिको रागभावपूर्वक सम्बन्ध निषिद्ध है, यह कहते हैं—जो महामुनि है, वह [**भक्ते**] आहारमें [**वा**] अथवा [**क्षपणे**] इन्द्रियोंको उत्तेजित न होने देनेका कारण तथा निर्विकल्प समाधिके कारणभूत अनशनमें [**वा**] अथवा [**आवसथे**] गुफा आदिक निवासस्थलमें [**वा पुनः**] अथवा [**विहारे**] विहार-कार्यमें [**वा**] अथवा [**उपधौ**] शरीरमात्र परिग्रहमें [**वा**] अथवा [**श्रमणे**] दूसरे मुनियोंमें [**वा**] अथवा [**विकथायां**] अधर्म-चर्चामें [**निबन्धं**] ममत्वपूर्वक सम्बन्धको [**न**] नहीं [**इच्छति**] चाहता है । **भावार्थ—**मुनिपदका निमित्तकारण शरीर है, और शरीरका आधार आहार है, इसलिये उसको मुनि ग्रहण करते हैं, और अपनी शक्तिके अनुसार शुद्धात्मामें निश्चल स्थिरताके निमित्तभूत उपवासको स्वीकार करते हैं, और मनकी चंचलताको रोकनेके लिये एकान्त पर्वतकी गुफादिकके निवासको, तथा शरीरकी प्रवृत्तिके लिये आहार नीहार क्रियामें विहारकार्यको भी करते हैं, और उनके मुनिपदवीका निमित्तकारण

विहारकर्मणि श्रामण्यपर्यायसहकारिकारणत्वेनाप्रतिषिध्यमाने केवलदेहमात्रे उपधौ अन्योन्यबोध्यबोधकभावमात्रेण कथंचित्परिचिते श्रमणे शब्दपुद्गलोल्लाससंवलनकश्मलितचिद्भित्तिभागायां शुद्धात्मद्रव्यविरुद्धायां विकथायां चैतेष्वपि तद्विकल्पाचित्रितचित्तभित्तितया प्रतिषेध्यः प्रतिबन्धः ॥ १५ ॥

अथ को नाम छेद इत्युपदिशति—

अपयत्ता वा चरिया सयणासणठाणचंकमादीसु ।
समणस्स सव्वकाले हिंसा सा संतत्तिय त्ति मदा ॥ १६ ॥

अप्रयता वा चर्या शयनासनस्थानचङ्क्रमणादिषु ।
श्रमणस्य सर्वकाले हिंसा सा संततेति मता ॥ १६ ॥

अशुद्धोपयोगो हि छेदः, शुद्धोपयोगरूपस्य श्रामण्यस्य छेदनात् तस्य हिंसनात् स एव च

पुनर्देशान्तरविहारे वा **उवधिम्हि** शुद्धोपयोगभावनासहकारिभूतशरीरपरिग्रहे ज्ञानोपयोगकरणादौ वा **समणम्हि** परमात्मपदार्थविचारसहकारिकारणभूते श्रमणे समशीलसंघातकतपोधने वा । **विकधम्हि** परमसमाधिविघातशृङ्गारवीररागादिकथायां चेति । अयमत्रार्थः—आगमविरुद्धाहारविहारादिषु तावत्पूर्वमेव निषिद्धः । योग्याहारविहारादिष्वपि ममत्वं न कर्तव्यमिति ॥ १५ ॥ एवं संक्षेपेणाचाराराधनादिकथिततपोधनविहारव्याख्यानमुख्यत्वेन चतुर्थस्थले गाथात्रयं गतम् । अथ शुद्धोपयोगभावनाप्रतिबन्धकच्छेदं कथयति— **मदा** मता संमता । का । हिंसा शुद्धोपयोगलक्षणश्रामण्यछेदकारणभूता हिंसा । कथंभूता । **संतत्तिय त्ति** संतता निरन्तरेति । का हिंसा मता । **चरिया** चर्या चेष्टा यदि चेत् । कथंभूता । **अपयत्ता वा**

शरीरमात्र परिग्रह भी है, तथा गुरु शिष्यके भेदसे पठन-पाठन अवस्थामें दूसरे मुनियोंका सम्बन्ध भी है, और शुद्धात्म द्रव्यकी विरोधिनी पौद्गलिक शब्दोंके द्वारा कथा चर्चा भी है। यद्यपि मुनिके परद्रव्यरूप परिग्रह है, तथापि इनमें ममत्वबुद्धिरूप चित्तवृत्तिका निषेध है। यद्यपि मुनिने स्थूल परद्रव्यका त्याग तो प्रथम ही कर दिया है, तथापि मुनिपदमें भी इस प्रकारके सूक्ष्म परद्रव्यके अस्तित्वमें ममत्वभाव नहीं करना चाहिये, क्योंकि इनमें भी ममत्व भाव करनेसे शुद्धात्म द्रव्यवृत्तिरूप मुनिपदका भंग हो जाता है। इसलिये सूक्ष्म परद्रव्योंमें भी सम्बन्ध करनेका निषेध है ॥ १५ ॥ आगे शुद्धोपयोगरूप यतित्वका मुनिके कौनसा भंग है, इस बातको बताते हैं—[**वा**] अथवा [**श्रमणस्य**] मुनिके [**शयनासनस्थानचङ्क्रमणादिषु**] सोने, बैठने, खड़े होने, चलने आदि अनेक क्रियाओंमें [**या**] जो [**अप्रयता**] यत्न रहित [**चर्या**] प्रवृत्ति होती है, [**सा**] वह [**सर्वकाले**] हमेशः [**संतता**] अखण्डित [**हिंसा**] चैतन्य प्राणोंका विनाश करनेवाली हिंसा है, [**इति**] इस प्रकार [**मता**] वीतराग सर्वज्ञदेवने कही है। **भावार्थ**—संयमका घात ही अशुद्ध उपयोग है, क्योंकि मुनिपद शुद्धोपयोगरूप है। अशुद्धोपयोगसे मुनिपदका नाश होता है, और अशुद्धोपयोगका होना यही हिंसा है, सबसे बड़ी हिंसा ज्ञानदर्शनरूप शुद्धोपयोगके घातसे ही होती है। वह अशुद्धोपयोग मुनिके निरंतर उस समय ही समझना

हिंसा। अतः श्रमणस्याशुद्धोपयोगाविनाभाविनी शयनासनस्थानचङ्क्रमणादिष्वप्रयता या चर्या सा खलु तस्य सर्वकालमेव संतानवाहिनी छेदानर्थान्तरभूता हिंसैव ॥ १६ ॥

अथान्तरङ्गबहिरङ्गत्वेन छेदस्य द्वैविध्यमुपदिशति—

मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स ॥ १७ ॥

म्रियतां वा जीवतु वा जीवोऽयताचारस्य निश्चिता हिंसा।
प्रयतस्य नास्ति बन्धो हिंसामात्रेण समितस्य ॥ १७ ॥

अशुद्धोपयोगोऽन्तरङ्गच्छेदः, परप्राणव्यपरोपो बहिरङ्गः। तत्र परप्राणव्यपरोपसद्भावे तदसद्भावे वा तदविनाभाविनाप्रयताचारेण प्रसिद्ध्यदशुद्धोपयोगसद्भावस्य सुनिश्चितहिंसाभाव-

---

अप्रयत्ना वा निःकषायस्वसंवित्तिरूपप्रयत्नरहिता संक्लेशसहितेत्यर्थः। केषु विषयेषु। **सयणासणठाणचंकमादीसु** शयनासनस्थानचङ्क्रमणस्वाध्यायतपश्चरणादिषु। कस्य। **समणस्स** श्रमणस्य तपोधनस्य। क। **सव्वकाले** सर्वकाले। अयमत्रार्थः—बाह्यव्यापाररूपाः शत्रवस्तावत्पूर्वमेव त्यक्त्वा तपोधनैः अशनशयनादिव्यापारः पुनस्त्यक्तो नायाति। ततः कारणादन्तरङ्गक्रोधादिशत्रुनिग्रहार्थं तत्रापि संक्लेशो न कर्तव्य इति ॥ १६ ॥ अथान्तरङ्गबहिरङ्गहिंसारूपेण द्विविधच्छेदमाख्याति—**मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा** म्रियतां वा जीवतु वा जीवः प्रयत्नरहितस्य निश्चिता हिंसा भवति बहिरङ्गान्यजीवस्य मरणेऽमरणे वा, निर्विकारस्वसंवित्तिलक्षणप्रयत्नरहितस्य निश्चयशुद्धचैतन्यप्राणव्यपरोपणरूपा निश्चयहिंसा भवति। **पयदस्स णत्थि बंधो** बाह्याभ्यन्तरप्रयत्नपरस्य नास्ति बन्धः। केन।

चाहिये, जिस समय मुनि सोना, बैठना, चलना, इत्यादि क्रियाओंमें यत्नपूर्वक प्रवृत्ति नहीं करते। यत्नके विना मुनिकी क्रिया अट्ठाईस मूलगुणकी घातिनी है। यत्न उस ही समयमें नहीं होता, जिस समयमें उपयोगकी चंचलता होती है, यदि उपयोगकी चंचलता न हो, तो यत्न अवश्य हो। इसलिये उपयोगकी जो निश्चलता है, वही शुद्धोपयोग है। यत्न सहित क्रियासे भंग नहीं होता, और यत्न रहित क्रियासे भंग होता है, इसलिये यह बात सिद्ध हुई, कि मुनिकी जो यत्न रहित क्रियाओंमें प्रवृत्ति है, वह सब निरंतर शुद्धोपयोगरूप संयमकी घातनेवाली हिंसा ही है, इसलिये मुनिको यत्नसे रहना योग्य है ॥ १६ ॥ आगे अन्तरङ्ग बहिरङ्गके भेदसे संयमके घातके भी दो भेद हैं, यह दिखाते हैं—[**जीवः**] दूसरा जीव, [**म्रियतां वा**] मरे, [**जीवतु वा**] अथवा जीवित रहे, [**अयताचारस्य**] जिस मुनिका आचार यत्नपूर्वक नहीं है, उसके [**हिंसा**] हिंसा [**निश्चिता**] निश्चित है, क्योंकि [**समितस्य**] पाँचों समितियोंमें [**प्रयतस्य**] यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करनेवाले मुनिके [**हिंसामात्रेण**] बाह्यमें जीवके घातके होने मात्रसे [**बन्धः**] बन्ध [**नास्ति**] नहीं होता। **भावार्थ**—हिंसा दो प्रकारकी है, एक अन्तरङ्ग और दूसरी बहिरङ्ग; ज्ञानप्राणकी घात करनेवाली अशुद्धोपयोगरूप प्रवृत्तिको 'अन्तरङ्गहिंसा' कहते हैं। बाह्यजीवके प्राणोंका घात करनेको 'बहिरङ्गहिंसा' कहते हैं। इन दोनोंमें अन्तरङ्गहिंसा

प्रसिद्धेस्तथा तद्विनाभाविना प्रयताचारेण प्रसिद्ध्यदशुद्धोपयोगासद्भावपरस्य परप्राणव्यपरोपसद्भावेऽपि बन्धाप्रसिद्ध्या सुनिश्चितहिंसाऽभावप्रसिद्धेश्चान्तरङ्ग एव छेदो बलीयान् न पुनर्बहिरङ्गः । एवमप्यन्तरङ्गच्छेदायतनमात्रत्वाद्बहिरङ्गच्छेदोऽभ्युपगम्येतैव ॥ १७ ॥

अथ सर्वथान्तरङ्गच्छेदः प्रतिषेध्य इत्युपदिशति—

अयदाचारो समणो छस्सु वि कायेसु वधकरो त्ति मदो ।
चरदि जदं जदि णिच्चं कमलं व जले णिरुवलेवो ॥ १८ ॥

हिंसामेत्तेण द्रव्यहिंसामात्रेण । कथंभूतस्य पुरुषस्य । **समिदस्स** समितस्य शुद्धात्मस्वरूपे सम्यगितो गतः परिणतः समितस्तस्य समितस्य । व्यवहारेणेर्यादिपञ्चसमितियुक्तस्य च । अयमत्रार्थः—**स्वस्वभावनानिरूपनिश्चयप्राणस्य** विनाशकारणभूता रागादिपरिणतिर्निश्चयहिंसा हिंसा भण्यते रागाद्युत्पत्तेर्बहिरङ्गनिमित्तभूतः परजीवघातो व्यवहारहिंसेति द्विधा हिंसा ज्ञातव्या । किंतु विशेषः–बहिरङ्गहिंसा भवतु वा मा भवतु स्वस्वभावनारूपनिश्चयप्राणघाते सति निश्चयहिंसा नियमेन भवतीति । ततः कारणात्सैव मुख्येति ॥ १७ ॥ अथ तमेवार्थं दृष्टान्तदार्ष्टान्ताभ्यां दृढयति—

उच्चालियम्हि पाए इरियासमिदस्स णिग्गमत्थाए ।
आबाधेज्ज कुलिंगं मरिज्ज तं जोगमासेज्ज ॥ *१ ॥
ण हि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहुमो य देसिदो समये ।
मुच्छा परिग्गहो च्चिय अज्झप्पपमाणदो दिट्ठो ॥ *२ ॥ जुम्मं ।

उच्चालियम्हि पाए उत्क्षिप्ते चालिते सति पादे । कस्य । **इरियासमिदस्स** ईर्यासमितितपोधनस्य । क । **णिग्गमत्थाए** विवक्षितस्थानान्निर्गमस्थाने **आबाधेज्ज** आबाध्येत पीड्येत । स कः । **कुलिंगं** सूक्ष्म-

---

बलवती है । क्योंकि बाह्यमें दूसरे जीवका घात हो, या न हो, किन्तु यदि मुनिके यत्नरहित हलन चलनादि क्रिया हो, तो उस मुनिके यत्न रहित आचारसे अवश्यमेव उपयोगकी चंचलता होती है । अतएव अशुद्धोपयोगके होनेसे आत्माके चैतन्य प्राणका घात होता है, इसी लिये हिंसा अवश्यमेव है, और यदि मुनि यत्नसे पाँच समितियोंमें प्रवृत्ति करे, तो वह मुनि उपयोगकी निश्चलतासे शुद्धोपयोगरूप संयमका रक्षक होता है । इसलिये बाह्यमें कदाचित् दूसरे जीवका घात भी हो, तब भी अन्तरङ्ग अहिंसक भावके बलसे बन्ध नहीं होता । इसलिये शुद्धोपयोगरूप संयमकी घातनेवाली अन्तरङ्गहिंसा ही बलवती है । अन्तरङ्गहिंसासे अवश्य ही बन्ध होता है । किन्तु बाह्यहिंसासे बन्ध होता भी है, और नहीं भी होता है । यदि यत्न करनेपर भी बाह्यहिंसा हो जाय, तो बन्ध नहीं होता, और जो यत्न न हो, तो अवश्य ही बाह्यहिंसा बन्धका कारण होती है, और बाह्यहिंसाका जो निषेध किया है, सो भी अन्तरङ्गहिंसाके निवारण करनेके लिये ही किया है । इसलिये अन्तरङ्गहिंसा त्याज्य है, और शुद्धोपयोगरूप अहिंसकभाव उपादेय है ॥ १७ ॥ आगे सर्वथा अन्तरङ्ग शुद्धोपयोगरूप संयमका घात निषेध करने योग्य है, यह कहते हैं— **[अयताचारः]** जिसके यत्नपूर्वक आचार क्रिया नहीं, ऐसा **[श्रमणः]** जो मुनि वह **[षट्स्वपि]**

अयताचारः श्रमणः षट्स्वपि कायेषु वधकर इति मतः ।
चरति यतं यदि नित्यं कमलमिव जले निरुपलेपः ॥ १८ ॥

यतस्तदविनाभाविना अप्रयताचारत्वेन प्रसिद्ध्यदशुद्धोपयोगसद्भावः षट्कायप्राणव्यपरोप्रत्ययबन्धप्रसिद्ध्या हिंसक एव स्यात् । यतश्च तद्विनाभाविना प्रयताचारत्वेन प्रसिद्ध्यदशुद्धोपयोगासद्भावः परप्रत्ययबन्धलेशस्याप्यभावाज्जलदुर्ललितं कमलमिव निरुपलेपत्वप्रसिद्धेरहिंसक

जन्तुः न केवलमाबाध्येत **मरिज्ज** म्रियतां वा । किं कृत्वा । **तं जोगमासेज्ज** तं पूर्वोक्तं पादयोगं पादसंघट्टनमाश्रित्य प्राप्येति । **ण हि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहुमो य देसिदो समये** न हि तस्य तन्निमित्तो बन्धः सूक्ष्मोऽपि देशितः समये तस्य तपोधनस्य तन्निमित्तं सूक्ष्मजन्तुघातनिमित्तो बन्धः सूक्ष्मोऽपि स्तोकोऽपि नैव दृष्टः समये परमागमे । दृष्टान्तमाह—**मुच्छा परिग्गहो चिय** मूर्च्छापरिग्रहश्चैव **अज्झप्पपमाणदो दिट्ठो** अध्यात्मं दृष्टमिति । अयमत्रार्थः–'मूर्च्छा परिग्रहः' इति सूत्रे यथाध्यात्मानुसारेण मूर्च्छारूपरागादिपरिणामानुसारेण परिग्रहो भवति न च बहिरङ्गपरिग्रहानुसारेण तथात्र सूक्ष्मजन्तुघातेऽपि यावतांशेन स्वस्वभावचलनरूपा रागादिपरिणतिलक्षणभावहिंसा तावतांशेन बन्धो भवति, न च पादसंघट्टमात्रेण तस्य तपोधनस्य रागादिपरिणतिलक्षणभावहिंसा नास्ति । ततः कारणाद्बन्धोऽपि नास्तीति ॥ १ -२ ॥ अथ निश्चयहिंसारूपोऽन्तरङ्गच्छेदः सर्वथा प्रतिषेध्य इत्युपदिशति—**अयदाचारो** निर्मलात्मानुभूतिभावनालक्षणप्रयत्नरहितत्वेन अयताचारः प्रयत्नरहितः । स कः । **समणो** श्रमणस्तपोधनः **छस्सु वि कायेसु वधकरो त्ति मदो** षट्स्वपि कायेषु वधकरो हिंसाकर इति मतः सम्मतः कथितः । **चरदि** आचरति वर्तते । कथं यथा भवति । **जदं** यतं यत्नपरं **जदि** यदि चेत् **णिच्चं** नित्यं सर्वकालं तदा **कमलं व जले णिरुवलेवो** कमलमिव जले निरुपलेप इति । एतावता किमुक्तं भवति—शुद्धात्मसंवित्तिलक्षण-

छहों **[कायेषु]** पृथिवी आदि कायोंमें **[बन्धकः]** बन्धका करनेवाला है, **[इति]** ऐसा **[मतः]** सर्वज्ञदेवने कहा है । **[यदि]** यदि **[नित्यं]** हमेशः **[यतं]** यति क्रियामें यत्नका **[चरति]** आचरण करता है, **[तदा]** तो वह मुनि **[जले]** जलमें **[कमलम्]** कमलकी **[इव]** तरह **[निरुपलेपः]** कर्मबन्धरूप लेपसे रहित है । **भावार्थ**—जिस समय उपयोग रागादिभावसे दूषित होता है, उस समय अवश्यमेव यति क्रियामें शिथिल होकर गुणोंमें यत्न रहित होता है । जहाँ यत्न रहित क्रिया होती है, वहाँ अवश्यमेव अशुद्धोपयोगका अस्तित्व है । यत्न रहित क्रियासे षट्कायकी विराधना होती है । इससे अशुद्धोपयोगी मुनिके हिंसकभावसे बन्ध होता है । जब मुनिका उपयोग रागादि भावसे रंजित न हो, तब अवश्य ही यति क्रियामें सावधान होता हुआ यत्नसे रहता है, उस समय शुद्धोपयोगका अस्तित्व होता है, और यत्नपूर्वक क्रियासे जीवकी विराधनाका इसके अंश भी नहीं है । अतएव अहिंसकभावसे कर्मलेपसे रहित है, और यदि यत्न करते हुए भी कदाचित् परजीवका घात होजाय, तो भी शुद्धोपयोगरूप अहिंसकभावके अस्तित्वसे कर्मलेप नहीं लगता । जिस प्रकार कमल यद्यपि जलमें डूबा रहता है, तथापि अपने अस्पृश्य स्वभावसे निर्लेप ही है, उसी तरह यह मुनि भी होता है । इसलिये

एव स्यात् । ततस्तैस्तैः सर्वैः प्रकारैरशुद्धोपयोगरूपोऽन्तरङ्गच्छेदः प्रतिषेध्यो यैर्यैस्तदायतनमात्रभूतः परप्राणव्यपरोपरूपो बहिरङ्गच्छेदो दूरादेव प्रतिषिद्धः स्यात् ॥ १८ ॥

अथैकान्तिकान्तरङ्गच्छेदत्वादुपधिस्तद्वत्प्रतिषेध्य इत्युपदिशति—

हवदि व ण हवदि बंधो मदम्हि जीवेऽध कायचेट्ठम्हि ।
बंधो धुवमुवधीदो इदि समणा छड्डिया सव्वं ॥ १९ ॥

भवति वा न भवति बन्धो मृते जीवेऽथ कायचेष्टायाम् ।
बन्धो ध्रुवमुपधेरिति श्रमणास्त्यक्तवन्तः सर्वम् ॥ १९ ॥

यथा हि कायव्यापारपूर्वकस्य परप्राणव्यपरोपस्याशुद्धोपयोगसद्भावासद्भावाभ्यामनैकान्तिकबन्धत्वेन छेदत्वमनैकान्तिकमिष्टं, न खलु तथोपधेः, तस्य सर्वथा तदविनाभावित्वप्रसिद्ध्य-

---

शुद्धोपयोगपरिणतपुरुषः षड्जीवकुले लोके विचरन्नपि यद्यपि बहिरङ्गद्रव्यहिंसामात्रमस्ति तथापि निश्चयहिंसा नास्ति । ततः कारणाच्छुद्धपरमात्मभावनाबलेन निश्चयहिंसैव सर्वतात्पर्येण परिहर्तव्येति ॥ १८ ॥ **अथ** बहिरङ्गजीवघाते बन्धो भवति न भवति वा परिग्रहे सति नियमेन भवतीति प्रतिपादयति—**हवदि व ण हवदि बंधो** भवति वा न भवति बन्धः कस्मिन्सति **मदम्हि** जीवे मृते सत्यन्यजीवे । **अध** अहो । कस्यां सत्याम् । **कायचेट्ठम्हि** कायचेष्टायाम् । तर्हि कथं बन्धो भवति । **बंधो धुवमुवधीदो** बन्धो भवति ध्रुवं निश्चितम् । कस्मादुपधेः परिग्रहात्सकाशादिति हेतोः **समणा छड्डिया सव्वं** श्रमणा महाश्रमणाः

जिन जिन भावोंसे शुद्धोपयोगरूप अन्तरङ्गसंयमका सर्वथा घात हो, उन भावोंका निषेध है, और अन्तरङ्गसंयमके घातका कारण, परजीवकी बाधारूप बहिरङ्गसंयमका भी घात सर्वथा त्याज्य है ॥१८॥ आगे सर्वथा अन्तरङ्गसंयमका घातक होनेसे मुनिको परिग्रहका सर्वथा निषेध करते हैं —[**अथ**] आगे अर्थात् मुनिको परिग्रहसे संयमका घात दिखाते है, कि [**कायचेष्टायां**] मुनिकी हलन चलन क्रियाके होनेसे [**जीवे**] त्रस स्थावर जीवके [**मृते सति**] मरनेपर [**हि**] निश्चयसे [**बन्धः**] कर्मलेप [**भवति**] होता है, [**वा**] अथवा [**न**] नहीं भी [**भवति**] होता है । किन्तु [**उपधेः**] परिग्रहसे [**बन्धः**] बन्ध [**ध्रुवं**] निश्चयसे होता ही है। [**इति**] ऐसा जानकर [**श्रमणाः**] महामुनि अरहंतदेव [**सर्वं**] समस्त ही परिग्रहको पहले ही [**त्यक्तवन्तः**] छोड़ते है । **भावार्थ—**मुनिके हलन चलनादि क्रियासे परजीवका जो घात होता है, उस घातसे मुनिके सर्वथा बन्ध नहीं होता, होता भी है, और नहीं भी होता है, यहाँ अनेकान्त है, एक नियम नहीं । क्योंकि यदि अन्तरङ्ग शुद्धोपयोग है, तो बन्ध नहीं होता । इसलिये बाह्य परप्राण घातसे शुद्ध अशुद्ध उपयोगके होने या न होनेसे बन्ध होता भी है, और नहीं भी होता है । मुनिके परजीवके घातसे बन्ध होवे भी, और न भी होवे, परन्तु यदि मुनि परिग्रहका ग्रहण करें, तो बन्ध होवे भी न भी होवे, ऐसा नहीं है । किन्तु निश्चयसे बन्ध होता है। क्योंकि परिग्रहके ग्रहणसे सर्वथा अशुद्धोपयोग होता है । अतः अन्तरङ्गसंयमका घात होनेसे बन्ध निश्चित है । अन्तरङ्ग अभिलाषाके विना परिग्रहका ग्रहण कदाचित् नहीं होता, अन्त-

दैकान्तिकाशुद्धोपयोगसद्भावस्यैकान्तिकबन्धत्वेन छेदत्वमैकान्तिकमेव । अत एव भगवन्तोऽर्हन्तः परमाः श्रमणाः स्वयमेव [प्रागेव] सर्वमेवोपधिं प्रतिषिद्धवन्तः । अत एव चापरैरप्यन्तरङ्गच्छेदवत्तदनान्तरीयकत्वात्प्रागेव सर्व एवोपधिः प्रतिषेध्यः ॥ १९ ॥

वक्तव्यमेव किल यत्तदशेषमुक्त-
मेतावतैव यदि चेतयतेऽत्र कोऽपि ।
व्यामोहजालमतिदुस्तरमेव नूनं
निश्चेतनस्य वचसामतिविस्तरेऽपि ॥

सर्वज्ञाः पूर्वं दीक्षाकाले शुद्धबुद्धैकस्वभावं निजात्मानमेव परिग्रहं कृत्वा शेषं समस्तं बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहं छर्दितवन्तः । एवं ज्ञात्वा शेषतपोधनैरपि निजपरमात्मपरिग्रहं स्वीकारं कृत्वा शेषः सर्वोऽपि परिग्रहो मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतैश्च त्यजनीय इति । अत्रेदमुक्तं भवति—शुद्धचैतन्यरूपनिश्चयप्राणे रागादिपरिणामरूपनिश्चयहिंसया पातिते सति नियमेन बन्धो भवति । परजीवघाते पुनर्भवति वा न भवतीति नियमो नास्ति, परद्रव्ये ममत्वरूपमूर्च्छापरिग्रहेण तु नियमेन भवत्येवेति ॥ १९ ॥ एवं भावहिंसाव्याख्यानमुख्यत्वेन पञ्चमस्थले गाथाषट्कं गतम् । इति पूर्वोक्तक्रमेण 'एवं पणमिय सिद्धे' इत्याद्येकविंशतिगाथाभिः स्थलपञ्चकेनोत्सर्गचारित्रव्याख्याननामा प्रथमोऽन्तराधिकारः समाप्तः । अतःपरं चारित्रस्य देशकालापेक्षयापहृतसंयमरूपेणापवादव्याख्यानार्थं पाठक्रमेण त्रिंशद्गाथाभिर्द्वितीयोऽन्तराधिकारः प्रारभ्यते ॥ तत्र चत्वारि स्थलानि भवन्ति, तस्मिन्प्रथमस्थले निर्ग्रन्थमोक्षमार्गस्थापनामुख्यत्वेन 'ण हि णिरवेक्खो चागो' इत्यादि गाथापञ्चकम् । अत्र टीकायां गाथात्रयं नास्ति । तदनन्तरं सर्वसावद्यप्रत्याख्यानलक्षणसामायिकसंयमासमर्थानां यतीनां संयमशौचज्ञानोपकरणनिमित्तमपवादव्याख्यानमुख्यत्वेन 'छेदो जेण ण

रङ्गभावके विना शरीरकी क्रियासे यत्न करते हुए परजीवका घात हो भी जाय, परन्तु परिग्रहका ग्रहण अन्तरङ्गभाव विना शरीरकी चेष्टासे कदाचित् नहीं होता ; इसलिये ऐसा जानकर ही भगवान् वीतरागदेव परिग्रहका सर्वथा त्याग करते हैं, और दूसरे मुनियोंको भी यही चाहिये, कि वे भी समस्त परिग्रहका त्याग करें । शुद्धोपयोगरूप अन्तरङ्गसंयमका घात करो, या परिग्रहका ग्रहण करो, ये दोनों समान हैं । संयमके घातक दोनों हैं । इसलिये मुनिको चाहिये, कि जिस प्रकार अन्तरङ्गसंयमके घातका निषेध करे, उसी प्रकार परिग्रहको सबसे पहले छोड़ दे । बहुत कहाँतक कहें, जो समझनेवाला है, वह थोड़े ही में समझ जाता है, और जो समझनेवाला न होवे, तो उसको जितना वचनका विस्तार दिखाया जाय, वह सब ही मोहका समूह अपार वागजल होता है, अर्थात् किसी प्रकार भी वह समझता नहीं ॥ १९ ॥ आगे अन्तरङ्गभावसे जो बाह्यपरिग्रहका त्याग है, वह अन्तरङ्ग शुद्धोपयोगरूप संयमके घातका निषेधक नहीं है, ऐसा उपदेश करते हैं—यदि [**निरपेक्षः**] परिग्रहकी अपेक्षासे सर्वथा रहित [**त्यागः**] परिग्रहका त्याग [**न**] न होय तो [**हि**] निश्चयसे [**भिक्षोः**] मुनिके [**आशयविशुद्धिः**] चित्तकी निर्मलता [**न**] नहीं [**भवति**] होती है, [**च**] और [**चित्ते**] ज्ञानदर्शनोपयोग-

अथान्तरङ्गच्छेदप्रतिषेध एवायमुपधिप्रतिषेध इत्युपदिशति—

ण हि णिरवेक्खो चागो ण हवदि भिक्खुस्स आसयविसुद्धी ।
अविसुद्धस्स य चित्ते कहं णु कम्मक्खओ विहिओ ॥ २० ॥
न हि निरपेक्षस्त्यागो न भवति भिक्षोराशयविशुद्धिः ।
अविशुद्धस्य च चित्ते कथं नु कर्मक्षयो विहितः ॥ २० ॥

न खलु बहिरङ्गसंगसद्भावे तुषसद्भावे तण्डुलगताशुद्धत्वस्येवाशुद्धोपयोगरूपस्यान्तरङ्गच्छेदस्य प्रतिषेधसद्भावे च न शुद्धोपयोगमूलस्य केवलस्योपलम्भः । ततोऽशुद्धोपयोगस्यान्तरङ्गच्छेदस्य प्रतिषेधं प्रयोजनमपेक्ष्योपधेर्विधीयमानः प्रतिषेधोऽन्तरङ्गच्छेदप्रतिषेध एव स्यात् ॥ २० ॥

विज्जदि' इत्यादि सूत्रत्रयम् । तदनन्तरं स्त्रीनिर्वाणनिराकरणप्रधानत्वेन 'पेच्छदि ण हि इह लोगं' इत्याद्येकादश गाथा भवन्ति । ताश्चामृतचन्द्रटीकायां न सन्ति । ततः परं सर्वोपेक्षासंयमसमर्थस्य तपोधनस्य देशकालापेक्षया किंचित्संयमसाधकशरीरस्य निरवद्याहारादिसहकारिकारणं ग्राह्यमिति पुनरप्यपवादविशेषव्याख्यानमुख्यत्वेन 'उवयरणं जिणमग्गे' इत्याद्येकादशगाथा भवन्ति । अत्र टीकायां गाथाचतुष्टयं नास्ति । एवं मूलसूत्राभिप्रायेण त्रिंशद्गाथाभि टीकापेक्षया पुनर्द्वादशगाथाभिः द्वितीयान्तराधिकारे समुदायपातनिका । तथाहि —अथ भावशुद्धिपूर्वकबहिरङ्गपरिग्रहपरित्यागे कृते सति अभ्यन्तरपरिग्रहपरित्यागः कृत एव भवतीति निर्दिशति—**ण हि णिरवेक्खो चागो** न हि निरपेक्षस्त्यागः यदि चेत् परिग्रहत्यागः सर्वथा निरपेक्षो न भवति किंतु किमपि वस्त्रपात्रादिकं ग्राह्यमिति भवता भण्यते तर्हि हे शिष्य **ण हवदि भिक्खुस्स आसयविसुद्धी** न भवति भिक्षोराशयविशुद्धिः तदा सापेक्षपरिणामे सति भिक्षोस्तपोधनस्य चित्तशुद्धिर्न भवति **अविसुद्धस्स य चित्ते** शुद्धात्मभावनारूपशुद्धिरहितस्य तपोधनस्य चित्ते मनसि हि स्फुटं **कहं तु कम्मक्खओ विहिओ** कथं तु कर्मक्षयो विहितः उचितो न कथमपि । अनेनैतदुक्तं भवति—यथा बहिरङ्गतुषसद्भावे सति तण्डुलस्याभ्यन्तरशुद्धिं कर्तुं नायाति तथा विद्यमानेऽविद्यमाने वा बहिरङ्गपरिग्रहेऽभिलाषे सति निर्मलशुद्धात्मानुभूतिरूपां चित्तशुद्धिं कर्तुं नायाति । यदि पुनर्विशिष्टवैराग्यपूर्वकपरिग्रहत्यागो भवति तदा चित्तशुद्धिर्भवत्येव ख्यातिपूजालाभनिमित्तत्यागे तु न भवति ॥ २० ॥

रूप परिणामोंमें [**अविशुद्धस्य**] जो समल है, उस मुनिके [**कथं**] किस प्रकार [**नु**] भला [**कर्मक्षयः**] समस्त कर्मका नाश [**विहितः**] हो सकता है? नहीं हो सकता । **भावार्थ—**जो मुनिके बाह्य परिग्रह तिल तुसमात्र भी हो, तो अन्तरङ्गमें शुद्धोपयोगरूप संयमका घात अवश्य होता है, उतने ही परिग्रहसे अशुद्ध भाव अवश्य होते हैं । जिस प्रकार चाँवलके ऊपर तुसके (छिलके) होनेसे चाँवलमें अवश्य आरक्त (ललाई लिये हुए) मल होता है, उस ही प्रकार मुनिके किंचित्मात्र भी बाह्य परिग्रहके होनेसे अभ्यन्तरमें निश्चयसे अशुद्ध भाव होते है । जिस मुनिके कुछ भी परिग्रह है, उसके शुद्धोपयोग नहीं होता, जहाँ शुद्धोपयोग नहीं, वहाँ केवलपदकी प्राप्ति कहाँसे होवे । इसलिये जो कोई अशुद्धोपयोगरूप असंयम भावको छोड़ना चाहे, वह पुरुष बाह्य परिग्रहका सर्वथा त्याग करे, तब उस पुरुषके

अथैकान्तिकान्तरङ्गच्छेदत्वमुपधिविस्तरेणोपदिशति—

किध तम्हि णत्थि मुच्छा आरंभो वा असंजमो तस्स ।
तध परदव्वम्मि रदो कधमप्पाणं पसाधयदि ॥ २१॥
कथं तस्मिन्नास्ति मूर्च्छा आरम्भो वा असंयमस्तस्य ।
तथा परद्रव्ये रतः कथमात्मानं प्रसाधयति ॥ २१ ॥

उपधिसद्भावे हि ममत्वपरिणामलक्षणाया मूर्च्छायास्तद्विषयकर्मप्रक्रमपरिणामलक्षणस्या-

---

अथ तमेव परिग्रहत्यागं द्रढयति—

गेण्हदि व चेलखंडं भायणमत्थि त्ति भणिदमिह सुत्ते ।
जदि सो चत्तालंबो हवदि कहं वा अणारंभो ॥ *३ ॥
वत्थक्खंडं दुद्दियभायणमण्णं च गेण्हदि णियदं ।
विज्जदि पाणारंभो विक्खेवो तस्स चित्तम्मि ॥ *४ ॥
गेण्हइ विधुणइ धोवइ सोसेइ जदं तु आदवे खित्ता ।
पत्थं च चेलखंडं विभेदि परदो य पालयदि ॥ *५ ॥ विसेसयं ।

गेण्हदि व चेलखंडं गृह्णाति वा चेलखण्डं वस्त्रखण्डं **भायणं** भिक्षाभाजनं वा **अत्थि त्ति भणिदं** अस्तीति भणितमास्ते । क । इह **सुत्ते** इह विवक्षितागमसूत्रे **जदि** यदि चेत् । **सो चत्तालंबो हवदि कहं** निरालम्बनपरमात्मतत्त्वभावनाशून्यः सन् स पुरुषो बहिर्द्रव्यालम्बनरहितः कथं भवति न कथमपि **वा अणारंभो** निःक्रियनिरारम्भनिजात्मतत्त्वभावनारहितत्वेन निरारम्भो वा कथं भवति किंतु सारम्भ एव, इति प्रथमगाथा ॥ **वत्थक्खंडं दुद्दियभायणं** वस्त्रखण्डं दुग्धिकाभाजनं **अण्णं च गेण्हदि** अन्यच्च गृह्णाति कम्बलमृदुशयनादिकं यदि चेत् । तदा किं भवति । **णियदं विज्जदि पाणारंभो** निजशुद्धचैतन्यलक्षण-प्राणविनाशरूपो वा नियतं प्राणारम्भः प्राणवधो विद्यते न केवलं प्राणारम्भः **विक्खेवो तस्स चित्तम्मि** अविक्षिप्तचित्तपरमयोगरहितस्य परिग्रहपुरुषस्य विक्षेपस्तस्य विद्यते चित्ते मनसीति । इति द्वितीयगाथा ॥ **गेण्हइ** स्वशुद्धात्मग्रहणशून्यः सन् गृह्णाति किमपि बहिर्द्रव्यं **विधुणइ** कर्मधूलिं विहाय बहिरङ्गधूलिं विधूनोति विनाशयति । **धोवइ** निर्मलपरमात्मतत्त्वमलजनकरागादिमलं विहाय बहिरङ्गमलं धौति प्रक्षालयति **सोसेइ जदं तु आदवे खित्ता** निर्विकल्पध्यानातपेन संसारनदीशोषणमकुर्वन् शोषयति शुष्कं करोति **जदं तु** यत्नपरं तु यथा भवति । किं कृत्वा । आतपे निक्षिप्य । किं तत् । **पत्थं च चेलखंडं** पात्रं वस्त्रखण्डं

अन्तरङ्गसंयमके घातका निषेध अवश्य होता है ॥ २० ॥ आगे यह कहते हैं, कि सर्वथा अन्तरङ्गसंयमका घात परिग्रहसे ही है—[**तस्मिन्**] उस परिग्रहके होनेपर [**मूर्च्छा**] ममत्व परिणाम [**वा**] अथवा उस परिग्रहके लिये [**आरम्भः**] उद्यमसे क्रियाका आरम्भ और [**तस्य**] उस ही मुनिके [**असंयमः**] शुद्धात्माचरणरूप संयमका घात [**कथं**] किस प्रकार [**नास्ति**] न होवे, अवश्य ही होवे, [**तथा**] उस ही प्रकार जिसके परिग्रह है, वह मुनि [**परद्रव्ये**] निजरूपसे भिन्न परद्रव्यरूप

रम्भस्य शुद्धात्मरूपहिंसनपरिणामलक्षणस्यासंयमस्य चावश्यं भावितात्तथोपधिद्वितीयस्य परद्रव्यरतत्वेन शुद्धात्मद्रव्यप्रसाधकत्वाभावाच्च ऐकान्तिकान्तरङ्गच्छेदत्वमुपधेरवधार्यत एव । इदमत्र तात्पर्यमेवंविधत्वमुपधेरवधार्य स सर्वथा संन्यस्तव्यः ॥ २१ ॥

अथ कस्यचित्क्वचित्कदाचित्कथंचित्कश्चिदुपधिरप्रतिषिद्धोऽप्यस्तीत्यपवादमुपदिशति—

छेदो जेण ण विज्जदि गहणविसग्गेसु सेवमाणस्स ।
समणो तेणिह वट्टदु कालं खेत्तं वियाणित्ता ॥ २२ ॥

छेदो येन न विद्यते ग्रहणविसर्गेषु सेवमानस्य ।
श्रमणस्तेनेह वर्ततां कालं क्षेत्रं विज्ञाय ॥ २२ ॥

वा **बिभेदि** निर्भयशुद्धात्मतत्त्वभावनाशून्यः सन् बिभेति भयं करोति । कस्मात्सकाशात् । **परदो य** परतश्चौरादेः **पालयदि** परमात्मभावनां न पालयन्न रक्षयन्परद्रव्यं किमपि पालयतीति तृतीया गाथा ॥ ३-५ ॥ अथ सपरिग्रहस्य नियमेन चित्तशुद्धिर्नश्यतीति विस्तरेणाख्याति— **किध तम्हि णत्थि मुच्छा** परद्रव्यममत्वरहितचिच्चमत्कारपरिणतेर्विसदृशमूर्च्छा कथं नास्ति अपि त्वस्त्येव । क्व । तस्मिन् परिग्रहाकाङ्क्षितपुरुषे **आरंभो वा** मनोवचनकायक्रियारहितपरमचैतन्यप्रतिबन्धक आरम्भो वा कथं नास्ति किं त्वस्त्येव **असंजमो तस्स** शुद्धात्मानुभूतिविलक्षणासंयमो वा कथं नास्ति किं त्वस्त्येव तस्य सपरिग्रहस्य **तध परदव्वम्मि रदो** तथैव निजात्मद्रव्यात्परद्रव्ये रतः **कधमप्पाणं पसाधयदि** स तु सपरिग्रहपुरुषः कथमात्मानं प्रसाधयति । न कथमपीति ॥ २१ ॥ एवं श्वेताम्बरमतानुसारिशिष्यसंबोधनार्थं निर्ग्रन्थमोक्षमार्गस्थापनमुख्यत्वेन प्रथमस्थले गाथापञ्चकं गतम् । अथ कालापेक्षया परमोपेक्षासंयमशक्त्यभावे सत्याहारसंयमशौचज्ञानोपकरणादिकं किमपि ग्राह्यमित्यपवादमुपदिशति— **छेदो जेण ण विज्जदि** छेदो येन न विद्यते।

परिग्रहमें [**रतः**] रागी होकर [**कथं**] किस तरह [**आत्मानं**] अपने शुद्ध स्वरूपका [**प्रसाधयति**] एकाग्रतासे अनुभव करसकता है ? नहीं कर सकता । **भावार्थ**—जिसके परिग्रह होता है, उसके अवश्य ही ममत्वभाव होते हैं । उस परिग्रहके निमित्तसे आरम्भ भी होता है, जहाँ ममता और आरम्भ होता है, वहाँ शुद्धोपयोगरूप आत्मीक प्राणकी हिंसा होती है, जहाँ हिंसा हो, वहीं असंयम भी हो, और भी परिग्रही मुनिको बड़ा दोष है, परिग्रह परद्रव्य है, जो परद्रव्यमें रत होता है, उसके शुद्धात्मद्रव्यकी सिद्धिका अभाव होता है, शुद्धात्मद्रव्यकी सिद्धि मुनिपदका मूल है, जहाँ यह नहीं, वहाँ मुनिपद नहीं। इसलिये इस कथनका यह अभिप्राय है, कि परिग्रह सर्वथा त्यागने योग्य है ॥ २१ ॥ आगे किसी मुनिके किसी एक कालमें किसी एक तरहसे कोई एक परिग्रह अत्याज्य भी है, ऐसा अपवादमार्ग दिखलाते हैं—[**सेवमानस्य**] परिग्रह सेवनेवाले मुनिके [**ग्रहणविसर्गेषु**] ग्रहण करनेमें अथवा त्यागनेमें [**येन**] जिस परिग्रहसे [**छेदः**] शुद्धोपयोगरूप संयमका घात [**न विद्यते**] नहीं हो, [**तेन**] उस परिग्रहसे [**श्रमणः**] मुनि [**कालं क्षेत्रं**] काल और क्षेत्रको [**विज्ञाय**] जानकर [**इह**] इस लोकमें [**वर्ततां**] प्रवर्ते (रहे) तो कोई हानि नहीं है । **भावार्थ**—उत्सर्गमार्ग वह है,

आत्मद्रव्यस्य द्वितीयपुद्गलद्रव्याभावात्सर्व एवोपधिः प्रतिषिद्ध इत्युत्सर्गः । अयं तु मिश्रकालक्षेत्रवशात्कश्चिदप्रतिषिद्ध इत्यपवादः । यदा हि श्रमणः सर्वोपधिप्रतिषेधमास्थाय परममुपेक्षासंयमं प्रतिपत्तुकामोऽपि विशिष्टकालक्षेत्रवशावसन्नशक्तिर्न प्रतिपत्तुं क्षमते तदापकृष्य संयमं प्रतिपद्यमानस्तद्बहिरङ्गसाधनमात्रमुपधिमातिष्ठते । स तु तथा स्थीयमानो न खलूपधित्वाच्छेदः, प्रत्युत छेदप्रतिषेध एव । यः किलाशुद्धोपयोगाविनाभावी स छेदः । अयं तु श्रामण्यपर्यायसहकारिकारणशरीरवृत्तिहेतुभूताहारनिर्हारादिग्रहणविसर्जनविषयच्छेदप्रतिषेधार्थमुपादीयमानः सर्वथा शुद्धोपयोगाविनाभूतत्वाच्छेदप्रतिषेध एव स्यात् ॥ २२ ॥

अथाप्रतिषिद्धोपधिस्वरूपमुपदिशति—

अप्पडिकुट्ठं उवधिं अपत्थणिज्जं असंजदजणेहिं ।
मुच्छादिजणणरहिदं गेण्हदु समणो जदि वि अप्पं ॥ २३ ॥

येनोपकरणेन शुद्धोपयोगलक्षणसंयमस्य छेदो विनाशो न विद्यते । कयोः । **गहणविसग्गेसु** ग्रहणविसर्गयोः यस्योपकरणस्यान्यवस्तुनो वा ग्रहणे स्वीकारे विसर्जने । किं कुर्वतः तपोधनस्य । **सेवमाणस्स** तदुपकरणं सेवमानस्य । **समणो तेणिह वट्टदु कालं खेत्तं वियाणित्ता** श्रमणस्तेनोपकरणेनेह लोके वर्तताम् । किं कृत्वा । कालं क्षेत्रं च विज्ञायेति । अयमत्र भावार्थः—कालं पञ्चमकालं शीतोष्णादिकालं वा क्षेत्रं भरतक्षेत्रं मानुषजाङ्गलादिक्षेत्रं वा, विज्ञाय येनोपकरणेन स्वसंवित्तिलक्षणभावसंयमस्य बहिरङ्गद्रव्यसंयमस्य वा, छेदो न भवति तेन वर्तत इति ॥ २२ ॥ अथ पूर्वसूत्रोदितोपकरणस्वरूपं दर्शयति—**अप्पडिकुट्ठं उवधिं** निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गसहकारिकारणत्वेनाप्रतिषिद्धमुपधिमुपकरणरूपोपधिं **अपत्थणिज्जं असंजदजणेहिं**

कि सब परिग्रहका निषेध किया है, क्योंकि आत्माके एक अपने भावके सिवाय परद्रव्यरूप दूसरा पुद्गलभाव नहीं है, इस कारण उत्सर्गमार्ग परिग्रह रहित है, और यह विशेषरूप अपवादमार्ग है वह काल क्षेत्रके वश किसी एक परिग्रहको ग्रहण करता है, इसलिये अपवाद भेदरूप है । यही दिखलाते हैं—जिस समय कोई एक मुनि सब परिग्रहको त्यागकर परम वीतराग संयमको प्राप्त होना चाहता है, वही मुनि किसी एक कालकी विशेषतासे अथवा क्षेत्रके विशेषसे हीन शक्ति होता है, तब वह वीतरागसंयम दशाको नहीं धारण कर सकता, इसलिये सरागसंयम अवस्थाको अंगीकार करता है, और उस अवस्थाका बाह्य साधन परिग्रह ग्रहण करता है । उस परिग्रहको ग्रहण कर तिष्ठते हुए मुनिके उस परिग्रहसे संयमका घात नहीं होता । संयमका घात वहाँ होता है, जहाँपर कि मुनिपदका घातक अशुद्धोपयोग होता है । यह परिग्रह तो संयमके घातके दूर करनेके लिये है । मुनिपदवीका सहकारी कारण शरीर है, और उस शरीरकी प्रवृत्ति आहार नीहारके ग्रहण त्यागसे होती है, उसमें संयमके घातके निषेधके लिये अंगीकार करते हैं । इस कारण अशुद्धोपयोगमयी जो संयमका घात है, उसको दूर करनेवाला परिग्रह है, इसलिये घातक नहीं है ॥ २२ ॥ आगे जिस परिग्रहका मुनिके लिये निषेध नहीं है, उसका स्वरूप दिखलाते हैं—[**श्रमणः**] अपवादमार्गी मुनि [**उपधिं**] ऐसे परिग्रहको [**गृह्णातु**] ग्रहण करे, तो

अप्रतिक्रुष्टमुपधिमप्रार्थनीयमसंयतजनैः ।
मूर्च्छादिजननरहितं गृह्णातु श्रमणो यद्यप्यल्पम् ॥ २३ ॥

यः किलोपधिः सर्वथा बन्धासाधकत्वादप्रतिक्रुष्टः संयमादन्यत्रानुचितत्वादसंयतजनाप्रार्थनीयो रागादिपरिणाममन्तरेण धार्यमाणत्वान्मूर्च्छादिजननरहितश्च भवति स खल्वप्रतिषिद्धः । अतो यथोदितस्वरूप एवोपधिरुपादेयो न पुनरल्पोऽपि यथोदितविपर्यस्तस्वरूपः ॥ २३ ॥

अथोत्सर्ग एव वस्तुधर्मो न पुनरपवाद इत्युपदिशति—

किं किंचण त्ति तक्कं अपुणब्भवकामिणोध देहे वि ।
संग त्ति जिणवरिंदा णिप्पडिकम्मत्तमुद्दिट्ठा ॥ २४ ॥

किं किंचनमिति तर्कः अपुनर्भवकामिनोऽथ देहेऽपि ।
संग इति जिनवरेन्द्रा निःप्रतिकर्मत्वमुद्दिष्टवन्तः ॥ २४ ॥

अत्र श्रामण्यपर्यायसहकारिकारणत्वेनाप्रतिषिध्यमानेऽत्यन्तमुपात्तदेहेऽपि परद्रव्यत्वात्परिग्रहोऽयं न नामानुग्रहार्हः किंतूपेक्ष्य एवेत्यप्रतिकर्मत्वमुपदिष्टवन्तो भगवन्तोऽर्हद्देवाः । अथ तत्र

अप्रार्थनीयं निर्विकारात्मोपलब्धिलक्षणभावसंयमरहितस्यासंयतजनस्यानभिलषणीयम् । **मुच्छादिजणणरहिदं** परमात्मद्रव्यविलक्षणबहिर्द्रव्यममत्वरूपमूर्च्छारक्षणार्जनसंस्कारादिदोषजननरहितम् । **गेण्हदु समणो जदि वि अप्पं** गृह्णातु श्रमणो यमप्यल्पं पूर्वोक्तमुपकरणोपधिं यद्यप्यल्पं तथापि पूर्वोक्तोचितलक्षणमेव ग्राह्यं न च तद्विपरीतमधिकं वेत्यभिप्रायः ॥ २३ ॥ अथ सर्वसंगपरित्याग एव श्रेष्ठः शेषमशक्यानुष्ठानमिति प्ररूपयति—**किं किंचण त्ति तक्कं** किं किंचनमिति तर्कः किं किंचनं परिग्रह इति तर्को विचारः क्रियते तावत् । कस्य । **अपुणब्भवकामिणो** अपुनर्भवकामिनः अनन्तज्ञानादिचतुष्टयात्ममोक्षाभिलाषिणः **अध** अहो **देहो वि** देहोऽपि **संग त्ति** सङ्गः परिग्रह इति हेतोः **जिणवरिंदा** जिनवरेन्द्राः कर्तारः **णिप्पडि-**

कुछ भी दोष नहीं है । जो परिग्रह [**अप्रतिक्रुष्टं**] बंधको नहीं करता [**असंयतजनैः**] संयम रहित जनोंका [**अप्रार्थनीयं**] प्रार्थना करनेके योग्य नहीं है, [**मूर्च्छादिजननरहितं**] ममता, आरंभ, हिंसादिक भावोंकी उत्पत्तिसे रहित है, और वह [**यद्यपि**] यद्यपि [**अल्पं**] थोड़ा है । **भावार्थ—**जिस परिग्रहको असंयमी ग्रहण नहीं कर सकते, और जिससे रागादिभाव विना ग्रहण होनेसे मूर्च्छादि भाव नहीं होते, ऐसे परिग्रहका मुनिको निषेध नहीं है, किंतु ग्रहण करने योग्य है, और जो इससे विपरीत परिग्रह है, वह थोड़ा होनेपर भी ग्रहण योग्य नहीं है, जैसा कुछ मुनिके योग्य है, वही ग्रहण योग्य है ॥ २३ ॥ आगे उत्सर्गमार्ग ही वस्तुका धर्म है, अपवादमार्ग नहीं, ऐसा उपदेश करते हैं—[**अथ**] अहो, देखो कि [**अपुनर्भवकामिनः**] मोक्षके अभिलाषी मुनिके [**देहेऽपि**] देहके होनेपर भी [**संगः**] परिग्रह है, [**इति**] ऐसा जानकर [**जिनवरेन्द्राः**] सर्वज्ञ वीतरागदेव [**निःप्रतिकर्मत्वं**] ममत्वभाव सहित शरीरकी क्रियाके त्यागका [**उद्दिष्टवन्तः**] उपदेश करते हुए, तब उस मुनिके [**किं**] क्या [**किंचन**] अन्य भी कुछ परिग्रह है, [**इति**] ऐसा [**तर्कः**] बड़ा ही

शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भसंभावनरसिकस्य पुंसः शेषोऽन्योऽनुपात्तः परिग्रहो वराकः किं नाम स्यादिति व्यक्त एव हि तेषामाकूतिः । अतोऽवधार्यते उत्सर्ग एव वस्तुधर्मो न पुनरपवादः । इदमत्र तात्पर्यं वस्तुधर्मत्वात्परमनैर्ग्रन्थ्यमेवावलम्ब्यम् ॥ २४ ॥

अथ केऽपवादविशेषा इत्युपदिशति—

उवयरणं जिणमग्गे लिंगं जहजादरूवमिदि भणिदं ।
गुरुवयणं पि य विणओ सुत्तज्झयणं च णिद्दिट्ठं ॥ २५ ॥

कम्मत्तमुद्दिट्ठा निःप्रतिकर्मत्वमुपदिष्टवन्तः । शुद्धोपयोगलक्षणपरमोपेक्षासंयमबलेन देहेऽपि निःप्रतीकारित्वं कथितवन्त इति । ततो ज्ञायते मोक्षसुखाभिलाषिणां निश्चयेन देहादिसर्वसंगपरित्याग एवोचितोऽन्यस्तूपचार एवेति ॥ २४ ॥ एवमपवादव्याख्यानरूपेण द्वितीयस्थले गाथात्रयं गतम् । अथैकादशगाथापर्यन्तं स्त्रीनिर्वाणनिराकरणमुख्यत्वेन व्याख्यानं करोति । तद्यथा—श्वेताम्बरमतानुसारी शिष्यः पूर्वपक्षं करोति—

पेच्छदि ण हि इह लोगं परं च समणिंददेसिदो धम्मो ।
धम्मम्हि तम्हि कम्हा वियप्पियं लिंगमित्थीणं ॥ *६ ॥

पेच्छदि ण हि इह लोगं निरुपरागनिजचैतन्यनित्योपलब्धिभावनाविनाशकं ख्यातिपूजालाभरूपं प्रेक्षते न च हि स्फुटं इह लोकम् । न च केवलमिह लोकं **परं च** स्वात्मप्राप्तिरूपं मोक्षं विहाय स्वर्गभोगप्राप्तिरूपं परं च परलोकं च नेच्छति । स कः । **समणिंददेसिदो धम्मो** श्रमणेन्द्रदेशितो धर्मः जिनेन्द्रोपदिष्ट इत्यर्थः । **धम्मम्हि तम्हि कम्हा** धर्मे तस्मिन् कस्मात् **वियप्पियं** विकल्पितं निर्ग्रन्थलिङ्गाद्वस्त्रप्रावरणेन पृथक्कृतम् । किम् । **लिंगं** सावरणचिह्नम् । कासां संबन्धि । **इत्थीणं** स्त्रीणामिति पूर्वपक्षगाथा ॥ ६ ॥ अथ परिहारमाह—

णिच्छयदो इत्थीणं सिद्धी ण हि तेण जम्मणा दिट्ठा ।
तम्हा तप्पडिरूवं वियप्पियं लिंगमित्थीणं ॥ *७ ॥

णिच्छयदो इत्थीणं सिद्धी ण हि तेण जम्मणा दिट्ठा निश्चयतः स्त्रीणां नरकादिगतिविलक्षणानन्तसुखादिगुणस्वभावा तेनैव जन्मना सिद्धिर्न दिष्टा न कथिता । **तम्हा तप्पडिरूवं** तस्मात्कारणात्प्रति-

---

विचार होता है । **भावार्थ**—जिस मार्गमें मुनिपदका सहकारी शरीर भी परद्रव्यरूप परिग्रह जानकर आदर करने योग्य नहीं है, वह भी ममताभावसे रहित होकर त्यागने योग्य है, और भगवंतदेवने ममतासे आर विहारमें प्रवृत्ति होनेको मना किया है, तो उस मार्गमें शुद्धात्म रसके आस्वादी मुनिके अन्य परिग्रह विचारा कैसे बन सकता है, ऐसा अरहंतदेवका प्रकट (निश्चित) अभिप्राय है । इससे यह बात सिद्ध होती है, कि उत्सर्ग निष्परिग्रह मार्ग है, वही वस्तुका धर्म है । परिग्रह रहनेसे अपवादमार्ग वस्तुका धर्म नहीं है । इससे यह अभिप्राय निकला, कि उत्सर्गमार्ग ही वस्तुका धर्म है, इसलिये परम निर्ग्रन्थ पदवी अवलंबन करने योग्य है ॥ २४ ॥ आगे अपवादमार्गके कौनसे भेद हैं, उनको दिखलाते हैं— **[जिनमार्गे]** सर्वज्ञ वीतरागदेव कथित निर्ग्रन्थ मोक्षमार्गमें **[उपकरणं]** मुनिके उपकारी परिग्रह

उपकरणं जिनमार्गे लिङ्गं यथाजातरूपमिति भणितम् ।
गुरुवचनमपि च विनयः सूत्राध्ययनं च निर्दिष्टम् ॥ २५ ॥

योग्यं सावरणरूपं **वियप्पियं लिंगमित्थीणं** निर्ग्रन्थलिङ्गात्पृथक्त्वेन विकल्पितं कथितं लिङ्गं प्रावरणसहितं चिह्नम् । कासाम् । स्त्रीणामिति ॥ ७ ॥ अथ स्त्रीणां मोक्षप्रतिबन्धकं प्रमादबाहुल्यं दर्शयति—

पइडीपमादमइया एदासिं वित्ति भासिया पमदा ।
तम्हा ताओ पमदा पमादबहुल त्ति णिद्दिट्ठा ॥ *८ ॥

पइडीपमादमइया प्रकृत्या स्वभावेन प्रमादेन निर्वृत्ता प्रमादमयी । का कर्त्री भवति । **एदासिं वित्ति** एतासां स्त्रीणां वृत्तिः परिणतिः **भासिया पमदा** तत एव नाममालायां प्रमदाः प्रमदासंज्ञा भणिता भाषिताः स्त्रियः । **तम्हा ताओ पमदा** यत एव प्रमदा संज्ञास्ताः स्त्रियः तस्मात्तत एव **पमादबहुल त्ति णिद्दिट्ठा** निःप्रमादपरमात्मतत्त्वभावनाविनाशकप्रमादबहुला इति निर्दिष्टाः ॥ ८ ॥ अथ तासां मोहादिबाहुल्यं दर्शयति—

संति धुवं पमदाणं मोहपदोसा भयं दुगुंछा य ।
चित्ते चित्ता माया तम्हा तासिं ण णिव्वाणं ॥ *९ ॥

संति धुवं पमदाणं सन्ति विद्यन्ते ध्रुवं निश्चितं प्रमदानां स्त्रीणाम् । के ते । **मोहपदोसा भयं दुगुंछा य** मोहादिरहितानन्तसुखादिगुणस्वरूपमोक्षकारणप्रतिबन्धकाः मोहप्रद्वेषभयदुगुंछापरिणामाः **चित्ते चित्ता माया** कौटिल्यादिरहितपरमबोधादिपरिणतेः प्रतिपक्षभूता चित्ते मनसि चित्रा विचित्रा माया **तम्हा तासिं ण णिव्वाणं** तत एव तासामव्याबाधसुखाद्यनन्तगुणाधारभूतं निर्वाणं नास्तीत्यभिप्रायः ॥ ९ ॥ अथैतदेव द्रढयति—

ण विणा वट्टदि णारी एक्कं वा तेसु जीवलोयम्हि ।
ण हि संउडं च गत्तं तम्हा तासिं च संवरणं ॥ *१० ॥

ण विणा वट्टदि णारी न विना वर्तते नारी **एक्कं वा तेसु जीवलोयम्हि** तेषु निर्दोषिपरमात्मध्यानविघातकेषु पूर्वोक्तदोषेषु मध्ये जीवलोके त्वेकमपि दोषं विहाय **ण हि संउडं च गत्तं** न हि स्फुटं संवृतं गात्रं च शरीरं **तम्हा तासिं च संवरणं** तत एव च तासां संवरणं वस्त्रावरणं क्रियत इति ॥ १० ॥
अथ पुनरपि निर्वाणप्रतिबन्धकदोषान्दर्शयति—

चित्तस्सावो तासिं सिथिल्लं अत्तवं च पक्खलणं ।
विज्जदि सहसा तासु अ उप्पादो सुहममणुआणं ॥ *११ ॥

विज्जदि विद्यते तासु च स्त्रीषु । किम् । **चित्तस्सावो** चित्तस्रवः निःकामात्मतत्त्वसंवित्तिविनाशक-

---

[इति] इस प्रकार **[भणितं]** कहे हैं, कि **[यथाजातरूपं लिङ्गं]** जैसा मुनिका स्वरूप चाहिये, वैसा ही शरीरके द्रव्यलिङ्गका होना, एक तो यह परिग्रह है । **[गुरुवचनं अपि]** तत्त्वके उपदेशक गुरुके वचनरूप पुद्गलोंका ग्रहण एक यह भी परिग्रह है, **[च]** और **[विनयः]** जो कोई शुद्धात्माके

यो हि नामाप्रतिषिद्धोऽस्मिन्नुपधिरपवादः स खलु निखिलोऽपि श्रामण्यपर्यायसहकारिकारणत्वेनोपकारकारकत्वादुपकरणभूत एव न पुनरन्यः। तस्य तु विशेषः सर्वाहार्यवर्जितसहज-

चित्तस्य कामोद्रेकेण स्रवो रागसार्द्रभावः **तासिं** तासां स्त्रीणां **सिढिलं** शिथिलस्य भावः शैथिल्यं तद्भवमुक्तियोग्यपरिणामविषये चित्तदाढर्चाभावः सत्त्वहीनपरिणाम इत्यर्थः। **अत्तवं च पक्खलणं** ऋतौ भवमार्तवं प्रस्खलनं रक्तस्रवणं सहसा झटिति मासे मासे दिनत्रयपर्यन्तं चित्तशुद्धिविनाशको रक्तस्रवो भवतीत्यर्थः। **उप्पादो सुहममणुआणं** उत्पाद उत्पत्तिः सूक्ष्मलब्ध्यपर्याप्तमनुष्याणमिति ॥ ११ ॥

अथोत्पत्तिस्थानानि कथयति—

लिंगम्हि य इत्थीणं थणंतरे णाहिकक्खपदेसेसु।
भणिदो सुहुमुप्पादो तासिं कह संजमो होदि ॥ *१२ ॥

लिंगम्हि य इत्थीणं थणंतरे णाहिकक्खपदेसेसु स्त्रीणां लिङ्गे योनिप्रदेशे स्तनान्तरे नाभिप्रदेशे कक्षप्रदेशे च **भणिदो सुहुमुप्पादो** एतेषु स्थानेषु सूक्ष्ममनुष्यादिजीवोत्पादो भणितः। एते पूर्वोक्तदोषाः पुरुषाणां किं न भवन्तीति चेत्। एवं न वक्तव्यं स्त्रीषु बाहुल्येन भवन्ति। न चास्तित्वमात्रेण समानत्वम्। एकस्य विषकणिकास्ति द्वितीयस्य च विषं सर्वतोऽस्ति किं समानत्वं भवति। किंतु पुरुषाणां प्रथमसंहननबलेन दोषविनाशको मुक्तियोग्यविशेषसंयमोऽस्ति। **तासिं कह संजमो होदि** ततः कारणात्तासां कथं संयमो भवतीति ॥ १२ ॥ अथ स्त्रीणां तद्भवमुक्तियोग्यां सकलकर्मनिर्जरां निषेधयति—

जदि दंसणेण सुद्धा सुत्तज्झयणेण चावि संजुत्ता।
घोरं चरदि व चरियं इत्थिस्स ण णिज्जरा भणिदा ॥ *१३ ॥

जदि दंसणेण सुद्धा यद्यपि दर्शनेन सम्यक्त्वेन शुद्धाः **सुत्तज्झयणेण चावि संजुत्ता** एकादशाङ्गसूत्राध्ययनेनापि संयुक्ता **घोरं चरदि व चरियं** घोरं पक्षोपवासमासोपवासादि चरति वा चरित्रं **इत्थिस्स ण णिज्जरा भणिदा** तथापि स्त्रीजनस्य तद्भवकर्मक्षययोग्या सकलनिर्जरा न भणितेति भावः। किंच यथा प्रथमसंहननाभावात्स्त्री सप्तमनरकं न गच्छति तथा निर्वाणमपि "पुंवेदं वेदंता पुरिसा जे खवगसेढिमारूढा। सेसोदयेण वि तहा झाणुवजुत्ता य ते दु सिज्झंति।" इति गाथाकथितार्थाभिप्रायेण भावस्त्रीणां कथं निर्वाणमिति चेत्। तासां भावस्त्रीणां प्रथमसंहननमस्ति द्रव्यस्त्रीवेदाभावात्तद्भवमोक्षपरिणामप्रतिबन्धकतीव्रकामोद्रेकोऽपि नास्ति। द्रव्यस्त्रीणां प्रथमसंहननं नास्तीति कस्मादागमे कथितमास्ते इति चेत्। तत्रोदाहरणगाथा—"अंतिमतिगसंघडणं णियमेण य कम्मभूमिमहिलाणं। आदिमतिगसंघडणं णत्थि त्ति जिणेहि णिद्दिट्ठं"[1]॥ अथ मतम्—यदि मोक्षो नास्ति तर्हि भवदीयमते किमर्थमर्जिकानां महाव्रतारोपणम्। परिहारमाह—तदुपचारेण

अनुभवी महामुनि हैं, उनका विनयमें प्रवृत्त होनेरूप द्रव्यमनके पुद्गल यह भी परिग्रह है, [**च**] और [**सूत्राध्ययनं**] वचनात्मक सिद्धान्तोंका पढ़ना, यह भी परिग्रह [**प्रज्ञप्तं**] कहा है। **भावार्थ—** जिस परिग्रहका अपवादमार्गमें निषेध नहीं किया गया है, वह सभी परिग्रह यति अवस्थाका सहायक है,

१ अन्तिमसंहननत्रयं नियमेन कर्मभूमिमहिलानामस्ति। आदिमसंहननत्रयं नास्तीति जिनैर्निर्दिष्टम् ॥

रूपोपेक्षितयथाजातरूपत्वेन बहिरङ्गलिङ्गभूताः कायपुद्गलाः श्रूयमाणतत्कालबोधकगुरुगीर्यमाणात्मतत्त्वद्योतकसिद्धोपदेशवचनपुद्गलास्तथाधीयमाननित्यबोधकानादिनिधनशुद्धात्मतत्त्वद्योतनस-

कुलव्यवस्थानिमित्तम्। न चोपचारः साक्षाद्भवितुमर्हति अग्निवत् क्रूरोऽयं देवदत्त इत्यादिवत्। तथा चोक्तम्–मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते चोपचारः प्रवर्तते। किंतु यदि तद्भवे मोक्षो भवति स्त्रीणां तर्हि शतवर्षदीक्षिताया अर्जिकाया अद्यदिने दीक्षितः साधुः कथं वन्द्यो भवति। सैव प्रथमतः किं न वन्द्या भवति साधोः। किंतु भवन्मते मल्लितीर्थकरः स्त्रीति कथ्यते तदप्ययुक्तम्। तीर्थकरा हि सम्यग्दर्शनविशुद्धयादिषोडशभावनाः पूर्वभवे भावयित्वा पश्चाद्भवन्ति। सम्यग्दृष्टेः स्त्रीवेदकर्मणो बन्ध एव नास्ति कथं स्त्री भविष्यतीति। किं च यदि मल्लितीर्थकरो वान्यः कोऽपि वा स्त्रीभूत्वा निर्वाणं गतः तर्हि स्त्रीरूपप्रतिमाराधना किं न क्रियते भवद्भिः। यदि पूर्वोक्तदोषाः सन्तः स्त्रीणां तर्हि सीतारुक्मिणीकुन्तीद्रौपदीसुभद्राप्रभृतयो जिनदीक्षां गृहीत्वा विशिष्टतपश्चरणेन कथं षोडशस्वर्गे गता इति चेत्। परिहारमाह–तत्र दोषो नास्ति तस्मात्स्वर्गादागत्य पुरुषवेदेन मोक्षं यास्यन्त्यग्रे। तद्भवमोक्षो नास्ति भवान्तरे भवतु को दोष इति। इदमत्र तात्पर्यम्–स्वयं वस्तुस्वरूपमेव ज्ञातव्यं परं प्रति विवादो न कर्तव्यः। कस्मात्। विवादे रागद्वेषोत्पत्तिर्भवति ततश्च शुद्धात्मभावना नश्यतीति ॥ अथोपसंहाररूपेण स्थितपक्षं दर्शयति—

तम्हा तं पडिरूवं लिंगं तासिं जिणेहिं णिद्दिट्ठं।
कुलरूववओजुत्ता समणीओ तस्समाचारा ॥ *१४ ॥

तम्हा यस्मात्तद्भवे मोक्षो नास्ति तस्मात्कारणात् **तं पडिरूवं लिंगं तासिं जिणेहिं णिद्दिट्ठं** तत्प्रतिरूपं वस्त्रप्रावरणसहितं लिङ्गं चिह्नं लाञ्छनं तासां स्त्रीणां जिनवरैः सर्वज्ञैर्निर्दिष्टं कथितम्। **कुलरूववओजुत्ता समणीओ** लोकदुगुञ्छारहितत्वेन जिनदीक्षायोग्यं कुलं भण्यते। अन्तरङ्गनिर्विकारचित्तशुद्धिज्ञापकं बहिरङ्गनिर्विकारं रूपं भण्यते। शरीरभङ्गरहितं वा अतिबालवृद्धबुद्धिवैकल्यरहितं वयो भण्यते। तैः कुलरूपवयोभिर्युक्ताः कुलरूपवयोयुक्ता भवन्ति। काः श्रामण्यर्जिकाः। पुनरपि किंविशिष्टाः। **तस्समाचारा** तासां स्त्रीणां योग्यस्तद्योग्य आचारशास्त्रविहितसमाचार आचरणं यासां तास्तत्समाचारा इति ॥ १४ ॥ अथेदानीं पुरुषाणां दीक्षाग्रहणे वर्णव्यवस्थां कथयति—

वण्णेसु तीसु एक्को कल्लाणंगो तवोसहो वयसा।
सुमुहो कुंछारहिदो लिंगग्गहणे हवदि जोग्गो ॥ *१५ ॥

वण्णेसु तीसु एक्को वर्णेषु त्रिष्वेकः ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यवर्णेष्वेकः **कल्लाणंगो** कल्याणाङ्ग आरोग्यः **तवोसहो वयसा** तपःसहः तपःक्षमः। केन। अतिवृद्धबालत्वरहितवयसा **सुमुहो** निर्विकाराभ्यन्तरपरमचैतन्यपरिणतिविशुद्धिज्ञापकं गमकं बहिरङ्गनिर्विकारं मुखं यस्य मुखावयवभङ्गरहितं वा स भवति सुमुखः

इसलिये उपकारी है, अन्य परिग्रह नहीं है। उस मुनिके योग्य परिग्रहके भेद इस प्रकार है, कि सब वस्त्र आभूषणादिकसे रहित सहज (स्वाभाविक) सुंदर यथाजातरूप बाह्य द्रव्य लिंगस्वरूप काययोग संबंधी पुद्गल, एक तो यह उपकरण है, और शुद्धात्मतत्त्वके प्रकाशक जो वचनात्मक पुद्गल हैं, उनको

मर्थश्रुतज्ञानसाधनीभूतशब्दात्मकसूत्रपुद्गलाश्च शुद्धात्मतत्त्वव्यञ्जकदर्शनादिपर्यायतत्परिणतपुरुष-विनीतताभिमायवर्तकचित्तपुद्गलाश्च भवन्ति । इदमत्र तात्पर्यं, कायवद्वचनमनसी अपि न वस्तुधर्मः ॥ २५ ॥

अथाप्रतिषिद्धशरीरमात्रोपधिपालनविधानमुपदिशति—

कुंछारहिदो लोकमध्ये दुराचाराद्यपवादरहितः **लिंगग्गहणे हवदि जोग्गो** एवं गुणविशिष्टपुरुषो जिन-दीक्षाग्रहणे योग्यो भवति । यथायोग्यं सच्छूद्राद्यपि ॥ १५ ॥ अथ निश्चयनयाभिप्रायं कथयति—

जो रयणत्तयणासो सो भंगो जिणवरेहि णिद्दिट्ठो ।
सेसं भंगेण पुणो ण होदि सल्लेहणाअरिहो ॥ *१६ ॥

जो रयणत्तयणासो सो भंगो जिणवरेहि णिद्दिट्ठो यो रत्नत्रयनाशः स भङ्गो जिनवरैर्निर्दिष्टः । विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धाज्ञानानुष्ठानरूपो योऽसौ निश्चयरत्नत्रयस्वभावस्तस्य विनाशः स एव निश्चयेन नाशो भङ्गो जिनवरैर्निर्दिष्टः **सेसं भंगेण पुणो** शेषभङ्गेन पुनः शेषखण्डमुण्ड-वातवृषणादिभङ्गेन **ण होदि सल्लेहणाअरिहो** न भवति सल्लेखनार्हः लोकदुगुञ्छाभयेन निर्ग्रन्थरूपयोग्यो न भवति । कौपीनग्रहणेन तु भावनायोग्यो भवतीत्यभिप्रायः ॥ १६ ॥ एवं स्त्रीनिर्वाणनिराकरणव्या-ख्यानमुख्यत्वेनैकादशगाथाभिस्तृतीयं स्थलं गतम् । अथ पूर्वोक्तस्योपकरणरूपापवादव्याख्यानस्य विशेष-विवरणं करोति—**इदि भणिदं** कथितम् । किम् । **उवयरणं** उपकरणम् । क । **जिणमग्गे** जिनोक्तमोक्ष-मार्गे । किमुपकरणम् । **लिंगं** शरीराकारपुद्गलपिण्डरूपं द्रव्यलिङ्गम् । किंविशिष्टम् । **जहजादरूवं** यथा-जातरूपं यथाजातशब्देनात्र व्यवहारेण संगपरित्यागयुक्तं निश्चयेनाभ्यन्तरेण शुद्धबुद्धैकस्वभावं परमात्म-स्वरूपं **गुरुवयणं पि य** गुरुवचनमपि निर्विकारपरमचिज्ज्योतिःस्वरूपपरमात्मतत्त्वप्रतिबोधकं सारभूतं सिद्धोपदेशरूपं गुरूपदेशवचनम् । न केवलं गुरूपदेशवचनं **सुत्तज्झयणं च** आदिमध्यान्तवर्जितजाति-जरामरणरहितनिजात्मद्रव्यप्रकाशकसूत्राध्ययनं च परमागमवाचनमित्यर्थः । **णिद्दिट्ठं** उपकरणरूपेण निर्दिष्टं कथितम् । **विणओ** स्वकीयनिश्चयरत्नत्रयशुद्धिर्निश्चयविनयः, तदाधारपुरुषेषु भक्तिपरिणामो व्यवहारविनयः । उभयोऽपि विनयपरिणाम उपकरणं भवतीति निर्दिष्टः । अनेन किमुक्तं भवति—निश्चयेन चतुर्विधमेवोप-करणम् । अन्यदुपकरणं व्यवहार इति ॥ २५ ॥ अथ युक्ताहारविहारलक्षणतपोधनस्य स्वरूपमाख्याति—

गुरूके पाससे सुनता है, तथा जो अनादि अनंत शुद्धात्मतत्त्वका प्रगट करनेवाला श्रुतज्ञान है, उसके वचनस्वरूप जो सूत्रपुद्गल हैं, उनको पढ़ता है, ये भी उपकरण हैं, और जिन महापुरुष मुनीश्वरोंके ज्ञानादि भाव प्रगट हुए हैं, उनमें विनयरूप परिणत हुए जो चित्त पुद्गल हैं, ये भी उपकरण हैं। इससे यह बात सिद्ध हुई, कि मुनिको जैसे शरीरमें ममताभावका निषेध है, उसी तरह वचन मनका भी निषेध है, क्योंकि ये भी वस्तुके धर्म नहीं हैं, इसलिये त्याज्य हैं, इनसे ही अपवादमार्गी मुनि कहलाते हैं, उत्सर्गमार्ग इनसे रहित है ॥ २५ ॥ आगे मुनिको निषेध नहीं किया गया, ऐसा शरीरमात्र परिग्रह उसके पालनेकी विधि बतलाते हैं—**[श्रमणः]** जो मुनि है, वह **[इहलोकनिरापेक्षः]** इस लोकमें विष-

इहलोगणिरावेक्खो अप्पडिबद्धो परम्मि लोयम्हि ।
जुत्ताहारविहारो रहिदकसाओ हवे समणो ॥ २६ ॥

इहलोकनिरापेक्षः अप्रतिबद्धः परस्मिन् लोके ।
युक्ताहारविहारो रहितकषायो भवेत् श्रमणः ॥ २६ ॥

अनादिनिधनैकरूपशुद्धात्मतत्त्वपरिणतत्वादखिलकर्मपुद्गलविपाकात्यन्तविविक्तस्वभावत्वेन रहितकषायत्वात्तदात्वमनुष्यत्वेऽपि समस्तमनुष्यव्यवहारबहिर्भूतत्वेनेह लोकनिरपेक्षत्वात्तथा भविष्यदमर्त्यादिभावानुभूतितृष्णाशून्यत्वेन परलोकाप्रतिबद्धत्वाच्च परिच्छेद्यार्थोपलम्भप्रसिद्धयर्थप्रदीपपूरणोत्सर्पणस्थानीयाभ्यां शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भप्रसिद्ध्यर्थतच्छरीरसंभोजनसंचलनाभ्यां युक्ताहारविहारो हि स्यात् श्रमणः । इदमत्र तात्पर्यम्—यतो हि रहितकषायः ततो न तच्छरीरानुरागेण दिव्यशरीरानुरागेण वाहारविहारयोरयुक्त्या प्रवर्तते । शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भसाधकश्रामण्यपर्यायपालनायैव केवलं युक्ताहारविहारः स्यात् ॥ २६ ॥

इहलोगणिरावेक्खो इहलोकनिरापेक्षः टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावनिजात्मसंवित्तिविनाशकख्यातिपूजालाभरूपेहलोककाङ्क्षारहितः **अप्पडिबद्धो परम्मि लोयम्हि** अप्रतिबद्धः परस्मिन् लोके तपश्चरणे कृते दिव्यदेवस्त्रीपरिवारादिभोगा भवन्तीति, एवंविधपरलोके प्रतिबद्धो न भवति **जुत्ताहारविहारो हवे** युक्ताहारविहारो भवेत् । स कः । **समणो** श्रमणः । पुनरपि कथंभूतः । **रहिदकसाओ** निःकषायस्वरूपसंवित्त्यवष्टम्भबलेन रहितकषायश्चेति । अयमत्र भावार्थः—योऽसौ इहलोकपरलोकनिरपेक्षत्वेन निःकषायत्वेन च प्रदीपस्थानीयशरीरे तैलस्थानीयं ग्रासमात्रं दत्वा घटपटादिप्रकाश्यपदार्थस्थानीयं निजपरमात्मपदार्थमेव निरीक्षते स एव युक्ताहारविहारो भवति, पुनरन्यः शरीरपोषणनिरत इति ॥ २६ ॥ अथ पञ्चदशप्रमादै-

---

योंकी अभिलाषा रहित हुआ **[परस्मिन् लोके]** परलोकमें अर्थात् होनेवाली देवादिपर्यायोंमें **[अप्रतिबद्धः]** अभिलाषाकर नहीं बँधे हुए **[रहितकषायः]** राग द्वेष भावरूप कषायोंसे रहित होते हैं, **[युक्ताहारविहारः]** योग्य आहार विहारमें **[भवेत्]** प्रवृत्ति करता है, अयोग्यको छोड़ता है। **भावार्थ—**मुनीश्वरने अपना स्वरूप अनादि अनंत पुद्गलसे उत्पन्न हुए भावोंसे भिन्न जान लिया है, इसलिये कर्मके उदयसे जो मिली हुई मनुष्यादि पर्याय है, उसमें आत्म-बुद्धि नहीं करते, अर्थात् अपनी नहीं मानता, और कषायोंसे रहित है, इसलिये मनुष्य संबंधिनी क्रियासे रहित है, उन्हें इस लोकमें पंचेन्द्रीके विषयोंकी वाञ्छा नहीं है, तथा आगामी कालके देवादि गतिके दिव्य-सुखोंके भोगनेकी वाञ्छासे भी रहित हैं, इसलिये परलोककी भी अभिलाषासे बँधे हुये नहीं हैं। जैसे घट पटादि पदार्थोंके देखनेके लिये दीपकमें तेल डालते हैं, और बत्ती आदि को भी सँभालते हैं, उसी प्रकार मुनि शुद्धात्मतत्त्वकी प्राप्तिके लिये शरीरको भोजनसे, तथा चलनादि क्रियासे, योग्य आहार विहार क्रियामें प्रवृत्त करते हैं। इससे यह कथन सिद्ध हुआ, कि मुनीश्वर कषाय भावोंसे रहित हैं, इसलिये अपने वर्तमान शरीरके अनुरागसे प्रवृत्ति नहीं करते, किन्तु शुद्धात्मतत्त्वकी सिद्धिके लिये मुनिपदवी पालनेके निमित्त केवल योग्य

अथ युक्ताहारविहारः साक्षादनाहारविहार एवेत्युपदिशति—

जस्स अणेसणमप्पा तं पि तवो तप्पडिच्छगा समणा।
अण्णं भिक्खमणेसणमध ते समणा अणाहारा॥ २७॥
यस्यानेषण आत्मा तदपि तपः तत्प्रत्येषकाः श्रमणाः।
अन्यद्भैक्षमनेषणमथ ते श्रमणा अनाहाराः॥ २७॥

स्वयमनशनस्वभावत्वादेषणादोषशून्यभैक्ष्यत्वाच्च युक्ताहारः साक्षादनाहार एव स्यात्। तथाहि—यस्य सकलकालमेव सकलपुद्गलाहरणशून्यमात्मानमवबुद्ध्यमानस्य सकलाशनतृष्णाशून्यत्वात्स्वयमनशन एव स्वभावः। तदेव तस्यानशनं नाम तपोऽन्तरङ्गस्य बलीयस्त्वात् इति

स्तपोधनः प्रमत्तो भवतीति प्रतिपादयति—

कोहादिएहि चउहि वि विकहाहि तहिंदियाणमत्थेहिं।
समणो हवदि पमत्तो उवजुत्तो णेहणिद्दाहिं॥ *१७॥

हवदि क्रोधादिपञ्चदशप्रमादरहितचिच्चमत्कारमात्रात्मतत्त्वभावनाच्युतः सन् भवति। स कः कर्ता। **समणो** सुखदुःखादिसमचित्तः श्रमणः। किंविशिष्टो भवति। **पमत्तो** प्रमत्तः प्रमादी। कैः कृत्वा। **कोहादिएहि चउहि वि** चतुर्भिरपि क्रोधादिभिः **विकहाहि** स्त्रीभक्तचोरराजकथाभिः **तहिंदियाणमत्थेहिं** तथैव पञ्चेन्द्रियाणामर्थैः स्पर्शादिविषयैः। पुनरपि किंरूपः। **उवजुत्तो** उपयुक्तः परिणतः। काभ्याम्। **णेहणिद्दाहिं** स्नेहनिद्राभ्यामिति॥ १७॥ अथ युक्ताहारविहारतपोधनस्वरूपमुपदिशति—**जस्स** यस्य मुनेः संबन्धी **अप्पा** आत्मा। किंविशिष्टः। **अणेसणं** स्वकीयशुद्धात्मतत्त्वभावनोत्पन्नसुखामृताहारेण तृप्तत्वान्न विद्यते एषणमाहाराकाङ्क्षा यस्य स भवत्यनेषणः। **तं पि तवो** तस्य तदेव निश्चयेन निराहारात्मभावनारूपमुपवासलक्षणं तपः, **तप्पडिच्छगा समणा** तत्प्रत्येषकाः श्रमणाः तन्निश्चयोपवासलक्षणं तपः

आहारमें प्रवर्तित -प्रेरित होते हैं॥ २६॥ आगे कहते है, कि योग्य आहार विहार करनेपर भी मुनिको साक्षात् आहार विहारसे रहित मानना चाहिये—[**यस्य आत्मा**] जिस मुनिका जीव [**अनेषणः**] अपने स्वभावकर परद्रव्यके ग्रहणसे रहित निराहारी है, [**तत्**] वही आत्माका निराहार स्वभाव [**अपि**] निश्चयसे [**तपः**] अंतरङ्ग तप है। [**तत्प्रत्येषकाः श्रमणाः**] उस निराहार आत्मस्वभावकी सिद्धिके वाञ्छक जो महामुनि हैं, वे [**अनेषणं**] आहारके दोषोसे रहित [**अन्यत् भैक्षं**] अन्य भिक्षाके विषयमें शुद्ध अन्नको ग्रहण करते है, [**अथ**] इसी लिये ग्रहण करते हुए भी [**ते श्रमणाः**] वे महामुनि [**अनाहाराः**] आहार ग्रहणसे रहित ही हैं, ऐसा मानना चाहिये। **भावार्थ**—जो महामुनीश्वर हैं, उन्होंने भी अपना स्वरूप सदाकाल समस्त परद्रव्यरूप पुद्गलके ग्रहणसे रहित जान लिया है, इसलिये भोजन करनेकी तृष्णासे रहित हैं, और यही उनके अंतरङ्ग अनशन नामा तप है। ऐसे निराहार आत्मस्वभावके भावनेवाले मुनि जो शरीरकी स्थितिके निमित्त आहार भी लेते हैं, तो सब दोषोंसे रहित शुद्ध अन्नको लेते हैं, इसलिये वे मुनि आहार ग्रहण करते हुए भी नहीं लेनेवाले

कृत्वा ये तं स्वयमनशनस्वभावं भावयन्ति श्रमणाः । तत्प्रतिषिद्धये चैषणादोषशून्यमन्यद्भैक्षं चरन्ति । ते किलाहरन्तोऽप्यनाहरन्त इति [इव] युक्ताहारत्वेन स्वभावपरभावप्रत्ययप्रतिबन्धाभावात्साक्षादनाहारा एव भवन्ति । एवं स्वयमविहारस्वभावत्वात्समितिशुद्धविहारत्वाच्च युक्तविहारः साक्षादविहार एव स्यात् इत्यनुक्तमपि गम्येतेति ॥ २७ ॥

अथ कुतो युक्ताहारत्वं सिद्ध्यतीत्युपदिशति—

केवलदेहो समणो देहे वि ममत्तरहिदपरिकम्मा ।
आजुत्तो तं तवसा अणिगूहिय अप्पणो सत्तिं ॥ २८ ॥

केवलदेहः श्रमणो देहेऽपि ममत्वरहितपरिकर्मा ।
आयुक्तवांस्तं तपसा अनिगूह्यात्मनः शक्तिम् ॥ २८ ॥

यतो हि श्रमणः श्रामण्यपर्यायसहकारिकारणत्वेन केवलदेहमात्रस्योपधेः प्रसह्याप्रतिषेधक-

---

प्रतीच्छन्ति तत्प्रत्येषकाः श्रमणाः । पुनरपि किं येषाम् । **अण्णं** निजपरमात्मतत्त्वादन्यद्भिन्नं हेयम् । किम् । **अणेसणं** अन्नस्याहारस्यैषणं वाञ्छानेषणम् । कथंभूतम् । **भिक्खं** भिक्षायां भवं भैक्ष्यं **अध** अथ अहो **ते समणा अणाहारा** ते अनशनादिगुणविशिष्टाः श्रमणा आहारग्रहणेऽप्यनाहारा भवन्ति । तथैव च निःक्रियपरमात्मानं ये भावयन्ति पञ्चसमितिसहिता विहरन्ति च विहारा भवन्तीत्यर्थः ॥ २७ ॥ अथ तदेवानाहारकत्वं प्रकारान्तरेण प्राह—**केवलदेहो** केवलदेहोऽन्यपरिग्रहरहितो भवति । स कः कर्ता । **समणो** निन्दाप्रशंसादिसमचित्तः श्रमणः । तर्हि किं देहे ममत्वं भविष्यति । नैवम् । **देहे वि ममत्तरहिदपरिकम्मो** देहेऽपि ममत्वरहितपरिकर्मा "ममत्तिं परिवज्जामि णिम्ममत्तिं उवट्ठिदो । आलंबणं च मे आदा

ही माने जाते हैं, क्योंकि उन्होंने एक तो अपना स्वभाव निराहार समझ रक्खा है, और दूसरे जो आहार लेते हैं, तो रागी होकर नहीं लेते, इसलिये बंध नहीं होता । इस कारण निराहार ही मानने और इसीतरह चलनादि क्रियारूप विहार-कर्मको भी निजस्वभाव नहीं मानते हैं, और जो विहार-कर्म करते भी हैं, तो ईर्यासमितिकी शुद्धिसे योग्य विहार करते हैं । इसलिये विहार-क्रिया करनेपर भी अविहारी मानना चाहिये ॥ २७ ॥ आगे योग्य आहार किससे होता है, यह कहते हैं—[**श्रमणः**] मुनि [**केवलदेहः**] एक शरीरमात्र परिग्रहवाला होता हुआ और [**देहेऽपि**] देहके होनेपर भी उसमें [**न मम**] यह मेरा नहीं है, [**इति**] इस प्रकार [**ममत्वरहितपरिकर्मा**] देहसंबन्धी अयोग्य आहार विहार क्रियासे रहित हुआ तथा [**आत्मनः शक्तिं**] अपने स्थिरता भावस्वरूप बलको [**अनिगूहन्**] नहीं छिपाता हुआ अर्थात् प्रगट करता हुआ [**तं**] उस देहको [**तपसा**] अनशनरूप तपस्यामें [**आयुक्तवान्**] लगाता है । **भावार्थ**—मुनिके अन्य परिग्रह परमाणुमात्र भी नहीं, किंतु मुनिअवस्थाका सहकारी कारण अकेला देहमात्र परिग्रह है, वह किसी प्रकार जबर्दस्तीसे भी दूर नहीं किया जासकता है । इसलिये मुनिके केवल शरीरमात्र परिग्रहका निषेध नहीं है, और यद्यपि मुनिके शरीर है, तो भी उस शरीरमें ममताभाव नहीं करते । तथा "किं किंचण त्ति तक्कं" ऐसी पहले गाथा

त्वात्केवलदेहत्वे सत्यपि देहे 'किं किंचण' इत्यादिप्राक्तनसूत्रद्योतितपरमेश्वराभिप्रायपरिग्रहेण न नाम ममायं ततो नानुग्रहार्हः किंतूपेक्ष्य एवेति परित्यक्तसमस्तसंस्कारत्वाद्रहितपरिकर्मा स्यात्। ततस्तन्ममत्वपूर्वकानुचिताहारग्रहणाभावाद्युक्ताहारत्वं सिद्ध्येत्। यतश्च समस्तामप्यात्मशक्तिं प्रकटयन्ननन्तरसूत्रोदितेनानशनस्वभावलक्षणेन तपसा तं देहं सर्वारम्भेणाभियुक्तवान् स्यात्। तत आहारग्रहणपरिणामात्मकयोगध्वंसाभावाद्युक्तस्यैवाहारेण च युक्ताहारत्वं सिद्ध्येत् ॥२८॥

अथ युक्ताहारस्वरूपं विस्तरेणोपदिशति—

एक्कं खलु तं भत्तं अप्पडिपुण्णोदरं जहालद्धं।
चरणं भिक्खेण दिवा ण रसावेक्खं ण मधुमंसं ॥ २९ ॥

एकः खलु स भक्तः अपरिपूर्णोदरो यथालब्धः।
भैक्षाचरणेन दिवा न रसापेक्षो न मधुमांसः ॥ २९ ॥

अवसेसाइं वोसरे" ॥ इति श्लोककथितक्रमेण देहेऽपि ममत्वरहितः **आजुत्तो तं तवसा** आयुक्तवान् आयोजितवांस्तं देहं तपसा। किं कृत्वा। **अणिगूहिय** अनिगूह्य प्रच्छादनमकृत्वा। काम्। **अप्पणो सत्तिं** आत्मनः शक्तिमिति। अनेन किमुक्तं भवति—यः कोऽपि देहाच्छेषपरिग्रहं त्यक्त्वा देहेऽपि ममत्वरहितस्तथैव तं देहं तपसा योजयति स नियमेन युक्ताहारविहारो भवतीति ॥ २८ ॥ अथ युक्ताहारत्वं विस्तरेणाख्याति—**एक्कं खलु तं भत्तं** एककाल एव खलु हि स्फुटं स भक्त आहारो युक्ताहारः कस्मादेकभक्तेनैव निर्विकल्पसमाधिसहकारिकारणभूतशरीरस्थितिसंभवात्। स च कथंभूतः। **अप्पडिपुण्णोदरं** यथाशक्त्या

कही गई है, उसमें सर्वज्ञ वीतरागका अभिप्राय यह है, कि परिग्रह सर्वथा त्याज्य है, ऐसा जानके भगवंतकी आज्ञाको ग्रहणकर शरीरमें ममताभावसे रहित होता है, देहके संभालनेमें प्रवृत्त नहीं होता, ममत्व बुद्धिसे अयोग्य आहारको ग्रहण नहीं करता, इस कारण मुनिके योग्य आहारकी सिद्धि होती है। उस शरीरको अयोग्य आहारसे पोषण नहीं करता, यथाशक्ति तपस्यामें ही लगाता है। सारांश यह निकला कि मुनिके अंतरंग वीतराग भावका बल है, इसलिये सब आरम्भसे शरीरको उसमें लगाता है, जो कभी आहार भी लेता है, तो योग्य लेता है, इसलिये वैराग्यके बलसे योग्य आहारकी सिद्धि है ॥ २८ ॥ आगे योग्य आहारका स्वरूप विस्तारसे दिखलाते हैं—[**स भक्तः**] वह शुद्ध आहार [**खलु**] निश्चयकर [**एकः**] एक काल (वक्त) ग्रहण किया जाता है, तब योग्य आहार होता है, और वह योग्य आहार [**अपरिपूर्णोदरः**] नहीं पूर्ण होता है, पेट जिससे ऐसा होता है, [**यथालब्धः**] जैसा कुछ मिले, वैसा ही अंगीकार करने योग्य है, [**भैक्षाचरणेन**] भिक्षावृत्ति कर लेना योग्य है, [**दिवा**] दिनमें ही लेने योग्य है, [**न रसापेक्षः**] जिस आहारमें मिष्ट स्निग्धादि रसकी इच्छा न हो, तथा [**न मधुमांसः**] शहद और मांसादि अयोग्य वस्तुएं जिसमें नहीं हैं ऐसा। **भावार्थ—**मुनिको एक ही बार आहार करना चाहिये, क्योंकि मुनि-पर्यायका सहायक शरीर है, उस शरीरकी स्थिति एक बार आहार लेनेसे होजाती है, इसलिये एक वक्त लेना योग्य है, और जो

एककाल एवाहारो युक्ताहारः, तावतैव श्रामण्यपर्यायसहकारिकारणशरीरस्य धारणत्वात्। अनेककालस्तु शरीरानुरागसेव्यमानत्वेन प्रसह्य हिंसायतनीक्रियमाणो न युक्तः शरीरानुराग-सेवकत्वेन च युक्तस्य अप्रतिपूर्णोदर एवाहारो युक्ताहारः तस्यै वाप्रतिहतयोगत्वात्। प्रति-पूर्णोदरस्तु प्रतिहतयोगत्वेन कथंचित् हिंसायतनीभवन् न युक्तः। प्रतिहतयोगत्वेन न च युक्तस्य यथालब्ध एवाहारो युक्ताहारः तस्यैव विशेषप्रियत्वलक्षणानुरागशून्यत्वात्। अयथा-लब्धस्तु विशेषप्रियत्वलक्षणानुरागसेव्यमानत्वेन प्रसह्य हिंसायतनीक्रियमाणो न युक्तः। विशेष-प्रियत्वलक्षणानुरागसेवकत्वेन न च युक्तस्य भिक्षाचरणेनैवाहारो युक्ताहारः तस्यैवारम्भशून्य-त्वात्। अभैक्षाचरणेन त्वारम्भसंभवात्प्रसिद्धहिंसायतनत्वेन न युक्तः। एवंविधाहारसेवनव्यक्ता-न्तरशुद्धित्वाच्च च युक्तस्य दिवस एवाहारो युक्ताहारः तदेव सम्यगवलोकनात्। अदिवसे तु सम्यगवलोकनाभावादनिवार्यहिंसायतनत्वेन न युक्तः। एवंविधाहारसेवनव्यक्तान्तरशुद्धित्वाच्च

न्यूनोदरः। **जहालद्धं** यथालब्धो न च स्वेच्छालब्धः **चरणं भिक्खेण** भिक्षाचरणेनैव लब्धो न च स्वपाकेन **दिवा** दिवैव न च रात्रौ। **ण रसावेक्खं** रसापेक्षो न भवति किंतु सरसविरसादौ समचित्तः **ण मधुमंसं** अमधुमांसः अमधुमांस इत्युपलक्षणेन आचारशास्त्रकथितपिण्डशुद्धिक्रमेण समस्तायोग्याहाररहित इति। एतावता किमुक्तं भवति। एवंविशिष्टविशेषणयुक्त एवाहारस्तपोधनानां युक्ताहारः कस्मादिति चेत्। चिदा-नन्दैकलक्षणनिश्चयप्राणरक्षणभूता रागादिविकल्पोपाधिरहिता या तु निश्चयनयेनाहिंसा तत्साधकरूपा बहि-

शरीरके अनुरागसे बार बार लेवे, तो वह प्रमाद दशासे द्रव्य-भावहिंसाका कारण होता है, इसलिये बार **बार** लेना अयोग्य है, एक ही काल लेना उचित है, और एक बार भी शरीरके अनुरागसे जो लिया **जावे**, तो वह भी अयोग्य है, संयमकी सिद्धिका कारण शरीरकी स्थितिके निमित्त जो लेना है, वह **योग्य है, और** एक बार भी पेट भरके आहार लेना है, वह भी अयोग्य है, क्योंकि बहुत आहारसे योगकी शिथिलता होनेपर प्रमाद-दशा होजाती है, वही हिंसाका कारण है, इसलिये उदर भरके भोजन करना **योग्य** नहीं है, ऊनोदर रहना ठीक है, और शरीरके अनुरागकर जो पेटभर भी न लिया जाय, तो **भी** वह योग्य आहार नहीं है, सयमका साधन शरीरकी स्थितिके निमित्त ही ऊनोदर रहना ठीक **है**। जैसा कुछ मिले, **वैसा** ही अंगीकार करे, ऐसा नहीं, कि अपने लिये करावे। इसलिये यथालब्ध आहार ठीक **है, और** यथालब्ध आहार भी जो विशेष इन्द्रियस्वादके अनुरागसे किया जावे, तो वह हिंसाका स्थान **होता** है, इसकारण निषेध योग्य है, यदि संयम-साधक शरीरकी स्थितिके निमित्त लिया जावे, **तो वह योग्य है**। भिक्षावृत्तिसे जो आहार लिया जावे, तो आरम्भ नहीं करना पड़ता, और यदि भिक्षावृत्तिसे नहीं लिया जावे, तो हिंसाका कारण आरम्भ अवश्य होता है। इसलिये वह निषिद्ध है, भिक्षावृत्ति योग्य है, तथा राग भावसे अंतरङ्गकी अशुद्धतासे भिक्षावृत्तिसे भी ग्रहण करना अयोग्य आहार कहा जाता है। संयम साधक शरीरकी स्थितिके लिये भिक्षा कर लेना योग्य है। दिनमें अच्छी तरह दिखलाई देता है, दयाका पालन होता है, इसलिये दिनका आहार योग्य है। रात्रिमें अच्छी तरह नहीं दिखलाई देता है।

च युक्तस्य। अरसापेक्ष एवाहारो युक्ताहारस्तस्यैवान्तःशुद्धिसुन्दरत्वात्। रसापेक्षस्तु अन्तरशुद्धया प्रसह्य हिंसायतनीक्रियमाणो न युक्तः। अन्तरशुद्धिसेवकत्वेन न च युक्तस्य अमधुमांस एवाहारो युक्ताहारः तस्यैवाहिंसायतनत्वात्। समधुमांसस्तु हिंसायतनत्वान्न युक्तः। एवंविधाहारसेवनव्यक्तान्तरशुद्धित्वान्न च युक्तस्य मधुमांसमत्र हिंसायतनोपलक्षणं तेन समस्तहिंसायतनशून्य एवाहारो युक्ताहारः ॥ २९ ॥

अथोत्सर्गापवादमैत्रीसौस्थित्यमाचरणस्योपदिशति—

बालो वा बुड्ढो वा समभिहदो वा पुणो गिलाणो वा ।
चरियं चरदु सजोग्गं मूलच्छेदो जधा ण हवदि ॥ ३० ॥

रङ्गपरजीवप्राणव्यपरोपणनिवृत्तिरूपा द्रव्याहिंसा च सा द्विविधापि तत्र युक्ताहारे संभवति। यस्तु तद्विपरीतः स युक्ताहारो न भवति। कस्मादिति चेत्। तद्विलक्षणभूताया द्रव्यरूपाया हिंसाया सद्भावादिति ॥ २९ ॥

अथ विशेषेण मांसदूषणं कथयति—

पक्केसु अ आमेसु अ विपच्चमाणासु मंसपेसीसु ।
संतत्तियमुववादो तज्जादीणं णिगोदाणं ॥ *१८ ॥
जो पक्कमपक्कं वा पेसीं मंसस्स खादि फासदि वा ।
सो किल णिहणदि पिंडं जीवाणमणेगकोडीणं ॥ *१९ ॥ जुम्मं ।

भणित इत्यध्याहारः। स कः। **उववादो** व्यवहारनयेनोत्पादः। किंविशिष्टः। **संतत्तियं** सान्ततिको

इस कारण अवश्य हिंसा होती है, इसलिये रात्रिभोजन निषिद्ध है, और दिनका भी आहार सराग परिणामोंसे करना अयोग्य है, संयम-साधनके निमित्त योग्य है। जो आहार सरस होगा उससे अवश्य अंतरङ्ग अशुद्ध होगा, ऐसा होनेपर हिंसाका कारण हो जायगा इसलिये सरस आहार योग्य नहीं, नीरस आहार योग्य है। मधु मांस युक्त आहार हिंसाका स्थानक है, इसलिये निषेध किया गया है, इनसे रहित आहार योग्य है, और जिन वस्तुओंमें मधु मांसका दोष लगता हो, तथा हिंसा होती होवे, ऐसी वस्तुओंका आहार योग्य नहीं है, निःपाप आहार योग्य है। इससे यह बात सिद्ध हुई, कि जो आहार एक वक्त लिया जावे, पेट भरके न लिया जावे, भिक्षावृत्तिसे युक्त यथालब्ध दिनमें नीरस मांसादि दोष रहित लिया जावे, वह आहार योग्य है, इससे अन्य रीतिसे जो लेना है, वह अयोग्य है ॥ २९ ॥ आगे उत्सर्गमार्ग और अपवादमार्गमें मैत्रीभाव होवे, तो मुनिके आचारकी स्थिरता होसकती है, इसलिये इन दोनोमें मैत्रीभाव दिखलाते है—[**बालो वा**] बालक हो, [**वा**] अथवा [**वृद्धः**] बुड्ढा हो, [**वा**] अथवा [**श्रमाभिहतः**] तपस्यासे खिन्न (दुःखी) हुआ हो, [**वा पुनः**] अथवा [**ग्लानः**] रोगसे पीड़ित होवे, ऐसा मुनि [**यथा मूलच्छेदः**] जिसतरहसे मूलसंयमका घात [**न भवति**] नहीं हो, उस तरहसे [**स्वयोग्यां**] अपनी शक्तिके अनुसार [**चर्यां**] आचरण [**चरतु**] करे। **भावार्थ**—उत्सर्गमार्ग वहाँ है, जहाँपर मुनि, बाल, वृद्ध, खेद, रोग, इन चार अवस्थाओंकर सहित हो,

बालो वा वृद्धो वा श्रमाभिहतो वा पुनर्ग्लानो वा ।
चर्यां चरतु स्वयोग्यां मूलच्छेदो यथा न भवति ॥ ३० ॥

बालवृद्धश्रान्तग्लानेनापि संयमस्य शुद्धात्मतत्त्वसाधनत्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथा स्यात्तथा संयतस्य स्वस्य योग्यमतिकर्कशमेवाचरणमाचरणीयमित्युत्सर्गः । बालवृद्धश्रान्तग्लानेन शरीरस्य शुद्धात्मतत्त्वसाधनभूतसंयमसाधनत्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथा स्यात्तथा बालवृद्धश्रान्तग्लानस्य स्वस्य योग्यं मृद्वेवाचरणमाचरणीयमित्यपवादः । बालवृद्धश्रान्तग्लानेन संयमस्य

निरन्तरः । केषां संबन्धी । **णिगोदाणं** निश्चयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावानामनादिनिधनत्वेनोत्पादव्ययरहितानामपि निगोदजीवानाम् । पुनरपि कथंभूतानाम् । **तज्जादीणं** तद्वर्णतद्गन्धतद्रसतत्स्पर्शत्वेन तज्जातीनां मांसजातीनाम् । कास्वधिकरणभूतासु । **मंसपेसीसु** मांसपेशीषु मांसखण्डेषु । कथंभूतासु । **पक्केसु अ आमेसु अ विपच्चमाणासु** पक्वासु चामासु च विपच्यमानास्विति प्रथमगाथा । **जो पक्कमपक्कं वा** यः कर्ता पक्वामपक्वां वा **पेसीं** पेशीं खण्डम् । कस्य । **मंसस्स** मांसस्य **खादि** निजशुद्धात्मभावनोत्पन्नसुखसुधाहारमलभमानः सन् खादति भक्षति **फासदि वा** स्पर्शति वा **सो किल णिहणदि पिंडं** स कर्ता किल लोकोक्त्या परमागमोक्त्या वा निहन्ति पिण्डम् । केषाम् । **जीवाणं** जीवानाम् । कतिसंख्योपेतानाम् । **अणेगकोडीणं** अनेककोटीनामिति । अत्रेदमुक्तं भवति—शेषकन्दमूलाद्याहाराः केचनानन्तकाया अप्यग्निपक्वाः सन्तः प्रासुका भवन्ति मांसं पुनरनन्तकायं भवति तथैव चाग्निपक्वमपक्वं पच्यमानं वा प्रासुकं न भवति । तेन कारणेनाभोज्यमभक्षणीयमिति ॥ १८—१९ ॥

अथ पाणिगताहारः प्रासुकोऽप्यन्यस्मै न दातव्य इत्युपादिशति—

अप्पडिकुट्ठं पिंडं पाणिगयं णेव देयमण्णस्स ।
दत्ता भोत्तुमजोग्गं भुत्तो वा होदि पडिकुट्ठो ॥ *२० ॥

अप्पडिकुट्ठं पिंडं पाणिगयं णेव देयमण्णस्स अप्रतिकुष्ट आगमाविरुद्ध आहारः पाणिगतो हस्त-

---

परंतु शुद्धात्मतत्त्वके साधनेवाले संयमका भंग (नाश) जिस तरह न हो, उस तरह अति कठिन अपने योग्य आचरणको करे, वहीं उत्सर्गमार्ग है, और जहांपर बालादि दशायुक्त हुआ शुद्धात्मतत्त्वके साधनेवाले संयमका, तथा संयमके साधक शरीरका नाश जिसतरह न हो, उसी तरह अपनी शक्तिके अनुसार कोमल आचरण करे, ऐसा संयम पाले वहाँ अपवादमार्ग है । इस तरह मुनिमार्गके दो भेद हैं । उत्सर्ग-अवस्थामें कैसा ही रोगादि दशाकर पीड़ित हो, अपने अति कठोर आचरण करों संयमको पाले । अपवाद अवस्थामें जो रोगादि अवस्थासे पीड़ा हो, तो शरीरकी रक्षा करे, कोमल आचारमें प्रवर्ते, संयमको पाले । इस तरह 'कठिन कोमल' दो प्रकारके मुनिके मार्ग हैं । जो इन दोनों मार्गोंमें आपसमें विरोध होवे, जैसे कि उत्सर्गमार्गी अपवाद अवस्थाको न धारण करे, और अपवादमार्गी उत्सर्ग अवस्थाको न धारण करे, तो मुनिसे संयम नहीं पलसकता, क्योंकि जो उत्सर्गमार्गी कठोर ही आचरण करे, रोगादि अवस्थाके वशसे जघन्य दशारूप अपवादमार्गको न धारण करे, तो शरीरके नाशसे संयमका नाश करेगा।

शुद्धात्मतत्त्वसाधनत्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथा स्यात्तथा संयतस्य स्वस्य योग्यमतिकर्कशमाचरणमाचरता शरीरस्य शुद्धात्मतत्त्वसाधनभूतसंयमसाधनत्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथा स्यात् तथा बालवृद्धश्रान्तग्लानस्य स्वस्य योग्यं मृद्वप्याचरणमाचरणीयमित्यपवादसापेक्ष उत्सर्गः। बालवृद्धश्रान्तग्लानेन शरीरस्य शुद्धात्मतत्त्वसाधनभूतसंयमसाधनत्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथा स्यात्तथा बालवृद्धश्रान्तग्लानस्य स्वस्य योग्यं मृद्वाचरणमाचरता संयमस्य शुद्धात्मतत्त्वसाधनत्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथा स्यात्तथा संयतस्य स्वस्य योग्यमतिकर्कशमप्या-

---

गतो नैव देयो न दातव्योऽन्यस्मै **दत्ता भोत्तुमजोग्गं** दत्वा पश्चाद्भोक्तुमयोग्यं **भुत्तो वा होदि पडिकुट्ठो** कथंचित् भुक्तो वा भोजनं कृतवान् तर्हि प्रतिकुष्ठो भवति प्रायश्चित्तयोग्यो भवतीति। अयमत्र भावः—हस्तगताहारं योऽसावन्यस्मै न ददाति तस्य निर्मोहात्मतत्त्वभावनारूपं निर्मोहत्वं ज्ञायत इति ॥ २० ॥ अथ निश्चयव्यवहारसंज्ञयोरुत्सर्गापवादयोः कथंचित्परस्परसापेक्षभावं स्थापयन् चारित्रस्य रक्षां दर्शयति—**चरदु** चरतु, आचरतु। किम्। **चरियं** चारित्रमनुष्ठानम्। कथंभूतम्। **सजोग्गं** स्वयोग्यमवस्थायोग्यम्। कथं यथा भवति। **मूलच्छेदो जधा ण हवदि** मूलच्छेदो यथा न भवति। स कः कर्ता चरति। **बालो वा वुड्ढो वा समभिहदो वा पुणो गिलाणो वा** बालो वा वृद्धो वा श्रमाभिहतः पीडितः श्रमाभिहतो वा ग्लानो व्याधिस्थो वेति। तद्यथा—उत्सर्गापवादलक्षणं कथ्यते तावत्स शुद्धात्मनः सकाशादन्यद्बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहरूपं सर्वं त्याज्यमित्युत्सर्गो निश्चयनयः सर्वपरित्यागः परमोपेक्षासंयमो वीतरागचारित्रं शुद्धोपयोग इति यावदेकार्थः। तत्रासमर्थः पुरुषः शुद्धात्मभावनासहकारिभूतं किमपि प्रासुकाहारज्ञानोपकरणादिकं गृह्णातीत्यपवादो व्यवहारनय एकदेशपरित्यागस्तथा चापहृतसंयमः सरागचारित्रं शुभोपयोग इति यावदेकार्थः। तत्र शुद्धात्मभावनानिमित्तं सर्वत्यागलक्षणोत्सर्गे दुर्धरानुष्ठाने प्रवर्तमानस्तपोधनः शुद्धात्मतत्त्वसाधकत्वेन मूलभूतसंयमस्य संयमसाधकत्वेन मूलभूतशरीरस्य वा यथा छेदो विनाशो न भवति तथा किमपि

इसलिये उत्सर्गमार्गीको अपवादमार्गसे मैत्रीभाव रखना योग्य है, और अपवादमार्गीको उत्सर्गमार्गसे मैत्रीभाव करना योग्य है। जो अपवादमार्गी रोगादिकसे पीड़ित हुआ शरीरकी रक्षाके लिये जघन्य ही आचरण करनेमें प्रवृत्त (तैयार) होगा, तो वह प्रमादी हुआ, उत्कृष्ट संयमको नहीं पा सकेगा, और जघन्य संयमका भी नाश करेगा। इसलिये अपवादमार्गीको उत्सर्गमार्गसे मैत्रीभाव रखना योग्य है। यही मैत्रीभाव दिखलाते हैं—बाल, वृद्ध, खेद, रोग, इन दशाओंकर यद्यपि मुनि पीड़ित हो, तो भी शुद्धात्मतत्त्वका साधनेवाला जो संयम है, उसका नाश जिस तरह न हो, उसी प्रकार अति कठिन आचरणको आचरे, परंतु वही मुनि जिस तरह संयमका कारण शरीरका नाश न हो, उसी प्रकार अपने योग्य कोमल आचरण भी आचरे। ऐसा मुनि अपवादमार्गकी अपेक्षा सहित उत्सर्गमार्गी कहा जाता है। तथा बाल, वृद्ध, खेद, रोग, इन अवस्थाओंसे सहित मुनि संयमके साधन शरीरका जिस तरह नाश न हो, उस तरह अपने योग्य कोमल आचरणको आचरता है, परन्तु वही मुनि जिस तरह शुद्धात्मतत्त्वका साधक संयमका नाश न हो, उसी प्रकार अति कठोर आचरणको

चरणमाचरणीयमित्युत्सर्गसापेक्षोऽपवादः । अतः सर्वथोत्सर्गापवादमैत्र्या सौस्थित्यमाचरणस्य विधेयम् ॥ ३० ॥

अथोत्सर्गापवादविरोधदौःस्थमाचरणस्योपदिशति—

आहारे व विहारे देसं कालं समं खमं उवधिं ।
जाणित्ता ते समणो वट्टदि जदि अप्पलेवी सो ॥ ३१ ॥

आहारे वा विहारे देशं कालं श्रमं क्षमामुपधिम् ।
ज्ञात्वा तान् श्रमणो वर्तते यद्यल्पलेपी सः ॥ ३१ ॥

अत्र क्षमाग्लानत्वहेतुरुपवासः । बालवृद्धत्वाधिष्ठानं शरीरमुपधिः, ततो बालवृद्धश्रान्तग्लाना

प्रासुकाहारादिकं गृह्णातीत्यपवादसापेक्ष उत्सर्गो भण्यते । यदा पुनरपवादलक्षणेऽपहृतसंयमे प्रवर्तते तथापि शुद्धात्मतत्त्वसाधकत्वेन मूलभूतसंयमस्य संयमसाधकत्वेन मूलभूतशरीरस्य वा यथोच्छेदो विनाशो न भवति तथोत्सर्गसापेक्षत्वेन प्रवर्तते । तथा प्रवर्तत इति कोऽर्थः । यथा संयमविराधना न भवति तथेत्युत्सर्गसापेक्षो-पवाद इत्यभिप्रायः ॥ ३० ॥ अथापवादनिरपेक्षमुत्सर्गं तथैवोत्सर्गनिरपेक्षमपवादं च निषेधयंश्चारित्ररक्षणाय व्यतिरेकद्वारेण तमेवार्थं द्रढयति—**वट्टदि** वर्तते । स कः कर्ता । **समणो** शत्रुमित्रादिसमचित्तः श्रमणः यदि । किम् । **जदि अप्पलेवी सो** यदि चेदल्पलेपी स्तोकसावद्यो भवति । कयोर्विषयोर्वर्तते । **आहारे व विहारे** तपोधनयोग्याहारविहारयोः । किं कृत्वा । पूर्वं **जाणित्ता** ज्ञात्वा । कान् कर्मतापन्नान् । **देसं**

आचरे, तो वह उत्सर्गमार्गकी अपेक्षा लिये हुए, अपवादमार्गी है । इससे यह बात सिद्ध हुई, कि उत्सर्ग और अपवाद इन दोनों मार्गोंमें जो परस्पर मैत्रीभाव होवे, तो मुनिके आचारकी स्थिरता अच्छी तरह होसकती है ॥ ३० ॥ आगे उत्सर्ग और अपवादमार्ग इन दोनोंमें आपसमें विरोध हो, तो मैत्रीभाव न होवे । उसके न होनेसे आचारकी स्थिरता नहीं होसकती, यह कहते हैं—[**स श्रमणः**] वह अपवादमार्गी अथवा उत्सर्गमार्गी मुनि [**यदि**] जो [**अल्पलेपी**] थोड़े कर्मबंधसे लिप्त होता है, तो [**देशं**] क्षेत्र [**कालं**] शीत उष्णादि काल [**श्रमं**] मार्गादिकका खेद [**क्षमां**] उपवासादि करनेकी शक्ति [**उपधिं**] और बाल, वृद्ध, रोगादि अवस्थायुक्त शरीररूप परिग्रह [**तान्**] इन पाँचोंको [**ज्ञात्वा**] अच्छीतरह जानकर [**आहारे**] मुनि-योग्य आहार-क्रियामें [**वा**] अथवा [**विहारे**] हलन चलनादि क्रियामें [**वर्तते**] प्रवृत्त होता है । **भावार्थ—**जो परमविवेकी उत्सर्गी अथवा अपवादी मुनि इन देश आदि पाँच भेदोंको जानकर जिस क्रियामें कर्मबंध थोडा हो, और संयमका भंग न हो, ऐसी आहार क्रियामें प्रवर्ते, तो दोष नहीं है, क्योंकि संयमकी रक्षाके निमित्त जिस तरहसे शरीरका नाश न हो, उसी तरह कठोर अथवा कोमल क्रियामें प्रवर्तता है । इसलिये देश कालका जाननेवाला उत्सर्ग-मार्गी मुनि, बाल, वृद्ध, खेद, रोगी अवस्थाओंके कारक आहार विहारमें प्रवृत्त होता है, कोमल क्रियाको आचरता है, और अल्प कर्मबंध भी जिसमें होता है, ऐसी अपवाद अवस्थाको धारता हुआ उत्सर्गमुनि बहुत अच्छा है, जो कि शरीर-रक्षा करके भी संयमका भंग नहीं होने देता है, और देश कालादिका

एव साकूष्यन्ते। अथ देशकालज्ञस्यापि बालवृद्धश्रान्तग्लानत्वानुरोधेनाहारविहारयोः प्रवर्तमानस्य मृद्वाचरणप्रवृत्तत्वादल्पो लेपो भवत्येव तद्वरमुत्सर्गः। देशकालज्ञस्यापि बालवृद्धश्रान्तग्लानत्वानुरोधेनाहारविहारयोः प्रवर्तमानस्य मृद्वाचरणप्रवृत्तत्वादल्प एव लेपो भवति तद्वरमपवादः। देशकालज्ञस्यापि बालवृद्धश्रान्तग्लानत्वानुरोधेनाहारविहारयोरल्पलेपभयेनाप्रवर्तमानस्यातिकर्कशाचरणीभूयाक्रमेण शरीरं पातयतः सुरलोकं प्राप्योद्वान्तसमस्तसंयमामृतभारस्य तपसोऽनवकाशतयाशक्यप्रतिकारो महान् लेपो भवति। तन्न श्रेयानपवादनिरपेक्ष उत्सर्गः।

कालं समं खमं उवधिं देशं कालं मार्गादिश्रमं क्षमं क्षमतामुपवासादिविषये शक्तिं उपधिं बालवृद्धश्रान्तग्लानसंबन्धिनं शरीरमात्रोपधिं परिग्रहमिति पञ्च देशादीन् तपोधनाचरणसहकारिभूतानिति। तथाहि—पूर्वकथितक्रमेण तावद्दुर्धरानुष्ठानरूपोत्सर्गे वर्तते। तत्र च प्रासुकाहारादिग्रहणनिमित्तमल्पलेपं दृष्ट्वा यदि न प्रवर्तते तदा आर्तध्यानसंक्लेशेन शरीरत्यागं कृत्वा पूर्वकृतपुण्येन देवलोके समुत्पद्यते। तत्र संयमाभावान्महान् लेपो भवति। ततः कारणादपवादनिरपेक्षमुत्सर्गं त्यजति। शुद्धात्मभावनासाधकमल्पलेपं बहुलाभमपवादसापेक्षमुत्सर्गं स्वीकरोति तथैव च पूर्वसूत्रोक्तक्रमेणापहृतसंयमशब्दवाच्येऽपवादे प्रवर्तते तावत्प्रवर्तमानः

जाननेवाला अपवादमार्गी मुनि, बाल, वृद्ध, खेद, रोग, अवस्थाओंके वशीभूत होकर आहार विहार क्रियामें प्रवर्तता हुआ कोमल आचरणोंको आचरता है, और न प्रमादी हुआ अति कोमल आचरणकर संयमका नाश करता है। जहाँपर संयमका नाश हुआ जानता है. वहाँ कठोर क्रिया भी करता है, अति शिथिल भी नहीं होता। शरीरकी रक्षा करके संयमको पालता है, अल्प बंध भी होता है, ऐसी उत्सर्गअवस्थाको लिये हुए अपवादमार्गी मुनि बहुत अच्छा है, जो कि संयमको भी पालता है, और शरीरको भी डिगने नहीं देता। तथा देश कालादिका जाननेवाला उत्सर्गमुनि, बाल, वृद्ध, रोग, खेद, अवस्थाओंके होनेपर जो अल्प कर्मबंधके भयसे कोमल आचारको नहीं आचरण करे, आहार विहार क्रियामें नहीं प्रवर्ते, और मनमें यह जाने, कि मैं इस उत्कृष्ट उत्सर्ग संयमको धारण करता हूँ, मुझको जघन्य दशास्वरूप अपवाद संयम योग्य नहीं है, तथा जो हीन अवस्थाको धारण करूँगा, तो बंध होगा, ऐसा जानकर उत्कृष्ट ही आचारका आचरण करे, तो वह मुनि अति कठोर तप करके शरीरका नाशकर देवलोकमें जाके उत्पन्न होता है, वहाँ संयमरूप अमृतका वमन (उल्टी) करता है, क्योंकि देवपद तपस्याका कारण नहीं है। इसलिये वहाँपर वही जीव महा कर्मबंधसे लिप्त होता है। इस कारण जो उत्सर्गमार्गी अपवादमार्गसे मैत्रीभाव नहीं करता, तो वह उत्सर्गमार्गी अच्छा नहीं है, जो कि शरीरका नाशकर संयमका नाश करता है। तथा जो देश कालादिका जाननेवाला अपवाद मुनि बाल, वृद्ध, खेद, रोग, अवस्थाओंके होनेपर आहार विहारमें प्रवृत्ति करे, और मनमें यह समझे, कि सिद्धान्तोंमें कहा है, कि जो अल्प बंध भी होवे, तो भी रोग खेदादि दशाओंके होनेपर वह मुनि कोमल आचारमें प्रवृत्ति करे, तो दोष नहीं है, ऐसा जानकर जो अति शिथिल (आलसी) होके स्वेच्छाचारी हुआ आहार विहारमें प्रवर्ते, तो वह संयमका नाश कर असंयमीके समान होवे, उस समय मुनिके तपका अभाव है,

देशकालज्ञस्यापि बालवृद्धश्रान्तग्लानत्वानुरोधेनाहारविहारयोरल्पलेपत्वं विगणय्य यथेष्टं प्रवर्तमानस्य मृद्वाचरणीभूय संयमं विराध्यासंयतजनसमानीभूतस्य तदात्वे तपसोऽनवकाशतयाशक्यप्रतिकारो महान् लेपो भवति तन्न श्रेयानुत्सर्गनिरपेक्षोऽपवादः। अतः सर्वथोत्सर्गापवादविरोधदौस्थित्यमाचरणस्य प्रतिषेध्यं तदर्थमेव सर्वथानुगम्यश्च परस्परसापेक्षोत्सर्गापवादविजृम्भितवृत्तिः स्याद्वादः।

इत्येवं चरणं पुराणपुरुषैर्जुष्टं विशिष्टादरै-
रुत्सर्गादपवादतश्च विचरद्बह्वीः पृथग्भूमिकाः।
आक्रम्य क्रमतो निवृत्तिमतुलां कृत्वा यतिः सर्वत-
श्चित्सामान्यविशेषभासिनि निजद्रव्ये करोतु स्थितिम्॥ ३१॥

इत्याचरणप्रज्ञापनं समाप्तम्।

अथ श्रामण्यापरनाम्नो मोक्षमार्गस्यैकाग्र्यलक्षणस्य प्रज्ञापनं तत्र तन्मूलसाधनभूते प्रथममागम एव व्यापारयति—

सन् यदि कथंचिदौषधपथ्यादिसावद्यभयेन व्याधिव्यथादिप्रतीकारमकृत्वा शुद्धात्मभावनां न करोति तर्हि महान् लेपो भवति। अथवा प्रतीकारे प्रवर्तमानोऽपि हरीतकीव्याजेन गुडभक्षणवदिन्द्रियसुखलाम्पट्येन संयमविराधनां करोति तथापि महान् लेपो भवति। ततः कारणादुत्सर्गनिरपेक्षमपवादं त्यक्त्वा शुद्धात्मभावनारूपं शुभोपयोगरूपं वा संयममविराधयन्नौषधपथ्यादिनिमित्तोत्पन्नाल्पसावद्यमपि बहुगुणराशिमुत्सर्गसापेक्षमपवादं स्वीकरोतीत्यभिप्रायः॥ ३१॥ एवं 'उवयरणं जिणमग्गे' इत्याद्येकादशगाथाभिरपवादस्य विशेषविवरणरूपेण चतुर्थस्थलं व्याख्यातम्। इति पूर्वोक्तक्रमेण 'ण हि णिरवेक्खो चागो' इत्यादि त्रिंशद्गाथाभिः स्थलचतुष्टयेनापवादनामा 'द्वितीयान्तराधिकारः' समाप्तः। अतः परं चतुर्दशगाथापर्यन्तं श्रामण्या-

---

ऐसी अवस्थामें महान् कर्म-बंधसे लिप्त होता है। इसलिये जो अपवादमार्गी उत्सर्गअवस्थासे मैत्रीभाव लिए हुए न होवे, तो वह अपवादमार्गी अच्छा नहीं है। इस कारण उत्सर्ग अपवादमें जो विरोध होवे, तो मुनिके संयमकी स्थिरता न हो। इसलिये उत्सर्ग अपवादमें मैत्रीभाव होना योग्य है। भगवानका मत अनेकान्त है, जिस तरह संयमकी रक्षा होवे, उसी तरह प्रवर्ते, 'ऐसा नहीं है, कि संयमका नाश हो, अथवा न हो, परन्तु अपनी एक अवस्थाको नहीं छोड़ना' ऐसा जिनमार्ग नहीं है, जिनमार्ग तो ऐसा है, कि कहीं अकेला अपवाद ही है, कहीं अकेला उत्सर्ग ही है, कहीं उत्सर्ग लिये अपवाद है, और कहीं अपवाद लिये उत्सर्ग है। जिस तरह संयम रहे, उसी तरह अपवादमें विरोध रहित हो। जो महापुरुष हैं, उन्होंने उत्सर्ग अपवादरूप नाना तरह की भूमिको क्रमसे अंगीकार की हैं। उसके बाद उत्कृष्ट दशाको प्राप्त होकर समस्त क्रिया-कांडसे निवृत्त हुए है। पश्चात् सामान्य विशेष स्वरूप चैतन्यरूप जो निजतत्त्व उसमें स्थिर हो रहे हैं। इसी क्रमसे अन्य भव्यजीव भी स्वरूपमें गुप्त रहें॥ ३१॥ इस प्रकार **आचार-विधि** पूर्ण हुई। आगे एकाग्रतारूप मोक्ष-मार्गका स्वरूप कहते हैं, इस मोक्षमार्गका दूसरा

एयग्गगदो समणो एयग्गं णिच्छिदस्स अत्थेसु ।
णिच्छित्ती आगमदो आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा ॥ ३२ ॥
ऐकाग्र्यगतः श्रमणः ऐकाग्र्यं निश्चितस्य अर्थेषु ।
निश्चितिरागमत आगमचेष्टा ततो ज्येष्ठा ॥ ३२ ॥

श्रमणो हि तावदैकाग्र्यगत एव भवति । ऐकाग्र्यं तु निश्चितार्थस्यैव भवति । अर्थनिश्चयस्त्वागमादेव भवति । तत आगम एव व्यापारः प्रधानतरः, न चान्या गतिरस्ति । यतो न खल्वागममन्तरेणार्था निश्चेतुं शक्यन्ते तस्यैव हि त्रिसमयप्रवृत्तत्रिलक्षणसकलपदार्थसार्थयाथात्म्यावगमसुस्थितान्तरङ्गगम्भीरत्वात् । न चार्थनिश्चयमन्तरेणैकाग्र्यं सिद्ध्येत् यतोऽनिश्चितार्थस्य

परनामा मोक्षमार्गाधिकारः कथ्यते । तत्र चत्वारि स्थलानि भवन्ति, तेषु प्रथमतः आगमाभ्यासमुख्यत्वेन 'एयग्गमणो' इत्यादि यथाक्रमेण प्रथमस्थले गाथाचतुष्टयम् । तदनन्तरं भेदाभेदरत्नत्रयस्वरूपमेव मोक्षमार्ग इति व्याख्यानरूपेण 'आगमपुव्वा दिट्ठी' इत्यादि द्वितीयस्थले सूत्रचतुष्टयम् । अतःपरं द्रव्यभावसंयमकथनरूपेण 'चागो य अणारंभो' इत्यादि तृतीयस्थले गाथाचतुष्टयम् । तदनन्तरं निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गोपसंहारमुख्यत्वेन 'मुज्झदि वा' इत्यादि चतुर्थस्थले गाथाद्वयम् । एवं स्थलचतुष्टयेन तृतीयान्तराधिकारे समुदायपातनिका । तद्यथा—अथैकाग्र्यगतः श्रमणो भवति । तच्चैकाग्र्यमागमपरिज्ञानादेव भवतीति प्रका-

नाम मुनीश्वरपद भी है, चाहे कोई मुनीश्वर कहो, अथवा मोक्षमार्ग कहो, नाममात्रका भेद है, वस्तु-भेद नहीं है । मुनि जो है, वे ज्ञान–दर्शन–चारित्ररूप मोक्षमार्ग है, इस कारण एकता है । उस मोक्षमार्गका मूलसाधन जिनप्रणीत आगम है, इसलिये प्रथम ही सिद्धान्तकी प्रवृत्ति दिखलाते हैं—[**एकाग्रगतः**] जो ज्ञान–दर्शन–चारित्रकी स्थिरताको प्राप्त हुये हैं, वह [**श्रमणः**] मुनि कहलाते हैं, और [**अर्थेषु निश्चितस्य**] जीव अजीवादि पदार्थोंके निश्चय ज्ञानवालेके [**ऐकाग्र्यं**] स्थिर भाव होता है, तथा [**आगमतः निश्चितिः**] सर्वज्ञ वीतरागप्रणीत सिद्धान्तसे पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान होता है, [**ततः**] इस कारण [**आगमचेष्टा**] सिद्धान्तके अभ्यासकी प्रवृत्ति [**ज्येष्ठा**] प्रधान है । **भावार्थ—**मुनि वही है, जिसके ज्ञान–दर्शन–चारित्र स्थिर हुए हैं, और जो जीव संशय–विमोह–विभ्रमसे रहित होकर जीवादि पदार्थोंको जानता है, श्रद्धान करता है, उसके एकाग्रता होती है, तथा जो भगवंतप्रणीत आगमका अभ्यास करे, तो यथार्थ सब पदार्थोंका ज्ञाता देखनेवाला होता है, इस कारण पहले मोक्षमार्गीको सिद्धान्तके पठनकी प्रवृत्ति करनी योग्य है । सिद्धान्तके विना यथार्थ पदार्थोंका निश्चय नहीं किया जाता। त्रिकालवर्ती उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यसहित द्रव्य–गुण–पर्याय–लक्षणवाले सकल पदार्थोंके समूहका यथार्थ ज्ञान अकेले उस आगमसे ही होता है, उसी ज्ञानसे अन्तरङ्ग स्थिरतासे गम्भीर होता है, इसलिये आगम ही से पदार्थोंका निश्चय होता है । जिसके पदार्थोंका निश्चय न हो, वह पुरुष निश्चय स्वरूपमें आकुल चित्त हुआ स्थिर भावको नहीं धारण कर सकता, सब जगह डाँवाँडोल रहता है । अत्यन्त चञ्चल भावसे कभी कर्तृत्व ज्वरके आवेशसे पराधीन हुआ तीन लोकका आप कर्ता होता है, सम्पूर्ण परभावोंके उत्पन्न

कदाचिच्चिकीर्षाकुलितचेतसः समन्ततो दोलायमानस्यात्यन्ततरलतया कदाचिच्चिकीर्षाज्वरपरवशस्य विश्वं स्वयं सिसृक्षोर्विश्वव्यापारपरिणतस्य प्रतिक्षणविजृम्भमाणक्षोभतया कदाचिद्बुभुक्षाभावितस्य विश्वं स्वयं भोग्यतयोपादाय रागद्वेषदोषकल्माषितचित्तवृत्तेरिष्टानिष्टविभागेन प्रवर्तितद्वैतस्य प्रतिवस्तुपरिणममानस्यात्यन्तविसंस्थुलतया कृतनिश्चयस्य निःक्रियनिर्भोगं युगपदापीतविश्वमप्यविश्वतयैकं भगवन्तमात्मानमपश्यतः सततं वैयग्र्यमेव स्यात् । न चैकाग्र्यमन्तरेण श्रामण्यं सिद्ध्येत्, यतो नैकाग्र्यस्यानेकमेवेदमिति पश्यतस्तथाप्रत्ययाभिनिविष्टस्यानेकमेवेदमिति जानतस्तथानुभूतिभावितस्यानेकमेवेदमितिप्रत्यर्थविकल्पव्यावृत्तचेतसा संततं प्रवर्तमानस्य तथा वृत्तिदुःस्थितस्य चैकात्मप्रतीत्यनुभूतिवृत्तिस्वरूपसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपरिणति-

शयति—**एयग्गगदो समणो** ऐकाग्र्यगतः श्रमणो भवति । अत्रायमर्थः—जगत्त्रयकालत्रयवर्तिसमस्तद्रव्यगुणपर्यायैकसमयपरिच्छित्तिसमर्थसकलविमलकेवलज्ञानलक्षणनिजपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपमैकाग्र्यं भण्यते । तत्र गतस्तन्मयत्वेन परिणतः श्रमणो भवति । **एयग्गं णिच्छिदस्स** ऐकाग्र्यं पुनर्निश्चितस्य तपोधनस्य भवति । केषु । अर्थेसु टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावो योऽसौ परमात्मपदार्थस्तत्प्रभृतिष्वर्थेषु **णिच्छित्ती आगमदो** सा च पदार्थनिश्चितिरागमतो भवति । तथाहि—जीवभेदकर्मभेदप्रतिपादकागमाभ्यासाद्भवति न केवलमभ्यासात्तथैवागमपदे सारभूताच्चिदानन्दैकपरमात्मतत्त्वप्रकाशकादध्यात्माभिधाना-

करनेकी इच्छासे समस्त द्रव्योंके व्यापाररूप परिणमन करता है, और समय समयमें अहंबुद्धिसे क्षोभभावकी हवासे क्षोभित समुद्रकी तरह क्षोभित हुआ, कभी भोगनेकी इच्छा करता है. समस्त त्रैलोक्यका भोक्ता अपनेको मानता है, सबको भोग्य जानता है, कि यह मेरी वस्तु है, मैं इसका भोगनेवाला हूँ, और राग द्वेष भावोंसे कलङ्कित (मलिन) चित्त होता है, इष्ट अनिष्ट वस्तुओंमें द्विविधभेद मानकर प्रवर्तता है, हरएक वस्तुमें आत्मबुद्धिसे परिणमता है, अत्यंत शिथिल भावकर बहिर्मुख हुआ परमें आत्माका निश्चय करता है, और वह अकर्ता, अभोक्ता अपनी ज्ञान-शक्तिसे एक ही समय समस्त लोकालोकका पीनेवाला (जाननेवाला) और अपने स्वरूपसे एक है, ऐसे भगवंत आत्माको देखता जानता नहीं है, हमेशा चञ्चलतासे क्लेशयुक्त रहता है । इस कारण पदार्थोंके निश्चय विना एकाग्रता नहीं होती, इसीसे पदार्थोंका निश्चय करना योग्य है । एकाग्रता विना मुनिपदकी सिद्धि नहीं होती, क्योंकि वह स्वरूपको पर उपाधिसे अनेकरूप देखता है, अनेकतारूप प्रतीतिके आवेश से अनेकरूप जानता है, अनेक ही स्वरूप देखता है, अनेकरूप अनुभव करता है, कि मेरा स्वरूप अनेक हैं, सब परभावोंसे रहित एक स्वरूपको देखता, जानता, अनुभवता नहीं है, इसी लिये हरएक पदार्थमें निरंतर आत्मभावसे प्रवर्तता है, संकल्प विकल्परूप चित्तकी प्रवृत्ति धारण करता है । इस प्रकार एकाग्रता बिना अथिर दुस्थित हुआ पुरुष अपने एक स्वरूपके अनुभवकी प्रवृत्तिकर ज्ञान, दर्शन, चारित्ररूप आत्मतत्त्वकी एकाग्रताको कैसे पासकता है ? जहाँपर एकाग्रता न हो, वहाँ शुद्धात्मतत्त्व अनुभवरूप यतिपद किस तरह हो सके ? नहीं होता । इससे यह बात सिद्ध हुई, कि जिसका दूसरा नाम मोक्षमार्ग है, ऐसा जो

मद्वत्तदभिन्नसिद्धिकरूपात्मतत्त्वैकाग्र्याभावात् शुद्धात्मतत्त्वप्रवृत्तिरूपं श्रामण्यमेव न स्यात्। अतः सर्वथा मोक्षमार्गापरनाम्नः श्रामण्यस्य सिद्धये भगवदर्हत्सर्वज्ञोपज्ञे प्रकटानेकान्तकेतने शब्दब्रह्मणि निष्णातेन मुमुक्षुणा भवितव्यम् ॥ ३२ ॥

अथागमहीनस्य मोक्षाख्यं कर्मक्षपणं न संभवतीति प्रतिपादयति—

आगमहीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणादि।
अविजाणंतो अट्ठे खवेदि कम्माणि किध भिक्खू ॥ ३३ ॥
आगमहीनः श्रमणो नैवात्मानं परं विजानाति।
अविजानन्नर्थान् क्षपयति कर्माणि कथं भिक्षुः ॥ ३३ ॥

न खल्वागममन्तरेण परात्मज्ञानं परमात्मज्ञानं वा स्यात्, न च परात्मज्ञानशून्यस्य परमात्मज्ञानशून्यस्य वा मोहादिद्रव्यभावकर्मणां ज्ञप्तिपरिवर्तरूपकर्मणां वा क्षपणं स्यात्।

त्परमागमाच्च पदार्थपरिच्छित्तिर्भवति **आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा** ततः कारणादेव मुक्तलक्षणागमपरमागमे च चेष्टा प्रवृत्तिः ज्येष्ठा प्रशस्येत्यर्थः ॥ ३२ ॥ अथागमपरिज्ञानहीनस्य कर्मक्षपणं न भवतीति प्ररूपयति— **आगमहीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणादि** आगमहीनः श्रमणो नैवात्मानं परं वा विजानाति **अविजाणंतो अट्ठे** अविजानन्नर्थान्परमात्मादिपदार्थान् **खवेदि कम्माणि किध भिक्खू** क्षपयति कर्माणि कथं भिक्षुर्न कथमपि इति। इतो विस्तरः—"गुणजीवापज्जत्ती पाणा सण्णा य मग्गणाओ य। उवओगो वि य कमसो वीसं तु परूवणा भणिदा॥" इति गाथाकथितायागममजानन् तथैव "भिण्णउ जेण ण जाणि-

यह मुनिपद है, उसकी सिद्धिके निमित्त अर्हंत सर्वज्ञ कथित प्रगट अनेकान्त ध्वजासहित ब्रह्मरूप सिद्धांत मुक्तिवांछक पुरुषोंकर आदर करने योग्य है। सिद्धान्तके अभ्याससे पदार्थोंका निश्चय होता है, उस निश्चयसे एकाग्रता होती है, उस एकाग्रतासे मुनिपद होता है, मुनिपद और मोक्षमार्ग एक है। इस कारण मोक्षाभिलाषीको आगमका अभ्यास करना उचित है ॥ ३२ ॥ आगे आगमसे जो रहित है, उसके मोक्षरूप कर्मोंकी क्षपणा (क्षय) नहीं होती, यह कहते हैं—[**आगमहीनः श्रमणः**] सिद्धान्तकर रहित मुनि [**आत्मानं**] नोकर्म, द्रव्यकर्म, भावकर्मसे रहित शुद्ध जीवद्रव्यको और [**परं**] पर शरीरादि द्रव्य भाव कर्मोंको [**नैव**] निश्चयकर नहीं [**विजानाति**] जानता है, और [**अर्थान्**] जीव अजीवादि पदार्थोंको [**अविजानन्**] नहीं जानता हुआ [**भिक्षुः**] मुनि [**कर्माणि**] द्रव्यभावरूप समस्त कर्मोंका [**कथं**] कैसे [**क्षपयति**] नाश कर सकता है। **भावार्थ**—जिस जीवको सिद्धान्तका ज्ञान न हो, और आगमके पढ़ने सुननेरूप अभ्याससे रहित होवे, उसको अपना और परका ज्ञान नहीं होता, और निर्विकल्परूप परमात्माका भी ज्ञान नहीं होता है, उसीको दिखलाते हैं—अनंत संसाररूपी नदीका बढ़ानेवाला जो यह महामोह है, उससे कलंकित (मलीन) हुए जगत-जीव हैं, वे भगवंतप्रणीत आगमके बिना विवेकसे रहित हैं, जैसे धतूरेको पीकर उन्मत्त (बावला) हुआ मनुष्य करने योग्य कार्य और अकार्यको नहीं जानता, उसी तरहसे अनजान हो रहे हैं, पर और आत्माको एक

तथाहि—न तावन्निरागमस्य निरवधिभवापगाप्रवाहवाहिमहामोहमलमलीमसस्यास्य जगतः पीतोन्मत्तकस्येवावकीर्णविवेकस्याविविक्तेन ज्ञानज्योतिषा निरूपयतोऽप्यात्मात्मप्रदेशनिश्चितशरीरादिद्रव्येषूपयोगमिश्रितमोहरागद्वेषादिभावेषु च स्वपरनिश्चायकागमोपदेशपूर्वकस्वानुभवाभावादयं परोऽयमात्मेति ज्ञानं सिद्ध्येत्। तथा च त्रिसमयपरिपाटीप्रकटितविचित्रपर्यायप्राग्भारागाधगम्भीरस्वभावं विश्वमेव ज्ञेयीकृत्य प्रतपतः परमात्मनिश्चायकागमोपदेशपूर्वकस्वानुभवाभावात् ज्ञानस्वभावस्यैकस्य परमात्मनो ज्ञानमपि न सिद्ध्येत्। परात्मपरमात्मज्ञानशून्यस्य तु द्रव्यकर्मारब्धैः शरीरादिभिस्तत्प्रत्ययैर्मोहरागद्वेषादिभावैश्च सहैक्यमाकलयतो बध्यघातकविभागाभावान्मोहादिद्रव्यभावकर्मणां क्षपणं न सिद्ध्येत्। तथा च ज्ञेयनिष्ठतया प्रतिवस्तु पातोत्पातपरिणतत्वेन ज्ञप्तेरासंसारात्परिवर्तमानायाः परमात्मनिष्ठत्वमन्तरेणानिवार्यपरिवर्ततया ज्ञप्तिपरिवर्तरूपकर्मणां क्षपणमपि न सिद्ध्येत्। अतः कर्मक्षपणार्थिभिः सर्वथागमः पर्युपास्यः॥ ३३॥

यउ णियदेहहं परमत्थु। सो अंधउ अवरहं अंधयहं किं दरिसावइ पंथु॥" इति दोहकसूत्रकथितागमपदसारभूतमध्यात्मशास्त्रं चाजानन् पुरुषो रागादिदोषरहिताव्याबाधसुखादिगुणस्वरूपनिजात्मद्रव्यस्य भावकर्मशब्दाभिधेयै रागादिनानाविकल्पजालैर्निश्चयेन कर्मभिः सह भेदं न जानाति तथैव कर्मारिविध्वंसकस्वकीयपरमात्मतत्त्वस्य ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मभिरपि सह पृथक्त्वं न वेत्ति। तथा चाशरीरलक्षणशुद्धात्मपदार्थस्य शरीरादिनोकर्मकर्मभिः सहान्यत्वं न जानाति। इत्थंभूतभेदज्ञानाभावाद्देहस्थमपि निजशुद्धात्मानं न रोचते। समस्तरागादिपरिहारेण न च भावयति। ततश्च कथं कर्मक्षयो भवति न कथमपीति। ततः कारणान्मोक्षा-

---

स्वरूप देखते हैं, जानते है, शरीरादि परद्रव्यमें और उपयोगसे मिले हुए राग, द्वेष, मोह, भावोंमें एकता मानते हैं। स्वपर भेदका कारण जो सिद्धान्त उसके उपदेशसे जिसके आत्माका अनुभव नहीं हुआ है, इस कारण उसके यह आत्मा है, यह पर है, ऐसे भेदविज्ञानकी सिद्धि नहीं होती। और निर्विकल्प समाधिसे एक परमात्मज्ञानकी भी सिद्धि नहीं होती। वह परमात्मा तीन कालसंबंधी अनंत नाना प्रकारकी पर्यायों सहित लोक अलोकरूप समस्त ज्ञेयको एक समयमें जानकर प्रकाशमान है, ऐसे केवलज्ञान स्वभावरूप आत्माको नहीं जानता है। जो परमात्माके भेदविज्ञानसे शून्य है, और परमात्मज्ञानसे भी शून्य है, वह पुरुष द्रव्यकर्म, भावकर्म नोकर्मसे आत्माको एक (मिला हुआ) मानता है, ऐसा नहीं समझता, कि ये कर्म आत्माके घातक हैं, आत्मा इनसे घाता जाता है, इसी लिये आत्माके स्वभाव नहीं हैं, ऐसा भेद नहीं जानता, और समस्त विकल्पोंसे रहित होके स्वरूपको नहीं अनुभवता, तो बतलाइये कि ऐसे जीवके मोह आदिक द्रव्य भावकर्मोंका क्षय किस तरहसे होवे? नहीं हो सकता, और वही जीव अपनी भूलसे पर ज्ञेयोंमें तिष्ठता है, हरएक पदार्थमें ग्रहण और त्यागसे राग द्वेष भावरूप परिणमन करता है, इसलिये उस जीवका ज्ञान अनादि कालसे उलटा हो रहा है, परमात्मस्वरूपमें स्थिर नहीं होता। ऐसे जीवके अथिर शुद्ध क्षयोपशमरूप ज्ञानकर्मकी भी क्षपणा नहीं होती। जो कि भेदविज्ञानसे शून्य है, और परमात्मज्ञानसे शून्य है। इस कारण अज्ञानीके द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म, अथिर ज्ञानकर्म, इनका

अथागम एवैकश्चक्षुर्मोक्षमार्गमुपसर्पतामित्यनुशास्ति—

आगमचक्खू साहू इंदियचक्खूणि सव्वभूदाणि ।
देवा य ओहिचक्खू सिद्धा पुण सव्वदो चक्खू ॥ ३४ ॥
आगमचक्षुः साधुरिन्द्रियचक्षूंषि सर्वभूतानि ।
देवाश्चावधिचक्षुषः सिद्धाः पुनः सर्वतश्चक्षुषः ॥ ३४ ॥

इह तावद्भगवन्तः सिद्धा एव शुद्धज्ञानमयत्वात्सर्वतश्चक्षुषः शेषाणि तु सर्वाण्यपि भूतानि मूर्तद्रव्यावसक्तदृष्टित्वादिन्द्रियचक्षूंषि, देवास्तु सूक्ष्मत्वविशिष्टमूर्तद्रव्यग्राहित्वादवधिचक्षुषः। अथ च तेऽपि रूपिद्रव्यमात्रदृष्टत्वेनेन्द्रियचक्षुर्भ्योऽविशिष्यमाणा इन्द्रियचक्षुष एव। एवममीषु समस्तेष्वपि संसारिषु मोहोपहततया ज्ञेयनिष्ठेषु सत्सु ज्ञाननिष्ठत्वमूलशुद्धात्मतत्त्वसंवेदनसाध्यं सर्वतश्चक्षुस्त्वं न सिद्ध्येत् । अथ तत्सिद्धये भगवन्तः श्रमणा आगमचक्षुषो भवन्ति । तेन ज्ञेयज्ञानयोरन्यो-

---

र्थिना परमागमाभ्यास एव कर्तव्य इति तात्पर्यार्थः ॥ ३३ ॥ अथ मोक्षमार्गार्थिनामागम एव दृष्टिरित्याख्याति—**आगमचक्खू** शुद्धात्मादिपदार्थप्रतिपादकपरमागमचक्षुषो भवन्ति । के ते । **साहू** निश्चयरत्नत्रयाधारेण निजशुद्धात्मसाधकाः साधवः **इंदियचक्खूणि** निश्चयेनातीन्द्रियामूर्तकेवलज्ञानादिगुणस्वरूपाण्यपि व्यवहारेणानादिकर्मबन्धवशादिन्द्रियाधीनत्वेनेन्द्रियचक्षूंषि भवन्ति। कानि कर्तॄणि। **सव्वभूदाणि** सर्वभूतानि सर्वसंसारिजीवा इत्यर्थः । **देवा य ओहिचक्खू** देवा अपि च सूक्ष्ममूर्तपुद्गलद्रव्यविषयावधिचक्षुषः **सिद्धा पुण सव्वदो चक्खू** सिद्धाः पुनः शुद्धबुद्धैकस्वभावजीवाजीवलोकाकाशप्रमितशुद्धासंख्येयसर्व-

---

नाश नहीं होना । इसलिये इन कर्मोंके क्षयके निमित्तकारण आगमका अभ्यास करना योग्य है ॥३३॥ आगे मोक्षमार्गी जीवोंके एक सिद्धान्त ही नेत्र है, यह कहते हैं—[**साधुः**] मुनि [**आगमचक्षुः**] सिद्धान्तरूपी नेत्रोंवाला होता है, अर्थात् मुनिके मोक्षमार्गकी सिद्धिके निमित्त आगम-नेत्र होते हैं, [**सर्वभूतानि**] समस्त संसारी जीव [**इन्द्रियचक्षूंषि**] मन सहित स्पर्शनादि छह इन्द्रियोंरूप चक्षुवाले हैं, अर्थात् संसारी जीवोंके इष्ट अनिष्ट विषयोंके जाननेके लिये इन्द्रिय ही नेत्र हैं, [**च**] और [**देवाः**] चार तरहके देव [**अवधिचक्षुषः**] अवधिज्ञानरूप नेत्रोंवाले हैं, अर्थात् देवताओंके सूक्ष्म मूर्तीक द्रव्य देखनेको अवधिज्ञान नेत्र हैं, लेकिन वह अवधिज्ञान इन्द्रियज्ञानसे विशेष नहीं, क्योंकि अवधि मूर्तद्रव्यको ग्रहण करता है, और इन्द्रिय नेत्र भी मूर्तीकको ग्रहण करता है, इससे इन दोनोंमें समानता है, [**पुनः**] तथा [**सिद्धाः**] अष्टकर्म रहित सिद्धभगवान् [**सर्वतः चक्षुषः**] सब ओरसे नेत्रोंवाले हैं। **भावार्थ**—संसारमें जितने संसारी जीव है, वे सब अज्ञानसे आच्छादित हैं, इस कारण परज्ञेय पदार्थोंमें मोहित हैं, ज्ञानस्वरूप शुद्धात्मज्ञानसे रहित हैं, इससे इनके अतीन्द्रिय सबका देखनेवाला नेत्र नहीं है, सर्वदर्शी तो एक सिद्धभगवान् हैं, उस सिद्धपदकी प्राप्तिके निमित्त जो मोक्षमार्गी महामुनि हैं, वे आगम-नेत्रके धारक होते हैं, उस आमम-नेत्रसे स्वरूप पररूपका भेद करते हैं। यद्यपि ज्ञेय ज्ञानकी परस्पर एकता हो रही है, भेद नहीं किया जाता है, तो भी आगम-नेत्रके बलसे लक्षणभेद जुदा जुदा किये

न्यसंवलनेनाशक्यविवेचनत्वे सत्यपि स्वपरविभागमारचय्य निर्भिन्नमहामोहाः सन्तः परमात्मानमवाप्य सततं ज्ञाननिष्ठा एवावतिष्ठन्ते। अतः सर्वमप्यागमचक्षुषैव मुमुक्षूणां द्रष्टव्यम् ॥३४॥

अथागमचक्षुषा सर्वमेव दृश्यत एवेति समर्थयति—

सव्वे आगमसिद्धा अत्था गुणपज्जएहिं चित्तेहिं।
जाणंति आगमेण हि पेच्छित्ता ते वि ते समणा ॥ ३५ ॥

सर्वे आगमसिद्धा अर्था गुणपर्यायैश्चित्रैः।
जानन्त्यागमेन हि दृष्ट्वा तानपि ते श्रमणाः ॥ ३५ ॥

आगमेन तावत्सर्वाण्यपि द्रव्याणि प्रमीयन्ते, अविशिष्ट[विस्पष्ट]तर्कणस्य सर्वद्रव्याणामविरुद्धत्वात्। विचित्रगुणपर्यायविशिष्टानि च प्रतीयन्ते, सहक्रमप्रवृत्तानेकधर्मव्यापकानेकान्तमयत्वेनैवागमस्य प्रमाणत्वोपपत्तेः। अतः सर्वेऽर्था आगमसिद्धा एव भवन्ति। अथ ते श्रमणानां

प्रदेशचक्षुष इति। अनेन किमुक्तं भवति, सर्वशुद्धात्मप्रदेशे लोचनोत्पत्तिनिमित्तं परमागमोपदेशादुत्पन्नं निर्विकारं मोक्षार्थिभिः स्वसंवेदनज्ञानमेव भावनीयमिति ॥ ३४ ॥ अथागमलोचनेन सर्वं दृश्यत इति प्रज्ञापयति— **सव्वे आगमसिद्धा** सर्वेऽप्यागमसिद्धा आगमेन ज्ञाताः। के ते। **अत्था** विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावो योऽसौ परमात्मपदार्थस्तत्प्रभृतयोऽर्थाः। कथं सिद्धाः। **गुणपज्जएहिं चित्तेहिं** विचित्रगुणपर्यायैः सह। **जाणंति** जानन्ति। कान्। **ते वि** तान् पूर्वोक्तार्थगुणपर्यायान्। किं कृत्वा पूर्वम्। **पेच्छित्ता** दृष्ट्वा ज्ञात्वा। केन। **आगमेण हि** आगमेनैव। अयमत्रार्थः—पूर्वमागमं पठित्वा पश्चाज्जानन्ति **ते समणा** ते श्रमणा भवन्तीति। अत्रेदं भणितं भवति—सर्वे द्रव्यगुणपर्यायाः परमागमेन ज्ञायन्ते। कस्मात्। आगमस्य

जाते हैं, इस भेदविज्ञानकी शक्तिसे प्राणी महामोहको जीतता है, पीछे परमात्मतत्त्वको पाता है, तब निरन्तर अनन्तज्ञानमें तिष्ठता है। इसलिये सर्वदर्शी सिद्धपदके साधक आगमको जानकर मुक्तिके इच्छुक महामुनि सबको आगम-नेत्रसे देखते हैं, आगम बड़ा नेत्र है ॥ ३४ ॥ आगे आगम-नेत्रसे सब देखा जाता है, यह बात दृढ़ करते हैं।—**[सर्वे अर्थाः]** सभी जीव अजीवादि पदार्थ हैं, वे **[चित्रैः]** नाना प्रकारके **[गुणपर्यायैः]** गुणपर्यायोंसे **[आगमसिद्धाः]** सिद्धान्तमें सिद्ध है, **[तान् अपि]** गुण पर्यायों सहित उन पदार्थोंको भी **[ते श्रमणाः]** वे मोक्षमार्गी महामुनि **[हि]** निश्चयकर **[आगमेन दृष्ट्वा]** सिद्धान्त-नेत्रसे देखकर **[जानन्ति]** जानते हैं। **भावार्थ**—जितने जीव अजीवादि पदार्थ है, उनके गुण पर्यायोंके भेदसे जो स्वरूप है, वह अनादिनिधन सिद्धान्तमें अच्छी तरह सिद्ध किया है, अर्थात् सिद्धान्तमें द्रव्य, गुण, पर्यायका स्वरूप यथार्थ कहा है, किसी तर्क (न्याय) से खंडित नहीं होता, अविरोधरूप है। सहभावी गुण और क्रमवर्ती पर्याय इन दो भेदोंसे द्रव्यमें जो अनंतधर्म हैं, उन स्वरूप अनेकान्तको आगम कहा है, इससे प्रमाण है, क्योंकि नाना प्रकारके गुण पर्याय सहित सब द्रव्योंके अनेकांतस्वरूपका आगम कहनेवाला है। ऐसे आगम-नेत्रसे महामुनि सकल पदार्थोंके स्वरूपको देखते हैं, जानते हैं। सब पदार्थ ज्ञेय हैं, महामुनि ज्ञाता हैं, द्रव्यश्रुत आगमको

ज्ञेयत्वमापद्यन्ते स्वयमेव, विचित्रगुणपर्यायविशिष्टसर्वद्रव्यव्यापकानेकान्तात्मकश्रुतज्ञानोपयोगीभूय विपरिणमनात् । अतो न किंचिदप्यागमचक्षुषामदृश्यं स्यात् ॥ ३५ ॥

अथागमज्ञानतत्पूर्वतत्त्वार्थश्रद्धानतदुभयपूर्वसंयतत्वानां यौगपद्यस्य मोक्षमार्गत्वं नियमयति–

आगमपुव्वा दिट्ठी ण भवदि जस्सेह संजमो तस्स ।
णत्थीदि भणदि सुत्तं असंजदो होदि किध समणो ॥ ३६ ॥
आगमपूर्वा दृष्टिर्न भवति यस्येह संयमस्तस्य ।
नास्तीति भणति सूत्रमसंयतो भवति कथं श्रमणः ॥ ३६ ॥

इह हि सर्वस्यापि स्यात्कारकेतनागमपूर्विकया तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणया दृष्ट्या शून्यस्य स्वपरविभागाभावात् कायकषायैः सहैक्यमध्यवसतोऽनिरुद्धविषयाभिलाषतया षड्जीवनिकाय-

परोक्षरूपेण केवलज्ञानसमानत्वात्, पश्चादागमाधारेण स्वसंवेदनज्ञाने जाते स्वसंवेदनज्ञानबलेन केवलज्ञाने च जाते प्रत्यक्षा अपि भवन्ति । ततः कारणादागमचक्षुषा परंपरया सर्वं दृश्यं भवतीति ॥ ३५ ॥ एवमागमाभ्यासकथनरूपेण प्रथमस्थले सूत्रचतुष्टयं गतम् । अथागमपरिज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानतदुभयपूर्वकसंयतत्वत्रयस्य मोक्षमार्गत्वं नियमयति —**आगमपुव्वा दिट्ठी ण भवदि जस्सेह** आगमपूर्विका दृष्टिः सम्यक्त्वं नास्ति यस्येह लोके **संजमो तस्स णत्थि** संयमस्तस्य नास्ति इदि **भणदि** इत्येवं भणति कथयति । किं कर्तृ । **सुत्तं** सूत्रमागमः । **असंजदो होदि किध समणो** असंयतः सन् श्रमणस्तपोधनः कथं भवति न

जानकर भावश्रुत ज्ञानके उपयोगी होकर परिणमे है, इस कारण महामुनि आगमके बलसे सबको देखते हैं, इसी लिये आगम-नेत्रसे कुछ भी अनदीखता नहीं रहता । इस कारण मोक्षाभिलाषीको अभ्यास करना योग्य है ॥ ३५ ॥ आगे सिद्धान्तका ज्ञान और उस सिद्धान्तके अनुसार श्रद्धान और ज्ञान श्रद्धान संयुक्त संयम ये तीनों एक कालमें होवें, तो मोक्षमार्ग होता है, ऐसा निश्चय करते हैं—[**इह**] इस लोकमें [**यस्य**] जिस जीवके [**आगमपूर्वा**] पहले अच्छी तरह सिद्धान्तको जानकर [**दृष्टिः**] सम्यग्दर्शन [**न भवति**] नहीं हो, [**तस्य**] तो उसके [**संयमः**] मुनिकी क्रियारूप आचार [**नास्ति**] नहीं होता, [**इति**] यह बात [**सूत्रं**] जिनप्रणीत सिद्धान्त [**भणति**] कहता है, [**असंयतः**] और जिसके संयमभाव नहीं है, वह पुरुष [**कथं**] कैसे [**श्रमणः**] मुनि [**भवति**] हो सकता है? नहीं हो सकता । **भावार्थ**—जिस पुरुषके प्रथम ही आगमको जानकर पदार्थोंका श्रद्धान न हुआ हो, उस पुरुषके संयमभाव भी नहीं होता, यह निश्चय है, और जिसके संयम नहीं है, वह मुनि नहीं कहा जाता। जिसके आगमको जानकर श्रद्धान हुआ हो, वही मुनि कहलाता है, अन्यथा नहीं कहा जाता । इसी कथनको विशेषतासे दिखलाते हैं—ज्ञान दर्शन चारित्रका जो एक ही बार होना उसको मोक्षमार्ग कहते हैं, क्योंकि जो जीव अनेकान्त ध्वजाकर विराजमान आगम-ज्ञानके अनुसार श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शनसे रहित है, उसके भेदविज्ञानके अभावसे स्वपरका भेद नहीं होता, कषाय परिणामोंसे एकताका अभ्यास होता है, वहाँपर राग, द्वेष, मोह, भावसे विषयाभिलाषाका निरोध नहीं होता, इन्द्रियें विषयोंमें प्रवर्तती

घातिनो भूत्वा सर्वतोऽपि कृतप्रवृत्तेः सर्वतो निवृत्त्यभावात्तथा परमात्मज्ञानाभावाद् ज्ञेयचक्रमाक्रमणनिरर्गलज्ञप्तितया ज्ञानरूपात्मतत्त्वैकाग्र्यप्रवृत्त्यभावाच्च संयम एव न तावत् सिद्ध्येत्। असिद्धसंयमस्य तु सुनिश्चितैकाग्र्यगततत्त्वरूपं मोक्षमार्गापरनामश्रामण्यमेव न सिद्ध्येत्। अत आगमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां यौगपद्यस्यैव मोक्षमार्गत्वं नियम्येत ॥ ३६ ॥

अथागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानामयौगपद्यस्य मोक्षमार्गत्वं विघटयति—

ण हि आगमेण सिज्झदि सद्दहणं जदि वि णत्थि अत्थेसु।
सद्दहमाणो अत्थे असंजदो वा ण णिव्वादि ॥ ३७ ॥

न ह्यागमेन सिद्ध्यति श्रद्धानं यद्यपि नास्त्यर्थेषु।
श्रद्दधान अर्थानसंयतो वा न निर्वाति ॥ ३७ ॥

श्रद्धानशून्येनागमजनितेन ज्ञानेन तदविनाभाविना श्रद्धानेन च संयमशून्येन न तावत्सि-

---

कथमपीति। तथाहि—यदि निर्दोषिनिजपरमात्मैवोपादेय इति रुचिरूपं सम्यक्त्वं नास्ति तर्हि परमागमबलेन विशदैकज्ञानरूपमात्मानं जानन्नपि सम्यग्दृष्टिर्न भवति ज्ञानी च न भवति तद्द्वयाभावे सति पञ्चेन्द्रियविषयाभिलाषषड्जीववधव्यावृत्तोऽपि संयतो न भवति। ततः स्थितमेतत् परमागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वत्रयमेव मुक्तिकारणमिति ॥ ३६ ॥ अथागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां यौगपद्याभावे मोक्षो नास्तीति व्यवस्थापयति—**ण हि आगमेण सिज्झदि** आगमजनितपरमात्मज्ञानेन न सिद्ध्यति। **सद्दहणं जदि वि णत्थि अत्थेसु** श्रद्धानं यदि च नास्ति परमात्मादिपदार्थेषु। **सद्दहमाणो अत्थे** श्रद्दधानो वा चिदानन्दैकस्वभावनिजपरमात्मादिपदार्थान्। **असंजदो वा ण णिव्वादि** विषयकषायाधीनत्वेनासयतो वा न निर्वाति निर्वाणं न लभत इति। तथाहि—यथा प्रदीपसहितपुरुषस्य कूपपतनप्रस्तावे कूपपतनान्निवर्तनं मम हितमिति निश्चयरूपं श्रद्धानं यदि नास्ति तदा प्रदीपः किं करोति न किमपि। तथा जीवस्यापि परमा-

---

हैं, षट्कायके जीवोंकी हिंसा होती है, अटकसे रहित हुआ यथेच्छाचारी होता है, सर्व त्यागरूप मुनिव्रत नहीं होता, उसी प्रकार निर्विकल्प समाधिरूप परमात्मज्ञान भी नहीं होता, और ज्ञेय पदार्थोंमें प्रवर्तनेवाली स्वच्छंद ज्ञानवृत्ति उस स्वरूपमें एकाग्र भावसे ज्ञानप्रवृत्तिका अभाव है। इस कारण ऐसे जीवके आगमज्ञानपूर्वक श्रद्धान विना संयमभावकी कैसे सिद्धि होवे? किसी तरह नहीं। जिसके संयमकी सिद्धि न हुई, उसके निश्चित एकाग्रतारूप मोक्षमार्गनामा मुनिपदकी भी सिद्धि नहीं होती। इसलिये आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान, संयमभाव, इन तीनोंकी एकता जब होवे, तभी मोक्षमार्गकी सिद्धि होती है ॥ ३६ ॥ आगे आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान, संयमभाव, इन तीनोंकी एकता हो, तभी मोक्षमार्ग होवे, यह कहते हैं—[**यदि**] जो [**अर्थेषु**] जीवाजीवादि पदार्थोंमें [**श्रद्धानं**] रुचिरूप प्रतीति [**नास्ति**] नहीं है, तो [**आगमेन हि**] सिद्धान्तके जाननेसे भी [**न सिद्ध्यति**] मुक्त नहीं होता, [**वा**] अथवा [**अर्थान्**] जीवाजीवादिक पदार्थोंका [**श्रद्दधानः अपि**] श्रद्धान करता हुआ भी जो [**असंयतः**] असंयमी होवे, तो वह [**न**] नहीं [**निर्वाति**] मुक्त होता। **भावार्थ—**यद्यपि आगमके बलसे सब

ध्येषति । तथाहि—आगमबलेन सकलपदार्थान् विस्पष्टं तर्कयन्नपि यदि सकलपदार्थज्ञेयाकार-करम्बितविशदैकज्ञानाकारमात्मानं न तथा प्रत्येति तदा यथोदितात्मनः श्रद्धानशून्यतया यथो-दितमात्मानमननुभवन् कथं नाम ज्ञेयनिमग्नो ज्ञानविमूढोऽज्ञानी स्यात् । अज्ञानिनश्च ज्ञेयद्योतको भवन्नप्यागमः किं कुर्यात् । ततः श्रद्धानशून्यादागमान्नास्ति सिद्धिः । किं च—सकलपदार्थ-ज्ञेयाकारकरम्बितविशदैकज्ञानाकारमात्मानं श्रद्दधानोऽप्यनुभवन्नपि यदि स्वस्मिन्नेव संयम्य न वर्तयति तदानादिमोहरागद्वेषवासनोपजनितपरद्रव्यचङ्क्रमणस्वैरिण्याश्चिद्वृत्तेः स्वस्मिन्नेव स्थानान्निर्वासननिःकम्पैकतत्त्वमूर्च्छितचिद्वृत्त्यभावात्कथं नाम संयतः स्यात् । असंयतस्य च यथोदितात्मतत्त्वप्रतीतिरूपं श्रद्धानं यथोदितात्मतत्त्वानुभूतिरूपं ज्ञानं वा किं कुर्यात् । ततः संयमशून्यात् श्रद्धानात् ज्ञानाद्वा नास्ति सिद्धिः । अत आगमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानाम-यौगपद्यस्य मोक्षमार्गत्वं विघटेतैव ॥ ३७ ॥

गमाधारेण सकलपदार्थज्ञेयाकारकरावलम्बितविशदैकज्ञानरूपं स्वात्मानं जानतोऽपि ममात्मैवोपादेय इति निश्चयरूपं यदि श्रद्धानं नास्ति तदास्य प्रदीपस्थानीय आगमः किं करोति न किमपि । यथा वा स एव प्रदीपसहितपुरुषः स्वकीयपौरुषबलेन कूपपतनाद्यदि न निवर्तते तदा तस्य श्रद्धानं प्रदीपो दृष्टिर्वा किं करोति न किमपि । तथायं जीवः श्रद्धानज्ञानसहितोऽपि पौरुषस्थानीयचारित्रबलेन रागादिविकल्परूपादसंयमाद्यदि न निवर्तते तदा तस्य श्रद्धानं ज्ञानं वा किं कुर्यान्न किमपीति । अतः एतदायाति परमागमज्ञानतत्त्वार्थ-श्रद्धानसंयतत्वानां मध्ये द्वयेनैकेन वा निर्वाणं नास्ति किंतु त्रयेणेति ॥ ३७ ॥ एवं भेदाभेदरत्नत्रयात्मक-

---

पदार्थोंको विशेषरूपसे जानता है, परंतु सकल पदार्थोंके जाननेसे प्रतिबिम्बित निर्मल ज्ञानाकार आत्मा जैसा है, उसको उसी प्रकार न जाने, वैसा ही श्रद्धान न करे, और जैसा कुछ कहा है, वैसा ही जो न अनुभवे, तो परज्ञेयमें मग्न हुआ अज्ञानी जीव अकेले आगमके जाननेसे ही श्रद्धान बिना ज्ञानी कैसे हो सकता है? किसी प्रकार भी नहीं। यदि आगमको जाने और तत्त्वार्थका श्रद्धान करे, तभी ज्ञानी हो सकता है, अन्य प्रकार नहीं। यद्यपि आगम सकल पदार्थोंको प्रगट करता है, तो भी अज्ञानीको कुछ कार्यकारी नहीं होसकता, क्योंकि अज्ञानी श्रद्धानसे रहित है, इसलिये उसको आगमसे कुछ फलकी सिद्धि नहीं होती। यद्यपि सकल ज्ञेय पदार्थोंकर प्रतिबिम्बित निर्मल ज्ञानाकार आत्माका कोई श्रद्धान भी करता है, कोई जीव अनुभव भी करता है, तो भी वही जीव अपनेमें जो संयम भाव धरके निश्चल होके नहीं प्रवर्ते, तो उस संयमीके जैसा कुछ कहा है, वैसा ही आत्मतत्त्वकी प्रतीतिरूप श्रद्धान क्या करे, और यथार्थ आत्मतत्त्वकी अनुभूतिरूप ज्ञान भी संयमभाव विना क्या करे, क्योंकि यह जीव अनादि कालसे लेकर राग, द्वेष, मोहकी वासनासे परमें लगा हुआ है, इसकारण इस जीवकी अशुद्ध चेतनारूपी व्यभिचारिणी स्त्री परभावोंमें रमती है, अपने आत्मीक-रसमें मग्न नहीं होती। परवासनासे रहित निष्कंप एक आत्मीक-तत्त्वमें संयमभाव विना स्थिरता नहीं होती, इसलिये संयमभाव रहित श्रद्धानसे वा ज्ञानसे मोक्ष नहीं होता, जब आगम-ज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान, और संयमभाव इन तीनोंकी एकता हो, तभी मोक्ष-

अथागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां यौगपद्येऽप्यात्मज्ञानस्य मोक्षमार्गसाधकतमत्वं द्योतयति—

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं ।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण ॥ ३८ ॥
यदज्ञानी कर्म क्षपयति भवशतसहस्रकोटिभिः ।
तज्ज्ञानी त्रिभिर्गुप्तः क्षपयत्युच्छ्वासमात्रेण ॥ ३८ ॥

यदज्ञानी कर्म क्रमपरिपाट्या बालतपोवैचित्र्योपक्रमेण च पच्यमानमुपात्तरागद्वेषतया सुखदुःखादिविकारभावपरिणतः पुनरारोपितसंतानं भवशतसहस्रकोटीभिः कथंचन निस्तरति,

मोक्षमार्गस्थापनमुख्यत्वेन द्वितीयस्थले गाथाचतुष्टयं गतम् । किंच बहिरात्मावस्थान्तरात्मावस्थापरमात्मावस्था मोक्षावस्थात्रयं तिष्ठति । अवस्थात्रयेऽनुगताकारद्रव्यं तिष्ठति । एवं परस्परसापेक्षद्रव्यपर्यायात्मको जीवपदार्थः । तत्र मोक्षकारणं चिन्त्यते । मिथ्यात्वरागादिरूपा बहिरात्मावस्था तावदशुद्धा मुक्तिकारणं न भवति । मोक्षावस्था शुद्धात्मफलभूता सा चाग्रे तिष्ठति । एताभ्यां द्वाभ्यां भिन्ना यान्तरात्मावस्था सा मिथ्यात्वरागादिरहितत्वेन शुद्धा यथा सूक्ष्मनिगोतज्ञाने शेषावरणे सत्यपि क्षयोपशमज्ञानावरणं नास्ति तथात्रापि केवलज्ञानावरणं सत्यप्येकदेशक्षयोपशमज्ञानापेक्षया नास्त्यावरणम् । यावतांशेन निरावरणरागादिरहितत्वेन शुद्धा च तावतांशेन मोक्षकारणं भवति तत्र शुद्धपारिणामिकभावरूपं परमात्मद्रव्यं ध्येयं भवति तच्च तस्मादन्तरात्मध्यानावस्थाविशेषात्कथंचिद्भिन्नम् । यदैकान्तेनाभिन्नं भवति तदा मोक्षेऽपि ध्यानं प्राप्नोति, अथवास्य ध्यानपर्यायस्य विनाशे सति तस्य पारिणामिकभावस्यापि विनाशः प्राप्नोति । एवं बहिरात्मान्तरात्मपरमात्मकथनरूपेण मोक्षमार्गो ज्ञातव्यः । अथ परमागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां भेदरत्नत्रयरूपाणां मेलापकेऽपि यदभेदरत्नत्रयात्मकं निर्विकल्पसमाधिलक्षणमात्मज्ञानं निश्चयेन तदेव मुक्तिकारणमिति प्रतिपादयति—**जं अण्णाणी कम्मं खवेदि** निर्विकल्पसमाधिरूपनिश्चयरत्नत्रयात्मकविशिष्टभेदज्ञानाभावादज्ञानी जीवो यत्कर्म क्षपयति । काभिः कर्मभूताभिः ।

मार्ग होता है, ऐसा तात्पर्य समझना ॥ ३७ ॥ आगे आगम-ज्ञान, तत्त्वार्थ श्रद्धान और संयमभाव इस रत्नत्रयकी एकताके होनेपर भी आत्मज्ञानको मुख्यरूप मोक्षमार्गका साधक दिखलाते हैं—**[अज्ञानी]** परमात्मज्ञान रहित पुरुष **[यत् कर्म]** जो ज्ञानावरणादि अनेक कर्म **[भवशतसहस्रकोटिभिः]** सौ हजार कोड़ (अनेक) पर्यायोंकर **[क्षपयति]** क्षय करता है, **[त्रिभिर्गुप्तः]** मन, वचन, कायकी क्रियाओंके निरोधकर स्वरूपमें लीन **[ज्ञानी]** परमात्मभावका अनुभवी ज्ञाता **[तत्]** उन ज्ञानावरणादि असंख्यात लोकमात्र कर्मोंको **[उच्छ्वासमात्रेण]** एक उस्वासमात्र (थोड़े) कालमें ही **[क्षपयति]** क्षय कर देता है । **भावार्थ**—अज्ञानी जीव क्रियाकांडकी परिपाटीसे और अनेक प्रकारके अज्ञानतपके बलसे जो कर्म क्षय करता है, उसी कर्मके उदयसे राग, द्वेष, भावोंसे सुख दुःखादि विकार भावोंरूप परिणमता है, पश्चात् नवीन बंध करके सन्तान बढ़ाता है, इस कारण अनेक सौ हजार कोटि पर्यायोंमें भी कर्मोंका क्षय नहीं करता,—मुक्त नहीं होता, अज्ञानीके कर्मकी निर्जरा बंधका ही कारण

तदेव ज्ञानी स्यात्कारकेतनागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्यातिशयप्रसादासादितशुद्धज्ञानमयात्मतत्त्वानुभूतिलक्षणज्ञानित्वसद्भावात्कायवाङ्मनःकर्मोपरमप्रवृत्तत्रिगुप्तत्वात् प्रचण्डोपक्रमपच्यमानमपहस्तितरागद्वेषतया दूरनिरस्तसमस्तसुखदुःखादिविकारः पुनरनारोपितसंतानमुच्छ्वासमात्रेणैव लीलयैव पातयति । अत आगमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां यौगपद्येऽप्यात्मज्ञानमेव मोक्षमार्गसाधकतममनुमन्तव्यम् ॥ ३८ ॥

अथात्मज्ञानशून्यस्य सर्वागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां यौगपद्यमप्यकिंचित्करमित्यनुशास्ति—

परमाणुपमाणं वा मुच्छा देहादिएसु जस्स पुणो ।
विज्जदि जदि सो सिद्धिं ण लहदि सव्वागमधरो वि ॥ ३९ ॥

भवसयसहस्सकोडीहिं भवशतसहस्रकोटिभिः **तं णाणी तिहिं गुत्तो** तत्कर्म ज्ञानी जीवस्त्रिगुप्तिगुप्तः सन् **खवेदि उस्सासमेत्तेण** क्षपयत्युच्छ्वासमात्रेणेति । तद्यथा—बहिर्विषये परमागमाभ्यासबलेन यत्सम्यक्परिज्ञानं तथैव श्रद्धानं व्रताद्यनुष्ठानं चेति त्रयं तत्त्रयाधारेणोत्पन्नं सिद्धजीवविषये सम्यक्परिज्ञानं श्रद्धानं तद्गुणस्मरणानुकूलमनुष्ठानं चेति त्रयं तत्त्रयाधारेणोत्पन्नं विशदाखण्डैकज्ञानाकारे स्वशुद्धात्मनि परिच्छित्तिरूपं सविकल्पज्ञानं स्वशुद्धात्मोपादेयभूतरुचिविकल्परूपं सम्यग्दर्शनं तत्रैवात्मनि रागादिविकल्पनिवृत्तिरूपं सविकल्पचारित्रमिति त्रयम् । तत्त्रयप्रसादेनोत्पन्नं यन्निर्विकल्पसमाधिरूपं निश्चयरत्नत्रयलक्षणं विशिष्टस्वसंवेदनज्ञानं तदभावादज्ञानी जीवो बहुभवकोटिभिर्यत्कर्म क्षपयति तत्कर्म ज्ञानी जीवः पूर्वोक्तज्ञानगुणसद्भावात् त्रिगुप्तिगुप्तः सन्नुच्छ्वासमात्रेण लीलयैव क्षपयतीति । ततो ज्ञायते परमागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां भेदरत्नत्रयरूपाणां सद्भावेऽप्यभेदरत्नत्रयरूपस्य स्वसंवेदनज्ञानस्यैव प्रधानत्वमिति ॥ ३८ ॥ अथ पूर्वसूत्रोक्तात्मज्ञानरहितस्य सर्वागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां यौगपद्यमप्यकिंचित्करमित्युपदिशति—**परमा-**

है, और ज्ञानीके वह स्याद्वाद–ध्वजासे चिन्हित आगमका जानना, तत्त्वार्थ श्रद्धान, और संयमभाव इन तीन रत्नत्रय भावोंकी अधिकताके प्रसादसे अंगीकार की गई शुद्ध ज्ञानमयी आत्मतत्त्वकी अनुभूति, उसरूप ज्ञानके होनेसे मन, वचन, कायकी क्रियाके निरोधसे स्वरूपमें गुप्त है, इस कारण वह ज्ञानी अपनी ज्ञान वैराग्यकी शक्तिके बलसे एक क्षणमें विना ही यत्नके अपनी लीला ही कर असंख्यात लोकमात्र कर्मोंको क्षय कर डालता है, कर्मके उदयमें राग, द्वेष, मोह, भावोंसे रहित है, इसलिये इष्ट अनिष्ट पदार्थोंके संयोगसे सुख दुःख विकारको नहीं धारण करता, इसी कारण नूतन बंधका कर्ता नहीं है, संसारकी संतानका उच्छेदक है, सहज ही मुक्त होता है । इससे यह तात्पर्य जानना, कि आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान, और संयमभाव इनकी एकताके होनेपर भी आत्मज्ञान ही को मोक्षके साधनेकी अधिकता है ॥ ३८ ॥ आगे आत्मज्ञानशून्य पुरुषके आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान, संयमभाव इनकी एकता भी अकार्यकारी है, ऐसा कहते हैं—[**यस्य**] जिस पुरुषके [**पुनः**] फिर [**परमाणुप्रमाणं वा**] परमाणुबराबर भी अतिसूक्ष्म [**देहादिकेषु**] शरीरादि परद्रव्योंमें [**मूर्च्छा**] ममता भाव [**यदि**] जो

परमाणुप्रमाणं वा मूर्च्छा देहादिकेषु यस्य पुनः ।
विद्यते यदि स सिद्धिं न लभते सर्वागमधरोऽपि ॥ ३९ ॥

यदि करतलामलकीकृतसकलागमसारतया भूतभवद्भावि च स्वोचितपर्यायविशिष्टमशेषद्रव्यजातं जानन्तमात्मानं जानन् श्रद्दधानः संयमयंश्चागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां यौगपद्येऽपि मनाङ्मोहमलोपलिप्तत्वात् यदा शरीरादिमूर्च्छोपरक्ततया निरुपरागोपयोगपरिणतं कृत्वा ज्ञानात्मानमात्मानं नानुभवति तदा तावन्मात्रमोहमलकलङ्ककीलिकाकीलितैः कर्मभिरविमुच्यमानो न सिद्ध्यति । अत आत्मज्ञानशून्यमागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्यमप्यकिंचित्करमेव ॥ ३९ ॥

अथागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्यात्मज्ञानयौगपद्यं साधयति—

णुपमाणं वा मुच्छा देहादिएसु जस्स पुणो विज्जदि जदि परमाणुमात्रं वा मूर्च्छा देहादिकेषु विषयेषु यस्य पुरुषस्य पुनर्विद्यते यदि चेत् । **सो सिद्धिं ण लहदि** स सिद्धिं मुक्तिं न लभते । कथंभूतः । **सव्वागमधरो वि** सर्वागमधरोऽपीति । अयमत्रार्थः—सर्वागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां यौगपद्ये सति यस्य देहादिविषये स्तोकममत्वं विद्यते तस्य पूर्वसूत्रोक्तं निर्विकल्पसमाधिलक्षणं निश्चयरत्नत्रयात्मकं स्वसंवेदनज्ञानं नास्तीति ॥ ३९ ॥ अथ द्रव्यभावसंयमस्वरूपं कथयति—

चागो य अणारंभो विसयविरागो खओ कसायाणं ।
सो संजमो त्ति भणिदो पव्वज्जाए विसेसेण ॥ *२१ ॥

चागो य निजशुद्धात्मपरिग्रहं कृत्वा बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहनिवृत्तिस्त्यागः **अणारंभो** निःक्रियनिज-

---

[**विद्यते**] मौजूद है, तो [**सः**] वह पुरुष उतने ही मोह कलंकसे [**सर्वागमधरोऽपि**] द्वादशांगका पाठी होता हुआ भी [**सिद्धिं**] मोक्षको [**न**] नहीं [**लभते**] पाता । **भावार्थ—**जैसे हाथमें निर्मल स्फटिकका मणिका अंतर बाहिरसे अच्छा दीखता है, उसी तरह जिन पुरुषोंने समस्त आगमका रहस्य जान लिया है, और उसी आगमके अनुसार त्रिकाल सम्बंधी सकल पर्याय सहित संपूर्ण द्रव्योंके जाननेवाला आत्माको वे जानते हैं, श्रद्धान करते हैं, और आचरण करते हैं । इसी तरह जिस पुरुषके आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान, संयम, इस रत्नत्रयकी एकता भी हुई है, परंतु वही पुरुष जो किसी कालमें शरीरादि परद्रव्योंमें रागभाव मलसे मलीन हुआ ज्ञानस्वरूप आत्माको वीतराग उपयोग भावरूप नहीं अनुभव करता है, तो वही पुरुष उतने ही सूक्ष्म मोहकलंकसे कीलित कर्मोंसे नहीं छूटता—मुक्त नहीं होता । इससे यह बात सिद्ध हुई, कि वीतराग निर्विकल्प समाधिसे आत्मज्ञानसे शून्य पुरुषके आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयमभावोंकी एकता भी कार्यकारी नहीं है, जो आत्मज्ञान सहित हो, तभी मोक्षका साधक हो सके, इस कारण आत्मज्ञान मोक्षका मुख्य साधन है ॥ ३९ ॥ आगे जिसके आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान, संयमभावकी एकता है, और आत्मज्ञानकी एकता है, उस पुरुषका स्वरूप कहते हैं—[**स श्रमणः**] वह महामुनि [**संयतः**] संयमी [**भणितः**] भगवंतदेवने कहा है, जो कि

पंचसमिदो तिगुत्तो पंचेंदियसंवुडो जिदकसाओ ।
दंसणणाणसमग्गो समणो सो संजदो भणिदो ॥ ४० ॥
पञ्चसमितस्त्रिगुप्तः पञ्चेन्द्रियसंवृतो जितकषायः ।
दर्शनज्ञानसमग्रः श्रमणः स संयतो भणितः ॥ ४० ॥

यः खल्वनेकान्तकेतनागमज्ञानबलेन सकलपदार्थज्ञेयाकारकरम्बितविशदैकज्ञानाकारमात्मानं श्रद्दधानोऽनुभवंश्चात्मन्येव नित्यनिश्चलां वृत्तिमिच्छन् समितिपञ्चकाङ्कुशितप्रवृत्तिप्रवर्तितसंयमसाधनीकृतशरीरपात्रः क्रमेण निश्चलनिरुद्धपञ्चेन्द्रियद्वारतया समुपरतकायवाङ्मनोव्यापारो भूत्वा चिद्वृत्तेः परद्रव्यचङ्क्रमणनिमित्तमत्यन्तमात्मना सममन्योन्यसंवलनादेकीभूतमपि स्वभावभेदपरत्वेन निश्चित्यात्मनैव कुशलो मल्ल इव सुनिर्भरं निष्पीड्य निष्पीड्य कषाय-

---

शुद्धात्मद्रव्ये स्थित्वा मनोवचनकायव्यापारनिवृत्तिरनारम्भः **विसयविरागो** निर्विषयस्वात्मभावनोत्थसुखे तृप्तिं कृत्वा पञ्चेन्द्रियसुखाभिलाषत्यागो विषयविरागः । **खओ कसायाणं** निःकषायशुद्धात्मभावनाबलेन क्रोधादिकषायत्यागः कषायक्षयः । **सो संजमो त्ति भणिदो** स एवंगुणविशिष्टः संयम इति भणितः । **पव्वज्जाए विसेसेण** सामान्येनापि तावदिदं संयमलक्षणं प्रव्रज्यायां तपश्चरणावस्थायां विशेषेणेति । अत्राभ्यन्तरशुद्धा सविंत्तिर्भावसयमो बहिरङ्गनिवृत्तिश्च द्रव्यसंयम इति ॥ २१ ॥ अथागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां त्रयाणां यत्सविकल्पं यौगपद्यं तथा निर्विकल्पात्मज्ञानं चेति द्वयोः संभवं दर्शयति—**पंचसमिदो** व्यवहारेण पञ्चसमितिभिः समितः संवृत्तः पञ्चसमितः निश्चयेन तु स्वस्वरूपे सम्यगितो गतः परिणतः समितः **तिगुत्तो** व्यवहारेण मनोवचनकायनिरोधत्रयेण गुप्तः त्रिगुप्तः निश्चयेन स्वरूपे गुप्तः परिणतः **पंचेंदियसंवुडो** व्यवहारेण पञ्चेन्द्रियविषयव्यावृत्त्या संवृतः पञ्चेन्द्रियसंवृतः निश्चयेन वातीन्द्रियसुखस्वादरतः **जिदकसाओ** व्यवहारेण क्रोधादिकषायजयेन जितकषायः निश्चयेन चाकषायात्मभावनारतः **दंसणणाणसमग्गो** अत्र दर्शनशब्देन निजशुद्धात्मश्रद्धानरूपं सम्यग्दर्शनं ग्राह्यम् । ज्ञानशब्देन तु स्वसंवेदनज्ञानमिति ताभ्यां समग्रो दर्शनज्ञानसमग्रः **समणो सो संजदो भणिदो** स एवंगुणविशिष्टः श्रमणः संयत इति

[**पञ्चसमितः**] ईर्यादि पाँच समितियोंको पालता है [**त्रिगुप्तः**] तीन योगोंके निरोधसे तीन गुप्तिवाला है, [**पञ्चेन्द्रियसंवृतः**] पाँच इन्द्रियोंको रोकनेवाला [**जितकषायः**] कषायोंको जीतनेवाला और [**दर्शनज्ञानसमग्रः**] दर्शन ज्ञानसे परिपूर्ण है । **भावार्थ**—जो पुरुष स्याद्वादरूप आगमसे सकल ज्ञेयाकारकर प्रतिबिम्बित, निर्मल ज्ञानस्वरूप आत्माको जानता है, श्रद्धान करता है, अनुभवता है, अपनेमें निश्चल वृत्तिको चाहता है, जिसने पाँच समितिके आचरणसे स्वेच्छाचार वृत्तिको रोककर, अपने शरीर और संयमका साधन किया है, क्रमसे निश्चल होके पंचेन्द्रियोंका निरोध किया है, जिसके मन, वचन, कायसे कषाय दूर हुए हैं, जिन कषायोंसे यह चैतन्यवृत्ति परद्रव्यमें गमन करती है, और जो कषाय आत्माके साथ परस्पर मिलनेसे एकताको धारण करते हैं, उन कषाय-शत्रुओंको निश्चयकर अपनेसे जुदे जान उनको एक ही बार अपने ज्ञानकी अधिकतासे चूर चूर कर डाला है, जैसे प्रवीण मल्ल अपने शत्रु-मल्लको मसल

चक्रमक्रमेण जीवं त्याजयति, स खलु सकलपरद्रव्यशून्योऽपि विशुद्धदृशिज्ञप्तिमात्रस्वभावभूतावस्थापितात्मतत्त्वोपजातनित्यनिश्चलवृत्तितया साक्षात्संयत एव स्यात्। तस्यैव चागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्यात्मज्ञानयौगपद्यं सिद्धयति ॥ ४० ॥

अथास्य सिद्धागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्यात्मज्ञानयौगपद्यसंयतस्य कीदृग्लक्षणमित्यनुशास्ति—

समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो ।
समलोट्ठुकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो ॥ ४१ ॥
समशत्रुबन्धुवर्गः समसुखदुःखः प्रशंसानिन्दासमः ।
समलोष्टकाञ्चनः पुनर्जीवितमरणे समः श्रमणः ॥ ४१ ॥

संयमः सम्यग्दर्शनज्ञानपुरःसरं चारित्रं, चारित्रं धर्मः, धर्मः साम्यं, साम्यं मोहक्षोभविहीनः आत्मपरिणामः । ततः संयतस्य साम्यं लक्षणम् । तत्र शत्रुबन्धुवर्गयोः सुखदुःखयोः प्रशंसानिन्दयोः लोष्टकाञ्चनयोर्जीवितमरणयोश्च समः । अयं मम परोऽयं स्वः, अयमाह्लादोऽयं परि-

भणितः । अत एतदायातं व्यवहारेण यद्बहिर्विषये व्याख्यानं कृतं तेन सविकल्पं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयं यौगपद्यं ग्राह्यम् । अभ्यन्तरव्याख्यानेन तु निर्विकल्पात्मज्ञानं ग्राह्यमिति सविकल्पयौगपद्यं निर्विकल्पात्मज्ञानं च घटत इति ॥ ४० ॥ अथागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वलक्षणेन विकल्पत्रययौगपद्येन तथा निर्विकल्पात्मज्ञानेन च युक्तो योऽसौ संयतस्तस्य किं लक्षणमित्युपदिशति । इत्युपदिशति कोऽर्थः इति पृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति । एवं प्रश्नोत्तरपातनिकाप्रस्तावे क्वापि क्वापि यथासंभवमितिशब्दस्यार्थो ज्ञातव्यः— स श्रमणः संयतस्तपोधनो भवति । यः किंविशिष्टः । शत्रुबन्धुसुखदुःखनिन्दाप्रशंसालोष्टकाञ्चनजीवितमरणेषु समः समचित्तः इति । ततः एतदायाति । शत्रुबन्धुसुखदुःखनिन्दाप्रशंसालोष्टकाञ्चनजीवितमरण-

मसल कर प्राणरहित कर देता है, उसी तरह विनाश किया है, ऐसा वह महा मुनि सुभट, सब परद्रव्यसे रहित हुआ, ज्ञान, दर्शन, चारित्रकी स्थिरतासे साक्षात् संयमी है, और उसी मुनिके आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान, संयमकी एकता है, तथा आत्मज्ञानकी एकता है ॥ ४० ॥ आगे आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान, संयमभावका एकत्व और आत्मज्ञानका एकत्व जिस मुनिके सिद्ध हुआ है, और वह जिन लक्षणोंसे मालूम होता है, उनको दिखाते है—[**श्रमणः**] समता भावमें लीन महा मुनि है, वह [**समशत्रुबन्धुवर्गः**] शत्रु कुटुम्बके लोग इनमें समान भाववाला है, [**समसुखदुःखः**] सुख और दुःख जिसके समान हैं, [**प्रशंसानिन्दासमः**] बड़ाई और निन्दा–दोषकथन इन दोनोंमें समान है, [**समलोष्टकाञ्चनः**] लोहा और सोना जिसके समान हैं, और [**पुनः जीवितमरणे समः**] प्राणधारण और प्राणत्याग ये दोनोंमें भी समान हैं। **भावार्थ**—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानयुक्त जो चारित्र है, उसको संयम कहते हैं, वही धर्म है, और उसीका नाम साम्यभाव भी है । मोह क्षोभसे रहित जो आत्माका परिणाम वह साम्यभाव है, इससे संयमीका लक्षण साम्यभाव है । शत्रु, मित्र, सुख, दुःख,

तापः, इदं ममोत्कर्षणमिदमपकर्षणमयं ममाकिंचित्कर इदमुपकारकमिदं ममात्मधारणमयमत्यन्तविनाश इति मोहाभावात् सर्वत्राप्यनुदितरागद्वेषद्वैतस्य सततमपि विशुद्धदृष्टिज्ञप्तिस्वभावमात्मानमनुभवतः शत्रुबन्धुसुखदुःखप्रशंसानिन्दालोष्टकाञ्चनजीवितमरणानि निर्विशेषमेव ज्ञेयत्वेनाक्रम्य ज्ञानात्मन्यात्मन्यचलितवृत्तेर्यत्किल सर्वतः साम्यं तत्सिद्धागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्यात्मज्ञानयौगपद्यस्य संयतस्य लक्षणमालक्षणीयम् ॥ ४१ ॥

अथेदमेव सिद्धागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्यात्मज्ञानयौगपद्यसंयतत्वमैकाग्र्यलक्षणश्रामण्यापरनाम मोक्षमार्गत्वेन समर्थयति—

दंसणणाणचरित्तेसु तीसु जुगवं समुट्ठिदो जो दु ।
एयग्गगदो त्ति मदो सामण्णं तस्स पडिपुण्णं ॥ ४२ ॥
दर्शनज्ञानचरित्रेषु त्रिषु युगपत्समुत्थितो यस्तु ।
एकाग्रगत इति मतः श्रामण्यं तस्य परिपूर्णम् ॥ ४२ ॥

ज्ञेयज्ञातृतत्त्वतथाप्रतीतिलक्षणेन सम्यग्दर्शनपर्यायेण ज्ञेयज्ञातृतत्त्वतथानुभूतिलक्षणेन

समताभावनापरिणतनिजशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनिर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्ननिर्विकारपरमाह्लादैकलक्षणसुखामृतपरिणतिस्वरूपं यत्परमसाम्यं तदेवपरमागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां यौगपद्येन तदा निर्विकल्पात्मज्ञानेन च परिणततपोधनस्य लक्षणं ज्ञातव्यमिति ॥ ४१ ॥ अथ यदेव संयततपोधनस्य साम्यलक्षणं भणितं तदेव श्रामण्यापरनामा मोक्षमार्गो भण्यत इति प्ररूपयति—**दंसणणाणचरित्तेसु तीसु जुगवं समुट्ठिदो जो दु** दर्शनज्ञानचारित्रेषु त्रिषु युगपत्सम्यगुपस्थित उद्यतो यस्तु कर्ता **एयग्गगदो त्ति**

स्तुति, निंदा सोना, लोहा, जीवन, मरण इत्यादि इष्ट, अनिष्ट विषयोंमें मुनिके भेद नहीं है, समताभाव है । यह मेरा है, यह पर है, यह आनन्द है, यह दुःख है, यह मुझको उत्तम है, यह मुझको हीन है, यह उपकारी है, यह कुछ नहीं, यह जीवन है, यह मेरा विनाश है, इत्यादि जो अनेक विकल्प हैं, वे मोहके अभावसे मुनिके नहीं होते, इसलिये महामुनि राग द्वेषसे रहित हैं, सदाकाल निर्मल ज्ञान दर्शनमयी आत्माको अनुभवते हैं, सब इष्ट अनिष्ट विषयोंको ज्ञेयरूप जानते हैं, रागी होके कर्ता नहीं हैं, स्वरूपमें समस्त संकल्प, विकल्पोंसे रहित होके निश्चल तिष्ठे हुए है, ऐसे मुनिके जो समताभाव है, वही महामुनिका लक्षण है, इसी लक्षणसे मुनिके आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान, संयमभाव इनकी एकता और आत्मज्ञानकी एकता सिद्ध हुई जान पड़ती है, इसलिये समभाव मुनिका प्रगट लक्षण है ॥ ४१ ॥ आगे पूर्ण सिद्ध हुई, जो यह आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान, संयमभावकी एकता और आत्मज्ञानकी एकता यही एकाग्रतारूप मोक्षमार्ग है, इसीका दूसरा नाम मुनिपदवी है, यह कहते हैं—[**यः**] जो पुरुष [**दर्शनज्ञानचरित्रेषु**] सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, [**त्रिषु**] इन तीन भावोंमें [**युगपत्**] एक ही समय [**समुत्थितः**] अच्छी तरह उद्यमी हुआ प्रवर्तता है, वह [**एकाग्रगतः**] एकाग्रताको प्राप्त है, [**इति मतः**] ऐसा कहा है, [**तु**] और [**तस्य**] उसी पुरुषके [**श्रामण्यं**]

ज्ञानपर्यायेण ज्ञेयज्ञातृक्रियान्तरनिवृत्तिसूत्र्यमाणद्रष्टृज्ञातृतत्त्ववृत्तिलक्षणेन चारित्रपर्यायेण च त्रिभिरपि यौगपद्येन भाव्यभावकभावविजृम्भितातिनिर्भरेतरेतरसंवलनबलादङ्गाङ्गिभावेन परिणतस्यात्मनो यदात्मनिष्ठत्वे सति संयतत्वं तत्पानकवदनेकात्मकस्यैकस्यानुभूयमानतायामपि समस्तपरद्रव्यपरावर्तत्वादभिव्यक्तैकाग्र्यलक्षणश्रामण्यापरनामा मोक्षमार्ग एवावगन्तव्यः। तस्य तु सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग इति भेदात्मकत्वात्पर्यायप्रधानेन व्यवहारनयेनैकाग्र्यं मोक्षमार्ग इत्यभेदात्मकत्वाद्द्रव्यप्रधानेन निश्चयनयेन विश्वस्यापि भेदाभेदात्मकत्वात्तदुभयमिति प्रमाणेन प्रज्ञप्तिः ।

मदो स ऐकाग्र्यगत इति मतः संमतः **सामण्णं तस्स पडिपुण्णं** श्रामण्यं चारित्रं यतित्वं तस्य परिपूर्णमिति । तथाहि—भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मभ्यः शेषपुद्गलादिपञ्चद्रव्येभ्योऽपि भिन्नं सहजशुद्धनित्यानन्दैकस्वभावं मम संबन्धि यदात्मद्रव्यं तदेव ममोपादेयमितिरुचिरूपं सम्यग्दर्शनम् । तत्रैव परिच्छित्तिरूपं सम्यग्ज्ञानं तस्मिन्नेव स्वरूपे निश्चलानुभूतिलक्षणं चारित्रं चेत्युक्तस्वरूपं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयं पानकवदनेकमप्यभेदनयेनैकं यत् तत्सविकल्पावस्थायां व्यवहारेणैकाग्र्यं भण्यते । निर्विकल्पसमाधिकाले तु निश्चयेनेति तदेव च नामान्तरेण परमसाम्यमिति तदेव परमसाम्यं पर्यायनामान्तरेण शुद्धोपयोगलक्षणः श्रामण्यापरनामा मोक्षमार्गो ज्ञातव्य इति । तस्य तु मोक्षमार्गस्य सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग इति भेदात्मकत्वात्पर्यायप्रधानेन व्यवहारनयेन निर्णयो भवति । ऐकाग्र्यं मोक्षमार्ग इत्यभेदात्मकत्वात् द्रव्यप्रधा-

---

यतिपद [**परिपूर्ण**] पूर्ण हुआ जानना । **भावार्थ—**ज्ञेय, ज्ञायक, तत्त्वकी यथावत्प्रतीतिका होना सम्यग्दर्शन है; ज्ञेय, ज्ञायकका यथार्थ जान लेना, सम्यग्ज्ञान है; और अन्य क्रियासे निवृत्त होके दर्शनस्वरूप आत्मामें प्रवृत्ति 'चारित्र' कहा जाता है । इन तीनों ही भावोंका आत्मा भावक है, ये भाव्य है, इन भाव्य भावोंके बढ़नेसे अति परिपूर्ण परस्पर मिलाप है, आत्मा अंगी है, ये तीनों भाव अंग हैं, अंग अंगीकी एकता है । इस प्रकार एक भावको परिणत हुए आत्माके स्वरूपमें लीन होनेरूप जो संयमभाव है, वह यद्यपि सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रके भेदसे अनेक है, तथापि एकस्वरूप ही है । जैसे आम तथा इमली आदिका बनाया हुआ 'पना' मिष्ट खट्टा चरपरा सुगंध द्रव्य आदिके भेदसे अनेक है, तथापि सबको मिलकर एक पर्याय धारण करता है, इससे एक है, उसी प्रकार वह संयम यद्यपि रत्नत्रयसे भेद लिये हुए है, तो भी तीनों भावोंका एक संयमरूप पर्याय है, इसलिये एकरूप है, एकरूप संयमभाव सब परद्रव्यसे रहित है, प्रगट एकाग्रतारूप मुनिपद है, और यही मोक्षमार्ग जानना । उस मोक्षमार्गको जो दर्शन ज्ञान चारित्र ऐसे भेदकर कहना है, यह भेदस्वरूप पर्यायकी विवक्षाकर व्यवहारनयसे है, और एकाग्रतारूप मोक्षमार्ग ऐसा जो कथन है, वह अभेदस्वरूप द्रव्यार्थिककी विवक्षाकर निश्चयनयसे जानना । जितने कुछ पदार्थ संसारमें है, वे सब भेद अभेदस्वरूप हैं । इसलिये भेदकर कहना वह व्यवहार है, और अभेदकर कहना वह निश्चय है, इन दोनोंकी सिद्धि प्रमाणसे होती है । यह मोक्षमार्ग निश्चयकर एक है, व्यवहारकर अनेक होजाता है; ज्ञान, दर्शन, चारित्र, इन तीन भेदोंको लिए

इत्येवं प्रतिपत्तुराशयवशादेकोऽप्यनेकीभवं-
स्त्रैलक्षण्यमथैकतामुपगतो मार्गोऽपवर्गस्य यः।
द्रष्टृज्ञातृनिबद्धवृत्तिमचलं लोकस्तमास्कन्दता-
मास्कन्दत्यचिराद्विकाशमतुलं येनोल्लसन्त्याश्चितेः ॥ ४२ ॥

अथानैकाग्र्यस्य मोक्षमार्गत्वं विघटयति—

मुज्झदि वा रज्जदि वा दुस्सदि वा दव्वमण्णमासेज्ज ।
जदि समणो अण्णाणी बज्झदि कम्मेहिं विविहेहिं ॥ ४३ ॥

मुह्यति वा रज्यति वा द्वेष्टि वा द्रव्यमन्यदासाद्य ।
यदि श्रमणोऽज्ञानी बध्यते कर्मभिर्विविधैः ॥ ४३ ॥

यो हि न खलु ज्ञानात्मानमात्मानमेकमग्रं भावयति सोऽवश्यं ज्ञेयभूतं द्रव्यमन्यदासीदति। तदासाद्य च ज्ञानात्मात्मज्ञानाद्भ्रष्टः स्वयमज्ञानीभूतो मुह्यति वा रज्यति वा द्वेष्टि वा तथाभूतश्च बध्यत एव न तु विमुच्यते। अत अनैकाग्र्यस्य न मोक्षमार्गत्वं सिद्ध्येत् ॥ ४३ ॥

नेन निश्चयनयेन निर्णयो भवति। समस्तवस्तुसमूहस्यापि भेदाभेदात्मकत्वान्निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गद्वयस्यापि प्रमाणेन निश्चयो भवतीत्यर्थः ॥ ४२ ॥ एवं निश्चयव्यवहारसंयमप्रतिपादनमुख्यत्वेन तृतीयस्थले गाथा-चतुष्टयं गतम्। अथ यः स्वशुद्धात्मन्येकाग्रो न भवति तस्य मोक्षाभावं दर्शयति—**मुज्झदि वा रज्जदि वा दुस्सदि वा दव्वमण्णमासेज्ज जदि** मुह्यति वा रज्यति वा द्वेष्टि वा यदि चेत्। किं कृत्वा द्रव्य-मन्यदासाद्य प्राप्य। स कः। **समणो** श्रमणस्तपोधनः। तदा काले **अण्णाणी** अज्ञानी भवति। अज्ञानी सन् **बज्झदि कम्मेहिं विविहेहिं** बध्यते कर्मभिर्विविधैरिति। तथाहि—यो निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानेनै-काग्रो भूत्वा स्वात्मानं न जानाति तस्य चित्तं बहिर्विषयेषु गच्छति। ततश्चिदानन्दैकनिजस्वभावाच्च्युतो भवति। ततश्च रागद्वेषमोहैः परिणमति तत्परिणमन् बहुविधकर्मणा बध्यत इति। ततः कारणान्मोक्षार्थि-

---

हुए यद्यपि अनेक है, तो भी एकाग्रताकर एक है। ऐसा एक अनेकस्वरूप यह मोक्षमार्ग ज्ञातापुरुषोंके विचारसे सिद्ध हुआ है। ऐसे मोक्षमार्गको हे जगत्के भव्यजीवो! तुम अंगीकार करो, जिससे कि यह चिदानंद अपने अनंत प्रकाशको प्राप्त होवे ॥ ४२ ॥ आगे जिसके एकाग्रता नहीं है, उसके मोक्षमार्ग भी नहीं, यह कहते हैं—[**यदि**] जो [**अज्ञानी**] आत्मज्ञानसे रहित [**श्रमणः**] मुनि [**अन्यत् द्रव्यं**] आत्मासे भिन्न परद्रव्यको [**आसाद्य**] अंगीकार कर [**मुह्यति वा**] मोहको प्राप्त होता है, [**रज्यति वा**] अथवा रागी होता है, [**वा द्वेष्टि**] अथवा द्वेषी होता है, तो वह अज्ञानी मुनि [**विविधैः**] अनेक तरहके [**कर्मभिः**] ज्ञानावरणादिकर्मोंसे [**बध्यते**] बँध जाता है। **भावार्थ—** जो कोई ज्ञानस्वरूप आत्माको एकाग्र होकर नहीं चिंतता है, वह अवश्य ही परद्रव्यको स्वीकार करता है, और परद्रव्यमें लगा हुआ, ज्ञानस्वरूप आत्मासे भ्रष्ट होता है। अज्ञानी हुआ रागी, द्वेषी, मोही, होता है। ऐसा होनेपर कर्मोंसे बँधता है, मुक्त नहीं होता। इसलिये जो एकाग्रताकर रहित है, उसके मोक्ष-

अथैकाग्र्यस्य मोक्षमार्गत्वमवधारयन्नुपसंहरति—

अट्ठेसु जो ण मुज्झदि ण हि रज्जदि णेव दोसमुवयादि ।
समणो जदि सो णियदं खवेदि कम्माणि विविहाणि ॥ ४४ ॥

अर्थेषु यो न मुह्यति न हि रज्यति नैव द्वेषमुपयाति ।
श्रमणो यदि स नियतं क्षपयति कर्माणि विविधानि ॥ ४४ ॥

यस्तु ज्ञानात्मानमात्मानमेकमग्रं भावयति स न ज्ञेयभूतं द्रव्यमन्यदासीदति । तद-नासाद्य च ज्ञानात्मात्मज्ञानादभ्रष्टः स्वयमेव ज्ञानीभूतस्तिष्ठन्न मुह्यति न रज्यति न द्वेष्टि

भिरेकाग्रत्वेन स्वस्वरूपं भावनीयमित्यर्थः ॥ ४३ ॥ अथ निजशुद्धात्मनि योऽसावेकाग्रस्तस्यैव मोक्षो भवतीत्युपदिशति—**अट्ठेसु जो ण मुज्झदि ण हि रज्जदि णेव दोसमुवयादि** अर्थेषु बहिःपदार्थेषु **यो न मुह्यति न रज्यति हि** स्फुटं नैवं द्वेषमुपयाति **जदि** यदि चेत् **सो समणो** स श्रमणः **णियदं** निश्चितं **खवेदि विविहाणि कम्माणि** क्षपयति कर्माणि विविधानि इति । अथ विशेषः—योऽसौ दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकाङ्क्षारूपापध्यानत्यागेन निजस्वरूपं भावयति तस्य चित्तं बहिःपदार्थेषु न गच्छति ततश्च बहिःपदार्थे चिन्ताभावान्निर्विकारचिच्चमत्कारमात्राच्च्युतो न भवति । तदच्यवनेन च रागाद्यभावाद्विविधकर्माणि विनाशयतीति । ततो मोक्षार्थिना निश्चलचित्तेन निजात्मनि भावना कर्तव्येति । इत्थं वीतरागचारित्रव्याख्यानं श्रुत्वा केचन वदन्ति—सयोगिकेवलिनामप्येकदेशेन चारित्रं, परिपूर्णचारित्रं पुनरयोगिचरमसमये भविष्यति तेन कारणेनेदानीमस्माकं सम्यक्त्वभावनया भेदज्ञानभावनया च पूर्यते चारित्रं पश्चाद्भविष्यतीति नैवं वक्तव्यम् । अभेदनयेन ध्यानमेव चारित्रं तच्च ध्यानं केवलिनामुपचारेणोक्तं चारित्रमप्युपचारेणेति । यत्पुनः समस्तरागादिविकल्पजालरहितं शुद्धात्मानुभूतिलक्षणं सम्यग्दर्शनज्ञानपूर्वकं वीतरागछद्मस्थचारित्रं तदेव कार्यकारीति । कस्मादिति चेत्, तेनैव केवलज्ञानं जातस्तस्माच्चारित्रे तात्पर्यं कर्तव्यमिति भावार्थः । किंच उत्सर्गव्याख्यानकाले श्रामण्यं व्याख्यातमत्र पुनरपि किमर्थमिति परिहारमाह—तत्र सर्वपरित्यागलक्षण उत्सर्ग एव मुख्यत्वेन च मोक्षमार्गः अत्र तु श्रामण्यव्याख्यानमस्ति परं किंतु श्रामण्यं मोक्षमार्गो भवतीति मुख्य-

मार्गकी सिद्धि नहीं है ॥ ४३ ॥ आगे जो एकाग्रताको प्राप्त है, उसीके मोक्षमार्ग है, ऐसा कहकर व्याख्यानका संकोच करते हैं—[**यः**] जो ज्ञानस्वरूप आत्माका जाननेवाला [**श्रमणः**] मुनि [**यदि**] यदि [**अर्थेषु**] परस्वरूपपदार्थोंमें [**न मुह्यति**] मोही नहीं होता, [**न हि रज्यति**] तो वह निश्चयकर रागी नहीं होता, और [**द्वेषं**] द्वेषभावको भी [**नैव उपयाति**] नहीं प्राप्त होता, [**सः**] वह मुनि [**नियतं**] निश्चित एकाग्रताकर सहित हुआ [**विविधानि**] अनेक प्रकारके [**कर्माणि**] ज्ञानावरणादि कर्मोंको [**क्षपयति**] क्षय करता है । **भावार्थ—**जो पुरुष ज्ञानस्वरूप आत्माको एकाग्रताकर चिंतवन करता है, वह ज्ञेयरूप परद्रव्यको अंगीकार नहीं करता, परको त्यागकर ज्ञानस्वरूप आत्मामें लीन होजाता है, वहाँ आप ही ज्ञानी हुआ मोही, रागी, द्वेषी, नहीं होता, ऐसी वीतराग अवस्थाकर मुक्त होता है । कर्मोंसे नहीं बँधता । इसलिये जो मुनि एकाग्रभावको प्राप्त है, उसको

तथाभूतः सन् मुच्यत एव न तु बध्यते। अत ऐकाग्र्यस्यैव मोक्षमार्गत्वं सिद्ध्येत् ॥ ४४ ॥
इति मोक्षमार्गप्रज्ञापनम् ॥ अथ शुभोपयोगप्रज्ञापनम् ।

तत्र शुभोपयोगिनः श्रमणत्वेनान्वाचिनोति—

समणा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता य होंति समयम्हि ।
तेसु वि सुद्धुवजुत्ता अणासवा सासवा सेसा ॥ ४५ ॥

श्रमणाः शुद्धोपयुक्ताः शुभोपयुक्ताश्च भवन्ति समये ।
तेष्वपि शुद्धोपयुक्ता अनास्रवाः सास्रवाः शेषाः ॥ ४५ ॥

ये खलु श्रामण्यपरिणतिं प्रतिज्ञायापि जीवितकषायकणतया समस्तपरद्रव्यनिवृत्तिप्रवृत्तसुविशुद्धदृशिज्ञप्तिस्वभावात्मतत्त्ववृत्तिरूपां शुद्धोपयोगभूमिकामधिरोढुं न क्षमन्ते। ते तदुपकण्ठनिविष्टाः कषायकुण्ठीकृतशक्तयो नितान्तमुत्कण्ठुलमनसः श्रमणाः किं भवेयुर्न वेत्यत्राभिधीयते। 'धम्मेण परिणदप्पा' इति स्वयमेव निरूपितत्वादस्ति तावच्छुभोपयोगस्य धर्मेण सहैकार्थ-

त्वेन विशेषोऽस्ति ॥ ४४ ॥ एवं श्रामण्यापरनाममोक्षमार्गोपसंहारमुख्यत्वेन चतुर्थस्थले गाथाद्वयं गतम् । अथ शुभोपयोगिनां शास्रवत्वाद्व्यवहारेण श्रमणत्वं व्यवस्थापयति—**संति** विद्यन्ते । क्व । **समयम्हि** समये परमागमे । के सन्ति । **समणा** श्रमणास्तपोधनाः । किंविशिष्टाः । **सुद्धुवजुत्ता** शुद्धोपयोगयुक्ता शुद्धोपयोगिन इत्यर्थः । **सुहोवजुत्ता य** न केवलं शुद्धोपयोगयुक्ताः शुभोपयोगयुक्ताश्च । चकारोऽत्र अन्वयार्थे गौणार्थे ग्राह्यः । तत्र दृष्टान्तः । यथा निश्चयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावाः सिद्धजीवा एव जीवा भण्यन्ते व्यवहारेण चतुर्गतिपरिणता अशुद्धजीवाश्च जीवा इति तथा शुद्धोपयोगिनां मुख्यत्वं शुभोपयोगिनां तु चकारसमुच्चयव्याख्यानेन गौणत्वम् । कस्माद्गौणत्वं जातमितिचेत् । **तेसु वि सुद्धुवजुत्ता अणासवा सासवा सेसा**

ही मोक्षमार्गकी सिद्धि है, इसमें संदेह नहीं है ॥ ४४ ॥ इस प्रकार **मोक्षमार्गाधिकार** सम्पूर्ण हुआ। आगे शुभोपयोगका कथन करते हुए पहले शुभोपयोगीको मुनिपदवीसे जघन्य दिखलाते हैं—**[समये]** परमागममें **[श्रमणाः]** मुनि **[शुद्धोपयुक्ताः]** शुद्धोपयोगी **[च]** और **[शुभोपयुक्ताः]** शुभोपयोगी इस तरह दो प्रकारके **[भवन्ति]** होते हैं, **[तेषु अपि]** उन दो तरहके मुनियोंमें भी **[शुद्धोपयुक्ताः]** शुद्धोपयोगी महामुनि **[अनास्रवाः]** कर्मोंके आस्रवसे रहित हैं, **[शेषाः]** बाकी जो शुभोपयोगी मुनि हैं, वे **[सास्रवाः]** आस्रवभाव सहित हैं । **भावार्थ—**जो जीव यतिपरिणतिकी प्रतिज्ञा करके भी कषायके अंशके उदयसे सब परद्रव्योंसे निवृत्त होकर भी निर्मल ज्ञान, दर्शन, स्वभावकर आत्म-तत्त्वकी प्रवृत्तिरूप शुद्धोपयोग भूमिकाके ऊपर चढ़नेको असमर्थ हैं, शुद्धोपयोगी महामुनिके समीपवर्ती हैं, और जिनकी कषायके उदयसे शक्ति क्षीण होरही है, जिनका मन चंचल है, ऐसे शुभोपयोगी मुनि, मुनि होसकते हैं, कि नहीं ? ऐसा शिष्यका प्रश्न है, उसका उत्तर यह है, कि "धम्मेण परिणदप्पा" इत्यादि गाथामें हम समाधान कर आये हैं। शुभोपयोगका धर्मके साथ एकार्थसमवाय है। एकार्थसमवाय उसे कहते है, कि जहाँ आत्मामें ज्ञान दर्शन परिणति है, और राग परिणति भी है, इस तरह एक आत्म-

समवायः । ततः शुभोपयोगिनोऽपि धर्मसद्भावाद्भवेयुः श्रमणाः किंतु तेषां शुद्धोपयोगिभिः समं समकाष्ठत्वं न भवेत्, यतः शुद्धोपयोगिनो निरस्तसमस्तकषायत्वादनास्रवा एव । इमे पुनरनवकीर्णकषायकणत्वात्सास्रवा एव । अत एव च शुद्धोपयोगिभिः सममभी न समुच्चीयन्ते केवलमन्वाचीयन्त एव ॥ ४५ ॥

अथ शुभोपयोगिश्रमणलक्षणमासूत्रयति—

अरहंतादिसु भत्ती वच्छलदा पवयणाभिजुत्तेसु ।
विज्जदि जदि सामण्णे सा सुहजुत्ता भवे चरिया ॥ ४६ ॥

अर्हदादिषु भक्तिर्वत्सलता प्रवचनाभियुक्तेषु ।
विद्यते यदि श्रामण्ये सा शुभयुक्ता भवेच्चर्या ॥ ४६ ॥

सकलसंगसंन्यासात्मनि श्रामण्ये सत्यपि कषायलवावेशवशात् स्वयं शुद्धात्मवृत्तिमात्रेणावस्थातुमशक्तस्य परेषु शुद्धात्मवृत्तिमात्रेणावस्थितेष्वर्हदादिषु शुद्धात्मवृत्तिमात्रावस्थितिप्रति-

तेष्वपि मध्ये शुद्धोपयोगयुक्ता अनास्रवाः शेषाः सास्रवा इति यतः कारणात् । तद्यथा—निजशुद्धात्मभावनाबलेन समस्तशुभाशुभसंकल्पविकल्परहितत्वाच्छुद्धोपयोगिनो निरास्रवा एव शेषाः शुभोपयोगिनो मिथ्यात्वविषयकषायरूपाशुभास्रवनिरोधेऽपि पुण्यास्रवसहिता इति भावः ॥ ४५ ॥ अथ शुभोपयोगिश्रमणानां लक्षणमाख्याति—**सा सुहजुत्ता भवे चरिया** सा चर्या शुभयुक्ता भवेत् । कस्य । तपोधनस्य । कथंभूतस्य । समस्तरागादिविकल्परहितपरमसमाधौ स्थातुमशक्यस्य । यदि किम् । **विज्जदि जदि** विद्यते यदि चेत् । क । **सामण्णे** श्रामण्ये चारित्रे । किं विद्यते । **अरहंतादिसु भत्ती** अनन्तगुणयुक्तेष्वर्हत्सिद्धेषु गुणानुरागयुक्ता भक्तिः **वच्छलदा** वत्सलस्य भावो वत्सलता वात्सल्यं विनयोऽनुकूलवृत्तिः । केषु विषयेषु । **पवयणाभिजुत्तेसु** प्रवचनाभियुक्तेषु । प्रवचनशब्देनात्रागमो भण्यते संघो वा तेन प्रवचनेनाभियुक्ताः प्रव-

पदार्थमें दोनोंका समवाय है, इस कारण शुभोपयोगीके भी धर्मका अस्तित्व है. इसी लिये शुभोपयोगी भी परमागममें मुनि कहे हैं, परंतु इतना विशेष है, कि शुभोपयोगी शुद्धोपयोगीकी दशामें समानता नहीं है, क्योंकि शुद्धोपयोगी समस्त कषायोंसे रहित है, निरास्रव है, और शुभोपयोगी कषाय अंशसे रहित नहीं है, इसके कषायका अंश जीवित है, सास्रव है । इसलिये शुद्धोपयोगीके बराबर नहीं है, जघन्य है ॥ ४५ ॥ आगे शुभोपयोगी मुनिका लक्षण कहते है—[**यदि**] जो [**श्रामण्ये**] मुनि-अवस्थामें [**अर्हदादिषु भक्तिः**] अरहंतादि पंचपरमेष्ठियोंमें अनुराग और [**प्रवचनाभियुक्तेषु**] परमागमकर युक्त शुद्धात्म स्वरूपके उपदेशक महामुनियोंमें [**वत्सलता**] प्रीति अर्थात् जिस तरह गौ अपने बछड़ेमें अनुरागिणी होती है, उसी तरह [**विद्यते**] प्रवर्ते, तो [**सा**] वह [**शुभयुक्ता**] शुभ रागकर संयुक्त [**चर्या**] आचारकी प्रवृत्ति [**भवेत्**] होती है । **भावार्थ**—जो मुनि समस्त परिग्रहके त्याग करनेसे मुनि-अवस्थाको भी प्राप्त है, परंतु कषाय अंशके उदयवशसे आप शुद्धात्मामें स्थिर होनेको अशक्त है, तो वह मुनि, जो शुद्धात्मस्वरूपके उपदेष्टा हैं, उनमें भक्तिसे प्रीतिकरके प्रवर्तता है,

पादकेषु प्रवचनाभियुक्तेषु च भक्त्या वत्सलतया च प्रचलितस्य तावन्मात्ररागप्रवर्तितपरद्रव्यप्रवृत्तिसंवलितशुद्धात्मवृत्तेः शुभोपयोगि चारित्रं स्यात् । अतः शुभोपयोगिश्रमणानां शुद्धात्मानुरागयोगि चारित्रत्वं लक्षणम् ॥ ४६ ॥

अथ शुभोपयोगिश्रमणानां प्रवृत्तिमुपदर्शयति—

वंदणणमंसणेहिं अब्भुट्ठाणाणुगमणपडिवत्ती ।
समणेसु समावणओ ण णिंदिदा रायचरियम्हि ॥ ४७ ॥

वन्दननमस्करणाभ्यामभ्युत्थानानुगमनप्रतिपत्तिः ।
श्रमणेषु श्रमापनयो न निन्दिता रागचर्यायाम् ॥ ४७ ॥

शुभोपयोगिनां हि शुद्धात्मानुरागयोगिचरित्रतया समधिगतशुद्धात्मवृत्तिषु श्रमणेषु वन्दननमस्करणाभ्युत्थानानुगमनप्रतिपत्तिप्रवृत्तिः शुद्धात्मवृत्तित्राणनिमित्ता श्रमापनयनप्रवृत्तिश्च न दुष्येत् ॥ ४७ ॥

चनाभियुक्ता आचार्योपाध्यायसाधवस्तेष्विति । एतदुक्तं भवति—स्वयं शुद्धोपयोगलक्षणे परमसामयिके स्थातुमसमर्थस्यान्येषु शुद्धोपयोगफलभूतकेवलज्ञानेन परिणतेषु तथैव शुद्धोपयोगाराधकेषु च यासौ भक्तिस्तच्छुभोपयोगिश्रमणानां लक्षणमिति ॥ ४६ ॥ अथ शुभोपयोगिनां शुभप्रवृत्तिं दर्शयति—**ण णिंदिदा** नैव निषिद्धा । क । **रायचरियम्हि** शुभरागचर्यायां सरागचारित्रावस्थायाम् । का न निन्दिता । **वंदणणमंसणेहिं अब्भुट्ठाणाणुगमणपडिवत्ती** वन्दननमस्काराभ्यां सहाभ्युत्थानानुगमनप्रतिपत्तिप्रवृत्तिः । **समणेसु समावणओ** श्रमणेषु श्रमापनयः रत्नत्रयभावनाभिघातकश्रमस्य खेदस्य विनाश इति । अनेन किमुक्तं भवति—शुद्धोपयोगसाधके शुभोपयोगे स्थितानां तपोधनानां इत्थंभूताः शुभोपयोगप्रवृत्तयो रत्नत्रयाराधकस्वरूपेषु विषये युक्ता एव विहिता एवेति ॥ ४७ ॥ अथ शुभोपयोगिनामेवेत्थंभूताः प्रवृत्तयो भवन्ति न

उस मुनिके इतनी ही रागप्रवृत्तिकर परद्रव्यमें प्रवृत्ति होती है, और वह शुद्धात्मतत्त्वकी स्थिरतासे चलित होता है । ऐसे मुनिके शुभोपयोगरूप चारित्रभाव जानना । ये ही पंचपरमेष्ठियोंमें भक्ति, सेवा, प्रीति, शुभोपयोगी मुनीश्वरका लक्षण प्रगट हैं ॥ ४६ ॥ आगे शुभोपयोगी मुनीश्वरकी प्रवृत्ति दिखलाते हैं—[**रागचर्यायां**] सरागचारित्र अवस्थामें जो शुभोपयोगी मुनि है, उनको [**श्रमणेषु**] शुद्धस्वरूपमें थिर ऐसे महामुनियोंमें [**श्रमापनयः**] अनिष्ट वस्तुके संयोगसे हुआ जो खेद उसका दूर करना, और [**वन्दननमस्काराभ्यां**] गुणानुवादरूप स्तुति और नमस्कार सहित [**अभ्युत्थानानुगमनप्रतिपत्तिः**] आते हुए देखके उठकर खड़ा हो जाना, पीछे पीछे चलना, ऐसी प्रवृत्तिकी सिद्धि, [**न निन्दिता**] निषेधरूप नहीं की गई है । **भावार्थ**—शुभोपयोगी मुनि जो महा मुनीश्वरोंकी स्तुति करें, नमस्कार करें, उनको देखकर उठके खड़े हों और पीछे पीछे चलें, इत्यादि विनयपूर्वक प्रवर्तें, तो योग्य है, निषेध नहीं है, और जो महामुनिके स्थिरताके घातक कभी उपसर्गादिसे खेद हुआ हो, तो उसके दूर करनेको वैयावृत्ति क्रिया भी निषेधरूप नहीं है, शुद्धात्मभावकी थिरताके लिये योग्य है,

अथ शुभोपयोगिनामेवैवंविधाः प्रवृत्तयो भवन्तीति प्रतिपादयति—

दंसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं ।
चरिया हि सरागाणं जिणिंदपूजोवदेसो य ॥ ४८ ॥

दर्शनज्ञानोपदेशः शिष्यग्रहणं च पोषणं तेषाम् ।
चर्या हि सरागाणां जिनेन्द्रपूजोपदेशश्च ॥ ४८ ॥

अनुजिघृक्षापूर्वकदर्शनज्ञानोपदेशप्रवृत्तिः शिष्यसंग्रहणप्रवृत्तिस्तत्पोषणप्रवृत्तिर्जिनेन्द्रपूजोपदेशप्रवृत्तिश्च शुभोपयोगिनामेव भवन्ति न शुद्धोपयोगिनाम् ॥ ४८ ॥

अथ सर्वा एव प्रवृत्तयः शुभोपयोगिनामेव भवन्तीत्यवधारयति—

उवकुणदि जो वि णिच्चं चादुव्वण्णस्स समणसंघस्स ।
कायविराधणरहिदं सो वि सरागप्पधाणो से ॥ ४९ ॥

च शुद्धोपयोगिनामिति प्ररूपयति—**दंसणणाणुवदेसो** दर्शनं मूढत्रयादिरहितं सम्यक्त्वं ज्ञानं परमागमोपदेशः तयोरुपदेशो दर्शनज्ञानोपदेशः **सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं** रत्नत्रयाराधनाशिक्षाशीलानां शिष्याणां ग्रहणं स्वीकारस्तेषामेव पोषणमशनशयनादिचिन्ता **चरिया हि सरागाणं** इत्थंभूता चर्या चारित्रं भवति हि स्फुटम् । केषाम् । सरागाणां धर्मानुरागचारित्रसहितानाम् । न केवलमित्थंभूता **जिणिंदपूजोवदेसो य** यथासंभवं जिनेन्द्रपूजादिधर्मोपदेशश्चेति ननु शुभोपयोगिनामपि क्वापि काले शुद्धोपयोगभावना दृश्यते । शुद्धोपयोगिनामपि क्वापि काले शुभोपयोगभावना दृश्यते । श्रावकाणामपि सामायिकादिकाले शुद्धभावना दृश्यते, तेषां कथं विशेषो भेदो ज्ञायत इति । परिहारमाह —युक्तमुक्तं भवता परं किंतु ये प्रचुरेण शुभोपयोगेन वर्तन्ते यद्यपि क्वापि काले शुद्धोपयोगभावनां कुर्वन्ति तथापि शुभोपयोगिन एव भण्यन्ते । येऽपि शुद्धोपयोगिनस्ते यद्यपि क्वापि काले शुभोपयोगेन वर्तन्ते तथापि शुद्धोपयोगिन एव । कस्मात् । बहुपदस्य प्रधानत्वादाम्रवननिम्बवनवदिति ॥ ४८ ॥ अथ काश्चिदपि याः प्रवृत्तयस्ताः शुभोपयोगिना-

---

खेदके नाश होनेपर मुनिके समाधि होती है, इसलिये योग्य है ॥ ४७ ॥ आगे शुभोपयोगियोंके ही ऐसी प्रवृत्तियाँ होती हैं, यह कहते हैं—[**हि**] निश्चयकर [**सरागाणां**] शुभोपयोगी मुनियोंकी [**चर्या**] यह क्रिया है, जो कि, [**दर्शनज्ञानोपदेशः**] सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानका उपदेश देना, [**शिष्यग्रहणं**] शिष्य-शाखाओंका संग्रह करना, [**च तेषां पोषणं**] और उन शिष्योंका समाधान करना, [**च**] और [**जिनेन्द्रपूजोपदेशः**] भगवान् वीतरागकी पूजाका उपदेश देना, इत्यादि । **भावार्थ—** पूर्व कहीं जो क्रियायें वे शुभोपयोगी मुनिके होती है, शुद्धोपयोगियोंके नहीं होतीं, क्योंकि शुद्धोपयोगी वीतराग हैं, और शुभोपयोगी सराग हैं, इसलिये इनके धर्मानुरागसे ऐसी इच्छा होती है, कि जीव धर्मको ग्रहण करें, तो बहुत अच्छा है, ऐसा जानकर ज्ञान दर्शनका उपदेश देते हैं, शिष्योंको रखते हैं, पोषते हैं, भगवान्की भक्तिका उपदेश करते है, ऐसी शुभोपयोगी मुनिकी क्रियायें हैं ॥ ४८ ॥ आगे समस्त वैयावृत्यादिक क्रियायें शुभोपयोगियोंके भी नहीं होतीं, यह कहते हैं—[**यः अपि**] जो मुनि

उपकरोति योऽपि नित्यं चातुर्वर्णस्य श्रमणसंघस्य ।
कायविराधनरहितं सोऽपि सरागप्रधानः स्यात् ॥ ४९ ॥

प्रतिज्ञातसंयमत्वात् षट्कायविराधनरहिता या काचनापि शुद्धात्मवृत्तित्राणनिमित्ता चातुर्वर्णस्य श्रमणसंघस्योपकारकरणप्रवृत्तिः सा सर्वापि रागप्रधानत्वात् शुभोपयोगिनामेव भवति न कदाचिदपि शुद्धोपयोगिनाम् ॥ ४९ ॥

अथ प्रवृत्तेः संयमविरोधित्वं प्रतिषेधयति—

जदि कुणदि कायखेदं वेज्जावच्चत्थमुज्जदो समणो ।
ण हवदि हवदि अगारी धम्मो सो सावयाणं से ॥ ५० ॥

मेवेति नियमति—**उवकुणदि जो वि णिच्चं चादुव्वण्णस्स समणसंघस्स** उपकरोति योऽपि नित्यं कस्य चातुर्वर्णस्य श्रमणसंघस्य । अत्र श्रमणशब्देन श्रमणशब्दवाच्या ऋषिमुनियत्यनगारा ग्राह्याः । "देशप्रत्यक्षवित्केवलभृदिहमुनिः स्यादृषिः प्रसृतर्द्धिरारूढः श्रेणियुग्मेऽजनि यतिरनगारोऽपरः साधुवर्गः । राजा ब्रह्मा च देवः परम इति ऋषिर्विक्रियाक्षीणशक्तिप्राप्तो बुद्ध्यौषधीशो वियदयनपटुर्विश्ववेदी क्रमेण ॥" ऋषय ऋद्धिं प्राप्तास्ते चतुर्विधा राजब्रह्मदेवपरमऋषिभेदात् । तत्र राजर्षयो विक्रियाक्षीणर्द्धिप्राप्ता भवन्ति । ब्रह्मर्षयो बुद्ध्यौषधर्द्धियुक्ता भवन्ति । देवर्षयो गगनगमनर्द्धिसंपन्ना भवन्ति । परमर्षयः केवलिनः केवलज्ञानिनो भवन्ति मुनयः अवधिमनःपर्ययकेवलिनश्च । यतय उपशमकक्षपकश्रेण्यारूढाः । अनगाराः सामान्यसाधवः । कस्मात् । सर्वेषां सुखदुःखादिविषये समतापरिणामोऽस्तीति । अथवा श्रमणधर्मानुकूलश्रावकादिचातुर्वर्णसंघः । कथं यथा भवति । **कायविराधणरहिदं** स्वस्वभावनास्वरूपं स्वकीयशुद्धचैतन्यलक्षणं निश्चयप्राणं रक्षन् परकीयषट्कायविराधनारहितं यथा भवति **सो वि सरागप्पधाणो से** सोऽपीत्थंभूतस्तपोधनो धर्मानुरागचारित्रसहितेषु मध्ये प्रधानः श्रेष्ठः स्यादित्यर्थः ॥ ४९ ॥ अथ वैयावृत्त्यकालेऽपि स्वकीयसंयमविराधना कर्तव्येत्युपदिशति—**जदि कुणदि कायखेदं वेज्जावच्चत्थमुज्जदो** यदि चेत् करोति

निश्चयसे [**नित्यं**] सदाकाल [**चातुर्वर्णस्य**] चार प्रकारके [**श्रमणसंघस्य**] मुनीश्वरोंके संघका [**कायविराधनरहितं**] षट्काय जीवोंकी विराधना रहित [**उपकरोति**] यथायोग्य वैयावृत्यादिक कर उपकार करता है, [**सोऽपि**] वह भी चतुर्विध संघके उपकारी मुनिके [**सरागप्रधानः**] सरागधर्म है, प्रधान जिसके, ऐसा शुभोपयोगी [**स्यात्**] होता है । **भावार्थ**—जो चार तरहके संघका उपकारी होता है, वह एक शुद्धात्माके आचरणकी रक्षाके लिये होता है । चतुर्विध संघ शुद्धात्माका आचरण करता है, इससे उसकी रक्षाके लिये वह ऐसा उपकार करता है, जिसमें कि षट्कायकी विराधना (हिंसा) न होवे, क्योंकि यह मुनि भी संयमी है, इसलिये अपना संयम भी रखता है, उपकार करता है, इस कारण यह संयमी शुभोपयोगी है, शुद्धोपयोगियोंके ऐसी क्रिया नहीं होती ॥ ४९ ॥ आगे ऐसी वैयावृत्यादिक क्रिया नहीं करे, जो कि अपने संयमकी विरोधिनी होवे, यह कहते हैं—[**वैयावृत्त्यर्थं उद्यतः**] अन्य मुनीश्वरोंकी सेवाके लिये उद्यमवान् हुआ जो शुभोपयोगी मुनि वह [**यदि**]

यदि करोति कायखेदं वैयावृत्त्यर्थमुद्यतः श्रमणः ।
न भवति भवत्यगारी धर्मः स श्रावकाणां स्यात् ॥ ५० ॥

यो हि परेषां शुद्धात्मवृत्तित्राणाभिप्रायेण वैयावृत्त्यप्रवृत्त्या स्वस्य संयमं विराधयति स गृहस्थधर्मानुप्रवेशात् श्रामण्यात् प्रच्यवते । अतो या काचन प्रवृत्तिः सा सर्वथा संयमाविरोधेनैव विधातव्या । प्रवृत्तावपि संयमस्यैव साध्यत्वात् ॥ ५० ॥

अथ प्रवृत्तेर्विषयविभागं दर्शयति—

जोण्हाणं णिरवेक्खं सागारणगारचरियजुत्ताणं ।
अणुकंपयोवयारं कुव्वदु लेवो जदि वि अप्पो ॥ ५१ ॥
जैनानां निरपेक्षं साकारानाकारचर्यायुक्तानाम् ।
अनुकम्पयोपकारं करोतु लेपो यद्यप्यल्पः ॥ ५१ ॥

या किलानुकम्पापूर्विका परोपकारलक्षणा प्रवृत्तिः सा खल्वनेकान्तमैत्रीपवित्रितचित्तेषु

कायखेदं षट्कायविराधनाम् । कथंभूतः सन् । वैयावृत्त्यर्थमुद्यतः **समणो ण हवदि** तदा श्रमणस्तपोधनो न भवति । तर्हि किं भवति । **हवदि अगारी** अगारी गृहस्थो भवति । कस्मात् । **धम्मो सो सावयाणं से** षट्कायविराधनां कृत्वा योऽसौ धर्मः स श्रावकाणां स्यात् न च तपोधनानामिति । इदमत्र तात्पर्यम्—योऽसौ स्वशरीरपोषणार्थं शिष्यादिमोहेन वा सावद्यं नेच्छति तस्येदं व्याख्यानं शोभते, यदि पुनरन्यत्र सावद्यमिच्छति वैयावृत्त्यादिस्वकीयावस्थायोग्ये धर्मकार्ये नेच्छति तदा तस्य सम्यक्त्वमेव नास्तीति ॥ ५० ॥ अथ यद्यप्यल्पलेपो भवति परोपकारे तथापि शुभोपयोगिभिर्धर्मोपकारः कर्तव्य इत्युपदिशति—**कुव्वदु** करोतु । स कः कर्ता । शुभोपयोगी पुरुषः । कं करोतु । **अणुकंपयोवयारं** अनुकम्पा-

---

जो [**कायखेदं**] षट्कायकी विराधनारूप हिंसाको [**करोति**] करता है, तो वह [**श्रमणः**] अपने संयमका धारक मुनि [**न भवति**] नहीं होता, किन्तु [**अगारी भवति**] गृहस्थ होता है, क्योंकि [**सः**] वह जीवकी विराधनायुक्त वैयावृत्यादि क्रिया [**श्रावकाणां**] गृहवासी श्रावकोंका [**धर्मः**] धर्म [**स्यात्**] है। **भावार्थ**—जो कोई सराग चारित्री मुनि अन्य मुनीश्वरोंकी शुद्धात्माचरणकी रक्षाके लिये वैयावृत्य क्रियाकर अपनेमें विराधना करता है, वह गृहस्थधर्मको करता है, मुनिपदसे गिरता है, क्योंकि हिंसा सहित गृहस्थका धर्म है, इसलिये शुद्धोपयोगी मुनिके संयमका घात न होवे, इस तरह सेवादि क्रियामें प्रवर्तता है, क्योंकि अन्यकी सेवामें जो प्रवर्तता है, वह भी संयमकी ही वृद्धिके लिये। इस कारण संयमका घात करना योग्य नहीं है ॥ ५० ॥ आगे परोपकार प्रवृत्ति किसकी करे, यह भेद दिखलाते हैं—[**साकारानाकारचर्यायुक्तानां**] श्रावक मुनिकी आचार क्रिया सहित जो [**जैनानां**] जिनमार्गानुसारी श्रावक और मुनि हैं, उनका [**निरपेक्षं**] फलकी अभिलाषा रहित होके [**अनुकम्पया**] दयाभावसे [**उपकारं**] उपकार अर्थात् यथायोग्य सेवादिक क्रिया [**करोतु**] शुभोपयोगी करो, कोई दोष नहीं। [**यद्यपि**] लेकिन इस शुभाचारसे [**अल्पः लेपः**] थोड़ासा शुभकर्म

शुद्धेषु जैनेषु शुद्धात्मज्ञानदर्शनप्रवृत्तवृत्तितया साकारानाकारचर्यायुक्तेषु शुद्धात्मोपलम्भेतरसकलनिरपेक्षतयैवाल्पलेपाप्यप्रतिषिद्धा न पुनरल्पलेपेति सर्वत्र सर्वथैवाप्रतिषिद्धा, तत्र तथाप्रवृत्त्याशुद्धात्मवृत्तित्राणस्य परात्मनोरनुपपत्तेरिति ॥ ५१ ॥

अथ प्रवृत्तेः कालविभागं दर्शयति—

रोगेण वा छुधाए तण्हाए वा समेण वा रूढं ।
दिट्ठा समणं साहू पडिवज्जदु आदसत्तीए ॥ ५२ ॥

रोगेण वा क्षुधया तृष्णया वा श्रमेण वा रूढम् ।
दृष्ट्वा श्रमणं साधुः प्रतिपद्यतामात्मशक्त्या ॥ ५२ ॥

यदा हि समधिगतशुद्धात्मवृत्तेः श्रमणस्य तत्प्रच्यावनहेतोः कस्याप्युपसर्गस्योपनिपातः

सहितोपकारं दयासहितं धर्मवात्सल्यम् । यदि किम् । **लेवो जदि वि अप्पो** "सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ" इति दृष्टान्तेन यद्यप्यल्पलेपः स्तोकसावद्यं भवति । केषां करोतु । **जेण्हाणं** (?) निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गपरिणतजैनानाम् । कथम् । **णिरवेक्खं** निरपेक्षं शुद्धात्मभावनाविनाशकख्यातिपूजालाभवाञ्छारहितं यथा भवति । कथंभूतानां जैनानाम् । **सागारणगारचरियजुत्ताणं** सागारानागारचर्यायुक्तानां श्रावकतपोधनाचरणसहितानामित्यर्थः ॥ ५१ ॥ कस्मिन्प्रस्तावे वैयावृत्यं कर्तव्यमित्युपदिशति—**पडिवज्जदु** प्रतिपद्यतां स्वीकरोतु । कया । **आदसत्तीए** स्वशक्त्या । स कः कर्ता । **साहू** रत्नत्रयभावनया स्वात्मानं साधयतीति साधुः । कम् । **समणं** जीवितमरणादिसमपरिणतत्वाच्छ्रमणस्तं श्रमणम् । **दिट्ठा** दृष्ट्वा । कथंभूतम् । **रूढं रूढं** व्याप्तं पीडितं कदर्थितम् । केन **रोगेण वा** अनाकुलत्वलक्षणपरमात्मनो

बँधता है, परंतु तो भी दोष नहीं है । **भावार्थ—**जो यह दयाभावकर परोपकाररूप प्रवृत्ति कही है, वह अनेकान्तसे पवित्र है चित्त जिनका ऐसे उत्तम जैनी यती श्रावकोंमें करनी योग्य है, शुद्धात्मकी प्राप्तिसे अन्य समस्त शुभ फलकी वाञ्छासे रहित सहज ही जो अल्पकर्म लेप भी हो, तो भी अच्छा है, और जो शुद्धात्माकी प्राप्तिसे रहित मिथ्यादृष्टि है, उनकी सेवादिक निषेध की गई है । जो उनकी सेवादिकसे थोड़ा भी कर्मबंध है, तो भी निषेध है, क्योंकि उन मिथ्यादृष्टियोंकी सेवासे न तो अपनेको शुद्धात्मतत्त्वकी प्राप्ति है, और न उनके शुद्धात्म तत्त्वकी रक्षा है, दोनों जगह धर्मकी वृद्धि नहीं है, इससे उसका निषेध है ॥ ५१ ॥ आगे किस समय धर्मात्माओंके वैयावृत्त्यादिक क्रिया होती है, यह कहते हैं—[**साधुः**] शुभोपयोगी मुनि [**रोगेण**] रोगकर [**वा**] अथवा [**क्षुधया**] भूखकर [**वा**] अथवा [**तृष्णया**] प्यासकर [**वा**] अथवा [**श्रमेण**] परीषहादिकके खेदकर [**रूढं**] पीडित हुए [**श्रमणं**] महामुनीश्वरको [**दृष्ट्वा**] देखकर [**आत्मशक्त्या**] अपनी शक्तिके अनुसार [**प्रतिपद्यतां**] वैयावृत्त्यादिक क्रिया करो । यही सेवादिकका समय जानना । **भावार्थ—**जो मुनि अच्छी तरह शुद्धस्वरूपमें लीन हुए हैं, उनके किसी एक संयोगसे स्वरूपसे चलायमान होनेका कारण कोईएक उपसर्ग आगया हो तो वह शुभोपयोगी मुनिका वैयावृत्त्यादिकका काल है । उस समय ऐसा

स्यात् स शुभोपयोगिनः स्वशक्त्या प्रतिचिकीर्षा प्रवृत्तिकालः। इतरस्तु स्वयं शुद्धात्मवृत्तेः समधिगमनाय केवलं निवृत्तिकाल एव ॥ ५२ ॥

अथ लोकसंभाषणप्रवृत्तेः सनिमित्तविभागं दर्शयति—

वेज्जावच्चणिमित्तं गिलाणगुरुबालवुड्ढसमणाणं।
लोगिगजणसंभासा ण णिंदिदा वा सुहोवजुदा ॥ ५३ ॥

वैयावृत्त्यनिमित्तं ग्लानगुरुबालवृद्धश्रमणानाम्।
लौकिकजनसंभाषा न निन्दिता वा शुभोपयुता ॥ ५३ ॥

समधिगतशुद्धात्मवृत्तीनां ग्लानगुरुबालवृद्धश्रमणानां वैयावृत्त्यनिमित्तमेव शुद्धात्मवृत्तिशून्यजनसंभाषणं प्रसिद्धं न पुनरन्यनिमित्तमपि ॥ ५३ ॥

अथैवमुक्तस्य शुभोपयोगस्य गौणमुख्यविभागं दर्शयति—

विलक्षणेनाकुलत्वोत्पादकेन रोगेण व्याधिविशेषेण वा **छुधाए** क्षुधया **तण्हाए वा** तृषया वा **समेण वा** मार्गोपवासादिश्रमेण वा। अत्रेदं तात्पर्यम्—स्वस्वभावनाविघातकरोगादिप्रस्तावे वैयावृत्त्यं करोति शेषकाले स्वकीयानुष्ठानं करोतीति ॥ ५२ ॥ अथ शुभोपयोगिनां तपोधनवैयावृत्त्यनिमित्तं लौकिकसंभाषणविषये निषेधो नास्तीत्युपदिशति—**ण णिंदिदा** शुभोपयोगितपोधनानां न निन्दिता न निषिद्धा। का कर्मतापन्ना। **लोगिगजणसंभासा** लौकिकजनैः सह संभाषा वचनप्रवृत्तिः **सुहोवजुदा वा** अथवा सापि शुभोपयोगयुक्ता भण्यते। किमर्थं न निषिद्धा। **वेज्जावच्चणिमित्तं** वैयावृत्त्यनिमित्तं। केषां वैयावृत्त्यम्। **गिलाणगुरुबालवुड्ढसमणाणं** ग्लानगुरुबालवृद्धश्रमणानाम्। अत्र गुरुशब्देन स्थूलकायो भण्यते अथवा पूज्यो वा गुरुरिति। तथाहि—यदा कोऽपि शुभोपयोगयुक्त आचार्यः सरागचारित्रलक्षणशुभोपयोगिनां वीतरागचारित्रलक्षणशुद्धोपयोगिनां वैयावृत्त्यं करोति तदाकाले तद्वैयावृत्त्यनिमित्तं लौकिकजनैः सह संभाषणं करोति न शेषकाल इति भावार्थः ॥ ५३ ॥ एवं गाथापञ्चकेन लौकिकव्याख्यानसंबन्धिप्रथमस्थलं गतम्। अथायं

कार्य करे, जो उनका उपसर्ग दूर होके स्वरूपमें स्थिरता हो। इससे अन्य जो शुभोपयोगियोंका काल है, वह अपने शुद्धात्मस्वरूपके आचरणके निमित्त है, सेवादिकके निमित्त नहीं। वे मुनि उस समय ध्यानादिकमें प्रवर्तते हैं ॥ ५२ ॥ आगे शुभोपयोगियोंके वैयावृत्यादिकके लिये अज्ञानी लोगोंसे भी बोलना पड़ता है, ऐसा भेद दिखलाते है—[**ग्लानगुरुबालवृद्धश्रमणानां**] रोग पीडित, पूज्य आचार्य, वर्षोंमें छोटे, और वर्षोंमें बड़े, ऐसे चार तरहके मुनियोंकी [**वैयावृत्त्यनिमित्तं**] सेवाके लिये [**शुभोपयुता**] शुभ भावोंकर सहित [**लौकिकजनसंभाषा वा**] अज्ञानी चारित्रभ्रष्ट जीवोंसे वचनकी प्रवृत्ति करनी (बोलना) भी [**न निन्दिता**] निषेधित नहीं की गई है। **भावार्थ**—जो धर्मात्मा मुनि हैं, वे अज्ञानी लोगोंसे वचनालाप नहीं करते हैं, परंतु किसी समय उन लोगोंसे बोलनेसे जो महामुनीश्वरोंका उपसर्ग दूर हो जावेगा, ऐसा मालूम पड़ जाय, तो उन मुनियोंकी वैयावृत्यके लिये उन लोगोंसे वचनालाप करनेका निषेध नहीं है, अन्य कार्यके लिये निषेध है ॥ ५३ ॥

एसा पसत्थभूदा समणाणं वा पुणो घरत्थाणं ।
चरिया परेत्ति भणिदा ताएव परं लहदि सोक्खं ॥ ५४ ॥
एषा प्रशस्तभूता श्रमणानां वा पुनर्गृहस्थानाम् ।
चर्या परेति भणिता तयैव परं लभते सौख्यम् ॥ ५४ ॥

एवमेष शुद्धात्मानुरागयोगिप्रशस्तचर्यारूप उपवर्णितः शुभोपयोगः तदयं शुद्धात्मप्रकाशिकां समस्तविरतिमुपेयुषां कषायकणसद्भावात्प्रवर्तमानः शुद्धात्मवृत्तिविरुद्धरागसंगतत्वाद्गौणः श्रमणानां, गृहिणां तु समस्तविरतेरभावेन शुद्धात्मप्रकाशनस्याभावात्कषायसद्भावात्प्रवर्तमानोऽपि स्फटिकसंपर्केणार्कतेजस इवैधसां रागसंयोगेनाशुद्धात्मनोऽनुभवात्क्रमतः परमनिर्वाणसौख्यकारणत्वाच्च मुख्यः ॥ ५४ ॥

वैयावृत्यादिलक्षणशुभोपयोगस्तपोधनैर्गौणवृत्त्या श्रावकैस्तु मुख्यवृत्त्या कर्तव्य इत्याख्याति—**भणिदा** भणिता कथिता । का कर्मतापन्ना । **चरिया** चारित्रमनुष्ठानम् । किंविशिष्टा । **एसा** एषा प्रत्यक्षीभूता । पुनश्च किंरूपा । **पसत्थभूदा** प्रशस्तभूता धर्मानुरागरूपा । केषां संबन्धिनी । **समणाणं वा** श्रमणानां वा **पुणो घरत्थाणं** गृहस्थानां वा पुनरियमेव चर्या **परेत्ति** परा सर्वोत्कृष्टेति **ताएव परं लहदि सोक्खं** तयैव शुभोपयोगचर्यया परंपरया मोक्षसुखं लभते गृहस्थ इति । तथाहि—तपोधनाः शेषतपोधनानां वैयावृत्यं कुर्वाणाः सन्तः कायेन किमपि निरवद्यवैयावृत्यं कुर्वन्ति । वचनेन धर्मोपदेशं च । शेषमौषधान्नपानादिकं गृहस्थानामधीनं तेन कारणेन वैयावृत्यरूपो धर्मो गृहस्थानां मुख्यः तपोधनानां गौणः । द्वितीयं च कारणं निर्विकारचिच्चमत्कारभावनाप्रतिपक्षभूतेन विषयकषायनिमित्तोत्पन्नेनार्तरौद्रध्यानद्वयेन परिणतानां गृहस्थानामात्माश्रितनिश्चयधर्मस्यावकाशो नास्ति वैयावृत्यादिधर्मेण दुर्ध्यानवञ्चना भवति तपोधनसंसर्गेण निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गोपदेशलाभो भवति । ततश्च परंपरया निर्वाणं लभत इत्यभिप्रायः ॥ ५४ ॥ एवं शुभो-

---

आगे शुभोपयोग किसके गौण है, और किसके मुख्य है, यह दिखलाते है—[**एषा**] यह [**प्रशस्तभूता**] शुभरागरूप [**चर्या**] आचारप्रवृत्ति [**श्रमणानां**] मुनीश्वरोंके होती है, [**वा पुनः**] और [**गृहस्थानां**] श्रावकोंके [**परा**] उत्कृष्ट होती है, [**इति भणिता**] ऐसी परमागममें कही गई है, [**तया एव**] उसी शुभरागरूप आचार प्रवृत्तिकर श्रावक [**परं सौख्यं**] उत्कृष्ट मोक्ष सुखको [**लभते**] परम्पराकर पाता है । **भावार्थ**—शुद्धात्मामें अनुरागरूप जो शुभाचार है, वह शुद्धात्माकी प्रकाशनेवाली महाविरतिको प्राप्त मुनीश्वरोंके कषाय अंशके उदयसे गौणरूप प्रवर्तता है, क्योंकि यह शुभाचार शुद्धात्माके आचरणके विरोधी रागके सम्बंधसे होता है, और श्रावकके यह शुभाचार मुख्य है, क्योंकि गृहस्थके महाविरतिका तो अभाव है, इसलिये शुद्धात्माचारणकी थिरताके प्रकाशका अभाव है, इसी कारण कषायोंके उदयसे मुख्य है । यह शुभोपयोग रागके संयोगसे गृहस्थके शुद्धात्माके अनुभवसे परम्परा मोक्षका कारण होता है । जैसे स्फटिकमणिका सम्बंधसे ईंधनमें सूर्यसे आग परम्पराकर प्रगट होती है, उसी प्रकार गृहस्थके यह शुभोपयोग परम्परा मोक्षका कारण है ॥ ५४ ॥ आगे इस शुभोप-

अथ शुभोपयोगस्य कारणवैपरीत्यात् फलवैपरीत्यं साधयति—

रागो पसत्थभूदो वत्थुविसेसेण फलदि विवरीदं ।
णाणाभूमिगदाणिह बीजाणिव सस्सकालम्हि ॥ ५५ ॥

रागः प्रशस्तभूतो वस्तुविशेषेण फलति विपरीतम् ।
नानाभूमिगतानीह बीजानीव सस्यकाले ॥ ५५ ॥

यथैकेषामपि बीजानां भूमिवैपरीत्यान्निष्पत्तिवैपरीत्यं तथैकस्यापि प्रशस्तरागलक्षणस्य शुभोपयोगस्य पात्रवैपरीत्यात्फलवैपरीत्यं कारणविशेषात्कार्यविशेषस्यावश्यं भावित्वात् ॥५५॥

अथ कारणवैपरीत्यफलवैपरीत्ये दर्शयति—

छदुमत्थविहिदवत्थुसु वदणियमज्झयणझाणदाणरदो ।
ण लहदि अपुणब्भावं भावं सादप्पगं लहदि ॥ ५६ ॥

पयोगितपोधनानां शुभानुष्ठानकथनमुख्यतया गाथाष्टकेन द्वितीयस्थलं गतम् । इत ऊर्ध्वं गाथाषट्कपर्यन्तं पात्रापात्रपरीक्षामुख्यत्वेन व्याख्यानं करोति । अथ शुभोपयोगस्य पात्रभूतवस्तुविशेषात्फलविशेषं दर्शयति— **फलदि** फलति फलं ददाति । स कः । **रागो** रागः । कथंभूतः । **पसत्थभूदो** प्रशस्तभूतो दानपूजादिरूपः । किं फलति । **विवरीदं** विपरीतमन्यादृशं भिन्नभिन्नफलम् । केन कारणभूतेन । **वत्थुविसेसेण** जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदभिन्नपात्रभूतवस्तुविशेषेण । अत्रार्थे दृष्टान्तमाह —**णाणाभूमिगदाणिह बीजाणिव सस्सकालम्हि** नानाभूमिगतानीह बीजानि इव सस्यकाले धान्यनिष्पत्तिकाले इति । अयमत्रार्थः-यथा जघन्यमध्यमोत्कृष्टभूमिवशेन तान्येव बीजानि भिन्नभिन्नफलं प्रयच्छन्ति तथा स एव बीजस्थानीयशुभोपयोगो भूमिस्थानीयपात्रभूतवस्तुविशेषेण भिन्नभिन्नफलं ददाति । तेन किं सिद्धम् । यदा पूर्वसूत्रकथितन्यायेन सम्यक्त्वपूर्वकः शुभोपयोगो भवति तदा मुख्यवृत्त्या पुण्यबन्धो भवति परंपरया निर्वाणं च । नो चेत्पुण्यबन्धमात्रमेव ॥ ५५ ॥ अथ कारणवैपरीत्यात्फलमपि विपरीतं भवति तमेवार्थं द्रढयति —**ण लहदि** न लभते । स कः कर्ता । **वदणियमज्झयणझाणदाणरदो** व्रतनियमाध्ययनध्यानदानरतः । केषु विषयेषु ।

योगके कारणकी विपरीततासे फलकी विपरीतता सिद्ध होती है—[**प्रशस्तभूतः**] शुभरूप [**रागः**] रागभाव अर्थात् शुभोपयोग [**वस्तुविशेषेण**] पुरुषके भेदकर [**विपरीतं**] विपरीत कार्यको [**फलति**] फलता है, जैसे [**सस्यकाले**] खेतीके समयमें [**नानाभूमिगतानि**] नानाप्रकारकी खोटी भूमिमें डाले हुए [**हि**] निश्चयसे [**बीजानि इव**] बीज धान्य विपरीत फलको करते हैं । **भावार्थ**—कोई कोई भूमियाँ ऐसीं खराब हैं, कि जिनमें उपजनेके लिये बोया गया अन्न खराब होजाता है, उसी तरह यह शुभोपयोग पात्रके भेदसे विपरीत फलको भी देता है, जिस तरहका पुरुष खराब और अच्छा होता है, वहाँ वैसे फलको उत्पन्न करता है, वह कारणके भेदसे कार्यमें भेद अवश्य होजाता है ॥ ५५ ॥ आगे कारणकी विपरीततासे फलकी विपरीतता दिखलाते हैं—[**छद्मस्थविहितवस्तुषु**] अज्ञानी जीवोंकर अपनी बुद्धिसे कल्पित देव गुरु धर्मादिक पदार्थोंमें [**व्रतनियमाध्ययन-**

छद्मस्थविहितवस्तुषु व्रतनियमाध्ययनध्यानदानरतः ।
न लभते अपुनर्भावं भावं सातात्मकं लभते ॥ ५६ ॥

शुभोपयोगस्य सर्वज्ञव्यवस्थापितवस्तुषु प्रणिहितस्य पुण्योपचयपूर्वकोऽपुनर्भावोपलम्भः किल फलं, तत्तु कारणवैपरीत्याद्विपर्यय एव । तत्र छद्मस्थव्यवस्थापितवस्तूनि कारणवैपरीत्यं तेषु व्रतनियमाध्ययनध्यानदानरतत्वप्रणिहितस्य शुभोपयोगस्यापुनर्भावशून्यकेवलपुण्याप-सदप्राप्तिः फलवैपरीत्यं तत्सुदेवमनुजत्वम् ॥ ५६ ॥

अथ कारणवैपरीत्यफलवैपरीत्ये एव व्याख्याति—

अविदिदपरमत्थेसु य विसयकसायाधिगेसु पुरिसेसु ।
जुट्ठं कदं व दत्तं फलदि कुदेवेसु मणुवेसु ॥ ५७ ॥
अविदितपरमार्थेषु च विषयकषायाधिकेषु पुरुषेषु ।
जुष्टं कृतं वा दत्तं फलति कुदेवेषु मनुजेषु ॥ ५७ ॥

यानि व्रतादीनि । **छदुमत्थविहिदवत्थुसु** छद्मस्थविहितवस्तुषु अल्पज्ञानिपुरुषव्यवस्थापितपात्रभूतवस्तुषु । इत्थंभूतः पुरुषः कं न लभते । **अपुणब्भावं** अपुनर्भवशब्दवाच्यं मोक्षम् । तर्हि किं लभते । **भावं सादप्पगं लहदि** भावं सातात्मकं लभते । भावशब्देन सुदेवमनुष्यत्वपर्यायो ग्राह्यः । स च कथंभूतः सातात्मकः सद्वेद्योदयरूप इति । तथाहि—ये केचन निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गं न जानन्ति पुण्यमेव मुक्तिकारणं भणन्ति ते छद्मस्थशब्देन गृह्यन्ते न च गणधरदेवादयः । तैः छद्मस्थैर-ज्ञानिभिः शुद्धात्मोपदेशशून्यैर्ये दीक्षितास्तानि छद्मस्थविहितवस्तूनि भण्यन्ते । तत्पात्रसंसर्गेण यद्व्रतनिय-माध्ययनदानादिकं करोति तदपि शुद्धात्मभावनानुकूलं न भवति ततः कारणान्मोक्षं न लभते । सुदेव-मनुष्यत्वं लभत इत्यर्थः ॥ ५६ ॥ अथ सम्यक्त्वव्रतरहितपात्रेषु भक्तानां कुदेवमनुजत्वं भवतीति प्रतिपाद-यति—**फलदि** फलति । केषु । **कुदेवेसु मणुवेसु** कुत्सितदेवेषु मनुजेषु । किं कर्तृ । **जुट्ठं** जुष्टं सेवा

ध्यानदानरतः] जो पुरुष व्रत, नियम, पठन, ध्यान, दानादि क्रियाओंमें लीन है, वह पुरुष [**अपुन-र्भावं**] मोक्षको [**न**] नहीं [**लभते**] पाता, किन्तु [**सातात्मकं भावं**] पुण्यरूप उत्तम देव मनुष्यपदवीको [**लभते**] पाता है । **भावार्थ—**सर्वज्ञ वीतरागकर स्थापित देव, गुरु, धर्मादिकमें जो शुभोपयोगरूप भाव निश्चल होते है, उनका फल साक्षात् पुण्य है, परम्परा मोक्ष है, और इस ही शुभो-पयोगके कारणकी विपरीततासे विपरीत होता है, और विपरीत फलको करता है, यही दिखलाते हैं । जिन अज्ञानी जीवोंने देव, गुरु, धर्मादिक वस्तु स्थापित कीं हैं, वे कारण विपरीत है, उनमें व्रत, नियम, पठन, पाठन, ध्यान, दानादिककर अति प्रीतिसे लगनेरूप जो शुभोपयोग है, उससे मोक्षकी प्राप्ति नहीं है, कणके विना अकेले पयाल (भूसे) की तरह पुण्यरूप फल होता है, वह फल उत्तम देवता उत्तम मनुष्यगतिरूप जानना ॥ ५६ ॥ आगे कारणकी विपरीततासे फलकी विपरीतताको और भी दिखलाते हैं—[**अविदितपरमार्थेषु**] नहीं जाना है, शुद्धात्म पदार्थ जिन्होंने [**च**] और [**विषयकषाया-**

यानि हि छद्मस्थव्यवस्थापितवस्तूनि कारणवैपरीत्यं ये खलु शुद्धात्मपरिज्ञानशून्यतया-नवाप्तशुद्धात्मवृत्तितया चाविदितपरमार्था विषयकषायाधिकाः पुरुषाः तेषु शुभोपयोगात्मकानां जुष्टोपकृतदत्तानां या केवलपुण्यापसदप्राप्तिः फलवैपरीत्यं तत्कुदेवमनुजत्वम् ॥ ५७ ॥

अथ कारणवैपरीत्यात् फलमविपरीतं न सिध्यतीति श्रद्धापयति—

जदि ते विसयकसाया पाव त्ति परूविदा व सत्थेसु ।
किह ते तप्पडिबद्धा पुरिसा णित्थारगा होंति ॥ ५८ ॥

यदि ते विषयकषायाः पापमिति प्ररूपिता वा शास्त्रेषु ।
कथं ते तत्प्रतिबद्धाः पुरुषा निस्तारका भवन्ति ॥ ५८ ॥

विषयकषायास्तावत्पापमेव तद्वन्तः पुरुषा अपि पापमेव तद्रक्ता अपि पापानुरक्तत्वात् पापमेव भवन्ति । ततो विषयकषायवन्तः स्वानुरक्तानां पुण्यानुयायिनः [पुण्यायापि न]

कृता **कदं व** कृतं वा किमपि वैयावृत्त्यादिकम् । **दत्तं** दत्तं किमप्याहारादिकम् । केषु । **पुरिसेसु** पुरुषेषु पात्रेषु । किंविशिष्टेषु । **अविदिदपरमत्थेसु य** अविदितपरमार्थेषु च परमात्मतत्त्वश्रद्धानज्ञानशून्येषु । पुनरपि किंरूपेषु । **विसयकसायाधिगेसु** विषयकषायाधिकेषु विषयकषायाधीनत्वेन निर्विषयशुद्धात्मस्वरूपभावना-रहितेषु इत्यर्थः ॥ ५७ ॥ अथ तमेवार्थं प्रकारान्तरेण द्रढयति —**जदि ते विसयकसाया पाव त्ति परूविदा व सत्थेसु** यदि च ते विषयकषायाः पापमिति प्ररूपिताः शास्त्रेषु **किह ते तप्पडिबद्धा पुरिसा णित्थारगा होंति** कथं ते तत्प्रतिबद्धा विषयकषायप्रतिबद्धाः पुरुषा निस्तारकाः संसारोत्तारका दातॄणाम् । न कथमपीति । एतदुक्तं भवति–विषयकषायास्तावत्पापस्वरूपास्तद्वन्तः पुरुषा अपि पापा एव

धिकेषु] इन्द्रियोंके विषय तथा क्रोधादि कषाय जिनके अधिक है, ऐसे [**पुरुषेषु**] अज्ञानी मनुष्योंकी [**जुष्टं**] बहुत प्रीतिकर सेवा करना, [**कृतं**] टहल चाकरी करना, [**वा**] अथवा [**दत्तं**] उनको आहारादिकका देना, वह [**कुदेवेषु**] नीच देवोंमें [**मनुजेषु**] नीच मनुष्योंमें [**फलति**] फलता है । **भावार्थ—**जिन अज्ञानी छद्मस्थ जीवोंने विपरीत गुरु स्थापन किये हैं, वे कारण विपरीत हैं, आत्माके जाने विना और आचरण विना परमार्थज्ञानसे रहित हैं, तथा विषय कषायोंके सेवनेवाले हैं । ऐसे गुरुओंकी सेवा भक्ति करना, वैयावृत्यका करना, और आहारादिकका देना, इन क्रियाओंसे जो पुण्य होता है, उसका फल नीच देव और नीच मनुष्य होना है ॥ ५७ ॥ आगे कारणकी विपरीततासे उत्तम फलकी सिद्धि नहीं होती, यह कहते हैं—[**यदि**] जो [**ते**] वे [**विषयकषायाः**] स्पर्श आदिक पाँच विषय, क्रोधादि चार कषाय [**शास्त्रेषु**] सिद्धान्तमें [**पापं**] पापरूप हैं, [**इति प्ररूपिताः**] ऐसे कहे गये हैं, [**वा**] तो [**तत्प्रतिबद्धाः**] उन विषय कषायोंसे युक्त हैं, [**ते पुरुषाः**] वे पापी पुरुष अपने भक्तोंके [**कथं**] किस तरह [**निस्तारकाः**] तारनेवाले [**भवन्ति**] हो सकते हैं ? नहीं होसकते । **भावार्थ—**विषय और कषाय ये दोनों संसारमें बड़े भारी पाप हैं, जो जीव विषय-कषायोंकर पापी हैं, और अपनेको गुरु मानते हैं, अपने भक्तोंको पुण्यात्मा कहते हैं, वे पापी

कल्प्यन्ते कथं पुनः संसारनिस्तारणाय । ततो न तेभ्यः फलमविपरीतं सिध्येत् ॥ ५८ ॥

अथाविपरीतफलकारणं कारणमविपरीतं दर्शयति—

उवरदपावो पुरिसो समभावो धम्मिगेसु सव्वेसु ।
गुणसमिदिदोवसेवी हवदि स भागी सुमग्गस्स ॥ ५९ ॥

उपरतपापः पुरुषः समभावो धार्मिकेषु सर्वेषु ।
गुणसमितितोपसेवी भवति स भागी सुमार्गस्य ॥ ५९ ॥

उपरतपापत्वेन सर्वधर्मिमध्यस्थत्वेन गुणग्रामोपसेवित्वेन च सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रयौगपद्यपरिणतिनिर्वृत्तैकाग्र्यात्मकसुमार्गभागी स श्रमणः स्वयं परस्य मोक्षपुण्यायतनत्वादविपरीतफलकारणं कारणमविपरीतं प्रत्येयम् ॥ ५९ ॥

अथाविपरीतफलकारणं कारणमविपरीतं व्याख्याति—

असुभोवयोगरहिदा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता वा ।
णित्थारयंति लोगं तेसु पसत्थं लहदि भत्तो ॥ ६० ॥

अशुभोपयोगरहिताः शुद्धोपयुक्ता शुभोपयुक्ता वा ।
निस्तारयन्ति लोकं तेषु प्रशस्तं लभते भक्तः ॥ ६० ॥

ते च स्वकीयभक्तानां दातृणां पुण्यविनाशका एवेति ॥ ५८ ॥ अथ पात्रभूततपोधनलक्षणं कथयति—उपरतपापत्वेन सर्वधार्मिकसमदर्शित्वेन गुणग्रामसेवकत्वेन च स्वस्य मोक्षकारणत्वात्परेषां पुण्यकारणत्वाच्चेत्थमूतगुणयुक्तः पुरुषः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैकाग्र्यलक्षणनिश्चयमोक्षमार्गस्य भाजनं भवतीति ॥ ५९ ॥ अथ तेषामेव पात्रभूततपोधनानां प्रकारान्तरेण लक्षणमुपलक्षयति—शुद्धोपयोगशुभोपयोगपरिणतपुरुषाः पात्रं

संसारके तारनेवाले कैसे कहलाये जासकते हैं? उनसे उत्तम फल कैसे सिद्ध होसकता है? किसी तरह भी नहीं, क्योंकि संसारमें विषय कषाय महापाप हैं । इसलिये विषय और कषायवाले तरन तारन नहीं होसकते ॥ ५८ ॥ और उत्तम फलका कारण उत्तम पात्र दिखलाते हैं—[**सः**] वह [**पुरुषः**] परममुनि [**सुमार्गस्य**] रत्नत्रयकी एकतासे एकाग्रतारूप मोक्षमार्गका [**भागी**] सेवनेवाला पात्र [**भवति**] होता है । जोकि [**उपरतपापः**] समस्त विषय कषायरूप पापोंसे रहित हो, [**सर्वेषु**] सभी [**धार्मिकेषु**] धर्मोंमें [**समभावः**] समदृष्टि हो, अर्थात् अनंत नयस्वरूप अनेक धर्मोंमें पक्षपाती नहीं हो, मध्यस्थ हो, और [**गुणसमितितोपसेवी**] ज्ञानादि अनेक गुणोंके समूहका सेवनेवाला हो । **भावार्थ**—पूर्वोक्त गुणों सहित ऐसे महापुरुष मुनि तारनेमें समर्थ हैं, आप और दूसरेको पुण्य और मोक्ष देनेके ठिकाने हैं । ऐसा यह उत्तम पात्र उत्तम फलका कारण समझना ॥ ५९ ॥ आगे फिर भी उत्तम फलका उत्तम कारण दिखलाते हैं—[**अशुभोपयोगरहिताः**] खोटे रागरूप मोह द्वेषभावोंसे रहित हुए ऐसे [**शुद्धोपयुक्ताः**] सकल कषायोंके उदयके अभावसे कोई शुद्धोपयोगी [**वा**] अथवा [**शुभोपयुक्ताः**] उत्तम रागके उदयसे कोई शुभोपयोगी इस तरह

यथाक्तलक्षणा एव श्रमणा मोहद्वेषाप्रशस्तरागोच्छेदादशुभोपयोगवियुक्ताः सन्तः सकलकषायोदयविच्छेदात् कदाचित् शुद्धोपयुक्ताः प्रशस्तरागविपाकात्कदाचिच्छुभोपयुक्ताः स्वयं मोक्षायतनत्वेन लोकं निस्तारयन्ति तद्भक्तिभावाप्रवृत्तप्रशस्तभावा भवन्ति परे च पुण्यभाजः ॥ ६० ॥

अथाविपरीतफलकारणाविपरीतकारणसमुपासनप्रवृत्तिं सामान्यविशेषतो विधेयतया सूत्रद्वैतेनोपदर्शयति—

दिट्ठा पगदं वत्थुं अब्भुट्ठाणप्पधाणकिरियाहिं ।
वट्टदु तदो गुणादो विसेसिदव्वो त्ति उवदेसो ॥ ६१ ॥
दृष्ट्वा प्रकृतं वस्त्वभ्युत्थानप्रधानक्रियाभिः ।
वर्ततां ततो गुणाद्विशेषितव्य इति उपदेशः ॥ ६१ ॥

श्रमणानामात्मविशुद्धिहेतौ प्रकृते वस्तुनि तदनुकूलक्रियाप्रवृत्त्या गुणातिशयाधानम-

---

भवन्तीति । तद्यथा—निर्विकल्पसमाधिबलेन शुभाशुभोपयोगद्वयरहितकाले कदाचिद्वीतरागचारित्रलक्षणशुद्धोपयोगयुक्ताः कदाचित्पुनर्मोहद्वेषाशुभरागरहितकाले सरागचारित्रलक्षणशुभोपयोगयुक्ताः सन्तो भव्यलोकं निस्तारयन्ति, तेषु च भव्यो भक्तो भव्यवरपुण्डरीकः प्रशस्तफलभूतं स्वर्गं लभते परंपरया मोक्षं चेति भावार्थः ॥ ६० ॥ एवं पात्रापात्रपरीक्षाकथनमुख्यतया गाथापञ्चकेन तृतीयस्थलं गतम् । इत ऊर्ध्वम् आचारकथितक्रमेण पूर्वं कथितमपि पुनरपि दृढीकरणार्थं विशेषेण तपोधनसमाचारं कथयति । अथाभ्यागततपोधनस्य दिनत्रयपर्यन्तं सामान्यप्रतिपत्तिं तदनन्तरं विशेषप्रतिपत्तिं दर्शयति—**वट्टदु** वर्तताम् । स कः । अत्रत्य आचार्यः । किं कृत्वा । **दिट्ठा** दृष्ट्वा । किम् । **वत्थुं** तपोधनभूतं पात्रं वस्तु । किंविशिष्टम् । **पगदं** प्रकृतम् अभ्यन्तरनिरुपरागशुद्धात्मभावनाज्ञापकबहिरङ्गनिर्ग्रन्थनिर्विकाररूपम् । काभिः कृत्वा वर्तताम् । **अब्भुट्ठाणप्पधाणकिरियाहिं** अभ्यागतयोग्याचारविहिताभिरभ्युत्थानादिक्रियाभिः **तदो गुणादो** ततो दिनत्रयानन्तरं

दोनों प्रकारके मुनि [**लोकं**] उत्तम भव्य जीवोंको [**निस्तारयन्ति**] तारते है। [**तेषु**] उन दोनों तरहके मुनियोंका [**भक्तः**] सेवक महापुरुष [**प्रशस्तं**] उत्तम स्थानको [**लभते**] पाता है। **भावार्थ**—ये उत्तम मुनि आप मोक्षके ठिकाने है, इसलिये जगतके उद्धार करनेवाले हैं, जो इन मुनियोंकी भक्ति करता है, वह उत्तम भावों सहित होता है, और जो अनुमोदना करता है, वह भी पुण्यफलको भोगता है ॥ ६० ॥ आगे जो उत्तम फलके कारण उत्तम पात्र हैं, उनकी सेवा सामान्य विशेषतासे दो गाथाओंमें दिखलाते हैं—[**ततः**] इस कारण जो उत्तम पुरुष हैं, वे [**प्रकृतं**] उत्तम [**वस्तु**] पात्रको [**दृष्ट्वा**] देखकर [**अभ्युत्थानप्रधानक्रियाभिः**] आता हुआ देखके उठ खड़ा होना, इत्यादि उत्तम पात्रकी क्रियाओंकर [**वर्ततां**] प्रवर्तें। क्योंकि [**गुणात्**] उत्तम गुण होनेसे [**विशेषितव्यः**] आदर विनयादि विशेष करना योग्य है, [**इति**] ऐसा [**उपदेशः**] भगवंतदेवका उपदेश है। **भावार्थ**—भगवंतकी ऐसी आज्ञा है, कि जो ज्ञानादिगुणोंसे

प्रतिषिद्धम् ॥ ६१ ॥

अब्भुट्ठाणं गहणं उवासणं पोसणं च सक्कारं ।
अंजलिकरणं पणमं भणिदमिह गुणाधिगाणं हि ॥ ६२ ॥

अभ्युत्थानं ग्रहणमुपासनं पोषणं च सत्कारः ।
अञ्जलिकरणं प्रणामो भणितमिह गुणाधिकानां हि ॥ ६२ ॥

श्रमणानां स्वतोऽधिकगुणानामभ्युत्थानग्रहणोपासनपोषणसत्काराञ्जलिकरणप्रणामप्रवृत्तयो न प्रतिषिद्धाः ॥ ६२ ॥

अथ श्रमणाभासेषु सर्वाः प्रवृत्तीः प्रतिषेधयति—

अब्भुट्ठेया समणा सुत्तत्थविसारदा उवासेया ।
संजमतवणाणड्ढा पणिवदणीया हि समणेहिं ॥ ६३ ॥

गुणाद्गुणविशेषात् **विसेसिदव्वो त्ति** तेन आचार्येण स तपोधनः रत्नत्रयभावनावृद्धिकारणक्रियाभिर्विशेषितव्यः । **उवदेसो** इत्युपदेशः सर्वज्ञगणधरदेवादीनामिति ॥ ६१ ॥ अथ तमेव विशेषं कथयति, **भणिदं** भणितं कथितम् **इह** अस्मिन्ग्रन्थे । केषां सबन्धी । **गुणाधिगाणं हि** गुणाधिकतपोधनानां हि स्फुटम् । किं भणितम् । **अब्भुट्ठाणं गहणं उवासणं पोसणं च सक्कारं अंजलिकरणं पणमं** अभ्युत्थानग्रहणोपासनपोषणसत्काराञ्जलिकरणप्रणामादिकम् । अभिमुखगमनमभ्युत्थानम्, ग्रहणं स्वीकारः, उपासनं शुद्धात्मभावनासहकारिकारणनिमित्तं सेवा, तदर्थमेवाशनशयनादिचिन्ता पोषणम्, भेदाभेदरत्नत्रयगुणप्रकाशनं सत्कारः, बद्धाञ्जलिनमस्कारोऽञ्जलिकरणम्, नमोऽस्त्विति वचनव्यापारः प्रणाम इति ॥ ६२ ॥ अथाभ्यागतानां तदेवाभ्युत्थानादिकं प्रकारान्तरेण निर्दिशति—**अब्भुट्ठेया** यद्यपि चारित्रगुणेनाधिका न भवन्ति तपसा वा तथापि सम्यग्ज्ञानगुणेन ज्येष्ठत्वाच्छ्रुतविनयार्थमभ्युत्थेयाः अभ्युत्थेया अभ्युत्थानयोग्या भवन्ति। के ते । **समणा** निर्ग्रन्थाचार्याः । किंविशिष्टाः । **सुत्तत्थविसारदा** विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावपरमात्मतत्त्व-

---

अधिक हो, उसका आदर विनय करना, धर्मात्माओंको योग्य है । इसलिये धर्मात्माओंको उत्तम पात्रकी विनयादि क्रिया अवश्य करनी चाहिये ॥ ६१ ॥ आगे विनयादि क्रियाको विशेषपनेसे कहते हैं— [**इह**] इस लोकमें [**हि**] निश्चयकर [**गुणाधिकानां**] अपनेसे अधिक गुणों सहित महापुरुषोंके लिये [**अभ्युत्थानं**] सामने आते हुए देखकर उठके खड़ा होके सामने जाना, [**ग्रहणं**] बहुत आदरसे आइये, आइये, ऐसे उत्तम वचनोंकर अंगीकारकर [**उपासनं**] सेवा करना, [**पोषणं**] अन्नपानादिकर पोषना, [**सत्कारं**] गुणोंकी प्रशंसाकर उत्तम वचन कहना, [**अञ्जलिकरणं**] विनयसे हाथ जोड़ना, [**च**] और [**प्रणामं**] नमस्कार करना योग्य है । **भावार्थ**—इतनी पूर्वोक्त उत्तम क्रियायें अपनेसे गुणोंकर उत्कृष्ट पुरुषोंकी करनी योग्य है ॥ ६२ ॥ आगे जो असलमें मुनि तो नहीं हैं, लेकिन मुनिसे माल्रम पड़ते हैं, ऐसे द्रव्यलिंगी मुनियोंकी आदर विनयादिक सब क्रियाओंका निषेध है, यही कहते हैं—[**श्रमणैः**] उत्तम मुनियोंकर [**हि**] निश्चयसे [**सूत्रार्थविशारदाः**]

अभ्युत्थेयाः श्रमणाः सूत्रार्थविशारदा उपासेयाः ।
संयमतपोज्ञानाढ्याः प्रणिपतनीया हि श्रमणैः ॥ ६३ ॥

सूत्रार्थवैशारद्यप्रवर्तितसंयमतपःस्वतत्त्वज्ञानानामेव श्रमणानामभ्युत्थानादिकाः प्रवृत्तयोऽप्रतिषिद्धा इतरेषां तु श्रमणाभासानां ताः प्रतिषिद्धा एव ॥ ६३ ॥

अथ कीदृशः श्रमणाभासो भवतीत्याख्याति—

ण हवदि समणो त्ति मदो संजमतवसुत्तसंपजुत्तो वि ।
जदि सद्दहदि ण अत्थे आदपधाणे जिणक्खादे ॥ ६४ ॥

न भवति श्रमण इति मतः संयमतपःसूत्रसंप्रयुक्तोऽपि ।
यदि श्रद्धत्ते नार्थानात्मप्रधानान् जिनाख्यातान् ॥ ६४ ॥

प्रभृत्यनेकान्तात्मकपदार्थेषु वीतरागसर्वज्ञप्रणीतमार्गेण प्रमाणनयनिक्षेपैर्विचारचतुरचेतसः सूत्रार्थविशारदाः । न केवलमभ्युत्थेयाः **उवासेया** परमचिज्ज्योतिः परमात्मपदार्थपरिज्ञानार्थमुपासेयाः परमभक्त्या सेवनीयाः । **संजमतवणाणड्ढा पणिवदणीया** हि संयमतपोज्ञानाढ्याः प्रणिपतनीयाः हि स्फुटं बहिरङ्गेन्द्रियसंयमप्राणसंयमबलेनाभ्यन्तरे स्वशुद्धात्मनि यत्नपरत्वं संयमः । बहिरङ्गानशनादितपोबलेनाभ्यन्तरे परद्रव्येच्छानिरोधेन च स्वस्वरूपे प्रतपनं विजयनं तपः । बहिरङ्गपरमागमाभ्यासेनाभ्यन्तरं स्वसंवेदनज्ञानं सम्यग्ज्ञानम् । एवमुक्तलक्षणैः संयमतपोज्ञानैराढ्याः परिपूर्णा यथासभवं प्रतिवन्दनीयाः । कैः । **समणेहिं** श्रमणैरिति । अत्रेदं तात्पर्यम्—ये बहुश्रुता अपि चारित्राधिका न भवन्ति तेऽपि परमागमाभ्यासनिमित्तं यथायोग्यं वन्दनीयाः । द्वितीयं च कारणम्—ते सम्यक्त्वे ज्ञाने च पूर्वमेव दृढतराः अस्य तु नवतरतपोधनस्य सम्यक्त्वे ज्ञाने चापि दाढर्यं नास्ति तर्हि स्तोकचारित्राणां किमर्थमागमे वन्दनादिनिषेधः कृत इति चेत् । अतिप्रसंगनिषेधार्थमिति ॥ ६३ ॥ अथ श्रमणाभासः कीदृशो भवतीति पृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति—**ण हवदि समणो** स श्रमणो न भवति **त्ति मदो** इति मतः संमतः । क्व । आगमे । कथंभूतोऽपि । **संजमतवसुत्तसंपजुत्तो वि** संयमतपःश्रुतैः संप्रयुक्तोऽपि सहितोऽपि । यदि किम् । **जदि सद्दहदि ण** यदि चेन्मूढ-

---

परमागमके अर्थोंमें चतुर और [**संयमतपोज्ञानाढ्याः**] संयम, तपस्या, ज्ञान, इत्यादि गुणोंकर पूर्ण ऐसे [**श्रमणाः**] महामुनि [**अभ्युत्थेयाः**] खड़े होके सामने जाकर आदर करने योग्य हैं, [**उपासेयाः**] सेवने योग्य हैं, और [**प्रणिपतनीया**] नमस्कार करने योग्य है । **भावार्थ**—जो मुनि सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रकर सहित है, उन्हींकी पूर्वोक्त विनयादि क्रिया करनी योग्य है, और जो द्रव्यलिंगी श्रमणाभास मुनि हैं, उनकी विनयादि करना योग्य नहीं है ॥ ६३ ॥ आगे श्रमणाभास मुनि कैसा होता है, यह कहते हैं—[**संयमतपःसूत्रसंप्रयुक्तोऽपि**] संयम, तपस्या, सिद्धान्त, इनकर सहित होनेपर भी [**यदि**] जो मुनि [**जिनाख्यातान्**] सर्वज्ञवीतराग कथित [**आत्मप्रधानान्**] सब ज्ञेयोंके जाननेसे आत्मा है, मुख्य जिनमें ऐसे [**अर्थान्**] जीवादिक पदार्थोंका [**न श्रद्धत्ते**] नहीं श्रद्धान करता, वह मिथ्यादृष्टि [**श्रमणः**] उत्तम मुनि [**न भवति**] नहीं

आगमज्ञोऽपि संयतोऽपि तपःस्थोऽपि जिनोदितमनन्तार्थनिर्भरं विश्वं स्वेनात्मना ज्ञेयत्वेन निष्पीतत्वादात्मप्रधानमश्रद्दधानः श्रमणाभासो भवति ॥ ६४ ॥

अथ श्रामण्येन सममननुमन्यमानस्य विनाशं दर्शयति—

अववददि सासणत्थं समणं दिट्ठा पदोसदो जो हि ।
किरियासु णाणुमण्णदि हवदि हि सो णट्ठचारित्तो ॥ ६५ ॥

अपवदति शासनस्थं श्रमणं दृष्ट्वा प्रद्वेषतो यो हि ।
क्रियासु नानुमन्यते भवति हि स नष्टचारित्रः ॥ ६५ ॥

श्रमणं शासनस्थमपि प्रद्वेषादपवदतः क्रियास्वननुमन्यमानस्य च प्रद्वेषकषायितत्त्वाच्चारित्रं

त्रयादिपञ्चविंशतिसम्यक्त्वमलरहितः सन् न श्रद्धत्ते न रोचते न मन्यते । कान् । **अत्थे** पदार्थान् । कथंभूतान् । **आदपधाणे** निर्दोषिपरमात्मप्रभृतीन् । पुनरपि कथंभूतान् । **जिणक्खादे** वीतरागसर्वज्ञेनाख्यातान् दिव्यध्वनिना प्रणीतान् गणधरदेवैर्ग्रन्थविरचितानित्यर्थः ॥ ६४ ॥ अथ मार्गस्थश्रमणदूषणे दोषं दर्शयति— **अववददि** अपवदति दूषयत्यपवादं करोति । स कः । **जो हि** यः कर्ता हि स्फुटम् । कम् । **समणं** श्रमणं तपोधनम् । कथंभूतम् । **सासणत्थं** शासनस्थं निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गस्थम् । कस्मात् । **पदोसदो** निर्दोषिपरमात्मभावनाविलक्षणात् । प्रद्वेषात्कषायात् । किं कृत्वा पूर्वम् । **दिट्ठा** दृष्ट्वा अपवदते । न केवलं अपवदते । **णाणुमण्णदि** नानुमन्यते । कासु विषयासु । **किरियासु** यथायोग्यं वन्दनादिक्रियासु **हवदि हि सो** भवति हि स्फुटं सः । किंविशिष्टः । **णट्ठचारित्तो** कथंचिदतिप्रसङ्गान्नष्टचारित्रो भवतीति । तथाहि— मार्गस्थतपोधनं दृष्ट्वा यदि कथंचिन्मात्सर्यवशाद्दोषग्रहणं करोति तदा चारित्रभ्रष्टो भवति स्फुटं पश्चादात्मनिन्दां कृत्वा वर्तते तदा दोषो नास्ति कालान्तरे वा निवर्तते तथापि दोषो नास्ति । यदि पुनस्तत्रैवानुबन्धं कृत्वा तीव्रकषायवशादतिप्रसंगं करोति तदा चारित्रभ्रष्टो भवतीत्ययं भावार्थः । बहुश्रुतैरल्पश्रुततपोधनानां दोषो न ग्राह्यस्तैरपि तपोधनैः किमपि पाठमात्रं गृहीत्वा तेषां दोषो न ग्राह्यः किंतु किमपि सारपदं गृहीत्वा स्वयं भावनैव कर्तव्या । कस्मादिति चेत् । रागद्वेषोत्पत्तौ सत्यां बहुश्रुतानां श्रुतफलं नास्ति तपोधनानां

होसकता, [**इति मतः**] ऐसा यह श्रमणाभासमुनि सिद्धान्तोंमें महापुरुषोंने कहा है । **भावार्थ—** जो सिद्धान्तका जाननेवाला भी है, संयमी तपस्वी भी है, लेकिन सर्वज्ञप्रणीत जीवादिक पदार्थोंका श्रद्धान नहीं करता, इसीसे वह श्रमणाभास कहा जाता है ॥६४॥ आगे यथार्थ मुनिपद सहित मुनिकी जो क्रिया विनयादि नहीं करता, वह चारित्रसे रहित है, ऐसा दिखलाते हैं—[**यः**] जो मुनि [**शासनस्थं**] भगवंतकी आज्ञामें प्रवृत्त [**श्रमणं**] उत्तम मुनिको [**दृष्ट्वा**] देखकर [**प्रद्वेषतः**] द्वेष भावसे [**हि**] निश्चयकर [**अपवदति**] अनादर कर बुराई करता है, [**क्रियासु**] और पूर्वोक्त विनयादि क्रियाओंमें [**न अनुमन्यते**] नहीं प्रसन्न होता, [**सः**] वह द्वेषी अविनयी मुनि [**हि**] निश्चयसे [**नष्टचारित्रः**] चारित्र रहित [**भवति**] है । **भावार्थ—**जो कोई मुनि दूसरे जिनमार्गी मुनिको देखकर द्वेष भावसे निन्दा करता है, निरादर करता है, वह कषाय भावोंकी परिणतिसे नष्टचारित्री होता है ॥६५॥

नश्यति ॥ ६५ ॥

अथ श्रामण्येनाधिकं हीनमिवाचरतो विनाशं दर्शयति—

गुणदोधिगस्स विणयं पडिच्छगो जो वि होमि समणो त्ति।
होज्जं गुणाधरो जदि सो होदि अणंतसंसारी ॥ ६६ ॥

गुणतोऽधिकस्य विनयं प्रत्येषको योऽपि भवामि श्रमण इति।
भवन् गुणाधरो यदि स भवत्यनन्तसंसारी ॥ ६६ ॥

स्वयं जघन्यगुणः सन् श्रमणोऽहमपीत्यवलेपात्परेषां गुणाधिकानां विनयं प्रतीच्छन्

तपःफलं चेति ॥ ६५ ॥ अत्राह शिष्यः—अपवादव्याख्यानप्रस्तावे शुभोपयोगो व्याख्यातः पुनरपि किमर्थम् अत्र व्याख्यानं कृतमिति। परिहारमाह—युक्तमिदं भवदीयवचनं किंतु तत्र सर्वत्यागलक्षणोत्सर्गव्याख्याने कृते सति तत्रासमर्थतपोधनैः कालापेक्षया किमपि ज्ञानसंयमशौचोपकरणादिकं ग्राह्यमित्यपवादव्याख्यानमेव मुख्यम्। अत्र तु यथा भेदनयेन सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपश्चरणरूपा चतुर्विधाराधना भवति। सैवाभेदनयेन सम्यक्त्वचारित्ररूपेण द्विधा भवति। तत्राप्यभेदविवक्षया पुनरेकैव वीतरागचारित्राराधना। तदा भेदनयेन सम्यग्दर्शनसम्यग्ज्ञानसम्यक्चारित्ररूपस्त्रिविधमोक्षमार्गो भवति। स एवाभेदनयेन श्रामण्यापरमोक्षमार्गनामा पुनरेक एव स चाभेदरूपो मुख्यवृत्त्या 'एयग्गगदो समणो' इत्यादि चतुर्दशगाथाभिः पूर्वमेव व्याख्यातः। अयं तु भेदरूपो मुख्यवृत्त्या शुभोपयोगरूपेणेदानीं व्याख्यातो नास्ति पुनरुक्तदोष इति। एवं समाचारविशेषविवरणरूपेण चतुर्थस्थले गाथाष्टकं गतम्। अथ स्वयं गुणहीन सन्परेषां गुणाधिकानां योऽसौ विनयं वाञ्छति तस्य गुणविनाशं दर्शयति—**स होदि अणंतसंसारी** स कथंचिदनन्तसंसारे संभवति। यः किं करोति। **पडिच्छगो जो वि** प्रत्येषको यस्तु अभिलाषकोऽपेक्षक इति। कम्। **विणयं** वन्दनादिविनयम्। कस्य संबन्धिनम्। **गुणदोधिगस्स** बाह्याभ्यन्तररत्नत्रयगुणाभ्यामधिकस्यान्यतपोधनस्य। केन कृत्वा। **होमि समणो त्ति** अहमपि श्रमणो भवामीत्यभिमानेन गर्वेण। यदि किम्। **होज्जं गुणाधरो जदि** निश्चयव्यवहाररत्नत्रयगुणाभ्यां हीनः स्वयं यदि चेद्भवतीति। अयमत्रार्थः—यदि चेद्गुणाधिकेभ्यः सकाशाद्गर्वेण पूर्वं विनयवाञ्छां करोति पश्चाद्विवेकबलेनात्मनिन्दां करोति। तदानन्तसंसारी न भवति यदि पुनस्तत्रैव मिथ्याभिमानेन ख्यातिपूजालाभार्थं दुराग्रहं करोति तथा भवति। अथवा

आगे जो यतिपनेसे उत्कृष्ट है, उसको जो अपनेसे हिन आचरे वह अनंतसंसारी है, यह दिखलाते हैं—[**यः**] जो मुनि [**अहं श्रमणः**] मैं यती [**भवामि**] हूँ, [**इति**] ऐसे अभिमानसे [**गुणतः अधिकस्य**] ज्ञान संयमादि गुणोंकर उत्कृष्ट महामुनियोंसे [**विनयं**] आदरको [**प्रत्येषकः**] चाहता है, वह [**यदि**] जो [**गुणाधरः**] गुणोंको नहीं धारण करनेवाला [**भवन्**] हुआ संता [**सः**] झूठे गर्वका करनेवाला, वह [**अनंतसंसारी**] अनंत संसारका भोगने वाला [**भवति**] होता है। **भावार्थ**—जो कोई महामुनिके पाससे अपना विनय चाहता है, और कहता है, क्या हुआ जो ये गुणोंसे अधिक हैं, मैं भी तो यति हूँ, ऐसा अहंकार भी करता है, वह संसारमें

श्रामण्यावलेपवशात् कदाचिदनन्तसंसार्यपि भवति ॥ ६६ ॥

अथ श्रामण्येनाधिकस्य हीनं सममिवाचरतो विनाशं दर्शयति—

अधिगगुणा सामण्णे वट्टंति गुणाधरेहिं किरियासु ।
जदि ते मिच्छुवजुत्ता हवंति पब्भट्ठचारित्ता ॥ ६७ ॥

अधिकगुणाः श्रामण्ये वर्तन्ते गुणाधरैः क्रियासु ।
यदि ते मिथ्योपयुक्ता भवन्ति प्रभ्रष्टचारित्राः ॥ ६७ ॥

स्वयमधिकगुणा गुणाधरैः परैः सह क्रियासु वर्तमाना मोहादसम्यगुपयुक्तत्वाच्चारित्राद्भ्रश्यन्ति ॥ ६७ ॥

अथासत्संगं प्रतिषेध्यत्वेन दर्शयति—

णिच्छिदसुत्तत्थपदो समिदकसाओ तवोधिगो चावि ।
लोगिगजणसंसग्गं ण चयदि जदि संजदो ण हवदि ॥ ६८ ॥

यदि कालान्तरेऽप्यात्मनिन्दां करोति तथापि न भवतीति ॥ ६६ ॥ अथ स्वयमधिकगुणाः सन्तो गुणाधरैः सह वन्दनादिक्रियासु वर्तन्ते तदा गुणविनाशं दर्शयति—**वट्टंति** वर्तन्ते प्रवर्तन्ते **जदि** यदि चेत् । क वर्तन्ते । **किरियासु** वन्दनादिक्रियासु । कैः सह । **गुणाधरेहिं** गुणाधरैर्गुणरहितैः । स्वयं कथंभूताः सन्तः । **अधिगगुणा** अधिकगुणाः । क । **सामण्णे** श्रामण्ये चारित्रे **ते मिच्छुवजुत्ता हवंति** ते कथंचिदिति प्रसंगान्मिथ्यात्वप्रयुक्ता भवन्ति । न केवलं मिथ्यात्वप्रयुक्ताः **पब्भट्ठचारित्ता** प्रभ्रष्टचारित्राश्च भवन्ति । तथाहि— यदि बहुश्रुतानां पार्श्वे ज्ञानादिगुणवृद्ध्यर्थं स्वयं चारित्रगुणाधिका अपि वन्दनादिक्रियासु वर्तन्ते तदा दोषो नास्ति । यदि पुनः केवलं ख्यातिपूजालाभार्थं वर्तन्ते तदातिप्रसंगाद्दोषो भवति । इदमत्र तात्पर्यम्— वन्दनादिक्रियासु वा तत्त्वविचारादौ वा यत्र रागद्वेषोत्पत्तिर्भवति तत्र सर्वत्र दोष एव । ननु भवदीयकल्पनीयमागमे नास्ति । नैवम् । आगमः सर्वोऽपि रागद्वेषपरिहारार्थम् एव परं किंतु ये केचनोत्सर्गापवादरूपेणागमनयविभागं न जानन्ति त एव रागद्वेषौ कुर्वन्ति न चान्य इति ॥ ६७ ॥ इति पूर्वोक्तक्रमेण 'एयग्गगदो' इत्यादि चतुर्दशगाथाभिः स्थलचतुष्टयेन श्रामण्यापरनामा मोक्षमार्गाभिधानस्तृतीयान्तराधिकारः

भटकता है । इस कारण अपनेसे बड़ोंका विनय करना योग्य है ॥ ६६ ॥ आगे आप यतिपनेमें उत्कृष्ट हो, और जो गुणहीनकी विनयादिक करता है, तो उसके चारित्रका नाश होजाता है, यह दिखलाते हैं—[**यदि**] जो [**श्रामण्ये**] यतिपनेमें [**अधिकगुणाः**] उत्कृष्ट गुणवाले महामुनि हैं, वे [**गुणाधरैः**] गुणोंकर रहित हीन मुनियोंके साथ [**क्रियासु**] विनयादि क्रियामें [**वर्तन्ते**] प्रवर्तते हैं, तो [**ते**] वे उत्कृष्ट मुनि [**मिथ्योपयुक्ताः**] मिथ्या भावोंकर सहित हुए [**प्रभ्रष्टचारित्राः**] चारित्रभ्रष्ट [**भवन्ति**] होजाते हैं । **भावार्थ—**जो अपनेसे हीन गुणोंवालेका विनय आदर करते हैं, वे अज्ञानी हुए संयमका नाश करते हैं ॥६७॥ आगे कुसंगतिका निषेध करते है—[**निश्चितसूत्रार्थपदः**] निश्चय करलिये हैं, सिद्धान्त और जीवादि पदार्थ जिसने [**शमितकषायः**] और जिसने कषायोंको

निश्चितसूत्रार्थपदः शमितकषायस्तपोऽधिकश्चापि ।
लौकिकजनसंसर्गं न त्यजति यदि संयतो न भवति ॥ ६८ ॥

यतः सकलस्यापि विश्ववाचकस्य सल्लक्ष्मणः शब्दब्रह्मणस्तद्वाच्यस्य सकलस्यापि सल्लक्ष्मणो विश्वस्य च युगपदनुस्यूततदुभयज्ञेयाकारतयाधिष्ठानभूतस्य सल्लक्ष्मणो ज्ञातृतत्त्वस्य निश्चयनयान्निश्चितसूत्रार्थपदत्वेन निरुपरागोपयोगत्वात् शमितकषायत्वेन बहुशोऽभ्यस्तनिष्कम्पोपयोगत्वात्तपोऽधिकत्वेन च सुष्ठु संयतोऽपि सप्तार्चिःसंगतं तोयमिवावश्यं भाविविकारत्वात् लौकिकसंगादसंयत एव स्यात्ततस्तत्संगः सर्वथा प्रतिषेध्य एव ॥ ६८ ॥

अथ लौकिकलक्षणमुपलक्षयति—

समासः । अथानन्तरं द्वात्रिंशद्गाथापर्यन्तं पञ्चभिः स्थलैः शुभोपयोगाधिकारः कथ्यते । तत्रादौ लौकिकसंसर्गनिषेधमुख्यत्वेन 'णिच्छिदसुत्तत्थपदो' इत्यादिपाठक्रमेण गाथापञ्चकम् । तदनन्तरं सरागसंयमापरनामशुभोपयोगस्वरूपकथनप्रधानत्वेन 'समणा सुद्धुवजुत्ता' इत्यादि सूत्राष्टकम् । ततश्च पात्रापात्रपरीक्षाप्रतिपादनरूपेण 'रागो पसत्थभूदो' इत्यादि गाथाषट्कम् । ततः परमाचारादिविहितक्रमेण पुनरपि संक्षेपरूपेण समाचारव्याख्यानप्रधानत्वेन 'दिट्ठा पगदं वत्थुं' इत्यादि सूत्राष्टकम् । ततः परं पञ्चरत्नमुख्यत्वेन 'जे अजधागहिदत्था' इत्यादि गाथापञ्चकम् । एवं द्वात्रिंशद्गाथाभिः स्थलपञ्चकेन चतुर्थान्तराधिकारे समुदायपातनिका । तद्यथा अथ लौकिकसंसर्गं प्रतिषेधयति—**णिच्छिदसुत्तत्थपदो** निश्चितानि ज्ञातानि निर्णीतान्यनेकान्तस्वभावनिजशुद्धात्मादिपदार्थप्रतिपादकानि सूत्रार्थपदानि येन स भवति निश्चितसूत्रार्थपदः **समिदकसाओ** परविषये क्रोधादिपरिहारेण तथाभ्यन्तरे परमोपशमभावपरिणतनिजशुद्धात्मभावनाबलेन च शमितकषायः **तवोधिगो चावि** अनशनादिबहिरङ्गतपोबलेन तथैवाभ्यन्तरे शुद्धात्मभावनाविषये प्रतिपन्नाद्विजयनाच्च तपोऽधिकश्चापि सन् स्वयं संयतः कर्ता **लोगिगजणसंसग्गं ण चयदि जदि** लौकिकाः स्वेच्छाचारिणस्तेषां संसर्गो लौकिकसंसर्गस्तं न त्यजति यदि चेत् **संजदो ण हवदि** तर्हि संयतो न भवतीति । अयमत्रार्थः—स्वयं भावितात्मापि यद्यसंवृतजनसंसर्गं न त्यजति तदातिपरिचयादग्निसंगतं जलमिव विकृतिभावं गच्छतीति ॥ ६८ ॥ अथानुकम्पालक्षणं कथ्यते—

शांत किया है, [**च**] और जो [**तपोऽधिकः अपि**] तपस्याकर उत्कृष्ट है, तो भी [**यदि**] जो [**लौकिकजनसंसर्गं**] चारित्रभ्रष्ट अज्ञानी मुनियोंकी संगति [**न जहाति**] नहीं छोड़ता है, तो वह [**संयतः**] संयमी मुनि [**न भवति**] नहीं होसकता । **भावार्थ**—जो भगवत्प्रणीत शब्दब्रह्मका जाननेवाला है, आत्मतत्त्वको भी जानता है, बहुत अभ्यासकर निष्कंप उपयोगी है, और तपकी अधिकतासे उत्कृष्ट संयमी भी है, इत्यादि अनेक गुणोंकर युक्त है, तो भी लौकिक मुनिकी जो संगति नहीं छोड़े, तो वह संयमी नहीं होसकता । जैसे आगके सम्बन्धसे उत्तम शीतल जल अवश्य गर्म विकारको धारण करता है, उसी तरह मुनिभी कुसंगतिसे अवश्य नाशको प्राप्त होता है । इसलिये कुसंगति त्यागने योग्य है ॥ ६८ ॥ आगे लौकिक मुनिका लक्षण कहते हैं—[**नैर्ग्रन्थ्यं प्रव्रजितः**] निर्ग्रंथ मुनिपदको

णिग्गंथो पव्वइदो वट्टदि जदि एहिगेहि कम्मेहिं ।
सो लोगिगो त्ति भणिदो संजमतवसंजुदो चावि ॥ ६९ ॥
निर्ग्रन्थः प्रव्रजितो वर्तते यद्यैहिकैः कर्मभिः ।
स लौकिक इति भणितः संयमतपःसंयुतश्चापि ॥ ६९ ॥

प्रतिज्ञातपरमनैर्ग्रन्थ्यप्रव्रज्यत्वादुदूढसंयमतपोभारोऽपि मोहबहुलतया श्लथीकृतशुद्धचेतनव्यवहारो मुहुर्मनुष्यव्यवहारेण व्याघूर्णमानत्वादैहिककर्मानिवृत्तौ लौकिक इत्युच्यते ॥ ६९ ॥

अथ सत्संगं विधेयत्वेन दर्शयति—

तम्हा समं गुणादो समणो समणं गुणेहिं वा अहियं ।
अधिवसदु तम्हि णिच्चं इच्छदि जदि दुक्खपरिमोक्खं ॥ ७० ॥
तस्मात्समं गुणात् श्रमणः श्रमणं गुणैर्वाधिकम् ।
अधिवसतु तत्र नित्यं इच्छति यदि दुःखपरिमोक्षम् ॥ ७० ॥

तिसिदं व भुक्खिदं वा दुहिदं दट्ठूण जो हि दुहिदमणो ।
पडिवज्जदि तं किवया तस्सेसा होदि अणुकंपा ॥ *२२ ॥

तिसिदं व भुक्खिदं वा दुहिदं वा दट्ठूण जो हि दुहिदमणो पडिवज्जदि तृषितं वा बुभुक्षितं वा दुःखितं वा दृष्ट्वा कमपि प्राणिनं यो हि स्फुटं दुःखितमनाः सन् प्रतिपद्यते स्वीकरोति । कं कर्मतापन्नम् । **तं** प्राणिनम् । कया । **किवया** कृपया दयापरिणामेन **तस्सेसा होदि अणुकंपा** तस्य पुरुषस्यैषा प्रत्यक्षीभूता शुभोपयोगरूपानुकम्पा दया भवतीति । इमां चानुकम्पां ज्ञानी स्वस्थभावनामविनाशयन् संक्लेशपरिहारेण करोति । अज्ञानी पुनः संक्लेशेनापि करोतीत्यर्थः ॥ २२ ॥ अथ लौकिकलक्षणं कथयति—**णिग्गंथो पव्वइदो** वस्त्रादिपरिग्रहरहितत्वेन निर्ग्रन्थोऽपि दीक्षाग्रहणेन प्रव्रजितोऽपि **वट्टदि जदि** वर्तते यदि चेत् । कैः । **एहिगेहि कम्मेहिं** ऐहिकैः कर्मभिः भेदाभेदरत्नत्रयभावनाशकैः ख्यातिपूजालाभनिमित्तैर्ज्योतिषमन्त्रवादिवैदिकादिभिरैहिकजीवनोपायकर्मभिः **सो लोगिगो त्ति भणिदो** स लौकिको व्यावहारिक इति भणितः । किं विशिष्टोऽपि **संजमतवसंजुदो चावि** द्रव्यरूपसंयमतपोभ्यां संयुक्तश्चापीत्यर्थः ॥ ६९ ॥ अथोत्तमसंसर्गः कर्तव्य इत्युपदिशति—**तम्हा** यस्माद्धीनसंसर्गाद्गुणहानिर्भवति तस्मात्कारणात् अधि-

---

धारणकर दीक्षित हुआ मुनि [**यदि**] जो [**ऐहिकैः**] इस लोकसम्बन्धी [**कर्मभिः**] ससारी-कर्म ज्योतिष, वैद्यक, मंत्र यंत्रादिकोंकर [**वर्तते**] प्रवर्ते, तो [**सः**] वह भ्रष्ट मुनि [**संयमतपःसंप्रयुक्तोऽपि**] संयम तपस्याकर सहित हुआ भी [**लौकिकः**] लौकिक [**इति**] ऐसे नामसे [**भणितः**] कहा है । **भावार्थ**—यद्यपि निर्ग्रंथ दीक्षाकी प्रतिज्ञा की है, संयम तपस्याका भार भी लिया है, लेकिन जो मोहकी अधिकतासे शुद्ध चेतना व्यवहारको शिथिल करता है, 'मै मनुष्य हूँ' ऐसे अभिमानकर घूम रहा है, और इसलोक सम्बन्धी कर्मोंसे रहित नहीं हुआ ऐसा भ्रष्ट मुनि लौकिक कहलाता है । ऐसेकी संगति मुनिको त्यागने योग्य है ॥ ६९ ॥ आगे अच्छी संगति करनी चाहिये,

यतः परिणामस्वभावत्वेनात्मनः सप्तार्चिःसंगतं तोयमिवावश्यं भाविविकारत्वाल्लौकिकसंगात्संयतोऽप्यसंयत एव स्यात्। ततो दुःखमोक्षार्थिना गुणैः समोऽधिको वा श्रमणः श्रमणेन नित्यमेवाधिवसनीयः तथास्य शीतापवरककोणनिहितशीततोयवत्समगुणसंगाद्गुणरक्षा शीततरतुहिनशर्करासंपृक्तशीततोयवत् गुणाधिकसंगात् गुणवृद्धिः ॥ ७० ॥

इत्यध्यास्य शुभोपयोगजनितां कांचित्प्रवृत्तिं यतिः
सम्यक् संयमसौष्ठवेन परमां क्रामन्निवृत्तिं क्रमात्।
हेलाक्रान्तसमस्तवस्तुविसरप्रस्ताररम्योदयां
ज्ञानानन्दमयीं दशामनुभवत्वेकान्ततः शाश्वतीम् ॥

इति शुभोपयोगप्रज्ञापनम्। अथ पञ्चरत्नम्।

तन्त्रस्यास्य शिखण्डिमण्डनमिव प्रद्योतयत्सर्वतो
द्वैतीयीकमथार्हतो भगवतः संक्षेपतः शासनम्।

वसदु अधिवसतु तिष्ठतु। स कः कर्ता। **समणो** श्रमणः। क। **तम्हि** तस्मिन्नधिकरणभूते **णिच्चं** नित्यं सर्वकालम्। तस्मिन्कुत्र। **समणं** श्रमणे लक्षणवशादधिकरणे कर्म पठ्यते। कथंभूते श्रमणे। **समं** समे समाने। कस्मात्। **गुणादो** बाह्याभ्यन्तररत्नत्रयलक्षणगुणात्। पुनरपि कथंभूते। **अहियं वा** स्वस्मादधिके वा। कैः। **गुणेहिं** मूलोत्तरगुणैः। यदि किम्। **इच्छदि जदि** इच्छति वाञ्छति यदि चेत्। कम्। **दुक्खपरिमोक्खं** स्वात्मोत्थसुखविलक्षणानां नारकादिदुःखानां मोक्षं दुःखपरिमोक्षमिति। अथ विस्तरः—यथाग्निसंयोगाज्जलस्य शीतलगुणविनाशो भवति तथा व्यावहारिकजनससंर्गात्संयतस्य संयमगुणविनाशो भवतीति ज्ञात्वा तपोधनः कर्ता समगुणं गुणाधिकं वा तपोधनमाश्रयति तदास्य तपोधनस्य यथा शीतलभाजनसहितशीतलजलस्य शीतलगुणरक्षा भवति तथा समगुणसंसर्गाद्गुणरक्षा भवति। यथा च तस्यैव जलस्य कर्पूरशर्करादिशीतलद्रव्यनिक्षेपे कृते सति शीतलगुणवृद्धिर्भवति तथा निश्चय-

---

ऐसा दिखलाते हैं—[**तस्मात्**] इस कारणसे, अर्थात् आगके सम्बंधमें जलकी तरह, मुनि भी लौकिककी कुसंगतिसे असयमी हो जाता है। इससे कुसंगतिको त्यागकर [**श्रमणः**] उत्तम मुनि [**यदि**] जो [**दुःखपरिमोक्षं**] दुःखसे मुक्त हुआ (छूटना) [**इच्छति**] चाहता है, तो [**गुणात् समं**] गुणोंसे अपने समान [**वा**] अथवा [**गुणैः अधिकं**] गुणोंमें अपनेसे अधिककी [**श्रमणम्**] श्रमणको [**तत्र**] इन दोनोंकी संगतिमें [**अधिवसतु**] निवास करना चाहिये। **भावार्थ**—जो मोक्षाभिलाषी मुनि हैं, उसको चाहिये, कि या तो गुणोंमें अपने समान हों, या अधिक हों, ऐसे दोनोंकी संगति करें, अन्यकी न करें। जैसे शीतल घरके कोनेमें शीतल जलके रखनेसे शीतल गुणकी रक्षा होती है, वह जल अति शीतल हो जाता है, बरफ मिश्रीकी संगतिसे और भी अधिक शीतल हो जाता है, उसी तरह गुणाधिक पुरुषकी संगतिसे गुण बढ़ते हैं, इसलिये सत्संगति करना योग्य है। मुनिको चाहिये, कि पहली अवस्थामें तो पूर्व कही हुई शुभोपयोगसे उत्पन्न प्रवृत्तिको स्वीकार करे, पीछे क्रमसे संयमकी

व्याकुर्वञ्जगतो विलक्षणपथां संसारमोक्षस्थितिं
जियात्संप्रति पञ्चरत्नमनघं सूत्रैरिमैः पञ्चभिः ॥

अथ संसारतत्त्वमुद्धाटयति—

जे अजधागहिदत्था एदे तच्च त्ति णिच्छिदा समये ।
अच्चंतफलसमिद्धं भमंति ते तो परं कालं ॥ ७१ ॥

ये अयथागृहीतार्था एते तत्त्वमिति निश्चिताः समये ।
अत्यन्तफलसमृद्धं भ्रमन्ति ते अतः परं कालम् ॥ ७१ ॥

ये स्वयमविवेकतोऽन्यथैव प्रतिपद्यार्थानित्थमेव तत्त्वमिति निश्चयमारचयन्तः सततं समुपचीयमानमहामोहमलमलीमसमानसतया नित्यमज्ञानिनो भवन्ति ते खलु समये स्थिता अप्यनासादितपरमार्थश्रामण्यतया श्रमणाभासाः सन्तोऽनन्तकर्मफलोपभोगप्राग्भारभयंकरमन-

---

व्यवहाररत्नत्रयगुणाधिकससर्गादिगुणवृद्धिर्भवतीति सूत्रार्थः ॥ ७० ॥ इतःपरं पञ्चमस्थले संक्षेपेण संसारस्वरूपस्य मोक्षस्वरूपस्य च प्रतीत्यर्थं पञ्चरत्नभूतगाथापञ्चकेन व्याख्यानं करोति । तद्यथा । अथ संसारस्वरूपं प्रकटयति—अत्यन्तफलसमृद्धं भ्रमन्ति न विद्यतेऽन्त इत्यत्यन्तं ते परं कालं द्रव्यक्षेत्रकालभवभावपञ्चप्रकारसंसारपरिभ्रमणरहितशुद्धात्मस्वरूपभावनाच्युताः सन्तः परिभ्रमन्ति । कम् । परं कालम् अनन्तकालम् । कथंभूतम् । नारकादिदुःखरूपात्यन्तफलसमृद्धम् । पुनरपि कथंभूतम् । अतो वर्तमानकालात्परं

उत्कृष्टतासे परम दशाको धारण करे । इसलिये हे भव्यो ! समस्त वस्तुकी प्रकाशनेवाली केवलज्ञानानन्दमयी अविनाशी अवस्थाको सब तरहसे पाकर अपने अतीन्द्रिय सुखको अनुभवो ॥ ७० ॥ इस प्रकार यह **शुभोपयोगका** अधिकार पूर्ण हुआ । आगे पंच रत्नोंको पाँच गाथाओंसे कहते हैं । ये पंच रत्न इस सिद्धान्तके मुकुट हैं, और भगवन्तके अनेकान्तमतको संक्षेपसे कहते हैं, और संसार मोक्षकी स्थितिको प्रगट करते हैं, इसलिये ये पंच रत्न जयवन्ते होवें । संसारतत्त्व १, मोक्षतत्त्व २, मोक्षतत्त्वका साधन ३, मोक्षतत्त्वसाधन सर्वमनोरथस्थान कथन ४, और शिष्यजनोंको शास्त्र-पठनका लाभ ५, ये पाँच रत्न हैं । आगे पाँचोंमें से प्रथम ही संसारतत्त्वको कहते हैं—[**ये**] जो पुरुष [**समये**] जिनमतमें द्रव्यलिंग अवस्था धारणकर तिष्ठते भी हैं, लेकिन [**अयथागृहीतार्थाः**] अन्यथा पदार्थोंका स्वरूप ग्रहण करते हुए [**एते तत्त्वं**] जो पदार्थ हमने जानलिये हैं, ये ही वस्तुका स्वरूप है, [**इति**] ऐसा मिथ्यापना मानकर [**निश्चिताः**] निश्चय कर बैठे हैं, [**ते**] ऐसे वे श्रमणाभास मुनि [**अतः**] इस वर्तमानकालसे आगे [**अत्यन्तफलसमृद्धं**] अनन्तभ्रमणरूपी फलकर पूर्ण [**परं कालं**] अनंतकालपर्यंत [**भ्रमन्ति**] भटकते हैं । **भावार्थ**—ये अज्ञानी मुनि मिथ्याबुद्धिसे पदार्थका श्रद्धान नहीं करते हैं, अन्यकी अन्य कल्पना करते हैं, और सदा महामोह मलकर चित्तकी मलिनतासे अविवेकी हैं, यद्यपि द्रव्यलिंगको धारण कर रहे हैं, तो भी परमार्थ मुनिपनेको नहीं प्राप्त हुए हैं, जो मुनिके समान मालूम पड़ते हैं, वे अनंतकालतक अनंतपरावर्तनकर भयानक कर्म-फलको भोगते हुए भटकते हैं । इस-

न्तकालमनन्तभवान्तरपरावर्तैरनवस्थितवृत्तयः संसारतत्त्वमेवावबुध्यताम् ॥ ७१ ॥

अथ मोक्षतत्त्वमुद्घाटयति—

अजधाचारविजुत्तो जधत्थपदणिच्छिदो पसंतप्पा ।
अफले चिरं ण जीवदि इह सो संपुण्णसामण्णो ॥ ७२ ॥
अयथाचारवियुक्तो यथार्थपदनिश्चितः प्रशान्तात्मा ।
अफले चिरं न जीवति इह स संपूर्णश्रामण्यः ॥ ७२ ॥

यस्त्रिलोकचूलिकायमाननिर्मलविवेकदीपिकालोकशालितया यथावस्थितपदार्थनिश्चयनिवर्तितौत्सुक्यस्वरूपमन्थरसततोपशान्तात्मा सन् स्वरूपमेकमेवाभिमुख्येन चरन्नयथाचारवियुक्तो नित्यं ज्ञानी स्यात् स खलु संपूर्णश्रामण्यः साक्षात् श्रमणो हेलावकीर्णसकलप्राक्तनकर्मफलत्वादनिष्पादितनूतनकर्मफलत्वाच्च पुनः प्राणधारणदैन्यमनास्कन्दन् द्वितीयभावपरावर्ताभावात् शुद्धस्वभावावस्थितवृत्तिर्मोक्षतत्त्वमवबुध्यताम् ॥ ७२ ॥

भाविनमिति । अयमत्रार्थः—इत्थंभूतसंसारपरिभ्रमणपरिणतपुरुषा एवाभेदेन संसारस्वरूपं ज्ञातव्यमिति ॥ ७१ ॥ अथ मोक्षस्वरूपं प्रकाशयति —**अजधाचारविजुत्तो** निश्चयव्यवहारपञ्चाचारभावनापरिणतत्वादयथाचारवियुक्तः विपरीताचाररहित इत्यर्थः । **जधत्थपदणिच्छिदो** सहजानन्दैकस्वभावनिजपरमात्मादिपदार्थपरिज्ञानसहितत्वाद्यथार्थपदनिश्चितः **पसंतप्पा** विशिष्टपरमोपशमभावपरिणतनिजात्मद्रव्यभावनासहितत्वात्प्रशान्तात्मा **जो** यः कर्ता **सो संपुण्णसामण्णो** स संपूर्णश्रामण्यः सन् **चिरं ण जीवदि** चिरं बहुतरकालं न जीवति न तिष्ठति **अफले** शुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्नसुखामृतरसास्वादरहितत्वेनाफले संसारे । किम् । शीघ्रं मोक्षं गच्छतीति । अयमत्र भावार्थः—इत्थंभूतमोक्षतत्त्वपरिणत पुरुष एवाभेदेन मोक्षस्वरूपं ज्ञातव्यमिति

लिये ऐसे श्रमणाभास मुनिको संसारतत्त्व जानना चाहिये, दूसरा कोई संसार नहीं है, जो जीव मिथ्याबुद्धि लिये हुए हैं, वे ही जीव संसार हैं ॥ ७१ ॥ आगे मोक्षतत्त्वको प्रगट करते है—[**अयथाचारवियुक्तः**] जो पुरुष मिथ्या आचरणसे रहित है, अर्थात् यथावत् स्वरूपाचरणमें प्रवर्तते हैं, [**यथार्थपदनिश्चितः**] जैसा कुछ पदार्थोंका स्वरूप है, वैसा ही जिसने निश्चल श्रद्धान कर लिया है, [**प्रशान्तात्मा**] और जो राग द्वेषसे रहित है, ऐसा [**सः**] वह पुरुष [**संपूर्णश्रामण्यः**] सम्पूर्ण मुनिपदवी सहित हुआ [**इह**] इस [**अफले**] फल रहित संसारमें [**चिरं**] बहुत कालतक [**न जीवति**] प्राणोंको नहीं धारण करते हैं, थोड़े कालतक ही रहते हैं। **भावार्थ**—त्रिलोकका चूडामणिरत्न समान निर्मल विवेकरूपी दीपकके प्रकाशसे जिस महामुनिने यथावत् पदार्थोंका निश्चय किया है, और एक अपने ही स्वरूपको मुख्यपनेसे आचरता है, विपरीत आचरणसे रहित हुआ, सदाकाल ज्ञानी है, ऐसा परिपूर्ण मुनिपदवीका धारक महामुनि पूर्व बँधे समस्त कर्म-फलोंकी निर्जरा करता है, नवीन कर्मबंध-फलका उत्पन्न करनेवाला नहीं होता, इससे फिर संसारिक प्राणोंके धारण करनेकी दीनताको नहीं करता। जिसके दूसरी पर्यायका अभाव है, ऐसा यह शुद्ध स्वरूपमें स्थित मुनि है, उसीको तुम मोक्ष-

अथ मोक्षतत्त्वसाधनतत्त्वमुद्घाटयति—

सम्मं विदिदपदत्था चत्ता उवहिं बहित्थमज्झत्थं ।
विसयेसु णावसत्ता जे ते सुद्ध त्ति णिद्दिट्ठा ॥ ७३ ॥
सम्यग्विदितपदार्थास्त्यक्त्वोपधिं बहिस्थमध्यस्थम् ।
विषयेषु नावसक्ता ये ते शुद्धा इति निर्दिष्टाः ॥ ७३ ॥

अनेकान्तकलितसकलज्ञातृज्ञेयतत्त्वयथावस्थितस्वरूपपाण्डित्यशौण्डाः सन्तः समस्तबहिरङ्गान्तरङ्गसंगसंगतिपरित्यागविविक्तान्तश्चकचकायमानानन्तशक्तिचैतन्यभास्वरात्मतत्त्वस्वरूपाः स्वरूपगुप्तसुषुप्तकल्पान्तस्तत्त्ववृत्तितया विषयेषु मनागप्यासक्तिमनासादयन्तः समस्तानुभाववन्तो भगवन्तः शुद्धा एवासंसारघटितविकटकर्मकवाटविघटनपटीयसाध्यवसायेन प्रकटीक्रियमाणावदानावमोक्षतत्त्वसाधनतत्त्वमवबुध्यताम् ॥ ७३ ॥

॥ ७२ ॥ अथ मोक्षकारणमाख्याति—**सम्मं विदिदपदत्था** संशयविपर्ययानध्यवसायरहितानन्तज्ञानादिस्वभावनिजपरमात्मपदार्थप्रभृतिसमस्तवस्तुविचारचतुरचित्तचातुर्यप्रकाशमानसातिशयपरमविवेकज्योतिषा सम्यग्विदितपदार्थाः । पुनरपि किंरूपाः । **विसयेसु णावसत्ता** पञ्चेन्द्रियविषयाधीनरहितत्वेन निजात्मतत्त्वभावनारूपपरमसमाधिसंजातपरमानन्दैकलक्षणसुखसुधारसास्वादानुभवनफलेन विषयेषु मनागप्यनासक्ताः । किं कृत्वा । पूर्वं स्वस्वरूपपरिग्रहं स्वीकारं कृत्वा **चत्ता** त्यक्त्वा । कम् । **उवहिं** उपधिं परिग्रहम् । किंविशिष्टम् । **बहित्थमज्झत्थं** बहिःस्थं क्षेत्राद्यनेकविधं मध्यस्थं मिथ्यात्वादिचतुर्दशभेदभिन्नम् । **जे** एवंगुणविशिष्टाः ये महात्मानः **ते सुद्ध त्ति णिद्दिट्ठा** ते शुद्धात्मानः शुद्धोपयोगिनः सिद्धयन्ति इति निर्दिष्टाः कथिताः । अनेन व्याख्यानेन किमुक्तं भवति—इत्थंभूताः परमयोगिन एवाभेदेन मोक्षमार्गा इत्यवबोद्धव्याः ॥ ७३ ॥ अथ शुद्धोपयोगलक्षणमोक्षमार्गं सर्वमनोरथस्थानत्वेन प्रदर्शयति—**भणियं** भणितम् ।

तत्त्व जानो, अन्य मोक्ष नहीं । जो परद्रव्यसे मुक्त हुआ स्वरूपमें लीन है, वही जीव मुक्त है ॥७२॥ आगे मोक्षतत्त्वका साधनतत्त्व दिखलाते है—[**ये**] जो जीव [**सम्यग्**] यथार्थ [**विदितपदार्थाः**] समस्त तत्त्वोंको जानते हैं, तथा [**बहिस्थमध्यस्थं**] बाह्य और अंतरंग रागादि [**उपधिं**] परिग्रहको [**त्यक्त्वा**] छोड़कर [**विषयेषु**] पाँच इन्द्रियोंके स्पर्शादि विषयोंमें [**न अवसक्ताः**] लीन नहीं है [**ते**] वे, जीव [**शुद्धाः**] निर्मल भगवन्त मोक्षतत्त्वके साधन हैं, [**इति**] ऐसे [**निर्दिष्टाः**] कहे गये हैं । **भावार्थ—**जो अनेकान्तपने सहित सकल ज्ञेय ज्ञायक तत्त्वोंके यथार्थ जाननेमें प्रवीण है, समस्त बाह्य अंतर परिग्रहको त्यागकर दैदीप्यमान हुए है, अनंत ज्ञानशक्तिकर विराजमान आत्मतत्त्व जिनके घटमें है, इन्द्रियोंके विषयोंमें किसी समय भी आसक्त नहीं होते, स्वरूपमें ऐसे लीन हैं, कि मानों सुखसे सोरहे है, इसलिये विषयोंसे रहित है, संसारमें लगे कर्मरूप किवाड़ोंके उघाड़नेको जिन्होंसे अपनी शक्ति प्रगट की है, और महाप्रभाव सहित हैं, ऐसे शुद्धजीव है, वे ही मोक्षतत्त्वके साधक जानने चाहिये ॥ ७३ ॥ आगे मोक्षतत्त्वका साधनतत्त्व सर्व मनोवाञ्छित अर्थोंका स्थान

अथ मोक्षतत्त्वसाधनतत्त्वं सर्वमनोरथस्थानत्वेनाभिनन्दयति—

सुद्धस्स य सामण्णं भणियं सुद्धस्स दंसणं णाणं ।
सुद्धस्स य णिव्वाणं सो च्चिय सिद्धो णमो तस्स ॥ ७४ ॥

शुद्धस्य च श्रामण्यं भणितं शुद्धस्य दर्शनं ज्ञानम् ।
शुद्धस्य च निर्वाणं स एव सिद्धो नमस्तस्मै ॥ ७४ ॥

यत्तावत्सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रयौगपद्यप्रवृत्तैकाग्र्यलक्षणं साक्षान्मोक्षमार्गभूतं श्रामण्यं तच्च शुद्धस्यैव । यच्च समस्तभूतभवद्भाविव्यतिरेककरम्बितानन्तवस्त्वन्वयात्मकविश्वसामान्यविशेषप्रत्यक्षप्रतिभासात्मकं दर्शनं ज्ञानं च तत् शुद्धस्यैव । यच्च निःप्रतिघविजृम्भितसहजज्ञानानन्दमुद्रितदिव्यस्वभावं निर्वाणं तत् शुद्धस्यैव । यश्च टङ्कोत्कीर्णपरमानन्दावस्थासुस्थितात्मस्वभावोपलम्भगम्भीरो भगवान् सिद्धः स शुद्ध एव । अलं वाग्विस्तारेण, सर्वमनोरथस्थानस्य मोक्षतत्त्वसाधनतत्त्वस्य शुद्धस्य परस्परमङ्गाङ्गिभावपरिणतभाव्यभावकभावत्वात्प्रत्यस्तमितस्व-

किम् । **सामण्णं** सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैकाग्र्यशत्रुमित्रादिसमभावपरिणतिरूपं साक्षान्मोक्षकारणं यच्छ्रामण्यम् । तत्तावत्कस्य । **सुद्धस्स य** शुद्धस्य च शुद्धोपयोगिन एव **सुद्धस्स दंसणं णाणं** त्रैलोक्योदरविवरवर्तित्रिकालविषयसमस्तवस्तुगतानन्तधर्मैकसमयसामान्यविशेषपरिच्छित्तिसमर्थं दर्शनज्ञानद्वयं तच्छुद्धस्यैव **सुद्धस्स य णिव्वाणं** अव्याबाधानन्तसुखादिगुणाधारभूतं पराधीनरहितत्वेन स्वायत्तं यन्निर्वाणं तच्छुद्धस्यैव **सो च्चिय सिद्धो** यो लौकिकमायाञ्जनरसदिग्विजयमन्त्रयन्त्रादिसिद्धविलक्षणः स्वशुद्धात्मोपलम्भलक्षणटङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावो ज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्मरहितत्वेन सम्यक्त्वाद्यष्टगुणान्तर्भूतानन्तगुणसहितसिद्धो भगवान् स चैव शुद्धः, एवं **णमो तस्स** निर्दोषिनिजपरमात्मन्याराध्याराधकसंबन्धलक्षणो भावनमस्कारोऽस्तु तस्यैव । अत्रैतदुक्तं भवति–अस्य मोक्षकारणभूतशुद्धोपयोगस्य मध्ये सर्वेष्टमनोरथा लभ्यन्त इति मत्वा

है, यह दिखलाते हैं—[**शुद्धस्य**] जो परम वीतरागभावको प्राप्त हुआ मोक्षका साधक परम योगीश्वर है, उसके [**श्रामण्यं**] सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रकी एकताकर एकाग्रता लिये हुए साक्षात् मोक्षमार्गरूप यतिपद [**भणितं**] कहा है, [**च**] और [**शुद्धस्य**] उसी शुद्धोपयोगी मोक्षसाधक मुनीश्वरके [**दर्शनं ज्ञानं**] अतीत, अनागत, वर्तमान, अनन्त पर्याय सहित सकल पदार्थोंको सामान्य विशेषतासे देखना जानना भी कहा है, [**च**] तथा [**शुद्धस्य**] उसी शुद्धोपयोगी मोक्षमार्गी मुनीश्वरके [**निर्वाणं**] निरावरण अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सहित परम निर्मल मोक्ष-अवस्था भी है, [**स एव**] वही शुद्ध मोक्ष-साधन [**सिद्धः**] टंकोत्कीर्ण परम आनन्द अवस्थामें थिररूप निरावरण दशाको प्राप्त परब्रह्मरूप साक्षात् सिद्ध है, [**तस्मै**] ऐसे सर्वमनोरथके ठिकाने मोक्ष-साधन शुद्धोपयोगीको [**नमः**] हमारा भावनमस्कार होवे । **भावार्थ—**बहुत विस्तारसे कहाँतक कहा जाय, यह जो मोक्षतत्त्वका साधन शुद्धोपयोगी महामुनि है, वह सब मनोवाञ्छित कार्योंका स्थान है, क्योंकि इस दशाके होनेपर सब मनोरथ पूर्ण होते हैं, इससे यह मोक्ष-मार्ग है, इसीके अनंत ज्ञान दर्शन हैं, इसीको

परविभागो भावनमस्कारोऽस्तु ॥ ७४ ॥

अथ शिष्यजनं शास्त्रफलेन योजयन् शास्त्रं समापयति—

बुज्झदि सासणमेयं सागारणगारचरियया जुत्तो ।
जो सो पवयणसारं लहुणा कालेण पप्पोदि ॥ ७५ ॥

बुध्यते शासनमेतत् साकारानाकारचर्यया युक्तः ।
यः स प्रवचनसारं लघुना कालेन प्राप्नोति ॥ ७५ ॥

यो हि नाम सुविशुद्धज्ञानदर्शनमात्रस्वरूपव्यवस्थितवृत्तिसमाहितत्वात् साकारानाकारचर्यया युक्तः सन् शिष्यवर्गः स्वयं समस्तशास्त्रार्थविस्तरसंक्षेपात्मकश्रुतज्ञानोपयोगपूर्वकानुभावेन केवलमात्मानमनुभवन् शासनमेतद् बुध्यते स खलु निरवधित्रिसमयप्रवाहावस्थायित्वेन सकलार्थसार्थात्मकस्य प्रवचनस्य सारभूतं भूतार्थस्वसंवेद्यदिव्यज्ञानानन्दस्वभावमननुभूतपूर्वं

शेषमनोरथपरिहारं तत्रैव भावना कर्तव्येति ॥७४॥ अथ शिष्यजनं शास्त्रफलं दर्शयन् शास्त्रं समापयति— **पप्पोदि** प्राप्नोति **सो** शिष्यजनः कर्ता । कम् । **पवयणसारं** प्रवचनसारशब्दवाच्यं निजपरमात्मानम् । केन । **लहुणा कालेण** स्तोककालेन । यः किं करोति । **बुज्झदि** यः शिष्यजनो बुध्यते जानाति । किम् । **सासणमेयं** शास्त्रमिदम् । किं नाम । **पवयणसारं** सम्यग्ज्ञानस्य तस्यैव ज्ञेयभूतपरमात्मादिपदार्थानां तत्साध्यस्य निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानस्य च तथैव तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणसम्यग्दर्शनस्य तद्विषयभूतानेकान्तात्मकपरमात्मादिद्रव्याणां तेन व्यवहारसम्यक्त्वेन साध्यस्य निजशुद्धात्मरुचिरूपनिश्चयसम्यक्त्वस्य तथैव च व्रतसमितिगुप्त्याद्यनुष्ठानरूपस्य सरागचारित्रस्य तेनैव साध्यस्य स्वशुद्धात्मनिश्चलानुभूतिरूपस्य वीतरागचारित्रस्य च प्रतिपादकत्वात्प्रवचनसाराभिधेयम् । कथंभूतः स शिष्यजनः । **सागारणगारचरियया जुत्तो** सागारानागारचर्यया युक्तः । (आभ्यन्तररत्नत्रयानुष्ठानमुपादेयं कृत्वा बहिरङ्गरत्नत्रयानुष्ठानं सागरचर्या श्रावकचर्या । बहिरङ्गरत्नत्रयाधारेणाभ्यन्तररत्नत्रयानुष्ठानमनागारचर्या प्रमत्तसंयतादितपोधनचर्येत्यर्थः) ॥ ७५ ॥ इति गाथापञ्चकेन पञ्चरत्नसंज्ञं पञ्चमस्थलं व्याख्यानम् । एवं 'णिच्छिदसुत्तत्थपदो' इत्यादि द्वात्रिंशद्गा-

---

मोक्ष है, और यही साक्षात् सिद्ध है । जो सब उत्तम अवस्थायें हैं, उन रूप यही मानना चाहिये ॥ ७४ ॥ आगे शिष्यजनोंको शास्त्रका फल दिखलाकर शास्त्रकी समाप्ति करते हैं —[**यः**] जो पुरुष [**साकारानाकारचर्यया युक्तः**] श्रावक और मुनिकी क्रियासे संयुक्त हुआ [**एतत् शासनं**] इस भगवन्तप्रणीत उपदेशको [**बुध्यते**] समझता है, [**सः**] वह [**लघुना कालेन**] थोड़े ही कालमें [**प्रवचनसारं**] सिद्धान्तके रहस्यभूत परमात्मभावको [**प्राप्नोति**] पाता है । **भावार्थ—** जो कोई शिष्यजन निर्मल ज्ञान दर्शनमें स्थिर होके श्रावक अथवा यतिभावको प्राप्त हुआ संक्षेप विस्ताररूप अर्थोंसे गर्भित श्रुतज्ञानको पहले यथावत् (जैसेका तैसा) जानकर, आत्माको अनुभवता हुआ, इस भगवत्प्रणीत उपदेशको समझता है, वह पुरुष सकल पदार्थोंका सूचक इस प्रवचन सिद्धान्तका सारभूत स्वसंवेदन ज्ञानगम्य सच्चिदानंद पूर्वमें नहीं अनुभव किया था, जिसका ऐसे भगवन्त आत्माको

भगवन्तमात्मानमवाप्नोति ॥ ७५ ॥ गाथासमाप्तिः ॥

इति तत्त्वदीपिकायां श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां प्रवचनसारवृत्तौ चरणानुसूचिका-नामकस्तृतीयः श्रुतस्कन्धः समाप्तः ॥ ३ ॥

ननु कोऽयमात्मा कथं चावाप्य इति चेत्, अभिहितमेतत् पुनरप्यभिधीयते । आत्मा हि तावच्चैतन्यसामान्यव्याप्तानन्तधर्माधिष्ठात्रेकं द्रव्यमनन्तधर्मव्यापकानन्तनयव्याप्येकश्रुतज्ञानलक्षण-प्रमाणपूर्वकस्वानुभवप्रमीयमाणत्वात् । तत्तु द्रव्यनयेन पटमात्रवच्चिन्मात्रम् १ । पर्यायनयेन तन्तुमात्रवद्दर्शनज्ञानादिमात्रम् २ । अस्तित्वनयेनायोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसंहितावस्थल-क्ष्योन्मुखविशिखवत् । स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैरस्तित्ववत् ३ । नास्तित्वनयेनानयोमयागुणकार्मु-कान्तरालवर्त्यसंहितावस्थालक्ष्योन्मुखप्राक्तनविशिखवत् । परद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्नास्तित्ववत् ४ ।

भाभिः स्थलपञ्चकेन शुभोपयोगाभिधानश्चतुर्थान्तराधिकारः समाप्तः ॥

इति श्री**जयसेनाचार्य**कृतायां तात्पर्यवृत्तौ पूर्वोक्तक्रमेण 'एवं पणमिय सिद्धे' इत्याद्येकविंशतिगाथा-भिरुत्सर्गाधिकारः । 'ण हि णिरवेक्खो चागो' इत्यादि त्रिंशद्गाथाभिरपवादाधिकारः । ततः परं 'एयग्गगदो समणो' इत्यादिचतुर्दशगाथाभिः श्रामण्यापरनामा मोक्षमार्गाधिकारः । ततोऽप्यनन्तरं 'णिच्छिदसुत्तत्थपदो' इत्यादिद्वात्रिंशद्गाथाभिः शुभोपयोगाधिकारश्चेत्यन्तराधिकारचतुष्टयेन सप्तनवतिगाथाभिश्च**रणानुयोग-चूलिका** नामा तृतीयो महाधिकारः समाप्तः ॥ ३ ॥

अत्राह शिष्यः । परमात्मद्रव्यं यद्यपि पूर्वं बहुधा व्याख्यातम् । तथापि संक्षेपेण पुनरपि कथ्यतामिति भगवानाह—केवलज्ञानाद्यनन्तगुणानामाधारभूतं यत्तदात्मद्रव्यं भण्यते । तस्य च नयैः प्रमाणेन च परीक्षा क्रियते । तद्यथा—एतावत् शुद्धनिश्चयेन निरुपाधिस्फटिकवत्समस्तरागादिविकल्पोपाधिरहितम् ।

पाता है ॥ ७५ ॥

इति श्री**पांडे हेमराज**कृत श्रीप्रवचनसार सिद्धान्तकी बालावबोधभाषाटीकामें **चारित्र** अधिकार पूर्ण हुआ ॥ ३ ॥

जो कोई यह प्रश्न करे, कि यह आत्मा कैसा है ? और इसकी प्राप्ति किस तरह होती है ? तो उसका समाधान पहले भी कर आये है, और फिर भी तात्पर्यरूपसे कहते है—यह आत्मा चैतन्यरूप अनन्त धर्मात्मक एक द्रव्य है, वे अनन्त धर्म अनन्त नयोंसे जाने जाते हैं, अनन्त नयरूप श्रुतज्ञान है। उस श्रुतज्ञानप्रमाणसे अनन्त धर्मस्वरूप आत्मा जाना जाता है, इस कारण नयोंसे वस्तु दिखलाई जाती है । वही आत्मा द्रव्यार्थिकनयकर चिन्मात्र है, जैसे वस्त्र एक है, और पर्यायार्थिकनयकर वही आत्मा ज्ञान दर्शनादिरूपसे अनेकस्वरूप है, जैसे वही वस्त्र सूतके तंतुओंसे अनेक है । वही आत्मा अस्तित्व-नयकर स्वद्रव्य क्षेत्र, काल, भावोंसे अस्तित्वरूप है, जैसे लोहेका बाण अपने द्रव्यादि चतुष्टयकर अस्तित्वरूप है, उसमें लोहा तो द्रव्य है, वह धनुष और डोराके बीचमें रहता है, इससे वह बाणका क्षेत्र है, जो साधनेका समय है, वह काल है, और निशानके सामने है, वह भाव हैं, इस तरह अपने

अस्तित्वनास्तित्वनयेनायोमयानयोमगुणकार्मुकान्तरालवर्त्यगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसंहितावस्थासंहितावस्थलक्ष्योन्मुखालक्ष्योन्मुखमाक्तनविशिखवत् क्रमतः स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैरस्तित्वनास्तित्ववत् ५। अवक्तव्यनयेनायोमयानयोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्त्यसंहितावस्थलक्ष्योन्मुखलक्ष्योन्मुखमाक्तनविशिखवत् युगपत्स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैरवक्तव्यम् ६। अस्तित्वावक्तव्यनयेनायोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसंहितावस्थासंहितावस्थलक्ष्योन्मुखायोमयानयोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्त्यगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसंहितावस्थासंहितावस्थलक्ष्योन्मुखालक्ष्योन्मुखमाक्तनविशिखवत् स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्युगपत् स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्चास्तित्ववदवक्तव्यम् ७। नास्तित्वावक्तव्यनयेनानयोमयागुणकार्मुकान्तरालवर्त्यसंहितावस्थालक्ष्योन्मुखायोमयानयोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्त्यगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसंहितावस्थासंहितावस्थलक्ष्योन्मुखालक्ष्योन्मुखमाक्तनविशिखवत् परद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्युगपत्स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्च नास्तित्ववदवक्तव्यम् ८। अस्तित्वनास्तित्वावक्त-

---

तदेवाशुद्धनिश्चयनयेन सोपाधिस्फटिकवत्समस्तरागादिविकल्पोपाधिसहितम् । शुद्धसद्भूतव्यवहारनयेन शुद्धस्पर्शरसगन्धवर्णानामाधारभूतपुद्गलपरमाणुवत्केवलज्ञानादिशुद्धगुणानामाधारभूतम् । तदेवाशुद्धसद्भूतव्यवहारनयेनाशुद्धस्पर्शरसगन्धवर्णाधारभूतद्व्यणुकादिस्कन्धवन्मतिज्ञानादिविभावगुणानामाधारभूतम्। अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयेन द्व्यणुकादिस्कन्धसंश्लेशबन्धस्थितपुद्गलपरमाणुवत्परमौदारिकशरीरे वीतरागसर्वज्ञवद्वा

चतुष्टयकर लोहमई बाण अस्तित्वरूप है, उसी प्रकार स्वचतुष्टयकर आत्मा अस्तित्वरूप है। वही आत्मा नास्तित्वनयकर पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे नास्तित्वरूप है, जैसे वही लोहमई बाण परचतुष्टयसे लोहमई नहीं है, धनुष और डोरांके बीचमें नहीं है, साधनेका समय अन्य नहीं है, और निशानेके सामने नहीं है, ऐसे वही लोहमई बाण परचतुष्टय नयकर नास्तित्वरूप है, उसी प्रकार परचतुष्टयसे आत्मा नहीं है। वही आत्मा अस्तिनास्तित्वनयसे स्वचतुष्टय परचतुष्टयके क्रमसे अस्तिनास्तिरूप है, जैसे वही बाण स्वचतुष्टय परचतुष्टयकी क्रम-विवक्षासे अस्तिनास्तिरूप होता है। वही आत्मा अवक्तव्यनयकर एक ही समय स्वचतुष्टय परचतुष्टय अवक्तव्य है, जैसे वही बाण स्वपरचतुष्टयकर अवक्तव्य साधता है। वही आत्मा अस्तिअवक्तव्यनयकर स्वचतुष्टयकर और एक ही बार स्वपरचतुष्टयकर अस्तिअवक्तव्यरूप बाणके दृष्टान्तसे समझ लेना। नास्तिअवक्तव्यनयकर वही आत्मा परद्रव्य, क्षेत्र, काल भावोंकर और एक ही समय स्वपरचतुष्टयकर नास्तिअवक्तव्यरूप बाणके दृष्टान्तसे जान लेना। अस्तिनास्तिअवक्तव्यनयकर वही आत्मा स्वचतुष्टयकर परचतुष्टयकर और एक ही बार स्वपरचतुष्टयकर बाणकी तरह अस्तिनास्तिअवक्तव्यरूप सिद्ध होता है। विकल्पनयकर वही आत्मा भेद लिये हुए है, जैसे एक पुरुष, कुमार, बालक, जवान, वृद्ध भेदोंसे सविकल्प होता है। अविकल्पनयकर वही आत्मा अभेदरूप है, जैसे वही पुरुष अभेदरूप है। नामनयकर वही आत्मा शब्दब्रह्मसे नाम लेके कहा जाता है। स्थापनानयकर वही आत्मा पुद्गलका सहारा लेकर स्थापित किया जाता है। जैसे मूर्तीक पदार्थकी स्थापना है। द्रव्यनयकर वही आत्मा अतीत अनागत पर्यायकर कहाजाता है, जैसे श्रेणिकराजा तीर्थंकर-

व्यनयेनायोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसंहितावस्थलक्ष्योन्मुखानयोमयागुणकार्मुकान्तरालवर्त्यसंहितावस्थालक्ष्योन्मुखायोमयानयोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्त्यगुणकार्मुकान्तरलवर्तिसंहितावस्थासंहितावस्थलक्ष्योन्मुखालक्ष्योन्मुखप्राक्तनविशिखवत् स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः परद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्युगपत्स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्चास्तित्वनास्तित्ववदवक्तव्यम् ९। विकल्पनयेन शिशुकुमारस्थविरैकपुरुषवत्सविकल्पम् १०। अविकल्पनयेनैकपुरुषमात्रवदविकल्पम् ११। नामनयेन तदात्मवत् शब्दब्रह्मामर्शि १२। स्थापनानयेन मूर्तित्ववत्सकलपुद्गलालम्बि १३। द्रव्यनयेन माणवकश्रेष्ठिश्रमणपार्थिववदनागतातीतपर्यायोद्भासि १४। भावनयेन पुरुषायितप्रवृत्तयोषिद्वत्तदात्वपर्यायोल्लासि १५। सामान्यनयेन हारस्रग्दामसूत्रवद्व्यापि १६। विशेषनयेन तदेकमुक्ताफलवदव्यापि १७। नित्यनयेन नटध्रुववदवस्थायि १८। अनित्यनयेन रामरावणवदनवस्थायि १९। सर्वगतनयेन विस्फारिताक्षचक्षुर्वत्सर्ववर्ति २०। असर्वगतनयेन मीलिताक्षचक्षुर्वदात्मवर्ति २१। शून्यनयेन शून्यागारवत्केवलोद्भासि २२। अशून्यनयेन लोकाक्रान्तनौवन्मिलितोद्भासि २३।

विविक्षितैकदेहस्थितम्। उपचरितासद्भूतव्यवहारनयेन काष्ठासनाद्युपविष्टदेवदत्तवत्समवशरणस्थितवीतरागसर्वज्ञवद्वा विवक्षितैकग्रामगृहादिस्थितम्। इत्यादि परस्परसापेक्षानेकनयैः प्रमीयमाणं व्यवह्रियमाणं क्रमेण मेचकस्वभावविवक्षितैकधर्मव्यापकत्वादेकस्वभावं भवति। तदेव जीवद्रव्यं प्रमाणेन प्रमीयमाणं मेचकस्वभावानामनेकधर्माणां युगपद्व्यापकचित्रपटवदनेकस्वभावं भवति। एवं नयप्रमाणाभ्यां तत्त्वविचारकाले

महाराज हैं। भावनयकर वही आत्मा जिस भावरूप परिणमता है, उस भावसे तन्मय हो जाता है, जैसे पुरुषाधीन स्त्री विपरीत संभोगमें प्रवर्तती हुई उस पर्यायरूप होती है, उसी प्रकार आत्मा वर्तमान पर्यायरूप होता है। सामान्यनयकर अपने समस्त पर्यायोंमें व्यापी है, जैसे हारका सूत सब मोतियोंमें व्यापी है। विशेषनयकर वही द्रव्य एक पर्यायकर कहा जाता है, जैसे उस हारका एक मोती सब हारोंमें अव्यापी है। नित्यनयकर ध्रौव्यरूप है, जैसे नट यद्यपि अनेक स्वांग रचता है, तो भी नट एक है, उसी तरह नित्य है। अनित्यनयकर वही द्रव्य अवस्थान्तरकर अनवस्थित है, जैसे नट राम रावणादिके स्वांगकर अन्यका अन्य होजाता है। सर्वगतनयकर सकलपदार्थवर्ती है, जैसे खुली आँख समस्त घट पटादि पदार्थोंमें प्रवर्तती है। असर्वगतनयकर अपनेमें ही प्रवृत्ति करती है, जैसे बंद किया हुआ नेत्र अपनेमें ही मौजूद रहता है। शून्यनयकर केवल एक ही शोभायमान है, जैसे शून्य घर एक ही है। अशून्यनयकर अनेकोंसे मिला हुआ शोभता है, जैसे अनेक लोगों से भरी हुई नाव शोभती है। ज्ञान ज्ञेयके अभेद कथनरूप नयकर एक है, जैसे अनेक ईंधनरूप परिणत हुई आग एक है। ज्ञानज्ञेयके भेदकथनरूपनयकर अनेक है, जैसे आरसी (दर्पण) अपने अनेक घट पटादि पदार्थोंके प्रतिबिम्बसे अनेकरूप होती है। नियतनयकर अपने निश्चित स्वभावको लिये हुए है, जैसे जल अपने सहज स्वभावकर शीतलता लिए होता है। अनियतनयकर अनिश्चित स्वभाव है, जैसे पानी आगके सम्बन्धसे उष्ण हो जाता है। स्वभावनयकर किसीका बनाया हुआ नहीं होता, जैसे स्वभावकर कांटा विना बनाया हुआ तीखा (पैना)

ज्ञानज्ञेयाद्वैतनयेन महदिन्धनभारपरिणतधूमकेतुवदेकम् २४ । ज्ञानज्ञेयद्वैतनयेन परप्रतिबिम्बसंपृक्तदर्पणवदनेकम् २५ । नियतिनयेन नियमितौष्ण्यवह्निवन्नियतस्वभावभासि २६ । अनियतिनयेन नियत्यनियमितौष्ण्यपानीयवदनियतस्वभावभासि २७ । स्वभावनयेनानिशिततीक्ष्णकण्टकवत्संस्कारनर्थक्यकारि २८ । अस्वभावनयेनायस्कारनिशिततीक्ष्णविशिखवत्संस्कारसार्थक्यकारि २९ । कालनयेन निदाघदिवसानुसारिपच्यमानसहकारफलवत्समयायत्तसिद्धिः ३० । अकालनयेन कृत्रिमोष्मपाच्यमानसहकारफलवत्समयानायत्तसिद्धिः ३१ । पुरुषकारनयेन पुरुषकारोपलब्धमधुकुक्कुटीकपुरुषकारवादिवद्यत्नसाध्यसिद्धिः ३२ । दैवनयेन पुरुषकारवादिदत्तमधुकुक्कुटीगर्भलब्धमाणिक्यदैववादिवदयत्नसाध्यसिद्धिः ३३ । ईश्वरनयेन धात्रीहटावलेह्यमानपान्थबालकवत्पारतन्त्र्यभोक्तृ ३४ । अनीश्वरनयेन स्वच्छन्ददारितकुरङ्गकण्ठीरववत्स्वातन्त्र्यभोक्तृ ३५ । गुणिनयेनोपाध्यायविनीयमानकुमारकवद्गुणग्राहि ३६ । अगुणिनयेनोपाध्यायविनीयमानकुमारकाध्यक्षवत् केवलमेव साक्षि ३७ । कर्तृनयेन रञ्जकवद्रागादिपरिणामकर्तृ ३८ । अकर्तृनयेन स्वकर्मप्रवृत्तरञ्जकाध्यक्षवत्केवलमेव साक्षि ३९ । भोक्तृनयेन हिताहितान्न-

योऽसौ परमात्मद्रव्यं जानाति स निर्विकल्पसमाधिप्रस्तावे निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानेनापि जानातीति ॥ पुनरप्याह शिष्यः—ज्ञातमेवात्मद्रव्यं हे भगवन्निदानीं तस्य प्राप्त्युपायः कथ्यताम् । भगवानाह—सकलविमलकेवलज्ञानदर्शनस्वभावनिजपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसं-

होता है । अस्वभावनयकर सँभाला हुआ होता है, जैसे लोहेका बाण बनानेसे तीखा होता है । कालनयकर कालके आधीन सिद्धि होती है, जैसे ग्रीष्मकाल (गर्मी) के अनुसार डालका आम सहजमें पक जाता है । अकालनयकर कालके आधीन सिद्धि नहीं है, जैसे घासकी गर्मीसे पालमें आम पक जाता है । पुरुषाकारनयसे यत्नसे सिद्धि होती है. जैसे शहदके उत्पन्न करनेके लिये काठके छेदमें एक मधुमाखी रखते है, उस मक्षिकाके शब्दसे दूसरी शहदकी मक्खियाँ आकर अपने आप मधुछत्ता बनाती हैं, इस तरह यत्नसे भी शहदकी सिद्धि होती है, उसी प्रकार यत्नसे भी द्रव्यकी सिद्धि होती है । दैवनयकर विना यत्न भी साध्यकी सिद्धि होती है, जैसे यत्न किया था शहदके लिये परंतु दैवसंयोगसे उस मधुछत्तेमें माणिकरत्नकी प्राप्ति हो गई, इस तरह यत्न विना भी सिद्धि होती है । ईश्वरनयकर पराधीन हुआ भोगता है. जैसे पंथी बालक धायके आधीन हुआ खान पान किया करता है । अनीश्वरनयकर स्वाधीन भोक्ता है, जैसे स्वेच्छाचारी सिंह मृगोंको विदारणकर खान-पान क्रिया करता है । गुणनयकर गुणोंका ग्रहण करनेवाला है, जैसे उपाध्यायकर सिखाया हुआ कुमार गुणग्राही होता है । अगुणनयकर केवल साक्षीभूत है, गुणग्राही नहीं है, जैसे अध्यापकसे सिखलाये हुए कुमारका रक्षक पुरुष गुणग्राही नहीं होता । कर्तानयकर रागादि परिणामोंका कर्ता है, जैसे रँगरेज रंगका करनेवाला होता है । अकर्तानयकर रागादि परिणामोंका करनेवाला नहीं है, साक्षीभूत है, जैसे रँगरेज जब अनेक रंग करता है, तब कोई तमाशा देखनेवाला तमाशा ही देखता है, वह कर्ता नहीं होता । भोक्तानयकर सुख दुःखका भोक्ता

भोक्तृव्याधितवत्सुखदुःखादिभोक्तृ ४० । अभोक्तृनयेन हिताहितान्नभोक्तृव्याधिताध्यक्षधन्वन्तरिचरवत् केवलमेव साक्षि ४१ । क्रियानयेन स्थाणुभिन्नमूर्धजातदृष्टिलब्धनिधानान्धवदनुष्ठानप्राधान्यसाध्यसिद्धिः ४२ । ज्ञाननयेन चणकमुष्टिक्रीतचिन्तामणिगृहकोणवाणिजवद्विवेकप्राधान्यसाध्यसिद्धिः ४३ । व्यवहारनयेन बन्धकमोचकपरमाण्वन्तरसंयुज्यमानपरमाणुवद्बन्धमोक्षयोर्द्वैतानुवर्ति ४४ । निश्चयनयेन केवलबध्यमानमुच्यमानबन्धमोक्षोचितस्निग्धरूक्षत्वगुणपरिणतपरमाणुवद्बन्धमोक्षयोरद्वैतानुवर्ति ४५ । अशुद्धनयेन घटशरावविशिष्टमृण्मात्रवत्सोपाधिस्वभावम् ४६ । शुद्धनयेन केवलमृण्मात्रवन्निरुपाधिस्वभावम् ४७ । तदुक्तम्—

जातरागाद्युपाधिरहितपरमानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादानुभवमलभमानः सन् पूर्णमासीदिवसे जलकल्लोलक्षुभितसमुद्र इव रागद्वेषमोहकल्लोलैर्यावदस्वस्थरूपेण क्षोभं गच्छत्ययं जीवस्तावत्कालं निजशुद्धात्मानं न

है । जैसे हित, अहित पथ्यको लेता हुआ रोगी सुख दुःखको भोगता है । अभोक्तानयकर भोक्ता नहीं है, केवल साक्षीभूत है, जैसे हित, अहित पथ्यको भोगनेवाले रोगीका तमाशा देखनेवाला धन्वन्तरी वैद्यका नौकर साक्षीभूत है । क्रियानयकर क्रियाकी प्रधानतासे सिद्धि होती, जैसे किसी अंधेने महाकष्टसे किसी पाषाणके खंभेको पाकर अपना माथा फोड़ा, वहाँपर उस अंधेके मस्तकमें जो लोहू (रक्त)का विकार था, वह दूर हो गया, इस कारणसे उसकी आँखें खुल गईं, और उस जगह उसने खजाना पाया, इस प्रकार क्रिया-कष्टकर भी वस्तुकी प्राप्ति होती है । ज्ञाननयकर विवेककी ही प्रधानतासे वस्तुकी सिद्धि होती है, जैसे किसी रत्नके परीक्षक पुरुषने किसी अज्ञानी दीन पुरुषके हाथमें चिंतामणिरत्न देखा, तब उस दीनपुरुषको बुलाकर अपने घरके कोनेमें से एक मुट्ठी चनेके अन्नकी देकर उसके बदले चिंतामणिरत्न ले लिया, उसी प्रकार क्रिया-कष्टके विना ही वस्तुकी सिद्धि होती है । व्यवहारनयकर यह आत्मा बंध मोक्षावस्थाकी द्विविधामें प्रवर्तता है, जैसे एक परमाणु दूसरे परमाणुसे बंधता है, और खुलता है, उसी प्रकार यह आत्मा बंध मोक्ष अवस्थाको पुद्गलके साथ धारण करता है । निश्चयनयकर परद्रव्यसे बंध मोक्षावस्थाकी द्विविधाको नहीं धारण करता, केवल अपने ही परिणामसे बंध मोक्ष अवस्थाको धरता है, जैसे अकेला परमाणु बंध मोक्ष अवस्थाके योग्य अपने स्निग्ध रूक्ष गुण परिणामको धरता हुआ बंध मोक्ष अवस्थाको धारण करता है । अशुद्धनयकर यह आत्मा उपाधिजन्य स्वभावको लिये हुए है, जैसे एक मिट्टी घड़ा, सरवा, आदि अनेक भेद लिये हुए होती है । शुद्धनयकर उपाधि रहित, अभेद स्वभावरूप है, जैसे भेदभाव रहित केवल मृत्तिका होती है । इत्यादि अनन्त नयोंसे वस्तुकी सिद्धि होती है । वस्तु अनेक तरह वचन-विलाससे दिखलाई जाती है, जितने वचन है, उतने ही नय हैं, जितने नय हैं, उतने ही मिथ्यावाद है । जो एक नयको सर्वथा मानें, तो मिथ्यावाद होता है, और जो कथंचित् माना जाय, तो यथार्थ अनेकतारूप सत्य वचन होता है, इसलिये एकान्तपनेका निषेध है । एक ही बार वस्तुको अनेक नयकर सिद्ध करते है । यह आत्मा नय और प्रमाणसे जाना जाता है, जैसे एक समुद्र जब जुदी जुदी नदियोंके जलसे सिद्ध किया जावे, तब गंगा यमुना आदिके सफेद नीलादि जलोंके

जावदिया वयणवहा तावदिया चेव होंति णयवादा ।
जावदिया णयवादा तावदिया चेव होंति परसमया ॥
परसमयाणं वयणं मिच्छं खलु होदि सव्वहा वयणा ।
जइणाणं पुण वयणं सम्मं खु कहंचि वयणादो ॥

एवमनया दिशा प्रत्येकमनन्तधर्मव्यापकानन्तनयैर्निरूप्यमाणमुदन्वदन्तरालमिलद्धवलनीलगाङ्गयामुनोदकभारवदनन्तधर्माणां परस्परमतद्भावमात्रेण शक्यविवेचनत्वादमेचकस्वभावैकधर्मव्यापकैकधर्मित्वाद्यथोदितैकान्तात्मात्मद्रव्यम् । युगपदनन्तधर्मव्यापकानन्तनयव्याप्येकश्रुतज्ञानलक्षणप्रमाणेन निरूप्यमाणं तु समस्ततरङ्गिणीपयःपूरसमवायात्मकैकमकराकरवदनन्तधर्माणं वस्तुत्वेनाशक्यविवेचनत्वान्मेचकस्वभावानन्तधर्मव्याप्येकधर्मित्वात् यथोदितानेकान्तात्मात्मद्रव्यं

स्यात्कारश्रीवासवश्यैर्नयौघैः
पश्यन्तीत्थं चेत् प्रमाणेन चापि ।
पश्यन्त्येव प्रस्फुटानन्तधर्म-
स्वात्मद्रव्यं शुद्धचिन्मात्रमन्तः ॥

प्राप्नोति इति । स एव वीतरागसर्वज्ञप्रणीतोपदेशवत् एकेन्द्रियविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियसंज्ञिपर्याप्तमनुष्यदेशकुलरूपेन्द्रियपटुत्वनिर्व्याध्यायुष्यवरबुद्धिसद्धर्मश्रवणग्रहणधारणश्रद्धानसंयमविषयसुखनिवर्तनक्रोधादिकषायव्याव-

भेदसे एक एक स्वभावको धारता है, उसी प्रकार यह आत्मा नयोंकी अपेक्षा एक एक स्वरूपको धारण करता है । और जैसे वही समुद्र अनेक नदियोंके जलोंसे एक ही है, भेद नहीं, अनेकान्तरूप एक वस्तु है, उसी प्रकार यह आत्मा प्रमाणकी विवक्षासे अनंत स्वभावमय एक द्रव्य है । इस प्रकार एक अनेक स्वरूप नय प्रमाणसे सिद्धि होती है, नयोंसे एकस्वरूप दिखलाया जाता है, प्रमाणसे अनेक स्वरूप दिखलाये जाते है । इस प्रकार **स्यात्पद**की शोभासे गर्भितनयोंके स्वरूपसे और अनेकान्तरूप प्रमाणसे अनत धर्म संयुक्त शुद्धचिन्मात्र वस्तुका जो पुरुष निश्चय श्रद्धान करते है, वे साक्षात् आत्मस्वरूपके अनुभवी होते है । इस प्रकार इस **आत्मद्रव्यका** स्वरूप कहा । आगे उस आत्माकी प्राप्तिका उपाय दिखलाते है —यह आत्मा अनादिकालसे लेकर पुद्गलीककर्मके निमित्तसे मोहरूपी मदिरा (शराब)के पीनेसे मदोन्मत्त हुआ घूमता है, और समुद्रकी तरह अपनेमें विकल्प-तरंगोंसे महाक्षोभित है । क्रमसे प्रवृत्त हुए अनन्त इन्द्रिय-ज्ञानके भेदोंसे सदाकाल पलटता रहता है, एकरूप नहीं, अज्ञानभावकर परस्वरूप बाह्यपदार्थोंमें आत्मबुद्धिसे मैत्रीभाव करता है, आत्मविवेककी शिथिलतासे सर्वथा बहिर्मुख हुआ है, बारम्बार पुद्गलीककर्मके उपजानेवाले राग द्वेष भावोंकी द्वैततामें प्रवर्त रहा है । ऐसे आत्माको शुद्ध चिदानन्द परमात्माकी प्राप्ति कहाँसे हो सकती है ? यदि यही आत्मा अखंड ज्ञानके अभ्याससे अनादि पुद्गलीककर्मसे उत्पन्न हुआ जो मिथ्यामोह उसको अपना घातक जानकर भेदविज्ञान द्वारा अपनेसे जुदा

इत्यभिहितमात्मद्रव्यमिदानीमेतदवाप्तिप्रकारोऽभिधीयते—अस्य तावदात्मनो नित्यमेवानादिपौद्गलिककर्मनिमित्तमोहभावनानुभावघूर्णितात्मवृत्तितया तोयाकरस्येवात्मन्येव क्षुभ्यतः क्रमप्रवृत्ताभिरनन्ताभिर्ज्ञप्तिव्यक्तिभिः परिवर्तमानस्य ज्ञप्तिव्यक्तिनिमित्ततया ज्ञेयभूतासु बहिरर्थव्यक्तिषु प्रवृत्तमैत्रीकस्य शिथिलतात्मविवेकतयात्यन्तबहिर्मुखस्य पुनः पौद्गलिककर्मनिर्मापकरागद्वेषद्वैतमनुवर्तमानस्य दूरत एवात्मावाप्तिः। अथ यदा त्वयमेव प्रचण्डकर्मकाण्डोच्चण्डीकृताखण्डज्ञानकाण्डत्वेनानादिपौद्गलिककर्मनिर्मितस्य [मोहस्य] बध्यघातकविभागज्ञानपूर्वकविभागकरणात् केवलात्मभावानुभावनिश्चलीकृतवृत्तितया तोयाकर इवात्मन्येवातिनिःप्रकम्पस्तिष्ठन् युगपदेव व्याप्यानन्ता ज्ञप्तिव्यक्तीरवकाशाभावान्न जातु विवर्तते, तदास्य ज्ञप्तिव्यक्तिनिमित्ततया ज्ञेयभूतासु बहिरर्थव्यक्तिषु न नाम मैत्री प्रवर्तते। ततः सुप्रतिष्ठितात्मविवेकतयात्यन्तमन्तर्मुखीभूतः पौद्गलिककर्मनिर्मापकरागद्वेषद्वैतानुवृत्तिदूरीभूतो दूरत एवाननुभूतपूर्वमपूर्वज्ञानानन्दस्वभावं भगवन्तमात्मानमवाप्नोति। अवाप्नोत्वेव ज्ञानानन्दात्मानं जगदपि परमात्मानमिति ॥ भवति चात्र श्लोकः—

र्तनादिपरंपरादुर्लभान्यपि कथंचित्काकतालीयन्यायेनावाप्य सकलविमलकेवलज्ञानदर्शनस्वभावनिजपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसंजातरागाद्युपाधिरहितपरमानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादानुभवलाभे सत्यमावास्यादिवसे जलकल्लोलक्षोभरहितसमुद्र इव रागद्वेषमोहकल्लोलक्षोभ-

---

करके केवल आत्मस्वरूपकी भावनासे निश्चल (थिर) होवे, तो अपने स्वरूपमें निस्तरंग समुद्रकी तरह निष्कंप हुआ तिष्ठता है। एक ही बार व्याप्त हुए जो अनन्तज्ञानकी शक्तिके भेद उनकर यह पलटता नहीं है। अपनी ज्ञान शक्तियोंकर बाह्य पररूप ज्ञेय पदार्थोंमें मैत्रीभाव नहीं करता है। निश्चल आत्मज्ञानकी विवेकतासे अत्यन्त स्वरूपके सन्मुख हुआ है। पुद्गलकर्मबंधके कारण राग द्वेषकी द्विविधासे दूर रहता है। ऐसा जो परमात्माका आराधक पुरुष है, वह पूर्वमें नहीं अनुभव किये हुए और ज्ञानानन्द स्वभाव ऐसे परब्रह्मको पाता है। आप ही साधक है, आप ही साध्य है, अवस्थाके भेदसे साध्य साधक भेद हैं। यह सम्पूर्ण जगत् भी ज्ञानानन्दस्वरूप परमात्मभावको प्राप्त होवे, और आनंदरूप अमृत-जलके प्रवाहकर पूर्ण बहती हुई इस केवलज्ञानरूपी नदीमें जो आत्मतत्त्व मग्न होरहा है, जो समस्त ही लोकालोकके देखनेको समर्थ है, ज्ञानकर प्रधान हैं, जो तत्त्व अमूल्य उत्तम महारत्नकी तरह अतिशोभायमान है उस आत्मतत्त्वको स्याद्वादरूपी जिनेश्वरके मतको स्वीकार करके हे जगत्के भव्यजीवो ! तुम अंगीकार करो, जिससे कि परमानंदसुखको प्राप्त होवो। इस प्रकार **कुंदकुंदाचार्य**कृत **प्रवचनसार**में यह **चरणानुयोग** पूर्ण हुआ। यह अनादिनिधन शब्दब्रह्म अपने अर्थरसकर गर्भित है, किसी पुरुषसे इसका अर्थ किया हुआ नहीं हो सकता, आप ही अर्थशक्तिकर प्रवर्तता है। इसलिये ऐसा कोई नहीं समझलेना कि प्रवचनसारका अर्थ मैंने किया है, वह तो स्वतःसिद्ध ही है। हे भव्यो ! निर्मल ज्ञान-कलाके प्रकाशसे अनेकान्त–विद्याको निश्चयसे धारण करके एक परमात्मतत्त्वको पाकर परमआनंदरूप होवो।

आनन्दामृतपूरनिर्भरवहत्कैवल्यकल्लोलिनी-
निर्मग्नं जगदीक्षणक्षममहासंवेदनश्रीमुखम् ।
स्यात्काराङ्कजिनेशशासनवशादासादयन्तूल्लसत्
स्वं तत्त्वं वृतजात्यरत्नकिरणमस्पष्टमिष्टं जनाः ॥
व्याख्येयं किल विश्वमात्मसहितं व्याख्यातु गुम्फे गिरां
व्याख्यातामृतचन्द्रसूरिरिति मा मोहाज्जनो वल्गतु ।
वल्गत्वद्य विशुद्धबोधिकलया स्याद्वादविद्याबलात्
लब्ध्वैकं सकलात्मशाश्वतमिदं स्वं तत्त्वमव्याकुलः ॥

इति गदितमनीचैस्तत्त्वमुच्चावचं य-
च्चिति तदपि किलाभूत्कल्पमग्नौ हुतस्य ।
अनुभवतु तदुच्चैश्चिच्चिदेवाद्य यस्माद-
परमिह न किंचित्तत्त्वमेकं परं चित् ॥

समाप्तेयं तत्त्वदीपिका टीका ।

रहितप्रस्तावे यथा निजशुद्धात्मतत्त्वे स्थिरो भवति तथा तदैव निजशुद्धात्मस्वरूपं प्राप्नोति ॥

इति श्री**जयसेनाचार्य**कृतायां तात्पर्यवृत्तौ एवं पूर्वोक्तक्रमेण 'एस सुरासुर' इत्याद्येकोत्तरशतगाथापर्यन्तं सम्यग्ज्ञानाधिकारः, तदनन्तरं 'तम्हा तस्स णमाइं' इत्यादि त्रयोदशोत्तरशतगाथापर्यन्तं ज्ञेयाधिकारापरनामसम्यक्त्वाधिकारः, तदनन्तरं 'तवसिद्धे णयसिद्धे' इत्यादि सप्तनवतिगाथापर्यन्तं चारित्राधिकारश्चेति महाधिकारत्रयेणैकादशाधिकत्रिशतगाथाभिः **प्रवचनसारप्राभृतं** समाप्तम् । **समाप्तेयं तात्पर्यवृत्तिः प्रवचनसारस्य ।**

जो महाबुद्धिवन्त हुए है, वे भी तत्त्वके कथन-समुद्रके परागामी नहीं हुए, और जो थोड़ा बहुत तत्त्वका कथन मैंने किया है, वह सब तत्त्वकी अनन्ततामें इस तरह समा गया है, मानो कुछ कहा ही नहीं, जैसे आगमें होम करनेको वस्तु कितनी ही डालो कुछ नहीं रहती, उसी प्रकार तत्त्वमें सब कथन समा जाता है । इस कारण परमात्मतत्त्व वचनसे नहीं कहा जा सकता, केवल अनुभवगम्य है, इससे हे भव्यो! चिन्मात्र वस्तुको अनुभवो, क्योंकि इस लोकमें दूसरी उत्तम वस्तु कोई नहीं है । इस लिये **श्रीअमृतचंद्राचार्य** कहते हैं, कि चिदानन्द परमात्मतत्त्वका हमेशा घटमे (अंतरंगमें) प्रकाश करो ॥

इति बालबोधिनी भाषाटीका ।

प्रशस्तिः ।

गाथान्वयं नमस्कृत्य भव्यसारङ्गवार्मुचम् । संग्रथ्नामि प्रशस्तिं हि नानाशब्दविराजिताम् ॥ १ ॥ मुक्तिश्रीर्यस्य कान्ता प्रसभमखिलं त्रोटितं कर्मबन्धं येन ध्यानेन प्लुष्टं निखिलभवतरुं पातु वो नेमिनाथः । ज्ञानाक्षिर्ज्ञानमूर्तिः सकलमुनिजनैः सेव्यमानो यतीन्द्रो भव्यानां यो हि चिन्त्यः सकलगुणनिधिर्देवनाथो जितारिः ॥ २ ॥ विक्रमादित्यराज्येऽस्मिंश्चतुर्दशपरे शते । नवषष्ट्या युते किं नु गोपाद्रौ देवपत्तने ॥ ३ ॥ अनेकभूभुक्पदपद्मलग्नस्तस्मिन्निवासी ननु पाररूपः शृङ्गारहारो भुवि कामिनीनां भूभुक् प्रसिद्धः श्रीवीरमेन्द्रः ॥ ४ ॥ मदनारिगृहं तत्र मदविध्वंसनक्षमम् । वैडूर्यघटितं मन्ये किं देवैश्चात्र निर्मितम् ॥ ५ ॥ ननु शक्रस्यादेशेन धनदेनात्र निर्मितम् । कंसतालैश्च घण्टाद्यैर्भूते यत्स्वर्गिभिः सह ॥ ६ ॥ कामिन्यो यत्र गायन्ति नृत्यन्ति हि स्वभावतः । पठन्ति विदुषः पाठं निरवद्यं कृते मुदः ॥ ७ ॥ श्रीकाष्ठसंघे जगति प्रसिद्धे महद्गुणौघे त्वयमाथुरान्वये । सदा सदाचारविचारदक्षे गणे सुरम्ये वरपुष्कराख्ये ॥ ८ ॥ मुनीश्वरोऽभूज्जयसेनदेवः कृशाग्रकर्मा यशसां निवासः । पट्टे तदीये मुनिरश्वसेन आसीत्सदा ब्रह्मणि दत्तचेताः ॥ ९ ॥ पट्टे तदीये शुभकर्मनिष्ठोऽप्यनन्तकीर्तिर्गुणरत्नवार्धिः । मुनीश्वरोऽभूज्जिनशासनेन्दुस्तत्पट्टधारी भुवि क्षेमकीर्तिः ॥ १० ॥ पट्टे तदीये ननु हेमकीर्तिस्तपःप्रभानिर्जितभानुभानुः । रत्नत्रयालंकृतधर्ममूर्तिर्यतीश्वरोऽभूज्जगति प्रसिद्धः ॥ ११ ॥ यत्पिपपादकुशेशयषट्पदः परमधर्मधरः किमु भूधरः । न हि जडः किं नगः खलु चन्द्रमा न हि विधुः स कलङ्कविवर्जितः ॥ १२ ॥ पारावारो हि लोके यो जनानिमिषसेवितः । देवकीर्तिमुनिः साक्षात्परं क्षारविवर्जितः ॥ १३ ॥ व्याख्यायैव गुरुः साक्षात्पशुधर्मविनिर्गतः । पद्मकीर्तिमुनिर्भाति परं रागविवर्जितः ॥ १४ ॥ दिगम्बरोऽभूद्भुवि मेरुपर्वतः सुवर्णवर्णः किमु सोऽप्यजङ्गमः । सरित्पतिः किं जलक्षारवर्जितो नक्षत्रराजः स कलङ्कनिर्गतः ॥ १५ ॥ प्रतापचन्द्रो हि मुनिप्रधानः स्वव्याख्यया रञ्जितसर्वलोकः । नियन्त्रितात्मीयमनोविहङ्गो विवादिभूभृत्कुलिशो नितान्तम् ॥ १६ ॥ गुणरत्नैरकूपारो भवभ्रमणशङ्कितः । हेमचन्द्रो यतिः साक्षात्परं ग्राहविवर्जितः ॥ १७ ॥ ग्लावः साम्यं रत्नसानोः स्थिरत्वं भानोः सूर्यः सूर्यकारोश्च रूपम् । गम्भीरत्वं पयोधेः प्रसभमखिलं त्यागमेवं बलेश्च 'संगृहीत्वा विधात्रा किमुत निजबलास्थापितोऽयं धर्मचन्द्रो' लक्ष्मीणो ज्ञानदक्षो विबुधमुनिजना-

---

टीकाकारस्य प्रशस्तिः ।

अज्ञानतमसा लिप्ता मार्गो रत्नत्रयात्मकः । तत्प्रकाशसमर्थाय नमोऽस्तु कुमुदेन्दवे ॥ १ ॥ सूरीश्रीवीरसेनाख्यो मूलसंघेऽपि सत्तपाः । नैर्ग्रन्थ्यपदवीं भेजे जातरूपधरोऽपि य ॥ २ ॥ तत श्रीसोमसेनोऽभूद्गणी गुणगणाश्रयः । तद्विनेयोऽस्ति यस्तस्मै जयसेनतपोभृते ॥ ३ ॥ शीघ्र बभूव माल ? साधुः सदा धमरतो वदान्यः । सूनुस्ततः साधुमहीपतिर्यस्तस्मादयं चारुभटस्तनूजः ॥ ४ ॥ यः संतत सर्वविदः सपर्यामार्यक्रमाराधनया करोति । स श्रेयसे प्राभृतनामग्रन्थपुष्टात्पितुर्भक्तिविलोपभीरुः ॥ ५ ॥ श्रीमत्त्रिभुवनचन्द्र निजमतवाराशितायना चन्द्रम् । प्रणमामि कामनामप्रबलमहापर्वतैकशतधारम् ॥ ६ ॥ जगत्समस्तसंसारिजीवकारणबन्धवे । सिंधवे

नम्रकारी स्वभावात् ॥ १८ ॥ पद्मकीर्तिमुनेः शिष्यो गुणरत्नमहोनिधिः । ब्रह्मचारी हरीराजः शीलव्रतविभूषितः ॥ १९ ॥ इति प्रशस्तिः ।

गुणरत्नानां नमस्त्रिभुवनेन्दवे ॥ ७ ॥ त्रिभुवनचन्द्र चन्द्र नौमि महासंयमोत्तमं शिरसा । यस्योदयेन जगतां स्वान्ततमोराशिकृन्तन कुरुते ॥ ८ ॥ इति प्रशस्तिः ।

भाषाकारकी प्रशस्ति ।

दोहा—मूलग्रंथकरता भए, कुंदकुंद मतिमान । अमृतचंद्र टीका करी, देवभाष परवान ॥ १ ॥
जैसे करता मूलको, तैसौ टीकाकार । तातैं अतिसुंदर सरस, बरतै प्रवचनसार ॥ २ ॥
सकलतत्त्वपरकासिनी, तत्त्वदीपिका नाम । टीका सरसुतिदेविकी, यह टीका अभिराम ॥ ३ ॥

चौपाई—बालबोध यह कीनी जैसे । सो तुम सुनहु कहूं तैसै ॥
नगर आगरेमैं हितकारी । कँवरपाल ग्याता अविकारी ॥ ४ ॥
तिन विचार जियमैं इह कीनो । जो भाषा इह होइ नवीनी ॥
अल्पबुद्धि भी अरथ बखानै । अगम अगोचर पद पहिचानै ॥ ५ ॥
यह विचार मनमैं तिन राखी । पांडे हेमराजसौं भाखी ॥
आगैं राजमल्लनैं कीनी । समयसारभाषा रसलीनी ॥ ६ ॥
अब जो प्रवचनकी ह्वै भाखा । तौ जिनधर्म वधै बहु-साखा ॥
तातैं करहु, विलंब न कीजै । परमप्रावना अंगफल लीजै ॥ ७ ॥

दोहा—अवनीपति बंदहिं चरण, सुयण-कमल विहसंत ।
माहजिहांदिनकर-उदै, अरिगण-तिमिर नसंत ॥ ८ ॥

सोरठा-निज सुबोध अनुसार, पैसैं हित उपदेशसौं ।
रचो भाष अविकार, जयवंती प्रगटहु सदा ॥ ९ ॥
हेमराज हिय आनि भविकजीवके हित भणी ।
जिनवर-आण-प्रमानि, भाषा प्रवचनकी करी ॥ १० ॥

दोहा—सत्रहसै नव उत्तरै, माघ मास सित पाख ।
पंचमि आदितवारको, पूरन कीनी भाख ॥ ११ ॥
षट्सहस्र-सत-तीन है, संख्या ग्रंथप्रमान ।
विदुष विवेकविचारिकरि, सुणिज्यो पुरुष प्रधान ॥ १२ ॥

इस प्रकार प्रशस्ति पूर्ण हुई ।

कुंदकुंद-विरइओ

पवयणसारो

[१]

1) एस सुरासुरमणुसिंदवंदिदं धोदघाइकम्ममलं ।
पणमामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं ॥ १ ॥

2) सेसे पुण तित्थयरे ससव्वसिद्धे विसुद्धसब्भावे ।
समणे य णाणदंसणचरित्ततववीरियायारे ॥ २ ॥

3) ते ते सव्वे समगं समगं पत्तेगमेव पत्तेगं ।
वंदामि य वट्टंते अरहंते माणुसे खेत्ते ॥ ३ ॥

4) किच्चा अरहंताणं सिद्धाणं तह णमो गणहराणं ।
अज्झावयवग्गाणं साहूणं चेव सव्वेसिं ॥ ४ ॥

5) तेसिं विसुद्धदंसणणाणपहाणासमं समासेज्ज ।
उवसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाणसंपत्ती ॥ ५ ॥ [पणगं]

6) संपज्जदि णिव्वाणं देवासुरमणुयरायविहवेहिं ।
जीवस्स चरित्तादो दंसणणाणप्पहाणादो ॥ ६ ॥

7) चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥ ७ ॥

8) परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मय त्ति पण्णत्तं ।
तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेदव्वो ॥ ८ ॥

9) जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो ।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणामसब्भावो ॥ ९ ॥

1) K वंदियं, P घादि. 3) K पत्तेयमेव पत्तेयं. 4) A तध, A चेदि for चेव. 5) K विसुद्धणाणं दंसणपहाणासमं, C सामासिज्ज, K जुत्तो for जत्तो. 6) C संपज्जइ, K मणुव, A °प्पहाणउ P °पधाणदो. 7) A समुत्ति, ACP विहूणो, AP अप्पणोऽध समो. 8) CK तक्काले (°ळे), [तम्मय ति ?], A मुणेयव्वो.

10) णत्थि विणा परिणामं अत्थो अत्थं विणेह परिणामो ।
दव्वगुणपज्जयत्थो अत्थो अत्थित्तणिव्वत्तो ॥ १० ॥

11) धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो ।
पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो व सग्गसुहं ॥ ११ ॥

12) असुहोदयेण आदा कुणरो तिरियो भवीय णेरइयो ।
दुक्खसहस्सेहिं सदा अभिधुदो भमदि अच्चंतं ॥ १२ ॥

13) अइसयमादसमुत्थं विसयातीदं अणोवममणंतं ।
अव्वुच्छिण्णं च सुहं सुद्धुवओगप्पसिद्धाणं ॥ १३ ॥

14) सुविदिदपयत्थसुत्तो संजमतवसंजुदो विगदरागो ।
समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगो त्ति ॥ १४ ॥

15) उवओगविसुद्धो जो विगदावरणंतरायमोहरओ ।
भूदो सयमेवादा जादि परं णेयभूदाणं ॥ १५ ॥

16) तह सो लद्धसहावो सव्वण्हू सव्वलोगपदिमहिदो ।
भूदो सयमेवादा हवदि सयंभु त्ति णिद्दिट्ठो ॥ १६ ॥

17) भंगविहीणो य भवो संभवपरिवज्जिदो विणासो हि ।
विज्जदि तस्सेव पुणो ठिदिसंभवणाससमवायो ॥ १७ ॥

18) उप्पादो य विणासो विज्जदि सव्वस्स अट्ठजादस्स ।
पज्जाएण दु केणवि अट्ठो खलु होदि सब्भूदो ॥ १८ ॥

18*1) तं सव्वट्ठवरिट्ठं इट्ठं अमरासुरप्पहाणेहिं ।
जे सद्दहंति जीवा तेसिं दुक्खाणि खीयंति ॥ १८*१ ॥

19) पक्खीणघादिकम्मो अणंतवरवीरिओ अधिकतेजो ।
जादो अणिंदिओ सो णाणं सोक्खं च परिणमदि ॥ १९ ॥

20) सोक्खं वा पुण दुक्खं केवलणाणिस्स णत्थि देहगदं ।
जम्हा अदिंदियत्तं जादं तम्हा दु तं णेयं ॥ २० ॥

---

11) K पावइ, K य for व 12) K भया, AP अभिद्दुदो, C अभिदुदो, K भमइ. 13) AP अदिसय. 14) AP पदत्थ. 15) C मोहरओ. 16) P तव, K सहाओ, C सव्वलोयपडिमहिदो, C हवइ. 17) AP °विहूणो, K त्ति for हि, AP ट्ठिदि, K समवाओ 18) A अत्थ for अट्ठ, C पज्जायेण, K संभूदो. 18*1) K ते, P पधाणेहिं, C जे for ये 19) CK घाइ C वीरियो, CK अहिय, AP अदिंदिओ C अइंदियो. 20) C देहगय, K अइदियत्त.

21) परिणमदो खलु णाणं पच्चक्खा सव्वदव्वपज्जाया ।
सो णेव ते विजाणदि उग्गहपुव्वाहिं किरियाहिं ॥ २१ ॥

22) णत्थि परोक्खं किंचि वि समंत सव्वक्खगुणसमिद्धस्स ।
अक्खातीदस्स सदा सयमेव हि णाणजादस्स ॥ २२ ॥

23) आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं ।
णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु सव्वगयं ॥ २३ ॥

24) णाणप्पमाणमादा ण हवदि जस्सेह तस्स सो आदा ।
हीणो वा अहिओ वा णाणादो हवदि धुवमेव ॥ २४ ॥

25) हीणो जदि सो आदा तण्णाणमचेदणं ण जाणादि ।
अहिओ वा णाणादो णाणेण विणा कहं णादि ॥ २५ ॥ जुगलं ।

26) सव्वगदो जिणवसहो सव्वे वि य तग्गया जगदि अट्ठा ।
णाणमयादो य जिणो विसयादो तस्स ते भणिया ॥ २६ ॥

27) णाणं अप्प त्ति मदं वट्टदि णाणं विणा ण अप्पाणं ।
तम्हा णाणं अप्पा अप्पा णाणं व अण्णं वा ॥ २७ ॥

28) णाणी णाणसहावो अट्ठा णेयप्पगा हि णाणिस्स ।
रूवाणि व चक्खूणं णेवण्णोण्णेसु वट्टंति ॥ २८ ॥

29) ण पविट्ठो णाविट्ठो णाणी णेयेसु रूवमिव चक्खू ।
जाणदि पस्सदि णियदं अक्खातीदो जगमसेसं ॥ २९ ॥

30) रयणमिह इंदणीलं दुद्धज्झसियं जहा सभासाए ।
अभिभूय तं पि दुद्धं वट्टदि तह णाणमत्थेसु ॥ ३० ॥

31) जदि ते ण संति अट्ठा णाणे णाणं ण होदि सव्वगयं ।
सव्वगयं वा णाणं कहं ण णाणट्ठिया अट्ठा ॥ ३१ ॥

32) गेण्हदि णेव ण मुंचदि ण परं परिणमदि केवली भगवं ।
पेच्छदि समंतदो सो जाणदि सव्वं णिरवसेसं ॥ ३२ ॥

---

21) K ओग्गह. 22) P वि सम्मत्त, K सया. 23) C खु for तु. 24) CK हवइ, A अधिगो, CK होदि for हवदि 25) C जइ, K तं णाण°, A अधिगो 26) CK °गओ, A भणिदा. 27) K मय वट्टइ. K णाणं च 28) K सहाओ, AP अत्था. 29) AP णेएसु, AP अक्खादीदो 30) AP रदणमिह, AP दुद्धज्झुसियं, K दुद्धुज्जसिय [दुद्धज्झुसियं] K वट्टइ. CP °मट्ठेसु. 31) CK जइ, CK होइ, अत्था for अट्ठा, 32) C गेण्हइ णेव ण मुंचइ ण परं परिणमइ ...पेच्छइ...जाणइ, P गिण्हदि, CKP भयवं.

33) जो हि सुदेण विजाणदि अप्पाणं जाणगं सहावेण ।
तं सुयकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पदीवयरा ॥ ३३ ॥

34) सुत्तं जिणोवदिट्ठं पोग्गलदव्वप्पगेहिं वयणेहिं ।
तं जाणणा हि णाणं सुत्तस्स य जाणणा भणिया ॥ ३४ ॥

35) जो जाणदि सो णाणं ण हवदि णाणेण जाणगो आदा ।
णाणं परिणमदि सयं अट्ठा णाणट्ठिया सव्वे ॥ ३५ ॥

36) तम्हा णाणं जीवो णेयं दव्वं तिहा समक्खादं ।
दव्वं ति पुणो आदा परं च परिणामसंबद्धं ॥ ३६ ॥

37) तक्कालिगेव सव्वे सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं ।
वट्टंते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीणं ॥ ३७ ॥

38) जे णेव हि संजाया जे खलु णट्ठा भवीय पज्जाया ।
ते होंति असब्भूदा पज्जाया णाणपच्चक्खा ॥ ३८ ॥

39) जदि पच्चक्खमजायं पज्जायं पलइयं च णाणस्स ।
ण हवदि वा तं णाणं दिव्वं ति हि के परूवेंति ॥ ३९ ॥

40) अत्थं अक्खणिवदिदं ईहापुव्वेहिं जे विजाणंति ।
तेसिं परोक्खभूदं णादुमसक्कं ति पण्णत्तं ॥ ४० ॥

41) अपदेसं सपदेसं मुत्तममुत्तं च पज्जयमजादं ।
पलयं गयं च जाणदि तं णाणमदिंदियं भणियं ॥ ४१ ॥

42) परिणमदि णेयमट्ठं णादा जदि णेव खाइगं तस्स ।
णाणं ति तं जिणिंदा खवयंतं कम्ममेवुत्ता ॥ ४२ ॥

43) उदयगदा कम्मंसा जिणवरवसहेहिं णियदिणा भणिया ।
तेसु विमूढो रत्तो दुट्ठो वा बंधमणुभवदि ॥ ४३ ॥

44) ठाणणिसेज्जविहारा धम्मुवदेसो य णियदयो तेसिं ।
अरहंताणं काले मायाचारो व्व इत्थीणं ॥ ४४ ॥

---

33) C विजाणइ, CK सुद°, AP लोग°. 34) P तज्जाणणा, CP भणिदा 35) C जाणइ, CK परिणमइ, P णाणट्ठिदा. 36) AP तिधा for तिहा, A दव्व त्ति. 37) C तक्कालिएव, K पज्जाया 38) P संजादा, AC असब्भूया. 39) CK जइ, AP पच्चक्खमजाद, P पलइदं, C हवइ, P परूवेंति 40) KP अट्ठं, K °सक्क त्ति. 41) CK °मणिंदियं, AP गद C जाणइ. 42) K खाइय. 43) K भणिदा, AP हि मुहिदो for विमूढो.

45) पुण्णफला अरहंता तेसिं किरिया पुणो हि ओदइया ।
मोहादीहिं विरहिया तम्हा सा खाइग त्ति मदा ॥ ४५ ॥

46) जदि सो सुहो व असुहो ण हवदि आदा सयं सहावेण ।
संसारो वि ण विज्जदि सव्वेसिं जीवकायाणं ॥ ४६ ॥

47) जं तक्कालियमिदरं जाणदि जुगवं समंतदो सव्वं ।
अत्थं विचित्तविसमं तं णाणं खाइयं भणियं ॥ ४७ ॥

48) जो ण विजाणदि जुगवं अत्थे तिक्कालिगे तिहुवणत्थे ।
णादुं तस्स ण सक्कं सपज्जयं दव्वमेगं वा ॥ ४८ ॥

49) दव्वं अणंतपज्जयमेगमणंताणि दव्वजादाणि ।
ण विजाणदि जदि जुगवं किध सो सव्वाणि जाणादि ॥ ४९ ॥

50) उप्पज्जदि जदि णाणं कमसो अट्ठे पडुच्च णाणिस्स ।
तं णेव हवदि णिच्चं ण खाइगं णेव सव्वगदं ॥ ५० ॥

51) तिक्कालणिच्चविसमं सयलं सव्वत्थ संभवं चित्तं ।
जुगवं जाणदि जोण्हं अहो हि णाणस्स माहप्पं ॥ ५१ ॥

52) ण वि परिणमदि ण गेण्हदि उप्पज्जदि णेव तेसु अट्ठेसु ।
जाणण्णवि ते आदा अबंधगो तेण पण्णत्तो ॥ ५२ ॥

52*2) तस्स णमाइं लोगो देवासुरमणुअरायसंबंधो ।
भत्तो करोदि णिच्चं उवजुत्तो तं तहा वि अहं ॥ ५२*२ ॥

53) अत्थि अमुत्तं मुत्तं अदिंदियं इंदियं च अत्थेसु ।
णाणं च तहा सोक्खं जं तेसु परं च तं णेयं ॥ ५३ ॥

54) जं पेच्छदो अमुत्तं मुत्तेसु अदिंदियं च पच्छण्णं ।
सयलं सगं च इदरं तं णाणं हवदि पच्चक्खं ॥ ५४ ॥

55) जीवो सयं अमुत्तो मुत्तिगदो तेण मुत्तिणा मुत्तं ।
ओगेण्हित्ता जोग्गं जाणदि वा तण्ण जाणादि ॥ ५५ ॥

---

45) A ओदयिगा, AP विरहिदा, K खाइय ति 46) C जइ ..हवइ. 47) P खायिगं. 48) C विजाणइ, C अट्ठे, A तेकालिके C तिकालिये, P तिकालिगे A दव्वमेक्क वा 49) K जुगव जो ण विजाणइ (third foot), A कध C किह 50) C जइ C हवइ, CK खाइय णेव सव्वगयं 51) AP तेकाल, AP °विसम for विसय AKP सकल, K जोण्ह जाणदि जुगव (third foot), C जाणइ. 52) C परिणमइ ण गेण्हइ उप्पज्जइ, A अत्थेसु 52*2) C मणुय, P णियद for णिच्च. 53) CK अइदिय, C अट्ठेसु, AP तधा 54) CK अइंदिय, A सकल. 55) K मुत्तिगओ, AP ओगिण्हित्ता, K उग्गेण्हित्ता, CK त ण जाणादि.

56) फासो रसो य गंधो वण्णो सद्दो य पुग्गला होंति ।
अक्खाणं ते अक्खा जुगवं ते णेव गेण्हंति ॥ ५६ ॥

57) परदव्वं ते अक्खा णेव सहावो त्ति अप्पणो भणिदा ।
उवलद्धं तेहि कधं पच्चक्खं अप्पणो होदि ॥ ५७ ॥

58) जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्खं त्ति भणिदमट्ठेसु ।
जदि केवलेण णादं हवदि हि जीवेण पच्चक्खं ॥ ५८ ॥

59) जादं सयं समत्तं णाणमणंतत्थवित्थडं विमलं ।
रहियं तु ओग्गहादिहिं सुहं ति एगंतियं भणियं ॥ ५९ ॥

60) जं केवलं ति णाणं तं सोक्खं परिणमं च सो चेव ।
खेदो तस्स ण भणिदो जम्हा घादी खयं जादा ॥ ६० ॥

61) णाणं अत्थंतगयं लोयालोएसु वित्थडा दिट्ठी ।
णट्ठमणिट्ठं सव्वं इट्ठं पुण जं हि तं लद्धं ॥ ६१ ॥

62) णो सद्दहंति सोक्खं सुहेसु परमं ति विगदघादीणं ।
सुणिदूण ते अभव्वा भव्वा वा तं पडिच्छंति ॥ ६२ ॥

63) मणुयासुरामरिंदा अहिद्दुदा इंदियेहिं सहजेहिं ।
असहंता तं दुक्खं रमंति विसएसु रम्मेसु ॥ ६३ ॥

64) जेसिं विसयेसु रदी तेसिं दुक्खं वियाण सब्भावं ।
जइ तं ण हि सब्भावं वावारो णत्थि विसयत्थं ॥ ६४ ॥

65) पप्पा इट्ठे विसये फासेहिं समस्सिदे सहावेण ।
परिणममाणो अप्पा सयमेव सुहं ण हवदि देहो ॥ ६५ ॥

66) एगंतेण हि देहो सुहं ण देहिस्स कुणदि सग्गे वा ।
विसयवसेण दु सोक्खं दुक्खं वा हवदि सयमादा ॥ ६६ ॥

67) तिमिरहरा जइ दिट्ठी जणस्स दीवेण णत्थि कायव्वं ।
तह सोक्खं सयमादा विसया किं तत्थ कुव्वंति ॥ ६७ ॥

56) A परसो, CK पासो for फासो, P गिण्हति 57) C सहाओ, A सहाव त्ति, CK भणिया, CK कह 58) A तत्तु for तं तु C परोक्खो त्ति [परोक्ख त्ति] 59) A वित्थिद for वित्थडं, AP रहिद, K उग्गहादिहि, A सुह त्ति, AP एयतिय. 60) CK घाई, K भणिओ, K घादिक्खयं जादो 61) AP लोगालोगेसु, K वित्थुदा, A तु for हि, K अत्थ for लद्ध. 62) A णहि, P ण for णो, K परम त्ति. 63) C मणुया°, A अहिद्दुआ, CK अभिद्दुदा, AP इंदिएहिं 64) CK रई, P साहावं, C तं णत्थि सहावं 65) A विसए, K पासेहि, C आदा for अप्पा. 66) A कुणइ. 67) AP जदि, A कादव्व, AP तध.

68) सयमेव जहादिच्चो तेजो उण्हो य देवदा णभसि ।
सिद्धो वि तहा णाणं सुहं च लोगे तहा देवो ॥ ६८ ॥

68*3) तेजो दिट्ठी णाणं इड्ढी सोक्खं तहेव ईसरियं ।
तिहुवणपहाणदइयं माहप्पं जस्स सो अरिहो ॥ ६८*३ ॥

68*4) तं गुणदो अधिगदरं अविच्छिदं मणुवदेवपदिभावं ।
अपुणब्भावणिबद्धं पणमामि पुणो पुणो सिद्धं ॥ ६८*४ ॥

69) देवदजदिगुरुपूजासु चेव दाणम्मि वा सुसीलेसु ।
उववासादिसु रत्तो सुहोवओगप्पगो अप्पा ॥ ६९ ॥

70) जुत्तो सुहेण आदा तिरियो वा माणुसो व देवो वा ।
भूदो तावदि कालं लहदि सुहं इंदियं विविहं ॥ ७० ॥

71) सोक्खं सहावसिद्धं णत्थि सुराणं पि सिद्धमुवदेसे ।
ते देहवेदणट्टा रमंति विसएसु रम्मेसु ॥ ७१ ॥

72) णरणारयतिरियसुरा भजंति जदि देहसंभवं दुक्खं ।
किह सो सुहो व असुहो उवओगो हवदि जीवाणं ॥ ७२ ॥

73) कुलिसाउहचक्कधरा सुहोवओगप्पगेहिं भोगेहिं ।
देहादीणं विद्धिं करेंति सुहिदा इवाभिरदा ॥ ७३ ॥

74) जदि संति हि पुण्णाणि य परिणामसमुब्भवाणि विविहाणि ।
जणयंति विसयतण्हं जीवाणं देवदंताणं ॥ ७४ ॥

75) ते पुण उदिण्णतण्हा दुहिदा तण्हाहिं विसयसोक्खाणि ।
इच्छंति अणुभवंति य आमरणं दुक्खसंतत्ता ॥ ७५ ॥

76) सपरं बाधासहियं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं ।
जं इंदियेहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा ॥ ७६ ॥

77) ण हि मण्णादि जो एवं णत्थि विसेसो त्ति पुण्णपावाणं ।
हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंछण्णो ॥ ७७ ॥

---

68) A जधादिच्चो, CK जहाइच्चो, A तधा, CK लोए. 68*3) P इस्सरिय, P तिहुअण 68*4) C अदिच्छिदं देवमणुयपदि°, P पडिभाव. 69) P सुहोवजोगप्पगो 70) C लहइ 71) P सहावसुद्ध, A सिद्धमुवदेसो, C वेदणट्ठा K वेदणत्ता. 72) P णरणारग, AP किध, C होदि for हवदि. 73) ACK °चक्कहरा, P कुलिसायुधचक्कधरा, AK सुहोवजोग, CK वड्ढि, A सुहिधा. 74) C जइ, AP पुण्णाणि. 75) AP अणुहवति. 76) A सहित KP सहिद, AP इंदिएहिं, A*तधा 77) C मण्णइ, AP संछण्णो, C स चिरकालेण for मोहसंछण्णो.

78) एवं विदिदत्थो जो दव्वेसु ण रागमेदि दोसं वा ।
उवओगविसुद्धो सो खवेदि देहुब्भवं दुक्खं ॥ ७८ ॥

79) चत्ता पावारंभं समुट्ठिदो वा सुहम्मि चरियम्हि ।
ण जहदि जदि मोहादी ण लहदि सो अप्पगं सुद्धं ॥ ७९ ॥

79*5) तवसंजमप्पसिद्धो सुद्धो सग्गापवग्गकरो ।
अमरासुरिंदमहिदो देवो सो लोयसिहरत्थो ॥ ७९*५ ॥

79*6) तं देवदेवदेवं जदिवरवसहं गुरुं तिलोयस्स ।
पणमंति जे मणुस्सा ते मोक्खं अक्खयं जंति ॥ ७९*६ ॥

80) जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं ।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥ ८० ॥

81) जीवो ववगदमोहो उवलद्धो तच्चमप्पणो सम्मं ।
जहदि जदि रागदोसे सो अप्पाणं लहदि सुद्धं ॥ ८१ ॥

82) सव्वे वि य अरहंता तेण विधाणेण खविदकम्मंसा ।
किच्चा तधोवदेसं णिव्वादा ते णमो तेसिं ॥ ८२ ॥

82*7) दंसणसुद्धा पुरिसा णाणपहाणा समग्गचरियत्था ।
पूजासक्काररिहा दाणस्स य हि ते णमो तेसिं ॥ ८२*७ ॥

83) दव्वादिएसु मूढो भावो जीवस्स हवदि मोहो त्ति ।
खुब्भदि तेणुच्छण्णो पप्पा रागं व दोसं वा ॥ ८३ ॥

84) मोहेण व रागेण व दोसेण व परिणदस्स जीवस्स ।
जायदि विविहो बंधो तम्हा ते संखवइदव्वा ॥ ८४ ॥

85) अट्ठे अजधागहणं करुणाभावो य मणुवतिरिएसु ।
विसएसु य प्पसंगो मोहस्सेदाणि लिंगाणि ॥ ८५ ॥

86) जिणसत्थादो अट्ठे पच्चक्खादीहिं बुज्झदो णियमा ।
खीयदि मोहोवचयो तम्हा सत्थं समधिदव्वं ॥ ८६ ॥

---

79) A चरियम्मि, CK ण चयदि, C जह, C लहइ 79*5) K महिओ 79*6) A तिलोगस्स 80) CK जाइ 81) CK चयदि जदि, C रायदोसे, P लभदि 82) CP खविय CK तहोवदेसं 82*7) P णाणप्पधणा, C om हि 83) C खुब्भइ A तेणोवच्छण्णो 85) CK अयधा, A व तिरियमणुये(वे)सु, C विसयेसु अइप्पसंगो. 86) K °नाओ P °चय

87) दव्वाणि गुणा तेसिं पज्जाया अट्ठसण्णया भणिया ।
तेसु गुणपज्जयाणं अप्पा दव्व त्ति उवदेसो ॥ ८७ ॥

88) जो मोहरागदोसे णिहणदि उवलब्भ जोण्हमुवदेसं ।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥ ८८ ॥

89) णाणप्पगमप्पाणं परं च दव्वत्तणाहिसंबद्धं ।
जाणदि जदि णिच्छयदो जो सो मोहक्खयं कुणदि ॥ ८९ ॥

90) तम्हा जिणमग्गादो गुणेहिं आदं परं च दव्वेसु ।
अभिगच्छदु णिम्मोहं इच्छदि जदि अप्पणो अप्पा ॥ ९० ॥

91) सत्तासंबद्धेदे सविसेसे जो हि णेव सामण्णे ।
सद्दहदि ण सो समणो तत्तो धम्मो ण संभवदि ॥ ९१ ॥

92) जो णिहदमोहदिट्ठी आगमकुसलो विरागचरियम्हि ।
अब्भुट्ठिदो महप्पा धम्मो त्ति विसेसिदो समणो ॥ ९२ ॥

92*8) जो तं दिट्ठा तुट्ठो अब्भुट्ठित्ता करेदि सक्कारं ।
वंदणणमंसणादिहिं तत्तो सो धम्ममादियदि ॥ ९२*८ ॥

92*9) तेण णरा व तिरिच्छा देविं वा माणुसिं गदिं पप्पा ।
विहविस्सरियेहिं सदा संपुण्णमणोरहा होंति ॥ ९२*९ ॥

[II]

*1) तम्हा तस्स णमाइं किच्चा णिच्चं पि तम्मणो होज्ज ।
वोच्छामि संगहादो परमट्ठविणिच्छयाधिगमं ॥ *१ ॥

1) अत्थो खलु दव्वमओ दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि ।
तेहिं पुणो पज्जाया पज्जयमूढा हि परसमया ॥ १ ॥

2) जे पज्जयेसु णिरदा जीवा परसमयिग त्ति णिद्दिट्ठा ।
आदसहावम्मि ठिदा ते सगसमया मुणेदव्वा ॥ २ ॥

3) अपरिच्चत्तसहावेणुप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं ।
गुणवं च सपज्जायं जं तं दव्वं ति वुच्चंति ॥ ३ ॥

---

87) C अस्थ॰, K दव्व ति 88) C णिहणइ, ACKP उवलद्ध, C पावइ. 89) C जाणइ जइ, A णिच्चयदो. 90) P अहिगच्छदु 91) CK संबंधे A सवणो 92) P चरियम्मि 92*9) CK देविंदा माणुसिं, K सया 1) CP अट्ठो. 2) P परसमयग, CK परसमयग त्ति, C ठिया...मुणेयव्वा. 3) CK सहावं उप्पाद, A जत्तं, CK दव्व त्ति, C उच्चंति

4) सब्भावो हि सहावो गुणेहिं सह पज्जएहिं चित्तेहिं ।
दव्वस्स सव्वकालं उप्पादव्वयधुवत्तेहिं ॥ ४ ॥

5) इह विविहलक्खणाणं लक्खमणमेगं सदिति सव्वगयं ।
उवदिसदा खलु धम्मं जिणवरवसहेण पण्णत्तं ॥ ५ ॥

6) दव्वं सहावसिद्धं सदिति जिणा तच्चदो समक्खादा ।
सिद्धं तध आगमदो णेच्छदि जो सो हि परसमओ ॥ ६ ॥

7) सदवट्ठिदं सहावे दव्वं दव्वस्स जो हि परिणामो ।
अत्थेसु सो सहावो ठिदिसंभवणाससंबद्धो ॥ ७ ॥

8) ण भवो भंगविहीणो भंगो वा णत्थि संभवविहीणो ।
उप्पादो वि य भंगो ण विणा धोव्वेण अत्थेण ॥ ८ ॥

9) उप्पादट्ठिदिभंगा विज्जंते पज्जएसु पज्जाया ।
दव्वं हि संति णियदं तम्हा दव्वं हवदि सव्वं ॥ ९ ॥

10) समवेदं खलु दव्वं संभवठिदिणाससण्णिदट्ठेहिं ।
एकम्मि चेव समये तम्हा दव्वं खु तत्तिदयं ॥ १० ॥

11) पाडुब्भवदि य अण्णो पज्जाओ पज्जओ वयदि अण्णो ।
दव्वस्स तं पि दव्वं णेव पणट्ठं ण उप्पण्णं ॥ ११ ॥

12) परिणमदि सयं दव्वं गुणदो य गुणंतरं सदविसिट्ठं ।
तम्हा गुणपज्जाया भणिया पुण दव्वमेव त्ति ॥ १२ ॥

13) ण हवदि जदि सद्दव्वं असद्धुवं हवदि तं कहं दव्वं ।
हवदि पुणो अण्णं वा तम्हा दव्वं सयं सत्ता ॥ १३ ॥

14) पविभत्तपदेसत्तं पुधत्तमिदि सासणं हि वीरस्स ।
अण्णत्तमतब्भावो ण तब्भवं होदि कधमेगं ॥ १४ ॥

15) सद्दव्वं सच्च गुणो सच्चेव य पज्जओ त्ति वित्थारो ।
जो खलु तस्स अभावो सो तदभावो अतब्भावो ॥ १५ ॥

---

4) AP सगपज्जएहि 5) K °मेग तु सदिति, AP सदित्ति 6) A समक्खादा, K तह, P परसमयो. 7) CP अट्ठेसु, K सहाओ...संबधो 8) P विहूणो, CK दव्वेण P धउव्वेण, C अट्ठेण, 10) A एक्कम्मि, K °दत्थेहिं 11) AKP पादुब्भवदि, P अ for य, C णेव य णट्ठ. 12) CK दव्वमेवेत्ति 13) K होदि तं, AP कधं 14) C °मतब्भावं अतब्भव होदि कहमेक्कं, A होदि.

16) जं दव्वं तं ण गुणो जो वि गुणो सो ण तच्चमत्थादो ।
एसो हि अतब्भावो णेव अभावो त्ति णिद्दिट्ठो ॥ १६ ॥

17) जो खलु दव्वसहावो परिणामो सो गुणो सदविसिट्ठो ।
सदवट्ठिदं सहावे दव्व त्ति जिणोवदेसोयं ॥ १७ ॥

18) णत्थि गुणो त्ति व कोई पज्जाओ त्तीह वा विणा दव्वं ।
दव्वत्तं पुण भावो तम्हा दव्वं सयं सत्ता ॥ १८ ॥

19) एवंविहं सहावे दव्वं दव्वत्थपज्जयत्थेहिं ।
सदसब्भावणिबद्धं पादुब्भावं सदा लभदि ॥ १९ ॥

20) जीवो भवं भविस्सदि णरोऽमरो वा परो भवीय पुणो ।
किं दव्वत्तं पजहदि ण चयदि अण्णो कहं हवदि ॥ २० ॥

21) मणुवो ण हवदि देवो देवो वा माणुसो व सिद्धो वा ।
एवं अहोज्जमाणो अणण्णभावं कधं लहदि ॥ २१ ॥

22) दव्वट्ठिएण सव्वं दव्वं तं पज्जयट्ठिएण पुणो ।
हवदि य अण्णमणण्णं तक्काले तम्मयत्तादो ॥ २२ ॥

23) अत्थि त्ति य णत्थि त्ति य हवदि अवत्तव्वमिदि पुणो दव्वं ।
पज्जायेण दु केण वि तदुभयमादिट्ठमण्णं वा ॥ २३ ॥

24) एसो त्ति णत्थि कोई ण णत्थि किरिया सहावणिव्वत्ता ।
किरिया हि णत्थि अफला धम्मो जदि णिप्फलो परमो ॥ २४ ॥

25) कम्मं णामसमक्खं सभावमध अप्पणो सहावेण ।
अभिभूय णरं तिरियं णेरइयं वा सुरं कुणदि ॥ २५ ॥

26) णरणारयतिरियसुरा जीवा खलु णामकम्मणिव्वत्ता ।
ण हि ते लद्धसहावा परिणममाणा सकम्माणि ॥ २६ ॥

27) जायदि णेव ण णस्सदि खणभंगसमुब्भवे जणे कोई ।
जो हि भवो सो विलओ संभवविलय त्ति ते णाणा ॥ २७ ॥

---

18) K त्ति य, P पज्जाओ 19) AP एवंविध, K एवविहसब्भावे, A लभदे, C लहइ K लहदि. 20) C भविस्सइ, A होदि for हवदि 21) A मणुओ P मणुसो, A होदि C हवइ, CK कह, C लहइ. 22) K अणण्णमण्ण, AP तक्काल. 23) C हवइ, AP पज्जाएण 25) CK सहावमह, P णारइय. 26) P णारग. 27) K संभवविलओ, C ते अण्णा

28) तम्हा दु णत्थि कोई सहावसमवट्ठिदो त्ति संसारे ।
संसारो पुण किरिया संसरमाणस्स दव्वस्स ॥ २८ ॥

29) आदा कम्ममलिमसो परिणामं लहदि कम्मसंजुत्तं ।
तत्तो सिलिसदि कम्मं तम्हा कम्मं तु परिणामो ॥ २९ ॥

30) परिणामो सयमादा सा पुण किरिय त्ति होदि जीवमया ।
किरिया कम्म त्ति मदा तम्हा कम्मस्स ण दु कत्ता ॥ ३० ॥

31) परिणमदि चेदणाए आदा पुण चेदणा तिधाभिमदा ।
सा पुण णाणे कम्मे फलम्मि वा कम्मणो भणिदा ॥ ३१ ॥

32) णाणं अट्ठवियप्पो कम्मं जीवेण जं समारद्धं ।
तमणेगविधं भणिदं फलं ति सोक्खं व दुक्खं वा ॥ ३२ ॥

33) अप्पा परिणामप्पा परिणामो णाणकम्मफलभावी ।
तम्हा णाणं कम्मं फलं च आदा मुणेदव्वो ॥ ३३ ॥

34) कत्ता करणं कम्मं फलं च अप्प त्ति णिच्छिदो समणो ।
परिणमदि णेव अण्णं जदि अप्पाणं लहदि सुद्धं ॥ ३४ ॥

35) दव्वं जीवमजीवं जीवो पुण चेदणोवजोगमओ ।
पोग्गलदव्वप्पमुहं अचेदणं हवदि अज्जीवं ॥ ३५ ॥

36) पोग्गलजीवणिबद्धो धम्माधम्मत्थिकायकालड्ढो ।
वट्टदि आगासे जो लोगो सो सव्वकाले दु ॥ ३६ ॥

37) उप्पादट्ठिदिभंगा पोग्गलजीवप्पगस्स लोगस्स ।
परिणामादो जायंते संघादादो व भेदादो ॥ ३७ ॥

38) लिंगेहिं जेहिं दव्वं जीवमजीवं च हवदि विण्णादं ।
तेऽतब्भावविसिट्ठा मुत्तामुत्ता गुणा णेया ॥ ३८ ॥

39) मुत्ता इंदियगेज्झा पोग्गलदव्वप्पगा अणेगविधा ।
दव्वाणममुत्ताणं गुणा अमुत्ता मुणेदव्वा ॥ ३९ ॥

---

28) CK जीवस्स for दव्वस्स 29) C लहइ, A मिलिसिदि, C सिलसदि. 30) C मया 31) A चेयणाए, CK तिहाहिमदा, C खलु for पुण, C फलंम्हि, C भणिया 32 A अत्थवियप्पो, KP °वियप्पं, C त अणेयविह, CK भणिय, A फल त्ति P फल च 33) C मुणेयव्वो 34) K णेवमण्णं, C लहइ. 35) AP चेदणोवजोगमओ, CK °वओगमओ, A य अजीव for अज्जीव. 36) P पुग्गल A आयासे. 37) ACP परिणामा for परिणामादो, K आयदि 39) CKP अणेय, CK विहा.

40) वण्णरसगंधफासा विज्जंते पोग्गलस्स सुहुमादो ।
पुढवीपरियंतस्स य सद्दो सो पोग्गलो चित्तो ॥ ४० ॥

41) आगासस्सवगाहो धम्मद्दव्वस्स गमणहेदुत्तं ।
धम्मेदरदव्वस्स दु गुणो पुणो ठाणकारणदा ॥ ४१ ॥

42) कालस्स वट्टणा से गुणोवओगो त्ति अप्पणो भणिदो ।
णेया संखेवादो गुणा हि मुत्तिप्पहीणाणं ॥ ४२ ॥ जुगलं ।

43) जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा पुणो य आगासं ।
सपदेसेहिं असंखा णत्थि पदेस त्ति कालस्स ॥ ४३ ॥

43*2) एदाणि पंचदव्वाणि उज्झियकालं तु अत्थिकाय त्ति ।
भण्णंते काया पुण बहुप्पदेसाण पचयत्तं ॥ ४३*२ ॥

44 लोगालोगेसु णभो धम्माधम्मेहि आददो लोगो ।
सेसे पडुच्च कालो जीवा पुण पोग्गला सेसा ॥ ४४ ॥

45) जध ते णभप्पदेसा तधप्पदेसा हवंति सेसाणं ।
अपदेसो परमाणू तेण पदेसुब्भवो भणिदो ॥ ४५ ॥

46) समओ दु अप्पदेसो पदेसमेत्तस्स दव्वजादस्स ।
वदिवददो सो वट्टदि पदेसमागासदव्वस्स ॥ ४६ ॥

47) वदिवददो तं देसं तस्सम समओ तदो परो पुव्वो ।
जो अत्थो सो कालो समओ उप्पण्णपद्धंसी ॥ ४७ ॥

48) आगासमणुणिविट्ठं आगासपदेससण्णया भणिदं ।
सव्वेसिं च अणूणं सक्कदि तं देदुमवगासं ॥ ४८ ॥

49) एक्को व दुगे बहुगा संखातीदा तदो अणंता य ।
दव्वाणं च पदेसा संति हि समय त्ति कालस्स ॥ ४९ ॥

50) उप्पादो पद्धंसो विज्जदि जदि जस्स एकसमयम्हि ।
समयस्स सो वि समओ सभावसमवट्ठिदो हवदि ॥ ५० ॥

40) P पुग्गल. 41) A ट्ठाण for ठाण 43) CK आयासं, A देसेहिं असंखादा, C पदेसो त्ति कालस्स 43*2) P पंचदव्वाणुज्झिय°, P बहुप्पदेसाविचयवत्त 44) C लोयालोयेसु, K लोयालोएसु P पडुच्च(?), P पुणु 45) CKP जह, CKP णह°, CK तह, C °परमा. 46) P °मित्त for °मेत्त, CP दविय for दव्व, C वट्टइ 48) CK आयास (in both places) 49) AP एको, CK दुवे AP संखादीदा. 50) C एग°, CK सहाव°, C होदि

51) एगम्हि संति समये संभवठिदिणाससण्णिदा अट्ठा ।
समयस्स सव्वकालं एस हि कालाणुसब्भावो ॥ ५१ ॥

52) जस्स ण संति पदेसा पदेसमेत्तं तु तच्चदो णादुं ।
सुण्णं जाण तमत्थं अत्थंतरभूदमत्थीदो ॥ ५२ ॥

53) सपदेसेहिं समग्गो लोगो अट्ठेहिं णिट्ठिदो णिच्चो ।
जो तं जाणदि जीवो पाणचदुक्केण संबद्धो ॥ ५३ ॥

54) इंदियपाणो य तधा बलपाणो तह य आउपाणो य ।
आणप्पाणप्पाणो जीवाणं होंति पाणा ते ॥ ५४ ॥

54*3) पंच वि इंदियपाणा मणवचिकाया य तिण्णि बलपाणा ।
आणप्पाणप्पाणो आउगपाणेण होंति दसपाणा ॥ ५४*३ ॥

55) पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीवस्सदि जो हि जीविदो पुव्वं ।
सो जीवो ते पाणा पोग्गलदव्वेहिं णिव्वत्ता ॥ ५५ ॥

56) जीवो पाणणिबद्धो बद्धो मोहादिएहिं कम्मेहिं ।
उवभुंजदि कम्मफलं बज्झदि अण्णेहिं कम्मेहिं ॥ ५६ ॥

57) पाणाबाधं जीवो मोहपदेसेहिं कुणदि जीवाणं ।
जदि सो हवदि हि बंधो णाणावरणादिकम्मेहिं ॥ ५७ ॥

58) आदा कम्ममलिमसो धरेदि पाणे पुणो पुणो अण्णे ।
ण चयदि जाव ममत्तं देहपधाणेसु विसयेसु ॥ ५८ ॥

59) जा इंदियादिविजई भवीय उवओगमप्पगं झादि ।
कम्मेहिं सो ण रंजदि किह तं पाणा अणुचरंति ॥ ५९ ॥

60) अत्थित्तणिच्छिदस्स हि अत्थस्सत्थंतरम्मि संभूदो ।
अत्थो पज्जाओ सो संठाणादिप्पभेदेहिं ॥ ६० ॥

61) णरणारयतिरियसुरा संठाणादीहिं अण्णहा जादा ।
पज्जाया जीवाणं उदयादिहिं णामकम्मस्स ॥ ६१ ॥

---

51) A एक्कमि, C एक्कम्मि, P एकहि 52) K पएसा पएस°, AP च for तु, K तमद्दं(?). 53) C जाणइ, CK चउक्केण P चदुक्काहि. 54) CK तहा 54*3) CK मणवचिकाए (ये)ण. 55) C जीविस्सदि, A पाणा पुण for ते पाणा. 56) C मोहादियेहि, AP उवभुंज for उवभुंजदि. 57) C पदोसेहिं 58) A धरदि, AP जहदि for चयदि, CK ममत्ति देहपहाणेसु. 59) A विजयी, APC रज्जदि, A कध, P किध, for किह. 60) K सब्भूदो, A पज्जाओ. 61) A उदयाइ हि.

62) तं सब्भावणिबद्धं दव्वसहावं तिहा समक्खादं।
जाणदि जो सवियप्पं ण मुहदि सो अण्णदवियम्हि ॥ ६२ ॥

63) अप्पा उवओगप्पा उवओगो णाणदंसणं भणिदो।
सो वि सुहो असुहो वा उवओगो अप्पणो हवदि ॥ ६३ ॥

64) उवओगो जदि हि सुहो पुण्णं जीवस्स संचयं जादि।
असुहो वा तध पावं तेसिमभावे ण चयमत्थि ॥ ६४ ॥

65) जो जाणादि जिणिंदे पेच्छदि सिद्धे तहेव अणगारे।
जीवेसु साणुकंपो उवओगो सो सुहो तस्स ॥ ६५ ॥

66) विसयकसाओगाढो दुस्सुदिदुच्चित्तदुट्ठगोट्ठिजुदो।
उग्गो उम्मग्गपरो उवओगो जस्स सो असुहो ॥ ६६ ॥

67) असुहोवओगरहिदो सुहोवजुत्तो ण अण्णदवियम्हि।
होज्जं मज्झत्थोऽहं णाणप्पगमप्पगं झाए ॥ ६७ ॥

68) णाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं।
कत्ता ण ण कारयिदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥ ६८ ॥

69) देहो य मणो वाणी पोग्गलदव्वप्पग त्ति णिद्दिट्ठा।
पोग्गलदव्वं हि पुणो पिंडो परमाणुदव्वाणं ॥ ६९ ॥

70) णाहं पोग्गलमइओ ण ते मया पोग्गला कया पिंडं।
तम्हा हि ण देहोऽहं कत्ता वा तस्स देहस्स ॥ ७० ॥

71) अपदेसो परमाणू पदेसमेत्तो य सयमसद्दो जो।
णिद्धो वा लुक्खो वा दुपदेसादित्तमणुहवदि ॥ ७१ ॥

72) एगुत्तरमेगादी अणुस्स णिद्धत्तणं च लुक्खत्तं।
परिणामादो भणिदं जाव अणंतत्तमणुभवदि ॥ ७२ ॥

73) णिद्धा वा लुक्खा वा अणुपरिणामा समा व विसमा वा।
समदो दुराधिगा जदि बज्झन्ति हि आदिपरिहीणा ॥ ७३ ॥

74) णिद्धत्तणेण दुगुणो चदुगुणणिद्धेण बंधमणुभवदि।
लुक्खेण वा तिगुणिदो अणु बज्झदि पंचगुणजुत्तो ॥ ७४ ॥

---

63) K भणिदं(?), AP सो हि for सा वि. 64) CK तह 65) C अणयारे, AP जीवे य for जीवेसु 67) C रहियो 68) CK ण हि कारइदा. 69) AP पोग्गलदव्व पि. 70) P कदा. 71) P °मित्तो, C य for जो, ACKP °मणुभवदि.

75) दुपदेसादी खंधा सुहुमा वा बादरा ससंठाणा ।
पुढविजलतेउवाऊ सगपरिणामेहिं जायंते ॥ ७५ ॥

76) ओगाढगाढणिचिदो पुग्गलकायेहिं सव्वदो लोगो ।
सुहुमेहि बादरेहि य अप्पाओग्गेहिं जोग्गेहिं ॥ ७६ ॥

77) कम्मत्तणपाओग्गा खंधा जीवस्स परिणइं पप्पा ।
गच्छंति कम्मभावं ण हि ते जीवेण परिणमिदा ॥ ७७ ॥

78) ते ते कम्मत्तगदा पोग्गलकाया पुणो वि जीवस्स ।
संजायंते देहा देहंतरसंकमं पप्पा ॥ ७८ ॥

79) ओरालिओ य देहो देहो वेउव्विओ य तेजइओ ।
आहारय कम्मइओ पुग्गलदव्वप्पगा सव्वे ॥ ७९ ॥

80) अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥ ८० ॥

81) मुत्तो रूवादिगुणो बज्झदि फासेहिं अण्णमण्णेहिं ।
तव्विवरीदो अप्पा बज्झदि किध पोग्गलं कम्मं ॥ ८१ ॥

82) रूवादिएहिं रहिदो पेच्छदि जाणादि रूवमादीणि ।
दव्वाणि गुणे य जधा तह बंधो तेण जाणीहि ॥ ८२ ॥

83) उवओगमओ जीवो मुज्झदि रज्जेदि वा पदुस्सेदि ।
पप्पा विविधे विसये जो हि पुणो तेहिं संबंधो ॥ ८३ ॥

84) भावेण जेण जीवो पेच्छदि जाणादि आगदं विसये ।
रज्जदि तेणेव पुणो बज्झदि कम्म त्ति उवदेसो ॥ ८४ ॥

85) फासेहिं पुग्गलाणं बंधो जीवस्स रागमादीहिं ।
अण्णोण्णस्सवगाहो पुग्गलजीवप्पगो भणिदो ॥ ८५ ॥

86) सपदेसो सो अप्पा तेसु पदेसेसु पुग्गला काया ।
पविसंति जहाजोग्गं चिट्ठंति हि जंति बज्झंति ॥ ८६ ॥

---

76) AK पोग्गल°, A °कायएहिं 77) A ण दु for ण हि 78) AP पुणो हि for पुणो वि. 79) C वेयुव्वियो...तेजइयो (K तेजइगो) ..कम्मइयो, AK पोग्गल. 81) K पासेहि, A अप्पा बधदि, CK किह. 82) P जहा तह, A जधा तध, CK जाणाहि 83) C विविहे, AP विसए, CK सो बधो. 84) AP विसए. 85) K पासेहि, K पोग्गलाणं, A अण्णोण्णमवगाहो, AK पोग्गल° 86) K पोग्गला, CK चेट्ठंति, AP चिट्ठति हि.

87) रत्तो बंधदि कम्मं मुच्चदि कम्मेहिं रागरहिदप्पा ।
एसो बंधसमासो जीवाणं जाण णिच्छयदो ॥ ८७ ॥

88) परिणामादो बंधो परिणामो रागदोसमोहजुदो ।
असुहो मोहपदोसो सुहो व असुहो हवदि रागो ॥ ८८ ॥

89) सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पाव त्ति भणियमण्णेसु ।
परिणामो णण्णगदो दुक्खक्खयकारणं समये ॥ ८९ ॥

90) भणिदा पुढविप्पमुहा जीवणिकायाध थावरा य तसा ।
अण्णा ते जीवादो जीवो वि य तेहिंदो अण्णो ॥ ९० ॥

91) जो णवि जाणदि एवं परमप्पाणं सहावमासेज्ज ।
कीरदि अज्झवसाणं अहं ममेदं ति मोहादो ॥ ९१ ॥

92) कुव्वं सभावमादा हवदि हि कत्ता सगस्स भावस्स ।
पोग्गलदव्वमयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ॥ ९२ ॥

93) गेण्हदि णेव ण मुंचदि करेदि ण हि पोग्गलाणि कम्माणि ।
जीवो पुग्गलमज्झे वट्टण्णवि सव्वकालेसु ॥ ९३ ॥

94) स इदाणिं कत्ता सं सगपरिणामस्स दव्वजादस्स ।
आदीयदे कदाई विमुच्चदे कम्मधूलीहिं ॥ ९४ ॥

95) परिणमदि जदा अप्पा सुहम्हि असुहम्हि रागदोसजुदो ।
तं पविसदि कम्मरयं णाणावरणादिभावेहिं ॥ ९५ ॥

95*4) सुहपयडीण विसोही तिव्वो असुहाण संकिलेसम्मि ।
विवरीदो दु जहण्णो अणुभागो सव्वपयडीणं ॥ ९५*४ ॥

96) सपदेसो सो अप्पा कसायिदो मोहरागदोसेहिं ।
कम्मरजेहिं सिलिट्ठो बंधो त्ति परूविदो समये ॥ ९६ ॥

97) एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयेण णिद्दिट्ठो ।
अरहंतेहिं जदीणं ववहारो अण्णहा भणिदो ॥ ९७ ॥

---

87) CK मुच्चदि, CK राय°. 88) K मोहपदेसा 89) C पावं ति, ACK भणिद°. 91) C जाणइ, C °मासिज्ज, A ममेद त्ति. 92) CK सहाव°, C पोग्गलकम्मकयाणं. 93) C गेण्हइ णेव ण मुंचइ करेइ, K पोग्गलमज्झे. 94) CK विमुंचदे, C धूलेहिं. 95) AP सुहम्मि असुहम्मि, C पविसइ, K भेदेहिं for भावेहिं. 95*4) C तिव्वं; this gātha is not included in Prabhācandra's Commentary. 96) CP कसाइदो, KP कम्मरएहिं. 97) P णिच्छएण.

98) ण चयदि जो दु ममत्तिं अहं ममेदं ति देहदविणेसु ।
सो सामण्णं चत्ता पडिवण्णो होदि उम्मग्गं ॥ ९८ ॥

99) णाहं होमि परेसिं ण मे परे संति णाणमहमेक्को ।
इदि जो झायदि झाणे सो अप्पाणं हवदि झादा ॥ ९९ ॥

100) एवं णाणप्पाणं दंसणभूदं अदिंदियमहत्थं ।
धुवमचलमणालंबं मण्णेऽहं अप्पगं सुद्धं ॥ १०० ॥

101) देहा वा दविणा वा सुहदुक्खा वाध सत्तुमित्तजणा ।
जीवस्स ण संति धुवा धुवोवओगप्पगो अप्पा ॥ १०१ ॥

102) जो एवं जाणित्ता झादि परं अप्पगं विसुद्धप्पा ।
सागारोऽणागारो खवेदि सो मोहदुग्गंठिं ॥ १०२ ॥

103) जो णिहदमोहगंठी रागपदोसे खवीय सामण्णे ।
होज्जं समसुहदुक्खो सो सोक्खं अक्खयं लहदि ॥ १०३ ॥

104) जो खविदमोहकलुसो विसयविरत्तो मणो णिरुंभित्ता ।
समवट्ठिदो सहावे सो अप्पाणं हवदि झादा ॥ १०४ ॥

105) णिहदघणघादिकम्मो पच्चक्खं सव्वभावतच्चण्हू ।
णेयंतगदो समणो झादि कमट्ठं असंदेहो ॥ १०५ ॥

106) सव्वाबाधविजुत्तो समंतसव्वक्खसोक्खणाणड्ढो ।
भूदो अक्खातीदो झादि अणक्खो परं सोक्खं ॥ १०६ ॥

107) एवं जिणा जिणिंदा सिद्धा मग्गं समुट्ठिदा समणा ।
जादा णमोत्थु तेसिं तस्स य णिव्वाणमग्गस्स ॥ १०७ ॥

108) तम्हा तह जाणित्ता अप्पाणं जाणगं सभावेण ।
परिवज्जामि ममत्तिं उवट्ठिदो णिम्ममत्तम्मि ॥ १०८ ॥

108*5) दंसणसंसुद्धाणं सम्मण्णाणोवजोगजुत्ताणं ।
अव्वाबाधरदाणं णमो णमो सिद्धसाहूणं ॥ १०८*५ ॥

---

98) AP जहदि for चयदि, C होइ 100) CK अइंदिय°, P मण्णेहमप्पग सुद्धं 101) A सुहदुह for सुहदुक्खा, C धुवउवओगप्पगो. 102) CK दुग्गंथिं(?). 103) K गथी ?), C दिट्ठो for गठी 104) P सभावे for सहावे, A धादा for झादा 105) CK घाइ, A झायदि किमट्ठ C ण संदेहो. 106) A समस्त for समंत, P अक्खातीदो. 107) C समट्ठिदा. 108) K सहावेण, A तध, K णिम्ममत्तम्हि 108*5) C रदाणं.

[III]

1) एवं पणमिय सिद्धे जिणवरवसहे पुणो पुणो समणे ।
पडिवज्जदु सामण्णं जदि इच्छदि दुक्खपरिमोक्खं ॥ १ ॥

2) आपिच्छ बंधुवग्गं विमोचिदो गुरुकलत्तपुत्तेहिं ।
आसिज्ज णाणदंसणचरित्ततववीरियायारं ॥ २ ॥

3) समणं गणिं गुणड्ढं कुलरूववयोविसिट्ठमिट्ठदरं ।
समणेहि तं पि पणदो पडिच्छ मं चेदि अणुगहिदो ॥ ३ ॥

4) णाहं होमि परेसिं ण मे परे णत्थि मज्झमिह किंचि ।
इदि णिच्छिदो जिदिंदो जादो जधजादरूवधरो ॥ ४ ॥

5) जधजादरूवजादं उप्पाडिदकेसमंसुगं सुद्धं ।
रहिदं हिंसादीदो अप्पडिकम्मं हवदि लिंगं ॥ ५ ॥

6) मुच्छारंभविमुक्कं जुत्तं उवजोगजोगसुद्धीहिं ।
लिंगं ण परावेक्खं अपुणब्भवकारणं जेण्हं ॥ ६ ॥ जुगलं ।

7) आदाय तं पि लिंगं गुरुणा परमेण तं णमंसित्ता ।
सोच्चा सवदं किरियं उवट्ठिदो होदि सो समणो ॥ ७ ॥

8) वदसमिदिंदियरोधो लोचावस्सयमचेलमण्हाणं ।
खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयणमेगभत्तं च ॥ ८ ॥

9) एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता ।
तेसु पमत्तो समणो छेदोवट्ठावगो होदि ॥ ९ ॥ जुम्मं ।

10) लिंगग्गहणे तेसिं गुरु त्ति पव्वज्जदायगो होदि ।
छेदेसूवट्ठवगा सेसा णिज्जावगा समणा ॥ १० ॥

11) पयदम्हि समारद्धे छेदो समणस्स कायचेट्ठम्हि ।
जायदि जदि तस्स पुणो आलोयणपुव्विया किरिया ॥ ११ ॥

12) छेदपउत्तो समणो समणं ववहारिणं जिणमदम्हि ।
आसेज्जालोचित्ता उवदिट्ठं तेण कायव्वं ॥ १२ ॥ जुगलं ।

---

1) CK इच्छदि जदि, P मोक्खो for मोक्ख. 2) ACP विमोइदो, C °यायारे. 4) C जहजाद. 5) C जहजाद, C उप्पाडिय, K °मस्सुग, CP रहिय, C अप्पडियम्म 6) A विजुत्त, P विमुत्त for विमुक्क, CK उवओग°, CK जोण्हं. 8) AP लोचावस्सक°, C लोचावासय, CK ठिय, C °मेयभत्तं. 10) AP छेदेसुवट्ठवगा, C छेदेसु उवट्ठवगा, K अवट्ठवगा. 12) AP छेदुवजुत्तो, CK आसिज्जा.

13) अधिवासे व विवासे छेदविहूणो भवीय सामण्णे ।
समणो विहरदु णिच्चं परिहरमाणो णिबंधाणि ॥ १३ ॥

14) चरदि णिबद्धो णिच्चं समणो णाणम्मि दंसणमुहम्मि ।
पयदो मूलगुणेसु य जो सो पडिपुण्णसामण्णो ॥ १४ ॥

15) भत्ते वा खमणे वा आवसधे वा पुणो विहारे वा ।
उवधिम्हि वा णिबद्धं णेच्छदि समणम्हि विकधम्हि ॥ १५ ॥

16) अपयत्ता वा चरिया सयणासणठाणचंकमादीसु ।
समणस्स सव्वकाले हिंसा सा संतत्तिय त्ति मदा ॥ १६ ॥

17) मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा ।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स ॥ १७ ॥

17*1) उच्चालियम्हि पाए इरियासमिदस्स णिग्गमत्थाए ।
आबाधेज्ज कुलिंगं मरिज्ज तं जोगमासेज्ज ॥ १७*१ ॥

17*2) ण हि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहुमो य देसिदो समये ।
मुच्छा परिग्गहो च्चिय अज्झप्पपमाणदो दिट्ठो ॥ १७*२ ॥ जुम्मं ।

18) अयदाचारो समणो छस्सु वि कायेसु वधकरो त्ति मदो ।
चरदि जदं जदि णिच्चं कमलं व जले णिरुवलेवो ॥ १८ ॥

19) हवदि व ण हवदि बंधो मदम्हि जीवेऽध कायचेट्ठम्हि ।
बंधो धुवमुवधीदो इदि समणा छड्डिया सव्वं ॥ १९ ॥

20) ण हि णिरवेक्खो चागो ण हवदि भिक्खुस्स आसयविसुद्धी ।
अविसुद्धस्स य चित्ते कहं णु कम्मक्खओ विहिओ ॥ २० ॥

20*3) गेण्हदि व चेलखंडं भायणमत्थि त्ति भणिदमिह सुत्ते ।
जदि सो चत्तालंबो हवदि कहं वा अणारंभो ॥ २०*३ ॥

20*4) वत्थक्खंडं दुद्दियभायणमण्णं च गेण्हदि णियदं ।
विज्जदि पाणारंभो विक्खेवो तस्स चित्तम्मि ॥ २०*४ ॥

---

13) CK विहीणो. 14) P पडिवण्ण for पडिपुण्ण. 15) CP खवणे, AP उवधिम्मि, CK आवसहे वा पु(उ)णो. 16) A सव्वकालं, C सातत्तिय. 17) AP जीवदु, AP समिदीसु for समिदस्स. 17*1) C पाये, C णिग्गमट्ठाणें, C मरेज्ज 18) ACP वधगो त्ति for वधकरो ति. 19) AP मदेहिं for मदम्हि, A समणा for समणा, ACK छड्डिया. 20) AP चाओ, C हवइ K विसोही, CK हि for य, CK दु for णु. 20*3) C गेण्हइ, C जइ. 20*4) P वत्थखडणं C गिण्हदे K गेण्हदे C विज्जइ.

20*5) गेण्हइ विधुणइ धोवइ सोसेइ जदं तु आदवे खित्ता ।
पत्थं च चेलखंडं बिभेदि परदो य पालयदि ॥ २०*५ ॥ विसेसयं ।

21) किध तम्हि णत्थि मुच्छा आरंभो वा असंजमो तस्स ।
तध परदव्वम्मि रदो कधमप्पाणं पसाधयदि ॥ २१ ॥

22) छेदो जेण ण विज्जदि गहणविसग्गेसु सेवमाणस्स ।
समणो तेणिह वट्टदु कालं खेत्तं वियाणित्ता ॥ २२ ॥

23) अप्पडिकुट्ठं उवधिं अपत्थणिज्जं असंजदजणेहिं ।
मुच्छादिजणणरहिदं गेण्हदु समणो जदि वि अप्पं ॥ २३ ॥

24) किं किंचण त्ति तक्कं अपुणब्भवकामिणोध देहे वि ।
संग त्ति जिणवरिंदा णिप्पडिकम्मत्तमुद्दिट्ठा ॥ २४ ॥

24*6) पेच्छदि ण हि इह लोगं परं च समणिंददेसिदो धम्मो ।
धम्मम्हि तम्हि कम्हा वियप्पियं लिंगमित्थीणं ॥ २४*६ ॥

24*7) णिच्छयदो इत्थीणं सिद्धी ण हि तेण जम्मणा दिट्ठा ।
तम्हा तप्पडिरूवं वियप्पियं लिंगमित्थीणं ॥ २४*७ ॥

24*8) पइडीपमादमइया एदासिं वित्ति भासिया पमदा ।
तम्हा ताओ पमदा पमादबहुल त्ति णिद्दिट्ठा ॥ २४*८ ॥

24*9) संति धुवं पमदाणं मोहपदोसा भयं दुगुंछा य ।
चित्ते चित्ता माया तम्हा तासिं ण णिव्वाणं ॥ २४*९ ॥

24*10) ण विणा वट्टदि णारी एक्कं वा तेसु जीवलोयम्हि ।
ण हि संउडं च गत्तं तम्हा तासिं च संवरणं ॥ २४*१० ॥

24*11) चित्तस्सावो तासिं सित्थिल्लं अत्तवं च पक्खलणं ।
विज्जदि सहसा तासु अ उप्पादो सुहममणुआणं ॥ २४*११ ॥

24*12) लिंगम्हि य इत्थीणं थणंतरे णाहिकक्खपदेसेसु ।
भणिदो सुहुमुप्पादो तासिं कह संजमो होदि ॥ २४*१२ ॥

20*5) P has the termination दि for इ throughout, CP पत्तं for पत्थं. 21) CP किह, A तम्मि, CK पसाहयदि. 22) P खित्त for खेत्तं, C विजाणित्ता. 23) K जणस्स, CK रहियं, AP जदि वि यप्प. 24) CK देहो वि, CK सगो त्ति, ACKP अप्पडि° for णिप्पडि°. 24*8) C पयडी, P विण्णासा for णिद्दिट्ठा. 24*9) K पदेसा. 24*10) C वट्टइ, P तासिं तु for तासिं च 24*11) P सेत्थिल्लं. 24*12) C कक्खदेसेसु, C किह.

24*13) जदि दंसणेण सुद्धा सुत्तज्झयणेण चावि संजुत्ता ।
धोरं चरदि व चरियं इत्थिस्स ण णिज्जरा भणिदा ॥ २४*१३ ॥

24*14) तम्हा तं पडिरूवं लिंगं तासिं जिणेहिं णिद्दिट्ठं ।
कुलरूववओजुत्ता समणीओ तस्समाचारा ॥ २४*१४ ॥

24*15) वण्णेसु तीसु एक्को कल्लाणंगो तवोसहो वयसा ।
सुमुहो कुंछारहिदो लिंगग्गहणे हवदि जोग्गो ॥ २४*१५ ॥

24*16) जो रयणत्तयणासो सो भंगो जिणवरेहि णिद्दिट्ठो ।
सेसं भंगेण पुणो ण होदि सल्लेहणाअरिहो ॥ २४*१६ ॥

25) उवयरणं जिणमग्गे लिंगं जहजादरूवमिदि भणिदं ।
गुरुवयणं पि य विणओ सुत्तज्झयणं च णिद्दिट्ठं ॥ २५ ॥

26) इहलोगणिरावेक्खो अप्पडिबद्धो परम्मि लोयम्हि ।
जुत्ताहारविहारो रहिदकसाओ हवे समणो ॥ २६ ॥

26*17) कोहादिएहि चउहि वि विकहाहि तहिंदियाणमत्थेहिं ।
समणो हवदि पमत्तो उवजुत्तो णेहणिद्दाहि ॥ २६*१७ ॥

27) जस्स अणेसणमप्पा तं पि तवो तप्पडिच्छगा समणा ।
अण्णं भिक्खमणेसणमध ते समणा अणाहारा ॥ २७ ॥

28) केवलदेहो समणो देहे वि ममत्तरहिदपरिकम्मा ।
आजुत्तो तं तवसा अणिगूहिय अप्पणो सत्तिं ॥ २८ ॥

29) एक्कं खलु तं भत्तं अप्पडिपुण्णोदरं जहालद्धं ।
चरणं भिक्खेण दिवा ण रसावेक्खं ण मधुमंसं ॥ २९ ॥

29*18) पक्केसु अ आमेसु अ विपच्चमाणासु मंसपेसीसु ।
संतत्तियमुववादो तज्जादीणं णिगोदाणं ॥ २९*१८ ॥

29*19) जो पक्कमपक्कं वा पेसीं मंसस्स खादि फासदि वा ।
सो किल णिहणदि पिंडं जीवाणमणेगकोडीणं ॥ २९*१९ ॥

24*13) P दंसणंहि for दसणेण, C भणिया. 24*14) P तप्पडिरूवं, C वयो°. 24*16) C सेसब्भंगेण, C होइ. 25) C विणय, AP पण्णत्तं for णिद्दिट्ठं. 26) C लोय, P सवणो 26*17) CP कोधादिएहि चदुहि वि, C °पहेहिं. 27) A तओ for तवो, CK °मह 28) A देहो ण ममेत्ति रहिदपरिकम्मे, P देहेण(?)ममत्ति-रहिदपरिकम्मो, CK रहिय, A अणिगूहं for अणिगूहिय 29) AC जधा, CK महु 29*18) C पेसेसु, P सातत्तिय for संतत्तिय. 29*19) CP किर for किल, C णिहणइ.

29*20) अप्पडिकुट्ठं पिंडं पाणिगयं णेव देयमण्णस्स ।
दत्ता भोत्तुमजोग्गं भुत्तो वा होदि पडिकुट्ठो ॥ २९*२० ॥

30) बालो वा बुड्ढो वा समभिहदो वा पुणो गिलाणो वा ।
चरियं चरदु सजोग्गं मूलच्छेदो जधा ण हवदि ॥ ३० ॥

31) आहारे व विहारे देसं कालं समं खमं उवधिं ।
जाणित्ता ते समणो वट्टदि जदि अप्पलेवी सो ॥ ३१ ॥

32) एयग्गगदो समणो एयग्गं णिच्छिदस्स अत्थेसु ।
णिच्छित्ती आगमदो आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा ॥ ३२ ॥

33) आगमहीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणादि ।
अविजाणंतो अट्ठे खवेदि कम्माणि किध भिक्खू ॥ ३३ ॥

34) आगमचक्खू साहू इंदियचक्खूणि सव्वभूदाणि ।
देवा य ओहिचक्खू सिद्धा पुण सव्वदो चक्खू ॥ ३४ ॥

35) सव्वे आगमसिद्धा अत्था गुणपज्जएहिं चित्तेहिं ।
जाणंति आगमेण हि पेच्छित्ता ते वि ते समणा ॥ ३५ ॥

36) आगमपुव्वा दिट्ठी ण भवदि जस्सेह संजमो तस्स ।
णत्थीदि भणदि सुत्तं असंजदो होदि किध समणो ॥ ३६ ॥

37) ण हि आगमेण सिज्झदि सद्दहणं जदि वि णत्थि अत्थेसु ।
सद्दहमाणो अत्थे असंजदो वा ण णिव्वादि ॥ ३७ ॥

38) जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं ।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण ॥ ३८ ॥

39) परमाणुपमाणं वा मुच्छा देहादिएसु जस्स पुणो ।
विज्जदि जदि सो सिद्धिं ण लहदि सव्वागमधरो वि ॥ ३९ ॥

39*21) चागो य अणारंभो विसयविरागो खओ कसायाणं ।
सो संजमो त्ति भणिदो पव्वज्जाए विसेसेण ॥ ३९*२१ ॥

---

30) P समभिगदो for °हदो, K चरदि, AP मूलच्छेद. 31) CK य for व, P उवहिं. 32) CP अट्ठेसु, P °च्छिा तदो जिट्ठा. 33) KP विजाणादि, AP अत्थे, CK किह. 34) K देवा वि, A सव्वदा. 35) AC अट्ठा for अत्था. 36) P हवदि for भवदि, AP णत्थि त्ति, AP हवदि C हवइ for होदि 37) C अट्ठेसु, C अट्ठे. 38) CK भवसद, CK खवेइ, AP उस्सासमित्तण 39) AC देहादियेसु. 39*21) C पव्वज्जाये,

40) पंचसमिदो तिगुत्तो पंचेंदियसंवुडो जिदकसाओ ।
दंसणणाणसमग्गो समणो सो संजदो भणिदो ॥ ४० ॥

41) समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो ।
समलोट्ठुकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो ॥ ४१ ॥

42) दंसणणाणचरित्तेसु तीसु जुगवं समुट्ठिदो जो दु ।
एयग्गगदो त्ति मदो सामण्णं तस्स पडिपुण्णं ॥ ४२ ॥

43) मुज्झदि वा रज्जदि वा दुस्सदि वा दव्वमण्णमासेज्ज ।
जदि समणो अण्णाणी बज्झदि कम्मेहिं विविहेहिं ॥ ४३ ॥

44) अट्ठेसु जो ण मुज्झदि ण हि रज्जदि णेव दोसमुवयादि ।
समणो जदि सो णियदं खवेदि कम्माणि विविहाणि ॥ ४४ ॥

45) समणा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता य होंति समयम्हि ।
तेसु वि सुद्धुवजुत्ता अणासवा सासवा सेसा ॥ ४५ ॥

46) अरहंतादिसु भत्ती वच्छलदा पवयणाभिजुत्तेसु ।
विज्जदि जदि सामण्णे सा सुहजुत्ता भवे चरिया ॥ ४६ ॥

47) वंदणणमंसणेहिं अब्भुट्ठाणाणुगमणपडिवत्ती ।
समणेसु समावणओ ण णिंदिदा रायचरियम्हि ॥ ४७ ॥

48) दंसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं ।
चरिया हि सरागाणं जिणिंदपूजोवदेसो य ॥ ४८ ॥

49) उवकुणदि जो वि णिच्चं चादुव्वण्णस्स समणसंघस्स ।
कायविराधणरहिदं सो वि सरागप्पधाणो से ॥ ४९ ॥

50) जदि कुणदि कायखेदं वेज्जावच्चत्थमुज्जदो समणो ।
ण हवदि हवदि अगारी धम्मो सो सावयाणं से ॥ ५० ॥

51) जोण्हाणं णिरवेक्खं सागारणगारचरियजुत्ताणं ।
अणुकंपयोवयारं कुव्वदु लेवो जदि वि अप्पो ॥ ५१ ॥

---

40) CK जिय. 41) P समबंधुसत्तुवग्गो, C लेट्टु, K लेंट्टु, CK विय for पुणो, K जीविय, P सवणे for समणो. 42) A युगव, A परिपुण्ण. 44) A अत्थेसु, AP विविधाणि, CK विविहाणि कम्माणि. 45) CKP संति for होंति. 46) CK हवे for भवे. 47) A वद्दणणमंसणेण हि, CK राग. 48) A जिणेंद. 49) CP चाउवण्णस्स, P कायविराहण°, CP पहाणो. P सो for the final से (also in the next gāthā). 51) C सायारणयार°, C अणुकंपाउवयारं, A जदि वि अप्प.

52) रोगेण वा छुधाए तण्हाए वा समेण वा रूढं ।
दिट्ठा समणं साहू पडिवज्जदु आदसत्तीए ॥ ५२ ॥

53) वेज्जावच्चणिमित्तं गिलाणगुरुबालवुड्ढसमणाणं ।
लोगिगजणसंभासा ण णिंदिदा वा सुहोवजुदा ॥ ५३ ॥

54) एसा पसत्थभूदा समणाणं वा पुणो घरत्थाणं ।
चरिया परेत्ति भणिदा ताएव परं लहदि सोक्खं ॥ ५४ ॥

55) रागो पसत्थभूदो वत्थुविसेसेण फलदि विवरीदं ।
णाणाभूमिगदाणिह बीजाणिव सस्सकालम्हि ॥ ५५ ॥

56) छदुमत्थविहिदवत्थुसु वदणियमज्झयणझाणदाणरदो ।
ण लहदि अपुणब्भावं भावं सादप्पगं लहदि ॥ ५६ ॥

57) अविदिदपरमत्थेसु य विसयकसायाधिगेसु पुरिसेसु ।
जुट्ठं कदं व दत्तं फलदि कुदेवेसु मणुवेसु ॥ ५७ ॥

58) जदि ते विसयकसाया पाव त्ति परूविदा व सत्थेसु ।
किह ते तप्पडिबद्धा पुरिसा णित्थारगा होंति ॥ ५८ ॥

59) उवरदपावो पुरिसो समभावो धम्मिगेसु सव्वेसु ।
गुणसमिदिदोवसेवी हवदि स भागी सुमग्गस्स ॥ ५९ ॥

60) असुभोवयोगरहिदा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता वा ।
णित्थारयंति लोगं तेसु पसत्थं लहदि भत्तो ॥ ६० ॥

61) दिट्ठा पगदं वत्थुं अब्भुट्ठाणप्पधाणकिरियाहिं ।
वट्टदु तदो गुणादो विसेसिदव्वो त्ति उवदेसो ॥ ६१ ॥

62) अब्भुट्ठाणं गहणं उवासणं पोसणं च सक्कारं ।
अंजलिकरणं पणमं भणिदमिह गुणाधिगाणं हि ॥ ६२ ॥

63) अब्भुट्ठेया समणा सुत्तत्थविसारदा उवासेया ।
संजमतवणाणड्ढा पणिवदणीया हि समणेहिं ॥ ६३ ॥

64) ण हवदि समणो त्ति मदो संजमतवसुत्तसंपजुत्तो वि ।
जदि सद्दहदि ण अत्थे आदपधाणे जिणक्खादे ॥ ६४ ॥

---

52) C रोएण, CK छुहाए, AP साधू. 53) P विज्जावच्च. 55) C °विवरीयं, AP भूमिगदाणि हि, A बीयाणि व. 57) A मणुजेसु P मणुसेसु for मणुवेसु. 58) A कह. 59) C °पाओ. 60) CKP असुहोवओगरहिदा. 61) C पगड, A तत्तो गुणदो, C °दव्व त्ति. 62) A उववा(व)सण, ACP भणिदमिह. 64) C अट्ठे आदपहाणे.

65) अववददि सासणत्थं समणं दिट्ठा पदोसदो जो हि
किरियासु णाणुमण्णदि हवदि हि सो णट्ठचारित्तो ॥ ६५ ॥

66) गुणदोधिगस्स विणयं पडिच्छगो जो वि होमि समणो त्ति ।
होज्जं गुणाधरो जदि सो होदि अणंतसंसारी ॥ ६६ ॥

67) अधिगगुणा सामण्णे वट्टंति गुणाधरेहिं किरियासु ।
जदि ते मिच्छुवजुत्ता हवंति पब्भट्ठचारित्ता ॥ ६७ ॥

68) णिच्छिदसुत्तत्थपदो समिदकसाओ तवोधिगो चावि ।
लोगिगजणसंसग्गं ण चयदि जदि संजदो ण हवदि ॥ ६८ ॥

68*22) तिसिदं व भुक्खिदं वा दुहिदं दट्ठूण जो हि दुहिदमणो ।
पडिवज्जदि तं किवया तस्सेसा होदि अणुकंपा ॥ ६८*२२ ॥

69) णिग्गंथो पव्वइदो वट्टदि जदि एहिगेहि कम्मेहिं ।
सो लोगिगो त्ति भणिदो संजमतवसंजुदो चावि ॥ ६९ ॥

70) तम्हा समं गुणादो समणो समणं गुणेहिं वा अहियं ।
अधिवसदु तम्हि णिच्चं इच्छदि जदि दुक्खपरिमोक्खं ॥ ७० ॥

71) जे अजधागहिदत्था एदे तच्च त्ति णिच्छिदा समये ।
अच्चंतफलसमिद्धं भमंति ते तो परं कालं ॥ ७१ ॥

72) अजधाचारविजुत्तो जधत्थपदणिच्छिदो पसंतप्पा ।
अफले चिरं ण जीवदि इह सो संपुण्णसामण्णो ॥ ७२ ॥

73) सम्मं विदिदपदत्था चत्ता उवहिं वहित्थमज्झत्थं ।
विसयेसु णावसत्ता जे ते सुद्ध त्ति णिद्दिट्ठा ॥ ७३ ॥

74) सुद्धस्स य सामण्णं भणियं सुद्धस्स दंसणं णाणं ।
सुद्धस्स य णिव्वाणं सो च्चिय सिद्धो णमो तस्स ॥ ७४ ॥

75) बुज्झदि सासणमेयं सागारणगारचरियया जुत्तो ।
जो सो पवयणसारं लहुणा कालेण पप्पोदि ॥ ७५ ॥

---

68) AP जहदि for चयदि, C जइ 68*22) This gātha is not traced in P, there being altogather a different arrangement of gāthās in this section. 69) A पव्वइदो, A लोगिगो ति, A संजमतवसंपजुत्तो वि. 70) A अधिय, P अधिगं, C इच्छइ. 72) P पसमप्पा for पसंतप्पा, CK जो for इह. 73) P णोवसत्ता. 75) CK सासणमेदं.

प्रवचनसारगाथानां वर्णानुक्रमसूची.

Here is given an alphabetically arranged Index of the gāthās of *Pravacanasāra*. The first No. refers to the Book and the second to the gāthā therein. The number 3. 29 *20 means that it is the 20th additional gāthā, of the version of Jayasena, following the 29th gāthā of the 3rd Book according to Amṛtacandra's version.

अमृतचन्द्राचार्यटीकान्तर्गतानां स्वरचितानामुक्तानां च पद्यानां वर्णानुक्रमसूची—

* The verses marked wlth asterisk alone are quotations, and the rest are all composed by Amṛtacandra in various contexts in his commentary. The manner in which the verse *ānandāmṛta* etc. is introduced perhaps indicates that it is a quotation.

जयसेनाचार्यटीकायामुक्तानां पद्यादीनां वर्णानुक्रमसूची—

the commentary of Amṛtacandra. The colophon, which gives the date of the MS., runs thus in red ink:

इति तस्वदीपिका नाम प्रवचनसारवृत्ति: समाप्ता ॥ * ॥ शुभं भवतु मंगलं महा श्री वेयाद्विद्या परमेश्वरी ॥ * ॥ श्री: ॥ अथ संवत्सरे श्रीविक्रमादित्यगताब्दा: संवत् ॥ १४९७ ॥ वर्षं ज्येष्ठ सुदि १३ ॥ शनिवासरे श्री टोडामहादुर्गे ॥ श्री मूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे भट्टारकश्रीपद्मनंदिदेवा तत्पट्टे भट्टारकश्रीशुभचंद्रदेवा: गुरुभ्राता श्रीमदनदेवास्तत्सिष्य ब्रह्मनरसिंह तत्पुस्तकात् मया सुंदरलालेन लिपिकृता इंदोरमध्ये स्वपठनार्थ: संवत् १९३० ॥ श्री ॥ श्रीरस्तु ॥ कल्याणमस्तु लेखकपाठकयो: ॥ श्री ॥ श्री ॥ ॐ नम: सिद्ध ॥

It can be very easily detected from this colophon that the present MS. is written in Saṁvat 1930, at Indore, by Sundaralāla from a MS. belonging to Brahma Narasiṁha, which appears to have been written at श्रीटोडामहादुर्ग (चित्तोड?) in Saṁvat 1497. Sundaralāla says that he copied it for his study; that indicates that he might be knowing Sanskrit, though the language of the colophon is not a piece of good Sanskrit, at any rate, it must be said to his credit that Sundarlāla is a faithful copyist.

P—It belongs to Śrī Ailaka Pannālāla D. Jaina Sarasvatī Bhavana, Bombay 4; it is numbered as 1370ज/309क. It is a paper MS., oblong in size, measuring 12 by 6½ inches. There are 43 leaves; and the MS., for all appearance, is complete. It contains the text and the Sanskrit commentary of Prabhācandra. The MS. is lately copied in Bombay, in Saṁvat 1981, from a MS written in Saṁvat 1555. The MS. is not carefully written; especially in the beginning portion, the copyist is not able to read correctly the MS. from which he is copying, and which possibly appears to have been written in that *paḍimātrā* system. Especially the Prakrit portion is very faulty. There is a good deal of disorder, especially in the third book, in the numbering and order of gāthās; one is not in a position to say whether the copyist is responsible for this, or more possibly, as the gaps in the middle indicate, the MS., from which this copy is made, was not in a good condition.

As one interested in the well-being of that institution, I have to request the authorities of Śrī Ailaka Pannālāla Sarasvatī Bhavana to employ intelligent copyists to prepare MSS for the institution; otherwise carelessly written MSS. would defeat the very aim of the institution.

C—This Ms. belongs to the Balātkāragaṇa Mandira, Karanja, No. 768. It has 178 folios, 10 by 6½ inches in size. Each page

CRITICAL APPARATUS

The dialectal form of the Prakrit gāthās, though they are physically placed in the Sanskrit commentary of Amṛtacandra, is substantially made to conform to the text as incorporated in the Sanskrit commentary of Jayasena, who, as it is evident from some of his remarks in his commentaries on the works of Kundakunda, appears to be particular about the Prakrit text; and hence, I was tempted to collate the gāthās with the MSS containing the commentaries of Amṛtacandra and Prabhācandra, which have been designated as A and P and are described below. I regret, however, that I could not get a MS containing only the commentary of Jayasena.

For the benefit of those who want to read the Prakrit text continuously, I have given the Text with Various Readings in this edition. The Readings are collected from the following MSS.

A—It belongs to Śrī Ailaka Pannālāla D. Jaina Sarasvatī Bhavana, Bombay 4: and it is numbered as 534ज/136क. It is a paper MS., oblong in size, measuring about 12½ by 6½ inches. It contains 70 leaves plus the last one. From the contents it is clear that some leaves after the 70th have been lost; and, therefore, the major portion of the final prose passage in Amṛtacandra's commentary is missing; in the first book gāthā No 23 with its commentary is not copied due to oversight; otherwise the MS. is quite intact, though the last page is slightly damaged in one corner. The MS. contains the gāthās, chāyā and the Sanskrit commentary of Amṛtacandra. The MS. is fairly accurate, especially in Sanskrit portions, leaving aside some orthographical errors that can be easily detected. The writer appears to be an intelligent copyist with an uniform Devanāgarī hand. In the first and the last five pages he has written the introductory remarks, preceding each gāthā, in red ink; but in the middle they are simply rubbed over with red chalk; it is very convenient to read the gāthās only, which, otherwise, would have been very difficult to be detected in those continuously and closely running lines. It is with this MS. that I have checked some of the knotty points in the printed text of

has 16 lines, with some 42 letters in a line. It contains Pañcāstikāya, Pravacanasāra and Samayasāra accompanied by Bāḷacandra's Kannaḍa commentary on them. It is accurately copied in general, and may be about 200 years old. Pages 51 to 106 are covered by Pravacanasāra. It ends thus:

मंगल महाश्री : ॥ ३२०० ॥ सर्वग्रंथसंख्या ॥ ६६३४ ॥ मूलगाथा ॥ १८१ ॥ ३११ ॥ ४४३ ॥ सर्वगाथा ॥ ९३५ ॥

In its readings ḷ is used for l; very often *e* and *ya* get interchanged, *d* is often written for *dh;* etc. But these are ignored while recording the readings.

K—This belongs to the Senagana Mandira, Karanja. It contains Pañcāstikāya besides Pravacanasāra which covers 170 leaves, from 135 to 304. It ends thus:

ग्रंथसंख्या । ६७२० ॥ × ॥ मल्लिषेणाचार्यकृतटीकामिद भद्रं भूयात् ॥ श्री ॥ श्री ॥ श्री ॥

The portion beginning with Malliṣeṇācārya appears to be added later on and then scored off Really speaking it contains the Tātparyavṛtti of Jayasena. The order of gāthās in the third chapter is different here and there. It writes l for *ḷ;* often *ya* and *e* are interchanged, and about *va-śruti* there is some looseness: these are generally ignored while recording the readings. Possibly it is copied from a MS in Kannada script and that explains the above details as well as the reading *attham* for *laddhaṁ.*

My friend Dr. V. P. Johrapurkar supplied to me the descriptions of C and K and also his careful collations of these from which I have recorded readings selected from the point of view of Prakrit dialectology. My thanks are due to him for his kindness in allowing me to use his collations.

In noting the following variants my attention was devoted to the dialectal differences, and those I have very scrutinizingly noted; naturally, apparent mistakes of the MSS have been ignored; some orthographical peculiarities have been recorded in a few cases. When a reading of some MSS is noted, it means that others agree with the text printed; and so forth. When all of them give a particular reading, I could not accept it, becasuse my aim has been to give a tentative text as incorporated in the commentary of Jayasena.

These Various Readings, I am sure, would be useful, when we are out to build a critical text of Pravacanasāra without any bias for a particular commentator.

THE ENGLISH TRANSLATION

OF

PRAVACANASĀRA

Book I.

1. Here I pay obeisance to Vardhamāna, the saviour, the promulgator of the law, who is saluted by the Suras, Asuras and lords of men, and who has washed off the dirt of destructive Karmas.[1]

2. (I pay obeisance) also to the remaining Tīrthaṅkaras (*i.e.*, the promulgators of the creed) along with all Siddhas (*i.e.*, the liberated souls) whose nature is pure and to the Śramaṇas (*i.e.*, the saints) whose behaviour is characterised by knowledge, faith, conduct, penance and energy.

3. I pay obeisance to them collectively as well as individually and to the contemporary Arahantas in the Mānuṣa region.[2]

4-5. After saluting Arahantas (*i.e.*, Tīrthaṅkaras), Siddhas also Gaṇadharas (*i.e.* the direct disciples of Tīrthaṅkaras), the band of preceptors and all the saints, and after having taken the life (*i.e.* a state of life, *āśrama*) of foremost knowledge and faith of pure nature, I adopt equanimity whereby Nirvāṇa is attained.

In these foot-notes P. stands for *Pañcāstikāya* of Kundakunda and TS for *Tattvārtha-sūtras* of Umāsvāti as commented upon by Pūjyapāda.

1 The passional vibrations etc. subject a soul to the influx of Karma which is of the nature of subtle matter. According to its fruit the Karma is divided into eight basic types 1 *Jñānāvaraṇīya-k.*, knowledge-obscuring-k., which obscures the knowledge of the soul, 2 *Darśanāvaraṇīya-k.*, conation-obscuring-k., which obscures the conative faculty of the soul, 3 *Vedanīya-k.*, feeling-k., which gives rise to, determines and regulates the feelings of pleasure and pain, 4 *Mohanīya-k.*, deluding-k., which deludes the faith and conduct of the soul, 5 *Āyus-k.*, age-k., which determines the age in a particular embodiment, 6 *Nāma-k.*, body-making-k., which organises the various physical features of the embodied being, 7 *Gotra-k.*, family-determining-k., which determines the high or low family of the individual, and 8 *Antarāya-k.*, obstructive-k., which hinders the happy disposition of the soul. These eight are divided into two groups *Ghāti-k.*, destructive k., and *Aghāti-k.*, non-destructive-k., according as they crush or not the natural attributes of the soul. The first, second, fourth and the last constitute *Ghāti-k.*, and the remaining are *Aghāti-k.* These eight basic types (*mūlaprakṛti*) are further divided into 148 subtypes (*uttara-prakṛti*) and so forth, each basic type dividing itself into various subtypes TS VIII.

2 At present there are no Tīrthankaras in our region after Mahāvīra, who attained liberation in 527 B. C., but there are Tīrthankaras, according to the Jaina tradition in the five *videha*-countries of the Mānuṣa-kṣetra *i.e.*, the first two islands and a half of the Jaina geography TS. III

6. Nirvāna, along with the glories of Devas,[1] Asuras and lords of men, accrues to a soul through conduct pre-eminently characterised by faith and knowledge.

7. Verily this realisation is the Dharma, which, in turn, is pointed out as equanimity; and equanimity is the state of the self in which infatuatory perturbation is absent.

8. For the time being a substance is said to be constituted of that by which it is transformed; therefore the self should be recognised as Dharma, when there is developed the condition of Dharma.

9. The Soul whose nature is amenable to modification comes to be auspicious, inauspicious or pure according as it develops auspicious, inauspicious or pure states (of consciousness).

10. There is no substance without a modification and no modification without a substance; the existence of a thing is made up of substance, quality and modification

11. The self that has developed equanimity, if endowed with pure activities, attains the bliss of Nirvāna, and if endowed with auspicious activities, attains heavenly happiness.

12 By the rise of inauspicious activities, the soul wanders for long as a low-graded human being, a sub-human being and a hellish one being subject for ever to thousands of miseries.

13 The happiness of those who are famous for their pure consciousness or serenity is transcendental, born from the self, supersensuous, incomparable, infinite and indestructible.

14. That Śramana, who has well understood all things and the texts that explain them, who is endowed with self-control and penances, who is free from attachment, and to whom pleasure and pain are alike, is said to represent pure consciousness (For the definition of Sutra, see gāthā 34).

15 He, who has manifested pure consciousness and is free from (knowledge- and conation-) obscuring, obstructive and deluding Karmic dust,[2] has become self-sufficient; and fully comprehends the objects of knowledge.

16 The ominiscient, who has realised his nature and is worshipped by the lords of all worlds, becomes self-sufficient; and he is called Svayambhu.

---

1 *yathā cāritrān nirvāṇam bhavati tathā Devendrādivibhavo'pi*

2 See note on I, 1.

17. Further, he represents a condition of the collocation of permanence, origination and destruction; though therein the origination is without destruction and the destruction devoid of origination.

18. In fact, every entity is characterised by existence; and it is with regard to only one aspect that every object suffers origination and destruction.[1]

19. He develops knowledge and happiness after having exhausted the destructive Karmas, being endowed with excellent infinite strength and excessive lustre and after becoming supersensuous.

*1. The miseries of those beings, that have faith in him who is the best among all things and who is respected by the foremost among gods and demons, are exhausted.[2]

20. In the case of the omniscient, the pleasure or pain is not physical, because he is endowed with supersensuousness: so it should be known.

21. The omniscient who develops knowledge directly visualizes all objects and their modifications, he does never comprehend them through the sensational stages such as outlinear grasp.[3]

22. Nothing is indirect to him who is himself ever omniscient and who is all-round rich in the qualities of all the organs of senses though himself beyond the senses.

23. The soul is co-extensive with knowledge; knowledge is said to be co-extensive with the objects of knowledge; the object of knowledge comprises the physical and non-physical universe, therefore knowledge is omnipresent.[4]

24-25. He, who does not admit the soul to be co-extensive with knowledge, must indeed concede that the soul is either smaller or larger than knowledge. If the soul is smaller, the knowledge, being insentient, cannot know; if larger, how can it know in the absence of knowledge?

26. The great Jina is everywhere and all the objects in the world are within him, since the Jina is an embodiment of knowledge

---

1 Compare P 11

2 The gāthās which are marked with an asterisk are not recognised in Amṛtacandra's commentary, but they are treated as a regular part of the text by Jayasena, such verses are serially numbered with an asterisk

3 The sense-perception, being not immediate, has four stages, *avagraha*, outlinear grasp, *īhā*, consideration or discrimination, *avāya*, judgement, *dhāraṇā*, retention of the judgement Such stages are not present when omniscience is functioning TS I, 15

4 See II 36, 44, 53 etc *infra*

and since they are the objects of knowledge.

27. The doctrine of Jina is that knowledge is the self and in the absence of the self there cannot be (any) knowledge; therefore, knowledge is the self, while the self is knowledge or anything else.

28. The knower has knowledge for his nature and all the objects are within the range of the knowledge, just as the objects of sight are within the ken of the eye, though there is no mutual inherence.

29. The knower, who is beyond sense-perception, necessarily knows and sees the whole world neither entering into nor entered into by the objects of knowledge,[1] just as the eye sees the objects of sight.

30. The knowledge operates on the objects, just as a sapphire, thrown in the milk, pervades the whole of it with its lustre.

31. If those objects are not within the knowledge, knowledge cannot be all-pervasive; the knowledge is all-pervasive, how then objects are not existing in it.?

32. The omniscient lord neither accepts nor abandons, nor transforms the external objectivity; he sees all around, and knows everything completely.

33. He, who clearly understands the self as of the nature of the knower on the authority of the scriptural knowledge, is called a śruta-kevalin by the sages that enlighten the world

34. That which is preached by the Jina through words, which are constituted of material substance,[2] is called the sutra (or the sacred text); knowledge consists in knowing it, and hence the sacred text also is designated as knowledge.

35 He who knows is knowledge; the self does not become a knower with knowledge (as an extraneous instrument).[3] The very

---

1 I have taken *na praviṣṭah na āviṣṭah* as against the commentators who take *na aviṣṭah* (*na apraviṣṭah*)

2 Sound is material according to Jaina philosophy, and it is the result of the clash of molecules (see II, 40 *infra*, and also P 79, TS V, 24) According to the Vaiśeṣika system, it is a quality of *ākāśa* When once it is accepted that sound is a quality, one is forced to find out some substance or the other, with which it is to be associated, and the Vaiśeṣika school concludes that it is the *linga* of *ākāśa*, because no other substance is convenient for this attribution As in Jainism, the Mimāṃsaka school holds that sound is a substance

3. The doctor takes the temperature of the patient with the thermometer, *i e*, his process of taking the temperature stands in need of an outside instrument We are accustomed to define, nowadays, knowledge as the process of analysis and synthesis, and the author says that this process is not extraneous, but completely identical with, nay the very nature of the soul

self develops knowledge, and all the objects stand (reflected) in the knowledge.

36. Therefore the self is knowledge; the object of knowledge is the substance, which is said to be threefold;[1] the substance comprises the soul and the (five) other (substances), which are prone to modification.

37. All modifications, present and absent, of all those types of substances, stand essentially (reflected) in the knowledge, as if in the present.

38. Those, which have never originated and those, in fact, that have been and are already destroyed are the absent modifications; they are directly visualised in omniscience.

39. If that omniscience would not directly visualise the future and past modifications, who then would call that knowledge super-natural?

40. It is declared that it is impossible to know the past and future for those who (are accustomed to) know the object by means of discrimination and other stages (of perception),[2] when it has fallen within the range of the senses.

41 That is called supersensuous knowledge which knows any substance, with or without space-points, with or without form, and those modifications which have not come into existence and those which are destroyed.

42. If the knower develops the influence of the object known, then he does not possess the knowledge which is born after the destruction of Karmas, the great Jinas say that he who so develops, (merely) enjoys the fruit of Karma.

43. The great Jinas say that portions of Karmas are necessarily operating (and giving their fruit); he, who is infatuated with, or shows attachment or aversion towards them, necessarily incurs bondage (of Karmas).

44. In the case of Arahantas, at the time of their Arhatship, (certain activities like) standing, sitting, moving about and religious discourse are natural (and necessary consequences of the Karmic fruition with no effort on their part), just as acting deceitfully is in the case of women.

---

1 With reference to past, present and future, or with regard to substance, quality and modification, or with respect to origination, destruction and permanence, see II, 35-42 *infra*.

2 See note on I, 21 *ante*.

45. Arahantas owe their status to the fruits of merits (or meritorious Karmas); their activities are the consequences of the Karmic operations; their activities are called *ksāyikī* (*i.e.*, due to the destruction of Karmas), because they are free from infatuation etc.

46. The transmigratory existence would be an impossibility in the case of all the embodied beings, if the soul itself is naturally incapable of developing auspicious and inauspicious states

47. That knowledge is called *ksāyika* (*i.e.*, produced after the destruction of Karmas) which knows completely and simultaneously the whole range of variegated and unequal objectivity of the present and otherwise.

48. He, who does not know simultaneously the objects of the three tenses and in the three worlds, cannot know even a single substance with its (infinite) modifications.

49. A single substance has infinite modes and infinite are the classes of substances; if he does not know (them) simultaneously, how will he be able to know all of them?

50. If the knower, after coming into contact with the objectivity, produces knowledge step by step; that knowledge cannot be eternal, neither can it be *ksāyika*, nor all-pervasive.

51 The omniscience of the Jina knows simultaneously the (whole range of) variegated and unequal objectivity possible in all places and present in three tenses, indeed great is the glory of that knowledge!

52 The soul (of the omniscient), though knowing all the things, does not transform itself (under their influence), does not receive (anything external), nor does it become one among them; and hence it is said to be without Karmic bondage.[1]

*2 Him ever adores the devoted world consisting of Devas, Asuras and lords of men; so do I devotedly adore him.

53 Just as knowledge of various entities is super-sensitive with reference to non-concrete and sensitive with regard to concrete things, so too is happiness, that which is the best of those (two) should be realized.

54 That is *pratyaksa* knowledge which perceives (all) the non-concrete (things), among the concrete those (atoms etc.) that are beyond the scope of senses, those that are hidden and all others that are related to substances and also that are not

1 Compare 32 *ante*

55. The soul itself is non-concrete (*i.e.*, devoid of the sense-qualities); when it is embodied, it comes to be concrete; (thus, being coupled with senses,) it perceives the perceptible through (the stages of) outlinear grasp etc.,[1] or sometimes it does not.

56. The sense-qualities of touch, taste, smell, colour and sound have a reference to material objects;[2] the sense-organs can never grasp them simultaneously.

57. The sense-organs are of foreign stuff, they can never be said to form the nature of the soul. How then what is perceived by them can be direct (*pratyaksa* or immediate) for the soul?

58. Perception of things through a foreign agency is called *paroksa*, indirect or mediate; whatever is perceived by the soul alone is *pratyaksa*, direct or immediate?

59. That self-born, perfect, and pure knowledge which spreads over infinite things and which is free from (the stages of perception such as) outlinear grasp etc., is called the real happiness [3]

60. Whatever is known as omniscient knowledge, that alone is a condition of happiness, no (trace of) misery is said to be there, since the destructive Karmas[4] are exhausted.

61. (In the omniscient) the knowledge reaches the very verge of objectivity, and the vision extends over the physical and super-physical universe; in Him all that is undesirable is destroyed and whatever is desirable is achieved.

62. The *abhavya* souls do not believe the statement that the happiness of those who are free from destructive Karmas is the best of all, while the *bhavya* souls accept it (and believe).[5]

63. Lords of men, Asuras and Amaras, harassed by senses that are born with them, being unable to bear with the pain, sport themselves with attractive objects of senses.

64. Know that misery to be natural for those who are attached to the objects of senses; if it is not natural, there would not be any attempt for the objects of senses

1 See note on 21 *ante*

2 TS V, 23

3 Ignorance, which is the result of Knowledge-obscuring-karman, is misery in this world, then the real happiness consists in destroying the Karma and in developing absolute happiness which is identical with omniscience and constitutes the very stuff of the self

4 See note on 1 *ante*

5 The souls incapable of attaining liberation are called *abhavya*, and those capable, *bhavya*, see P 163, TS. II, 7.

65. It is not the body, but the very soul itself, that develops happiness having obtained desired objects that are naturally endowed with the qualities of touch etc.

66. Really speaking, the body does not make any embodied being happy even in heaven; but the soul itself develops happiness or misery coming under the influence of the objects of enjoyment.

67. If the visual faculty of people could remove darkness, then the lamp is of no avail; so when the soul itself is happiness, what then the objects of enjoyment contribute?

68. Just as the sun, all by himself is lustrous and warm, and a deity of the sky, so also the liberated soul is (endowed with) knowledge and happiness, and is a divinity of the world.

*3. He is Arhan (*i.e.*, worshipful one) whose glory consists of lustre, conation, knowledge, supernatural accomplishment, happiness, affluence and the leading lordship of the three worlds.

*4 I repeatedly offer obeisance to the Siddha, who is superior and never suffering in his merits, who holds lordship over men and Devas and who is never (hereafter) bound to take birth anymore.

69. The soul, that is devoted to the worship of God, ascetic and the preceptor, to the offering of gifts, to virtuous conduct, and to the observance of fasts, is of auspicious activities (or manifestation of consciousness).[1]

70 The soul, endowed with auspicious manifestation of consciousness, is born as a sub-human or human being or a god, and, during that period, obtains different kinds of sensual pleasures.

71. It is evident from the doctrine that the happiness even of the gods is not self-established; oppressed by physical urge, they sport themselves with attractive objects of senses

72. If men, denizens of hell, sub-human beings and gods (indiscriminately) suffer misery incidental to body, then of what avail is the (distinction of) auspicious or inauspicious activity of the soul?

73. Indra and other sovereigns, quite engrossed as if they are happy, nourish their bodies etc. by means of enjoyments that are the consequences of auspicious activities.

74. If there are, in fact, different merits resulting from auspicious activities (or mental condition), they (merely) occasion a sensual

1 The term *upayoga* is very difficult to be rendered into English, the shade of its sense often depends on the context, similar is the case with *Dharma* and other words

thirst to all the beings among whom the gods come last (in the order of enumeration).[1]

75. Moreover those beings, with their thirst enhanced, pained with desires and burning with misery, hanker after the pleasures of senses and experience them till their death.

76. Happiness derived through sense-organs is dependent, amenable to disturbances, terminable, a cause of bondage and dangerous; and hence it is misery in disguise.

77. He, who does not admit that there is no difference between merit and demerit, wanders in this horrible and boundless transmigratory existence muffled in delusion.

78. Thus, knowing the nature of reality, he, who does not entertain attachment or aversion for any object, destroys all physical pain, being endowed with pure manifestation of consciousness.

79. Having abandoned sinful activities and proceeding on the path of auspicious conduct, if one does not abandon delusion etc., he cannot realize the pure self.

*5. He is the God who is known for his austerities and self-control, who is pure, who paves the path of heaven and liberation, who is worshipped by the lords of Amaras and Asuras and who stands at the summit of the physical world.

*6. Those men attain eternal happiness who salute the God among the gods of gods, who is foremost among the great saints, and who is the preceptor of the three worlds

80. He, who knows the Arahanta with respect to substantiality, quality and modification, realizes himself; and his delusion, in fact, dwindles into destruction.

81 The soul, being free from delusion and having grasped well the reality of the self, realizes the pure self, if it abandons attachment and aversion.

82. It is in this way that even all the Arahantas have destroyed portions of Karmas; preaching the same they attained Nirvāṇa: my obeisance to them

*7. Bow unto those persons who are pure in faith, foremost in knowledge, practising perfect conduct, and who deserve respect, honour and gifts

---

1 TS VIII, 10

83. The deluded notion of the soul about substances etc., is called delusion, muffled therein and developing attachment or aversion the soul is baffled.

84. Various kinds of bondage become possible, when the soul develops delusion, attachment or aversion; therefore, they are to be destroyed.[1]

85. False perception of things, absence of kindness towards sub-human and human beings and indulging with objects of pleasure—these are the characteristics of delusion or infatuation

86. He, who regularly understands the reality from the Jaina scriptures with direct and other proofs, exhausts the heap of delusion; therefore the scripture should be studied.

87. Substances, qualities and their modifications are (technically) signified by the term *artha;* and among them, it is said, that the substance is the substratum of qualities and modifications.[2]

88 He, who destroys delusion, attachment and aversion, after having grasped the discourse of the Jina, escapes from all miseries within a short time.

89. He, who really knows his soul as constituted of knowledge and others as only related with it as substances, effects the destruction of delusion

90 Therefore, if the soul aspires after the delusionless state of the self, it should understand from the Jaina creed the self and the non-self among the (scheme of) substances with regard to their qualities

91. He, who, in his state of *Śrāmaṇya* (*i e.*, asceticism), never believes in these substances with their closely related generality of existence and various special qualities, is not a Śramana, and religious purity is not possible for him.

92 The great souled Śramana, who has put an end to his delusive vision, who is expert in scriptures and who has established himself in conduct free from attachment, is qualified as Dharma.

*8 He acquires religious merit who, at his sight, is pleased, stands up and respects him with salutation, obeisance etc

*9. Thereby, human and sub-human beings, obtaining the grades of gods and men, have their desires ever fulfilled with wealth and affluence.

1. TS. VIII, 1-2.
2 TS V, 38. 41

Book II.

*1. Having saluted and having constantly concentrated my mind on him, I shall discourse in short upon the knowledge consisting in the ascertainment of the highest objectivity.

1. The object of knowledge is made up of substances, which are said to be characterised by qualities, and with which, moreover, are (associated) the modifications; those, who are deluded by modifications, are false believers.

2. Those beings, that are attached to modifications, are pointed out as the followers of the foreign creed (*para-samayika*); and those, who establish themselves in the nature of the self, are to be known as the followers of one's own creed.[1]

3. That is called a substance which is endowed with qualities and accompanied by modifications and which is coupled with origination, destruction and permanence without leaving its nature (of existence).[2]

4. The nature of the substance is existence accompanied by qualities, by its variegated modifications and by origination, destruction and permanence for all the time.[3]

5. Here, amongst various characteristics, existence is described as one all-comprising characteristic by the great Jina, when (he was) clearly propounding the (religious) creed.[4]

6. The Jinas have truly declared that the substance is naturally (and essentially) proved to be existential; and it is as well proved from the scriptures, he, who does not accept it, is a false believer.

7. That existing entity established in its nature is the substance; the development of the substance with reference to qualities and modes (*artha*) is (also) its nature coupled with permanence, origination and destruction.

8. There can be no origination without destruction, nor there is destruction without origination; origination and destruction are not possible in the absence of the permanent substantiality.[5]

---

1 For the cosmological shade of meaning of *samaya*, see P 3
2 Compare P 10
3. Umāsvāti expresses the same in TS V, 29, 30, 38
4 Compare P 8-9
5 The case of liberated souls stands on a slightly different level, see I, 17 *ante*.

9. Origination, permanence and destruction take place in modifications; modifications are (possible) necessarily in a substance, therefore the substance forms the base of all of them.

10. A substance, in fact, is intimately united with the (three) conditions signified by the terms: origination, permanence and destruction at one and the same moment; therefore, really speaking, the substance is (the substratum of) all the three.

11. In a substance some modification originates and some other passes away; but the substantiality neither originates nor is destroyed.

12. The substance, which is not different from its (initial) existence, develops of its own accord some other quality leaving the one; therefore, modifications in qualities are further called the substance.

13. If the substance is not an existing entity, it must be either non-existing or again something else than a substance; in either case how can it be a substance? therefore, the substance is self-existent.

14. It is the dictum of Mahāvira that separateness (*pṛthaktva*) consists in having separated space-points; non-identity (*anyatva*) is the absence of identity; (between *sattā* or existence and *dravya* or substance) there is no identity (*na tabbhavam* perhaps the same as *a—tadbhāvaḥ*, non-identity), then how can those two be one?

15 Substance is existing, quality is existing and modification is existing. so is the detailed scope of existence; the negation of any one of them, in fact, is that negation termed as non-identity.

16. Really speaking what is substance is not quality, nor what is quality is substance; this is a case of non-identity and not of absolute negation: so it is pointed out.

17. That condition, which, in fact, forms the nature of the substance, is quality which is not different from its initial existence; that existing entity established in its nature is the substance: this is the doctrine of the Jina.

18. There is nothing as quality nor as a modification in the absence of a substance; that substantiality is (a condition) of positive existence; therefore the substance is existence itself.[1]

19. In this manner, the substance forever retains its position, in its own nature, as endowed with positive and negative conditions

1. Compare P. 8, 11-12

according as it is looked at from the substantial and the modificational view-points.[1]

20. When the soul (in its course) is or will be born as a man, god or any one else, does it leave its substantiality?; if it does not leave, how is it different (in different births)?[2]

21. A man (so long he has a human body) is not a god; nor is a god a man or a liberated being; if it is not so possible, how can their mutual non-difference be established?

22. All substances are non-different from the substantial view-point, but again they are different from the modificational view-point, because of the individual modification pervading it for the time being.

23. According to some modification or the other it is stated that a substance exists, does not exist, is indescribable, is both or otherwise.[3]

24. There is no modification (such as human or divine etc.) as such which is permanent; nor there is any activity (of mundane beings) which is not the outcome of their nature. Even if the highest Dharma is without fruit, the activity (of mundane beings) is not without a fruit

25. The Karma of the Nāma type (*i e.*, the Nāma-Karma which determines the various physical characteristics of the embodied beings)[4] overcomes the nature of the soul with its nature, makes him a man, a sub-human being, a denizen of hell or a god.

---

1 When it is said that a substance, without leaving its substantiality, undergoes various modifications, naturally there will be two view-points of looking at a substance according as our attention is mainly directed to the substance or towards the modifications these are called *dravyārthika-naya* and *paryāyārthika-naya* substantial and modificational view-points.

2 In various births, from the substantial view-point, the soul is the same behind different bodies, but it is different, if the bodies that envelop it in different births are taken into consideration, compare P 17

3 This is the famous Syādvāda or the Saptabhangī-naya of the Jainas The human mind is limited, the human speech has its limitations, the world of nature is made up of infinite things, and each thing has an indefinite number of qualities and modes Every point can be studied in its positive and negative aspects, and when the speech cannot assert both of them definitely, we adopt the alternative that a thing is indescribable To explore all the characteristics is an endless task, so the author here concentrates his attention on existence and non-existence which together give rise to indescribability, and points out the seven possible alternative modes of assertion, see P 14.

4 See note on I, 1 *ante*.

26. Men, denizens of hell sub-human beings and gods who are, in fact, shaped by (their own) Nāma-karma, have not realized their nature (of knowledge and bliss), developing as they are their Karmas.

27. In this world, in which modifications originate and pass away at every moment, nothing is absolutely produced or destroyed; what is production of one modification is the destruction of another; and thus origination and destruction are different.

28. In this world, therefore, there is nothing as such absolutely established in its nature· after all mundane existence is (only) an activity of the soul-substance which is moving (in four grades of existence).

29. The soul tainted with Karma attains a condition mixed with Karma; thence Karma clings; therefore Karma is a condition (developed by passions etc.)

30. The development of the soul is soul itself, and this activity (of development) pervades the soul; this activity is known as Karma, and hence the soul is not the (direct) agent of (material) Karmas.

31. The soul develops into (or with) sentiency which, in turn, is said to be of three kinds, say with regard to knowledge, Karma and the fruit of Karma

32. Knowledge is the comprehension of the objectivity (exactly as it is); whatever is done by the soul is Karma, which is of many kinds; the fruit of Karma is either happiness or misery.

33. The nature of the soul is development: this development is with reference to knowledge, Karma and the fruit; therefore, it should be understood that knowledge, Karma and the fruit constitute the soul.

34. When the Śramaṇa is convinced that the soul itself is the agent, means, action, and the fruit, and if he does not develop anything (else as passions etc.), he realizes the pure self.

35. Substance comprises Jīva, the sentient principle and Ajīva, the non-sentient principle; Jīva is constituted of sentiency and manifestation of consciousness,[1] Ajīva is insentient, and the foremost of this class is matter.

36. That space which is accompanied by matter and soul, which is rich with Kāla (or time) and the two magnitudes (*i.e.*, *astikāyas*) of Dharma and Adharma (*i.e.*, the principles of motion and rest) and which is eternal, is called Loka or the physical world.[2]

1 TS. II, 8
2. TS V, 12.

37. Of this physical world constituted of matter and souls, there take place transformations consisting of origination, permanence and destruction collectively or individually.

38. The characteristics by which the sentient and non-sentient substances are recognised are known as the special qualities called *mūrta* and *amūrta*, concrete and non-concrete

39. The qualities which are perceived by senses, which characterise the material substances and which are manifold are *mūrta* or concrete qualities; the qualities of non-concrete substances are to be known as *amūrta* or non-concrete.[1]

40. Colour, taste, smell and touch are found in matter from the finer molecule to the gross earth; and sound is material and of various kinds.[2]

41-42. The peculiar property of Ākāśa is to give room; of the Dharma-substance, to be a cause of movement; of Adharma-, to be a cause of stationariness, of Kāla, to mark the continuity; of soul, the manifestation of consciousness: these are to be known, in short, the peculiar characteristics of non-concrete substances.[3]

43. The souls, material bodies, principles of motion and rest, and space: all these possess innumerable space-points, but time has no space-points.[4]

*2. These five substances, leaving aside the time, are called *astikāyas* or magnitudes. the word *kāya* signifies the collection of space-points.[5]

---

1 Compare P 99

2 TS V, 5, 23-24

3. According to Jainism space or *ākāśa* is a substance, a reality We can think of a beginning and an end in connection with things limited; but we cannot posit these for nature as a whole. Space extends infinitely, so its extension is infinite Besides extension there is another characteristic of space, namely, to give room or the capacity to contain The second is not an independent characteristic, because it needs certain other things for which the room is to be given The six substances including space as well are there in space to a certain extent, and that much extent is called *lokākāśa*, the physical space, and the rest, where there is nothing but mere space, is called *alokākāśa*, super-physical or non-physical space The experience of this empty space is possible for the omniscient, since our ordinary experience is always relative And since omniscience is capable of comprehending even empty space, there is no propriety of calling empty space as a mere theoretical abstraction: thus the Jaina authors accept the possibility of empty space On gāthās 41-42 see P. 23-24, 85-86, 90 etc, TS V, 17-18, 22.

4 TS V, 8-9

5 On *astikāya* see P 5

44. The sky or space pervades Loka and Aloka; Loka is occupied by the principles of motion and rest, by time which rests with the other two (*viz.*, soul and matter) and by soul and matter.

45. Just as there are points of space, so are there of the remaining (substances); a primary atom is without space-points, because (being an unit) it gives rise to the (measure of) space-point.[1]

46. The moment of time is without space-points; it is equal to the time required by that unit of substance measured by one *pradeśa* to traverse one space-point of the sky-substance.[2]

47. That much duration required for crossing from one to the other spatial point is (known as) *samaya*, instant or moment; the objective entity before and after is time; *samaya* is liable to origination and destruction.[3]

48. That much portion of the space occupied by one atom is called the space-point and it is capable of giving room to the atoms of all (substances).

49. All substances (excepting time) have one, two, many, innumerable or even infinite space-points, while time has only one space-point *viz.*, *samaya*, instant or moment

50 That *samaya* or instant, which has origination and destruction at one and the same moment, is (still) a *samaya* established in its nature.

1 TS V, 11

2 It is an interesting feature of Jaina physics that it has accepted Time and Space as realities, as much facts as matter, and even their ultimate units are recognised with their mutual relation settled A primary atom, an ultimate indivisible unit of matter, is an unit of matter, the space occupied by an atom is *pradeśa* or space-point, which is the unit of space, and finally, the time required for an atom to traverse one space-point is *samaya*, instant or moment, which is an unit of time The co-ordination of these three fundamental and ultimate facts of physical universe shows the insight with which the Indian mind pursued the analysis of any subject.

3 Compare P 24 etc Time, according to Jainism, is a substance, a reality forming a condition of the introduction of changes in other things The ultimate unit of time is *samaya* The Sāmkhya school, though it does not admit the reality of time, is quite in agreement with the Jaina definition of *samaya* Time is both absolute and relative. Absolute time is a non-corporeal substance conditioning the introduction of change in various things, while moments, hours etc are the modes of relative time only Like other substances it is characterised by existence, but it differs from others in the fact that it is made up of simple elements called *kālāṇu* Because of this manner of constitution, time is not looked upon as an *astikāya*

Time as a driving force is almost deified in Atharvaveda Nyāya-Vaiśesikas infer the existence of time from such notions as past, present and future Buddhism does not accept the reality of time, as its theory of momentariness cannot harbour the possibility of any continuity According to Buddhist authors, time is treated merely as a subjective element.

51. This is the essential nature of *kālāṇu* (the unit of time), all the while, that it undergoes what are called origination, permanence and destruction at one and the same moment.

52. That, which has not many space-points, nor even one space-point in order that it might be known (?), should be known as void, which is something other than existence.

53. The physical world is stable, eternal and (filled) complete with entities endowed with space-points; he, who knows it, is the soul endowed with four life-essentials.

54. Life-essentials of Jīvas or souls are senses, *bala* (*i.e.*, the channels of activities), duration of life and respiration.[1]

*3. Life-essentials (in details) are ten: five senses, three channels of activity *viz.*, of mind, speech and body, respiration and the duration of life.

55. That which formerly lived, lives now and will live in future with the four life-essentials is the Jīva, the sentient principle; these life essentials, moreover, are fashioned by material substances.[2]

56. The soul endowed with life-essentials, bound by infatuatory and other Karmas, and enjoying the fruit of Karmas, is bound by other additional Karmas

57. If the Jīva, through delusion and hatred, causes harm to the life-essentials of living beings, this results into the bondage of Karmas such as knowledge-obscuring.

58. The soul tainted with Karma, so long as it does not give up attachment towards external objects the foremost of which is the body, possesses other life-essentials again and again.

59. He, who has conquered his senses etc. and meditates the pure manifestation of consciousness of his self, will not be tainted by Karmas; how then can the life-essentials follow him?

60. The transformation of one condition into another, in the case of the soul (when coming into contact with matter) whose exis-

---

1 The life-essentials do not form the nature of the soul-stuff, but they are the indications or the signs of the presence of the soul in an embodied condition We do not perceive the soul, but it has certain essential features in this mundane existence, and they are four in number (and the same would be ten when their details are taken into consideration). The four life-essentials are typically selective and mutually exclusive to a great extent The signs of soul given by Vaiśeṣikas, namely, *prāṇâpāna-nimiṣonmeṣa-jīvana-mano-gatīndriyântara-vikārāḥ sukha - duḥkhēcchā - dveṣa-prayatnāścâtmano lingāni* (V. S III. 2, 4), look more like a descriptive enumeration.

2 Compare P 30

tential nature is (already) determined, is the modification with its varieties of figuration etc.

61. Human, hellish, sub-human and divine modifications of the soul are mutually different with regard to the figuration (of the body) etc., because of the operation of Nāma-karman.[1]

62. The nature of the substance established in its existential condition is said to be three-fold (*viz.*, consisting of origination, permanence and destruction); he, who knows it in detail, will not be infatuated with foreign substances.

63. The soul is constituted of the manifestation of consciousness; manifestation of consciousness is towards knowledge and cognition; the manifestation of consciousness of the soul is either auspicious or inauspicious [2]

64. If the manifestation of consciousness is auspicious, the soul accumulates merit; if inauspicious, sin: in the absence of both there is no accumulation (of Karmas).

65. He, who recognises the great Jinas, attends on Siddhas as well as saints and is compassionate towards living beings, has an auspicious resultant of consciousness [3]

66. He, who is steeped in sensual pleasures and passions, who is given to false scriptures, evil intentions and wicked words, and who is cruel and goes astray, has an inauspicious resultant of consciousness.

67. Being free from inauspicious manifestation of consciousness and without the auspicious one towards foreign substances and being indifferent, I meditate on my self that is essentially constituted of knowledge.

68. I am neither the body, nor the mind, nor the speech, nor the cause thereof, nor the agent, nor the commissioner, nor the consentor of the doers.

69. It is pointed out that body, mind and speech are constituted of material substances; and the material substance, in turn, is a lump of atomic substances.

70. I am neither made of matter, nor is the matter lumped by me; therefore, I am neither the body nor the maker of that body.

1 Compare P 16
2 See P 40; TS II, 8-9
3. Compare I, 69 *ante*

71. The primary atom has no space-points; it is an unit of space-points and itself having no quality of sound; being arid or cohesive it comes to have two or more space-points.[1]

72. It is said that the points of aridness or cohesiveness of an atom, because of transformation, increasing by one from one onwards, attain infinity.

73. Atomic modifications, cohesive or arid, whether (having) even or odd points, bind mutually, when ordinarily there is the difference of two points, the minimum point being excepted.[2]

74. An atom with two points of cohesiveness binds with an atom of four points of cohesiveness or aridness; and that of three points with that of five points.

75. The gross entities (or molecules)[3] which have two or more space-points and the subtle or gross earth-water-fire-air bodies come to have different shapes according to their modifications (of the qualities of cohesiveness or aridness).

76. The physical world is thickly packed everywhere with material bodies, subtle and gross, capable of being received or not (by the soul).

77. The molecules capable of becoming Karmas, coming into contact with the (passional) conditions or transformations of the soul, are developed into Karmas: and not that they are so transformed by the soul.

78. Those material bodies, which are transformed into Karmas, go to form the bodies, when the soul is passing into one more body again.

79. The physical body, the transformatory body, the electric body, the translocational body and the Karmic body: all these are made of material substance.[4]

80. Know that the (pure) soul is without (the qualities of) taste, colour, smell, touch, and sound, it is all the quality of sentiency; it is beyond inferential mark; and it has no definable shape.[5]

81. Material objects possessing the qualities of colour etc., mutually bind on account of their qualities of touch (*viz.*, cohesiveness

1 See P. 77, 78, 81 etc

2. TS V, 33-37

3 On the significance of *skandha* see P 74 etc.

4. TS II, 36.

5. This gāthā is the same as P 127

and aridness); the (nature of the) soul is quite opposed to this; then how is it that material Karmas bind it?

82. The soul, which is without colour etc., perceives and knows objects endowed with colour etc. and the qualities; similarly the (case of) bondage is to be understood.

83. The soul, which is constituted of the manifestation of consciousness, conceives infatuation, attachment or aversion having obtained various objects of pleasure; so again it is bound up with them (*i.e.*, the passional states)

84. It is by the attitude, with which the soul perceives and knows the obejcts of senses, that it is tinged; and it is thereby, moreover, the Karma binds: so goes the doctrine.

85. Bondage between material bodies is due to their qualities of touch etc (*i.e.*, cohesiveness and aridness); and that of the soul is due to attachment etc., mutual interpenetration is said to be the bondage of soul and matter.

86. The soul has space-points, and in those space-points material bodies penetrate and remain as it may be possible; they pass away (according to their duration) or remain bound.

87. When the soul develops attachment, Karma binds, when it is without attachment, it becomes free from Karmas: know this to be in short the real description of the bondage of the soul.

88. Bondage results from the modification which consists of attachment, aversion and infatuation Infatuation and aversion are inauspicious; while attachment is either auspicious or inauspicious.

89. It is already remarked that auspicious and inauspicious attitudes towards other (*i.e.*, external) things lead to merit and sin (respectively). According to the doctrine (of the Jina), the attitude, which is (inclined) towards neither, is the cause of the destruction of misery [1]

90. (All) the living embodiments, immovable like the earth etc. and the movable, are different from the (essential nature of) soul; and the soul is essentially different from them.[2]

91. He, who, having realized (or accepted) his nature, does not understand the self and the non-self (and the difference between them), conceives, through infatuation, an attitude: I am this and this is mine.

1 Compare P 132, also II, 64 *ante*

2 TS. II, 12-13

92. The soul, effecting the development of its consciousness, is the agent of its own development; it is not the agent of all those conditions constituted of material substances.[1]

93. The soul, though standing in the midst of matter all the while, neither accepts nor abandons, nor is the agent of material Karmas.

94. The soul, at present (*i.e.*, in this transmigratory condition), being the agent of its own modification constituted out of its own substance, is sometimes bound up with or released from Karmic dust.

95. When the soul, under the influence of attachment or aversion develops itself into auspicious or inauspicious resultant of consciousness, the Karmic dust pours into it in the form of knowledge-obscuring etc.

*4. The fruition of auspicious or inauspicious types (of Karmas) is intensified by pure and soiled attitudes (respectively); but in reverse to that, all the types have minimum intensity.

96. The soul, which has space-points, when soiled by infatuation, attachment and aversion, is clung by Karmic dust;[2] and that is called bondage in the scripture

97. The Arahantas have preached to the ascetics or saints this discourse in short on the bondage of the soul from the realistic standpoint of view, the same from the ordinary stand-point of view is something different.

98. He, who does not abandon the notion of mineness over the body and possessions that 'I am this and this is mine', gives up the *śrāmaṇya* (*i.e.*, the status of a saint) and goes astray.

99. 'I do not belong to others, nor do others belong to me; I am mere knowledge': he, who meditates thus in concentration, comes to meditate on his (pure) self

100. Thus I consider myself to be constituted of knowledge and faith, supersensuous, a great objectivity, eternal, stable, independent and pure.

101. Bodies, possessions, happiness, misery, friends or enemies are not the eternal associates of the soul; the soul is eternally constituted of the manifestation of consciousness.

---

1 Compare P 65

2 Compare II, 29 & 86 *ante*

102. He, who, knowing this and being pure in self, meditates on that highest Self, whether he is a layman or an ascetic, destroys the dangerous knot of delusion.

103. He, who has destroyed the knot of delusion, who has overthrown attachment and aversion and is indifferent to pleasure and pain in his condition of a Śramaṇa, attains eternal happiness.

104. He, who has destroyed the dirt of delusion, has abstained from objects of pleasure, has restrained his mind and is established in his own nature, becomes a meditator of the self.

105. What does that great sage, who has destroyed the thick destructive Karmas, who directly comprehends all entities and realities, who has reached the end of the objects of knowledge and who is free from doubts, meditate upon?

106. Being free from all hindrances, being all round rich in knowledge and happiness of all the senses (together), being beyond the reach of senses and having no senses, he meditates on the highest happiness.

107. My salutation to that path leading to Nirvāṇa and to those who, following it, attained the state of Śramaṇas, of Jinas, of Jinendras and of Siddhas [1]

108 Therefore, thus realizing the soul as the knower by nature, I give up the notion of mineness and have come to adopt the (notion of) non-attachment

*5. My repeated salutations to those liberated saints whose faith (*darśana*) is pure, who are endowed with the manifestation of consciousness with respect to right knowledge and who are happy without hindrances.

Book III

1-2. Having repeatedly saluted the Siddhas, the foremost great Jinas and the saints, may he adopt asceticism, if he desires for escape from misery, after taking leave of the family of relations, being let off by elders, wife and children, and being intent on the cultivation of knowledge, faith, conduct, austerities and strength.

3. He prostrates himself before a (great) saint, the head of an ascetic band, rich in virtues, endowed with distinctive family, form and age, and honoured by ascetics, saying, 'Admit me'; and he is favoured (with admission to the ascetic community).

1 For their mutual distinctions see the commentary of Jayasena

4. I do not belong to others, nor do others belong to me; there is nothing that is mine here: thus determined and conquering his senses, he adopts a form similar to that in which he is born (*yathā-jāta-rūpa-dharaḥ*).[1]

5-6. The (external) emblem (of a Jaina saint) consists in possessing a form in which one is born, in pulling out hair and moustache, in being pure, in being free from harm unto beings etc., and in not attending to the body (*apratikarma*);[2] the (internal) Jaina (ascetic) emblem, which is the cause of negation of births, consists in being free from infatuation and preliminary sins, in being endowed with purity of manifestation of consciousness and activities, and in having no desire for anything else.

7. Adopting this (ascetic) emblem (both external and internal), at the hands of an excellent preceptor, bowing to him and (then) hearing the course of duties consisting of vows, when one begins to practise it, he becomes a Śramaṇa (*i.e.*, an ascetic)

8-9. (Five) vows, (fivefold) carefulness, control of (five) senses, pulling out the hair, (sixfold) *āvaśyakas* (or essentials), nakedness, not taking bath, sleeping on ground, not cleansing the teeth, taking meals in a standing posture and taking only one meal a day—these, in fact, have been prescribed, as the primary virtues[3] of the ascetic, by the great Jinas; he, who is negligent about them, is a defaulter (who needs to be reestablished on the correct path).

10. That preceptor, at whose hands they accept the (ascetic) emblem, is known as *pravrajyā-dāyaka* (*i.e.*, the teacher who initiates them into the ascetic fold): the remaining ascetics, who help to re-establish them in the right course, when they have committed certain defaults, are called *niryāpaka*.

11-12. When the monk is carefully conducting (his) physical activities, if there is a default, to him is then prescribed a (lustral)

---

1 It means that he should give up everything including clothes and remain naked, this is the excellent type of Jaina asceticism

2 *appadikammam* occurs here, in gāthā 24, and also in 28 without the negative particle Reading the two gāthās side by side the sense is clear that a monk is not to pay attention to, caress and decorate his body in any way. *prati* and *pari* are often interchanged in Prakrit and sometimes phonetically represented by *padi*. So more conveniently and accurately the form should be derived from *kr* with *pari*. *a-prati-kṛ* is not altogether wrong, but the sense becomes restricted *pari* is preferable as seen from the use of *parikarma* in gāthā 28

3 For the detailed discussion about primary virtues, see *Mūlācāra* of Vaṭṭakera, chapter 1.

course of conduct preceded with *ālocanā* (*i.e.*, the report of sins committed); the defaulter monk should approach a monk (practically) expert in the Jaina doctrine, should confess before him and practise what is prescribed by him.

13. Whether in the company of his preceptor or alone, without (any) breach with regard to his ascetic course, an ascetic should remain ever avoiding the attachments.

14. That is perfect asceticism, when one practises his course ever intent on knowledge preceded by faith and exerting in the (practice of) primary virtues.

15. A Śramaṇa does not entertain attachment either for food or for fast, either for residence or for touring, or for paraphernalia, or for co-monks, or for unhealthy gossip.

16. Careless activities of a monk when sleeping, sitting, standing and walking, are always known as continuous harm unto living beings.

17. Let the being die or not, harm unto living beings is certain (to occur) in the case of him who is careless in conduct; there is no bondage for him, who is mindful of the items of carefulness, by mere (physical) harm

*1-2. If a subtle living organism is crushed or killed with the contact of the feet in movement of an ascetic who is careful in his walking towards his destiny, the scripture does not hold him liable even for a slight bondage as a consequence of that; (the case is similar to the statement:) it is infatuation alone that is called paraphernalia on the authority of the spiritual lore.[1]

18. A Śramaṇa of careless conduct is called murderer of the six (classes of) embodied beings; if he carefullly practises (his course of conduct), he is forever uncontaminated like the lotus on water.

19. There is or there is no bondage, when a being dies in the course of physical activities, bondage is certain from attachment to paraphernalia, therefore ascetics give up everything.

20. If there is no renunciation (absolutely) free from (any) expectation, the monk cannot have the purification of mind; how can he effect the destruction of Karmas, when he is impure in mind?

---

1 *Hiṃsā* is not merely *prāṇa-vyaparopaṇa*, but *pramatta-yogāt prāṇa-vyaparopaṇam hiṃsā* (TS VII, 13) It is the passions, negligent and careless channels of activities etc., that matter most, it is the mental condition, rather than the visible act, that is of utmost importance For instance, *parigraha* does not so much consist in having physical contact with external objects as in being infatuated with them

*3-5. (If you were to say that) it is (found) stated in certain texts that a monk accepts a piece of clothing and possesses a pot; (we have to ask) how can he (with these) be independent and without activities involving preliminary sin? If he accepts a piece of clothing, gourd-bowl and anything else, necessarily there is involved harm unto living beings, and there is disturbance in his mind: he accepts the pot and the piece of cloth, cleanses them, washes them, carefully dries them in the sun, protects them and is afraid of others (that they might take them away.)[1]

21. (If he accepts these things) how then is he not liable to infatuation, preliminary sin and lack of control?; similarly when a monk is attached to external things, how will he realize his self?

22. A monk should so conduct (his course of duties), understanding the (necessities of) time and place, that, when using the paraphernalia, there should not be any default (with respect to primary virtues) in accepting and abandoning it.

23. Let the monk accept that little (quantity of) paraphernalia, which does not involve bondage (*i.e.*, which is sanctioned by the scripture),[2] which is not desired for by men who are not self-controlled (*i.e.*, which is essential for maintaining self-control) and which does not give rise to (any) infatuation etc.

24 Even the slightest thought about the body, on the part of him who aims at the negation of births, is considered as attachment, therefore the great Jinas have preached non-attention (towards the body).

*6. The religion preached by great saints (*i.e.*, the Tīrthaṅkaras) does not aim at (happiness etc. in) this or the next world (but only at liberation); then how is it that, in this religion, women are prescribed an alternative ascetic emblem (consisting of clothing etc.)?[3]

---

1 The life of a Jaina monk is expected to be ideally self-sufficient, independent and without sin, but these virtues cannot be ideal, if he were to accept clothes, alms-bowl etc., *dugdhikā* is a kind of native gourd

2. *a-prati-kruṣṭa*, that which is not forbidden by the scriptural injunction; see *20 *infra*

3 A question is raised that women, when they are not allowed to accept the standard course of asceticism, it means, should go only to heavens etc which, as a matter of doctrine, are not considered to be healthy objects of aim Liberation is the only aim, to be aspired after, which can never be attained by any other course than the adoption of standard asceticism; if women are to get liberation, they should also be allowed to accept the standard emblem The answer is given in the gāthās to follow.

*7. In fact, liberation is not said to be possible for women in that very birth; therefore an alternative (ascetic) emblem is prescribed for women befitting them.

*8. The nature of these (*viz.*, women) is naturally full of negligence (*pramāda*), and hence they are designated as *pramadā*; therefore these women (*pramadāḥ*) are said to be plentifully negligent.

*9. As a matter of fact, women are liable to infatuation, aversion, fear and disgust; in their mind (there is) crookedness of a varied type; therefore they cannot attain liberation (in that very birth).

*10. There is not a single woman, in the whole world, who is without even one of these above faults; their limbs are not closed (?) (*samuḍaṁ*), and hence they need clothing

*11. In their case there is always the mental mobility and fickleness and the periodical oozing of blood (at the time of monthly course) wherein grow subtle human organisms.

*12. There is said to be the growth of subtle organisms in the female organ of generation, in between their breasts and in the parts of their navel and armpit; then how can self-control be possible for them?

*13. Women cannot effect (complete) exhaustion of Karmas, even though they are pure in faith, are endowed with scriptural study and practise a severe course of conduct.

*14 Therefore the Jinas have prescribed for them an emblem befitting their nature (*i e.*, consisting of clothing etc.), those, that are endowed with family, form and age and practise that course, are called nuns (*śramaṇī*).

*15. He is a fit one for accepting the ascetic emblem who hails from the three castes (*varṇas*), whose limbs are healthy, whose age can stand the austerities, who is of winning appearance and whose character is free from any scandal

*16. The loss of three jewels[1] is said to be the (greatest) loss by the Jinas, even by any other loss one does not remain fit for observing *sallekhanā*,[2] *i.e.*, the voluntary submission to death.

25. According to Jainism the (acceptable) ascetic paraphernalia is said to consist of the bodily form in which one is born, the words of the teacher, (disciplinary) modesty and the study of the sacred texts.

---

1 TS I, 1.

2 *sallekhanā* is a form of an ascetic ideal consisting in voluntary submission to death; and it must necessarily be differentiated from what is ordinarily called suicide, see *Ratnakaraṇḍa Śrāvakācāra* of Samantabhadra, verses 122-30.

26. He is Śramaṇa who has no desires in this world and no attachment for the next, whose diet and tourings are proper, and who is free from passions.

*17. The ascetic becomes negligent or careless, when he is affected by the four (passions), anger etc.[1] and unhealthy gossip, by the objects of senses, and by affection and drowsiness.

27. (Really speaking) the soul of the monk does not eat (any) food; that is the (internal) penance; and the ascetics are after that. The ascetics are (as good as) without food, even if they accept faultless food.

28. The Śramaṇa possesses the body alone, and even towards the body he pays not attention of mineness; he yokes the same to austerities without concealing his ability.

29. (The proper food consists of) one meal which is not stomachful, in the form in which it is obtained, which is obtained by begging and by day, wherein there is no consideration of juices and which does not contain honey and flesh.

*18-19. There is an incessant growth of subtle organisms of the *nigoda* class[2] (similar to the colour of the flesh etc.) in the pieces of flesh cooked or raw and in the course of being cooked, he, who eats or touches the pieces of raw or baked flesh, kills, in fact, a host of many crores of beings.

*20. The unauthorised food (*i.e.*, not sanctioned by the scriptures), which has fallen in the (cavity of) palms, should not be given to others: he is unfit to eat (again) after giving it (to others); if he eats, he must repent for that.

30. A monk, young or old, exhausted or diseased, should practise a course of conduct fit for him in a manner that there is no violation of primary virtues

31. If a Śramaṇa observes his course of conduct understanding the (nature of) food, touring, place, time, physical labour, his forbearance and his bodily condition, he incurs the least bondage.

32 He, who is concentrated on one thing alone, is a Śramaṇa; such a concentration is possible for him whose comprehension of the

---

1 Anger, pride, deceit and greed are the four passions, unhealthy gossip is also of four kinds about women about food, about thieves etc and about the state

2 *nigoda* beings form a class by themselves at the lowest stage of evolution with minimum amount of vitality. They live in groups rather than as individuals. They are said to take birth and die eighteen times within a wink of time.

objectivity is certain; this certainty (of knowledge) is possible from the study of) scriptures; therefore application to the (study of) scriptures is of the highest importance.

33. The Śramaṇa, who is lacking in the study of scriptures, does not know his self and the things other than his self; without knowing the objectivity how can the monk destroy the Karmas?

34. The saints have scriptures as their eyes; all the living beings have sense-organs as their eyes; the gods have clairvoyance as their eyes,[1] and the Siddhas have eyes in every way.

35. All the objects, with their various qualities and modifications, are known from the scriptures; those, who know them learning from the scriptures, are the Śramaṇas.

36. He, whose right faith is not preceded by the (study of) scripture, cannot possess self-control: so says the sacred text; and if he has no moral discipline, how can he be a Śramaṇa?

37. One does not attain liberation (merely) by the (study of) scripture, if he has no faith with regard to the nature of reality; or one who has faith cannot attain Nirvāṇa, if he is devoid of moral discipline.

38. The man of knowledge, who is controlled in three ways[2], destroys within a breath the Karma which a man devoid of knowledge could destroy in hundred thousand crores of lives.

39 Further, he, who has an atom of attachment towards body etc., cannot attain liberation, even if he knows all the scriptures.

*21. Especially in ascetic life, moral discipline is said to consist in renunciation, in abstaining from activities (leading to sin), in refraining from sensual pleasures and in destroying the passions.

40. That Śramaṇa, who has five-fold carefulness, who is controlled in three ways, who has curbed his five senses, who has subdued his passions and who is completely endowed with faith and knowledge, is called self-disciplined.

41. Enemies and the members of the family, happiness and misery, praise and censure, a clod of earth and (a lump of) gold, and even life and death are alike to the Śramaṇa.

42. He, who is simultaneously applied to (the cultivation of) the trio of right faith, knowledge and conduct, is said to have attained concentration; and he has perfect asceticism

1 TS. I, 9, 21
2. Mentally, verbally and physically

43. If an ignorant ascetic, accepting an external object, falls a prey to delusion, attachment or aversion, he is bound by various Karmas.

44. If an ascetic develops neither infatuation nor attachment nor aversion, he necessarily destroys various Karmas.

45. According to the (authority of the) scripture the ascetics are endowed with either pure or auspicious manifestation of consciousness; amongst them, those endowed with the pure one have no Karmic influx and the rest have.[1]

46. The ascetic course of conduct, resulting from auspicious manifestation of consciousness, consists in devotion to Arahantas etc. and in showing affection towards those who are applied to the doctrine.[2]

47. Standing up (when the elderly monks arrive), following them (when they are going), showing respect (to them) and removal of fatigue: these, accompanied by salutation and adoration, are not forbidden for monks having auspicious resultant of consciousness.

48. Preaching about right faith and knowledge, receiving and feeding the pupils, and giving instruction in the worship of great Jinas constitute the course of conduct of monks with auspicious resultant of consiousness.

49. He, who renders assistance to the ascetic community consisting of four classes[3] without causing harm to any living being, is the foremost monk (possessing *śubhopayoga*).

50. If an ascetic, in course of rendering assistance to his co-monks, causes pain to living beings, he is no more an ascetic but becomes a house-holder, because that forms the duty of a layman.

51. One should confer benefits on all the Jainas whether practising the course of duty of a house-holder or of an ascetic through compassion and without expecting anything in return, even though this involves slight sin.

52. A monk (of *śubhopayoga*) should, to the best of his ability, help a co-ascetic seeing him suffering from disease, hunger, thirst or exhaustion.

---

1 Compare P. 135

2 Compare P. 136.

3 See Jayasena's commentary for the explanation of four classes in the ascetic community.

53. Talk with common people, if it results into auspicious consciousness, for rendering assistance to diseased, revered, young or old ascetics, is not forbidden.[1]

54. This course of conduct is good for monks; but it is the best for house-holders, whereby alone they (gradually) attain the highest bliss.

55. The auspicious attachment fruits otherwise according to the object with which it is associated, like the seeds, at the sowing time, sown in different kinds of fields.

56. One, who is devoted to vows, rules, study, meditation and charity and who is keeping in mind the aims prescribed by a teacher who has not attained omniscience,[2] will not attain liberation, but attains a pleasurable condition of existence (to be followed by births again).

57. Reverence, service and gifts offered to persons, who do not know the nature of reality and in whom pleasures and passions predominate, result into wretched births among men and gods.

58 Since objects of pleasures and passions are described as sin in the sacred texts, how can those, who are given to them, be able (to cross and) to help others to cross (the mundane existence)?

59. That man, who has refrained from sin, who entertains an attitude of equality towards all religious people and who maintains a band of virtues, joins the excellent path of liberation.

60. Those, that are free from inauspicious manifestation of consciousness and are endowed with pure or auspicious one, can (cross and) help others to cross (the mundane existence), one who is devoted to them attains excellence.

61. Seeing a natural object[3] (in the form of a great saint), one should perform such duties, the foremost of which is standing up, one is to be honoured according to his merits: that is the advice (of Jinas).

62. Meritorious ascetics in this world, it is said, should be welcomed with a stand-up, should be greeted with words, should be served, fed and revered, should be saluted with folded hands and be bowed down to.

---

1 As a rule he is not to have any familiarity with common people but on some such exceptional occasions it is not forbidden

2 By observing the course of conduct preached by a non-omniscient teacher one cannot attain liberation which is decidedly superior to heavens

3. He is a natural object, because he is *yathā-jāta-rūpa-dharaḥ* without any artificiality

63. Śramaṇas, skilled in the interpretation of sacred texts and rich in moral discipline, austerities and right knowledge, should be welcomed with a stand-up, should be served and be bowed down to by other ascetics.

64. It is opined that one does not become a Śramaṇa, though endowed with moral discipline, austerities and scriptural study, if he has no faith in the realities, the foremost of which is the soul, as preached by Jinas.

65 Seeing an ascetic abiding by the injunctions of the scripture, he, who ridicules him through malice and is unwilling to do these reverential duties (unto him), ruins his conduct.

66. If a monk of inferior merits, thinking (proudly) that he is a Śramaṇa, expects reverence from one who is more merited, he wanders in worldly existence till infinity.

67. If monks possessing more merits with regard to their asceticism, remain practising (their duties) with (or in the company of) those of inferior merits, they are victims of false faith and lose their conduct.

68 He, who has properly grasped the interpretation of the sacred text, who has pacified the passions and who excels in austerities, cannot be self-controlled, if he does not abandon company with common people.

*22. He, who is pained in mind at the sight of and receives kindly the thirsty, hungry and miserable, is a man of compassion.[1]

69 If a monk, after becoming a Nirgrantha ascetic, still dabbles in worldly professions (like palmistry etc.), he is called a worldly man (or a commoner), even though he is endowed (externally) with self-control and austerities.

70. Therefore, a Śramaṇa, if he desires for release from misery, should always live with an ascetic of equal merits or possessing more merits.

71. Those, who have wrongly grasped the nature of realities and are sure (in their mistaken way) that the reality, according to the creed, is such, wander long (till infinity) in mundane existence which is full with the fruits of misery.

---

1 This gāthā is the same as P. 137

72. He, who has abstained from improper conduct, who is certain about the nature of reality exactly as it is, whose soul is peaceful and who maintains perfect asceticism here, will not live long without attaining the fruit (of liberation).

73. Those, that have grasped all things properly, have renounced (attachment for) external and internal[1] paraphernalia and are not steeped in pleasures of senses, are called the pure or *Śuddha*.

74. He, who is pure, is said to be a Śramaṇa; to the pure one belong faith and knowledge; the pure one atttains liberation; he alone is a Siddha: my salutation to him

75. He, who, practising the course of duties of a house-holder and of a monk, comprehends this doctrine, realizes, within a short time, the essence of the doctrine (namely, the Self).[2]

---

1 *ajjhattha* I have taken as *adhyātma*

2 The author does not lose the opportunity of mentioning the name of the present work indirectly

INDEX

The index is mainly intended for giving a topical analysis of *Pravacanasāra* under convenient heads. In view of the fact that the English equivalents of Jaina technical terms are not finally settled, even if settled the English equivalent may not always necessarily and exclusively indicate the same Jaina term, I have put the topics with Sanskrit words at the head, and in every case an English equivalent, at least the meaning, is given In giving the English equivalents I have always taken into consideration the suggestions of my worthy predecessors, and at times I have differed from them, because it was felt that a better connotative equivalent was needed Some important and technical terms have also been included here. The references are to Books and Nos of gāthās; Nos. with an asterisk indicate the additional gāthās according to Jayasena's commentary I, 68 *3 means the 3rd additional gāthā of Jayasena's text which comes just after 68th regular gāthā of the first Book.

INDEX TO INTRODUCTION

This Index and the Table of Contents supplement each other. The present Index includes names of authors and works and references to important topics In the case of authors and works that are repeatedly referred to, only the informative references are noted. The dark numbers indicate important references References are to the pages of the Introduction. 98 n2 means p 98 footnote No 2, and 119–n1 means that the occurrence is on p 119 and also in the foot-note No 1 on that page Names of books are put in Italics, and those of modern scholars in small capitals Words are arranged according to English alphabets.

RĀYACHANDRA JAINA ŚĀSTRAMĀLĀ

PRAVACANASĀRA

(Prākrit Text, Two Sk. Commentaries and a Hindī Ṭīkā)

EDITED WITH A CRITICAL INTRODUCTION

By

Professor A. N. Upadhye

Select Opinions and Reviews:

Dr W SCHUBRING, Hamburg University, Germany.
'You are to be congratulated to have finished a great work I do not hesitate to say that thanks to your labour a remarkable advancement of science can be recorded '

Dr M WINTERNITZ, Prague University
'Excellent edition and translation of Kundakundācārya's Pravacanasāra with the extremely valuable Introduction '

Dr A BERRIEDALE KEITH, Edinburgh University
'This is of course a most valuable edition and your discussion of the philosophy of the text will be of permanent value to all students of Indian philosophical development

Dr S K. CHATTERJI, Calcutta University.
'Your Introduction is full and detailed, and I agree with what you say about the personality of the author as well as the nature of the Prakrit. This is a very painstaking and erudite piece of work done in a very fine style '

Prof M. HIRIYANNA, Mysore University
'Variorum edition of Pravacanasāra I am much impressed by its thoroughness... I have no doubt that the book will be of great use to all students of Indian thought.'

Dr B. L ATREYA, Benares Hindu University
'It is indeed a masterly essay on Śrī Kundakundācārya and his work Pravacanasāra, which no student of Jaina Literature and philosophy can afford to neglect. I am very much impressed by your vast information and deep insight.'

Prof. HIRALAL JAIN, King Edward College, Amraoti.
'Your Introduction is a splendid piece of scholarship. One can now say that Kundakunda has been studied critically, and a definite lead has been given as to the way the Prakrit Jaina works ought to be studied.'

Dr. R. SHAMASHASTRY, Mysore:

'It is a learned contribution on the language and philosophy of the text'

Mahā-Mahopādhyāya R. NARASIMHACHARYA, Bangalore:

'Almost every page bears abundant testimony to your vast erudition and deep research... exhibit a rare scholarship and a thorough grasp of the subject.'

Journal of the Royal Asiatic Society:

'Professor Upadhye gives us not merely a very careful account of Kundakunda and his works in general and the Pravacanasāra in particular, but also a most valuable summary of certain of the Jain metaphysical doctrines (pp. lxii-xcv). His most interesting contribution is perhaps his conclusion that the similarities of Jainism, Buddhism, and the Sāṃkhya philosophy point to the existence of a great Magadhan indigenous religion which flourished before the advent of the Aryans, to the commingling of the streams of Aryan and indigenous religion at the close of the Brāhmaṇa period we owe, on the one hand, the Ātmavidyā of the Upaniṣads, and the tenets of Jainism and Buddhism on the other.'

Journal of the University of Bombay

'..the edition is an excellent one and is bound to be extremely helpful in the study Śrī Kundakunda and his Pravacanasāra on accout of the wealth of information which it contains and the thought-provoking observations of the editor, which show his deep study and patient research'

Indian Culture, Calcutta

'These are all very useful things and the edition has been so planned as to suit the requirements of the Hindi-knowing public, the orthodox pandit as well as the modern scholar'

Journal of The American O Society

'The introductory is very elaborate and deals with all aspects of Kundakunda's life and woaks'

Journal of Indian History, Madras:

'We welcome this important publication not only as giving us a reliable text and valuable commentaries as also a translation, but as giving an elaborate critical Introduction, running through more than 125 pages, a vast mass of information relating to the work as a Jaina classic and of the history of Jainism itself.'

The Journal of Oriental Research, Madras

'We have great pleasure in commending this valuable edition to the scholars and students of Indian philosophy.'

PARAMĀTMA-PRAKĀSA & YOGASĀRA

Parmātma-Prakāśa of Yogīndudeva. An Apabhramśa Work on Jaina Mysticism: The Apabhramśa Text edited with Brahmadeva's Sanskrit Commentary and Daulatarāma's Hindī Translation, with a Critical Introduction, Various Readings etc., etc ; and also *Yogasāra* critically edited with the Sanskrit Chāyā and with the Hindī translation of Pt. Jagadishchandra Shastri, by A. N. UPADHYE M. A., Professor of Ardhamāgadhī, Rajaram College, Kolhapur; Published by the Secy , Rāyachandra Jaina Śāstramālā, Royal 8vo pp. 12-124-396, Bombay 1937.

Select Opinions and Reviews:

Dr. LUDWIG ALSDORF, Berlin University, Germany:
'I have read the latter [i e Intro.] with great interest, and I feel bound to say that you have done very valuable research work and given an extremely useful contribution towards the knowledge of Apabhramśa and Jaina mysticism '

Dr L. SUALI, Pavia University, Italy
' . you have given us a first-rate piece of work. The amount of information you have spread through the Introduction is wonderful and the method of your editing is really sound '

Dr N P. CHAKRAVARTI Government Epigraphist, Ootacamund
'I am glad that you have not only spared no pains regarding the text but have also added an exhaustive Introduction which is always very useful in a publication of this kind '

Dr S K. DE, University of Dacca, Dacca
You have omitted no relevant points from your discussion and your editon of of this difficult text is all that one can desire. Your discussion of the general philosophical implication of the doctrines is interesting and scholarly, while your study of the Apabhramśa of the text is highly informative and lucid .. I have nothing but great admiration for the patience, industry and learning displayed by this work '

Dr A BERRIEDALE KEITH, Edinburgh University
'You have again made an important and valuable contribution alike to the study of Apabhramśa and of Jaina mysticism.'

Dr. B R. SAKSENA, Allahabad University

'श्री. आदिनाथ उपाध्याय जैन प्राकृत तथा इतर जैन-साहित्यके प्रगाढ़ पंडित हैं । प्रसिद्ध ग्रंथ 'प्रवचनसार' का सुंदर और सर्वांगपूर्ण संस्करण निकालकर उन्हों ने पहेले ही विद्वन्मंडली में आदर और सत्कार पाया है । प्रस्तुत ग्रंथके द्वारा उन्हों ने अपनी कीर्ति को और उज्ज्वल किया है । ..... इतने सुसंपादित ग्रंथ बिरले ही देखनेको मिलते हैं ।

PROF. L. V. RAMASWAMI AIYER, Ernakulam, Cochin:

'The chapter on the language of Paramātma-prakāśa and particularly the comparisons with Hemacandra are exceedingly useful and suggestive to the student of Indo-Aryan Linguistics.'

Dr. LAKSHMAN SARUP, University of Panjab:

'...Your excellent essay on Joindu and his Apabhramśa works. You have taken great pains. Some such Introduction was a long-felt desideratum.'

M. GOVIND PAI Esq., Manjeshvar:

'There is hardly any doubt that your essay is very scholarly and no less exhaustive.'

Pt. D. L. NARASIMHACHAR, Mysore.

'It is so erudite and thorough that it is difficult to add anything more to it. You have made use of all the available material and presented tellingly and briefly.

Prof. P. V. RAMANUJASWAMI, Vizianagaram:

'Let me congratulate you on the production of a learned and critical essay on the most important of Apabhramśa writers. I was wondering till now what the source of Hemachandra's verses could be. I am very grateful to you and every lover of Prakrit must similarly be.'

BOOKS AND PAPERS

BY

A. N. UPADHYE

This Bibliography is a record of the work done by Professor A. N. UPADHYE, M. A, D Litt, during the last twentyfive years. It presents systematically the list of the works (both in Sanskrit and Prākrit), edited by him along with their Tables of contents and Select Opinions on them. Then are enumerated his nearly one hundred research papers with a Summary of the contents and the place etc. of their publication. There is also a list of books reviewed by him and of those brought out under his General Editorship There is a Foreword by Dr V. S AGRAWALA, Banaras Hindu University. Demy pp. 12 68. Sole Agents· Hindi Grantha Ratnakara (Private) Ltd, Hirabag, Bombay 4. (Kolhapur 1957)

SELECT OPINIONS

Mm. Dr. P. V KANE, Bombay: "The booklet presents a marvellous array of the great industry, patience and enthusiasm with which you devoted over twentyfive years to critical editions and scholarly papers."

Prof. Dr P K. GODE Poona. "Your zest for study is exemplary and your sense of literary veracity as evinced in your writings is marvellous"

Dr C D DESHMUKH, New Delhi. "The record is very impressive."

Professor Dr. L RENOU, Paris: "Here I am able to see at a glance your impressive and tremendous scientific work."

Dr. D.C. SIRCAR, Ootacamund· ".. an indication of your remarkable achievement in the field of Indological studies"

Professor Dr W. SCHUBRING, Hamburg "The Auto Bibliography of your 'Books and Papers'...is not only a suitable contribution to the history of Indology and especially Jainology, but above all the document of a life filled with indefatigable, enviable, and sympathetic scholarly feat."

- — -

By Dr. A. N. UPADHYE

1. *Pamcasuttaṁ* of an Unknown Ancient Writer: Prākrit Text edited with Introduction, Translation, Notes with copious Extracts from Haribhadra's Commentary, and a Glossary. Second Ed, Revised and Enlarged. Crown pp. 96. Kolhapur 1934.

2. *Pravacanasāra* of Kundakunda. An authoritative work on Jaina ontology, epistemology etc. · Prākrit text, the Sanskrit commentaries of Amṛtacandra and Jayasena, Hindī exposition by Pāṇḍe Hemarāja · Edited with an English Translation and a critical, elaborate Introduction etc. New Edition, Published in the Rāyachandra Jaina Śāstramalā vol. 9, Royal 8vo pp. 16 + 132 + 376 + 64, Bombay 1935. Second Ed, Agas 1964.

3 *Paramātma-prakāśa* of Yogīndudeva. An Apabhraṁśa work on Jaina Mysticism : Apabhraṁśa text with Various Readings, Sanskrit Ṭīkā of Brahmadeva and Hindī exposition of Daulatarāma, also the critical Text of *Yogasāra* with Hindī paraphrase : Edited with a critical Introduction in English. New Ed., Published in the Rāyachandra Jaina Śāstramālā vol. 10, Royal 8vo pp. 12 + 124 + 396, Bombay 1937. Second ed, Agas 1960

4. *Varāṅgacarita* of Jaṭāsiṁhanandi. A Sanskrit Purāṇic kāvya of A D 7th century : Edited for the first time from two palm-leaf Mss with Various Readings, a critical Introduction, Notes, etc., Published in the Māṇikachandra D. Jaina Granthamālā No. 40, Crown pp 16 + 88 + 396, Bombay 1938

5. *Kaṁsavaho* of Rāma Pāṇivāda. A Prākrit Poem in Classical Style. Text and Chāyā critically edited for the first time with Various Readings, Introduction, Translation, Notes, etc. Published by Hindī Grantha Ratnakara Kāryālaya, Hirabag, Bombay 4, 1940, Crown pp 50 + 214.

6. *Usāṇiruddham* : A Prākrit Kāvya (attributed to Rāma Pāṇivāda) Text with Critical Introduction, Variant Readings and Select Glossary, Published in the Journal of the University of Bombay, Vol. X. part 2, September 1941, Royal 8vo pp. 156-194.

7. *Tiloyapaṇṇatti* of Jadivasaha An Ancient Prākrit Text dealing with Jaina Cosmography, Dogmatics etc · authentically edited for the first time (ih collaboration with Prof. Hiralal Jain) with Various Readings etc Part I. Published by Jaina S. Samrakṣaka Saṁgha, Sholapur 1943. Double Crown pp 8 + 38 + 532

8 *Bṛhat Kathākośa* of Hariṣeṇa A Thesaurus of 157 Tales in Sanskrit, connected with the Bhagavatī Ārādhanā of Śivārya · The Sanskrit Text authentically edited for the first time with Various Readings, with a Critical Introduction (covering 122 pages), Notes, Index of Proper Names etc Published in the Singhi Jain Series, No. 17, Bhāratīya Vidyā Bhavana, Bombay 1943, Super Royal pp. 8+20+128+406.

9. *The Dhūrtākhyāna · A Critical Study* This is a critical essay on the Dhūrtākhyāna (of Haribhadra) which is a unique satire in Indian literature.

Included in Āchārya Jinavijayaji's edition, Bhāratīya Vidyā Bhavana, Bombay 1944, Super Royal pp. 1-54.

10. *Candralekhā* of Rudradāsa. A Drama in Prākrit. The Prākrit Text and Sanskrit chāyā authentically edited with a critical Introduction, Notes etc. It is an important Saṭṭaka resembling the Karpūramañjarī in various respects. The Introduction presents a study of Saṭṭaka in the background of Indian theory of dramas and also a critical survey of some half a dozen Sattakas, most of them brought to light for the first time. Printed in graceful types at the Nirnayasagara Press, Bombay, Bhāratīya Vidyā Bhavana, Bombay 1945, Royal 8vo pp. 8 + 66 + 96.

11. *Līlāvatī* of Kutūhala (c 800 A. D) · Prākrit Text and an anonymous Sanskrit commentary, critically edited for the first time with Introduction, Glossary, Notes etc It is a stylistic romantic Kāvya dealing with the love story of king Sātavāhana and Līlāvatī, a princess from Ceylon. Published in the Singhi Jain Series : Royal Octavo pp 28 + 88 + 384, Bombay 1949.

12 *Tiloyapaṇṇatti* of Jadivasaha : As above No. 7. Part II, with introduction, Indices etc Double Crown pp. 116-540, Sholapur 1951.

13 *Āṇaṃdasuṃdarī* of Ghanaśyāma . A Drama in Prākrit. The Prākrit Text and the Sanskrit Commentary of Bhaṭṭanātha Authentically edited for the first time, with Critical Introduction, Notes etc. Demy pp. 102. Published by Motilal Banarasi Dass, Banaras 1955

14 *Jambūdīva-paṇṇatti-saṃgaho* of Padmanandi : A Prākrit Text dealing with Jaina Cosmography. Authentically edited for the first time (in collaboration with Dr H. L. Jain) with the Hindī Anuvāda of Pt Balachanda The Introduction institutes a careful study of the text and its allied works There is an essay in Hindi on the Mathematics of the *Tiloyapaṇṇatti* by Prof L C Jain, Jabalpur Equipped with Various Indices Published by the J S S. Sangha, Sholapur. Double crown pp. about 500 Sholapur 1957

15 *Jñānapīṭha-pūjāñjali* A Collection of Stotras etc. in Sanskrit and Prākrit and Pūjās in Hindī etc· Neatly edited with the Hindi Anuvāda of Pt. Phoolchanda Shastri Crown pp 32 548. Published by Bhāratīya Jñānapītha, Banaras 1957.

16 *Kuvalayamālā* of Uddyotana A unique Campū in Prākrit critically edited from rare Mss material for the first time Part I Prākrit Text and Various Readings. Singhi Jain Series 45 Super Royal pp 16-284 Bombay 1959.

17 *Siṃgāramaṃjarī* of Viśveśvara · A Prākrit Drama · Authentically edited for the first time with an Introduction in the Journal of the University of Poona 1960. Royal pp 33-78. Poona 1960

18 *Kārttikeyānuprekṣā* of Svāmi Kumāra · Prākrit Text critically edited for the first time along with the Sanskrit commentary of Śubhacandra, an Elaborate Introduction dealing with the various problems about the text, the author, the commentary etc , and Various Appendices. Published in the Rājachandra Jaina Śāstramālā. Double Crown pp. 20 + 100 + 480 Bombay 1960.

19. *Pañcaviṃśati* of Padmanandi · (c 1136 A D). This is a collection of 26 Prakaraṇas (24 in Sanskrit and 2 in Prākrit) small and big, dealing with

various topics: religious, spiritual, ethical, didactic, hymnal and ritualistic. The text along with an anonymous commentary critically edited (in collaboration with Dr. H L. JAIN) with the Hindi Anuvāda of Pt. BALACHAND. The edition is equipped with a detailed Introduction shedding light on the various aspects of the author both in English and Hindi. There are useful Indices. Printed in the N. S. Press, Bombay Jīvarāja J. Granthamālā 10, Double Crown pp. 8–64–284. Sholapur 1962

20. *Ātmānuśāsana* of Guṇabhadra (middle of the 9th century A. D.). This is a religio-didactic anthology in elegant Sanskrit verses composed by Guṇabhadra, the pupil of Jinasena, the teacher of Rāṣṭrakūṭa Amoghavarṣa. The Text is critically edited along with the Sanskrit commentary of Prabhācandra and a new Hindi Anuvāda (in collaboration with Dr H. L. JAIN and Pt. BALACHANDRA SHASTRI). The edition is equipped with Introductions in English and Hindi & some useful Indices Jīvarāja J. Granthamālā, 11. Demy pp 8–112–260, Sholapur 1961.

श्रीमद् राजचंद्राश्रम अगास द्वारा संचालित

श्रीमद् राजचन्द्र जैनशास्त्रमालामें मिलनेवाले ग्रन्थ-रत्न ।

+++—+++

१. गोम्मटसार–जीवकांड — श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तिकृत मूलगाथायें, ब्रह्मचारीजी पं० खूबचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीकृत नई हिन्दीटीका । अब की बार पं० जी ने धवल, जयधवल. महाधवल और बड़ी संस्कृतटीकाके आधारसे विस्तृत टीका लिखी है । तीसरी आवृत्ति
मू० ६ रु, पो० १ रु.

२. स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा — स्वामिकार्त्तिकेयकृत मूलगाथायें, श्रीशुभचन्द्रकृत बड़ी संस्कृतटीका. स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी के प्रधानाध्यापक पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीकृत हिन्दीटीका- सम्पादक डा ए. एन. उपाध्ये, प्रोफेसर, राजराम कॉलेज, कोल्हापुर । मू० १४ रु.

३. परमात्मप्रकाश और योगसार — मूल अपभ्रंश दोहे, संस्कृत टीका, हिन्दी टीका, अंग्रेजी प्रस्तावना और उसके हिन्दीसार सहित मू० ९ रु.

४. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय — श्रीअमृतचन्द्रसूरिकृत मूलश्लोक और स्व० पं० टोडरमल्लजी, स्व० पं० दौलतरामजी की टीकाके आधारसे लिखी गई नई हिन्दीटीका । इसमें अहिंसाके स्वरूपका विस्तृत विवेचन है । मु० २ रु, पो० ५० न. पैसे

५. गोम्मटसार–कर्मकांड — श्रीनेमिचन्द्राचार्यकृत मूलगाथायें, स्व० पं० मनोहरलालजी शास्त्रीकृत संस्कृतछाया और हिन्दीटीका, जैनसिद्धान्त ग्रन्थ है । मू० ३ रु., पो० ७५ न पैसे

६. सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र — श्रीउमास्वातिकृत मूलसूत्र और स्वोपज्ञभाष्य, और सिद्धान्तशास्त्री पं० खूबचन्द्रजीकृत विशद टीका, इस ग्रन्थमें संपूर्ण जैनतत्त्वोंका निरूपण है ।
मू० ३ रु, पो. १ रु.

७. पुष्पमाला, मोक्षमाला, भावनाबोध — श्रीमद्राजचन्द्रप्रणीत, जैनधर्मका यथार्थस्वरूप दिखाने- वाले १०८ सुन्दर पाठ है । मू० १ रु. ५० न. पै., पो ५० न पैसे.

८. श्रीमद्राजचंद्र — श्रीमद् के पत्रों, रचनाओंका अपूर्व संग्रह. अध्यात्मका अपूर्व विशाल ग्रन्थ है । म० गांधीजीकी महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना है । मू० १० रु., पो० २ रु.

९. न्यायावतार — महान् तार्किक सिद्धसेनदिवाकरकृत मूलश्लोक, सिद्धर्षिकी संस्कृतटीकाका हिन्दी- अनुवाद जैनदर्शनाचार्य प० विजयमूर्तिजी एम० ए० नें किया है । न्यायका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है ।
मू० १० रु., पो० ५० न पैसे.

१०. प्रशमरतिप्रकरण — आचार्य उमास्वातिकृत मूलश्लोक, श्रीहरिभद्रसूरिकृत संस्कृतटीका । अध्यात्म ग्रन्थ है । मू० ६ रु. पो० ७५ न. पैसे

११. इष्टोपदेश—श्रीपूज्यपाद-देवनन्दिआचार्यकृत मूलश्लोक पं० प्रवर आशाधरकृत संस्कृतटीका पं० धन्यकुमारजी जैनदर्शनाचार्य एम० ए० कृत हिन्दीटीका, स्व० बैरिष्टर चम्पतरायजीकृत अंग्रेजी-टीका । हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती, मराठी पद्यानुवादों सहित । बड़ा सुन्दर ग्रन्थ है ।
मू० १ रु. ५० न पैसे, पो० २५ न पैसे, अंग्रेजीटीकाका मू० ७५ न पैसे, पो० १२ न पैसे

१२. ज्ञानार्णव—शुभचन्द्राचार्य विरचित मूल संस्कृत पं० पन्नालाल बाकलीवालकृत हिन्दी अनुवाद सहित । ध्यानपर सुंदर और महत्वपूर्ण ग्रंथ । नई आवृत्ति । मू० ७

पूर्व प्रकाशित द्रव्यसंग्रह, पंचास्तिकाय आदि भी इसी संस्था की ओर से पुनः प्रकाशित होनेवाली है ।

नोट:—ग्रंथ वी० पी० से न भेजे जायेंगे । ग्रंथोंका मूल्य पोस्टेज और रजिष्ट्री फीस के ५० न. पैसे पेशगी म० आ० से भेजना चाहिये । अधिक मूल्य ग्रंथ मंगानेवालोंको कमीशन दिया जायगा । इसके लिये वे हमसे पत्रव्यवहार करें ।
श्रीमद् राजचंद्राश्रम अगास द्वारा प्रकाशित गुजराती ग्रंथ भी यहाँ से मिलेंगे जिनका लागत दामोंसे कम मूल्य रक्खा है । अलग सूचीपत्र मंगाइये ।

प्राप्तिस्थान—श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, पोस्ट बोरिया, वाया आणंद (W.R.)

और परमश्रुतप्रभावक श्रीमद् राजचन्द्र जैनशास्त्रमाला

चौकसी चेम्बर, खाराकुवा, जौहरीबाजार, बम्बई नं २

Kārttikeyānuprekṣā of Svāmi Kumāra

The Prākrit Text Critically Edited for the First Time along with the Sanskrit Commentary of Śubhacandra, Hindi Anuvāda by Pt. Kailashchandra, an Elaborate English Introduction dealing with the various Problems about the Text, the Author, Commentary etc, and Various Appendices. Published in the Rājachandra Jaina Śāstramālā. Double Crown pp. 20 + 100 + 480. Bombay 1960. Price Rs 14/- only.

Select Opinions

Dr. H. L. **Jain,** Director, Vaishali Institute, Muzaffarpur (Bihar): "Your edition of *Kārttikeyānuprekṣā* is a valuable contribution to the advancement of Prākrit and Jaina Studies. By your scholarly editions of some of the most important Prākrit works, you have substantially strengthened and advanced the cause of these studies for wich I congratulate you heartily."

Prof. Dr E. **Frauwallner,** Vienna: "Like all editions of Prof. Upadhye, they are an excellent piece of work."

Pt. Dalasukhaji **Malavania,** Director, L. D. Institute of Indology, Ahmedabad:
"स्वामि कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा पूरी पढ गया । आपने उसके सपादनमें और प्रस्तावनामें काफी परिश्रम किया है । जैनागममे लेकर अनुप्रेक्षाओंकी तुलना जो आपने की है उससे अनुप्रेक्षाके विषयमें नई जानकारी प्राप्त होती है । लेखकके विषयमें भी आपने मध्यस्थ होकर विचार किया है वह आपके अनुरूप है । शुभचन्द्रके विषयमें भी आपका मन्तव्य यथार्थ लगता है ।"

Prof. Dr. P. K. **Gode,** Poona: "It is an index of your scholarly labour in many Jaina Fields, not known to me."

Pt. Jugalkishore **Mukthar,** Delhi:
"यह Introduction बहुमूल्य, अनेक उपयोगी सूचनाओं एवं तुलनात्मक अध्ययनको लिए हुए बडा ही महत्वपूर्ण है, और इसके लिखनेमे आपने काफी श्रम उठाया है जो प्रशसनीय है । ग्रथका यह सस्करण बहुत उपयोगी बन गया है ।"

Prof. Dr. W. **Schubring,** Hamburg (Germany). "I had the pleasure to receive Svāmi Kumāra's *Kārttikeyānuprekṣā* which you have edited critically with an exhaustive and most valuable introduction I should like to thank you directly for that precious gift which adds one more bead to the rosary of your precious works.

Prof. L. **Alsdorf,** Hamburg University, Germany. "You have added another excellent piece to the long, long row of books that have emerged from that quiet, scholarly study which I so well remember."

Dr. Kl. **Bruhn,** Hamburg (Journal of the Oriental Research, XI, 4, p. 450 f.): "In Jaina literature the unknown still outweighs the known. It is only through such patient work as that of Dr. Upadhye that balance can be changed. To achieve this end texts have not only been analysed but must be projected as suggested above on the background of contemporary and earlier literature. Dr. Upadhye has treated this and other problems with exceptional care, and we hope that similar contributions will follow soon as a result of his researches in Jaina Literature.